अनेकान्त

प्रधान सम्पादक—पं० जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ९ किरण १

विषय-सूची

जनवरी १९४८

अनेकान्तकी नई व्यवस्था और नया आयोजन

आज पाठकोंको यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी, कि अब उन्हें अनेकान्तके समयपर प्रकाशित न होने-जैसी किसी शिकायतका अवसर नहीं मिलेगा। साथ ही पत्र भी अधिक उन्नत अवस्थाको प्राप्त होगा क्योंकि दानवीर साहू शान्तिप्रसादजीने अब उसे अपनी सरपरस्तीमें लेलिया है और अपनी संस्था भारतीयज्ञानपीठ काशीके साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दिया है। इस वर्षके शुरूसे ही पत्रके सम्पादन-विभागकी जिम्मेदारी वीर-सेवा-मन्दिरके ऊपर रहेगी, जिसके लिये एक सम्पादक-मण्डलकी भी योजना हो गई है, और शेष पत्रके प्रकाशन, संचालन एवं आर्थिक आयोजन आदिकीसारी जिम्मेदारी ज्ञानपीठके ऊपर होगी। साहूजी अनेकान्तको जीवनमें स्फूर्तिदायक महत्त्वके लेखोंसे परिपूर्ण ही नहीं, किन्तु सुरुचिपूर्ण छपाई आदिसे भी आकर्षक बने हुए एक ऐसे आदर्श पत्रके रूपमें देखना चाहते हैं जो नियमित रूपसे समय पर प्रकाशित होता रहे। इसके लिये विशेष आयोजन हो रहा है।

भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीय, जो अनेकान्तके जन्मकालसे ही उसके (तीन वर्षतक) प्रकाशक तथा व्यवस्थापक रहे हैं और जिनके समयमें अनेकान्तने काफी उन्नति की है और वह समय पर बराबर निकलता रहा है, आजकल ज्ञानपीठके मंत्री हैं, अनेकान्तसे हार्दिक प्रेम रखते हुए भी कुछ परिस्थितियोंके वश पिछले कई वर्षसे वे उसमें कोई सक्रिय सहयोग नहीं दे रहे थे; परन्तु उसी प्रेमके कारण उन्हें अनेकान्तका समय पर न निकलना और विशेष प्रगति न करना बराबर अखर रहा था। और इस लिये उस सम्बन्धमें मुझसे मिलकर बातें करनेके लिये वे जनवरीके शुरूमेंही (ता० ४ को) वीरसेवामन्दिरमें पधारे थे, उनसे अनेकान्तके सम्बन्धमें काफी चर्चा हुई और उसे अधिक लोकप्रिय एवं व्यापक बनानेकी योजनापर विचार किया गया। अन्तको मेरी स्वीकृति लेनेके बाद वे बनारसमें साहूशान्तिप्रसादजीसे भी साक्षात मिले हैं। और उनकी पूर्ण स्वीकृति लेकर अनेकान्तकी उस नई व्यवस्था एवं योजनाके करनेमे सफल हुए हैं जिसका उपर उल्लेख किया गया है। अतः इस सारे आयोजनका प्रधान श्रेय गोयलीयजीको ही प्राप्त है। गोयलीयजीने मंत्रीकी हैसियतसे ज्ञानपीठकी सारी जिम्मेदारियों और पत्रसम्बन्धी व्यवस्थाओंको अपने ऊपर ले लिया है। वे एक उत्साही नवयुवक हैं, अपनी धुनके पक्के हैं, अच्छे लेखक हैं और समाजके शुभचिन्तक ही नहीं किन्तु उसके दर्दको भी अपने हृदयमें लिये हुए हैं। उनके इस सक्रिय सहयोग और साहू शान्तिप्रसादजीकी सार्थक सरपरस्तीसे मुझे अनेकान्तका भविष्य अब उज्जवल ही मालूम होता है, वह जरूर समय पर निकला करेगा और शीघ्र ही उच्चकोटिके आदर्शपत्रका रूप धारण करके लोकमें गौरवान्वित होगा ऐसी मेरी दृढ़ आशा है और उसके साथ भावना भी है। इस आयोजनसे पत्रके प्रकाशन और आर्थिक आयोजनादि सम्बन्धी कितनी ही चिन्ताओंसे मैं मुक्त हो जाऊँगा और उसके द्वारा मेरी जिस शक्तिका संरक्षण होगा वह दूसरे संकल्पित सत्कार्योंमें लगसकेगी इसके लिये मैं गोयलीयजी और साहू साहब दोनोंका ही हृदयसे आभारी हूं।

ऐसी स्थितिमें अब पत्र बराबर समयपर (हर महीनेके अन्तमें) प्रकाशित हुआ करेगा यह प्रायः सुनिश्चित है। और अब उसमे अधिकांश लेख विद्वानोंके उपयोगके ही नहीं रहेंगें बल्कि सर्वसाधारणोपयोगी लेखोंकी ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया जायेगा, जिससे यह पत्र सभीके लिये उपयोगी—सिद्ध हो सके। अतः विद्वानोंसे सानुरोध निवेदन हैकि वे अब अपने लेखोंको शीघ्र ही भेजनेकी कृपा किया करें जिससे समय पर उनका प्रकाशन हो सके।

नये वर्षकी यह प्रथम किरण पाठकोंके पास वी० पी० से नहीं भेजी जा रही है जिसके भेजे जानेकी पिछली किरणमें सूचना की गईथी आशा है इस किरणको पानेके बाद ग्राहकजन शीघ्र ही अपने अपने चन्देके ५)रु० मनीआर्डरसे भेजनेकी कृपा करेंगे और इस तरह वीरसेवामन्दिरको अगली किरण वी० पी० से भेजनेकी झंझटसे बचाकर आभारके पात्र बनेगें और समयपर किरणको प्राप्त कर सकेंगे।

—जुगलकिशोर मुख्तार

ॐ अर्हम्

वर्ष ९ किरण १	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा जि० सहारनपुर पौष, वीरनिर्वाण—संवत् २४७३, विक्रम संवत् २००४	जनवरी १९४८

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

युक्त्यनुशासन

अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावादवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥२९॥

('अशेष तत्त्व सर्वथा अवाच्य है ऐसी एकान्त मान्यता होने पर) तत्त्व अवाच्य ही है ऐसा कहना अयथाप्रतिज्ञ— प्रतिज्ञाके विरुद्ध— होजाता है; क्योंकि 'अवाच्य' इस पदमें ही वाच्यका भाव है — वह किसी बातको बतलाता है, तब तत्त्व सर्वथा अवाच्य न रहा। यदि यह कहा जाय कि तत्त्व स्वरूपसे अवाच्य ही है तो 'सर्व वचन स्वरूपवाची है' यह कथन प्रतिज्ञाके विरुद्ध पड़ता है। और यदि यह कहा जाय कि पररूपसे तत्त्व अवाच्य ही है तो 'सर्ववचन पररूपवाची है' यह कथन प्रतिज्ञाके विरुद्ध ठहरता है।'

[इस तरह तत्त्व न तो भावमात्र है, न अभावमात्र है, न उभयमात्र है, और न सर्वथा अवाच्य है, इन चारों मिथ्याप्रवादोंका यहां तक निरसन किया गया है। इसी निरसनके सामर्थ्यसे सदवाच्यादि शेष मिथ्याप्रवादोंका भी निरसन हो जाता है। अर्थात् न्यायकी समानतासे यह फलित होता है कि न तो सर्वथा सदवाच्य तत्त्व है, न असदवाच्य, न उभयाऽवाच्य और न अनुभयाऽवाच्य।]

सत्याऽनृतं वाऽप्यनृताऽनृतं वाऽप्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन ।
युक्तं प्रतिद्वन्द्व्यनुबन्धि-मिश्रं न वस्तु तादृक् त्वदृते जिनेदृक् ॥३०॥

'कोई वचन सत्याऽनृत ही है, जो प्रतिद्वन्द्वीसे मिश्र है— जैसे शाखा पर चन्द्रमाको देखो, जिसमें 'चन्द्रमाको देखो' तो सत्य है और 'शाखा पर' यह वचन विसंवादी होनेसे असत्य है—; दूसरा कोई वचन अनृताऽनृत ही है, जो अनुबन्धिसे मिश्र है — जैसे पर्वत पर चन्द्रयुगलको देखो, जिसमें 'चन्द्रयुगल' वचन जिस तरह असत्य है उसी तरह 'पर्वत पर' यह वचन भी विसंवादि-ज्ञानपूर्वक होनेसे असत्य है। इस प्रकार हे वीर जिन ! आप स्याद्वादीके विना वस्तुके अतिशायनसे — सर्वथा प्रकारसे अभिधेयके निर्देश द्वारा— प्रवर्तमान जो वचन है वह क्या युक्त है ? — युक्त नहीं है। (क्योंकि) स्याद्वादसे शून्य उस प्रकारका अनेकान्त वास्तविक नहीं है—वह सर्वथा एकान्त है और सर्वथा एकान्त अवस्तु होता है।'

सह-क्रमाद्वा विषयाऽल्प-भूरि-भेदेऽनृतं भेदि न चाऽऽत्मभेदात् ।
आत्मान्तरं स्याद्भिदुरं समं च स्याच्चाऽनृतात्माऽनभिलाप्यता च ॥३१॥

'विषय (अभिधेय) का अल्प-भूरि भेद—अल्पाऽनल्प विकल्प—होनेपर अनृत (असत्य) भेदवान् होता है—, जैसे जिस वचनमें अभिधेय अल्प असत्य और अधिक सत्य हो उसे 'सत्याऽनृत' कहते हैं, इसमें सत्य-विशेषणसे अनृतको भेदवान् प्रतिपादित किया जाता है। और जिस वचनका अभिधेय अल्प सत्य और अधिक असत्य हो उसे 'अनृताऽनृत' कहते हैं, इसमें अनृत विशेषणसे अनृतको भेदरूप प्रतिपादित किया जाता है। आत्मभेदसे अनृत भेदवान् नहीं होता— क्योंकि सामान्य-अनृतात्माके द्वारा भेद घटित नहीं होता। अनृतका जो आत्मान्तर—आत्मविशेष लक्षण—है वह भेद-स्वभावको लिये हुए है—विशेषणके भेदसे, और सम (अभेद) स्वभावको लिये हुए है—विशेषणभेदके अभावसे। साथ ही ('च' शब्दसे) उभयस्वभावको लिये हुए है—हेतुद्वयके अर्पणाक्रमकी अपेक्षा। (इसके सिवाय) अनृतात्मा अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता) को प्राप्त है—एक साथ दोनों धर्मोंका कहा जाना शक्य न होने के कारण; और (द्वितीय 'च' शब्दके प्रयोगसे) भेदि अनभिलाप्य, अभेदि-अनभिलाप्य और उभय (भेदाऽभेदि) अनभिलाप्यरूप भी वह है— अपने अपने हेतुकी अपेक्षा। इसतरह अनृतात्मा अनेकान्तदृष्टिसे भेदाऽभेदकी सप्तभङ्गीको लिये हुए है।'

न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्व-निषेध-गम्यम् ।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधि-भेदात्स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषेः परेषाम् ॥३२॥

'तत्त्व न तो सन्मात्र—सत्ताद्वैतरूप—है और न असन्मात्र—सर्वथा अभावरूप—है; क्योंकि परस्पर निरपेक्ष सत्तत्त्व और असत्तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता—किसी भी प्रमाणसे उपलब्धि न होनेके कारण उसका होना असम्भव है। इसी तरह (सत्, असत्, एक, अनेकादि) सर्वधर्मोंके निषेधका विषयभूत कोई एक आत्मान्तर— परमब्रह्म—तत्त्वभी नहीं देखा जाता—उसका भी होना असम्भव है। हां, सत्वाऽसत्वसे विमिश्र परस्पराऽपेक्षरूप तत्त्व जरूर देखा जाता है और वह उपाधिके—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप विशेषणोंके भेदसे—है अर्थात् सम्पूर्णतत्त्व स्यात् सद्रूप ही है, स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा; स्यात् असद्रूप ही है, पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा; स्यात् उभयरूप ही है, स्व-पररूपादिचतुष्टय-द्वयके क्रमार्पणाकी

अपेक्षा; स्यात् अवाच्यरूप ही है, स्व-पररूपादि-चतुष्टयद्वयके सहार्पणकी अपेक्षा; स्यात्सदवाच्यरूप है, स्व-रूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा तथा युगपत्स्व-पर-स्वरूपादिचतुष्टयके कथनकी अशक्तिकी अपेक्षा; स्यात् असदवाच्य रूप ही है, पररूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा तथा स्व पररूपादि चतुष्टयोंके युगपत् कहनेकी अशक्तिकी अपेक्षा; और स्यात् सदसदवाच्यरूप है, क्रमार्पित स्वपररूपादि-चतुष्टय-द्वयकी अपेक्षा तथा सहार्पित उक्त चतुष्टयद्वय की अपेक्षा। इस तरह सत् असत् आदिरूपविमिश्रित तत्त्व देखा जाता है और इसलिये हे वीर जिन ! वस्तुके अतिशायनसे (सर्वथा निर्देश द्वारा) किञ्चित् सत्यानृतरूप और किञ्चित् असत्याऽनृतरूप वचन आपके ही युक्त है। आप ऋषिराजसे भिन्न जो दूसरे सर्वथा सत् आदि एकान्तवादी हैं उनके यह वचन अथवा इस रूप तत्त्व स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है।'

(यदि यह कहाजाय कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष निरंश वस्तुका प्रतिभासी ही है, धर्मि-धर्मात्मकरूप जो सांश वस्तु है उसका प्रतिभासी नहीं—उसका प्रतिभासी वह सविकल्पक ज्ञान है जो निर्विकल्पक प्रत्यक्षके अनन्तर उत्पन्न होता है; क्योंकि उसीसे यह धर्मी है यह धर्म है ऐसे धर्मि-धर्म-व्यवहारकी प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः सकल कल्पनाओंसे रहित प्रत्यक्षके द्वारा निरंश स्वलक्षणका जो अदर्शन बतलाया जाता है वह असिद्ध है, तब ऐसे असिद्ध अदर्शन साधनसे उस निरंश वस्तुका अभाव कैसे सिद्ध किया जासकता है ? बौद्धोंके इस प्रश्नको लेकर आचार्यमहोदय अगली कारिकाको अवतरित करते हुए कहते हैं—)

प्रत्यक्ष-निर्देशवदप्यसिद्धमकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम्।
विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो न तावक-द्वेषिणि वीर ! सत्यम् ॥३३॥

'जो प्रत्यक्षके द्वारा निर्देशको प्राप्त (निर्दिष्ट होनेवाला) हो—प्रत्यक्ष ज्ञानसे देखकर 'यह नीलादिक है' इस प्रकारके वचन-विना ही अंगुलीसे जिसका प्रदर्शन किया जाता हो—ऐसा तत्त्वभी असिद्ध है; क्योंकि जो प्रत्यक्ष अकल्पक है—सभी कल्पनाओंसे रहित निर्विकल्पक है—वह दूसरोंको (संशयित विनेयों अथवा संदिग्ध व्यक्तियोंको) तत्त्वके बतलाने-दिखलानेमें किसी तरह भी समर्थ नहीं होता है। (इसके सिवाय) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी असिद्ध है; क्योंकि (किसी भी प्रमाणके द्वारा) उसका ज्ञापन अशक्य है—प्रत्यक्षप्रमाण-से तो वह इस लिये ज्ञापित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह परप्रत्यक्षके द्वारा असंवेद्य है। और अनुमान प्रमाणके द्वारा भी उसका ज्ञापन नहीं बनता; क्योंकि उस प्रत्यक्षके साथ अविनाभावी लिङ्ग (साधन) का ज्ञान असंभव है—दूसरे लोग जिन्हें लिङ्ग-लिङ्गीके सम्बन्धका ग्रहण नहीं हुआ उन्हें अनुमानके द्वारा उसे कैसे बतलाया जा सकता है ? नहीं बतलाया जा सकता। और जो स्वयं प्रतिपन्न है—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा उसके अविनाभावी लिङ्गको जानता है—उसको निर्विकल्पक प्रत्यक्षका ज्ञापन करानेके लिये अनुमान निरर्थक है। समारोपादिकी—भ्रमोत्पत्ति और अनुमानके द्वारा उसके व्यवच्छेदकी—बात कहकर उसे सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि साध्य-साधनके सम्बन्धसे जो स्वयं अभिज्ञ है उसके तो समारोपका होना ही असंभव है और जो अभिज्ञ नहीं है उसके साध्य साधन सम्बन्धका ग्रहण ही सम्भव नहीं है, और इसलिये गृहीतकी विस्मृति जैसी कोई बात नही बन सकती। इस तरह अकल्पक प्रत्यक्षका कोई ज्ञापक न होनेसे उसकी व्यवस्था नहीं बनती; तब उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और जब उसकी ही सिद्धि नहीं तब उसके द्वारा निर्दिष्ट होनेवाले निरंश वस्तुतत्त्वकी सिद्धि तो कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती। अतः दोनों ही असिद्ध ठहरते हैं।

प्रत्यक्षकी सिद्धिके विना उसका लक्षणार्थ भी नहीं बन सकता—'जो ज्ञान कल्पनासे रहित है वह प्रत्यक्ष है' ('प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्') ऐसा बौद्धोंके द्वारा किये गये प्रत्यक्ष-लक्षणका जो अर्थ प्रत्यक्षका बोध कराना है वह भी घटित नहीं हो सकता। अतः हे वीर भगवन्! आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वादशासनका जो द्वेषी है—सर्वथा सत् आदिरूप एकान्तवाद है—उसमें सत्य घटित नहीं होता—एकान्ततः सत्यको सिद्ध नहीं किया जा सकता।'

कालान्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वाऽपृथक्पृथक्त्वाऽवचनीयतायाम्।
विकारहानेर्न च कर्तृ-कार्ये वृथा श्रमोऽयं जिन! विद्विषां ते ॥३४॥

'पदार्थके कालान्तरस्थायी होने पर—जन्मकालसे अन्यकालमें ज्योंका त्यों अपरिणामीरूपसे अवस्थित रहने पर—, चाहे वह अभिन्न हो भिन्न हो या अनिर्वचनीय हो, कर्ता और कार्य दोनों भी उसी प्रकार नहीं बन सकते जिस प्रकार कि पदार्थके सर्वथा क्षणिक अथवा ध्रुव (नित्य) होने पर नहीं बनते[1]; क्योंकि तब विकारकी निवृत्ति होती है— विकार परिणामको कहते हैं, जो स्वयं अवस्थित द्रव्यके पूर्वाकारके परित्याग, स्वरूपके अत्याग और उत्तरोत्तराकारके उत्पादरूप होता है। विकारकी निवृत्ति क्रम और अक्रमको निवृत्त करती है; क्योंकि क्रम अक्रमकी विकारके साथ व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्धकी प्राप्ति) है। क्रम-अक्रमकी निवृत्ति क्रियाको निवृत करती है; क्योंकि क्रियाके साथ उनकी व्याप्ति है। क्रियाका अभाव होने पर कोई कर्त्ता नहीं बनता; क्योंकि क्रियाधिष्ठ स्वतंत्र द्रव्यके ही कर्तृत्वकी सिद्धि होती है। और कर्ताके अभावमें कार्य नहीं बन सकता— स्वयं समीहित स्वर्गाऽपवर्गादिरूप किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। (अतः) हे वीर जिन! आपके द्वेषियोंका— आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-शासनसे द्वेष रखनेवाले (*बौद्ध, वैशेषिक, नैय्यायिक, सांख्य आदि*) *सर्वथा एकान्तवादियोंका*— यह श्रम—स्वर्गाऽपवर्गादिकी प्राप्तिके लिये किया गया यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि रूप संपूर्ण दृश्यमान तपोलक्षण प्रयास—व्यर्थ है— उससे सिद्धान्ततः कुछ भी साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती।'

[*यहां तकके इस सब कथन-द्वारा आचार्य महोदय स्वामी समन्तभद्रने अन्य सब प्रधान* प्रधान मतोंको सदोष सिद्ध करके 'समन्तदोषं मतमन्यदीयम्' इस आठवीं कारिकागत अपने वाक्यको समर्थित किया है; साथ ही, 'त्वदीयं मतमद्वितीयम्' (आपका मत-शासन अद्वितीय है) इस छठी कारिकागत अपने मन्तव्यको प्रकाशित किया है। और इन दोनोंके द्वारा 'त्वमेव महान् इतीयत्प्रतिवक्तुमीशाः वयम्' (*'आप ही महान् हैं' इतना बतलानेके लिये हम समर्थ हैं) इस चतुर्थ कारिकागत अपनी प्रतिज्ञाको सिद्ध किया है।*]

---

[1] देखो, इसी ग्रन्थकी कारिका ८, १२, आदि तथा देवागमकी कारिका ३७, ४१ आदि

रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय

[सम्पादकीय]

रत्नकरण्डश्रावकाचारके कर्तृत्व-विषयकी वर्तमान चर्चाको उठे हुए चारवर्ष हो चुके—प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए० ने 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबन्धमें इसे उठाया था, जो जनवरी सन् १६४४ में होनेवाले अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलनके १२वें अधिवेशनपर बनारसमें पढ़ा गया था। उस निबन्धमें प्रो० सा० ने, अनेक प्रस्तुत प्रमाणोंसे पुष्ट होती हुई प्रचलित मान्यताके विरुद्ध अपने नये मतकी घोषणा करते हुए, यह बतलाया था कि 'रत्नकरण्ड उन्हीं ग्रन्थकार (स्वामी समन्तभद्र) की रचना कदापि नहीं हो सकती जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी; क्योंकि उसके 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।' साथ ही यह भी सुझाया था कि इस ग्रन्थका कर्ता रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिका गुरु भी हो सकता है। इसी घोषणाके प्रतिवादरूपमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया ने जुलाई सन १६४४ में 'क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है' नामका एक लेख लिखकर अनेकान्तमें इस चर्चाका प्रारम्भ किया था और तबसे यह चर्चा दोनों विद्वानोंके उत्तर प्रत्युत्तर-रूपमें बराबर चली आ रही है। कोठियाजीने अपनी लेखमालाका उपसंहार अनेकान्तकी गतकिरण १०-११ में किया है और प्रोफेसर साहब अपनी लेखमालाका उपसंहार इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित 'रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व' लेखमें कर रहे हैं। दोनों ही पक्षके लेखोंमें यद्यपि कहीं कहीं कुछ पिष्ट-पेषण तथा खींचतानसे भी काम लिया गया है और एक दूसरेके प्रति आक्षेपपरक भाषाका भी प्रयोग हुआ है, जिससे कुछ कटुताको अवसर मिला। यह सब यदि न हो पाता तो ज्यादह अच्छा रहता। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि दोनों विद्वानोंने प्रकृत विषयको सुलझानेमें काफी दिलचस्पीसे काम लिया है और उनके अन्वेषणात्मक परिश्रम एवं विवेचनात्मक प्रयत्नके फलस्वरूप कितनी ही नई बातें पाठकोंके सामने आई हैं। अच्छा होता यदि प्रोफेसर साहब न्यायाचार्यजीके पिछले लेखकी नवोद्भावित युक्तियों का उत्तर देते हुए अपनी लेखमालाका उपसंहार करते, जिससे पाठकोंको यह जाननेका अवसर मिलता कि प्रोफेसर साहब उन विशेष युक्तियोंके सम्बन्धमें भी क्या कुछ कहना चाहते हैं। हो सकता है कि प्रो० सा० के सामने उन युक्तियोंके सम्बन्धमें अपनी पिछली बातोंके पिष्टपेषणके सिवाय अन्य कुछ विशेष एवं समुचित कहनेके लिये अवशिष्ट न हो और इसीलिये उन्होंने उनके उत्तरमें न पड़कर अपनी उन चार आपत्तियोंको ही स्थिर घोषित करना उचित समझा हो, जिन्हें उन्होंने अपने पिछले लेख (अनेकान्त वर्ष ८ किरण ३) के अन्तमें अपनी युक्तियोंके उपसंहार-रूपमें प्रकट किया था। और सम्भवत: इसी बातको दृष्टिमें रखते हुए उन्होंने अपने वर्तमान लेखमें निम्न वाक्योंका प्रयोग किया हो:—

"इस विषयपर मेरे 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक निबन्धसे लगाकर अभी तक मेरे और पं० दरबारीलालजी कोठियाके छह लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उपलब्ध साधक-बाधक प्रमाणोंका विवेचन किया जा चुका है। अब कोई नई बात *सन्मुख आनेकी अपेक्षा पिष्टपेषण ही अधिक होना* प्रारम्भ हो गया है और मौलिकता केवल कटु शब्दोंके प्रयोगमें शेष रह गई है।"

(आपत्तियोंके पुनरुल्लेखानन्तर) "इस प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाके एक कर्तृत्व के विरुद्ध पूर्वोक्त चारों आपत्तियां ज्योंकी त्यों आज भी

खड़ी हैं, और जो कुछ ऊहापोह अब तक हुई है उससे वे और भी प्रबल व अकाट्य सिद्ध होती हैं।"

कुछ भी हो और दूसरे कुछ ही समझते रहें, परन्तु इतना स्पष्ट है कि प्रो० साहब अपनी उक्त चार आपत्तियोंमेंसे किसीका भी अब तक समाधान अथवा समुचित प्रतिवाद हुआ नहीं मानते; बल्कि वर्तमान ऊहापोहके फलस्वरूप उन्हें वे और भी प्रबल एवं अकाट्य समझने लगे हैं। अस्तु।

अपने वर्तमान लेखमें प्रो० साहबने मेरे दो पत्रों और मुझे भेजे हुए अपने एक पत्रको उद्धृत किया है इन पत्रोंको प्रकाशित देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई— उनमेंसे किसीके भी प्रकाशनसे मेरे क्रुद्ध होने जैसी तो कोई बात ही नहीं हो सकती थी, जिसकी प्रोफेसर साहबने अपने लेखमें कल्पना की है; क्योंकि उनमें प्राइवेट जैसी कोई बात नहीं है, मैं तो स्वयं ही उन्हें 'समीचीनधर्मशास्त्र' की अपनी प्रस्तावनामें प्रकाशित करना चाहता था—चुनांचे लेखके साथ भेजे हुए पत्रके उत्तरमें भी मैंने प्रो० साहबको इस बातकी सूचना कर दी थी। मेरे प्रथम पत्रको, जो कि रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासा' नामक छठे पद्यके संबन्धमें उसके ग्रन्थका मौलिक अङ्ग होने-न होने-विषयक गम्भीर प्रश्नको लिये हुए है, उद्धृत करते हुए प्रोफेसर साहबने उसे अपनी "प्रथम आपत्तिके परिहारका एक विशेष प्रयत्न" बतलाया है, उसमें जो प्रश्न उठाया है उसे 'बहुत ही महत्वपूर्ण' तथा 'रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयसे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला घोषित किया है और 'तीनों ही पत्रोंको अपने लेखमें प्रस्तुत करना वर्तमान विषयके निर्णयार्थ अत्यन्त आवश्यक' सूचित किया है। साथ ही मुझसे यह जानना चाहा है कि मैंने अपने प्रथम पत्रके उत्तरमें प्राप्त विद्वानोंके पत्रों आदिके आधारपर उक्त पद्यके विषयमें मूलका अङ्ग होने न-होनेकी बाबत और समूचे ग्रन्थ (रत्नकरण्ड) के कर्तृत्व विषयमें क्या कुछ निर्णय किया है। इसी जिज्ञासाको, जिसका प्रो० सा० के शब्दोंमें प्रकृत विषयसे रुचि रखनेवाले दूसरे हृदयोंमें भी उत्पन्न होना स्वाभाविक है, प्रधानता लेकर ही मैं इस लेखके लिखनेमें प्रवृत्त हो रहा हूं।

सबसे पहले मैं अपने पाठकोंको यह बतला देना चाहता हूं कि प्रस्तुत चर्चाके वादी-प्रतिवादी रूपमें स्थित दोनों विद्वानोंके लेखोंका निमित्त पाकर मेरी प्रवृत्ति रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यपर सविशेषरूपसे विचार करने एवं उसकी स्थितिको जांचनेकी ओर हुई और उसके फलस्वरूप ही मुझे वह दृष्टि प्राप्त हुई जिसे मैंने अपने उस पत्रमें व्यक्त किया है जो कुछ विद्वानों को उनका विचार मालूम करनेके लिये भेजा गया था और जिसे प्रोफेसर साहबने विशेष महत्वपूर्ण एवं निर्णयार्थ आवश्यक समझकर अपने वर्तमान लेखमें उद्धृत किया है। विद्वानोंको उक्त पत्रका भेजा जाना प्रोफेसर साहबकी प्रथम आपत्तिके परिहारका कोई खास प्रयत्न नहीं था, जैसा कि प्रो० साहबने समझा है; बल्कि उसका प्रधान लक्ष्य अपने लिये इस बातका निर्णय करना था कि 'समीचीन धर्मशास्त्र' में जो कि प्रकाशनके लिये प्रस्तुत है, उसके प्रति किस प्रकारका व्यवहार किया जाय—उसे मूलका अङ्ग मान लिया जाय या प्रक्षिप्त। क्योंकि रत्नकरण्डमें 'उत्सन्नदोष आप्त'के लक्षणरूपमें उसकी स्थितिके स्पष्ट होनेपर अथवा 'प्रकीर्त्यते'के स्थानपर 'प्रदोषमुक्' जैसे किसी पाठका आविर्भाव होनेपर मैं आप्तमीमांसाके साथ उसका कोई विरोध नहीं देखता हूं। और इसी लिये तत्सम्बन्धी अपने निर्णयादिको उस समय पत्रोंमें प्रकाशित करनेकी कोई जरूरत नहीं समझी गई, वह सब समीचीनधर्मशास्त्रकी अपनी प्रस्तावनाके लिये सुरक्षित रक्खा गया था। हां, यह बात दूसरी है कि उक्त 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यके प्रक्षिप्त होने अथवा मूल ग्रन्थका वास्तविक अङ्ग सिद्ध न होनेपर प्रोफेसर साहबकी प्रकृत चर्चाका मूलाधार ही समाप्त हो जाता है; क्योंकि रत्नकरण्डके इस एक पद्यको लेकर ही उन्होंने आप्तमीमांसागत दोष-स्वरूपके साथ उसके विरोधकी कल्पना करके दोनों ग्रन्थोंके भिन्न कर्तृत्वकी

चर्चाको उठाया था—शेष तीन आपत्तियां तो उसमें बादको पुष्टि प्रदान करने के लिये शामिल होती रही हैं। और इस दृष्टिसे प्रोफेसर साहबने मेरे उस पत्र-प्रेषणादिको यदि अपनी प्रथम आपत्तिके परिहार-का एक विशेष प्रयत्न समझ लिया है तो वह स्वाभाविक है, उसके लिये मैं उन्हें कोई दोष नहीं देता। मैंने अपनी दृष्टि और स्थितिका स्पष्टीकरण कर दिया है।

मेरा उक्त पत्र जिन विद्वानोंको भेजा गया था उनमेंसे कुछ का तो कोई उत्तर ही प्राप्त नहीं हुआ, कुछने अनवकाशादिके कारण उत्तर देनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त की, कुछने अपनी सहमति प्रकट की और शेषने असहमति। जिन्होंने सहमति प्रकट की उन्होंने मेरे कथनको 'बुद्धिगम्य तर्कपूर्ण' तथा युक्तिवादको 'अतिप्रबल' बतलाते हुए उक्त छठे पद्यको संदिग्धरूपमें तो स्वीकार किया है; परन्तु जब तक किसी भी एक प्राचीन प्रतिमें उसका अभाव न पाया जाय तब तक उसे 'प्रक्षिप्त' कहनेमें अपना संकोच व्यक्त किया है। और जिन्होंने असहमति प्रकट की है उन्होंने उक्त पद्यको ग्रन्थका मौलिक अङ्ग बतलाते हुए उसके विषयमें प्रायः इतनी ही सूचना की है कि वह पूर्व पद्यमें वर्णित आप्तके तीन विशेषणोंमेंसे 'उत्सन्न-दोष, विशेषणके स्पष्टीकरण अथवा व्याख्यादिको लिये हुए है। और उस सूचनादि परसे यह पाया जाता है कि वह उनके सरसरी विचारका परिणाम है— प्रश्नके अनुरूप विशेष ऊहापोहसे काम नहीं लिया गया अथवा उसके लिये उन्हें यथेष्ट अवसर नहीं मिल सका। चुनांचे कुछ विद्वानोंने उसकी सूचना भी अपने पत्रोंमें की है जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं :—

"रत्नकरण्डश्रावकाचारके जिस श्लोककी ओर आपने ध्यान दिलाया है, उसपर मैंने विचार किया मगर मैं अभी किसी नतीजेपर नहीं पहुंच सका। श्लोक ५ में उच्छिन्नदोष, सर्वज्ञ और आगमेशीको आप्त कहा है, मेरी दृष्टिमें उच्छिन्नदोषकी व्याख्या एवं पुष्टि श्लोक ६ करता है और आगमेशीकी व्याख्या श्लोक ७ करता है। रही सर्वज्ञता, उसके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा है इसका कारण यह जान पड़ता है कि आप्त-मीमांसामें उसकी पृथक् विस्तारसे चर्चा की है इसलिये उसके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा। श्लोक ६ में यद्यपि सब दोष नहीं आते, किन्तु दोषोंकी संख्या प्राचीन परम्परामें कितनी थी यह खोजना चाहिये। श्लोककी शब्दरचना भी समन्तभद्रके अनुकूल है, अभी और विचार करना चाहिये।" (यह पूरा उत्तर पत्र है)।

"इस समय बिल्कुल फुरसतमें नहीं हूं ·· ·· यहां तक कि दो तीन दिन बाद आपके पत्रको पूरा पढ़ सका। · ··· पद्यके बारेमें अभी मैंने कुछ भी नहीं सोचा था, जो समस्यायें आपने उसके बारेमें उपस्थित की हैं वे आपके पत्रको देखनेके बादही मेरे सामने आई हैं, इसलिये इसके विषयमें जितनी गहराईके साथ आप सोच सकते हैं मैं नहीं, और फिर मुझे इस समय गहराईके साथ निश्चित होकर सोचनेका अवकाश नहीं इसलिये जो कुछ मैं लिख रहा हूं उसमें कितनी दृढ़ता होगी यह मैं नहीं कह सकता फिर भी आशा है कि आप मेरे विचारों पर ध्यान देंगे।"

हां, इन्हीं विद्वानोंमेंसे तीनने छठे पद्यको संदग्धि अथवा प्रक्षिप्त करार दिये जाने पर अपनी कुछ शंका अथवा चिन्ता भी व्यक्त की है, जो इस प्रकार है:—

"(छठे पद्यके संदग्धि होनेपर) ७वें पद्यकी संगति आप किस तरह बिठलाएंगे और यदि ७वें की स्थिति संदग्ध होजाती है तो ८वां पद्य भी अपने आप संदग्धिताकी कोटिमें पहुंच जाता है।"

"यदि पद्य नं० ६ प्रकरणके विरुद्ध है, तो ७ और ८ भी संकटमें ग्रस्त हो जायेंगे।"

"नं० ६ के पद्यको टिप्पणीकारकृत स्वीकार किया जाय तो मूलग्रन्थकारद्वारा लक्षणमें ३ विशेषण देकर भी ७, ८में दोका ही समर्थन या स्पष्टीकरण किया गया पूर्व विशेषणके सम्बन्धमें कोई स्पष्टीकरण नहीं किया यह दोषापत्ति होगी।"

इन तीनों आशंकाओं अथवा आपत्तियोंका

आशय प्रायः एक ही है और वह यह कि यदि छठे पद्यको असंगत कहा जावेगा तो ७वें तथा ८वें पद्यको भी असंगत कहना होगा। परन्तु बात ऐसी नहीं है। छठा पद्य ग्रन्थका अंग न रहने पर भी ७वें तथा ८वें पद्यको असंगत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ७वें पद्यमें सर्वज्ञकी, आगमेशीकी अथवा दोनों विशेषणोंकी व्याख्या या स्पष्टीकरण नहीं है, जैसाकि अनेक विद्वानोंने भिन्न भिन्न रूपमें उसे समझ लिया है। उसमें तो उपलक्षणरूपसे आप्तकी नाम-मालाका उल्लेख है, जिसे 'उपलाल्यते' पदके द्वारा स्पष्ट घोषित भी किया गया है, और उसमें आप्तके तीनों ही विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर नामोंका यथावश्यक संकलन किया गया है। इस प्रकारकी नाम-माला देनेकी प्राचीन समयमें कुछ पद्धति जान पड़ती है, जिसका एक उदाहरण पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्दके 'मोक्खपाहुड' में और दूसरा उत्तरवर्ती आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) के 'समाधितंत्र' में पाया जाता है। इन दोनों ग्रन्थोंमें परमात्माका स्वरूप देनेके अनन्तर उसकी नाममालाका जो कुछ उल्लेख किया है वह ग्रन्थ क्रमसे इस प्रकार है :—

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥
निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥

इन पद्योंमें कुछ नाम तो समान अथवा समानार्थक हैं और कुछ एक दूसरेसे भिन्न हैं, और इससे यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि परमात्माको उपलक्षित करनेवाले नाम तो बहुत हैं, ग्रन्थकारोंने अपनी अपनी रुचि तथा आवश्यकताके अनुसार उन्हें अपने अपने ग्रन्थोंमें यथास्थान ग्रहण किया है। समाधितंत्रग्रन्थके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने, 'तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह' इस प्रस्तावना-वाक्यके द्वारा यह सूचित भी किया है कि इस छठे श्लोकमें परमात्माके नामकी वाचिका नाममालाका निर्देशन है। रत्नकरण्डकी टीकामें भी प्रभाचन्द्राचार्यने 'आप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह' इस प्रस्तावना वाक्यके द्वारा यह सूचना की है। ७वें पद्यमें आप्तकी नाममालाका निरूपण है। परन्तु उन्होंने साथमें आप्तका एक विशेषण 'उक्तदोषैर्विवर्जितस्य' भी दिया है, जिसका कारण पूर्वमें उत्सन्न-दोषकी दृष्टिसे आप्तके लक्षणात्मक पद्यका होना कहा जा सकता है; अन्यथा वह नाममाला एकमात्र 'उत्सन्नदोषआप्त' की नहीं कही जा सकती; क्योंकि उसमें 'परंज्योति' और 'सर्वज्ञ' जैसे नाम सर्वज्ञ आप्तके, 'सार्वः' और 'शास्ता' जैसे नाम आगमेशी (परमहितोपदेशक) आप्तके स्पष्ट वाचक भी मौजूद हैं। वास्तवमें वह आप्तके तीनों विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर ही संकलित की गई है, और इसलिये ७वें पद्यकी स्थिति ५वें पद्यके अनन्तर ठीक बैठ जाती है, उसमें असंगति जैसी कोई भी बात नहीं है। ऐसी स्थितिमें ७वें पद्यका नम्बर ६ होजाता है और तब पाठकोंको यह जानकर कुछ आश्चर्यसा होगा कि इन नाममालावाले पद्योंका तीनों ही ग्रन्थोंमें ६टा नम्बर पड़ता है, जो किसी आकस्मिक अथवा रहस्यमय-घटनाका ही परिणाम कहा जा सकता है।

इस तरह ६ठे पद्यके अभावमें जब ७वां पद्य असंगत नहीं रहता तब ८वां पद्य असंगत हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह ७वें पद्यमें प्रयुक्त हुए 'विरागः' और 'शास्ता' जैसे विशेषण-पदोंके विरोधकी शंकाके समाधानरूपमें है।

इसके सिवाय, प्रयत्न करने पर भी रत्नकरण्ड-की ऐसी कोई प्राचीन प्रतियां मुझे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकीं है, जो प्रभाचन्द्रकी टीकासे पहले की अथवा विक्रमकी ११ वीं शताब्दीकी या उससे भी पहलेकी लिखी हुई हों। अनेकवार कोल्हापुरके प्राचीनशास्त्र भण्डारको टटोलनेके लिये डा० ए०एन० उपाध्ये जीसे निवेदन किया गया; परन्तु हरबार यही उत्तर मिलता रहा कि भट्टारकजी मठमें मौजूद नहीं हैं, बाहर गये हुये हैं— वे अक्सर बाहर ही घूमा करते हैं— और बिना उनकी मौजूदगीके मठके शास्त्रभंडारको देखा नहीं जा सकता।

ऐसी हालतमें रत्नकरण्डका छठा पद्य अभी तक मेरे विचाराधीन हो चला जाता है। फिलहाल, वर्तमान चर्चाके लिये, मैं उसे मूलग्रन्थका अंग मानकर ही प्रोफेसर सा० की चारों आपत्तियोंपर अपना विचार और निर्णय प्रकट कर देना चाहता हूं। और वह निम्नप्रकार है। (अगली किरणमें समाप्य)

रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व

(लेखक— डा० हीरालाल जैन, एम० ए०)

रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसा एक ही आचार्यकी रचनाएं हैं, या भिन्न भिन्न, इस विषयपर मेरे 'जैनइतिहासका एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक निबन्धसे लगाकर अभी तक मेरे और पं० दरबारीलालजी कोठियाके छह लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उपलब्ध साधक-बाधक प्रमाणों का विवेचन किया जा चुका है। अब कोई नई बात सन्मुख आनेकी अपेक्षा पिष्टपेषण ही अधिक होना प्रारम्भ हो गया है और मौलिकता केवल कटु-वाक्योंके प्रयोगमें शेष रह गई है। अतएव मै प्रस्तुत लेखमें संक्षेपत: केवल यह प्रकट करना चाहता हूं कि उक्त दोनों रचनाओंको एक ही आचार्य की कृतियां माननेमें जो आपत्तियां उपस्थित हुई थीं उनका कहांतक समाधान हो सका है।

मैंने अपने गत लेखके उपसंहारमें चार आपत्तियोंका उल्लेख किया था जिनके कारण रत्न-करण्ड और आप्तमीमांसाका एककर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। प्रथम आपत्ति यह थी कि रत्नकरण्डा-नुसार आप्तमें क्षुत्पिपासादि असातावेदनीय कर्मजन्य वेदनाओंका अभाव होता है, जबकि आप्तमीमांसाकी कारिका ६३ में वीतराग सर्वज्ञके दु:खकी वेदना स्वीकार की गई है जो कि कर्म सिद्धान्तकी व्यवस्थाओंके अनुकूल है। पंडितजीका मत है कि उक्त कारिकाके वीतराग विद्वान मुनिसे छटे गुणस्थानवर्ती साधुका अभिप्राय है। किन्तु न तो वे यह बतला सके कि छठे गुणस्थानीय साधुको वीतराग व विद्वान् विशेषण लगानेका क्या प्रयोजन है, और न यह प्रमाणित कर सके कि उक्त गुण-स्थानमें सुख दु:खकी वेदना होते हुए पाप-पुण्यके बन्धका अभाव कैसे संभव है। और इसी बातपर उक्त कारिकाकी युक्ति निर्भर है। अत: उन दोनों ग्रन्थोंके एक-कर्तृत्व स्वीकार करनेमें यह विरोध बाधक है।

दूसरी आपत्ति यह थी कि शक संवत ६४७ से पूर्वका कोई उल्लेख रत्नकरण्डश्रा० का नहीं पाया जाता और न उसका आप्तमीमांसाके साथ एककर्तृत्व संबन्धी कोई स्पष्ट प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख उपल-ब्ध है। यह आपत्ति भी जैसोकी तैसी उपस्थित है।

तीसरी आपत्ति यह थी कि रत्नकरण्डका जो सर्व प्रथम उल्लेख शक संवत् ६४७ में वादिराज कृत पार्श्व-नाथ चरितमें पाया जाता है उसमें वह स्वामी समन्त-भद्र-कृत न कहा जाकर योगीन्द्र-कृत कहा गया है। और वह उल्लेख स्वामी-कृत देवागम (आप्तमीमांसा) और देव-कृत शब्दशास्त्रके उल्लेखोंके पश्चात् किया गया है चूंकि हरिवंशपुराण व आदिपुराण जैसे प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथोंमें 'देव' शब्दद्वारा देवनन्दि पूज्यपाद और उनके व्याकरण ग्रंथ जैनेन्द्र व्याकरणका ही उल्लेख पाया जाता है, अतः स्पष्ट है कि वादिराजने

भी उस बीचके श्लोक द्वारा देवनन्दिकृत जैनेन्द्र-व्याकरणका ही उल्लेख किया है। और उसके व्यवधान होनेसे योगीन्द्रकृत रत्नकरण्डका देवागमसे एककर्तृत्व कदापि वादिराज-सम्मत नहीं कहा जा सकता। इस आपत्तिको पंडितजीने भी स्वीकार किया है, किन्तु उनकी कल्पना है कि यहां 'देव' से अभिप्राय स्वामी समन्तभद्रका ग्रहण करना चाहिये। किन्तु इसके समर्थनमें उन्होंने जो उल्लेख प्रस्तुत किये हैं उन सबमें 'देव' पद 'समन्तभद्र' पदके साथ साथ पाया जाता है। ऐसा कोई एक भी उल्लेख नहीं जहां केवल 'देव' शब्दसे समन्तभद्रका अभिप्राय प्रकट किया गया हो।

योगीन्द्रसे समन्तभद्रका अभिप्राय ग्रहण करनेके समर्थनमें उन्होंने प्रभाचन्द्रकृत कथाकोषके अवतरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें समन्तभद्रको योगी व योगीन्द्र कहा गया है। किन्तु पंडितजीने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि उक्त कथानकमें समन्तभद्रको केवल उनके कपटवेषमें ही योगी या योगीन्द्र कहा है, उनके जैनवेषमें कहीं भी उक्त शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता। सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि समन्तभद्रके ग्रन्थकर्ताके रूपसे सैकड़ों उल्लेख या तो स्वामी या समन्तभद्र नामसे पाये जाते हैं, किन्तु 'देव' या 'योगीन्द्र' रूपसे कोई एक भी उल्लेख अभीतक सन्मुख नहीं लाया जा सका। फिर उनका बनाया हुआ न तो कोई शब्द-शास्त्र उपलब्ध है और न उसके कोई प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख पाये जाते हैं। इसके विपरीत देवनन्दिकी 'देव' नामसे प्रख्याति साहित्यमें प्रसिद्ध है, और उनका बनाया हुआ महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध भी है। अतएव वादिराजके उल्लेखोंमें सुस्पष्ट प्रमाणोंके विपरीत 'देव' से और 'योगीन्द्र' से समन्तभद्रका अभिप्राय ग्रहण करना निष्पक्ष आलोचनात्मक दृष्टि से अप्रामाणिक ठहरता है।

अन्तिम बात यह थी कि रत्नकरण्डके उपान्त्य श्लोकमें 'वीतकलंक' 'विद्या' और 'सर्वार्थ-सिद्धि' पद आये हैं जिनका अभिप्राय 'अकलंक' 'विद्यानन्द' और देवनन्दि पूज्यपादकृत 'सर्वार्थसिद्धि' से भी हो सकता है। श्लेष-काव्यमें दूसरे अर्थकी अभिव्यक्ति पर्यायवाची शब्दों व नामैकदेशद्वारा की जाना साधारण बात है। उसकी स्वीकारताके लिये इतना पर्याप्त है कि एक तो शब्दमें उस अर्थके देनेका सामर्थ्य हो और उस अर्थसे किसी अन्यत: सिद्ध बातका विरोध न हो। इसीलिये मैंने इस प्रमाणको सबके अन्तमें रखा है कि जब उपर्युक्त प्रमाणोंसे रत्नकरण्ड आप्तमीमांसाके कर्ताकी कृति सिद्ध नहीं होता तब उक्त श्लोकमें श्लेषद्वारा उक्त आचार्यों व ग्रन्थके संकेतको ग्रहण करनेमें कोई आपत्ति नहीं रहती। यदि उक्त श्लोकमें कोई श्लेषार्थ ग्रहण न किया जाय तो उसकी रचना बहुत अटपटी माननी पड़ेगी, क्योंकि उसकी शब्द-योजना सीधे वाच्य-वाचक सम्बन्धकी बोधक नहीं है। उदाहरणार्थ केवल 'सम्यक्' के लिये 'वीतकलंक' शब्द का प्रयोग अप्रसिद्ध या अप्रयुक्त जैसा दोष उत्पन्न करता है, क्योंकि वह शब्द उस अर्थमें रूढ़ या सुप्रयुक्त नहीं है। ऐसी शब्दयोजना तभी क्षम्य मानी जा सकती है जबकि उसके द्वारा रचयिताको कुछ और अर्थ व्यंजित करना अभीष्ट हो। श्लेष रचनामें 'वीतकलंक' से अकलंकका अभिप्राय ग्रहण करना तनिक भी आपत्तिजनक नहीं, तथा 'विद्या' से विद्यानन्द व सर्वार्थ-सिद्धिसे तन्नामक ग्रन्थकी सूचना स्वीकार करनेमें उक्त प्रमाणोंके प्रकाशानुसार कोई कठिनाई दिखाई नहीं देती।

इस प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाके कर्तृत्वके विरुद्ध पूर्वोक्त चारों आपत्तियां ज्योंकी त्यों आज भी खड़ी हैं, और जो कुछ ऊहापोह अबतक हुई है उससे वे और भी प्रबल व अकाट्य सिद्ध होती हैं।

उपर्युक्त प्रथम आपत्तिके परिहारका एक विशेष प्रयत्न पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारद्वारा किया गया था। उन्होंने रत्नकरण्डश्रावकाचारके क्षुत्पिपासादि

पद्यके सम्बन्धमें जैन पण्डितोंका मत जानना चाहा था कि क्या वे उस पद्यको ग्रन्थका मौलिक अंश समझते हैं या प्रक्षिप्त। इस सम्बन्धमें उन्होंने जो पत्र घुमाया था उसे मैंने अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं देखा और न फिर इस बातका ही पता चला कि उन्हें पण्डितोंका क्या मत मिला और उसपर उन्होंने क्या निर्णय किया। किन्तु उनका वह पत्र प्रकृत विषयसे इतना सम्बद्ध है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह सर्वथा साहित्य-विषयक है और उसमें कोई वैयक्तिक गोपनीय बात भी नहीं है। अतएव यदि मैं आज उनके उस पत्रको यहां उपस्थित करूं तो आशा है उसमें कोई अनौचित्य न होगा और मान्य मुख्तार जी मुझपर क्रुद्ध न होंगे। उनका वह पत्र इस प्रकार था—

"प्रिय महानुभाव, सस्नेह जयजिनेन्द्र। आज मैं आपके सामने रत्नकरण्डश्रावकाचारके एक पद्यके सम्बन्धमें अपना कुछ विचार रखना चाहता हूं। आशा है आप उसपर गम्भीरता तथा व्यापक दृष्टिसे विचार करके मुझे शीघ्र ही उत्तर देने की कृपा करेंगे।

वह पद्य 'क्षुत्पिपासा' नामका छठा पद्य है जिसमें आप्तका पुनः लक्षण कहा गया है, और जो लक्षण पूर्व लक्षणसे भिन्न ही नहीं, किन्तु कुछ विरुद्ध भी पड़ता है, और अनावश्यक जान पड़ता है—खासकर ऐसी हालतमें जब कि पूर्व लक्षणको देते हुये यहां तक कह दिया है कि 'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' और साथमें 'नियोगेन' पदका प्रयोग करके उसे और भी दृढ़ किया गया है। यदि उसमें मात्र दोषोंका नामोल्लेख होता और 'यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते' न कहा जाता, तो पूर्व पद्यके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ सकता था, जैसा कि नियमसारमें आप्तका स्वरूप देनेके बाद दोषोंके नामोल्लेख वाली एक गाथा है। दोषोंके नाम उक्त पद्यमें पूरे आये भी नहीं, और इसलिये उन्हें पूरा करनेके लिये चौथे चरणका उपयोग किया जा सकता था। परन्तु वैसा न करके "यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते" कहना स्वामी समन्तभद्र जैसों की लेखनीसे उसके वहां प्रसूत होनेमें सन्देह पैदा करता है। जब स्वामीजी पूर्व पद्यमें आप्त-लक्षणके लिए, उत्सन्नदोष, सर्वज्ञ और आगमेशी ये तीन विशेषण निर्धारित कर चुके और स्पष्ट बतला चुके कि इनके बिना आप्तता होती ही नहीं, तब वे अगले ही पद्यमें आप्तका दूसरा ऐसा लक्षण कैसे प्रस्तुत कर सकते हैं जिसमें उक्त तीनों विशेषण न पाये जाते हों। अगले पद्यमें आप्तका जो लक्षण दिया है, उसमें सर्वज्ञ और आगमेशी ये दो विशेषण देखनेमें नहीं आते, और इसलिये 'सः' के बाद 'अपि' शब्दको अध्याहृत मानकर यदि यह कहा भी जाता कि 'जिसके ये क्षुधादिक नहीं, वह भी आप्त कहा जाता है, तो उसमें पूर्व पद्यका 'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' यह वाक्य बाधक पड़ता है। यदि यह प्रबल नियामक वाक्य न होता तो वैसी कल्पना की जा सकती थी। और यदि स्वामी समन्तभद्रको उत्सन्नदोष आप्तका स्वरूप वहां कहना अभीष्ट होता तो वे आप्त मात्रके लक्षण कथन—जैसी सूचना न करके वैसे आप्तकी लक्षण निर्देशकी स्पष्ट सूचना करते, अर्थात्—'यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते' के स्थानपर 'यस्याप्तः स प्रदोषमुक्' जैसे किसी वाक्यका प्रयोग करते। परन्तु ऐसा नहीं है। टीकाकार प्रभाचन्द्र भी इसमें कुछ सहायक नहीं होते। वे उक्त छठे पद्यको देते हुए प्रस्तावना वाक्य तो यह देते हैं—'अथ के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना इत्याशङ्क्याह'। परन्तु टीका करते हुए लिखते हैं—"एतेऽष्टादश दोषा यस्य न सन्ति स आप्तः प्रकीर्त्यते प्रतिपाद्यते।" इससे यह दोषोंका निर्देशमात्र अथवा उत्सन्नदोष आप्तका लक्षण न रहकर आप्त मात्रका ही दूसरा लक्षण हो जाता है जिसके लिये उन्होंने 'अपि' शब्दका भी उद्भावन नहीं किया और दूसरी बहस छेड़ दी। साथ ही वैसी स्थितिमें तब समन्तभद्र आगे 'सर्वज्ञ आप्त' और 'आगमेशी आप्त'का भी लक्षण प्रतिपादन करते, जो नहीं पाया जाता।

इससे उक्त छठे पद्यकी स्थिति बहुत सन्दिग्ध जान पड़ती है। और वह सन्देह और भी पुष्ट होता है

जब हम देखते हैं कि ग्रन्थभरमें अन्यत्र कहीं भी एक के दो लक्षण नहीं कहे गये हैं। आगम, तपोभृत, त्रिमूढों और अष्टअङ्गों और स्मयादि सबके लक्षण एक एक पद्यमें ही दे दिये गये हैं। हो सकता है कि किसीने उत्सन्नदोषकी टिप्पणीके तौर पर इस पद्यको लिख रक्खा हो, और वह प्रभाचन्द्रसे पहले ही मूल प्रतियोंमें प्रविष्ट हो गया हो। यदि ऐसा सम्भव नहीं है, और आपकी रायमें यह मूलरूपमें समन्तभद्रकी कृति है, तो कृपया इसकी स्थिति जो सन्देह उत्पन्न कर रही है, उसे स्पष्ट कीजिये और सन्देहका निरसन कीजिये। इसलिये मैं आपका आभारी हूंगा। और यदि आप भी मेरी ही तरह अब इसकी स्थितिको संदिग्ध समझते हैं और आपको भी इसे मूलग्रन्थका वाक्य कहनेमें संकोच होता है तो वैसा स्पष्ट लिखिये। उत्तर जितना भी शीघ्र बन सके देनेकी कृपा करें। शीघ्र निर्णयके लिये उसकी बड़ी जरूरत है।"

—भवदीय जुगलकिशोर

श्री मुख्तारजीने यहां उक्त पद्यके सम्बन्धमें एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्नको उठाया था जिसका उक्त ग्रन्थ-कर्तृत्वके विषयसे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु इसपर विद्वानोंके क्या मत आये, उनपर से मुख्तार साहबका क्या निर्णय हुआ, और वह अभी तक क्यों प्रकट नहीं किया गया, यह जिज्ञासा इस विषयके रुचियोंको स्वभावत: उत्पन्न होती है। मेरे पास तो उक्त विषयसे कुछ स्पर्श रखता हुआ मुख्तार साहबका एक प्रश्न उक्त पत्र लिखे जानेके कोई एक वर्ष पश्चात यह आया था कि—'रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें पृष्ठ ३२ से ४१ तक मैंने जिन सात पद्यों-को संदिग्ध करार दिया है उनके सम्बन्धमें आपकी क्या राय है ? क्या मेरे हेतुओंको ध्यानमें रखते हुए आप भी उन्हें संदिग्ध करार देते हैं, अथवा आपकी दृष्टिमें वे संदिग्ध न होकर मूल ग्रन्थके ही अङ्ग हैं ? यह बात मैं आपसे जानना चाहता हूं। यदि आप मेरे विचारोंसे सहमत न हों तो कृपया उन आधारों तथा युक्तिप्रमाणोंसे अवगत कीजिये जिनसे वे मूल ग्रन्थके अङ्ग सिद्ध हो सकें। इस कृपा और कष्टके लिये मैं आपका बहुत आभारी हूंगा। आशा है आप मेरी प्रस्तावनाके उक्त पृष्ठोंको देखकर मुझे शीघ्र ही उत्तर देने की कृपा करेंगे।'

इसका मैंने तत्काल ही उन्हें यह उत्तर लिख भेजा था— "रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें आपने जिन पद्योंको संदिग्ध बतलाया है उनका ध्यान मुझे था ही। आपके आदेशानुसार मैंने वह पूरा प्रकरण फिरसे देख लिया है। मैं आपसे इस बातपर पूर्णत: सहमत हूं कि उन पद्योंकी रचना बहुत शिथिल प्रयत्नसे हुई है, अतएव आप्तमीमांसादि ग्रन्थोंके कर्ता द्वारा उनके रचे जानेकी बात बिलकुल नहीं जंचती। किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारमें वे मूल लेखककी न होकर प्रक्षिप्त हैं इसके कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं, विशेषत: जब कि प्राचीनतम टीकाकारने उन्हें स्वीकार किया है, और कोई प्राचीन प्रतियां ऐसी नहीं पाई जातीं जिनमें वे पद्य सम्मिलित न हों। केवल रत्नकरण्डश्रावका-चारको दृष्टिमें रखते हुये वे पद्य इतने नहीं खटकते जितने आप्तमीमांसा आदि ग्रन्थोंके कर्तृत्वको ध्यानमें रखते हुए खटकते हैं; क्योंकि रत्नकरण्डकी रचनामें वह तार्किकता दृष्टिगोचर नहीं होती। अतएव इस विचार-विमर्शका परिणाम भी वही निकलता है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार आप्तमीमांसाके कर्ताकी कृति नहीं है।"

इस प्रश्नोत्तरको भी कोई डेढ दो वर्ष हो गये किन्तु अभी तक तत्सम्बन्धी कोई मुख्तारजीका निर्णय मुझे देखनेको सुनने नहीं मिला। तो भी इन सब पत्रोंको यहां प्रस्तुत करना वर्तमान विषयके निर्णयार्थ अत्यन्त आवश्यक था। ताकि यह दिशा भी पाठकोंकी दृष्टिसे ओझल न रहे।

जैन कालोनी और मेरा विचार-पत्र
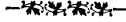
आजकल जैन-जीवनका दिनपर दिन ह्रास होता जा रहा है, जैनत्व प्राय: देखनेको नहीं मिलता—कहीं कहीं और कभी कभी किसी अंधेरे कोनेमें जुगनूके प्रकाशकी तरह उसकी कुछ झलक सी दीख पड़ती है। जैनजीवन और अजैनजीवनमें कोई स्पष्ट अन्तर नजर नहीं आता। जिन राग-द्वेष, काम-क्रोध, छल-कपट झूठ-फरेब, धोखा-जालसाजी, चोरी-सीनाजोरी, अतितृष्णा, विलासता, तुमाइशीभाव और विषय तथा परिग्रहलोलुपता आदि दोषोंसे अजैन पीडित हैं उन्हीं से जैन भी सताये जा रहे हैं। धर्मके नामपर किये जानेवाले क्रियाकाण्डोंमें कोई प्राण मालूम नहीं होता अधिकांशमें जाब्तापूरी, लोकदिखावा अथवा दम्भका ही सर्वत्र साम्राज्य जान पड़ता है। मूलमें विवेकके न रहनेसे धर्मकी सारी इमारत डांवाडोल हो रही है। जब धार्मिक ही न रहें तब धर्म किसके आधारपर रह सकता है? स्वामी समन्तभद्रने कहा भी है कि—'**न धर्मो धार्मिकैर्विना**'। अत: धर्मकी स्थिरता और उसके लोकहित-जैसे शुभ परिणामोंके लिये सच्चे धार्मिकोंकी उत्पत्ति और स्थितिकी ओर सविशेषरूपसे ध्यान दिया ही जाना चाहिये, इसमें किसीको भी विवादके लिये स्थान नहीं है। परन्तु आज दशा उलटी है—इस ओर प्राय: किसीकाभी ध्यान नहीं है। प्रत्युत इसके देशमें जैसी कुछ घटनाएं घट रही हैं और उसका वातावरण जैसा कुछ क्षुब्ध और दूषित हो रहा है उससे धर्मके प्रति लोगोंकी अश्रद्धा बढ़ती जा रही है, कितने ही धार्मिक संस्कारोंसे शून्य जन-मानस उसकी बगावतपर तुले हुए हैं और बहुतोंकी स्वार्थपूर्ण भावनाएं एवं अविवेकपूर्ण स्वच्छन्द-प्रवृत्तियां उसे तहस-नहस करनेके लिये उतारू हैं; और इस तरह वे अपने तथा उस देशके पतन एवं विनाश का मार्ग आप ही साफ कर रहे हैं। यह सब देखकर भविष्यकी भयङ्करताका विचार करते हुए शरीरपर रोंगटे खड़े होते हैं और समझमें नहीं आता कि तब धर्म और धर्मायतनोंका क्या बनेगा। और उनके अभावमें मानव-जीवन कहां तक मानवजीवन रह सकेगा!!

दूषित शिक्षा-प्रणालीके शिकार बने हुए संस्कार-विहीन जैनयुवकोंकी प्रवृत्तियां भी आपत्तिके योग्य हो चली हैं, वे भी प्रवाहमें बहने लगे हैं, धर्म और धर्मायतनोंपरसे उनकी श्रद्धा उठती जाती है, वे अपने लिये उनकी जरूरत ही नहीं समझते, आदर्शकी थोथी बातों और थोथे क्रियाकाण्डोंसे वे ऊब चुके हैं, उनके सामने देशकालानुसार जैन-जीवनका कोई जीवित आदर्श नहीं है, और इसलिये वे इधर उधर भटकते हुए जिधर भी कुछ आकर्षण पाते हैं उधरके ही हो रहते हैं। जैनधर्म और समाजके भविष्यकी दृष्टिसे ऐसे नवयुवकोंका स्थितिकरण बहुत ही आवश्यक है और वह तभी हो सकता है जब उनके सामने हरसमय जैन-जीवनका जीवित उदाहरण रहे।

इसके लिये एक ऐसी जैनकालोनी—जैनबस्तीके बसानेकी बड़ी जरूरत है जहां जैन जीवनके जीते जागते उदाहरण मौजूद हों—चाहे वे गृहस्थ अथवा साधु किसी भी वर्गके प्राणियोंके क्यों न हों; जहां पर सर्वत्र मूर्तिमान जैनजीवन नजर आए और उससे देखनेवालोंको जैनजीवनकी सजीव प्रेरणा मिले; जहांका वातावरण शुद्ध-शांत-प्रसन्न और जैनजीवनके अनुकूल अथवा उसमें सब प्रकारके सहायक हो; जहां प्राय: ऐसे ही सज्जनोंका अधिवास हो जो अपने जीवनको जैनजीवनके रूपमें ढालनेके लिये उत्सुक हों; जहां पर अधिवासियोंकी प्राय: सभी जरूरतोंको पूरा करनेका समुचित प्रबन्ध हो और जीवनको ऊंचा उठानेके यथासाध्य सभी साधन जुटाये गये हों; जहां

के अधिवासी अपनेको एक ही कुटुम्बका व्यक्ति समझें एक ही पिताकी सन्तानके रूपमें अनुभव करें, और एक दूसरेके दुख-सुखमें बराबर साथी रहकर पूर्णरूप से सेवाभावको अपनाएँ तथा किसीको भी उसके कष्टमें यह महसूस न होने देवें कि वह वहांपर अकेला है।

समय-समयपर बहुतसे सज्जनोंके हृदयमें धार्मिक जीवनको अपनानेकी तरंगें उठा करती हैं और कितने ही सद्गृहस्थ अपनी गृहस्थीके कर्तव्योंको बहुत कुछ पूरा करलेनेके बाद यह चाहा करते हैं कि उनका शेष जीवन रिटायर्डरूपमें किसी ऐसे स्थानपर और ऐसे सत्सङ्गमें व्यतीत हो जिससे ठीक ठीक धर्मसाधन और लोक-सेवा दोनों ही कार्य बन सकें। परन्तु जब वे समाजमें उसका कोई समुचित साधन नहीं पाते और आस पासका वातावरण उनके विचारोंके अनुकूल नहीं होता तब वे यों ही अपना मन मसोसकर रह जाते हैं समर्थ होते हुए भी बाह्य परिस्थितियोंके वश कुछ भी कर नहीं पाते, और इस तरह उनका शेष जीवन इधर उधरके धन्धोंमें फंसे रहकर व्यर्थ ही चला जाता है। और यह ठीक ही है, बीजमें अंकुरित होने और अच्छा फलदार वृक्ष बननेकी शक्तिके होते हुए भी उसे यदि समयपर मिट्टी पानी और हवा आदिका समुचित निमित्त नहीं मिलता तो उसमें अंकुर नहीं फूटता और वह यों ही जीर्ण-शीर्ण होकर नकारा हो जाता है। ऐसी हालतमें समाजकी शक्तियोंको सफल बनाने अथवा उनसे यथेष्ट काम लेनेके लिये संयोगोंको मिलाने और निमित्तोंको जोड़नेकी बड़ी जरूरत रहती है। इस दृष्टिसे भी जैनकालोनीकी स्थापना समाजके लिये बहुत लाभदायक है और वह बहुतोंको सन्मार्ग-पर लगाने अथवा उनकी जीवनधाराको समुचितरूपसे बदलनेमें सहायक हो सकती है।

आज दो वर्ष हुए जब बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता मद्रास-प्रान्तस्थ आरोग्यवरम्के सेनिटोरियममें अपनी चिकित्सा करा रहे थे। उस समय वहांके वातावरण और ईसाई सज्जनोंके प्रेमालाप एवं सेवाकार्योंसे वे बहुत ही प्रभावित हुए थे। साथ ही यह मालूम करके कि ईसाईलोग ऐसी सेवा संस्थाओं तथा आकर्षक रूपमें प्रचुर साहित्यके वितरण-द्वारा जहां अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं वहां मांसाहारको भी काफी प्रोत्तेजन दे रहे हैं, जिससे आश्चर्य नहीं जो निकट भविष्यमें सारा विश्व मांसाहारी हो जाय; और इस लिये उनके हृदयमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यदि जैनी समयपर सावधान न हुए तो असंभव नहीं कि भगवान महावीरकी निरामिष-भोजनादि-सम्बन्धी सुन्दर देशनाओंपर पानी फिर जाय और वह एकमात्र पोथी पत्रोंकी ही बात रह जाय। इसी चिन्ताने जैनकालोनीके विचारको उनके मानसमें जन्म दिया और जिसे उन्होंने जनवरी सन १९४५ के पत्रमें मुझपर प्रकट किया। उस पत्रके उत्तरमें २७ जनवरी माघ सुदी १४ शनिवार सन १९४५को जो पत्र देहलीसे उन्हें मैंने लिखा था वह अनेक दृष्टियोंसे अनेकान्त-पाठकोंके जानने योग्य है। बहुत सम्भव है कि बाबू छोटेलालजीको लक्ष्यकरके लिखा गया यह पत्र दूसरे हृदयोंको भी अपील करे और उनमेंसे कोई माईका लाल ऐसा निकल आवे जो एक उत्तम जैन कालोनीकी योजना एवं व्यवस्थाके लिये अपना सब कुछ अर्पण कर देवे, और इस तरह वीरशासनकी जड़ोंको युगयुगान्तरके लिये स्थिर करता हुआ अपना एक अमर स्मारक कायम कर जाय। इसी सदुद्देश्यको लेकर आज उक्त पत्र नीचे प्रकाशित किया जाता है। यह पत्र एक बड़े पत्रका मध्यमांश है, जो मौनके दिन लिखा गया था, उस समय जो विचार धारा-प्रवाहरूपसे आते गये उन्हींको इस पत्रमें अङ्कित किया गया है और उन्हें अङ्कित करते समय ऐसा मालूम होता था मानों कोई दिव्य-शक्ति मुझसे वह सब कुछ लिखा रही है। मैं समझता हूं इसमें जैन धर्म, समाज और लोकका भारी हित सन्निहित है।

जैनकालोनी-विषयक पत्र—

"जैन कालोनी आदि सम्बन्धी जो विचार आपने प्रस्तुत किये हैं और बाबू अजितप्रसादजी भी जिनके लिये प्रेरणा कर रहे हैं वे सब ठीक हैं। जैनियोंमें सेवाभावकी स्पिरिटको प्रोत्तेजन देने और एकवर्ग

सच्चे जैनियों अथवा वीरके सच्चे अनुयायियोंको तैयार करनेके लिए ऐसा होना ही चाहिए। परन्तु ये काम साधारण बातें बनानेसे नहीं हो सकते, इनके लिये अपनेको होम देना होगा, दृढसङ्कल्पके साथ कदम उठाना होगा, 'कार्यं साधयिष्यामि शरीरं पातयिष्यामि वा' की नीतिको अपनाना होगा, किसी के कहने-सुनने अथवा मानापमानकी कोई पर्वाह नहीं करनी होगी और अपना दुख-सुख आदि सब कुछ भूल जाना होगा। एक ही ध्येय और एक ही लक्ष्यको लेकर बराबर आगे बढ़ना होगा। तभी रूढ़ियोंका गढ़ टूटेगा, धर्मके आसनपर जो रूढ़ियां आसीन हैं उन्हें आसन छोड़ना पड़ेगा और हृदयों पर अन्यथा संस्कारोंका जो खोल चढ़ा हुआ है वह सब चूरचूर होगा। और तभी समाजको वह दृष्टि प्राप्त होगी जिससे वह धर्मके वास्तविक-स्वरूपको देख सकेगी। अपने उपास्य देवताको ठीक रूपमें पहचान सकेगी, उसकी शिक्षाके ममको समझ सकेगी और उसके आदेशानुसार चलकर अपना विकास सिद्ध कर सकेगी। इस तरह समाजका रुख ही पलट जायेगा और वह सच्चे अर्थोंमें एक धार्मिक समाज और एक विकासोन्मुख आदर्शसमाज बन जायगा। और फिर उसके द्वारा कितनोंका उत्थान होगा, कितनोंका भला होगा, और कितनोंका कल्याण होगा, यह कल्पनाके बाहरकी बात है। इतना बड़ा काम कर जाना कुछ कम श्रेय, कम पुण्य अथवा कम धर्मकी बात नहीं है। यह तो समाजभरके जीवनको उठानेका एक महान आयोजन होगा। इसके लिये अपनेको बीजरूपमें प्रस्तुत कीजिये। मत सोचिये कि मैं एक छोटासा बीज हूं। बीज जब एक लक्ष्य होकर अपनेको मिट्टीमें मिला देता है, गला देता और खपा देता है, तभी चहु ओरसे अनुकूलता उसका अभिनन्दन करती है और उसमें वह लहलहाता पौधा तथा वृक्ष पैदा होता है जिसे देखकर दुनियां प्रसन्न होती है, लाभ उठाती है आशीर्वाद देती है; और फिर उससे स्वत: ही हजारों बीजोंकी नई सृष्टि हो जाती है। हमें वाक्पटु न होकर कार्यपटु होना चाहिये, आदर्शवादी न बनकर आदर्शको अपनाना चाहिये और उत्साह तथा साहसकी वह अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये जिसमें सारी निर्बलता और सारी कायरता भस्म हो जाय। आप युवा हैं, धनाढ्य हैं, धनसे अलिप्त हैं, प्रभावशाली हैं, गृहस्थके बन्धनसे मुक्त हैं और साथ ही शुद्धहृदय तथा विवेकी हैं, फिर आपके लिये दुष्करकार्य क्या होसकता है ? थोड़ीसी स्वास्थ्य की खराबीसे निराश होने जैसी बातें करना आपको शोभा नहीं देता। आप फलकी आतुरताको पहलेसे ही हृदयमें स्थान न देकर दृढ़ सङ्कल्प और Full will power के साथ खड़े हो जाइये, सुखो आराम तलब जैसे—जीवनका त्याग कीजिये और कष्ट सहिष्णु बनिये, फिर आप देखेंगे अस्वस्थता अपने आप ही खिसक रही है और आप अपने शरीरमें नये तेज नये बल और नई स्फूर्तिका अनुभव कर रहे हैं। दूसरोंके उत्थान और दूसरोंके जीवनदानकी सच्ची सक्रिय भावनाएं कभी निष्फल नहीं जातीं—उनका विद्युतका सा असर हुए बिना नहीं रहता। यह हमारी अश्रद्धा है अथवा आत्मविश्वासकी कमी है जो हम अन्यथा कल्पना किया करते हैं।

मेरे खयालमें तो जो विचार परिस्थितयोंको देख कर आपके हृदयमें उत्पन्न हुआ है वह बहुत ही शुभ है, श्रेयस्कार है और उसे शीघ्र ही कार्यमें परिणत करना चाहिये। जहां तकमैं समझता हूं जैन कालोनी के लिये राजगृह तथा उसके आस पासका स्थान बहुत उत्तम है। वह किसी समय एक बहुत बड़ा समृद्धिशाली स्थान रहा है, उसके प्रकृत्ति प्रदत्त चश्मे—गर्म जलके कुण्ड—अपूर्व हैं। स्वास्थ्यकर हैं, और जनताको अपनी ओर आकर्षित किये हुए हैं। उसके पहाड़ी दृश्य भी बड़े मनोहर हैं और अनेक प्राचीन स्मृतियों तथा पूर्व गौरवकी गाथाओंको अपनी गोदमें लिये हुए हैं। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यह स्थान बुरा नहीं है। स्वास्थ्य सुधारके लिये यहां लोग महीनों आकर ठहरते हैं। वर्षाऋतुमें मच्छर साधारणत: सभी स्थानोंपर होते हैं—यहां वे कोई विशेप-रूपसे नहीं होते और जो होते हैं उसका भी कारण

सफाई का न होना है। अच्छी कालोनी बसने और सफाईका समुचित प्रबन्ध रहनेपर यह शिकायतभी सहज ही दूर होसकती है। मालूम हुआ यहां दरियागञ्जमें पहले मच्छरोंका बड़ा उपद्रव था गवर्नमैंटने ऊपरसे गैस वगैरह-छुड़वाकर उसको शांत कर दिया और अब वह बड़ी रौनकपर है और वहां बड़े बड़े कोठी बंगले तथा मकानात और बाजार बन गए हैं। ऐसी हालतमें यदि जरूरत पड़ी तो राजगृहमें भी वैसे उपायोंसे काम लिया जा सकेगा; परन्तु मुझे तो जरूरत पड़ती हुई ही मालूम नहीं होती। साधारण सफाईके नियमोंका सख्तीके साथ पालन करने और करानेसे ही सब कुछ ठीक-ठाक हो जायगा।

अतः इसी पवित्र स्थानको फिरसे उज्जीवित *Relive* करनेका श्रेय लीजिये, इसीके पुनरुत्थानमें अपनी शक्तिको लगाइये और इसीको जैन कालोनी बनाइये। अन्यस्थानोंकी अपेक्षा यहां शीघ्र सफलताकी प्राप्ति होगी। यहां जमीनका मिलना सुलभ है और कालोनी बसानेकी सूचनाके निकलते ही आपके नक्शे आदिके अनुसार मकानात बनानेवाले भी आसानीसे मिल सकेंगे और उसके लिये आपको विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। कितने ही लोग अपना रिटायर्ड जीवन वहीं व्यतीत करेंगे और अपने लिये वहां मकानात स्थिर करेंगे। जिस संस्थाकी बुनियाद अभी कलकत्तेमें डाली गई वह भी वहां अच्छी तरहसे चल सकेगी। कलकत्ते जैसे बड़े शहरोंका मोह छोड़िये और इसे भी भुला दीजिये कि वहां अच्छे विद्वान् नहीं मिलेंगे। जब आप कालोनी जैसा आयोजन करेंगे तब वहां आवश्यकताके योग्य आदमियोंकी कमी नहीं रहेगी। यह हमारा काम करनेसे पहले का भयमात्र है। अतः ऐसे भयोंको हृदयमें स्थान न देकर और भगवान महावीरका नाम लेकर काम प्रारम्भ कर दीजिये। आपको जरूर सफलता मिलेगी और यह कार्य आपके जीवनका एक अमर कार्य होगा। मैं अपनी शक्तिके अनुसार हर तरहसे इस कार्यमें आपका हाथ बटानेके लिये तय्यार हूं। वृद्ध हो जानेपर भी आप मुझमें इसके लिये कम उत्साह नहीं पाएँगे। जैनजीवन और जैनसमाजके उत्थानके लिये मैं इसे उपयोगी समझता हूं।

लाला जुगलकिशोरजी (कागजी) आदि कुछ सज्जनोंसे जो इस विषयमें बातचीत हुई तो वे भी इस विचारको पसन्द करते हैं और राजगृहको ही इसके लिये सर्वोत्तम स्थान समझते हैं। इस सुन्दर स्थान को छोड़कर हमें दूसरे स्थानकी तलाशमें इधर उधर भटकनेकी जरूरत नहीं। यह अच्छा मध्यस्थान है—पटना, आरा आदि कितने ही बड़े बड़े नगर भी इसके आस पास हैं और पावापुर आदि कई तीर्थक्षेत्र भी निकटमें हैं। अतः इस विषयमें विशेष विचार करके अपना मत स्थिर कीजिये और फिर लिखिये। यदि राजगृहके लिये आपका मत स्थिर हो जाय तो पहले साहू शान्तिप्रसादजीको प्रेरणा करके उन्हें वह जमींदारी खरीदवाइये, जिसे वे खरीदकर तीर्थक्षेत्रको देना चाहते हैं, तब वह जमींदारी कालोनीके काममें आ सकेगी।

—जुगलकिशोर मुख्तार

न्याय की उपयोगिता

एक पत्र और उसका उत्तर

वर्णीभवन सागरके विद्यार्थी धन्यकुमार जैनने एक जिज्ञासापूर्ण पत्र लिखा है, जिसमें उन्होंने 'न्याय पढ़नेसे क्या लाभ है ?' इस प्रश्न पर प्रकाश डालने की प्रेरणा की है। अत: उनके पूरे पत्र और अपने उत्तरको नीचे दिया जाता है।

"वर्तमानमें छात्रोंको न्यायसे अरुचि सी होती जा रही है। यद्यपि बहुतसे छात्र जैन विद्यालयोंमें शिक्षा प्राप्त करनेके कारण बाध्य होकर पढ़ते हैं। परन्तु बहुतसे छात्र केवल किसी प्रकार उत्तीर्ण होने का प्रयत्न करते हैं। मैं भी एक न्यायके छोटेसे ग्रन्थका पढ़नेवाला छात्र हूं। मुझे न्याय पढ़ते हुये डेढ़ वर्ष होचुका। परन्तु मैं अभीतक न्यायकी उपयोगिता नहीं समझ पाया। अत: कृपया मेरे "न्याय पढ़नेसे क्या लाभ है ?" इस प्रश्नपर प्रकाश डालें। ताकि मुझ ऐसे अल्पज्ञ छात्र न्याय पढ़नेसे लाभोंको समझकर उसे पढ़नेमें मन लगावें। जबतक किसी विषयकी उपयोगिता समझमें नहीं आती तबतक उसके विषयमें कुछ भी प्रयास करना व्यर्थ सा होता है।"

हमारा खयाल है कि वि० धन्यकुमारका यह पत्र अपने वर्गके विचारोंका प्रकाशक है, जो कुछ विचार न्यायके पढ़नेके बारेमें उनने प्रकट किये हैं वही प्राय: अन्य न्याय पढ़नेवाले जैन-छात्रोंके भी होंगे। मैं भी जब न्याय पढ़ता था तो मुझे भी प्रारम्भमें न्याय पढ़नेसे अरुचि रहा करती थी। क्षत्रचूड़ामणि और चन्द्रप्रभचरित के पढ़नेमें और उनके लगानेमें जितनी स्वाभाविक रुचि होती थी उतनी परीक्षामुख और न्यायदीपिकाके पढ़नेमें नहीं। जब न्यायदीपिकाकी पंक्तियोंको रटकर सुनाना पड़ता था तब उससे जी कतराता था। पर अब यह अरुचि नहीं है। बल्कि अनुभव करता हूं कि न्यायशास्त्रका अध्ययन योग्य विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिये बहुत आवश्यक है उसके बिना बुद्धि प्राय: तर्कशील और पैनी नहीं होती। अत: न्यायशास्त्रके अध्ययनसे बड़ा लाभ है। प्रत्येक योग्य छात्र उससे अधिक विद्वत्ता और साहित्य-सेवा का लाभ उठा सकता है और साहित्यिक, दार्शनिक तथा सामान्य विद्वत्संसार में अपनी ख्यातिके साथ साथ अपना अमर स्थान बना सकता है। प्रसिद्ध दार्शनिक और साहित्यिक विद्वान् राधाकृष्णन और राहुल सांकृत्यायन अपनी दार्शनिक विद्वत्ता और रचनाओंके कारण ही आज विश्वविख्यात हैं। अपनी समाजके पं० सुखलाल जी, पं० महेन्द्रकुमार जी आदि विद्वान् उक्त जगतमें ऐसे ही ख्याति-प्राप्त विद्वान् कहे जा सकते हैं। मतलब यह है कि न्याय-विद्या बुद्धिको तीक्ष्ण करने के लिये बड़ी उपयोगी और लाभदायक श्रेष्ठ विद्या है और इस लिये उसका अभ्यास नितांत आवश्यक है।

यद्यपि हम यह नहीं कहते कि शिक्षासंस्थाओंमें पढ़ने वाले हरेक छात्रको जबरन् न्याय पढ़नेके लिये मजबूर किया ही जाय। जिनकी रुचि हो, अथवा उचित आकर्षण ढंगसे न्याय पढ़नेकी उपयोगिता एवं लाभ बतला कर जिनकी रुचि बनाई जा सकती हो उन्हें ही न्याय पढ़ाना उचित है। यह मानी हुई बात है कि सभी छात्र नैयायिक, वैयाकरण, कवि, ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक, पुरातत्त्वविद् आदि नहीं बन सकते। उन्हें अपनी अपनी रुचिके अनुसार ही बनने देना चाहिये। बनारस विद्यालयमें एक छात्र थे। वे न्यायाध्यापक जीके पास पढ़ते थक

पुस्तकको तो खोलके रख लेते थे, परन्तु उनकी दृष्टि बचाकर इधर कागज घोड़ा, बन्दर, हाथी, आदमी आदि के चित्र खींचते रहते थे। पीछे वे नैयायिक तो नहीं बन सके पर पेन्टर अच्छे बने।

यह जरूर है कि प्रारम्भमें छात्र इतने विचारक तो नहीं होते कि वे अपने पठनीय विषयका अच्छी तरह स्वयं निर्णय कर सकें और इसलिये उन्हें अपने गुरुजनोंका परामर्श लेना अथवा निश्चित कोर्पके अनुसार चलना आवश्यक होता है। यह एक प्रकार से अच्छा भी है; क्योंकि अनुभवी गुरुजनोंका परामर्श अथवा अनेक विद्वानोंकी रायसे तैयार किया गया कोर्ष उस समय उन अनुभवहीन छात्रोंके लिये पथ-प्रदर्शनका काम करता है। परन्तु गुरुजनोंको परामर्श देते समय उनकी रुचिका खयाल अवश्य रखना चाहिये और उन्हें पूरी तरह संतोषित करना चाहिये, केवल एक दो बार कह देनेसे पिण्ड नहीं छुड़ा लेना चाहिये और न "बाबावाक्यं प्रमाणम्" रूपसे आदेशका आश्रय लेना चाहिये। उन्हें उतने प्रकारोंसे पाठ्य-विषयके लाभालाभ (गुण-दोष) को बताना चाहिये जितनोंसे वह उनके गले उतर जाय या मन भरजाय।

जहां तक मैं जानता हूं आजका न्यायशास्त्रका शिक्षण भी सन्तोष-जनक और छात्ररुचि-वर्धक नहीं होता। प्रारम्भमें तो उसकी और भी बुरी दशा है। पंक्तियोंका मात्र अर्थ करके उन्हें वे पंक्तियां रटनेको कहा जाता है। न्याय विषय एक तो वैसे ही रूखा है और फिर उसका शिक्षण भी रूखा हो तो कोमल बुद्धि छात्रोंकी रुचि उसके अध्ययनमें कैसे हो सकती है? कोमल बुद्धि तो सहज-ग्राह्य चीजको बातचीत के ढङ्गमें ग्रहण करना चाहती है। विद्वानोंका मत है कि प्रत्येक व्यक्तिकी बुद्धिमें तर्क और उसको समझनेकी शक्ति रहती है और वह हर काममें उसका उपयोग करता है। एक मजदूरसे सवाल करिये कि तू मजदूरी किस लिये करता है? वह फौरन जवाब देगा कि अपना और अपने बच्चों, बीबी आदिका पेट भरने (भरण-पोषण करने) के लिये करता हूं। उससे पुनः पूछिये कि यदि तुम कामपर समयपर न पहुंचो या कभी न जाओ तो क्या हर्ज है? वह चट उत्तर देगा कि मालिक खफा होगा और मजदूरी में से पैसे काट लेगा। इसी तरह किसी छात्रसे प्रश्न करिये कि तुमने यदि अपना सबक याद न किया तो गुरूजी तुमसे क्या कहेंगे? वह उत्तर देगा कि वे हमसे नाराज होंगे और हमें दण्ड देंगे। फिर पूछिये कि यदि तुमने अपना पाठ याद करके उन्हें सुना दिया तो क्या होगा? वह तुरन्त जबाब देगा कि हम उनकी नाराजीसे बच जावेंगे — वे हम पर प्रसन्न रहेंगे और इसी तरह अपना पाठ याद करते रहने पर हम परीक्षा में पास हो जावेंगे। यही सब बातें हमारे परीक्षामुख (न्यायशास्त्र के पहिले ग्रन्थ) में— 'हिताहितप्राप्तिपरिहार—समर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्'— इस सूत्रमें बतलाई गई हैं। अन्य विद्वानोंका यह भी कहना है कि श्रद्धाके अन्तर्गतभी सूक्ष्मतर्क निहित रहता है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि बालकों आदि सबका दिमाग कुछ न कुछ तर्कशील स्वभाव से ही होता है। अतएव प्रारम्भमें छात्रोंको न्यायशास्त्रका शिक्षण प्रायः बातचीतके ढंगमे अथवा प्रश्नोत्तरके रूपमें दिया जाना चाहिए साथ में जल्दी समझमें आनेवाले अनेक उदाहरण भी, जो आम तौर पर प्रसिद्ध हों, देना चाहिये। इससे छात्रोंको न्यायका पढ़ना अरुचिकर या भाररूप मालूम नहीं पड़ेगा— उसे वे रुचिके साथ पढ़ेंगे। न्यायशास्त्रका शिक्षण वस्तुतः साहित्य आदिके शिक्षणसे बिल्कुल जुदा है। उसके शिक्षकके लिये प्रतिदिनके पाठ्यविषय को पहले हृदयङ्गम (परिभावित) करना और फिर पढ़ाना बड़ा आवश्यक है। ऐन मौके पर (उसी पढ़ाते समय) ही उसकी तैयारी नहीं होना चाहिये। ग्रन्थके

भावको अपनी बोलचालकी भाषा और शब्दोंमें ही प्रकट करना चाहिये। इससे जहां छात्रोंको न्याय पढ़नेमें अरुचि नहीं होगी वहां शिक्षकको एक फायदा यह होगा कि वह स्वतन्त्र चिन्तक बनेगा — वह टीकादि ग्रन्थों मे हुई भूलों के दुहराने एवं अनुसरण करने से बच जाता है। अन्यथा वह गतानुगतिक बना रहेगा। उदाहरण स्वरूप न्यायदीपिकामें असाधारण धर्मको लक्षण का लक्षण मानने वालों के लिये अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव यह तीन दोष दिये गये हैं। इसकी हिन्दी टीकामें टीकाकार पं० खूबचन्दजी ने असम्भव दोष का खुलासा करनेमें एक भूल हो गई है। वहां कहा गया है—

'लक्ष्य और लक्षण ये दोनों एक ही अधिकरण में रहते हैं, ऐसा नियम है। यदि ऐसा न मानोगे तो घट का लक्षण पट भी मानना पड़ेगा परन्तु प्रवादी के माने हुए लक्षण के अनुसार लक्ष्य तथा लक्षण का रहना एक ही अधिकरण में नहीं बन सकता। क्योंकि उसके मतानुसार लक्षण लक्ष्य में रहता है और लक्ष्य अपने अवयवों में रहता है। जैसे पृथ्वी का लक्षण गन्ध है वह गन्ध पृथ्वी में रहता है और पृथ्वी अपने अवयवों में रहती है। इसी प्रकार सभी उदाहरणों में लक्ष्य तथा लक्षण में भिन्नाधिकरणता ही सिद्ध होती है। कहीं भी एकाधिकरणता नहीं बनती। इसलिये इस लक्षण के लक्षण मे असम्भव दोष आता है।

न्यायदीपिकामें उक्त लक्षण के लक्षण में जो असम्भव दोष कहा गया है वह शाब्द सामानाधिकरण्य के अभाव को लेकर है, आर्थ सामानाधिकरण्य के अभाव को लेकर नहीं। इस सम्बन्ध में पं० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य कई वर्ष पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं[१]। परन्तु न्यायदीपिका के अनेक शिक्षक अभी भी उक्त भूल को दुहराते हैं। अतः न्यायशाला के शिक्षक को अपने दिमाग पर मुख्यतः जोर देना चाहिये। इतना प्रकृतोपयोगी प्रसङ्गानुसार कह कर अब मूल प्रश्न पर प्रकाश डाला जाता है —

१– हम पहिले कह आये हैं कि हरेक व्यक्तिकी बुद्धि स्वभावतः कुछ न कुछ तर्कशील रहती है। पर न्यायशास्त्रके अध्ययनसे उस तर्कमें विकास होता है, बुद्धि परिमार्जित होती है, प्रश्न करने और उसे जमा कर उपस्थित करनेका बुद्धिमें माद्दा आता है। बिना तर्ककी बुद्धि कभी कभी ऊट पटांग— जीको स्पर्श न करने वाले प्रश्न कर बैठती है, जिससे व्यक्ति हास्यका पात्र बनता है।

२– न्याय ग्रन्थोंका पढ़ना व्यवहार कुशलता के लिये भी उपयोगी है। उससे हमें यह मालूम होजाता है कि दुनियामें भिन्न भिन्न विचारोंके लोग हमेशासे रहे हैं और रहेंगे। यदि हमारे विचार ठीक और सत्य हैं और दूसरेके विचार ठीक एवं सत्य नहीं हैं तो दर्शनशास्त्र हमें दिशा दिखाता है कि हम सत्यके साथ सहिष्णु भी बनें और अपनेसे विरोधी विचार वालों को अपने तर्कों द्वारा ही सत्यकी ओर लानेका प्रयत्न करें, जोर जबरदस्ती से नहीं। जैन दर्शन सत्यके साथ सहिष्णु है इसीलिये वह और उसका सम्प्रदाय भारत में टिका चला आरहा है अन्यथा बौद्ध आदि दर्शनोंकी तरह उसका टिकना अशक्य था। अन्ध-श्रद्धाको हटाने, वस्तुस्थितिको समझने और विभिन्न विचारोंका समन्वय करनेके लिये न्याय एवं दार्शनिक ग्रन्थोंका पढ़ना, मनन करना, चिन्तन करना जरूरी है। न्याय ग्रन्थोंमें जो आलोचना पाई जाती है उसका उद्देश्य केवल इतना ही है

१ मैंने भी स्पष्ट किया है देखो न्यायदीपिका पृ० १० [प्रस्ता०], पृ० १४१ [हिन्दी टीका] तथा परि० नं० ७ पृ० २३८।

कि सत्य का प्रकाशन और सत्य का ग्रहण हो। न्यायालयमें भी झूठे पक्षकी आलोचना की ही जाती है। न्यायशास्त्रका अध्येता प्राय: परीक्षा चक्षु कहा जाने योग्य होता है।

३– इसके अलावा कार्यकारणभावका ज्ञान भी न्यायशास्त्र से होता है। जाड़ेमें रुई से भरा या ऊन से बना कपड़ा लोग क्यों पहिनते हैं? गरीब लोग आग जला जला कर क्यों तापते हैं? इसका उत्तर है कि उन चीजोंसे ठंड दूर होती है— वे उसके कारण हैं और ठंड दूर होना उनका कार्य है और कारणसे कार्य होता है आदि बातोंका ज्ञान तर्कशास्त्र से होता है। यह अलग बात है कि जो तर्कशास्त्र नहीं पढ़ा उसे भी उक्त प्रकारका ज्ञान होता है परन्तु यह अवश्य है कि उसका ज्ञान तो देखा देखी है और तर्कशास्त्र के अभ्यासीका ज्ञान अनुमान प्रमाणसे स्वयं का निर्णीत ज्ञान है वह उसकी व्यवस्थित मीमांसा जानता है।

४– न्यायशास्त्र का प्रभाव क्षेत्र व्यापक है, व्याकरण, साहित्य, राजनीति, इतिहास, सिद्धान्त आदि सब पर इसका प्रभाव है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो न्याय के प्रभाव से अछूता हो। व्याकरण और साहित्य के उच्च ग्रन्थों में न्यायसूर्य का तेजस्वी और उज्ज्वल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ मिलेगा। मैं उन मित्रों को जानता हूं जो व्याकरण और साहित्य के अध्ययन के समय न्याय के अध्ययनकी अपनेमें कमी महसूस करते हैं और उसकी आवश्यकता पर जोर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि न्यायका पढ़ना कितना उपयोगी और लाभदायक है।

५– किसीभी प्रकारकी विद्वत्ता प्राप्त करने और किसीभी प्रकारके साहित्यनिर्माण करनेके लिये चलता दिमाग़ चाहिये। यदि चलता दिमाग़ नहीं है तो वह न तो विद्वान बन सकता है और न किसी तरहके साहित्य का निर्माण ही कर सकता है। और यह प्रकट है कि चलता दिमाग़ मुख्यत: न्याय शास्त्रसे होता है उसे दिमाग़को तीक्ष्ण एवं द्रुत गति से चलता करनेके लिये उसका अवलम्बन जरूरी है। सोनेमें चमक कसौटी पर ही की जाती है। अत: साहित्यसेवी और विद्वान बननेके लिये न्याय का पढ़ना उतनाही जरूरी है जितना आज राजनीति और इतिहासका पढ़ना जरूरी है।

६– न्यायशास्त्रमें कुशल व्यक्ति सब दिशाओंमें जासकता है और सब क्षेत्रोमें अपनी विशिष्ट उन्नति कर सकता है – वह असफल नहीं होसकता। सिर्फ शर्त यह कि वह न्याय ग्रन्थोंका केवल भार-वाही न हो। उसके रससे पूर्णत: अनुप्राणित हो।

७– निसर्गज तर्क कम लोगोंमें होता है। अधिकांश लोगोंमें तो अधिगमज तर्कही होता है जो साक्षात् अथवा परम्परया न्यायशास्त्र-तर्कशास्त्र के अभ्याससे प्राप्त होता है। अतएव जो निसर्गत: तर्कशील नहीं हैं उन्हें कभी भी हताश नहीं होना चाहिये और न्यायशास्त्रके अध्ययन द्वारा अधिगमज तर्क प्राप्त करना चाहिये। इससे वे न केवल अपनाही फायदा उठा सकते हैं किन्तु वे साहित्य और समाजके लिये भी अपूर्व देनकी सृष्टि कर सकते हैं।

८– समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द आदि जो बड़े बड़े दिग्गज प्रभावशाली विद्वानाचार्य हुये हैं वे सब न्यायशास्त्रके अभ्यास से ही बने हैं। उन्होंने न्यायशास्त्र रत्नाकरका अच्छी तरह अवगाहन करके ही उत्तम उत्तम ग्रन्थ रत्न हमें प्रदान किये हैं जिनका प्रकाश आज जग जाहिर है और जो हमें धरोहरके रूपमें सौभाग्यसे प्राप्त हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उन रत्नोंकी आभाको अधिकाधिक रूपमें दुनियांके कोने कोने में फैलायें जिससे जैन शासनकी महत्ता और जैन दर्शनका प्रभाव लोकमें ख्यात हो।

ये कुछ चंद बातें हैं जिनसे न्यायके पढ़नेकी उपयोगिता और लाभोंपर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। अतः ज्ञात होता है कि न्याय एक बहुत उपयोगी और लाभदायक विषय है जिसका अध्ययन लौकिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियोंसे आवश्यक है—उसकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

— दरबारीलाल कोठिया

—: जैनसाहित्य महारथी :—

स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई

(ले०—श्री भंवरलाल नाहटा)

शत्रुञ्जय, गिरनार आदि तीर्थोंसे पवित्रित सौराष्ट्र-काठियावाड़ देशने कई महान व्यक्तियोंको जन्म दिया जिनमें से वर्तमान युगके तीन जैन तेजस्वी नक्षत्रों - जो आज विद्यमान नहीं हैं—का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अध्यात्म साधनाके श्रेष्ठतम साधक श्रीमद् राजचन्द्र, जैन साहित्य महारथी मोहनलाल दलीचन्द देसाई एवं लोक-साहित्यके महान लेखक झवेरचन्द मेघाणी ये तीनों इसी पवित्रभूमिके रत्न थे। इनमें जैनसाहित्यकी सेवा करनेमें श्रीयुत मोहनलाल दलीचन्द देसाईने सतत प्रयत्न कर जो ठोसकृतियां जैन समाजको दीं इसके लिये जैनसमाज आपका सर्वदा ऋणी रहेगा। हिन्दी पाठकोंको जानकारीके लिये श्रीयुत देसाईकी सेवाओंका संक्षिप्त परिचय यहां दिया जारहा है।

बीकानेर (काठियावाड) रियासतके लूणसर गांवमें सन् १८८४ ई० के अप्रेल मासमे इनका जन्म हुआ था। ये दशा श्रीमाली जातिके श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक जैन श्रीदलीचन्द देसाईके पुत्र थे। उनकी माताका नाम उजानबाई था। इनके जीवननिर्माणमें राजकोटनिवासी श्रीयुत प्राणजीवन मुरारजी साहका विशेष हाथ रहा है, जो इनके मामा होते थे। पिताकी स्थिति अत्यन्त साधारण होनेके कारण ५ वर्षको बाल्यावस्थामे ही प्राणजीवन मामा इन्हें अपने यहां ले आये। पढ़ाईका समुचित प्रबन्ध करदिया, जिससे मामाके पास रहकर इन्होंने प्रीवियस पासकी। तदन्तर गोकुलदास तेजपाल बोर्डिंगमें रहकर सन् १९०६ में बी० ए० की परीक्षा पास की।

बी० ए० पासकर इन्होंने माधवजी कामदार एण्ड छोटूभाई सोलीसिटर्सके यहां रु० ३०) मासिकमें नौकरी करली। वहां नौकरी करते हुए इन्होंने एल० एल० बी० का अभ्यास चालू रखा और साढ़े तीन वर्षमें अर्थात् १९१० की जुलाईमें एल० एल० बी० होगये। इसके बाद सेप्टेम्बर महीनेमें इन्होंने वकालतकी सनद प्राप्त की उस समय आपको फीसके लिये सेठ हेमचन्द अमरचन्दसे कर्जके तौरपर रुपये लेने पड़े थे जो पीछे सुविधानुसार लौटा दिये गये थे।

श्रीयुत देसाई वकील होकर अपना स्वतंत्र व्यापार करनेलगे और सन १९११ में पहिला विवाह अभयचन्द कालीदासकी पुत्री मणि बहनसे हुआ जिससे लाभलक्ष्मी और नटवरलाल नामक दो सन्तानें हुईं। मणिबहनका देहान्त होजाने पर सन् १९२० के दिसम्बरमे प्रभावती बहिनके साथ आपका द्वितीय विवाह हुआ। जिससे रमणीकलाल और जयसुखलाल नामके पुत्र और ताराबहिन व रमाबहिन नामकी पुत्रियां उत्पन्न हुईं।

अपने व अपने परिवारके आजीविकार्थ व्यापार—वकालत या कोईभी धन्धा प्रत्येक व्यक्ति करता है परन्तु आदर्श व्यक्ति वही कहा जासकता है जो

समाज और साहित्यसेवा में अधिकसे अधिक समय का भोग देता है। स्वर्गीय देसाई सच्चे लगनशील और निरन्तर ठोस कायकर्त्ता थे। हाईकोर्टकी छुट्टियोंमें तो आप अधिकतर प्रवासमें जाकर जैनहस्तलिखित प्रतियोंका अवलोकनकर विवरण लिखतेही पर अन्य समय भी दिनरात उनका कार्य चालू रहता था। आफिसमें भी अपने पोथीपत्रे साथ रखते और जब फुरसत मिली सरस्वती उपासनामें जुट जाते। घर पर भी जब सब लोग सोये रहते, देसाई महोदय रातमें दो दो बजे तक अपनी साहित्य-साधनामें संलग्न रहते थे। आलस्य-प्रमादको पासभी नहीं फटकने देते थे, जहां कहींभी साहित्यिक कार्य होता स्वयं तत्काल जा पहुंचते थे। आपने अपनी साहित्य-साधनाकी सबसे अधिक सेवा श्रीजैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्सको दी। जैनश्वे० कौ० हेरल्डके ७ वर्ष तक आप संपादक रहे। "जैनयुग" मासिक का ५ वर्ष तक सम्पादन किया, जो अन्वेषण और साहित्यिक जैनपत्रोंमें अपना खास स्थान रखता था। जैनसाहित्यसंशोधकके बाद उच्चकोटिके पत्रोंमें जैनयुगका ही नम्बर लिया जासकता था, यदि वह बन्द न होता तो अबतक न जाने कितना महत्त्वपूर्ण जैनसाहित्य प्रकाशमें आ जाता।

देसाई महोदयको जैनसाहित्यके प्रति प्रगाढ़ प्रेम और अनन्यभक्ति थी। गुजराती भाषाके लिये आप ने बहुत कुछ किया एवं जैन भाषासाहित्यके प्राचीन ग्रन्थोंको गुर्जरभाषा-भाषी जनतामें प्रकाशमें लानेके हेतु आपने हजारों पृष्ठोंमें "जैनगुर्जरकवियो" के तीन भाग प्रकाशित कर सैंकड़ों जैन कवियोंको उच्चासन प्राप्त कराया एवं हजारों कृतियोंको विद्वत् समाजके सन्मुख रखकर गुर्जर-गिरा, जैनसाहित्य और जैनशासनकी अमूल्य सेवा की। जैनगुर्जर कवियोंका प्रथमभाग सं० १९९२ में प्रकाशित हुआ, जिसमें १३वीं शताब्दीसे १७वीं शताब्दीके अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी भाषाके दि० श्वे० जैनेतर कवि और उनकी रचनाओंका आदि अन्त-सह महत्त्वपूर्ण परिचय दिया है। इस भागमें कुल २८७ जैनकवि और ५४१ पद्यकृतियोंका परिचय है, तदनन्तर गद्यग्रन्थोंकी सूची, कवि व कृतियोंकी अकारादिकी सूचीके साथ १०१० पृष्ठोंमें ग्रन्थ समाप्त हुआ है, जिसमें प्रारम्भमें ३२० पृष्ठकी प्रस्तावना में 'जूनी गुजराती भाषानो संक्षिप्त इतिहास' शीर्षकसे भाषा साहित्यका इतिहास लिखा है जो विद्वानोंके लिये बड़े ही कामकी वस्तु है। इसके ५ वर्ष बाद द्वितीयभाग प्रकाशित हुआ, जिसमें १८वीं शताब्दीके १७६ कवियोंकी ४०१ कृतियोंका परिचय, गद्य-कृतियें जैनकथाकोश, खरतर तथा अंचल गच्छकी पट्टावलियें, राजावली आदि परिशिष्टोंयुक्त ८४५ पृष्ठोंमें दिये हैं। तीसरा भाग दो खंडोंमें है, जिनके कुल २३४० पृष्ठ हैं। इसमें ५२० कवियोंके ११११ कृतियोंका एवं १४५ ग्रन्थकारोंकी ५९६ गद्यकृतियोंका तथा २५४ अज्ञातकर्तृक गद्यकृतियोंका परिचय, १२८ पृष्ठकी कवि, कृति, स्थल एवं राजाओंआदिकी अनु-क्रमणिका, २७२ पृष्ठोमे देशियोंकी महत्त्वपूर्ण विस्तृत सूची तत्पश्चात् जैनेतर कवि एवं कृतियोंका परिचय, कतिपय गच्छोंकी परम्परा-पट्टावली आदिके पश्चात देसाई महोदयके ग्रन्थोंपर विद्वानोंके अभिप्राय प्रकाशित हैं। आपने इस ग्रन्थकी महत्त्वपूर्ण ५०० पृष्ठकी प्रस्तावना+ लिखनेका विचार हमें सूचित किया

+इस प्रस्तावना के सम्बन्धमें हमें निम्नोक्त सूचनायें आपने पत्रोंमें दी थी :-

१- ता० १२-१२-४१ के पत्रमें "प्रस्तावना ५०० पृष्ठ नी लखवानी बाकी छे ते लखवानी छे ते माटे छूटक छूटक लखायुं छे ते भेगु करवानुं छे।"

२- ता० २७-१-४३ के पत्रमें "प्रस्तावना लिखी जारही है पृ० ५०० करीब मुद्राकित होगा।" 'जैन गुर्जर साहित्यका इतिहास" यह मेरी प्रस्तावनाका शीर्षक है, उसमें लवलीन हूं समुद्रमंथन चल रहा है। क्या डालूं क्या नहीं? वाग्देवी सहाय करे और आप जैसेकुं सहाय देनेकी प्रेरणा करे। आपका साहित्य-लेख परिश्रमके लिये हृदयपूर्वक धन्यवाद देकर - लि० सा० सेवक मोहनलालका नमना।

था और उसके नोटिसभी तैयार होगये थे पर उनके एकाएक अस्वस्थ हो जानेसे वह कार्य सम्पन्न न हो सका। अगर यह प्रस्तावना प्रकाशित होजाती तो जैनसाहित्यके सम्बन्धमें बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती थी।

स्वर्गीय देसाई महोदयने अपनी सारी शक्ति लगाकर जिस महान् ग्रन्थको लिखा वह है— 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास।' इस ग्रन्थकी पृष्ठसंख्या १२५० और ६० चित्र हैं। इसमें भगवान महावीर से लेकर अबतकके साहित्यका इतिहास. छोटीमोटी समस्त रचनाओंका उल्लेख एवं जैनाचार्यों, श्रावकों, आदिकी सभी धार्मिक, सामाजिक आदि प्रवृत्तियोंका संक्षेपमें किन्तु बड़ाही सारगर्भित एवं सुरुचिपूर्ण लेखन बड़ी ही प्रमाणिकताके साथ किया गया है। यह ग्रन्थ विद्वान लेखकके महान् धैर्य विद्वत्ता और लेखनकौशलका परिचायक है। इसके संकलनमें लगा २० वर्षका श्रम सफल होगया। आज यह ग्रन्थ विद्वानोंके लिये पथप्रदर्शक है। इसका हिन्दीभाषा-भाषी जनतामें प्रचार करनेके लिये हिन्दीमें अनुवाद होना परमावश्यक है।

देसाईजी ने स्वयं अकेले ग्रन्थोंके लेखन एवं प्रकाशनमें आदिसे अन्ततक परिश्रम किया। उन्होंने निजी खर्चसे साहित्यिक यात्रायें कीं, ज्ञानभंडार देखे, पुस्तकें संग्रहीत कीं। लेखन, प्रूफ अवलोकन, अनुक्रमणिका-निर्माणादि समस्त कार्य बिना किसीकी सहायतासे करना और अपने वकालत पेशेमें भी संलग्न रहना उनकी जैनसाहित्यके प्रति महान प्रीति एवं एक लग्नशील कितना काम कर सकता है इसका ज्वलंत उदाहरण है। वास्तवमें देसाईजीकी सेवासे कान्फ्रेन्सका गौरव बढ़ा, यह स्वीकार करनेमें संकोच नहीं होना चाहिये।

देसाईजीको अविश्रान्त लेखनी जैनसाहित्योद्धार-प्रकाशनार्थ जीवन भर चली, जिसके फलस्वरूप उपर्युक्त ग्रन्थों एवं पत्रोंके सम्पादकके अलावा 'सनातन जैन' के भी दो वर्षतक उपसम्पादक रहे। इंग्रेजीमें आपने श्रीमद् यशोविजयजीका जीवनचरित्र एवं नयकर्णिका ग्रन्थ संकलित किये। सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित सिद्धिचन्द्रगणि कृत भानुचन्द्रचरित्रको भी इंग्रेजीकी विस्तृत प्रस्तावनायुक्त सम्पादित किया। गुजरातीमें (१) जैनसाहित्य अने श्रीमन्तो नु कर्त्तव्य (२) जिनदेवदर्शन (३) सामायिक सूत्र-रहस्य (४) जैनकाव्यप्रवेश (५) समकितना ६७ बोल नी सज्झाय (अर्थसहित) (६) जैनऐतिहासिक रासमाला (भा० १) (७) नयकर्णिका (८) उपदेशरत्नकोश (९) स्वामी विवेकानन्दना पत्रो (१०) श्रीसुजसवेलि(?) इत्यादि पुस्तकें लिखीं एवं सम्पादन कीं।

इनके अतिरिक्त हमारी पुस्तक युग-प्रधान श्री जिनचन्द्रसूरिकी आपने विस्तृत प्रस्तावना लिखी। आत्मानन्द-शताब्दी स्मारक ग्रन्थका आपने विद्वत्ता-पूर्वक सम्पादन किया। सामयिक पत्रोंमें समय समय पर आपके शोधपूर्ण लेख आते रहते थे। कविवर समयसुन्दर पर आपने विस्तृत खोज की और सुन्दर निबन्ध लिखकर गुजराती साहित्य परिषदके ८में अधिवेशनमें सुनाया, वह लेख जैनसाहित्यसंशोधक एवं आनन्दकाव्यमहोदधिके ७वें मौक्तिकमें भी चार प्रत्येक बुद्ध रासके साथ छपा है। इसी प्रकार कवि ऋषभदासका विस्तृत परिचय ८वें मौक्तिकमें प्रकाशित हुआ है। हमारी साहित्य प्रवृत्तिमें प्रधानतः (खासकर) महाकवि समयसुन्दरजीकी कृतियां ही प्रेरणादात्री हुई और श्रीयुत देसाईके इस विद्वत्तापूर्ण लेखने हमें मार्ग दिखाया। बम्बईकी पर्युषणपर्व-व्याख्यानमालामें भी आप बड़ी दिलचस्पीसे भाग लेते और जनताको अपने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों द्वारा लाभान्वित करते रहे हैं।

सभा सोसाइटियोंसे आपको विशेष प्रेम था। नागरी प्रचारिणी सभाके आप सदस्य थे ही। जैनधर्म प्रसारकसभा, आत्मानन्दसभा (भावनगर) और जैनएज्युकेशनलबोर्ड बम्बईके आप आजीवन-सभासद थे। जैन श्वे० कौन्फ्रेन्सकी स्टैण्डिंग

कमिटीके, महावीर जैनविद्यालयकी मैनेजिंग कमेटी के, श्रीमांगरोल जैनसभाकी मैनेजिंग कमेटीके भी आप सदस्य थे। हमारे साथ आपका वर्षोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध था। फुरसत मिलने पर आप हमारे पत्रोंका विस्तृत उत्तर देते, आपके कतिपय पत्र तो दस दस पन्द्रह पन्द्रह पेज लम्बे हैं। आप कई वर्षोंसे बीकानेर आनेका विचार कर रहे थे। एकबार आपका आना निश्चित होगया था और आपकी प्रेरणासे हमने श्रीचिन्तामणिजीके भण्डारकी प्राचीन प्रतिमाएँ भी प्रयत्न कर निकलवायीं इधर देसाई महोदय बम्बईसे बीकानेरके लिये रवाना होकर राजकोट भी आगये पर सालीके ब्याह पर रुक जाना पड़ा। इसप्रकार कईबार विचार करते करते सन १६४० में हमारे यहां पधारे और १५-२० दिन हमारे यहां ठहरके अविश्रांत परिश्रम कर हमारे संग्रहकी समस्त भाषाकृतियें (रास, चौपाई आदि) एवं बीकानेरके अन्य समस्त संग्रहालयोंके रास चौपाई आदिके विवरण तैयार किये। जिनका उपयोग जैन गुर्जर कविओ भा० ३ में किया। इस ग्रन्थकी तैयारीमें अत्यधिक मानसिक परिश्रम आदिके कारण सन १६४४ में आपका मस्तिष्क शून्यवत होगया और अन्तमें २-१२-४५ के रविवारके प्रातः काल राजकोटमें स्वर्ग सिधारे।

आपने श्रीमद् यशोविजयजीकी समस्त लघु-कृतियोंका संग्रह किया था। उसे प्रकाशन करनेके लिये किसी मुनिराजने देसाई महोदयसे सारी कृतियें लेकर उन्हीस संकलन सम्पादन कराके प्रकाशित की पर सम्पादकका नाम देसाई महोदय का न रखकर प्रस्तावनामें उल्लेखमात्र कर दिया देसाई महोदयके प्रति यह अन्यायही हुआ। यद्यपि स्वर्गीय देसाई महोदयको नामका लोभ तनिक भी नहीं था किन्तु नैतिकताके नाते ऐसा कार्य किसीभी मुनि कहलानेवाले तो क्या पर गृहस्थको भी उचित नहीं है। देसाई महोदय यह चाहते तो इस विषय में हस्तक्षेप कर सकते पर उन्हें नामकी परवाह नहीं, कामका ख्याल था और इसी दृष्टिसे उन्होंने कभी शब्दोच्चारण भी इस विषयमें नहीं किया।

हमारा कर्त्तव्य— आपने बारामासोंका परिश्रम-पूर्वक विशाल संग्रह किया जिसे अपने मित्र मंजुलाल मजुमदारको दिया, वह अब तक अप्रकाशित है जिसे अवश्य प्रकाशित कराना चाहिये। देसाईजी बड़े परिश्रमी और अध्यवसायी थे जहां कहीं इतिहास, भाषा या साहित्य सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण कोई कृति मिलती स्वयं नकल करलेते या संग्रह करलेते थे। इस तरह आपके पास बड़ाही महत्त्वपूर्ण विशाल संग्रह होगया था। इस संग्रहकी सुरक्षाके हेतु हमने जैनपत्रादिमें लेख एवं पत्रद्वारा कान्फ्रेंस आदिका ध्यान आकृष्ट किया पर अद्यावधि कार्य कुछभी हुआ प्रतीत नहीं होता। अब एक बार हम पुनः जैन० श्वे० कान्फ्रेंसका ध्यान निम्नोक्त बातोंकी तरफ आकृष्ट करते हैं। आशा है, कान्फ्रेंस, उनके मित्र, सहयोगीवर्ग सक्रिय योगदानपूर्वक स्वर्गीय देसाई महोदयके प्रति फर्ज अदा करेंगे।

श्वे० कान्फ्रेंस एवं जैनसमाजके कतिपय आवश्यक कर्त्तव्य इस प्रकार हैं —

१- देसाईजीके संग्रहको सुरक्षित कर कान्फ्रेंस, उसे सुसम्पादित करवाके प्रकाशन आदि द्वारा सर्व सुलभ करे।

२- उनके जीवनचरित्र व पत्रादि सामग्री जिनके पास हो संग्रहकर प्रकाशित करें।

३- उनकी स्मृतिमें एक स्मारकग्रन्थ, विद्वानोंके लेख, संस्मरणादि एकत्र कर प्रकाशित करें।

४- उनकी स्मृतिमें एक ग्रन्थमाला चालू करें जो इतिहास, साहित्य, पुरातत्त्व और जैन स्थापत्यादि विषयों पर उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रकाशित करे।

५- आपके "जैन गुर्जर साहित्यके इतिहास" की सामग्रीको इकठ्ठा कर एवं अधिकारी विद्वानसे सम्पादित कराके प्रकाशन करना परमावश्यक है।

आचार्यकल्प पं० टोडरमल्लजी

(ले०— पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

जीवन-परिचय—

हिन्दी साहित्यके दिगम्बर जैन विद्वानोंमें पण्डित टोडरमल्लजीका नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है। आप हिन्दीके गद्य-लेखक विद्वानोंमें प्रथम कोटिके विद्वान हैं। विद्वत्ताके अनुरूप आपका स्वभावभी विनम्र और दयालु था। स्वाभाविक कोमलता और सदाचारिता आपके जीवनके सहचर थे। अहङ्कार तो आपको छू भी नहीं गया था। आन्तरिकभद्रता और वात्सल्यका परिचय आपकी सौम्य आकृतिको देखकर सहजही हो जाता था। आपका रहन-सहन बहुतही सादा था। साधारण अङ्गरखी, धोती और पगड़ी पहना करते थे। आध्यात्मिकताका तो आपके जीवनके साथ घनिष्ठ-सम्बन्ध था। श्रीकुन्दकुन्दादि महान् आचार्योंके आध्यात्मिक-ग्रन्थोंके अध्ययन, मनन एवं परिशीलनसे आपके जीवनपर अच्छा प्रभाव पड़ा हुआ था। अध्यात्मकी चर्चा करते हुए आप आनन्द विभोर हो उठते थे, और श्रोता-जन भी आपकी वाणीको सुनकर गद्गद हो जाते थे। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके आप अपने समयके अद्वितीय और सुयोग्य विद्वान थे। आपका क्षयोपशम आश्चर्यकारी था, और वस्तुतत्त्वके विश्लेषणमें आप बहुत ही दक्ष थे। आपका आचार एवं व्यवहार विवेकयुक्त और मृदु था।

यद्यपि पण्डितजीने अपना और अपने माता पितादि कुटुम्बिजनोंका कोई परिचय नहीं दिया और न अपने लौकिक जीवनपर ही कोई प्रकाश डाला है। फिर भी लब्धिसार ग्रन्थकी टीका-प्रशस्ति आदि सामग्रीपर से उनके लौकिक और आध्यात्मिक जीवन का बहुत कुछ पता चल जाता है। प्रशस्तिके वे पद्य इस प्रकार हैं:—

मैं हूं जीवद्रव्य नित्य चेतनास्वरूप मेरो—
लग्यो है अनादितैं कलङ्क कर्ममलकौ,
ताहीकौ निमित्त पाय रागादिक भाव भये
भयो है शरीरकौ मिलाप जैसौ खलकौ।
रागादिक भावनिकौ पायकें निमित्त पुनि—
होत कर्मबन्ध ऐसो है बनाव कलकौ,
ऐसे ही भ्रमत भयो मानुष शरीर जोग
बनै तौ बनै यहां उपाव निज थलकौ ॥३६॥
रमापति स्तुतगुन जनक जाकौ जोगीदास।
सोई मेरो प्रान है धारै प्रकट प्रकाश ॥३७॥

मैं आतम अरु पुद्गलखंध, मिलिकैं भयो परस्पर बंध।
सो असमान जातिपर्याय, उपज्यो मानुष नाम कहाय॥
मात गर्भमें सो पर्याय, करिकैं पूरण अङ्ग सुभाय।
बाहर निकसि प्रकट जबभयो, तबकुटुम्बको भेलो भयौ
नाम धरयो तिन हर्षित होय, टोडरमल्ल कहैं सब कोय।
ऐसो यहु मानुष पर्याय, वधतभयो निज काल गमाय॥
देस दुढाहड मांहि महान, नगर सवाई जयपुर थान।
तामैं ताको रहनौ घनो, थोरो रहनो औठै बनो॥४१॥
तिसपर्याय विषै जो कोय, देखन जाननहारो सोय।
मैं हूं जीवद्रव्य गुनभूप, एक अनादि अनंत अरूप॥
कर्म उदयकौ कारण पाय, रागादिक होहैं दुखदाय।
ते मेरे औपाधिकभाव, इनिकौं विनशैं मैं शिवराव॥
वचनादिक लिखनादिकक्रिया, वर्णादिक अरुइन्द्रियहिया
ये सब हैं पुद्गलका खेल, इनिमें नांहि हमारो मेल॥४४॥

इन पद्योंपर से जहां उनका आध्यात्मिक जीवन-परिचय मिलता है वहां यह भी प्रकट है कि आपके लौकिक जीवनका नाम टोडरमल्ल था और पिताका नाम जोगीदास तथा माताका नाम रमादेवी था। दूसरे स्रोतोंसे यह भी स्पष्ट है कि आप खण्डेलवाल जातिके भूषण थे और आपके वंशज साहूकार

कहलाते थे। पण्डितजी विवाहित थे और उनके दो पुत्र थे। एकका नाम हरिचन्द और दूसरेका नाम गुमानीराम था। हरिचन्दकी अपेक्षा गुमानीरामका क्षयोपशम विशेष था, वह प्राय: अपने पिताके समान ही प्रतिभा-सम्पन्न थे और इस लिये पिताके अध्ययन तत्त्वचर्चादि कार्य्योंमें यथायोग्य सहयोग देते रहते थे। ये स्पष्टवक्ता थे और शास्त्रसभामें श्रोताजन उनसे खूब सन्तुष्ट रहते थे। इन्होंने पिता के स्वर्गगमनके दश बारह वर्ष बाद लगभग सं०१८३७ में गुमानपंथकी स्थापना की थी[1]।

इस गुमानपंथका क्या स्वरूप था? और उसमें किन किन बातोंकी विशेषता थी यह अभी ज्ञात नहीं हो सका, जयपुरमें गुमानपंथका एक मन्दिर बना हुआ है जिसमें पं० टोडरमल्ल जीके सभी ग्रंथोंकी स्वहस्त-लिखित प्रतियां सुरक्षित हैं। यह मंदिर उक्त पंथकी स्मृतिको आज भी ताजा बनाये हुये है।

पंडित टोडरमल्ल जीके घर पर विद्याभिलाषियों का खासा जमघट लगा रहता था, विद्याभ्यासके लिए घर पर जो भी व्यक्ति आता था उसे बड़े प्रेमके साथ विद्याभ्यास कराते थे। इसके सिवाय तत्वचर्चा का तो वह केन्द्र ही बन रहा था। वहां तत्त्वचर्चाके रसिक मुमुक्षुजन बराबर आते रहते थे और उन्हें आपके साथ विविध विषयोंपर तत्त्वचर्चा करके तथा अपनी शंकाओंका समाधान सुनकर बड़ा ही संतोष होता था। और इस तरह वे पंडितजीके प्रेममय विनम्र व्यवहारसे प्रभावित हुए विना नहीं रहते थे। आपके शास्त्र प्रवचनमें जयपुरके सभी प्रतिष्ठित चतुर और विशिष्ट श्रोताजन आते थे। उनमें दीवान रतनचन्दजी[2] अजबरायजी, त्रिलोकचन्दजी पाटनी, महारामजी[3] त्रिलोकचन्दजी सोगानी, श्रीचन्दजी सोगानी और नेनचन्दजी पाटणीके नाम खासतौरसे उल्लेखनीय

---

१ चुनांचे श्वेताम्बरी मुनि शान्तिविजयजी भी अपना मानवधर्मसंहिता (शान्तसुधानिधि) नामक पुस्तकके पृष्ठ १६७ में लिखते हैं। कि- "बीस पंथमेंसे फुट(फूट) टकर संवत १७२६ में ये अलग हुए, जयपुरके तेरापंथियोंमें पं० टोडरमल्ल के पुत्र गुमानीराम जीने संवत १८३७ में गुमान पंथ निकाला।"

२ दीवान रतनचन्दजी और बालचन्दजी उस समय जयपुर के साधर्मियों में प्रमुख थे। बड़े ही धर्मात्मा और उदार सज्जन थे। रतनचन्दजीके लघुभ्राता बधीचन्दजी दीवान थे। दीवान रतनचन्दजी वि० सं० १८२१ से पहले ही राजा माधवसिंह जीके समयमें दीवान पद पर आसीन हुए थे और वि० सं० १८२६ में जयपुरके राजा पृथ्वीसिंहके समयमें थे, और उसके बादभी कुछसमय रहे हैं। पं० दौलतरामजीने दीवान रतनचन्दजीकी प्रेरणासे वि० सं० १८२७ में पं टोडरमल्लजीकी पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी अधूरी टीकाको पूर्ण किया था जैसाकि उसकी प्रशस्तिके निम्नवाक्योंसे प्रकट है :—

> साधर्मिनमें मुख्य है रतनचन्द दीवान।
> पृथ्वीसिंह नरेशको श्रद्धावान सुजान ॥६॥
> तिनके अति रुचि धर्मसौं साधर्मिनसों प्रीत।
> देव-शास्त्र—गुरुकी सदा उरमें महा प्रतीत ॥७॥
> आनन्द सुत तिनको सखा नाम जु दौलतराम।
> भृत्य भूप को कुल वणिक जाके वसवे धाम ॥८॥
> कछु इक गुरु प्रतापतैं कीनो ग्रन्थ अभ्यास।
> लगन लगी जिन धर्मसौं जिन दासनको दास ॥९॥
> तासूं रतन दीवाननें कही प्रीति धर येह।
> करिये टीका पूरणा उर धर धर्म सनेह ॥१०॥
> तब टीका पूरी करी भाषा रूप निधान ॥
> कुशल होय चहु संघको लहै जीव निज ज्ञान॥११॥
> ÷　　÷　　÷　　÷
> अट्ठारहसै ऊपरै संवत सत्ताबीस ॥
> मगशिर दिन शनिवार है सुदि दोयज रजनीस ॥१३॥

३ महाराम जी ओसवालजातिके उदासीन श्रावक थे। बड़े ही बुद्धिमान थे और यह पं टोडरमल्ल जीके साथ चर्चा करनेमें विशेष रस लेते थे।

हैं। बसवा निवासी पं० देवीदास गोधा को भी आपके पास कुछ समय तक तत्त्वचर्चा सुनने का अवसर प्राप्त हुआ था[१]।

पं० टोडरमल्लजी केवल अध्यात्मग्रंथोंके ही वेत्ता या रसिक नहीं थे; किन्तु साथमें व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त और दर्शनशास्त्रके अच्छे विद्वान थे। आपकी कृतियोंका ध्यानसे समीक्षण करने पर इस विषयमें संदेहको कोई गुंजायश नहीं रहती। आपके टीका ग्रन्थोंकी भाषा यद्यपि ढूंढारी (जयपुरी) है फिर भी उसमें ब्रज भाषाकी पुट है और वह इतनी परिमार्जित है कि पढ़ने वालोंको उसका सहज ही परिज्ञान हो जाता है। आपकी भाषामें प्रौढ़ता सरसता और सरलता है वह श्रद्धा निःस्पृहता और निःस्वार्थ भावना से ओत-प्रोत है जो पाठकोंको बहुत ही रुचि-कर प्रतीत होती है। उसमें आकर्षण मधुरता और लालित्य पद पद मे पाया जाता है और इसीसे जैन समाजमें उसका आज भी समादर बना हुआ है। जैसा कि उनके मोक्षमार्ग प्रकाशककी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है:—

"कोऊ कहेगा सम्यग्दृष्टि भी तो बुरा जानि परद्रव्यकौं त्यागै है। ताका समाधान— सम्यग्दृष्टि पर द्रव्यानिकों बुरा न जानै है। आप सरागभावकों छोरे, तातैं ताका कारणका भी त्याग हो है। वस्तु विचारैं कोई परद्रव्य तौ भला बुरा है नाहीं। कोऊ कहैगा, निमित्तमात्र तो है। ताका उत्तर-परद्रव्य जोरावरी तैं क्योंई विगारता नाही। अपने भाव विगरैं तब वह भी बाह्य निमित्त है। बहुरि वाका निमित्त बिना भी भाव विगरै हैं। तातैं नियमरूप निमित्त भी नाहीं। ऐसे परद्रव्यका दोष देखना मिथ्या भाव है। रागादिक भावही बुरे हैं। सो याकैं ऐसी समझ नाहीं यह पर द्रव्यनिका दोषदेखि तिनविषैं द्वेषरूप उदासी-नता करै है। सांची उदासीनता तौ वाका नाम है जो कोई भी परद्रव्यका गुण वा दोष न भासै, तातैं काहू कौं भला बुरा न जानैं, परतैं किछु भी प्रयोजन मेरा नाहीं, ऐसा मानि साक्षिभूत रहै, सो ऐसी उदासीनता ज्ञानी ही कै होय।"

(पृ० २४३-४)

यहां पंडितजी ने सम्यग्दृष्टिकी आत्मपरिणतिरूप वस्तुतत्त्वका भी कितना सुन्दर विवेचन किया है जो अनुभव करते ही बनता है।

समकालीन धार्मिकस्थिति और विद्वद्गोष्ठी—

उस समय जयपुरकी ख्याति जैनपुरीके रूपमें हो रही थी, वहां जैनियोंके सात-आठ हजार घर थे, जैनियोंकी इतनी गृहसंख्या उस समय सम्भवतः अन्यत्र कहीं भी नहीं थी। इसीसे ब्रह्मचारी रामलालजीके शब्दोंमें वह साक्षात 'धर्मपुरी' थी। वहां के अधि-काश जैन राज्यके उच्च-पदोंपर नियुक्त थे, और वे राज्यमें सर्वत्र शांति एवं व्यवस्थामें अपना पूरा पूरा सहयोग देते थे। दीवानरतनचन्द जी और बालचन्द जी उनमे प्रमुख थे। उस समय माधवसिंहजी प्रथम का राज्य चल रहा था, वे बड़े प्रजावत्सल थे। राज्य में जीव-हिंसाकी मनाई थी। और वहां कलाल, कसाई और वेश्याएं नहीं थीं। जनता प्रायः सप्त-व्यसनसे रहित थी। जैनियोंमें उस समय अपने धर्मके प्रति विशेष प्रेम और आकर्षण था और प्रत्येक साधर्मी भाईके प्रति वात्सल्य तथा उदारताका व्यवहार किया जाता था। जिनपूजन, शास्त्रस्वाध्याय तत्त्वचर्चा सामायिक और शास्त्रप्रवचनादि क्रियायोंमे श्रद्धा, भक्ति और विनयका अपूर्व दृश्य देखनेमें आता था। कितने ही स्त्री-पुरुष गोम्मटसारादि सिद्धांत-ग्रन्थोंकी तत्त्वचर्चासे परिचित हो गये थे। महिलाएं भी धार्मिक-क्रियाओंके सद्अनुष्ठानमें यथेष्ट भाग लेने लगी थीं। पं० टोडरमल्लजीके शास्त्र-प्रवचनमें

१ "सो दिल्लीसूं पढ़ कर बसुवा आय पाछैं जयपुरमें थोड़े दिन टोडरमल्ल जी महाबुद्धिमानके पासि सुननेका निमित्त मिल्या, बसुवा गए"—

देखो सिद्धान्तसारकी टीकाप्रशस्ति

श्रोताओंकी अच्छी उपस्थिति रहती थी और जिनकी संख्या सातसौ-आठसौसे अधिक हो जाया करती थी। उस समय जयपुरमें कई विद्वान् थे और पठन-पाठनकी सब व्यवस्था सुयोग्यरीतिसे चल रही थी। आज भी जयपुरमें जैनियोंकी संख्या कई सहस्र है और उनमें कितने ही राज्यके पदोंपर भी प्रतिष्ठित हैं।

सं० १८२१ मे जयपुरमें इन्द्रध्वज पूजाका महान् उत्सव हुआ था। उस समयकी ब्रह्मचारी रामलाल जी की लिखी हुई पत्रिकासे[१] ज्ञात होता है कि उसमें राज्यकी ओरसे सब प्रकारकी सुविधा प्राप्त थी, और दरबारसे यह हुक्म आया था कि "थां की पूजाजी के अर्थि जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबारसे ले जावो" इसी तरहकी सुविधा वि० की १५वीं १६वीं शताब्दीमें ग्वालियरमें राजा डूङ्गरसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंह के राज्य-कालमें जैनियोंको प्राप्त थी, और उनके राज्यमें होने वाले प्रतिष्ठा महोत्सवोंमें राज्यकी ओरसे सब व्यवस्था की जाती थी।

रचनाएं और रचनाकाल—

पं० टोडरमल्लजीकी कुल नौ रचनाएं हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१-गोम्मटसारजीवकांडटीका, २-गोम्मटसार-कर्मकाण्डटीका, ३-लब्धिसार-क्षपणासारटीका, ४-त्रिलोकसारटीका, ५-आत्मानुशासनटीका, ६-पुरुषार्थसिद्ध्युपायटीका, ७-अर्थसंदृष्टिअधिकार, ८-रहस्यपूर्ण चिट्ठी, ९- और मोक्षमार्ग प्रकाशक।

इनमें आपकी सबसे पुरानी रचना रहस्यपूर्ण चिट्ठी है जो कि विक्रम सम्वत् १८११ की फाल्गुणवदि पञ्चमीको मुलतानके अध्यात्मरसके रोचक खानचंदजी गङ्गाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथजी आदि अन्य साधर्मी भाइयोंको उनके प्रश्नोंके उत्तररूपमें लिखी गई थी। यह चिट्ठी अध्यात्मरसके अनुभवसे ओत-प्रोत है। इसमें आध्यात्मिक प्रश्नोंका उत्तर कितने सरल एवं स्पष्ट शब्दोंमें विनयके साथ दिया गया है, यह देखने ही बनता है। चिट्ठीगत शिष्टाचार-सूचक निम्न वाक्य तो पण्डितजीकी आन्तरिक-भद्रता तथा वात्सल्य का खासतौरसे द्योतक है—

"तुम्हारे चिदानन्दघनके अनुभवसे सहजानंदकी वृद्धि चाहिये।"

गोम्मटसारादि की सम्यग्ज्ञानचन्द्रिकाटीका—

गोम्मटसारजीवकांड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार क्षपणासार और त्रिलोकसार इन मूल—ग्रन्थोंके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती हैं। जो वीरनन्दि इन्द्रनदिके वत्स तथा अभयनन्दिके पुत्र थे। और जिनका समय विक्रमकी ११वीं शताब्दी है।

गोम्मटसार ग्रन्थपर अनेक टीकाएँ रची गई हैं किन्तु वर्तमानमें उपलब्ध टीकाओंमें मन्दप्रबोधिका सबसे प्राचीन टीका है। जिसके कर्ता अभयचन्द्र सैद्धांतिक * हैं। इस टीकाके आधारसे ही केशव-वर्णीने, जो अभयसूरिके शिष्य थे, कर्नाटक भाषामें 'जीवतत्त्वप्रबोधिका' नामकी टीका भट्टारक धर्मभूषणके आदेश से शक सं० १२८१ (वि० सं० १४१६) में बनाई है। यह टीका कोल्हापुरके शास्त्रभण्डारमे सुरक्षित है और अभी तक अप्रकाशित है। मन्द-प्रबोधिका और केशववर्णीकी उक्त कनड़ी टीकाका आश्रय लेकर भट्टारक नेमिचन्द्रने अपनी संस्कृत टीका बनाई है और उसका नाम भी कनड़ी टीकाकी तरह 'जीवतत्त्वप्रबोधिका' रक्खा गया है। यह टीकाकार नेमिचन्द्र मूलसंघ शारदागच्छ बलात्कारगणके विद्वान् थे, और भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे। भट्टारक ज्ञानभूषणका समय विक्रमकी १६वीं शताब्दी है; क्योंकि इन्होंने वि० सं० १५६० में 'तत्त्वज्ञानतरङ्गिणी' नामक ग्रन्थकी रचना की है। अतः टीकाकार नेमिचंद्र का भी समय वि० की १६ वीं शताब्दी है। इनकी जीव-तत्त्वप्रबोधिका' टीका मल्लिभूपाल अथवा सालुव-मल्लिराय नामक राजाके समयमें लिखी गई है और

[१] देखो, वीरवाणी अङ्क ३

जिनका समय डा० ए० एन० उपाध्येने ईसाकी १६ वीं शताब्दी का प्रथम चरण निश्चित किया है +। इससे भी इस टीका और टीकाकारका उक्त समय अर्थात् ईसाकी १६ वीं शताब्दीका प्रथमचरण व विक्रमकी १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध है।

भ० नेमिचन्दकी इस संस्कृत टीकाके आधारसे ही पंडित टोडरमल्ल जीने अपनी भाषाटीका लिखी है। और उस टीकासे उन्होंने भ्रमवश÷ केशववर्णीकी टीका समझ लिया है। जैसा कि जीवकाण्ड टीका-प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है :—

केशववर्णी भव्य विचार,कर्णाटक टीका अनुसार।
संस्कृत टीका कीनी एहु, जो अशुद्ध सो शुद्ध करेहु॥

पंडित जीकी इस भाषाटीकाका नाम 'सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका' है जो उक्त संस्कृत टीकाका अनुवाद होते हुए भी उसके प्रमेयका विशद विवेचन करती है पंडित टोडरमल्ल जीने गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड लब्धिसार-क्षपणासार-त्रिलोकसार इन चारों ग्रंथों की टीकाएं यद्यपि भिन्न भिन्न रूप से की हैं किन्तु उन में परस्पर सम्बन्ध देखकर उक्त चारों ग्रंथोंकी टीकाओंको एक करके उनका नाम 'सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका' रक्खा है। जैसाकि पं० जी लब्धिसार भाषा-टीका प्रशस्तिके निम्न पद्यसे स्पष्ट है :—

"या विधि गोम्मटसार लब्धिसार ग्रंथनि की,
भिन्न भिन्न भाषाटीका कीनी अर्थ गाय कैं।
इनिकैं परस्पर सहायपनौ देख्यौ।
तातैं एक करि दई हम तिनिको मिलायकैं॥

(पिछले २८ वे पृष्ठकी यह टिप्पणी है भूलसे वहा न छप सकी)

* अभयचन्द्रकी यह टीका अपूर्ण है, और जीवकाडकी ३८३ गाथा तक ही पाई जाती है, इसमें ८३ नं० की गाथाकी टीका करते हुए एक 'गोम्मटसार पञ्जिका' टीकाका उल्लेख निम्न शब्दोंमे किया है। "अथवा सम्मूर्छनगर्भो-पपादानाश्रित्य जन्म भवतीति गोम्मटसारपञ्जिकाकारादीनाम-भिप्रायः"

\+ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १

÷ देखो, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १

सम्यग्ज्ञान-चन्द्रिका धर्यो है याका नाम।
सो ही होत है सफल ज्ञानानंद उपजाय कैं॥
कलिकाल रजनीमें अर्थको प्रकाश करै।
यातैं निज काज कीनै इष्टभावभायकैं॥३०॥

इस टीकामें उन्होंने आगमानुसार ही अर्थ प्रतिपादन किया है, अपनी ओरसे कषायवश कुछभी नहीं लिखा, यथा—

आज्ञा अनुसारी भये अर्थ लिखे या मांहि।
धरि कषाय करि कल्पना हम कछु कीनों नांहि॥३३॥

टीकाप्रेरक श्रीरायमल्ल और उनकी पत्रिका—

इस टीकाकी रचना अपने समकालीन रायमल्ल नामके एक साधर्मी श्रावकोत्तमकी प्रेरणासे की गई है जो विवेकपूर्वक धर्मका साधन करते थे१। रायमल्ल जी बाल ब्रह्मचारी थे एक देश संयमके धारक थे। जैन धर्मके महान श्रद्धानी थे और उसके प्रचारमें संलग्न रहते थे साथ ही बड़े ही उदार और सरल थे। उनके आचारमें विवेक और विनयकी पुट थी। वे अध्यात्म शास्त्रोंके विशेष प्रेमी थे और विद्वानोंसे तत्त्व-चर्चा करनेमें बड़ा रस लेते थे पं० टोडरमल्ल-जीकी तत्त्व-चर्चासे वे बहुत ही प्रभावित थे। इनकी इस समय दो कृतियां उपलब्ध हैं— एक ज्ञानानंद निर्भर निजरस-श्रावकाचार और दूसरी कृति चर्चा-संग्रह है जो महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक चर्चाओंको लिये हुये है। इनके सिवाय दो पत्रिकायें भी प्राप्त हुई हैं जो 'वीरवाणी' में प्रकाशित हो चुकी हैं२। उनमें से प्रथम पत्रिकामें अपने जीवनकी प्रारम्भिक घटनाओंका समुल्लेख करते हुए पण्डित टोडरमल्ल जीसे गोम्मट-सारकी टीका बनानेकी प्रेरणाकी गई है और वह सिंघाणा नगरमें कब और कैसे बनी इसका पूरा विवरण दिया गया है। वह पत्रिका इस प्रकार है —

१ रायमल्ल साधर्मी एक, धर्मसधैया सहित विवेक।
सो नानाविध प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज थयो

२ देखो, वीरवाणी वर्ष १ अङ्क २, ३।

"पीछैं सेखावटीविषैं सिंघाणा नग्र तहां टोडरमल्लजी एक दिली (ल्ली) का बड़ा साहूकार साधर्मी ताके समीप कर्म-कार्यके अर्थि वहां रहै, तहां हम गए अर टोडरमल्लजीसे मिले, नाना प्रकारके प्रश्न किये। ताका उत्तर एक गोम्मटसार नामा ग्रंथकी साखिसूं देते गए। ता ग्रन्थकी महिमा हम पूर्वें सुणी थी तासूं विशेष देखी, अर टोडरमल्लजीका (के) ज्ञानकी महिमा अद्भुत देखी, पीछें उनसूं हम कही-तुम्हारै या ग्रंथका परचै निर्मल भया है, तुमकरि याकी भाषाटीका होय तौ घणां जीवांका कल्याण होय अर जिनधर्मका उद्योत होइ। अबहीं कालके दोष करि जीवांकी बुद्धी तुच्छ रही है तौ आगैं यातैं भी अल्प रहैगी। तातैं ऐसा महान् ग्रंथ पराक्रत ताकी मूल गाथा पंद्रहसैं+ १५०० ताकी टीका संस्कृत अठारह हजार १८००० ताविषैं अलौकिक चरचाका समूह संदृष्टि वा गणित शास्त्रांकी आम्नाय संयुक्त लिख्या है ताकी भाव भासना महा कठिन है। अर याके ज्ञानकी प्रवर्ति पूर्वै दीर्घकाल पर्यंत लगाय अब ताइं नाहीं तौ आगैं भी याकी प्रवर्ती कैसैं रहैगी, तातैं तुम या ग्रंथकी टीका करनेका उपाय शीघ्र करौ, आयुका भरोसा है नाहीं। पीछैं ऐसें हमारे प्रेरकपणाका निमित्त करि इनके टीका करने का अनुराग भया। पूर्वें भी याकी टीका करने का इनका मनोरथ था ही, पाछैं हमारे कहनें करि विशेष मनोरथ भया, तब शुभदिन मुहूरत विषैं टीका करने का प्रारम्भ सिंघाणा नग्रविषैं 'ऱ्या। सो वे तौ टीका बणावते गए हम बांचते गये। बरस तीनमें गोम्मटसारग्रंथकी अड़तीसहजार ३८००० लब्धिसार-क्षपणासारग्रंथकी तेरहहजार १३००० त्रिलोकसारग्रंथ की चौदाहजार १४००० सब मिलिच्यारि ग्रंथांकी पैंसठ हजार टीका भई। पीछैं सवाई जयपुर आये तहां गोम्मटसारादिच्यारों ग्रंथोंकू सोधि याकी बहुत प्रति उतराइं। जहां सैली थी तहां तहां सुधाइ सुधाइ पधराईं ऐसे यां ग्रंथांका अवतार भया"।

+ रायमल्लजीने गोम्मटसारकी मूल गाथा संख्या पंद्रह सौ १५०० बतलाई है जब कि उसकी संख्या सत्तरहसौ पांच १७०५ है, गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ९७२ और जीवकाण्डकी ७३३ गाथा संख्या मुद्रित प्रतियोंमें पाई जाती है।

इस पत्रिकागत विवरण परसे यह स्पष्ट है कि उक्त सम्यग्ज्ञानचन्द्रिकाटीका तीन वर्षमें बनकर समाप्त हुई थी जिसकी श्लोक संख्या पैंसठ हजारके करीब है। और जिसके संशोधनादि तथा अन्य प्रतियोंके उतरवाने में प्रायः उतनाही समय लगा होगा। इसीसे यह टीका सं० १८१८ में समाप्त हुई है। इस टीकाके पूर्ण होने पर पण्डितजी बहुत आल्हादित हुए और उन्होंने अपनेको कृतकृत्य समझा। साथ ही अन्तिम मङ्गलके रूपमें पञ्चपरमेष्ठीकी स्तुति की और उन जैसी अपनी दशाके होनेकी अभिलाषा भी व्यक्त की[१]। यथा—

आरंभो पूरण भयो शास्त्र सुखद प्रासाद।
अब भये कृतकृत्य हम पायो अति आल्हाद॥
+ + + + + +
अरहन्त सिद्ध सूर उपाध्याय साधु सर्व,
अर्थके प्रकाशी मङ्गलीक उपकारी हैं।
तिनकौ स्वरूप जानि रागतै भई भक्ति.
कायकौं नमाय स्तुतिकौ उचारी है॥
धन्य धन्य तुमही सब काज भयो,
कर जोरि बारम्बार वंदना हमारी है।
मङ्गल कल्याण सुख ऐसो हम चाहत हैं,
होहु मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है॥

यही भाव लब्धिसारटीका प्रशस्तिमें गद्यरूपमें प्रकट किया है।

लब्धिसारकी टीका वि० सं० १८१८ की माघशुक्ला

१ "प्रारम्भ कार्यकी सिद्धि होने करि हम आपको कृतकृत्य मानि इस कार्य करनेकी आकुलता रहित होइ सुखी भये, याके प्रसादतैं सर्व आकुलता दूरि होइ हमारै शीघ्र ही स्वात्मज सिद्धि-जनित परमानन्दकी प्राप्ति होउ।"

लब्धिसार टी० प्रशस्ति

पञ्चमीके दिन पूर्ण हुई है, जैसाकि उसके प्रशस्ति पद्यसे स्पष्ट है:—

संवत्सर अष्टादशयुक्त, अष्टादशशत लौकिकयुक्त।
माघशुक्लपञ्चमिदिन होत, भयो ग्रन्थ पूरन उद्योत॥

लब्धिसार-क्षपणासारकी इस टीकाके अन्तमें अर्थसंदृष्टि नामका एक अधिकार भी साथमें दिया हुआ है, जिसमें उक्त ग्रन्थमें आनेवाली अङ्कसंदृष्टियों और उनकी संज्ञाओं तथा अलौकिक गणितके करण-सूत्रोंका विवेचन किया गया है। यह संदृष्टि अधिकार उस संदृष्टि अधिकारसे भिन्न है जिसमें गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्डकी संस्कृतटीकागत अलौकिक गणितके उदाहरणों, करणसूत्रों, संख्यात, असंख्यात और अनन्तकी संज्ञाओं और अङ्कसंदृष्टियोंका विवेचन स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें किया गया है, और जो 'अर्थ-संदृष्टि' इस सार्थक नामसे प्रसिद्ध है। यद्यपि टीका ग्रन्थोंके आदिमें पाई जाने वाली पीठिकामें ग्रन्थगत संज्ञाओं एवं विशेषताओंका दिग्दर्शन करा दिया है जिससे पाठकजन उस ग्रन्थके विषयसे परिचित हो सकें। फिर भी उनका स्पष्टीकरण करनेके लिये उक्त अधिकारोंकी रचना की गई है। इसका पर्यालोचन करनेसे संदृष्टि-विषयक सभी बातोंका बोध हो जाता है। हिन्दी-भाषाके अभ्यासी स्वाध्याय-प्रेमी सज्जन भी इससे बराबर लाभ उठाते रहे हैं। आपकी इन टीकाओंसे ही दिगम्बर समाजमें कर्मसिद्धान्तके पठन पाठनका प्रचार बढ़ा है और इनके स्वाध्यायी सज्जन कर्मसिद्धान्तसे अच्छे परिचित देखे जाते हैं। इस सबका श्रेय पं० टोडरमल्लजीको ही प्राप्त है।

आत्मानुशासन टीका—

इसका निर्माण कब किया गया यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

मोक्षमार्गप्रकाशक—

यह ग्रन्थ बड़ा ही महत्वपूर्ण है जिसकी जोड़का इतना प्रांजल और धार्मिक-विवेचनापूर्ण दूसरा हिन्दी गद्य ग्रन्थ अभी तक देखनेमें नहीं आया। इसमें पदार्थका विवेचन बहुतही सरल शब्दोंमें किया गया है। और जीवोंके मिथ्यात्वको छुड़ानेका पूरा प्रयत्न किया गया है, यह मल्लजीकी स्वतन्त्र रचना है। यह ग्रन्थभी, जिसकी श्लोकसंख्या बीसहजारके करीब है; सं० १८२१ से पहले ही रचा गया है; क्योंकि ब्रह्मचारी रायमल्लजीने इन्द्रध्वज पूजाकी पत्रिकामें इसके रचे जानेका उल्लेख किया है। मालूम होता है कि यह ग्रन्थ बादको पूरा नहीं हो सका।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका—

यह उनकी अन्तिम कृति जान पड़ती है। यही कारण है कि यह अपूर्ण रह गयी। यदि आयुवश वे जीवित रहते तो वे अवश्य पूरी करते। बादको यह टीका श्रीरतनचन्दजी दीवानकी प्रेरणासे पण्डित दौलतरामजीने सं० १८२७ में पूरी की है; परन्तु उनसे उसका वैसा निर्वाह नहीं हो सका है, फिर भी उसका अधूरापन तो दूर हो ही गया है।

उक्त कृतियोंका रचनाकाल सं० १८११ से १८१८ तक तो निश्चित ही है। फिर इसके बाद और कितने समय तक चला, यद्यपि यह अनिश्चित है, परन्तु फिर भी सं० १८२४ के पूर्व तक उसकी सीमा जरूर है। पं० टोडरमल्लजीकी ये सब रचनाएं जयपुर नरेश माधवसिंहजी प्रथमके राज्यकालमें रची गई हैं। जयपुर नरेश माधवसिंह प्रथमका राज्य वि० सं० १८११ से १८२४ तक निश्चित माना जाता है*। पं दौलतरामजीने जब सं० १८२७ मे पुरुषार्थसिद्ध्यु-पायकी अधूरी टीकाको पूर्ण किया तब जयपुरमें राजा पृथ्वीसिंहका राज्य था। अतएव संवत् १८२७ से पहले ही माधवसिंहका राज्य करना सुनिश्चित है।

पंडितजीकी मृत्यु और समय—

पंडित जीकी मृत्यु कब और कैसे हुई यह विषय अर्सेसे एक पहेलीसा बना हुआ है। जैन समाजमें इस सम्बन्धमें कई प्रकारकी किंवदन्तियां प्रचलित हैं।

* देखो, 'भारतके प्राचीन राजवंश' भाग ३ पृ० २३६ २४०।

परन्तु उनमें हाथीके पैरतले दबवाकर मरवानेकी घटनाका बहुत प्रचार है। यह घटना कोरी कल्पना ही नहीं है, किन्तु उसमें उनकी मृत्युका रहस्य निहित है। पहिले मेरी यह धारणा थी कि इस प्रकारकी अकल्पित घटना पं० टोडरमल्लजी जैसे महान विद्वानके साथ नहीं घट सकती; परन्तु बहुत कुछ अन्वेषण तथा उसपर काफी विचार करनेके बाद अब मेरी यह दृढ़ धारणा होगई है कि उपरोक्त किम्बदन्ती असत्य नहीं है किन्तु वह किसी तथ्यको लिये हुये अवश्य है। जब हम उसपर गहरा विचार करते हैं और पं० जीके व्यक्तित्व तथा उनकी सीधी सादी भद्र परिणतिकी ओरभी ध्यान देते हैं; जो स्वप्नमें भी कभी पीड़ा देनेका भाव नहीं रखते थे, तब उनके प्रति विद्वेषवश अथवा उनके प्रभाव तथा व्यक्तित्वके साथ घोर ईर्षा रखनेवाले जैनेतर व्यक्तिके द्वारा साम्प्रदायिक व्यामोहवश सुझाये गये अकल्पित एवं अशक्य अपराधके द्वारा अन्धश्रद्धावश बिना किसी निर्णयके यदि राजाका कोप सहसा उमड़ पड़ा हो, और राजाने पंडितजीके लिये बिना किसी अपराधके भी उक्त प्रकारसे 'मृत्युदण्ड' का फतवा दे दिया हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है जब हम उस समयकी भारतीय रियासतीय परिस्थितियों पर ध्यान देते हैं; और उनके अन्धश्रद्धावश किये गये अन्याय-अत्याचारोंकी झांकीका अवलोकन करते हैं, तब उसमें आश्चर्यको कोई स्थान नहीं रहता। यही कारण है कि उस समयके विद्वानोंने राज्यके भयसे उनकी मृत्यु आदिके सम्बन्धमें स्पष्ट कुछभी नहीं लिखा; क्योंकि रियासतोंमें खासतौर पर मृत्युभय और धनादिके अपहरणकी सहस्रों घटनायें घटती रहती हैं, और उनसे प्रजामें घोर आतंक बना रहता है; किन्तु आज परिस्थितियां बदल चुकी हैं और अब प्राय: इस प्रकारकी घटनायें कहीं सुननेमें नहीं आती।

अब प्रश्न केवल समयका रह जाता है कि उक्त घटना कब घटी? यद्यपि इस सम्बन्धमें इतनाही कहा जा सकता है कि सं० १८२१ और सं० १८२४ के मध्य में माधवसिहजी प्रथमके राज्य कालमें किसी समय घटी है, परन्तु उसकी अधिकांश सम्भावना सं० १८२४ में जान पड़ती है। चूंकि पं० देवीदास जीकी जयपुरसे बसवा जाने, और उससे वापिस लौटनेपर पुन: पं० टोडरमल्लजी नहीं मिले, तब उन्होंने उनके लघुपुत्र पण्डित गुमानीरामजी के पासही तत्त्वचर्चा सुनकर कुछज्ञान प्राप्त किया, यह उल्लेख सं० १८२४ के बादका है। और उसके अनन्तर देवीदास जी जयपुरमें सं० १८३८ तक रहे हैं।

वीर सेवामन्दिर
६-१-१९४८ सरसावा

समन्तभद्र-भाष्य

समन्तभद्रके भाष्यकी समस्या विचारकके लिये एक खास विचारणीय वस्तु बनी हुई है। अभीतक मैं स्वयं इस निष्कर्षपर पहुंचा था कि समन्तभद्र के द्वारा रचागया जो भाष्य माना जाता है और जिसे तत्त्वार्थभाष्य अथवा गन्धहस्ति महाभाष्य कहा जाता है वह एक कल्पनामात्र है और उस कल्पना के जनक अभयचन्द्र सूरि हैं। परन्तु मैंने अपनी खोज को बन्द नहीं किया और जब समन्तभद्र तथा उनके ग्रन्थों के उल्लेखको लिये हुये कोई नया ग्रन्थ दृष्टि में आता है तोमैं बड़ी उत्सुकतासे उसे देखनेमें प्रवृत्त होता हूं। और यह जाननेको उत्सुक रहता हूं कि इसमें समन्तभद्रके तथाकथित भाष्यका उल्लेख तो नहीं है? चुनांचे अभी हालमें 'लक्षणावली' में जिन ग्रन्थोंके लक्षणोंका संकलन नहीं हुआ था उनके लक्षण

संकलन करनेकेलिये भास्करनन्दिकी हालमें प्रकाशित होकर प्राप्त तत्त्वार्थवृत्ति हाथमें आई। इस ग्रन्थकी प्रस्तावनामें पं० शान्तिराजजी शास्त्रीने समन्तभद्रके भाष्यके सम्बन्धमें विचार किया है। उन्होंने समन्तभद्र-भाष्यके उल्लेखोंमें एक उल्लेख विद्वानोंके लिये खास तौरसे विचारने योग्य और प्रसिद्ध उल्लेखोंसे प्राचीन एवं नया उपस्थित किया है। वह उल्लेख निम्न प्रकार है:—

अभिमतमागिरे 'तत्त्वा-
थभाष्यमं तर्कशास्त्रमं' बरेदुवचो- ।
विभवदिनिलेगेसेद 'सम-
तभद्रदेवर' समानरंबरुमोलरे ॥ ५ ॥

यह उल्लेख चामुण्डरायके प्रसिद्ध त्रिषष्टि लक्षण महापुराणका है जो कनड़ी भाषामें रचा गया है और जिसे उन्होंने शक सं० ९०० – वि० सं० १०३५ में समाप्त किया है। चामुण्डाराय गंगनरेश राचमल्लके प्रख्यात मंत्री थे। राचमल्लका राज्यकाल वि० सं० १०३१ से १०४१ तक है। कनड़ी भाषाके प्रसिद्ध कवि रन्नने अपने वि० सं० १०५० में रचे गये 'पुराणतिलक' में चामुण्डराय की विशेष कृपाका उल्लेख किया है१। यही चामुण्डराय प्रसिद्ध गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके निर्माता और नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीद्वारा अतिशय प्रशस्य हुए हैं। मतलब यह कि चामुण्डरायका उक्त उल्लेख बहुत कुछ प्रामाणिक और असन्दिग्ध है। उसमें दो बातोंका स्पष्ट निर्देश है एक तो यह कि समन्तभद्रदेवने तत्त्वार्थभाष्य रचा हैं और दूसरी यह कि वह तर्कशास्त्र ग्रन्थ है। नहीं कहा जा सकता कि चामुण्डरायने समन्तभद्रके भाष्यका उल्लेख किस आधारसे किया? क्या उन्हें उक्त ग्रन्थ प्राप्त था अथवा अनुश्रुति मात्र थी? इस सम्बन्धमें समन्तभद्रभाष्य-प्रेमी विद्वानोंको अवश्य विचार करना चाहिये और उसका अनुसन्धान करते रहना चाहिये।

उक्त उल्लेखमें एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्र वादिराजसूरिसे पूर्व भी 'देव' उपपद-के साथ स्मृत होते थे और 'समन्तभद्रदेव' इस नामसे भी विद्वान उनका गुण कीर्तन करते थे।

१०जनवरी, १९४८ दरबारीलाल कोठिया

१ देखो, प्रेमीजीकृत-जैन साहित्य और इतिहास।

समयसार की महानता

(प्रवक्ता— पूज्य श्रीकानजी)

[पाठकगण, श्रीकानजी स्वामीसे अपरिचित नहीं हैं। वे वर्तमान युगके उन सन्तोंमें हैं जो जडवादके जालसे व्याप्त इस विश्वमें आध्यात्मका उद्दीप्त दीपक जलाये हुए हैं और जिसके प्रकाशको न केवल आस-पास ही, अपितु भारतके सुदूरवर्ती अनेक कोनोंमें भी, अपने विद्वत्ता और मार्मिकतासे भरे हुए प्रवचनोंद्वारा प्रसृत कर रहे हैं। यों तो आप और आपका विवेकी संघ दोनों 'समयसार' के महत्व और उसकी अगाधता-को खूब अनुभव करते हैं तथा सदैव उसे प्रकट भी करते रहते हैं। परन्तु अभी हालमें श्रीकानजी स्वामीका 'आत्म-धर्म' में वह प्रवचन प्रकट हुआ है जिसे उन्हों-ने गत श्रुतपञ्चमीके अवसरपर किया था। इस प्रवचनमें श्रीकानजी महाराजने समयसार पर जो उद्गार प्रकट किये हैं उनसे समयसारकी महानता और अगाधताका जैसा कुछ परिचय मिलता है वह देखते ही बनता है। हम पाठकोंके लिये उनके इस प्रवचनके कुछ अंशको यहां दे रहे हैं।]

—स० सम्पादक

आज यह समयसार आठवीं बार पढ़ा जा रहा है —सभामें प्रवचनरूपसे आठवीं बार पढ़ा जा रहा है फिर भी यह कुछ अधिक नहीं है। इस समयसारमें ऐसा गूढ़-रहस्य भरा हुआ है कि यदि इसके भावोंको जीवनभर मनन किया जाय तो भी इसके भाव पूरे प्राप्त नहीं किये जा सकते। केवलज्ञान होनेपर ही समयसारके भाव पूरे हो सकते हैं। समयसारके भावका आशय समझकर एकावतारी हुआ जा सकता है। समयसारमें ऐसे महान् भाव भरे हुए हैं कि श्रुतकेवली भी अपनी वाणीके द्वारा विवेचन करके उसके सम्पूर्ण सारको नहीं कह सकते। यह ग्रन्थाधिराज है, इसमें ब्रह्माण्डके भाव भरे हुए हैं। इसके अन्तरङ्गके आशयको समझकर शुद्धात्माकी श्रद्धा ज्ञान-स्थिरताके द्वारा अपने समयसारकी पूर्णता की जा सकती है; भले ही वर्तमानमें विशेष पहलुओंसे जानने-का विच्छेद हो; परन्तु यथार्थ तत्त्वज्ञानको समझने योग्य ज्ञानका विच्छेद नहीं है। तत्त्वको समझनेकी शक्ति अभी भी है जो यथार्थ तत्त्वज्ञान करता है उसे एकावतारीपनका निःसन्देह निर्णय हो सकता है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने महान् उपकार किये हैं। यह समयसार-शास्त्र इस कालमें भव्यजीवोंका महान् आधार है। लोग क्रियाकाण्ड और व्यवहारके पक्षपाती हैं, तत्त्वका वियोग हो रहा है, और निश्चय स्वभावका अन्तर्धान हो गया है—वह ढक गया है; तब यह समयसार शुद्धात्मतत्त्वको बतलाकर तत्त्वके वियोगको भुला देता है और निश्चय स्वभावको प्रकट करता है।

समयसारका प्रारम्भ करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य-देवने प्रारम्भिक मङ्गलाचरणमें कहा है कि— 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' अनन्त सिद्ध भगवन्तोंको वंदना करता हूं, सब कुछ भूलकर अपने आत्मामें सिद्धत्वको स्थापित करता हूं। इस प्रकार सिद्धत्वका ही आदर किया है। जो जिसकी वंदना करता है उसे अपनी दृष्टिमें आदर हुए बिना यथार्थ वन्दना नहीं हो सकती।

अनन्त सिद्ध हो चुके हैं, पहिले सिद्ध दशा नहीं थी और फिर उसे प्रगट किया, द्रव्य ज्योंका त्यों स्थित रहा, पर्याय बदल गया, इस प्रकार सब लक्ष्यमें लेकर अपने आत्मामें सिद्धत्वकी स्थापना की है, अपनी सिद्ध दशाकी ओर प्रस्थान किया है। मैं अपने आत्मामें इस समय प्रस्थान-चिह्न स्थापित करता हूं और मानता हूं कि मैं सिद्ध हूं अल्पकालमें सिद्ध होने वाला हूं; यह प्रस्थान-चिह्न अब नहीं उठ सकता; मैं सिद्ध हूं, ऐसी श्रद्धाके जम जानेपर आत्मामें से विकारका नाश होकर सिद्ध भाव ही रह जाता है। अब सिद्धके अतिरिक्त अन्य भावोंका आदर नहीं है यह सुनकर हां करनेवाला भी सिद्ध है। मैं सिद्ध हूं और तू भी सिद्ध है—इस प्रकार आचार्यदेवने सिद्धत्व से ही मांगलिक प्रारम्भ किया है।

तत्व-चर्चा—

शंका-समाधान

[कितने ही पाठकों व इतर सज्जनोंको अनुसन्धानादि-विषयक शंकाएँ पैदा हुआ करती हैं और वे कभी कभी उनके विषयमें इधर उधर पूछा करते हैं। कितने ही को उत्तर नहीं मिलता और कितनोंको संयोगाभावके कारण पूछनेको अवसर ही नहीं मिलता, जिससे प्रायः उनकी शंकाएँ हृदयकी हृदयमें ही विलीन हो जाया करती हैं और इस तरह उनकी जिज्ञासा अतृप्त ही बनी रहती है। ऐसे सब सज्जनोंकी सुविधा और लाभको दृष्टिमें रखकर 'अनेकान्त' में इस किरणसे एक 'शंका समाधान' स्तम्भ भी खोला जा रहा है जिसके नीचे यथासाध्य ऐसी सब शंकाओंका समाधान रहा करेगा। आशा है इससे सभी पाठक लाभ उठा सकेंगे। —सम्पादक]

१ शंका—कहा जाता है कि विद्यानन्द स्वामीने 'विद्यानन्दमहोदय' नामका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है, जिसके उल्लेख उन्होंने स्वयं अपने श्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में किये हैं। परन्तु उनके बाद होनेवाले माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र आदि बड़े बड़े आचार्योंमेंसे किसीने भी अपने ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख नहीं किया, इससे क्या वह विद्यानन्दके जीवनकाल तक ही रहा है—उसके बाद नष्ट होगया ?

१ समाधान—नहीं, विद्यानन्दके जीवन-कालके बाद भी उसका अस्तित्व मिलता है। विक्रमकी बारहवीं तेरहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान् वादी देवसूरिने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' (द्वि० भा० पृ०,३४६) में 'विद्यानन्दमहोदय' ग्रंथकी एक पंक्ति उद्धृत करके नामोल्लेखपूर्वक उसका समालोचन किया है। यथा—

'यत्तु विद्यानन्दः ....महोदये च "कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते" इति वदन् संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्'।

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि 'विद्यानन्दमहोदय' विद्यानन्द स्वामीके जीवनकालसे तीनसौ चारसौ वर्ष बाद तक भी विद्वानोंकी ज्ञानचर्चा और अध्ययनका विषय रहा है। आश्चर्य नहीं कि उसकी सैकड़ोंकापियां न हो पानेसे वह सब विद्वानोंको शायद प्राप्त नहीं हो सका अथवा प्राप्त भी रहा हो तो अष्टसहस्री आदिकी तरह वादिराज आदिने अपने ग्रंथोंमें उसके उद्धरण ग्रहण न किये हों। जो हो, पर उक्त प्रमाणसे निश्चित है कि वह बननेके कईसौ वर्ष बाद तक विद्यमान रहा है। संभव है वह अबभी किसी लायब्रेरी या सरस्वती भंडारमें दीमकोंका भक्ष्य बना पड़ा हो। अन्वेषण करनेपर अकलंक देवके प्रमाणसंग्रह तथा अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चयटीकाकी तरह किसी श्वेताम्बर शास्त्र भंडारमें मिल जाय; क्योंकि उनके यहां शास्त्रों की सुरक्षा और सुव्यवस्था यति-मुनियोंके हाथोंमें रही है और अबभी कितने ही स्थानों पर चलती है हालमें हमें मुनि पुण्यविजयजीके अनुग्रहसे वि० सं० १४५४ की लिखी अर्थात् साढ़े पांचसौ वर्ष पुरानी अधिक शुद्ध अष्टसहस्रीकी प्रति प्राप्त हुई है, जो मुद्रित अष्टसहस्रीमें सैंकड़ों सूक्ष्म तथा स्थूल अशुद्धियों और त्रुटित पाठोंको प्रदर्शित करती है। यह भी प्राचीन प्रतियोंकी सुरक्षाका एक अच्छा उदाहरण है। इससे 'विद्यानन्दमहोदय' के भी श्वेताम्बर शास्त्र भंडारोंमें मिलनेकी अधिक आशा है, अन्वेषकोंको उसकी खोजका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

२ शंका—विद्वानोंसे सुना जाता है। कि बड़े अनन्तवीर्य अर्थात् सिद्धिविनिश्चयटीकाकारने अकलंकदेवके 'प्रमाणसंग्रह' पर 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' या 'प्रमाणसंग्रहालंकार' नामका वृहद् टीका-ग्रन्थ लिखा है परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं होरहा। क्या उसके अस्तित्व प्रतिपादक कोई उल्लेख हैं जिनसे विद्वानोंकी उक्त अनुश्रुतिको पोषण मिले ?

२ समाधान—हां, प्रमाणसंग्रहभाष्य अथवा प्रमाणसंग्रहालंकारके उल्लेख मिलते हैं। स्वयं सिद्धिविनिश्चयटीकाकारने सिद्धिविनिश्चयटीकामें उसके अनेक जगह उल्लेख किये हैं और उसमें विशेष जानने तथा कथन करनेकी सूचनाएँ की हैं। यथा—

(१) 'इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये' —*सि० वि० टी० लि० प० १२।

(२) 'इत्युक्तं प्रमाणसंग्रहालंकारे'—सि० लि० प० १६।

(३) 'शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात्प्रत्येयम्' —सि० प० ३६२।

(४) 'प्रपंचस्तु नेहोक्तो ग्रंथगौरवात् प्रमाणसंग्रहभाष्याज्ज्ञेयः'—सि० लि० प० ६२१।

(५) 'प्रमाणसंग्रहभाष्ये निरस्तम्'—सि० लि० प० ११०३।

(६) 'दोषो रागादिर्व्याख्यातः प्रमाणसंग्रहभाष्ये'—सि० लि० प० १२२२।

---

* वीर सेवा मन्दिरमें जो सिद्धिविनिश्चय टीकाकी लिखित प्रति मौजूद है उसके पत्रों की संख्या डालीगई है।

इन असंदिग्ध उल्लेखोंसे 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' अथवा 'प्रमाणसंग्रहालंकार' की अस्तित्वविषयका विद्वद्-अनुश्रुतिको जहां पोषण मिलता है वहां उसकी महत्ता, अपूर्वता और वृहत्ता भी प्रकट होती है। ऐसा अपूर्वग्रन्थ मालूम नहीं इस समय मौजूद है अथवा नष्ट होगया है? यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लायब्रेरीमें मौजूद है तो उसका अनुसंधान होना चाहिये। कितने खेदकी बात है कि हमारी लापरवाहीसे हमारे विशाल साहित्योद्यानमेंसे ऐसे ऐसे सुन्दर और सुगन्धित ग्रन्थ-प्रसून हमारी नज़रोंसे ओझल हो गये। यदि हम मालियोंने अपने इस विशाल बागकी जागरूक होकर रक्षा की होती तो वह आज कितना हरा-भरा दिखता और लोग उसे देख देखकर जैन-साहित्यपर कितने मुग्ध और प्रसन्न होते। विद्वानोंको ऐसे ग्रन्थोंका पता लगानेका पूरा उद्योग करना चाहिये।

३ शंका—गोम्मटसार जीवकाण्ड और धवलामें जो नित्यनिगोद और इतर निगोदके लक्षण पाये जाते हैं क्या उनसे भी प्राचीन उनके लक्षण मिलते हैं?

३ समाधान—हां, मिलते हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलङ्कदेवने उनके निम्न प्रकार लक्षण दिये हैं—

'त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः, त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये तेऽनित्यनिगोताः।' --त०वा० पृ० १००

अर्थात् जो तीनों कालोंमें भी त्रसभावके योग्य नहीं हैं वे नित्यनिगोत हैं और जो त्रसभावको प्राप्त हुए हैं तथा प्राप्त होंगे वे अनित्यनिगोत हैं।

४ शंका—'संजद' पदकी चर्चाके समय आपने 'संजद पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्वपूर्ण अभिमत' लेखमें यह बतलाया था कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकके इस प्रकरणमें पट्खण्डागमके सूत्रोंका प्राय: अनुवाद किया है। इसपर कुछ विद्वानोंका कहना था कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमका उपयोग किया ही नहीं। क्या उनका यह कहना ठीक है? यदि है तब आपने तत्त्वार्थवार्त्तिकमें षट्खण्डागमके सूत्रोंका अनुवाद कैसे बतलाया?

४ समाधान—हम आपको ऐसे अनेक प्रमाण नीचे देते हैं जिनसे आप और वे विद्वान् यह माननेको बाध्य होंगे कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्त्तिकमें षट्खण्डागमका खूब उपयोग किया है, यथा—

(१) 'एवं हि **समयो**ऽवस्थितः **सत्प्ररूपणायां कायानुवादे**-"त्रसा द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन इति"।' —तत्त्वा० पृ० ८८

यह पट्खण्डागमके निम्न सूत्रका संस्कृतानुवाद है-

"तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति"। —षट्खं० १-१-४४

(२) '**आगमे** हि जीवस्थानादिसदादिष्वनुयोगद्वारेणादेशवचने नारकाणामेवादौ सदादिप्ररूपणा कृता।' —तत्त्वा० पृ० ५५

इसमें सत्प्ररूपणाके २५ वें सूत्रकी ओर स्पष्ट संकेत है।

(३) 'एवं हि **उक्तमार्षे वर्गणायां** बन्धविधाने नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्धनिर्देशः प्रोक्तः विषमरूक्षतायांच बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां च भेदः इति तदनुसारेण सूत्रमुक्तम्' —तत्त्वा० पृ० २४२

यहां पांचवें वर्गणा खण्डका स्पष्ट उल्लेख है।

(४) 'स्यादेतदेव**मागमः** प्रवृत्तः। पंचेन्द्रिया असंज्ञिपंचेन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिनः' पृ० ६३

यह पट्खण्डागमके इस सूत्रका अक्षरशः संस्कृतानुवाद है—

"पंचिदिया असण्णिपंचिदिय—प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति" —१-१-३७।

इन प्रमाणोंसे असंदिग्ध है कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्त्तिकमें पट्खण्डागमका अनुवादादिरूपसे उपयोग किया है।

५-शंका—मनुष्यगतिमें आठ वर्षकी अवस्थामें भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है, ऐसा कहा जाता है, इसमें क्या कोई आगम प्रमाण है?

५-समाधान—हां, उसमें आगम प्रमाण है। तत्वार्थवार्तिकमें अकलङ्कदेवने लिखा है कि 'पर्याप्तक मनुष्य ही सम्यक्त्वको उत्पन्न करते हैं, अपर्याप्तक मनुष्य नहीं और पर्याप्तक मनुष्य आठ वर्षकी अवस्था से ऊपर उसको उत्पन्न करते हैं, इससे कममें नहीं'। यथा—

'मनुष्या उत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तका:। पर्याप्तकाश्चाऽष्टवर्षस्थितेरुपर्युत्पादयन्ति नाधस्तात्'। —पृ० ७१।

६- शंका—दिगम्बर मुनि जब विहार कर रहे हों और रास्तेमें सूर्य अस्त हो जाय तथा आस-पास कोई गांव या शहर भी न हो तो क्या विहार बंद करके वे वहीं ठहर जायेंगे अथवा क्या करेंगे?

६-समाधान—जहां सूर्य अस्त होजायगा वहीं ठहर जायेंगे उससे आगे नहीं जायेंगे। भले ही वहां गांव या शहर न हो। क्योंकि मुनिराज ईर्यासमिति के पालक होते हैं और सूर्यास्त होनेपर ईर्यासमितिका पालन बन नहीं सकता और इसीलिये सूर्य जहां उदय होता है वहांसे वे तब नगर या गांवके लिये विहार करते हैं, जैसा आचार्य जटासिंहनन्दिने वरांङ्गचरितमें कहा है:—

> यस्मिंस्तु देशेऽस्तमुपैति सूर्य—
> स्तत्रैव संवासमुखा बभूवुः।
> यत्रोदयं प्राप सहस्ररश्मि—
> र्यातास्ततोऽथा पुरि वाऽप्रसंगाः॥
> —३०-४७

इसी बातको मुनियोंके आचार-प्रतिपादक प्रधान ग्रन्थ मूलाचारमें (७८४) निम्न रूपसे बतलाया है—

> ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा।
> सवणा अप्पडिबद्धा विज्जू तह दिट्ठणट्ठा या॥

अर्थात् 'वे साधु शरीरमें निर्मम हुए जहां सूर्य अस्त हो जाता है वहां ठहर जाते हैं कुछ भी अपेक्षा नहीं करते। और वे किसीसे बन्धे हुए नहीं, स्वतन्त्र हैं, बिजलीके समान दृष्टनष्ट हैं, इसलिये अपरिग्रह हैं।

७-शंका--लोग कहते हैं कि दिगम्बरजैन मुनि वर्षावास (चतुर्मास) के अतिरिक्त एक जगह एक दिन रात या ज्यादासे ज्यादा पांच दिन-रात तक ठहर सकते हैं। पीछे वे वहांसे दूसरी जगहको जरूर विहार कर जाते हैं। इसे वे सिद्धान्त और शास्त्रोंका कथन बतलाते हैं। फिर आचार्य शांतिसागरजी महाराज अपने संघ सहित वर्षभर शोलापुर शहरमें क्यों ठहरे? क्या कोई ऐसा अपवाद है?

७- समाधान--लोगोंका कहना ठीक है। दिगम्बर जैन मुनि गांवमें एक रात और शहरमें पांच रात तक ठहरते हैं। ऐसा सिद्धान्त है और उसे शास्त्रोंमें बतलाया गया है। मूलाचारमें और जटासिंहनन्दिके वरांगचरितमें यही कहा है। यथा—

> गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
> सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य॥
> —मूला० ७८५

> ग्रामैकरात्रं नगरे च पञ्च समूषुरव्यग्रमनःप्रचाराः
> न किंचिदप्यप्रतिबाधमाना विहारकाले समिता विजिह्रुः॥ —वरांग० ३०-४५

परन्तु गांव या शहरमें वर्षों रहना मुनियोंकेलिये न उत्सर्ग बतलाया और न अपवाद।

भगवती आराधनामें मुनियोंके एक जगह कितने काल तक ठहरने और बादमें न ठहरनेके सम्बन्धमें विस्तृत विचार किया गया है। लेकिन वहां भी एक जगह वर्षों ठहरना मुनियोंके लिये विहित नहीं बतलाया। नौवें और दशवें स्थितिकल्पोंकी विवेचना करते हुए विजयोदया और मूलाराधना दोनों टीकाओं में सिर्फ इतना ही प्रतिपादन किया है कि नौवें कल्पमें मुनि एक एक ऋतुमें एक एक मास एक जगह ठहरते हैं। यदि ज्यादा दिन ठहरें तो 'उद्गमादि दोषोंका

परिहार नहीं होता, वसतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है, सुखमें लम्पटपना उत्पन्न होता है, आलस्य आता है, सुकुमारताकी भावना उत्पन्न होती है, जिन श्रावकोंके यहां आहार पूर्वमें हुआ था वहां ही पुनरपि आहार लेना पड़ता है, ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये मुनि एक ही स्थानमें चिरकाल तक रहते नहीं हैं।' दशवें स्थितिकल्पमें चतुर्मासमें एक ही स्थानपर रहने का विधान किया है और १२० दिन एक स्थानपर रह सकनेका उत्सर्ग नियम बतलाया है। कमती बढ़ती दिन ठहरनेका अपवाद नियम भी इसप्रकार बतलाया है कि श्रुतग्रहण, (अभ्यास) वृष्टिकी बहुलता शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करना आदि प्रयोजन हों तो ३६ दिन और अधिक ठहर सकते हैं अर्थात् आषाढ़शुक्ला दशमीसे प्रारम्भ कर कार्त्तिक पौर्णमासीके आगे तीस दिन तक एक स्थानमें और अधिक रह सकते हैं। कम दिन ठहरनेके कारण ये बतलाये हैं कि मरी रोग, दुर्भिक्ष, ग्राम अथवा देशके लोगोंको राज्य-क्रान्ति आदिसे अपना स्थान छोड़कर अन्य ग्रामादिकोंमें जाना पड़े, संघके नाशका निमित्त उपस्थित हो जाय आदि, तो मुनि चतुर्मासमें भी अन्य स्थानको विहार कर जाते हैं। विहार न करनेपर रत्नत्रयके नाशकी सम्भावना होती है। इसलिये आषाढ़ पूर्णिमा बीत जानेपर प्रतिपदा आदि तिथियोंमें दूसरे स्थानको जा सकते हैं और इसतरह एकसौबीस दिनोंमेंसे बीस दिन कम हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वर्षों ठहरनेका वहां कोई अपवाद नहीं है। यथा—

"ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः। एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षमः। क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः। पज्जो समणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। स्थावरजङ्गमजीवाकुलो हि तदा क्षितिः तदा भ्रमणे महानसंयमः, वृष्ट्या शीतवातपातेन वात्मविराधना। पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वाध्यत इति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वासस्थान, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानम्। वृष्टिबहुलता, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्ट---कालः। मार्यां, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति। पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति। यावच्च त्यक्ता विंशति–दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एष दशमः स्थिति--कल्पः।" —विजयोदया टी० पृ० ६१६।

आचार्य शान्तिसागर महाराज सङ्घ सहित वर्षभर शोलापुर शहरमें किस दृष्टि अथवा किस शास्त्रके आधारसे ठहरे रहे। इस सम्बन्धमें सङ्घको अपनी दृष्टि स्पष्ट कर देना चाहिए, जिससे भविष्यमें दिगम्बर मुनिराजोंमें शिथिलाचारिता और न बढ़ जाय।

—दरबारीलाल कोठिया

विविध

१-केन्द्रीय शिक्षा-संस्थाका उद्घाटन और लेडी माउन्टबेटनका भाषण—

गत १६ दिसम्बरको दिल्लीमें एक केन्द्रीय शिक्षा-संस्थाकी स्थापना होकर .उसका उद्घाटन-समारोह मनाया गया था। उद्घाटन महामाननीया लेडी मांउ-टबेटनने किया था। इस अवसरपर भाषण करते हुए आपने राष्ट्रीय अध्यापकोंकी योग्यता और चरित्र निर्माणपर महत्त्वपूर्ण जोर दिया। आपने कहा:—

'इस केन्द्रीय शिक्षा-संस्थाका द्वार खोलते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होरही है। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि भारतके अध्यापकोंकी योग्यतापर ही भावी सभ्यताके प्रति भारतका कार्य-भार अधिकांशत: निर्भर करेगा। पिछले तीन महीनोंमें हमारा ध्यान अधिकतर मनुष्योंका जीवन बचानेके कार्यमें लगारहा है, किन्तु यह शिक्षा-संस्था खोलकर सरकारने स्पष्ट कर दिया है कि कठिन समस्याओंमें फंस जानेके कारण वह दीर्घ-कालीन रचनात्मक कार्य-क्रमके प्रति उदासीन नहीं है'।

शिक्षामंत्री महोदयने अपने भाषणमें बताया है। कि यदि ११ वर्ष तककी अवस्था वाले प्राय: ३ करोड़ बालकोंकी आरम्भिक शिक्षा-व्यवस्था करनी है तो इसकेलिये ही भारी संख्यामें अध्यापकोंकी आवश्यकता पड़ेगी। और हर शिक्षित व्यक्तिसे इस कार्यमें सहायता लेनी होगी। शिक्षाके प्रसार-कायमे, क्या मै शैक्षिक फिल्मों तथा बेतारके माध्यमोंकी शिक्षाप्रद उपयोगिता का भी सुझाव रख सकती हूं मै समझती हूं इस कार्यके लिये उक्त दोनों ही साधनोंके विस्तारके लिये भारतमें काफी बड़ा क्षेत्र है।

हम सभी जान चुके हैं कि केवल पुस्तकीय योग्यता तथा विशिष्ट कुशलता पर्याप्त नहीं है और चरित्र-बलका उपार्जन भी परमावश्यक है। अध्यापक गण अपने छात्रोंको, केवल अपनी योग्यतासे ही नहीं, बल्कि अपने चरित्रसे भी प्रभावित कर सकता है। इसकी ओर भी पूरा ध्यान दिया जाना चाहिये। अच्छे नागरिक तैयार करनेके लिये जो लड़ाई हमें लड़नी है उसमें इस बातका विशेष महत्व होगा।

२-उद्योगसम्मेलनमें पं० नेहरूका अभिभाषण—

अभी हालमें १८ दिसम्बर १९४७ को उद्योग मंत्री डा० मुखर्जीद्वारा एक उद्योगसम्मेलन बुलाया गया था उसमें भारतके प्रधान-मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरूने औद्योगिक शान्तिकी आवश्यकता व उत्पादनमें वृद्धि करनेके महत्त्व पर जोर देते हुए एक विस्तृत अभिभाषण किया था। आपने कहा:—

'मैत्री-पूर्ण सहयोगमें हड़तालों तथा तालेबंदियों को बन्द करके कुछ समय तक औद्योगिक शान्ति कायम रखना चाहिये। मौजूदा कितने ही आधारभूत उद्योगोंका राष्ट्रीयकरण होना चाहिये। परन्तु समस्या का अधिकतम हल यह हो सकता है कि सरकारको नये उद्योगोंकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिये और उन्हींका अधिक मात्रामें नियंत्रण होना चाहिये। यह सब मैं इसलिये कहरहा हूं कि मै वैज्ञानिक ढंगसे सोच विचार करनेका आदी रहा हूं, मै स्थिर रहनेकी अपेक्षा आगे बढ़नेकी बात सोचता हूं। आज कल व्यवसायोंके सम्बन्धमें विचार करते समय लोग पूंजीवादियों, समाजवादियों अथवा कम्यूनिष्टोंकी बात सोचते हैं। किन्तु ये बातें वर्तमान स्थिति पर कायम रहनेकी हैं, आगे बढ़नेकी नहीं। यह विचारधारा गये-बीते युगकी हैं। और इसे हमें त्याग देना चाहिये। कुछ प्रगति शाल दृष्टिको-ण रखने पर हम साफ देखते हैं कि यह एक महत्त्वपूर्ण संक्रान्तिकाल है जिसमें शक्ति के नये स्रोतोंका अनुसंधान किया जा रहा है। यह औद्योगिक क्रान्ति या वैद्युतिक क्रान्ति है। किन्तु महत्त्वमें इससेभी अधिक व्यापक है। इसमें दस पंद्रह या बीस साल लग जायेंगे और आज का सभी कुछ पुराना पड़ जायगा। सम्भव है आज आप जिस

उद्योगको प्राप्त करनेकी चेष्टामें हों, कल उसका कोई महत्त्व ही न रहजाय। यदि आप भविष्यके खयालसे देखेंतो वर्तमानके कितने ही संघर्ष व्यर्थ जान पड़ने लगेंगे या उनका स्वरूप बदल जायेगा और तब आप अपनेको पुराने विचारोंकी गुलामीसे मुक्त पाने लगेंगे

जहांतक मेरा ताल्लुक है, मैं देशकी बड़ी योजना-ओंको और किसी भी चीजसे ज्यादा महत्व देता हूं, मेरा विचार है कि देशमें इन्हींसे नयी सम्पत्ति प्राप्त होगी। जब कभी मैं भारतका कोई मानचित्र देखता हूं तो हिमालय पर्वत-श्रेणीपर मेरी दृष्टि पड़ती है और मैं उस अनन्तशक्तिकी बात सोचता हूं जो उस श्रेणीमें बेकार छिपी पड़ी है, जिसे काममें लायाजा सकता है और जिसका यदि तेजीसे विकास किया जासके तो जो सम्पूर्ण भारत को ही बदल सकती है यह शक्तिका आश्चर्य-जनक और सम्भवत: संसारमें सबसे महान् स्रोत है। इसी लिये मैं महान् नदी घाटी योजनाओं, बांधों, विशाल जलकुण्डों तथा जलविद्युत-केन्द्रोंको अधिक महत्व देता हूं। ये सब आपको आगे ले जायेंगे। पर शक्ति उत्पन्न करनेसे पहले हमें उसका नियंत्रण और उपयोग भी तो जानना चाहिये।

मुझे आशा है कि इस सम्मेलनमें कमसे कम यह ठोस परिणाम तो अवश्य निकलेगा कि हम लोग मैत्रीपूर्ण ढंगसे काम आरम्भ करके एक अवधिके लिये औद्योगिक शान्ति बनाये रखनेका फैसला कर लेगें और एक ऐसा ढंग निकाल लेंगे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति के प्रति न्याय का व्यवहार होसके। इस बीचमें हम शान्तिपूर्वक बैठकर व्यापक नीतियोंके सम्बन्धमें सोच विचार कर सकेंगे।

३ सरकारी कागजातोंमे 'श्री' या 'श्रीमान' शब्दोंका प्रयोग—

पंजाबकी सरकारने आदेश जारी किये हैं कि अब से आगे समस्त सरकारी कागजात और फाइलोंमें 'मिस्टर' और 'एसकायर' इन अंग्रेजी शब्दोंके स्थान में 'श्री' या 'श्रीमान्' शब्दों का प्रयोग किया जाय।

४—हमारा पड़ोसी देश वर्मा स्वतंत्र और भारतद्वारा अपूर्व स्वागत—

४ जनवरी १९४८ को वर्मा कितने ही वर्षोंकी ब्रिटिश पराधीनताके जुएसे उन्मुक्त होकर सर्वतंत्र स्वतंत्र होगया। यह स्मरणीय रहे कि वर्माको यह स्वतंत्रता भारतकी तरह बिना रक्तपात किये ही प्राप्त होगई है। भारतद्वारा उसकी इस स्वतंत्रताका अपूर्व स्वागत किया गया और भारतवर्षकी राजधानी देहलीमें विभिन्न स्थानोंपर इस स्वाधीनता दिवसके उपलक्षमें अनेक समारोहोंका आयोजन किया गया। इस अवसरपर भारतवर्षके गवर्नर-जनरल लार्ड माउण्ट बेटन, भारतके प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू, उप-प्रधानमंत्री सरदार पटेल, राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद तथा मंत्रिमंडलके अन्य सदस्यों— जैसे सरदार बलदेवसिंह, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, डा० बी० आर० अम्बेदकर, राजकुमारी अमृतकौर, श्रीजगजीवनराम, डा० जानमथाई, श्री एन० गोपाल स्वामी अय्यंगर, डा० रीफ, बर्मास्थित हाईकमिश्नर, प्रोफेसर राधाकृष्णन, मर सी० बी० रमन, डा० कालीदास नाग, और प्रोफेसर बी० एम० बरुआ— ने सन्देश एवं भाषण दिये **पण्डित नेहरू** ने बर्माकी स्वतंत्रता को एशिया विशेष कर भारतके लिये बड़े महत्त्वकी घटना बतलाते हुए कहा— 'भारत व बर्माका परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि यदि एक देशमें कुछ होता है तो दूसरे पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हैं कि भविष्यमें हमारा सम्बन्ध और भी अधिक घनिष्ठ होगा। यह सिर्फ हमारी एक जैसी भावनाका ही नहीं, बल्कि विश्व और एशियाकी घटनाओंका भी तकाजा है। शीघ्र ही वह समय आने वाला है जब अन्य देशोंके साथ मिलकर हम सहयोगकी एक व्यवस्थाका निर्माण कर सकेंगे'।

उप-प्रधानमंत्री **सरदार पटेल** ने अपने सन्देश में कहा — 'हम जानते हैं और अनुभव करते हैं कि

भारतकी स्वाधीनता अन्य उन देशोंकी स्वाधीनताकी भूमिकामात्र है, जो अभी पराधीनतामें पड़े हुए हैं। इतिहासमें भारतके बर्मासे निकटतम सम्बन्ध रहे हैं। लगभग एक शताब्दी तक दोनों ही देश विदेशी बेड़ियोंमें जकड़े रहे हैं। बर्माके आर्थिक जीवनमें भारतीयोंने जो हिस्सा लिया है वह कुछ थोड़ा नहीं है। हम सदासे बर्माके स्वाधीनता-संग्रामके प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते रहे हैं। जैसे-जैसे वर्ष बीतते जायेंगे वैसे-वैसे स्वाधीनतामें साथीपनकी भावनाका विकास होता जायगा — इसी तरह जिस तरह कि पराधीनताकी बेड़ियोंमें जकड़े रहने पर भी इनके दृष्टिकोणमें साम्य था। हमारी कामना है कि 'वर्मा पुनर्निर्माण तथा पुनस्संस्थापनके कार्यमें प्रगति करे'।

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने जिन्होंने रंगूनके स्वाधीनता समारोहमें बर्मा जाकर भारतका प्रतिनिधित्व किया, हिन्दीमें दिये हुए अपने सन्देशमें बर्मा राष्ट्रको भारतीय राष्ट्रीयकांग्रेसकी तरफसे, बिहारकी तरफसे जहां बुद्धको बोधिसत्त्वका ज्ञानका प्रकाश मिला था, सम्पूर्ण भारतकी तरफसे, विधानपरिषद की तरफसे और स्वयं अपनी तरफसे बधाई दी।

लार्ड माउण्ट बैटनने बर्माके प्रति भारतकी सद्भावना प्रकट करते हुए अपने महत्वके भाषणमें कहा— आज बर्माका स्वाधीनता दिवस है। मुझे प्रसन्नता है कि हमारे स्वाधीनता दिवसके कुछ समय बाद ही यह मनाया जारहा है। गत चार वर्षोंसे बर्माके मामलोंमें मैं घनिष्ठतासे निरन्तर रुचि लेता रहा हूं और इस प्रकार वर्मा देश और वर्मी लोगोंके लिये मेरे हृदय में वास्तविक स्नेह उत्पन्न हो गया है। दक्षिण पूर्वी एशिया कमानके स्थापित होतेही वर्मा क्षेत्रके शासन का भार मुझे सौंप दिया गया था। ज्यों ज्यों जापानियोंको हम पीछे हटाते थे त्यों त्यों यह क्षेत्र बढ़ता जाता था। वर्माको जापानसे मुक्त करानेके समय तक और इसके कुछ महीने बाद तक मैं इस प्रकारसे वर्मा का सैन्य गवर्नर था।

इस अवसरपर मैं स्वर्गीय जनरल आंगसानके प्रति श्रद्धांजलि प्रकट करता हूं। वे देशभक्त थे और उनकी यह प्रबल अभिलाषा थी कि उनका देश सदा स्वतंत्र रहे और यही कारण था कि उन्होंने अपने आपको और अपनी वर्मी देशभक्त सेनाको जापानके विरुद्ध लड़नेके लिये मुझे सौंप दिया था। उन्होंने और उनकी सेनाने जो हमारी सेनाको सहायता दी वह बहुत सराहनीय थी। वर्मा मुक्त हो जानेके बाद उन्होंने उच्चकोटिकी राजनीतिका परिचय दिया। रंगून और कैन्डी में मेरी उनसे कई बार मुलाकात हुई। मुझे विश्वास होगया था। कि वे अवश्य ही देशके महान नेता बनेंगे। मुझे आशा थी कि कितने ही वर्षों तक वर्माका भाग्य-निर्माण करनेके लिये वे चिरकाल तक जीवित रहेंगे। उनकी भीषण हत्यासे हृदय-विदारक क्षति पहुंची है।

अपनी उपाधिके साथ बर्माका नाम सम्बद्ध करने का मुझे गौरव प्राप्त है। इस देशसे मेरा घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। इसलिये इस दिवसको विशिष्ट रूपसे मनानेके लिये मैं उत्सुक था। मेरी इच्छा थी कि भारत की ओरसे वर्माको कोई उपहार दिया जाय।

कलकत्ताके अजायबघरमें वर्माका एक राजसिंहासन रखा हुआ है। मांडलेमें लुटदाभवनमें जब वर्माके नरेश थीवा गयेथे वे इसपर बैठे थे। यह उच्च सिंहासन सागौन लकड़ीका बना है और इसमें सोनेका प्रचुरतासे काम किया हुआ है। और नरेश थीवाके उस प्रसिद्ध सिंहासनका यह प्रतिरूप है। जब मैं हालही में लन्दन गया था तो मैंने सम्राटसे इस सम्बन्धमें परामर्श किया भारत सरकारके इस प्रस्तावको उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे मान लिया कि बर्माकी स्वाधीनताके अवसरपर यह सिंहासन उसे भेंट कर दिया जाय। यह सिहासन इतना भारी है कि यह यहां नहीं लाया जा सकता था। इसे कलकत्तासे ही सीधे रंगून भेज दिया जायेगा। मुझे आशा है कि मार्चमें वर्मा जाने का मैं वर्माके प्रधान-मंत्रीका निमंत्रण स्वीकार कर सकूंगा। यदि ऐसा हुआ तो उस समय मैं स्वयं यह सिंहासन भेंट कर सकूंगा।

कलकत्ताके सरकारी भवनमें सिंहासनभवनके पश्चिमी भागमें एक छोटासा तख्त पोश है। यह भी नरेश थीवाका है और १८८५ में वर्माके तृतीय युद्धमें मांडलेके राजमहलसे लाया गया था। यही तख्तपोश आपके सामने है जो कलकत्ता-स्थित राजसिंहासनके अतिरिक्त मैं सम्राट और भारतकी सरकार तथा भारत के लोगोंकी ओरसे वर्मा-राजदूत की मार्फत वर्माके लोगोंको भेंट कर रहा हूं। इन दोनों उपहारोंके साथ वर्माके प्रति हम भारतकी स हृदयतापूर्ण शुभ कामनाएं भेजरहे हैं। हम री यह प्रबल आशा और दृढविश्वास है कि भविष्यमें वर्मा शान्ति और स्वतंत्रताके वातावरणमें फूले फलेगा'।

इसी अवसर पर पण्डित नेहरू ने दिल्लीके दरबारभवनमें दिये अपने अन्य भाषणमें वर्मा और भारतके सम्बन्धोंपर प्रकाश डालते हुए कहा—

'मैं भारतकी सरकार और जनताकी तरफसे वर्मी सङ्घके प्रजातन्त्रका अभिवादन करता हूं। केवल वर्मा के लिये ही नहीं, बल्कि भारत तथा सम्पूर्ण एशियाके लिये यह एक महान् तथा पवित्र दिन है। हम भारतमें इससे विशेष रूपसे प्रभावित हुए हैं, क्योंकि न जाने कितने वर्षोंसे हमारा वर्मासे सम्बन्ध रहा है। अतीत कालसे हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें वर्माको स्वर्ग देश कहा जाता रहा है। अतीत कालमें ही किन्तु कुछ समय बाद हमने वर्माको एक सदेश दिया, जो भारतके महान्तम पुत्र गौतम बुद्धका संदेश था। इस संदेशके कारण वर्मा और भारत इन २००० या कुछ अधिक वर्षोंमें एक अटूट बन्धनोंमें बंधे रहे हैं। अन्य बातोंके अतिरिक्त इसमें शान्ति तथा सदाचरणका सन्देश था और आज अन्य किसी भी बातकी अपेक्षा शान्ति और सदाचरणकी आवश्यकता है। और इस लिये आज हम वर्माके प्रजातंत्रके अविर्भावका स्वागत करते हैं'।

अतीतमें हम दोनों ही काफी अरसे तक पृष्ठभूमिमें रहे हैं। हम दोनोंही हर्ष और विषादमें भागीदार रहे हैं और स्वाधीनता प्राप्तिके समय हम दोनोंको अनेक कष्टपूर्ण घड़ियोंसे गुजरना पड़ रहा है। स्वतंत्रताके जन्मसे पूर्व कष्टोंका भोगना अनिवार्य है। फिर भी कष्टोंसे स्वाधीनताका उदय होता है और कल्याण होता है और मुझे आशा है कि भविष्यमें वर्मी जनता के लिये कल्याणकारी और रचनात्मक कार्य होगा। अतीतकी तरह भविष्यमें भी भारतीय राष्ट्र वर्मी राष्ट्रके कंधोंसे कंधा लगा कर खड़ा होगा और. हमें सौभाग्य या दुर्भाग्य जिसका भी सामना करना पड़े हम एक साथ ही उसका सामना करेंगे'।

५-भगवान महावीरके जन्म दिवसकी यू० पी० प्रान्तमें छुट्टीकी सरकारी घोषणा—

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि संयुक्त-प्रान्तकी लोकप्रिय राष्ट्रीय सरकारने संयुक्तप्रान्तमें भगवान महावीरके, जो अहिंसा और अपरिग्रहके अनन्य उपासक तथा सर्वोच्च प्रचारक थे, जन्मदिनकी एक दिनकी इस वर्षसे छुट्टीकी घोषणा कर दी है। अब समस्त प्रांतमें महावीर-जयन्तीकी सार्वजनिक छुट्टी रहा करेगी। कई वर्षोंसे समाज और जैनसंदेश आदि पत्र इस छुट्टीके लिये लगातार प्रयत्न कर रहे थे। यद्यपि यह छुट्टी बहुत पहले ही घोषित हो जानी चाहिये थी फिर भी सरकारने अपनी लोक-प्रियताका परिचय देकर जो सार्वजनिक छुट्टीकी घोषणा की है उसके लिये हम समाजकी ओरसे उसे धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकते। अबतक निम्न स्थानोंमें महावीर जयन्तीकी छुट्टी स्वीकृत हो चुकी है:— यू० पी०, बिहार, सी० पी०, इन्दौर, रीवां, भोपाल, भरतपुर, बिजावर, बरार प्रान्त, अलवर, बून्दी, कोटा, ओरछा, बीकानेर, अजयगढ़, अकलकोट, अलीराजपुर आंध, अबागढ़, अजमतगढ़, अथमौलिक, बड़वानी, बाधाट, बज़ाना, बालसीनौर, बालसन, बनेड़ा, बांसवाड़ा, बरवाला, भोट, बिलखा, बगसरा, बरम्बा, बोनई, खंभात, छगभारवर, चम्बा, छतरपुर, चूड़ा, छोठा, उदैपुर, चौंमू, चुइरवान दासपला, दतिया, धार, धरमपुर, धौलतपुर, धांगधरा, धौल, दुजाना, डूंगर-

पुर, दांता, देवासजुनियर, देवाससीनीयर, घोड़ासर, हिंडौल, हथवा, ईडर, जयपुर, जामनगर, झाबुआ, झालावाड़, झींद, जोधपुर, जूनागड, जम्बूगोड़ा, करौली, कटोसन, कवर्धा, क्योंझर, खडौल, खजूरगांव खंडेला, खनियाधाना, खिरासरा, कोठी, कोटरा-सांगानी, कुरुन्दवाड़ सीनियर, किशनगढ़, केकड़ी खैरागढ़, कोल्हापुर, कन्केर कुरवई, लखतर, लाठी, लीम्बड़ी, लोधीका, लुनावाड़ा, महीयर, मलिया, मांडवा, मांगरौल, मिरजजूनियर, मौहनपुर, मूली, सुस्थान, मोहम्दी, मनिपुर, मानसा, मकराई, नागौद, नलागढ़, नन्दगांवराज; नयागढ़, नरसिंहगढ़, नानपाड़ा, नाभा, पन्ना, जुनिया, पटना पाटौदी पंचकोट, पादड़ी, परतापगढ़, पेथापुर, फल्टन, पोरबन्दर, रायसांकली, राजकोट, राजपीपला, रानासन, रतलाम, सौलाना, शाहपुरा, सकती, समथर, सोंठ मायला, सीकर, सिरोही, सीतामऊ, सुदासना, थाना देवली, टौंक, बड़ियावला, बलासना, वरसोड़ा, वसादर, वीरपुर, विट्ठलगढ़, बढ्वान, वाव, वाई उनियारा और कुरुम्दवाड़ जूनियर।

यदि इन स्थानोंके अतिरिक्त भी और कहीं छुट्टी स्वीकृत हुई हो तो पाठक सूचित करें। अब महावीर जयन्तीकी छुट्टीके समारोहको सार्वजनिक रूपसे मनानेके लिये विशिष्ट आयोजन करना चाहिये और जैनियोंको उस दिन अपना व्यापार तथा कारोबार बन्द रखकर पूरी लगनके साथ महावीर जीवनके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करना चाहिये।

६ वैज्ञानिक अनुसन्धानके लिये छात्रवृत्तियां—

भारतके शिक्षामंत्रीके कार्यालयसे प्रकाशित एक विज्ञप्तिमें सूचित किया गया है कि १८५१ की लन्दन प्रदर्शनीके शाही कमिश्नरोंद्वारा इसवर्ष भारतीय विश्वविद्यालयों अथवा जिन संस्थाओंमें विज्ञानकी शिक्षा देनेका पोस्ट ग्रेजुएट विभाग विद्यमान है उसके विद्यार्थियोंको विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धानके लिये एक छात्रवृत्ति दी जायगी। यह छात्रवृत्ति ३५० पौंड वार्षिक होगी जो दो सालके लिये दी जायेगी। यह छात्रवृत्ति उस विद्यार्थीको दी जायेगी, जिसने विश्व विद्यालयका अपना पूरा कोर्स समाप्त कर लिया हो और जिसमें मौलिक वैज्ञानिक अनुसन्धानकी प्रतिभा पाई जाती हो। निर्वाचित विद्यार्थीको कमिश्नरों द्वारा स्वीकृत किसी भी विदेशी संस्थामें रहकर तात्त्विक अथवा प्रयुक्त विज्ञानकी किसी शाखामें अनुसन्धान करना होगा।

इस छात्रवृत्तिके लिये भारतीय डोमीनियम अथवा भारतीय रियासतोंके सभी ऐसे प्रजाजन आवेदन-पत्र भेज सकते हैं। जिनकी आयु १ मई १९४८ को २६ वर्षसे कम बैठती हो। भारतमें रहने वाले अथवा विदेशमें रहनेवाले विद्यार्थियोंको अपने आवेदनपत्र सम्बद्ध विश्वविद्यालय अथवा संस्थाके अधिकारियोंकी सिफारिश सहित सम्बद्ध विश्वविद्यालय अथवा संस्थाके जरिये प्रान्तीय सरकारों और स्थानीय अधिकारियोंके जरिये अधिकसे अधिक १० मार्च १९४८ तक भारत सरकारके शिक्षा-विभागके सैक्रेटरीके पास भेज देना चाहिये।

योग्य जैन छात्रों को इस दिशामें अवश्य बढ़ना चाहिये।

साहित्यपरिचय और समालोचन

१-अनुभव प्रकाश— लेखक, स्व० पं० दीपचन्द शाह कासलीवाल। प्रकाशक, श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, मारोठ (मारवाड़) मूल्य, अनुभवन।

यह हिन्दीका एक महत्त्वपूर्ण संक्षिप्त आध्यात्मिक गद्यग्रन्थ है। स्वाध्याय-प्रेमियोंके लिये बहुत

उपयोगी है। इसकी प्रस्तावनामें पं० परमानन्द जैन शास्त्री, वीरसेवामन्दिर, सरसावाने लेखकके संक्षिप्त जीवन-परिचय और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डाला है। इससे ज्ञात होता है कि लेखक विक्रमकी अठारहवीं सदीके अन्तिम चरण (१७७६) के एक अनुभवी आध्यात्मिक विद्वान हैं। यह स्वाध्याय प्रेमियोंके कामकी चीज़ है।

२- जैनबोधकाचा ६० वर्षाचा इतिहास—
लेखक- फूलचन्द हीराचन्द शाह, सोलापुर। प्रकाशक पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, मंत्री-ध० रावजी सखाराम दोशी स्मारकमंडल, सोलापुर। मूल्य।≈)।

प्रस्तुत पुस्तक मराठी जैन बोधकके साठ वर्षका संक्षिप्त इतिहास है। इसमें कब और किन सम्पादकों ने सेवा कार्य किया, यह बतलाया गया है। सामाजिक प्रवृत्तिका इससे कितना ही निदर्शन होता है।

३- विवरण-पत्रिका— प्रकाशक— दि० जैन शिक्षा संस्था, कटनी (मध्यप्रान्त)।

यह पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य द्वारा संस्थापित व संरक्षित दिगम्बर जैन शिक्षा संस्था कटनीकी वि० सं० १९८८ से वि० सं० २००२ तक पन्द्रह वर्षोंकी रिपोर्ट है। इसमें संस्थाके विभिन्न विभागों और उनके आय-व्यय, उन्नति आदिका संक्षिप्त विवरण दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि संस्थाने थोड़े समयमें पर्याप्त प्रगति की है।

४- दिगम्बर जैनका स्वतन्त्रता अंक—

सम्पादक-मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत।

दिगम्बर जैन अपने विशेषाङ्कोंके लिये प्रसिद्ध है। यह विशेषांक भारतकी स्वतन्त्रता-प्राप्तिके उपलक्ष्यमें हालमें प्रकट हुआ है। कवरके मुख-पृष्ठपर स्वाधीन भारत और राष्ट्रीय झंडेके चित्रोंके साथ पं० नेहरू, सरदार पटेल और राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादके सुन्दर चित्र हैं। तृतीय पृष्ठपर अहिंसाके पुजारी पूज्य वर्णी जी और महात्मा गांधीके भव्य चित्र हैं। लेख पठनीय हैं। कापड़ियाजीका प्रयत्न स्तुत्य है।

५- खण्डेलवाल जैन हितेच्छुका पुराणाङ्क—
सम्पादक और प्रकाशक— पं० नाथूलाल जैन साहित्यरत्न इन्दौर, सहसम्पादक पं० भंवरलाल जैन न्यायतीर्थ जयपुर।

यह उक्त पत्रका विशेषाङ्क अभी हालमें प्रकाशित हुआ है। इसमें पुराण और पुराणके विविध भागों, प्रयोजनों आदि पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। स्व० पं० टोडरमल्लजी, जैनेन्द्रजी, नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य, बा० अजितप्रसादजी एडवोकेट, पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, बा० कामताप्रसादजी, पं० चैनसुखदासजी आदि अनेक लेखकोंकी सुन्दर और महत्वपूर्ण रचनाएँ इसमें निबद्ध हैं। अङ्क पठनीय व सराहनीय है।

६- तत्त्वार्थसूत्र—(सार्थ)सम्पादक पं लालबहादुर शास्त्री, प्रकाशक भा० दि० जैन सङ्घ मथुरा। मू०।।–)

यह संस्करण पिछले सब संस्करणोंसे अपनी अन्य विशेषता रखता है। वह यह कि पाठ करनेवाले स्त्री-पुरुषों और पाठशालाओंके बालक बालिकाओंके लिये धारणयोग्य मूलार्थ इसमें दिया गया है, जिससे उन्हें इसको पढ़ते पढ़ते ही उसका भावज्ञान होजावेगा भाषा बहुत सरल और चालू है।

पुस्तक-समाप्तिके अन्तमें जो 'अक्षरमात्रपदस्वरहीनं' 'दशाध्याये परिच्छिन्ने' 'तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं' ये तीन पद्य मूलमें ही मिला दिये गये हैं उनसे पाठकोंको यह भ्रम हो सकता है कि वे तीनों पद्य सूत्रकारके ही बनाये हुये हैं; परन्तु ऐसा नहीं है पहला पद्य ही सूत्रकारका है, अन्य दो पद्य तो पीछेसे सूत्रका माहात्म्य प्रदर्शित करनेके लिये किन्हीं टीकाकारादि विद्वानों द्वारा जोड़ दिये गये हैं। अतः उन्हें मूलमें नहीं मिलाना था। हां उन्हें मूलसे पृथक् 'तत्त्वार्थसूत्रका माहात्म्य' शीर्षक देकर उसके नीचे दिया जा सकता था। सूत्रकारका संक्षिप्त जीवन-परिचय भी रहता तो और भी अच्छा था। फिर भी प्रस्तुत संस्करण जिस उद्देश्यकी पूर्तिकेलिये प्रकट किया गया है उसकी निश्चयही इससे पूर्ति होती है। ऐसा संस्करण निकालने के लिये सम्पादक और प्रकाशक दोनों धन्यवादाह हैं।

—दरबारीलाल कोठिया

मुख्तार साहबकी ७१वीं वर्षगांठका दान

वीर-सेवा-मन्दिरके संस्थापक व अधिष्ठाता श्रीमान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपनी ७१ वीं वर्षगांठके अवसरपर गत मंगसिर सुदि ११ ७५५) रु० का जो दान निकाला है और जिसे उन्होंने समान रूप से वितरित किया है वह जिन ५१ संस्थाओं आदिको दिया गया है उनके नामादि इस प्रकार हैं—

श्रीसम्मेदशिखर, राजगृह, पावापुर, गिरनार शत्रुञ्जय, सोनागिर, कुन्थलगिरि, गजपंथा, हस्तिनापुर द्रोणगिरि, रेशिंदेगिरि, महावीरजी, पञ्चायती जैन-मन्दिर सरसावा।

अनेकान्त, आत्मधर्म, सन्मति, वीर, वीरवाणी [illegible], जैन सन्देश, जैनगजट (अंग्रेजी) खण्डेल-[illegible], जैनहितेच्छु, जैन, जैनमहिलादर्श।

वीर सेवामन्दिर, जैन कन्यापाठशाला सरसावा, जैनगुरुकुल सहारनपुर, जैनखैराती शफाखाना सहारनपुर, जैनकालिज सहारनपुर, स्याद्वाद महाविद्यालय काशी, दि० जैनसङ्घ मथुरा, ऋ० ब्रह्मचर्याश्रम मथुरा, सत्तर्क जैनसंस्कृत विद्यालय सागर, श्रीकुन्दकुन्द जैन हाईस्कूल खतौली, जैनबालाविश्राम आरा. जैन अनाथाश्रम देहली नमि जैन औषधालय देहली, जैन-मित्र मण्डल देहली. दिगम्बरजैन परिषद देहली, दि० जैन विद्वत्परिषद् बीना, जैनऔषधालय बड़नगर, जैनकालिज बड़ौत, जैनसिद्धांतभवन आरा, महावीर जैनगुरुकुल कारञ्जा, दि० जैन महासभा देहली, जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बई, सत्यसमाज वर्धा, जैन-गुरुकुल ब्यावर, वीरविद्यालय पपौरा, परिषद् जैन-परीक्षा बोर्ड देहली (किसी भी परीक्षामें प्रथम आने वाले हरिजन या मुसलमानको पारितोषक), अतिथि सेवासमिति सोनगढ़।

—दरबारीलाल कोठिया

Regd. No. A-731.

भारतकी महाविभूतिका दुःसह वियोग !

भारतकी जिस महाविभूति महात्मा मोहनदास कर्मचन्दजी गान्धीके आकस्मिक निधन-समाचारोंसे सारा विश्व एक दम व्याप्त हो गया है, सर्वत्र दुःखकी लहर विद्युद्वेगसे फैल गई है, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है—शोक छाया हुआ है—और विदेशों तकमें जिस अघटित-घटनाको महा आश्चर्यकी दृष्टिसे देखा जा रहा है तथा उसपर शोक मनाया जा रहा है, उस दुःखप्रद दुःसमाचार को अनेकान्तमें कैसे प्रकट किया जाय, यह कुछ समझमें नहीं आता ! इस दुःसह वियोगके कारण हृदय दुःखसे परिपूर्ण है, लेखनी कांप रही है और इसलिये कुछ भी ठीक लिखते नहीं बनता बुद्धि इस बातके समझनेमें हैरान और परेशान है कि जो महात्मा दिन-रात अविश्रान्तरूपसे भारतकीही नहीं किन्तु विश्वकी निःस्वार्थ भावसे सेवा कर रहा हो, सदा ही मानव-समाजकी उन्नतिके लिये प्रयत्नशील हो, हृदयमें किसीके भी प्रति द्वेषभाव न रखता हो, एकनिष्ठासे अहिंसा और सत्यका पुजारी हो; अहिंसाकी अमोघ-शक्तिसे, बिना रक्तपातके ही जिसने भारतको स्वराज्य दिलाया हो और जिसकी सारी शक्तियां उस साम्प्रदायिक विषको लोक-हृदयोंसे निकालनेमें लगी हों जो समाजको मूर्छित पतित और मरणोन्मुख किये हुये है, उस महापुरुषको मार डालनेका विचार किसी मानव हृदयमें कैसे उत्पन्न हुआ ? कैसे उस लोकपूज्य लोकोत्तर परोपकारकी मूर्तिको तोड़नेके लिये किसी सजीव प्राणी का कदम आगे बढ़ा ? और कैसे ३० जनवरीकी सन्ध्याके समय पांच बजकर पांच मिनिटपर ईश-प्रार्थनाके लिये जाते हुए उस धर्मप्राण निःशस्त्र निरपराध वृद्ध महात्मापर तीनबार गोली चलानेके लिये किसी युवकका हाथ उठा !!! मालूम नहीं वह युवक कितना निष्ठुर, कितना कठोर, कितना निर्दय और कितना अधिक मानवतासे शून्य अथवा अमानुषिक हृदयको लिये हुए होगा, जो ऐसा घोर पापकर्म करनेमें प्रवृत्त हुआ है, जिसने सारे मानव-समाजको उसके नित्यके प्रवचनों सदुपदेशों सलाह-मशविरों और सक्रिय सहयोगोंसे होने वाले लाभोंसे एकदम वंचित कर दिया है। और इसलिये जिसे मानवसमाजका बहुत बड़ा हितशत्रु समझना चाहिये। गांधीजीने उस मराठा युवकका—जिसका नाम नाथूलाल विनायक गोडसे बतलाया जाता है कोई बिगाड़ नहीं किया, कोई अपराध नहीं किया और न उसके प्रति कोई दुर्व्यवहार ही किया है, फिरभी वह उनके प्रति ऐसा अमानुषिक कृत्य करनेमें प्रवृत्त हुआ अथवा मजबूर हुआ। जरूर इसके पीछे—पुश्तपर कोई भारी षड्यन्त्र है—कुछ ऐसे लोगोंकी बहुत बड़ी साजिश है जो सारे राजतन्त्रको ही एकदम बदलकर स्वयं सत्तारूढ होना चाहते हैं और इसलिये जो गान्धीजीको अपने मार्गका प्रधान कण्टक समझ रहे थे।

इस हृदयविदारक दुर्घटनासे भविष्य बड़ा ही भयंकर प्रतीत हो रहा है। अतः शासनारूढ़ नेताओं को शीघ्र ही षड्यन्त्रका पता लगाते हुए अब आगे बहुतही सतर्क एवं सावधान रहनेकी जरूरत है और बड़े प्रयत्नके साथ गांधीजीके उस मिशनको पूरा करनेकी आवश्यकता है जिसे वे अभी अधूरा छोड़ गये हैं। गांधी जी तो भारतके हितके लिये अन्तमें अपना खून तक देकर अमर हो गये। अब यह उनके अनुयायियोंका परम कर्तव्य है कि वे उनके मिशनको सब प्रकारसे सफल बनावें। इसीमें भारतका हित है और यही महात्माजीका वास्तविक अर्थोंमें अमर स्मारक होगा।

—सम्पादक

मु० प्रका० पं० परमानन्दशास्त्री भारतीयज्ञानपीठ काशीके लिये अजितकुमार द्वारा अकलङ्कप्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवा-मन्दिर, सरसावा

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

सम्पादक-मण्डल

वर्ष ९ किरण २

लेखोंपर पारितोषिक

'अनेकान्त' के इस पूरे वर्षमें प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ लेखोंपर डेढ़सो १५०), सौ १००) और पचास ५०) का पारितोषिक दिया जायगा। इस पारितोषिक-स्पर्धामें सम्पादक, व्यवस्थापक और प्रकाशक नहीं रहेंगे। बाहरके विद्वानोंके लेखोंपर ही यह पारितोषिक दिया जायेगा। लेखोंकी जांच और तत्सम्बन्धी परितोषिकका निर्णय 'अनेकान्त' का सम्पादक-मण्डल करेगा।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

विषय-सूची

श्री भारत जैन महामण्डलका २८ वां वार्षिक अधिवेशन ब्यावर (राजपूताना) में ता० २७, २८, २९ मार्च सन् १९४८ को श्रीमान् सेठ अमृतलालजी जैन सम्पादक 'जन्मभूमि' बम्बईके सभापतित्वमें होगा। इस अधिवेशनमें समाजके हितके कई प्रस्तावों पर विचार किया जावेगा। अतएव आपसे निवेदन है कि इस शुभ अवसरपर पधारनेकी कृपा करें, तथा समाजका हित किन किन बातोंमें है इसका लेख, तथा निबन्ध व प्रस्ताव वर्धा भेजें ।

निवेदक—
चिरञ्जीलाल बड़जात्या
सहायकमन्त्री, श्री भारत जैन
महामण्डल, वर्धा

प्राचीन मूर्तियां—

अलवर शहरमें मोहोला जतीकी बगीचीमें (पूर्जन विहारके समीप) एक महाजनके मकानकी नींव खुदते समय दक्षिणकी ओर जिधर कबरिस्तान है ता० १९-२-४८ की दस बजे सुबह चार मूर्तियां जमीनसे ४.५ फुटकी गहराईमें निकलीं। ये जैन प्रतिमा हैं और इनपर स्थानीय जैनसमाजने अपना अधिकार कर लिया है। इन चारों मूर्तियोंमेंसे ३ प्रतिमायें खण्डित हैं जिनमेंसे एकपर जो लेख है उससे प्रकट होता है कि वह भगवान पार्श्वनाथकी है और वह वीर सं० १३०२में प्रतिष्ठित की गई थी। शेष दो खंडित मूर्तियों पर कोई चिह्न नहीं है इसलिये उनके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे कुछ नहीं कहा जासकता कि वे कबकी निर्माण की हुई हैं। चौथी प्रतिमा भगवान ऋषभदेवकी २ फुट ऊंची है। इसपर चिह्न स्पष्ट है। यह चौथे कालकी जान पड़ती है। संगमूसाकी बनी हुई है। यह विशाल होनेके अलावा बहुत सुन्दर अनुपम चित्ताकर्षक है। इसे देखनेको जैन तथा अजैन दर्शक सहस्रोंकी संख्यामें नित्यप्रति आरहे हैं ऐसा अनुमान है कि कबरिस्तानके नीचे कभी प्राचीन जैनमन्दिर था। खुदाईका काम जारी है।

स्थानीय जैनसमाजने अस्थाईरूपसे इन प्रतिमाओंको निकट ही विराजमान कर दिया है।

—जैनसमाज, अलवर

ॐ अर्हम्

वर्ष ६ किरण २

वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
माघ, वीरनिर्वाण-संवत् २४७३, विक्रम-संवत् २००४

फरवरी १९४८

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

युक्त्यनुशासन

मद्याङ्गवद्भूत-समागमे ज्ञः शक्त्यन्तर-व्यक्तिरदैव-सृष्टिः ।
इत्यात्म-शिश्नोदर-पुष्टि-तुष्टैर्निर्ह्री-भयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

'जिस प्रकार मद्याङ्गोंके—मद्यके अङ्गभूत पिष्टोदक, गुड, धातकी आदिके समागम (समुदाय) पर मदशक्तिकी उत्पत्ति अथवा आविर्भूति होती है उसी तरह भूतोंके—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तत्त्वोंके—समागमपर चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है—वह कोई जुदा तत्त्व नहीं है, उन्हींका सुख-दुःख हर्ष-विषाद-विवर्त्तात्मक स्वाभाविक परिणामविशेष है। और यह सब शक्तिविशेषकी व्यक्ति है, कोई दैव-सृष्टि नहीं है। इस प्रकार यह जिनका—कार्यवादी अविद्धकर्णादि तथा अभिव्यक्तिवादी पुरन्दरादि चार्वाकोंका—सिद्धान्त है उन अपने शिश्न (लिङ्ग) तथा उदरकी पुष्टिमें ही सन्तुष्ट रहनेवाले निर्लज्जों तथा निर्भयोंके द्वारा हा ! कोमल-बुद्धि—भोले मनुष्य—ठगे गये हैं!!'

व्याख्या—यहां स्तुतिकार स्वामी समन्तभद्रने उन चार्वाकोंकी प्रवृत्तिपर भारी खेद व्यक्त किया है जो अपने लिङ्ग तथा उदरकी पुष्टिमें ही सन्तुष्ट रहते हैं—उसीको सब कुछ समझते हैं; 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' यह जिनका प्रमुख सिद्धान्त है; जो मांस खाने, मदिरा पीने तथा चाहे जिससे—माता, बहिन, पुत्रीसे

भी—कामसेवन (भोग) करनेमें कोई दोष नहीं देखते; जिनकी दृष्टिमें पुण्य-पाप और उनके कारण शुभ-अशुभ कर्म कोई चीज नहीं; जो परलोकको नहीं मानते, जीवको भी नहीं मानते और अपरिपक्वबुद्धि भोले जीवोंको यह कह कर ठगते हैं कि—'जाननेवाला जीव कोई जुदा पदार्थ नहीं है, पृथ्वी जल, अग्नि और वायु ये चार मूल तत्त्व अथवा भूत पदार्थ हैं, इनके संयोगसे शरीर-इन्द्रिय तथा विषय-संज्ञाकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है और इन शरीर-इन्द्रिय-विषयसंज्ञासे चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है। इस तरह चारों भूत चैतन्यका परम्परा कारण हैं और शरीर, इन्द्रिय तथा विषयसंज्ञा ये तीनों एक साथ उसके साक्षात् कारण हैं। यह चैतन्य गर्भसे मरण-पर्यन्त रहता है और उन पृथ्वी आदि चारों भूतोंका उसी प्रकार शक्तिविशेष है जिस प्रकार कि मद्यके अङ्गरूप पदार्थों (आटा मिला जल, गुड़ और धातकी आदि) का शक्तिविशेष मद (नशा) है। और जिस प्रकार मदको उत्पन्न करनेवाले शक्तिविशेषकी व्यक्ति कोई दैवकृत-सृष्टि नहीं देखी जाती बल्कि मद्यके अङ्गभूत असाधारण और साधारण पदार्थोंका समागम होनेपर स्वभावसे ही वह होती है उसी प्रकार ज्ञानके हेतुभूत शक्तिविशेषकी व्यक्ति भी किसी दैवसृष्टिका परिणाम नहीं है बल्कि ज्ञानके कारण जो असाधारण और साधारण भूत (पदार्थ) हैं उनके समागमपर स्वभावसे ही होती है। अथवा हरीतकी (हरड़) आदिमें जिस प्रकार विरेचन (जुलाब) की शक्ति स्वाभाविकी है—किसी देवताको प्राप्त होकर हरीतकी विरेचन नहीं करती है—उसी प्रकार इन चारों भूतोंमें भी चैतन्यशक्ति स्वाभाविकी है। हरीतकी यदि कभी और किसीको विरेचन नहीं करती है तो उसका कारण या तो हरीतकी आदि योगके पुराना हो जानेके कारण उसकी शक्तिका जीर्ण-शीर्ण हो जाना होता है और या उपयोग करनेवालेकी शक्तिविशेषकी अप्रतीति उसका कारण होती है। यही बात चारों भूतोंका समागम होनेपर भी कभी और कहीं चैतन्यशक्तिकी अभिव्यक्ति न होनेके विषयमें समझना चाहिये। इस तरह जब चैतन्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं और चारों भूतोंकी शक्तिविशेषके रूपमें जिस चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है वह मरणपर्यन्त ही रहता है—शरीरके साथ उसकी भी समाप्ति हो जाती है—तब परलोकमें जानेवाला कोई नहीं बनता। परलोकीके अभावमें परलोकका भी अभाव ठहरता है, जिसके विषयमें नरकादिका भय दिखलाया जाता तथा स्वर्गादिकका प्रलोभन दिया जाता है। और दैव (भाग्य) का अभाव होनेसे पुण्य-पाप कर्म तथा उनके साधन शुभ-अशुभ अनुष्ठान कोई चीज नहीं रहते—सब व्यर्थ ठहरते हैं। और इस लिये लोक-परलोकके भय तथा लज्जाको छोड़कर यथेष्ट रूपमें प्रवर्तना चाहिये—जो जीमें आवे वह करना तथा खाना-पीना चाहिये। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिये कि 'तपश्चरण तो नाना प्रकारकी कोरी यातनाएँ हैं, संयम भोगोंका वञ्चक है और अग्निहोत्र तथा पूजादिक कर्म बच्चोंके खेल हैं ※—इन सबमें कुछ भी नहीं धरा है।'

इस प्रकारके ठगवचनों-द्वारा जो लोग भोले जीवोंको ठगते हैं—पाप और लोकके भयको हृदयोंसे निकालकर तथा लोक-लाजको भी उठाकर उनकी पापमें निरंकुश प्रवृत्ति कराते हैं, ऐसे लोगोंको आचार्यमहोदयने जो 'निर्भय' और 'निलज्ज' कहा है वह ठीक ही है। ऐसे लोग विवेक-शून्य होकर स्वयं विषयोंमें अन्धे हुए दूसरोंको भी उन पापोंमें फँसाते हैं, उनका अधःपतन करते हैं और उसमें आनन्द मनाते हैं, जो कि एक बहुत ही निकृष्ट प्रवृत्ति है।

यहां भोले जीवोंके ठगाये जानेकी बात कहकर आचार्य-महोदयने प्रकारान्तरसे यह भी सूचित किया है कि जो प्रौढ बुद्धिके धारक विचारवान् मनुष्य हैं वे ऐसे ठग-वचनोंके द्वारा कभी ठगाये नहीं जा सकते। वे जानते हैं कि परमार्थसे जो अनादि निधन उपयोग लक्षण चैतन्य स्वरूप आत्मा है वह प्रमाण

※ "तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चकः। अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते॥"

से प्रसिद्ध है और पृथिव्यादि भूतोंके समागमपर चैतन्यका सर्वथा उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होना व्यवस्था-पित नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीराकार-परिणत पृथिव्यादि भूतोंके सङ्गत, अविकल और अनुपहत वीर्य होनेपर भी जिस चैतन्यशक्तिके वे अभिव्यञ्जक कहे जाते हैं उसे या तो पहलेसे सत् कहना होगा या असत् अथवा उभयरूप। इन तीन विकल्पोंके सिवाय दूसरी कोई गति नहीं है। यदि अभिव्यक्त होने-वाली चैतन्यशक्तिको पहलेसे सत्रूप (विद्यमान) माना जायगा तो सर्वदा सत्रूप शक्तिकी ही अभिव्यक्ति सिद्ध होनेसे चैतन्यशक्तिके अनादित्व और अनन्तत्वकी सिद्धि ठहरेगी। और उसके लिये यह अनुमान सुघटित होगा 'कि— चैतन्यशक्ति कथंचित् नित्य है, क्योंकि वह सत्रूप और अकारण है, जैसे कि पृथिवी आदि भूतसामान्य।' इस अनुमानमें सदकारणत्व हेतु व्यभिचारादि दोषोंसे रहित होनेके कारण समीचीन है और इसलिये चैतन्यशक्तिको अनादि-अनन्त अथवा कथञ्चित् नित्य सिद्ध करनेमें समर्थ है।

यदि यह कहा जाय कि पिष्टोदकादि मद्यांगोंसे अभिव्यक्त होनेवाली मदशक्ति पहलेसे सत्रूप होते हुए भी नित्य नहीं मानी जाती और इसलिये उस सत् तथा अकारणरूप मदशक्तिके साथ हेतुका विरोध है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वह मदशक्ति भी कथञ्चिन्नित्य है और उसका कारण यह है कि चेतनद्रव्यके ही मदशक्तिका स्वभावपना है, सर्वथा अचेतनद्रव्योंमें मदशक्तिका होना असम्भव है; इसीसे द्रव्यमन तथा द्रव्ये-न्द्रियोंके, जो कि अचेतन हैं, मदशक्ति नहीं बन सकती—भावमन और भावेन्द्रियोंके ही, जो कि चेतनात्मक हैं, मदशक्तिकी सम्भावना है। यदि अचेतनद्रव्य भी मदशक्तिको प्राप्त होवे तो मद्यके भाजनों अथवा शराब की बोतलोंको भी मद अर्थात् नशा होना चाहिये; और उनकी भी चेष्टा शराबियों जैसी होनी चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुत: चेतनद्रव्यमें मदशक्तिकी अभिव्यक्तिका बाह्य कारण मद्यादिक और अन्तरङ्ग कारण मोहनीय कर्मका उदय है—मोहनीयकर्मके उदय बिना बाह्यमें मद्यादिका संयोग होते हुए भी मदशक्तिकी अभि-व्यक्ति नहीं हो सकती। चूनांचे मुक्तात्माओंमें दोनों कारणोंका अभाव होनेसे मदशक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं बनती। और इसलिये मदशक्तिके द्वारा उक्त सदकारणत्व हेतुमें व्यभिचार दोष घटित नहीं हो सकता, वह चैतन्यशक्तिका नित्यत्व सिद्ध करनेमें समर्थ है। चैतन्यशक्तिका नित्यत्व सिद्ध होनेपर परलोकी और परलोकादि सब सुघटित होते हैं। जो लोग परलोकीको नहीं मानते उन्हें यह नहीं कहना चाहिए कि 'पहलेसे सतरूपमें विद्यमान चैतन्यशक्ति अभिव्यक्त होती है।'

यदि यह कहा जाय कि अविद्यमान चैतन्यशक्ति अभिव्यक्त होती है तो यह प्रतीतिके विरुद्ध है, क्योंकि जो सर्वथा असत् हो ऐसी किसी भी चीजकी अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। और यदि यह कहा जाय कि कथञ्चित् सत्रूप तथा कथंचित् असत्रूप शक्ति ही अभिव्यक्त होती है तो इससे परमतकी—स्याद्वादकी—सिद्धि होती है, क्योंकि स्याद्वादियोंको उस चैतन्यशक्तिकी कायाकार-परिणत-पुद्गलोंके द्वारा अभिव्यक्ति अभीष्ट है जो द्रव्यदृष्टिसे सत्रूप होते हुए भी पर्यायदृष्टिसे असत् बनी हुई है। और इसलिये सर्वथा चैतन्य की अभिव्यक्ति प्रमाण-बाधित है, जो उसका जैसे तैसे वंचक वचनोंद्वारा प्रतिपादन करते हैं उन चार्वाकोंके द्वारा सुकुमारबुद्धि मनुष्य नि:सन्देह ठगाये जाते हैं।

इसके सिवाय जिन चार्वाकोंने चैतन्यशक्तिको भूतसमागमका कार्य माना है उनके यहां सर्व चैतन्य शक्तियोंमें अविशेषका प्रसङ्ग उपस्थित होता है—कोई प्रकारका विशेष न रहनेसे प्रत्येक प्राणीमें बुद्धि आदिका विशेष (भेद) नहीं बनता। और विशेष पाया जाता है अत: उनकी उक्त मान्यता मिथ्या है। इसी बातको अगली कारिकामें व्यक्त करते हुए आचार्य महोदय कहते हैं—

दृष्टेऽविशिष्टे जननादि-हेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम् ।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा! प्रपातः ॥३६॥

'जब जननादि हेतु— चैतन्यकी उत्पत्ति तथा अभिव्यक्तिका कारण पृथिवी आदि भूतोंका समुदाय अविशिष्ट देखा जाता है— उसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती और दैवसृष्टि (भाग्यनिर्माणादि)को अस्वीकार किया जाता है— तब इन (चार्वाकों) के प्राणि प्राणिके प्रति क्या विशेषता बन सकती है ? — कारणमें विशिष्टताके न होनेसे भूतसमागमकी और तज्जन्य अथवा तदभिव्यक्त चैतन्यकी कोई भी विशिष्टता नहीं बन सकती; तब इस दृश्यमान बुद्धयादि चैतन्यके विशेषको किस आधारपर सिद्ध किया जायगा ? कोई भी आधार उसके लिये नहीं बनता।

(इसपर) यदि उस विशिष्टताकी सिद्धि स्वभावसे ही मानी जाय तो फिर चारों भूतोंसे भिन्न पाँचवें आत्मतत्वकी सिद्धि स्वभावसे क्यों नहीं मानी जाय ?— उसमें क्या बाधा आती है और इसे न मान कर 'भूतोंका कार्य चैतन्य' माननेसे क्या नतीजा, जो किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता ? क्योंकि यदि कायाकार-परिणत भूतोंका कार्य होनेसे चैतन्यकी स्वभावसे सिद्धि है तो यह प्रश्न पैदा होता है कि पृथ्वी आदि भूत उस चैतन्यके उपादान कारण हैं या सहकारी कारण ? यदि उन्हें उपादान कारण माना जाय तो चैतन्यके भूतान्वित होनेका प्रसंग आता है— अर्थात् जिस प्रकार सुवर्णके उपादान होनेपर मुकट, कुंडलादिक पर्यायोंमें सुवर्णका अन्वय (वंश)चलता है तथा पृथ्वी आदिके उपादान होनेपर शरीरमें पृथ्वी आदिका अन्वय चलता है उसी प्रकार भूतचतुष्टयके उपादान होनेपर चैतन्यमें भूतचतुष्टयका अन्वय चलना चाहिए— उन भूतोंका लक्षण उसमें पाया जाना चाहिये। क्योंकि उपादान द्रव्य वही कहलाता है जो त्यक्ताऽत्यक्त-आत्मरूप हो, पूर्वाऽपूर्वके साथ वर्तमान हो और त्रिकालवर्ती जिसका विषय हो ❀। परन्तु भूतसमुदाय ऐसा नहीं देखा जाता कि जो अपने पहले अचेतनाकारको त्याग करके चेतनाकारको ग्रहण करता हुआ भूतोंके धारण-ईरण-द्रव-उष्णतालक्षण स्वभावसे अन्वित (युक्त) हो। क्योंकि चैतन्य धारणादि भूतस्वभावसे रहित जाननेमें आता है और कोई भी पदार्थ अत्यन्त विजातीय कार्य करता हुआ प्रतीत नहीं होता। भूतोंका धारणादि-स्वभाव और चैतन्य (जीव)का ज्ञान-दर्शनोपयोग-लक्षण दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण एवं विजातीय हैं। अतः अचेतनात्मक भूतचतुष्टय अत्यन्त विजातीय चैतन्यका उपादान कारण नहीं बन सकता दोनोंमें उपादानोपादेयभाव संभव नहीं। और यदि भूतचतुष्टयको चैतन्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण माना जाय तो फिर उपादान कारण कोई और बतलाना होगा; क्योंकि बिना उपादानके कोई भी कार्य संभव नहीं। जब दूसरा कोई उपादान कारण नहीं और उपादान तथा सहकारी कारणसे भिन्न तीसरा भी कोई कारण ऐसा नहीं जिससे भूतचतुष्टयको चैतन्यका जनक स्वीकार किया जा सके, तब चैतन्यकी स्वभावसे ही भूतविशेषकी तरह तत्त्वान्तरके रूपमें सिद्धि होती है। इस तत्वान्तर-सिद्धिको न माननेवाले जो अतावक हैं— दर्शनमोहके उदयसे आकुलित चित्त हुए आप वीर जिनेन्द्रके मतसे बाह्य हैं— उन (जीविकामात्र तन्त्र-विचारकों)का भी हाय ! यह कैसा प्रपतन हुआ है, जो उन्हें संसार समुद्रके आवर्तमें गिराने वाला है !!'

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचार-पथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टि-बाह्या बत विभ्रमन्ते ॥३७॥

❀ १ "त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वाऽपूर्वेण वर्तते । कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥"

'स्वभावसे ही जगतकी स्वच्छन्द-वृत्ति--यथेच्छ प्रवृत्ति- है इसलिये जगतके ऊँचे दर्जेके अनाचार-मार्गोंमें— हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह नामके पाँच महापापोंमें— भी कोई दोष नहीं, ऐसी घोषणा करके— उनके अनुष्ठान जैसी सदोष प्रवृत्तिको निर्दोष बतलाकर— जो लोग दीक्षाके समकाल ही मुक्तिको मानकर अभिमानी हो रहे हैं —सहजग्राह्य हृदयमें मन्त्रविशेषारोपणके समय ही मुक्ति हो जाने (मुक्तिका सर्टिफिकेट मिल जाने)का जिन्हें अभिमान है— अथवा दीक्षाका निरास जैसे बने वैसे (दीक्षानुष्ठानका निवारण करनेकेलिये) मुक्तिको जो (मीमांसक) अमान्य कर रहे हैं और मांसभक्षण, मदिरापान तथा मैथुनसेवन जैसे अनाचारके मार्गोंके विषयमें स्वभावसे ही जगतकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको हेतु बताकर यह घोषणा कर रहे हैं कि उसमें कोई दोष नहीं है + वे सब (हे वीर जिन!) आपकी दृष्टिसे— बन्ध, मोक्ष और तत्कारण-निश्चयके निबन्धनस्वरूप आपके स्याद्वाददर्शनसे—बाह्य हैं और (सर्वथा एकान्तवादी होनेसे) केवल विभ्रममें पड़े हुए हैं— तत्त्वके निश्चयको प्राप्त नहीं होते— यह बड़े ही खेद अथवा कष्टका विषय है !!'

व्याख्या— इस कारिकामें 'दीक्षासममुक्तिमानाः' पद दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। एक अर्थमें उन मान्त्रिकों (मन्त्रवादियों) का ग्रहण किया गया है जो मन्त्र-दीक्षाके समकाल ही अपनेको मुक्त हुआ समझकर अभिमानी बने रहते हैं, अपनी दीक्षाको यम-नियम रहित होते हुए भी अनाचारकी क्षयकारिणी समर्थ-दीक्षा मानते हैं और इस लिए बड़ेसे बड़ा अनाचार—हिंसादिक घोर पाप— करते हुए भी उसमें कोई दोष नहीं देखते—कहते हैं 'स्वभावसे ही यथेच्छ प्रवृत्ति होनेके कारण बड़ेसे बड़े अनाचारके मार्ग भी दोषके कारण नहीं होते और इसलिये उन्हें उनका आचरण करते हुए भी प्रसिद्ध जीवन्मुक्तिकी तरह कोई दोष नहीं लगता।' दूसरे अर्थमें उन मीमांसकोंका ग्रहण किया गया है जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न अनन्तज्ञानादिरूप मुक्तिका होना नहीं मानते, यम-नियमादिरूप दीक्षा भी नहीं मानते और स्वभावसे ही जगतके भूतों (प्राणियों) की स्वच्छन्द-प्रवृत्ति बतलाकर मांसभक्षण, मदिरापान और यथेच्छ मैथुनसेवन—जैसे अनाचारोंमें कोई दोष नहीं देखते। साथ ही वेद-विहित पशुवधादि ऊंचे दर्जेके अनाचार मार्गोंको भी निर्दोष बतलाते हैं, जबकि वेद-बाह्य ब्रह्महत्यादिको निर्दोष न बतलाकर सदोष ही घोषित करते हैं। ऐसे सब लोग वीर-जिनेन्द्र की दृष्टि अथवा उनके बतलाये हुए सन्मार्गसे बाह्य हैं, ठीक तत्त्वके निश्चयको प्राप्त न होनेके कारण सदोषको निर्दोष मानकर विभ्रममें पड़े हुए हैं और इसीलिये आचार्य महोदयने उनकी इन दूषित प्रवृत्तियोंपर खेद व्यक्त किया है और साथ ही यह सूचित किया है कि हिंसादिक महा अनाचारोंके जो मार्ग हैं वे सब सदोष हैं— उन्हें निर्दोष सिद्ध नहीं किया जा सकता, चाहे वे वेदादि किसी भी आगमविहित हों या अनागम-विहित हों।

+ १ "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।"

सद्विचार मणियां

१ जो अपनेको जानता है वह सबको जानता। जो अपनेको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता। —कुन्द कुन्द

२ हमारी इच्छाएँ जितनी कम हों, उतने ही हम देवताओंके समान हैं। —सुकरात

३ यह भी हो सकता है कि गरीबी पुण्यका फल हो और अमीरी पापका। —म० गांधी

४ कुशाग्रबुद्धि महान् कार्योंको प्रारम्भ करती है; पर परिश्रम उन्हें पूरा करता है। —एमर्सन

संजय वेलट्ठिपुत्त और स्याद्वाद

(लेखक—न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल जैन, कोठिया)

जैन दर्शनके स्याद्वाद सिद्धान्तको कितने ही विद्वान् ठीक तरहसे समझनेका प्रयत्न नहीं करते और धर्मकीर्ति एवं शङ्कराचार्यकी तरह उसके बारेमें भ्रान्त उल्लेख अथवा कथन कर जाते हैं, यह बड़े ही खेदका विषय है। काशी हिन्दूविश्वविद्यालयमें संस्कृत-पाली विभागके प्रोफेसर पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्यने सन् १९४६ में 'बौद्ध-दर्शन' नामका एक ग्रन्थ हिन्दीमें लिखकर प्रकाशित किया है, जिसपर उन्हें इक्कीससौ रुपयेका डालमियां-पुरस्कार भी मिला है। इसमें उन्होंने, बुद्धके समकालीन मत-प्रवर्तकोंके मतोंको देते हुए, संजय वेलट्ठिपुत्तके अनिश्चिततावाद मतको भी बौद्धोंके 'दीघनिकाय' (हिन्दी अ० पृ० २२) ग्रन्थसे उपस्थित किया है और अन्तमें यह निष्कर्ष निकाला है कि "यह अनेकान्तवाद प्रतीत होता है। सम्भवत: ऐसे ही आधारपर महावीरका स्याद्वाद प्रतिष्ठित किया गया था ※।"

इसी प्रकार दर्शन और हिन्दीके ख्यातिप्राप्त बौद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन अपने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में लिखते हैं +—

"आधुनिक जैन-दर्शनका आधार 'स्याद्वाद' है, जो मालूम होता है संजय वेलट्ठिपुत्तके चार अङ्गवाले अनेकान्तवादको (!) लेकर उसे सात अङ्गवाला किया गया है। संजयने तत्त्वों (=परलोक, देवता) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

(१) है?—नहीं कह सकता।

(२) नहीं है?—नहीं कह सकता।

(३) है भी नहीं भी?—नहीं कह सकता।

(४) न है और न नहीं है?—नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

(१) है?—हो सकता है (स्याद् अस्ति)

(२) नहीं है?—नहीं भी हो सकता (स्यान्नास्ति)

(३) है भी नहीं भी?—है भी और नहीं भी हो सकता है (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते (=वक्तव्य) हैं? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

(४) स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (=वक्तव्य) है?—नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।

(५) 'स्याद् अस्ति' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

(६) 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

(७) 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है? नहीं, 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है'।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छै भङ्गियाँ बनाई हैं, और उसके चौथे वाक्य "न है और न नहीं है" को छोड़कर 'स्याद्' भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भङ्ग तैयार कर अपनी सप्तभङ्गी पूरी की।

उपलभ्य सामग्रीसे मालूम होता है, कि संजय अनेकान्तवादका प्रयोग परलोक, देवता, कर्मफल,

※ १ देखो, बौद्धदर्शन पृ० ४०।

+ २ देखो, दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९६-९७।

मुक्तपुरुष जैसे — परोक्ष विषयोंपर करता था। जैन संजयकी युक्तिको प्रत्यक्ष वस्तुओंपर लागू करते हैं। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घटकी सत्ताके बारेमें यदि जैन-दर्शनसे प्रश्न पूछा जाय, तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

(१) घट यहां है ?—होसकता है (=स्यादस्ति)।

(२) घट यहां नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है (स्याद् नास्ति)।

(३) क्या घट यहां है भी और नहीं भी है ? — है भी और नहीं भी हो सकता है (=स्याद् अस्ति च नास्ति च)।

(४) 'हो सकता है' (=स्याद्) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, 'स्याद्' यह अ-वक्तव्य है।

(५) घट यहां 'हो सकता है' (=स्यादस्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, 'घट यहां हो सकता है' यह नहीं कहा जा सकता।

(६) घट यहां 'नहीं हो सकता है' (स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, 'घट यहां नहीं हो सकता' यह नहीं कहा जा सकता।

(७) घट यहां 'हो भी सकता है', नहीं भी हो सकता है', क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, 'घट यहां हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है' यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (=वाद)की स्थापना न करना, जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया, और उसकी चतुर्भंगी न्यायको सप्तभङ्गीमें परिणत कर दिया।"

मालूम होता है कि इन विद्वानोंने जैनदर्शनके स्याद्वाद-सिद्धान्तको निष्पक्ष होकर समझनेका प्रयत्न नहीं किया और अपनी परम्परासे जो जानकारी उन्हें मिली उसीके आधारपर उन्होंने उक्त कथन किया है। अच्छा होता, यदि वे किसी जैन विद्वान् अथवा दार्शनिक जैन ग्रन्थसे जैनदर्शनके स्याद्वादको समझकर उसपर कुछ लिखते। हमें आश्चर्य है कि दर्शनों और उनके इतिहासका अपनेको अधिकारी विद्वान् माननेवाला राहुलजी जैसा महापण्डित जैनदर्शन और उसके इतिहासको छिपाकर यह कैसे लिख गया कि "संजयके वादको ही संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया।" क्या वे यह मानते हैं कि जैनधर्म व जैनदर्शन और उनके माननेवाले जैन संजयके पहले नहीं थे ? यदि नहीं, तो उनका उक्त लिखना असम्बद्ध और भ्रान्त है। और यदि मानते हैं, तो उनकी यह बड़ी भारी ऐतिहासिक भूल है, जिसे स्वीकार करके उन्हें तुरन्त ही अपनी भूलका परिमार्जन करना चाहिये। यह अब सर्व विदित होगया है और प्राय: सभी निष्पक्ष ऐतिहासिक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानोंने स्वीकार भी कर लिया है कि जैन-धर्म व जैनदर्शनके प्रवर्त्तक भगवान् महावीर ही नहीं थे, अपितु उनसे पूर्व हो गये ऋषभदेव आदि २३ तीर्थङ्कर उनके प्रवर्त्तक हैं, जो विभिन्न समयोंमें हुए हैं और जिनमें पहले तीर्थंङ्कर ऋषभदेव, २२ वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि (कृष्णके समकालीन और उनके चचेरे-भाई) तथा २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तो ऐतिहासिक महापुरुष भी सिद्ध हो चुके हैं। अत: भगवान महावीरके समकालीन संजय और उसके अनुयायियोंके पूर्व जैनधर्म व जैनदर्शन और उनके माननेवाले जैन विद्यमान थे, और इसलिये उनके द्वारा संजयके वादको अपनानेका राहुलजीका आक्षेप सर्वथा निराधार और असंगत है। ऐसा ही एक भारी आक्षेप अपने बौद्ध ग्रन्थकारोंकी प्रशंसाकी धुनमें वे समग्र भारतीय विद्वानोंपर भी कर गये, जो अक्षम्य है। वे इसी 'दर्शन दिग्दर्शन' (पृष्ठ ४१८) में लिखते हैं—

"नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति,— भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामें पैदा हुए थे। उन्हींके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्राय: सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पड़ते हैं।"

राहुलजी जैसे कलमशूरोंको हरेक बातको और प्रत्येक पदवाक्यादिको नाप-जोख कर ही कहना और लिखना चाहिए।

अब सञ्जयका वाद क्या है और जैनोंका स्याद्वाद

क्या है ? तथा उक्त विद्वानोंका उक्त कथन क्या संगत एवं अभ्रान्त है ? इन बातोंपर संक्षेपमें प्रस्तुत लेखमें विचार किया जाता है।

संजय वेलट्ठिपुत्तका वाद (मत)—

भगवान महावीरके समकालमें अनेक मत-प्रवर्तक विद्यमान थे। उनमें निम्न छह मत-प्रवर्तक बहुत प्रसिद्ध और लोकमान्य थे—

१ अजितकेश कम्बल, २ मक्खलि गोशाल ३ पूरण काश्यप, ४ प्रक्रुध कात्यायन, ५ संजय वेलट्ठिपुत्त, और ६ गौतम बुद्ध।

इनमें अजितकेश कम्बल और मक्खलि गोशाल भौतिकवादी, पूरण काश्यप और प्रक्रुध कात्यायन नित्यतावादी, सञ्जय वेलट्ठिपुत्त अनिश्चिततावादी और गौतम बुद्ध क्षणिक अनात्मवादी थे।

प्रकृतमें हमे सञ्जयके मतको जानना है। अतः उनके मतको नीचे दिया जाता है। 'दीघनिकाय' में उनका मत इस प्रकार बतलाया है—

"यदि आप पूछें,— 'क्या परलोक है', तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि 'वह नहीं है'। मैं यह भी नहीं कहता कि 'वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं।' देवता (=औपपादिक प्राणी) हैं...। देवता नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं।...... अच्छे बुरे कर्मके फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं है। तथागत (=मुक्तपुरुष) मरनेके बाद होते हैं, नहीं होते हैं...... ?—यदि मुझसे ऐसा पूछें, तो मैं यदि ऐसा समझता होऊँ .... तो ऐसा आपको कहूं। मै ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता......।"

यह बौद्धोंद्वारा उल्लेखित संजयका मत है। इसमें पाठक देखेंगे कि संजय परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तपुरुष इन अतीन्द्रिय पदार्थोंके जाननेमें असमर्थ था और इसलिये उनके अस्तित्वादिके बारेमें वह कोई निश्चय नहीं कर सका। जब भी कोई इन पदार्थोंके बारेमें उससे प्रश्न करता था तब वह चतुष्कोटि विकल्पद्वारा यही कहता था कि 'मैं जानता होऊँ तो बतलाऊँ और इसलिये निश्चयसे कुछ भी नहीं कह सकता।' अतः यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि संजय अनिश्चिततावादी अथवा संशयवादी था और उसका मत अनिश्चिततावाद या संशयवादरूप था। राहुलजीने स्वयं भी लिखा है + कि "संजयका दर्शन जिस रूपमें हम तक पहुंचा है उससे तो उसके दर्शनका अभिप्राय है, मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममें डाला जाये, और वह कुछ निश्चय न कर भ्रान्त धारणाओंको अप्रत्यक्ष रूपसे पुष्ट करे।"

जैनदर्शनका स्याद्वाद और अनेकान्तवाद—

परन्तु जैनदर्शनका स्याद्वाद संजयके उक्त अनिश्चिततावाद अथवा संशयवादसे एकदम भिन्न और निर्णय-कोटिको लिये हुए है। दोनोंमें पूर्व-पश्चिम अथवा ३६ के अंको जैसा अन्तर है। जहां संजयका वाद अनिश्चयात्मक है वहां जैनदर्शनका स्याद्वाद निश्चयात्मक है। वह मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालता, बल्कि उसमें आभासित अथवा उपस्थित विरोधों व सन्देहोंको दूर कर वस्तु-तत्त्वका निर्णय करानेमें सक्षम होता है स्मरण रहे कि समग्र (प्रत्यक्ष और परोक्ष) वस्तु-तत्त्व अनेकधर्मात्मक है— उसमें अनेक (नाना) अन्त (धर्म-शक्ति-स्वभाव) पाये जाते हैं और इसलिये उसे अनेकान्तात्मक भी कहा जाता है। वस्तुतत्त्वकी यह अनेकान्तात्मकता निसर्गतः है, अप्राकृतिक नहीं। यही वस्तुमें अनेक धर्मोंका स्वीकार व प्रतिपादन जैनोंका अनेकान्तवाद है। संजयके वादको, जो अनिश्चिततावाद अथवा संशयवादके नामसे उल्लिखित होता है, अनेकान्तवाद कहना अथवा बतलाना किसी तरह भी उचित एवं सङ्गत नहीं है, क्योंकि संजयके वादमें एक भी सिद्धांत की स्थापना नहीं है; जैसाकि उसके उपरोक्त मत-प्रदर्शन और राहुलजीके पूर्वोक्त कथनसे स्पष्ट है। किन्तु अनेकान्तवादमें अस्तित्वादि सभी धर्मोंकी स्थापना

+ १ देखो, 'दर्शन-दिग्दर्शन' पृ० ४९२

और निश्चय है। जिस जिस अपेक्षासे वे धर्म उसमें व्यवस्थित एवं निश्चित हैं उन सबका निरूपक स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद व्यवस्थाप्य है तो स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक है। दूसरे शब्दोंमें अनेकान्तवाद वस्तु (वाच्य-प्रमेय) रूप है और स्याद्वाद निर्णायक वाचक-तत्त्वरूप है। वास्तवमें अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्वको ठीकठीक समझने-समझाने, प्रतिपादन करने-करानेके लिये ही स्याद्वादका आविष्कार किया गया है, जिसके प्ररूपक जैनोंके सभी (२४) तीर्थंकर हैं। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरको उसका प्ररूपण उत्तराधिकारके रूपमें २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथसे तथा भगवान पार्श्वनाथको कृष्णके समकालीन २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमिसे मिला था। इस तरह पूर्व पूर्व तीर्थंकरसे अग्रिम तीर्थंकरको परम्परया स्याद्वादका प्ररूपण प्राप्त हुआ था। इस युगके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं जो इस युगके आद्य स्याद्वाद-प्ररूपक हैं। महान जैन तार्किक समन्तभद्र + और अकलङ्कदेव ÷ जैसे प्रख्यात जैनाचार्योंने सभी तीर्थंकरों को स्पष्टतः स्याद्वादी—स्याद्वादप्रतिपादक बतलाया है और उस रूपसे उनका गुण-कीर्तन किया है। जैनोंकी यह अत्यन्त प्रामाणिक मान्यता है कि उनके हर एक तीर्थंकरका उपदेश 'स्याद्वादामृतगर्भ' होता है और वे 'स्याद्वादपुण्योदधि' होते हैं। अतः केवल भगवान महावीर ही स्याद्वादके प्रतिष्ठापक व प्रतिपादक नहीं हैं। स्याद्वाद जैनधर्मका मौलिक सिद्धान्त है और वह भगवान महावीरके पूर्ववर्ती ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक कालसे समागत है।

स्याद्वादका अर्थ और प्रयोग—

'स्याद्वाद' पद स्यात् और वाद इन दो शब्दोंसे बना है। 'स्यात्' अव्यय निपातशब्द है, क्रिया अथवा अन्य शब्द नहीं, जिसका अर्थ है कथञ्चित् किञ्चित्, किसी अपेक्षा, कोई एकदृष्टि, कोई एक धर्मकी विवक्षा-कोई एक ओर। और 'वाद' शब्दका अर्थ है मान्यता अथवा कथन। जो स्यात् (कथञ्चित्) का कथन करनेवाला अथवा 'स्यात्' को लेकर प्रतिपादन करनेवाला है वह स्याद्वाद है। अर्थात् जो सर्वथा एकान्तका त्यागकर अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका विधान करता है वह स्याद्वाद है। कथञ्चिद्वाद, अपेक्षावाद आदि इसीके दूसरे नाम हैं—इन नामोंसे भी उसीका बोध होता है। जैन तार्किकशिरोमणि स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसा और स्वयम्भूस्तोत्रमें यही कहा है—

> स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
> सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥
>
> —आप्तमीमांसा

> सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
> सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते ॥
> सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
> स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥
>
> —स्वयम्भूस्तोत्र

अतः 'स्यात्' शब्दको संशयार्थक, भ्रमार्थक अथवा अनिश्चयात्मक नहीं समझना चाहिये। वह अविवक्षित धर्मोंकी गौणता और विवक्षित धर्मकी प्रधानता-को सूचित करता हुआ विवक्षित हो रहे धर्मका विधान एवं निश्चय करानेवाला है। संजयके अनिश्चितता-वादकी तरह वह अनिर्णीति अथवा वस्तुतत्त्वकी सर्वथा अवाच्यताकी घोषणा नहीं करता। उसके द्वारा जैसा प्रतिपादन होता है वह समन्तभद्रके शब्दोंमें निम्न प्रकार है—

> कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
> तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥
> सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
> असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥
> क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः।
> अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥१६॥

अर्थात् जैनदर्शनमें समग्र वस्तुतत्त्व कथञ्चित् सत् ही है, कथंचित् असत् ही है तथा कथंचित् उभय

+ 'बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः। स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४॥" स्वयंभूस्तोत्रगत शंभवजिनस्तोत्र।

÷ २ "धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः। वृषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥" लघीयस्त्रय

ही है और कथंचित् अवाच्य ही है, सो यह सब नय-विवक्षासे है, सर्वथा नहीं ।

स्वरूपादि (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव इन) चारसे उसे कौन सत् ही नहीं मानेगा और पररूपादि (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव इन) चारसे कौन असत् ही नहीं मानेगा । यदि इस तरह उसे स्वीकार न किया जाय तो उसकी व्यवस्था नहीं हो सकती ।

क्रमसे अर्पित दोनों (सत् और असत्) की अपेक्षासे वह कथंचित् उभय ही है, एक साथ दोनों (सत् और असत्) को कह न सकनेसे अवाच्य ही है। इसी प्रकार अवक्तव्यके बादके अन्य तीन भङ्ग (सदवाच्य, असदवाच्य, और सदसदवाच्य) भी अपनी विवक्षाओंसे समझ लेना चाहिए ।

यही जैनदर्शनका सप्तभङ्गी न्याय है जो विरोधी-अविरोधी धर्मयुगलको लेकर प्रयुक्त किया जाता है और तत्तत् अपेक्षाओंसे वस्तु-धर्मोंका निरूपण करता है । स्याद्वाद एक विजयी योद्धा है और सप्तभङ्गी-न्याय उसका अस्त्र शस्त्रादि विजय-साधन है । अथवा यों कहिए कि वह एक स्वत: सिद्ध न्यायाधीश है और सप्तभंगी उसके निर्णयका कए साधन है । जैनदर्शन-के इन स्याद्वाद सप्तभङ्गीन्याय, अनेकान्तवाद आदिका विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन आप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, सन्मतिसूत्र अष्टशती, अष्टसहस्री, अनेकान्तजयपताका, स्याद्वादमञ्जरी आदि जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें समुपलब्ध है ।

संजयके अनिश्चिततावाद और जैनदर्शनके स्याद्वादमें अन्तर—

ऊपर राहुलजीने संजयकी चतुर्भङ्गी इस प्रकार बतलाई है—

(१) है ?—नहीं कह सकता ।
(२) नहीं है ?—नहीं कह सकता ।
(३) है भी नहीं भी ?—नहीं कह सकता ।
(४) न है और न नहीं है ?—नहीं कह सकता ।

संजयने सभी परोक्ष वस्तुओंके बारेमें 'नहीं कह सकता' जवाब दिया है और इसलिये उसे अनिश्चिततावादी कहा गया है ।

जैनोंकी जो सप्तभङ्गी है वह इस प्रकार है—

(१) वस्तु है ?—कथञ्चित् (अपनी द्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु है ही—स्यादस्त्येव घटादि वस्तु ।

(२) वस्तु नहीं है ?—कथञ्चित् (परद्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु नहीं ही है—स्यान्नास्त्येव घटादि वस्तु ।

(३) वस्तु है, नहीं (उभय) है ?—कथञ्चित् (क्रमसे अर्पित दोनों—स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु है, नहीं (उभय) ही है—स्यादस्ति नास्त्येव घटादि वस्तु ।

(४) वस्तु अवक्तव्य है ?—कथञ्चित् (एक साथ विवक्षित स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि दोनों अपेक्षाओंसे कही न जा सकनेसे) वस्तु अवक्तव्य ही है—स्यादवक्तव्यमेव घटादि वस्तु ।

(५) वस्तु 'है-अवक्तव्य है' ?—कथञ्चित् (स्वद्रव्यादिसे और एक साथ विवक्षित दोनों स्व पर-द्रव्यादिकी अपेक्षाओंसे कही न जा सकनेसे) वस्तु 'है-अवक्तव्य ही है'—स्यादस्त्यवक्तव्यमेव घटादि वस्तु ।

(६) वस्तु 'नहीं-अवक्तव्य है' ?—कथञ्चित् (परद्रव्यादिसे और एक साथ विवक्षित दोनों स्व-पर द्रव्यादिकी अपेक्षासे कही न जा सकनेसे) वस्तु नहीं-अवक्तव्य ही है'—स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव घटादि वस्तु ।

(७) वस्तु 'है-नहीं-अवक्तव्य है' ? कथञ्चित् (क्रमसे अर्पित स्व पर द्रव्यादिसे और एक साथ अर्पित स्व-परद्रव्यादिकी अपेक्षासे कही न जा सकनेसे) वस्तु 'है नहीं और अवक्तव्य ही है'—स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमेव घटादि वस्तु ।

जैनोंकी इस सप्तभङ्गीमें पहला, दूसरा और चौथा ये तीन भङ्ग तो मौलिक हैं और तीसरा, पांचवां, और छठा द्विसंयोगी तथा सातवां त्रिसंयोगी भङ्ग हैं और इस तरह अन्य चार भङ्ग मूलभूत तीन भङ्गोंके संयोगज भङ्ग हैं । जैसे नमक, मिर्च और खटाई इन तीनके संयोगज स्वाद चार ही बन सकते हैं—

नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई और नमक-मिर्च-खटाई—इनसे ज्यादा या कम नहीं। इन संयोगी चार स्वादोंमें मूल तीन स्वादोंको और मिला देनेसे कुल स्वाद सात ही बनते हैं। यही सप्तभङ्गोंकी बात है। वस्तुमें यों तो अनन्तधर्म हैं, परन्तु प्रत्येक धर्मको लेकर विधि-निषेधकी अपेक्षासे सात ही धर्म व्यवस्थित हैं—सत्वधर्म, असत्वधर्म, सत्वासत्वोभय, अवक्तव्यत्व, सत्वावक्तव्यत्व, असत्वावक्तव्यत्व और सत्वासत्वावक्तव्यत्व। इन सातसे न कम हैं और न ज्यादा। अत एव शङ्काकारोंको सात ही प्रकारके सन्देह, सात ही प्रकारकी जिज्ञासाएं, सात ही प्रकारके प्रश्न होते हैं और इसलिये उनके उत्तर वाक्य सात ही होते हैं, जिन्हें सप्तभङ्ग या सप्तभङ्गीके नामसे कहा जाता है। इस तरह जैनोंकी सप्तभङ्गी उपपत्तिपूर्ण ढङ्गसे सुव्यवस्थित और सुनिश्चित है। पर संजयकी उपर्युक्त चतुर्भङ्गीमें कोई भी उपपत्ति नहीं है। उसने चारों प्रश्नोंका जवाब 'नहीं कह सकता' में ही दिया है और जिसका कोई भी हेतु उपस्थित नहीं किया, और इसलिये वह उनके विषयमें अनिश्चित है।

राहुलजीने जो ऊपर जैनोंकी सप्तभङ्गी दिखाई है वह भ्रमपूर्ण है। हम पहले कह आये हैं कि जैनदर्शनमें 'स्याद्वाद'के अन्तर्गत 'स्यात्' शब्दका अर्थ 'हो सकता है' ऐसा सन्देह अथवा भ्रमरूप नहीं है। उसका तो कथञ्चित् (किसी एक अपेक्षासे) अर्थ है जो निर्णयरूप है। उदाहरणार्थ देवदत्तको लीजिये, वह पिता-पुत्रादि अनेक धर्मरूप है। यदि जैनदर्शनसे यह प्रश्न किया जाय कि क्या देवदत्त पिता है? तो जैनदर्शन स्याद्वाद द्वारा निम्न प्रकार उत्तर देगा—

(१) देवदत्त पिता है—अपने पुत्रकी अपेक्षासे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्ति'।

(२) देवदत्त पिता नहीं है—अपने पिता-मामा आदिकी अपेक्षासे—क्योंकि उनकी अपेक्षासे तो वह पुत्र, भानजा आदि है—'स्यात् देवदत्तः पिता नास्ति'।

(३) देवदत्त पिता है और नहीं है—अपने पुत्रकी अपेक्षा और अपने पिता-मामा आदिकी अपेक्षासे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्ति च नास्ति च'।

(४) देवदत्त अवक्तव्य है—एक साथ पिता-पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः अवक्तव्यः'।

(५) देवदत्त पिता 'है-अवक्तव्य है'—अपने पुत्रकी अपेक्षा तथा एक साथ पिता-पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्त्यवक्तव्यः'।

(६) देवदत्त 'पिता नहीं है-अवक्तव्य है'—अपने पिता मामा आदिकी अपेक्षा और एक साथ पिता पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः नास्त्यवक्तव्यः'।

(७) 'देवदत्त पिता' है और नहीं है तथा अवक्तव्य है'—क्रमसे विवक्षित पिता-पुत्रादि दोनोंकी अपेक्षासे और एक साथ विवक्षित पिता-पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्ति नास्ति चावक्तव्यः'।

यह ध्यान रहे कि जैनदर्शनमें प्रत्येक वाक्यमें उसके द्वारा प्रतिपाद्य धर्मका निश्चय करानेके लिये 'एव' कारका विधान अभिहित है जिसका प्रयोग नयविशारदोंके लिये यथेच्छ है—वे करें चाहे न करें। न करने पर भी उसका अध्यवसाय वे कर लेते हैं। राहुलजी जब 'स्यात्' शब्दके मूलार्थके समझनेमें ही भारी भूल कर गये तब स्याद्वादकी भंगियोंके मेल-जोल करनेमें भूलें कर ही सकते थे और उसीका परिणाम है कि जैनदर्शनके सप्तभंगोंका प्रदर्शन उन्होंने ठीक तरह नहीं किया। हमें आशा है कि वे तथा स्याद्वाद-के सम्बन्धमें भ्रान्त अन्य विद्वान् भी जैनदर्शनके स्याद्वाद और सप्तभंगीको ठीक तरहसे ही समझने और उल्लेख करनेका प्रयत्न करेंगे।

यदि संजयके दर्शन और चतुर्भंगीको ही जैन दर्शनमें अपनाया गया होता तो जैनदार्शनिक उसके दर्शनका कदापि आलोचन न करते। अष्टशती और अष्टसहस्रीमें अकलंकदेव तथा विद्यानन्दने इस दर्शनकी जैसी कुछ कड़ी आलोचना करके उसमें दोषों-का प्रदर्शन किया है वह देखते ही बनता है। यथा—

'तदेयस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि,

यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्त्विति कश्चित्, सोपि पापीयान्। तथा हि सद्भावेतराभ्यामनभिलापे वस्तुनः, केवलं मूकत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात्। न हि सर्वात्मनानभिलाप्यस्वभावं बुद्धिरध्यवस्यति। न चानध्यवसेयं प्रमितं नाम, गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात्। मूर्च्छाचैतन्यवदिति।"— अष्टस० पृ० १२६।

इससे यह साफ है कि संजयकी सदोष चतुर्भंगी और दर्शनको जैनदर्शनने नहीं अपनाया। उसके अपने स्याद्वादसिद्धान्त, अनेकान्तसिद्धान्त, सप्तभङ्गी सिद्धान्त संजयसे बहुतपहलेसे प्रचलित हैं जैसे उसके अहिंसा-सिद्धान्त, अपरिग्रह-सिद्धान्त, कर्म-सिद्धान्त आदि सिद्धान्त प्रचलित हैं और जिनकेआद्यप्रवर्त्तक इस युगके तीर्थकर ऋषभदेव हैं और अंतिम महावीर हैं। विश्वासहै उक्त विद्वान् अपनी जैनदर्शन व स्याद्वादके बारेमें हुई भ्रान्तियोंका परिमार्जन करेंगे और उसकी घोषणा कर देंगे।

२१ फरवरी १६४८] वीरसेवा मन्दिर, सरसावा

रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय

[सम्पादकीय]

(गतकिरणसे आगे)

(१) रत्नकरण्डको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी कृति न बतलानेमें प्रोफेसर साहबकी जो सबसे बड़ी दलील है वह यह है कि 'रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता—अर्थात् आप्तमीमांसाकारका दोषके स्वरूप-विषयमें जो अभिमत है वह रत्नकरण्डके उक्त पद्यमें वर्णित दोष-स्वरूपके साथ मेल नहीं खाता-विरुद्ध पड़ता है, और इसलिये दोनों ग्रन्थ एक ही आचार्यकी कृति नहीं हो सकते'। इस दलीलको चरितार्थ करनेके लिये सबसे पहले यह मालूम होनेकी जरूरत है कि आप्तमीमांसाकारका दोषके स्वरूप-विषयमें क्या अभिमत अथवा अभिप्राय है और उसे प्रोफेसर साहबने कहांसे अवगत किया है?—मूल आप्तमीमांसापरसे? आप्तमीमांसाकी टीकाओंपरसे? अथवा आप्तमीमांसाकारके दूसरे ग्रन्थोंपरसे? और उसके बाद यह देखना होगा कि रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यके साथ मेल खाता अथवा सङ्गत बैठता है या कि नहीं।

प्रोफेसर साहबने आप्तमीमांसाकारके द्वारा अभिमत दोषके स्वरूपका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया—अपने अभिप्रायानुसार उसका केवल कुछ संकेत ही किया है। उसका प्रधान कारण यह मालूम होता है कि मूल आप्तमीमांसामें कहीं भी दोषका कोई स्वरूप दिया हुआ नहीं है। 'दोष' शब्दका प्रयोग कुल पांच कारिकाओं नं० ४, ६, ५६, ६२, ८० में हुआ है जिनमेंसे पिछली तीन कारिकाओंमें बुद्ध्यसंचरदोष, वृत्तिदोष और प्रतिज्ञा तथा हेतुदोषका क्रमशः उल्लेख है, आप्तदोषसे सम्बन्ध रखनेवाली केवल ४थी तथा ६ठी कारिका ही है। और वे दोनों ही 'दोष'के स्वरूप कथनसे रिक्त हैं। और इसलिये दोषका अभिमत स्वरूप जाननेके लिये आप्तमीमांसाकी टीकाओं तथा आप्तमीमांसाकारकी दूसरी कृतियोंका आश्रय लेना होगा। साथ ही ग्रन्थके सन्दर्भ अथवा पूर्वापर कथन सम्बन्धको भी देखना होगा।

टीकाओंका विचार—

प्रोफेसर साहबने ग्रन्थसन्दर्भके साथ टीकाओंका आश्रय लेते हुए, अष्टसहस्रीटीकाके आधारपर, जिस

में अकलङ्कदेवकी अष्टशती टीका भी शामिल है, यह प्रतिपादित किया है कि 'दोषावरणयोर्हानिः' इस चतुर्थ-कारिका-गत वाक्य और 'स त्वमेवासि निर्दोषः' इस छठी कारिकागत वाक्यमें प्रयुक्त 'दोष' शब्दका अभिप्राय उन अज्ञान तथा राग-द्वेषादिक ❀ वृत्तियों से है जो ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंसे उत्पन्न होती हैं और केवलीमें उनका अभाव होनेपर नष्ट हो जाती हैं +। इस दृष्टिसे रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यमें उल्लेखित भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह ये पाँच दोष तो आपको असङ्गत अथवा विरुद्ध मालूम नहीं पड़ते; शेष क्षुधा, पिपासा, जरा, आतङ्क(रोग), जन्म और अन्तक (मरण) इन छह दोषोंको आप असंगत समझते हैं— उन्हें सर्वथा असातावेदनीयादि अघातिया कर्मजन्य मानते हैं और उनका आप्त केवलीमें अभाव बतलानेपर अघातिया कर्मोंका सत्व तथा उदय बर्तमान रहनेके कारण सैद्धान्तिक कठिनाई महसूस करते हैं ÷। परन्तु अष्टसहस्रीमें ही द्वितीय कारिकाके अन्तर्गत 'विग्रहादिमहोदयः' पदका जो अर्थ 'शश्वन्निस्वेदत्वादिः' किया है और उसे 'घातिक्षयजः' बतलाया है उसपर प्रो० साहबने पूरी तौरपर ध्यान दिया मालूम नहीं होता। 'शश्वन्निःस्वेदत्वादिः' पदमें उन ३४ अतिशयों तथा ८ प्रातिहार्योंका समावेश है जो श्रीपूज्यपादके 'नित्यं निःस्वेदत्वं' इस भक्तिपाठ-गत अर्हत्स्तोत्रमें वर्णित हैं। इन अतिशयोंमें अर्हत्-स्वयम्भूकी देह-सम्बन्धी जो १० अतिशय हैं उन्हें देखते हुए जरा और रोगके लिये कोई स्थान नहीं रहता और भोजन तथा उपसर्गके अभावरूप (भुक्त्युपसर्गाभावः) जो दो अतिशय हैं उनकी उपस्थितिमें क्षुधा और पिपासाके लिये कोई अवकाश नहीं मिलता। शेष 'जन्म' का अभिप्राय पुनर्जन्मसे और 'मरण' का अभिप्राय अपमृत्यु अथवा उस मरणसे है जिसके अनन्तर दूसरा भव (संसारपर्याय) धारण किया जाता है। घातिया कर्मके क्षय हो जानेपर इन दोनोंकी सम्भावना भी नष्ट होजाती है। इस तरह घातिया कर्मोंके क्षय होनेपर क्षुत्पिपासादि शेष छहों दोषोंका अभाव होना भी अष्टसहस्री-सम्मत है, ऐसा समझना चाहिये। वसुनन्दि-वृत्तिमें तो दूसरी कारिकाका अर्थ देते हुए, "क्षुत्पिपासाजरारुजाऽपमृत्य्वाद्यभावः इत्यर्थः" इस वाक्यके द्वारा क्षुधा-पिपासादिके अभावको साफ तौर पर विग्रहादिमहोदयके अन्तर्गत किया है, विग्रहादि-महोदयको अमानुषातिशय लिखा है तथा अतिशयको पूर्वावस्थाका अतिरेक बतलाया है। और छठी कारिकामें प्रयुक्त हुए 'निर्दोष' शब्दके अर्थमें अविद्या-रागादिके साथ क्षुधादिके अभावको भी सूचित किया है। यथा:—

"निर्दोष अविद्यारागादिविरहितः क्षुदादिविरहितो वा अनन्तज्ञानादिसम्बन्धेन इत्यर्थः।"

इस वाक्यमें 'अनन्तज्ञानादि-सम्बन्धेन' पद 'क्षुदादिविरहितः' पदके साथ अपनी खास विशेषता एवं महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जब आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी आविर्भूति होती है तब उसके सम्बन्धसे क्षुधादि दोषोंका स्वतः अभाव हो जाता है अर्थात् उनका अभाव हो जाना उसका आनुषङ्गिक फल है—उसके लिये वेदनीय कर्मका अभाव-जैसे किसी दूसरे साधनके जुटने-जुटानेकी जरूरत नहीं रहती। और यह ठीक ही है; क्योंकि मोहनीयकर्मके साहचर्य अथवा सहायके विना वेदनीयकर्म अपना कार्य करनेमें उसी तरह असमर्थ होता है जिस तरह ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ ज्ञान वीर्यान्तरायकर्मका अनुकूल क्षयोपशम साथमें न होनेसे अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता; अथवा चारों घातिया कर्मोंका अभाव हो जानेपर वेदनीयकर्म अपना दुःखोत्पादनादि कार्यकरनेमें उसीप्रकार असमर्थ होता है जिस प्रकार कि मिट्टी और पानी आदिके विना बीज अपना अंकुरोत्पादन कार्य करनेमें असमर्थ होता है। मोहादिकके अभावमें वेदनीयकी

❀ "दोषास्तावदज्ञान-राग-द्वेषादय उक्ताः"। (अष्टसहस्री का० ६, पृ० ६२)

+ अनेकान्त वर्ष ७, कि० ७-८, पृ० ६२

÷ अनेकान्त वर्ष ७, कि० ३-४, पृ० ३१

स्थिति जीवित शरीर-जैसी न रहकर मृत शरीर-जैसी हो जाती है, उसमें प्राण नहीं रहता अथवा जली रस्सीके समान अपना कार्य करनेकी शक्ति नहीं रहती। इस विषयके समर्थनमें कितने ही शास्त्रीय प्रमाण आप्तस्वरूप, सर्वार्थसिद्धि. तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक, आदिपुराण और जयधवला-जैसे ग्रन्थोंपरसे पण्डित दरबारीलालजीके लेखोंमें उद्धृत किये गये हैं* जिन्हें यहां फिरसे उपस्थित करनेकी जरूरत मालूम नहीं होती। ऐसी स्थितिमें क्षुत्पिपासा-जैसे दोषोंको सर्वथा वेदनीय-जन्य नहीं कहा जा सकता—वेदनीयकर्म उन्हें उत्पन्न करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। और कोई भी कार्य किसी एक ही कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ करता, उपादान कारणके साथ अनेक सहकारी कारणोंकी भी उसके लिये जरूरत हुआ करती है, उन सबका संयोग यदि नहीं मिलता तो कार्य भी नहीं हुआ करता। और इसलिये केवलीमें क्षुधादिका अभाव माननेपर कोई भी सैद्धान्तिक कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। वेदनीयका सत्त्व और उदय वर्तमान रहते हुए भी, आत्मामें अनन्तज्ञान-सुख-वीर्यादिका सम्बन्ध स्थापित होनेसे वेदनीयकर्मका पुद्गल-परमाणु-पुञ्ज क्षुधादि दोषोंको उत्पन्न करनेमें उसी तरह असमर्थ होता है जिस तरह कि कोई विषद्रव्य, जिसकी मारण शक्तिको मन्त्र तथा औषधादिके बलपर प्रक्षीण कर दिया गया हो, मारनेका कार्य करनेमें असमर्थ होता है। निःसत्व हुए विषद्रव्यके परमाणुओंको जिस प्रकार विषद्रव्यके ही परमाणु कहा जाता है उसी प्रकार निःसत्व हुए वेदनीयकर्मके परमाणुओंको भी वेदनीयकर्मके ही परमाणु कहा जाता है, और इस दृष्टिसे ही आगममें उनके उदयादिककी व्यवस्था की गई है। उसमें कोई प्रकारकी बाधा अथवा सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं होती— और इस लिये प्रोफ़ेसर साहबका यह कहना कि 'क्षुधादि दोषोंका अभाव माननेपर केवलीमें अघातियाकर्मोंके भी नाशका प्रसङ्ग आता है'[1] उसी प्रकार युक्तिसङ्गत नहीं है जिस प्रकार कि धूमके अभावमें अग्निका भी अभाव बतलाना अथवा किसी औषध प्रयोगमें विषद्रव्यकी मारणशक्तिके प्रभावहीन हो जानेपर विषद्रव्यके परमाणुओंका ही अभाव प्रतिपादन करना। प्रत्युत इसके, घातिया कर्मोंका अभाव होनेपर भी यदि वेदनीयकर्मके उदयादिवश केवलीमें क्षुधादिकी वेदनाओंको और उनके निरसनार्थ भोजनादिके ग्रहणकी प्रवृत्तियोंको माना जाता है तो उससे कितनी ही दुर्निवार सैद्धान्तिक कठिनाइयां एवं बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिनमेंसे दो तीन नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं:—

(क) यदि असातावेदनीयके उदय वश केवलीको भूख-प्यासकी वेदनाएँ सताती हैं, जो कि संक्लेश परिणामकी अविनाभाविनी हैं *, तो केवलीमें अनंत सुखका होना बाधित ठहरता है। और उस दुःखको न सह सकनेके कारण जब भोजन ग्रहण किया जाता है तो अनन्तवीर्य भी बाधित हो जाता है—उसका कोई मूल्य नहीं रहता—अथवा वीर्यान्तरायकर्मका अभाव उसके विरुद्ध पड़ता है।

(ख) यदि क्षुधादि वेदनाओंके उदय-वश केवलीमें भोजनादिकी इच्छा उत्पन्न होती है तो केवलीके मोहकर्मका अभाव हुआ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इच्छा मोहका परिणाम है। और मोहके सद्भावमें केवलित्व भी नहीं बनता। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

(ग) भोजनादिकी इच्छा उत्पन्न होनेपर केवलीमें नित्य ज्ञानोपयोग नहीं बनता, और नित्यज्ञानोपयोगके न बन सकनेपर उसका ज्ञान छद्मस्थों (असर्वज्ञों) के समान क्षायोपशमिक ठहरता है—क्षायिक नहीं। और तब ज्ञानावरण तथा उसके साथी दर्शनावरण नामके घातियाकर्मोंका अभाव भी नहीं बनता।

(घ) वेदनीयकर्मके उदयजन्य जो सुख-दुःख होता है वह सब इन्द्रियजन्य होता है और केवलीके इन्द्रियज्ञानकी प्रवृत्ति रहती नहीं। यदि केवलीमें क्षुधा-तृषादिकी वेदनाएँ मानी जाएँगी तो इन्द्रिय-

* अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४-५ पृ० १५६-१६१

[1] अनेकान्त वर्ष ७ किरण ७-८ पृ० ६२

* संकिलेसाविणाभावणीए भुक्खाए दज्झमाणस्स (धवला)

ज्ञानकी प्रवृत्ति होकर केवलज्ञानका विरोध उपस्थित होगा; क्योंकि केवलज्ञान और मतिज्ञानादिक युगपत् नहीं होते।

(ङ) क्षुधादिकी पीडाके वश भोजनादिकी प्रवृत्ति यथाख्यातचारित्रकी विरोधिनी है। भोजनके समय मुनिको प्रमत्त (छठा) गुणस्थान होता है और केवली भगवान १३ वें गुणस्थानवर्ती होते हैं जिससे फिर छठेमें लौटना नहीं बनता। इससे यथाख्यातचारित्र को प्राप्त केवलीभगवानके भोजनका होना उनकी चर्या और पदस्थके विरुद्ध पड़ता है।

इस तरह क्षुधादिकी वेदनाएँ और उनकी प्रतिक्रिया माननेपर केवलीमें घातियाकर्मोंका अभाव ही घटित नहीं हो सकेगा, जो कि एक बहुत बड़ी सैद्धान्तिक बाधा होगी। इसीसे क्षुधादिके अभावको 'घातिकर्मक्षयजः' तथा 'अनन्तज्ञानादिसम्बन्धजन्य' बतलाया गया है, जिसके माननेपर कोईभी सैद्धान्तिक बाधा नहीं रहती। और इसलिये टीकाओंपरसे क्षुधादिका उन दोषोंके रूपमें निर्दिष्ट तथा फलित होना सिद्ध है जिनका केवली भगवानमे अभाव होता है। ऐसी स्थितिमें रत्नकरण्डके उक्त छठेपद्यको क्षुत्पिपासादि दोषोंकी दृष्टिसे भी आप्तमीमांसाके साथ असंगत अथवा विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थके सन्दर्भकी जांच—

अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थका सन्दर्भ स्वयं इसके कुछ विरुद्ध पड़ता है? जहां तक मैंने ग्रन्थके सन्दर्भकी जांच की है और उसके पूर्वाऽपर कथन-संबन्धको मिलाया है मुझे उसमें कहीं भी ऐसी कोई बात नहीं मिली जिसके आधारपर केवलीमें क्षुत्पिपासादिके सद्भावको स्वामी समन्तभद्रकी मान्यता कहा जा सके। प्रत्युत इसके, ग्रन्थकी प्रारम्भिक दो कारिकाओंमें जिन अतिशयोंका देवागम-नभोयान-चामरादि विभूतियोंके तथा अन्तर्बाह्य-विग्रहादि-महोदयोंके रूपमें उल्लेख एवं संकेत किया गया है और जिनमें घातिक्षय-जन्य होनेसे क्षुत्पिपासादिके अभावका भी समावेश है उनके विषयमें एक भी शब्द ग्रन्थमें ऐसा नहीं पाया जाता जिससे ग्रन्थकारकी दृष्टिमें उन अतिशयोंका केवली भगवानमें होना अमान्य समझा जाय। ग्रन्थकार महोदयने 'मायाविष्वपि दृश्यन्ते' तथा 'दिव्यः सत्यः दिवौकस्स्वप्यस्ति' इन वाक्योंमें प्रयुक्त हुए 'अपि' शब्दके द्वारा इस बातको स्पष्ट घोषित कर दिया है कि वे अर्हत्केवलीमें उन विभूतियों तथा विग्रहादि महोदयरूप अतिशयोंका सद्भाव मानते हैं परन्तु इतनेसे ही वे उन्हें महान् (पूज्य) नहीं समझते; क्योंकि ये अतिशय अन्यत्र मायावियों (इन्द्रजालियों) तथा रागादि-युक्त देवोंमें भी पाये जाते हैं— भले ही उनमें वे वास्तविक अथवा उस सत्यरूपमें न हों जिसमें कि वे क्षीणकषाय अर्हत्केवलीमें पाये जाते हैं। और इसलिये उनकी मान्यताका आधार केवल आगमाश्रित श्रद्धा ही नहीं है बल्कि एक दूसरा प्रबल आधार वह गुणज्ञता अथवा परीक्षाकी कसौटी है जिसे लेकर उन्होंने कितने ही आप्तोंकी जांच की है और फिर उस परीक्षाके फलस्वरूप वे वीर जिनेन्द्रके प्रति यह कहनेमें समर्थ हुए हैं कि 'वह निर्दोष आप्त आप ही हैं'। (स त्वमेवासि निर्दोषः)। साथ ही 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' इस पदके द्वारा उस कसौटी को भी व्यक्त कर दिया है जिसके द्वारा उन्होंने आप्तों के वीतरागता और सर्वज्ञता-जैसे असाधारण गुणोंकी परीक्षा की है, जिनके कारण उनके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधरूप यथार्थ होते हैं, और आगे संक्षेप में परीक्षाकी तफ़सील भी दे दी है। इस परीक्षामें जिनके आगम-वचन युक्ति-शास्त्रसे अविरोधरूप नहीं पाये गये उन सर्वथा एकान्तवादियोंको आप्त न मान कर 'आप्ताभिमानदग्ध' घोषित किया है। इस तरह निर्दोष वचन-प्रणयनके साथ सर्वज्ञता और वीतरागता-जैसे गुणोंको आप्तका लक्षण प्रतिपादित किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आप्तमें दूसरे गुण नहीं होते, गुण तो बहुत होते हैं किन्तु वे लक्षणात्मक अथवा इन तीन गुणोंकी तरह खास तौरसे व्यावर्तात्मक नहीं, और इसलिये आप्तके लक्षणमें वे भले ही ग्राह्य न हों परन्तु आप्तके स्वरूप-चिन्तनमें

उन्हें अग्राह्य नहीं कहा जासकता। लक्षण और स्वरूपमें बड़ा अन्तर है— लक्षण-निर्देशमें जहां कुछ असाधारण गुणोंको ही ग्रहण किया जाता है वहां स्वरूपके निर्देश अथवा चिन्तनमें अशेष गुणोंके लिये गुञ्जाइश रहती है। अत: अष्टसहस्रीकारने 'विग्रहादिमहोदय:' का जो अर्थ 'शश्वन्निस्वेदत्वादि:' किया है और जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है उस पर टिप्पणी करतेहुए प्रो० सा०ने जो यह लिखा है कि "शरीर-सम्बन्धी गुण धर्मोंका प्रकट होना न-होना आप्तके स्वरूप-चिन्तनमें कोई महत्व नहीं रखते" ❀ वह ठीक नहीं है। क्योंकि स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें ऐसे दूसरे कितने ही गुणोंका चिन्तन किया है जिनमें शरीर-सम्बन्धी गुण-धर्मोंके साथ अन्य अतिशय भी आगये हैं +। और इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी समन्तभद्र अतिशयोंको मानते थे और उनके स्मरण-चिन्तनको महत्व भी देते थे।

ऐसी हालतमें आप्तमीमांसा ग्रन्थके सन्दर्भकी दृष्टिसे भी आप्तमें क्षुत्पिपासादिकके अभावको विरुद्ध नहीं कहा जा सकता और तब रत्नकरण्डका उक्त छठा पद्य भी विरुद्ध नहीं ठहरता। हां, प्रोफेसर साहब ने आप्तमीमांसाकी ९३वीं गाथाको विरोधमें उपस्थित किया है, जो निम्न प्रकार है:—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दु:खात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्तत: ॥९३॥

इस कारिकाके सम्बन्धमें प्रो० सा०का कहना है कि 'इसमें वीतराग सर्वज्ञके दु:खकी वेदना स्वीकार की गई है जो कि कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्थाके अनुकूल है; जब कि रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यमें क्षुत्पिपासादिकका अभाव बतलाकर दु:खकी वेदना अस्वीकार की गई है जिसकी संगति कर्मसिद्धान्तकी उन व्यवस्थाओंके साथ नहीं बैठती जिनके अनुसार केवलीके भी वेदनीयकर्म-जन्य वेदनाएँ होती हैं, और इसलिये रत्नकरण्डका उक्त पद्य इस कारिकाके सर्वथा विरुद्ध पड़ता है— दोनों ग्रन्थोंका एक कर्तृत्व स्वीकार करनेमें यह विरोध बाधक है' +। जहां तक मैंने इस कारिकाके अर्थपर उसके पूर्वापर सम्बन्धकी दृष्टिसे और दोनों विद्वानोंके ऊहापोहको ध्यानमें लेकर विचार किया है, मुझे इसमें सर्वज्ञका कहीं कोई उल्लेख मालूम नहीं होता। प्रो० साहबका जो यह कहना है कि 'कारिकागत 'वीतराग:' और 'विद्वान्' पद दोनों एक ही मुनि-व्यक्तिके वाचक हैं और वह व्यक्ति 'सर्वज्ञ' है, जिसका द्योतक विद्वान् पद साथमें लगा है' ÷ वह ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वकारिकामें ❀ जिस प्रकार अचेतन और अकषाय (वीतराग) ऐसे दो अबन्धक व्यक्तियोंमें बन्धका प्रसङ्ग उपस्थित

❀ अनेकान्त वर्ष ७, किरण ७-८, पृ० ६२

+ इस विषयके सूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

(क) शरीररश्मिप्रसर: प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप २८। यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं, ननाश बाह्यं .... ३७। समन्ततोऽङ्गभासा ते परिवेषेण भूयसा, तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा ६५। यस्य च मूर्ति: कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा १०७। शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपु:। तव शिवमतिविस्मयं यते यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ११३।

(ख) नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारै:, पादाम्बुजै: पातितमारदर्पो भूमौ प्रजाना विजहर्थ भूत्यै २६। प्रातिहार्यविभवै: परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ७३। मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यत: ७५। पूज्ये मुहु: प्राञ्जलिदेवचक्रम् ७६। सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदय: कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्वं नाथ सचेतनम् ६६। तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकं प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ६७। भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा १०८।

+ अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३, पृ० १३२ तथा वर्ष ६, कि० १, पृ० ६

÷ अनेकान्त वर्ष ७, कि० ३-४, पृ० ३४

❀ पापं ध्रुवं परे दु:खात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्तत: ॥९२॥

करके परमें दुःख-सुखके उत्पादनका निमित्तमात्र होनेसे पाप-पुण्यके बन्धकी एकान्त मान्यताको सदोष सूचित किया है उसी प्रकार इस कारिकामें भी वीतराग मुनि और विद्वान् ऐसे दो अबन्धक व्यक्तियोंमें बन्धका प्रसङ्ग उपस्थित करके स्व (निज) में दुःख-सुखके उत्पादनका निमित्तमात्र होनेसे पुण्य-पापके बन्धकी एकान्त मान्यताको सदोष बतलाया है; जैसा कि अष्टसहस्रीकार श्रीविद्यानन्दआचार्यके निम्न टीका-वाक्य से भी प्रकट है—

"स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात्तु पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्वज्ञानसन्तोषलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात्।"

इसमें वीतरागके कायक्लेशादिरूप दुःखकी उत्पत्तिको और विद्वान्‌के तत्त्वज्ञान-सन्तोष लक्षण सुखकी उत्पत्तिको अलग अलग बतलाकर दोनों (वीतराग और विद्वान्) के व्यक्तित्वको साफ तौरपर अलग घोषित कर दिया है। और इसलिये वीतरागका अभिप्राय यहां उस छद्मस्थ वीतरागी मुनिसे है जो राग द्वेषकी निवृत्तिरूप सम्यक् चारित्रके अनुष्ठानमें तत्पर होता है— केवलीसे नहीं— और अपनी उस चारित्र-परिणतिके द्वारा बन्धको प्राप्त नहीं होता। और विद्वानका अभिप्राय उस सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा* से है जो तत्वज्ञानके अभ्यास-द्वारा सन्तोष-सुखका अनुभव करता है और अपनी उस सम्यग्ज्ञान-परिणतिके निमित्तसे बन्धको प्राप्त नहीं होता। वह अन्तरात्मा मुनि भी हो सकता और गृहस्थ भी; परन्तु परमात्मस्वरूप सर्वज्ञ अथवा आप्त नहीं*।

अतः इस कारिकामें जब केवली आप्त या सर्वज्ञका कोई उल्लेख न होकर दूसरे दो सचेतन प्राणियोंका उल्लेख है तब रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यके साथ इस कारिकाका सर्वथा विरोध कैसे घटित किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता—खासकर उस हालतमें जब कि मोहादिकका अभाव और अनन्तज्ञानादिकका सद्भाव होनेसे केवलीमें दुःखादिककी वेदनाएँ वस्तुतः बनती ही नहीं और जिसका ऊपर कितना ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। मोहनीयादि कर्मोंके अभावमें साता-असाता वेदनीय-जन्य सुख दुःखकी स्थिति उस छायाके समान औपचारिक होती है—वास्तविक नहीं—जो दूसरे प्रकाशके सामने आते ही विलुप्त हो जाती है और अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होती। और इसलिये प्रोफेसर साहबका यह लिखना कि "यथार्थतः वेदनीयकर्म अपनी फलदायिनी शक्तिमें अन्य अघातिया कर्मोंके समान सर्वथा स्वतन्त्र है" समुचित नहीं है। वस्तुतः अघातिया क्या, कोई भी कर्म अप्रतिहतरूपसे अपनी स्थिति तथा अनुभागादिके अनुरूप फलदान कार्य करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। किसी भी कर्मके लिये अनेक कारणोंकी जरुरत पड़ती है और अनेक निमित्तोंको पाकर कर्मोंमें संक्रमण-व्यतिक्रमणादि कार्य हुआ करता है, समयसे पहले उनकी निर्जरा भी हो जाती है और तपश्चरणादिके बलपर उनकी शक्तिको बदला भी जा सकता है। अतः कर्मोंको सर्वथा स्वतन्त्र कहना एकान्त है मिथ्यात्व है और युक्तिका भी निरोधक है।

यहां 'धवला'परसे एक उपयोगी शङ्का-समाधान उद्धृत किया जाता है, जिससे केवलीमें क्षुधा-तृषाके अभावका सकारण प्रदर्शन होनेके साथ साथ प्रोफेसर साहबकी इस शङ्काका भी समाधान हो जाता है कि 'यदि केवलीके सुख-दुःखकी वेदना मानेंगे तो उनके अनन्तसुख नहीं बन सकता तो फिर कर्म सिद्धान्तमें

* अन्तरात्माके लिये 'विद्वान्' शब्दका प्रयोग आचार्य पूज्यपादने अपने समाधितन्त्रके 'त्यक्त्वारोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्' इस वाक्यमें किया है और स्वामी समन्तभद्रने 'स्तुत्यान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्' तथा 'त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी' इन स्वयम्भूस्तोत्रके वाक्योंद्वारा जिन विद्वानोंका उल्लेख किया है वे भी अन्तरात्मा ही हो सकते हैं।

* अनेकान्त वर्ष ८, किरण १, पृष्ठ ३०

केवलीके साता और असाता वेदनीय कर्मका उदय माना ही क्यों जाता *' और वह इस प्रकार है—

"सगसहाय-घादिकम्माभावेण णिस्सत्तिमा वण्ण-असादावेदणीयउदयादो भुक्खा-तिसाणमणुप्पत्तीए णिप्फलस्स परमाणुपुंजस्स समयं पडि परिसदं(डं)तस्स कथमुदय-ववएसो ? ण, जीव-कम्म-विवेग-मेत्त-फलं दट्ठूण उदयस्स फलत्तमब्भुवगमादो ।"

—वीरसेवामन्दिर प्रति पृ० ३७५, आरा प्रति पृ० ७४१

शङ्का—अपने सहायक घातिया कर्मोंका अभाव होनेके कारण निःशक्तिको प्राप्त हुए असाता वेदनीय-कर्मके उदयसे जब (केवलीमें) क्षुधा-तृषाकी उत्पत्ति नहीं होती तब प्रतिसमय नाशको प्राप्त होनेवाले (असातावेदनीयकर्मके) निष्फल परमाणु पुञ्जका कैसे उदय कहा जाता है ?

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं; क्योंकि जीव और कर्मका विवेक-मात्र फल देखकर उदयके फलपना माना गया है ।

ऐसी हालतमें प्रोफेसर साहबका वीतराग सर्वज्ञके दुःखकी वेदनाके स्वीकारको कर्मसिद्धान्तके अनुकूल और अस्वीकारको प्रतिकूल अथवा असङ्गत बतलाना किसी तरह भी युक्ति-सङ्गत नहीं ठहर सकता और इस तरह ग्रन्थसन्दर्भके अन्तर्गत उक्त ६३वीं कारिकाकी दृष्टिसे भी रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यको विरुद्ध नहीं कहा जा सकता ।

समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंकी छानबीन—

अब देखना यह है कि क्या समन्तभद्रके दूसरे किसी ग्रन्थमें ऐसी कोई बात पाई जाती है जिससे रत्नकरण्डके उक्त 'क्षुत्पिपासा' पद्यका विरोध घटित होता हो अथवा जो आप्त-केवली या अर्हत्परमेष्ठीमें क्षुधादि दोषोंके सद्भावको सूचित करती हो । जहांतक मैंने स्वयम्भूस्तोत्रादि दूसरे मान्य ग्रन्थोंकी छान-बीन की है, मुझे उनमें कोई भी ऐसी बात उपलब्ध नहीं हुई जो रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यके विरुद्ध जाती हो अथवा किसी भी विषयमें उसका विरोध उपस्थित करती हो । प्रत्युत इसके, ऐसी कितनी ही बातें देखनेमें आती हैं जिनसे अर्हत्केवलीमें क्षुधादि-वेदनाओं अथवा दोषोंके अभावकी सूचना मिलती है । यहां उनमेंसे दो चार नमूनेके तौरपर नीचे व्यक्त की जाती हैं:—

(क) 'स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः' इत्यादि शान्ति-जिनके स्तोत्रमें यह बतलाया है कि शान्ति-जिनेन्द्रने अपने दोषोंकी शान्ति करके आत्मामें शान्ति स्थापित की है और इसीसे वे शरणागतोंकेलिये शांति-के विधाता है । चूंकि क्षुधादिक भी दोष हैं और वे आत्मामें अशांतिके कारण होते हैं—कहा भी है कि "क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना" । अतः आत्मामें शान्तिकी पूर्ण प्रतिष्ठाके लिये उनको भी शान्त किया किया गया है, तभी शान्तिजिन शान्तिके विधाता बने हैं और तभी संसार-सम्बन्धी क्लेशों तथा भयोंसे शान्ति प्राप्त करनेके लिये उनसे प्रार्थना की गई है । और यह ठीक ही है जो स्वयं रागादिक दोषों अथवा क्षुधादि वेदनाओंसे पीडित हैं—अशान्त हैं —वह दूसरोंके लिये शान्तिका विधाता कैसे हो सकता हैं ? नहीं हो सकता ।

(ख) 'त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुला-व्यतीतां जिन शान्तिरूपामवापिथ' इस युक्त्यनु-शासनके वाक्यमें वीरजिनेन्द्रको शुद्धि, शक्ति और शान्तिकी पराकाष्ठाको पहुंचा हुआ बतलाया है । जो शान्तिकी पराकाष्ठा(चरमसीमा)को पहुंचा हुआ हो उस में क्षुधादि वेदनाओंकी सम्भावना नहीं बनती ।

(ग) 'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः' इस धर्म-जिनके स्तवनमें यह बतलाया है कि धर्मनामके अर्हत्परमेष्ठीने शाश्वत सुखकी प्राप्ति की है और इसीसे वे शङ्कर-सुखके करनेवाले हैं । शाश्वतसुखको

* अनेकान्त वर्ष ८, किरण २, पृ० ८६ ।

अवस्थामें एक क्षणके लिये भी क्षुधादि दुःखोंका उद्भव सम्भव नहीं। इसीसे श्रीविद्यानन्दाचार्यने श्लोकवार्तिकमें लिखा है कि 'क्षुधादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनन्तशर्मता" अर्थात् क्षुधादि वेदनाकी उद्भूति होनेपर अर्हन्तके अनन्तसुख नहीं बनता।

(घ) 'त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके' इत्यादि स्तवनमें शम्भवजिन को सांसारिक तृषा-रोगोंसे प्रपीड़ित प्राणियोंकेलिये उन रोगोंकी शान्तिके अर्थ आकस्मिक वैद्य बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि अर्हज्जिन स्वयं तृषा रोगोंसे पीड़ित नहीं होते, तभी वे दूसरोंके तृषा-रोगोंको दूर करनेमें समर्थ होते हैं। इसी तरह 'इदं जगज्जन्म-जरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वं' इस वाक्यके द्वारा उन्हें जन्म-जरा-मरणसे पीडित जगतको निरञ्जना शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि वे स्वयं जन्म-जरा-मरणसे पीडित न होकर निरञ्जना शान्तिको प्राप्त थे। निरञ्जना शान्तिमें क्षुधादि वेदनाओंके लिये अवकाश नहीं रहता।

(ङ) 'अनन्त दोषाशय-विग्रहो-ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि' इत्यादि अनन्तजित्के स्तोत्रमें जिस मोहपिशाचको पराजित करनेका उल्लेख है उसके शरीरको अनन्तदोषोंका आधारभूत बताया है, इससेस्पष्ट है कि दोषोंकी संख्या कुछ इनीगिनी ही नहीं है बल्कि बहुत बढी-चढी है, अनन्तदोष तो मोहनीयकर्मके ही आश्रित रहते हैं। अधिकांश दोषोंमें मोहकी पुट ही काम किया करती है। जिन्होंने मोह कर्मका नाश कर दिया है उन्होंने अनन्तदोषोंका नाश कर दिया है। उन दोषोंमें मोहके सहकारसे होनेवाली क्षुधादिकी वेदनाएँ भी शामिल हैं, इसीसे मोहनीयके अभाव हो जानेपर वेदनीयकर्मको क्षुधादि वेदनाओंके उत्पन्न करनेमें असमर्थ बतलाया है।

इस तरह मूल आप्तमीमांसा ग्रन्थ, उसके ६३ वीं कारिका सहित ग्रन्थ सन्दर्भ, अष्टसहस्री आदि टीकाओं और ग्रन्थकारके दूसरे ग्रन्थोंके उपर्युक्त विवेचनपरसे यह भले प्रकार स्पष्ट है कि रत्नकरण्डका उक्त क्षुत्पिपासादि-पद्य स्वामी समन्तभद्रके किसी भी ग्रन्थ तथा उसके आशयके साथ कोई विरोध नहीं रखता अर्थात् उसमें दोषका क्षुत्पिपासादिके अभावरूप जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाके ही नहीं; किन्तु आप्तमीमांसाकारकी दूसरी भी किसी कृतिके विरुद्ध नहीं है; बल्कि उन सबके साथ सङ्गत है। और इसलिये उक्त पद्यको लेकर आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डका भिन्न-कर्तृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः इस विषयमें प्रोफेसर साहबकी प्रथम आपत्तिके लिये कोई स्थान नहीं रहता—वह किसी तरह भी समुचित प्रतीत नहीं होती।

(शेष अगली किरणमें)

साहित्य परिचय और समालोचन

१ षट्खण्डागम-रहस्योद्घाटन—

लेखक, विद्वद्वर पण्डित पन्नालाल सोनी न्याय-सिद्धान्तशास्त्री। प्रकाशक पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री जैनबुकडिपो, सोलापुर। मूल्य सदुपयोग।

'संजद' पदको लेकर विद्वानोंमें जो चर्चा चली थी और जिसके सम्बन्धमें विविध विद्वानोंने लेखादि लिखे तथा विद्वत्परिषद्ने ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदके रहनेका निर्णय दिया इसीके सम्बन्धमें प्रस्तुत पुस्तकमें सप्रमाण प्रकाश डाला गया है। सोनीजीने अनेक उपपत्तियों और प्रमाणों द्वारा उक्त सूत्रमें 'संजद' पद की स्थितिको सिद्ध करके विद्वत्परिषद्के निर्णयका समर्थन किया है। सोनीजीकी इसमें स्थान स्थानपर

विशिष्ट विद्वत्ता और आगमज्ञान तो कितने ही विद्वानों-के लिये स्पर्धाकी चीज है। उनके 'तहलका मचा रक्खा' 'मुख्यनेता' 'मोटे' जैसे आक्षेपरक शब्द और अन्तमें प्रकाशित परिशिष्ट इसमें न होते तो अच्छा था। पुस्तकका योग्य सम्पादन अपेक्षित था जिससे भाषा-साहित्य आदिकी त्रुटियां न रहतीं। फिर भी समाज सोनीजीकी विद्वत्ता और सेवाभावनाकी निश्चय ही क़ायल है। काश ! ऐसे विद्वान साहित्यिक क्षेत्रमें आकर साहित्यसेवामें जुटते तो उनसे बड़ी साहित्यसेवा होती।

२ रेडियो---

लेखक, श्री रा० र० खाडिलकर। प्रकाशक, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा। मूल्य ।॥)।

प्रस्तुत पुस्तकमें रेडियो सम्बन्धी समस्त प्रकारकी जानकारी दी गई है। रेडियोका प्रचार, रेडियोका विज्ञान, वेतार विद्या, जाड़ोंमें रेडियो अच्छा क्यों सुनाई देता है ?, रेडियोके विभिन्न वरन, रेडियो यंत्र में खराबी और उसके उपाय ? रेडियोपर खबरें, समयका अन्तर, ब्रिटेनका समय, यूरोपका समय, भारतीय समय, अमेरिकन समय, भारतीय रेडियोका भविष्य जैसे गहन वैज्ञानिक विषयोंको लिये हुए उनपर पर्याप्त और सरल हिन्दीमें प्रकाश डाला गया है। आज भारतमें रेडियोका प्रचार बराबर बढ़ता जा रहा है। ऐसे समयमें यह पुस्तक रेडियोका ज्ञान करनेके लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। संयुक्त प्रान्तके शिक्षा मन्त्री बा० सम्पूर्णानन्दने 'दो शब्द' वक्तव्यमें इस पुस्तकका स्वागत करते हुए लिखा है—'इस छोटी-सी पुस्तकको पढनेसे कोई भी शिक्षित व्यक्ति, चाहे वह भौतिक विज्ञानका विशेषरूपसे विद्यार्थी न भी हो. रेडियो सम्बन्धी आवश्यक बातोंकी काम चलानेभर जानकारी प्राप्त कर सकता है'। इसे एकबार मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिए।

३ जैन इंस्टिटयूशन्स इन देहली---

ले०, बा० पन्नालाल जैन अग्रवाल देहली। प्रकाशक जैनमित्रमण्डल, धर्मपुरा देहली। मू० चार आने।

यह अंग्रेजीमें देहलीकी सभी जैन संस्थाओंकी संक्षिप्त परिचय-पुस्तिका है और देहली जैसे बड़े शहरमें आने वाले यात्रियोंकेलिये जैन गाइडकेरूपमें अच्छे कामकी चीज है—साथमें एक नक्शा भी लगा हुआ है जिसने इसकी उपयोगिताको बढ़ा दिया है। इसके सहारेसे कोई भी यात्री सहजमें ही यह मालूम कर सकता है कि दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायोंके कौन कौन मन्दिर, स्थानक, विद्यालय, औषधालय, स्कूल, पाठशाला, धर्मशाला, शास्त्रभण्डार, लायब्रेरी तथा सभा सोसाइटी आदि दूसरी संस्थाएँ किस किस मुहल्ले गली-कूचे आदिमें कहांपर स्थित हैं और उनकी क्या कुछ विशेषताएँ हैं। और इस तरह वह इधर उधर भटकने तथा पूछताछ करने के कष्टसे मुक्त रहकर अपना बहुत कुछ समय बचा सकता है और यथेष्ट परिचय भी प्राप्त कर सकता। पुस्तक अच्छे परिश्रमसे लिखी गई है, उसके लिये लेखक और उनके सहायक सभी धन्यवादके पात्र हैं।

बाहु-बली--- (राष्ट्रीय काव्य)— लेखक, श्री० हीरक, प्राप्तिस्थान सगुनचन्द चौधरी स्याद्वाद विद्यालय, भदैनी बनारस, मूल्य ॥)।

इसमें कवि श्री हीरकने बाहुबलीका चरित्र ग्रन्थन करनेका प्रयास किया है। भूमिका हिन्दी विभाग हिन्दू विश्वविद्यालयके प्रो० डा० श्रीकृष्णलाल एम. ए. पी. एच. डी. ने लिखी है। संस्कृत शब्दोंके बाहुल्यने काव्यकी कोमलता और सरसताको सुरक्षित नहीं रख पाया फिर भी कविका इस दिशामें यह प्रथम प्रयत्न है। आशा है उनके द्वारा भविष्यमें अधिक प्राञ्जल रचनाओंका निर्माण हो सकेगा।

महावीर-दर्शन---(पद्यमय रचना)

लेखक पण्डित लाल बहादुर शास्त्री, प्राप्तिस्थान नलिनी सरस्वती मन्दिर, भदैनी बनारस, मूल्य ≥)॥

यह ७१ पद्योंकी सरस और सुन्दर रचना है। इसमें भगवान महावीरका आकर्षक ढङ्गसे संक्षेपमें जीवन-परिचय दिया गया है। पुस्तक लोकरुचिके अनुकूल है और प्रचार योग्य है।

—दरबारी लाल कोठिया

स्मृतिकी रेखाएँ—

विमल भाई

[लेखक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

['स्मृतिकी रेखाएं' नामका नया स्तम्भ हम अनेकान्तमें स्थायी रूपसे जारी कर रहे हैं। इसके अन्तर्गत अपने जीवनकी सभी घटनाएँ जो भूली न जा सकें, लिखनेके लिये हम पाठकोंको निमन्त्रण देते हैं। जीवनमें अनेक ऐसी घटनाएँ घटती हैं जो कथा-कहानियोंसे अधिक रोचक और मर्मस्पर्शी होती हैं। हमारे आस-पास ऐसे अनेक व्यक्ति रहते हैं, जिनके उल्लेख साहित्यकी बहुमूल्य निधि बन सकते हैं। ये ही स्मृतिकी रेखाएँ संकलित होकर सजीव इतिहास बन जाते हैं। अनुभवी लेखकोंके जब तक लेख न मिलें तब तक हमीं कुछ टेढ़ी मेढ़ी रेखाएँ खींचने रहनेकी धृष्टता करेंगे।]

मेरे एक अत्यन्त स्नेही साथी हैं, जिन्हें कुछ लोग 'खप्ती भाई' कहते हैं, कुछ लोग उन्हें सनकी समझते हैं और कुछ समझदार दोस्तों का फ़तवा है कि इनके मस्तिष्क का एक पेंच ढीला है।

मेरा इनसे सन् २५ से परिचय है। इन २२ वर्षों में समीपसे समीपतर रहनेपर भी मुझे इनमें खप्त और सनकका आभास तक नहीं मिला फिर भी मैं हैरान हूं कि हे सर्वज्ञ! क्या ये आपके ज्ञानमें भी खप्ती और सनकी झलके हैं?

गोरा शरीर, किताबी चेहरा, आंखें बड़ी और रसीली चौड़ी पेशानी, मझोला क़द, सुडौल कसरती जिस्म, शरीरपर स्वच्छ और धवल खादीकी मोहक पोशाक, चालढालमें मस्ती और स्फूर्ति। एफ० ए० तक शिक्षा, भले और प्रतिष्ठित घरमें जन्म, बातचीतमें आकर्षण, राष्ट्रीय विचारों और लोकसेवी भावनाओंसे ओतप्रोत। महात्मा गांधीसे किसीका दिल दुखा हो, परन्तु इनसे असम्भव। फिर भी दोस्तोंके दायरेमें मजहका-खेज बने हुए हैं और उसपर तुर्रा यह कि बुरा माननेके बजाय फूलकी तरह खिलते रहते हैं।

एक रोज़ मैं और एक मेरे साहित्यिक मित्र विमल भाईकी चर्चा कर रहे थे और उनपर फब्तियां कसने वालोंपर छींटे उड़ा रहे थे कि समीप ही बैठा हुआ उनका ११-१२ वर्षका छोटा भाई पढ़ते-पढ़ते बेसाख्ता बोला—"हाँ हाँ वह खप्ती है, सनकी है; मैं शर्त बद कर कहताहूँ"।

अब हमारी क्या सामर्थ्य थी जो बात काटते। एक तो छोटा, दूसरे शर्त बदनेको तैयार। फिर भी हिम्मत बांधकर पूछ ही बैठे— हुजूरको उसमें क्या ख़प्त दिखाई देता है?

वह एक अजीब-सा मुँह बनाकर बोला—एक खप्त। अजी भाई साहब! वह सरसे पैर तक खप्त ही खप्तसे ढका हुआ है। जिस मुर्दनीमें कुत्ते न झाँकें वहां इन्हें देख लीजिये। सुबह शाम हजरतके हाथमें ऐरे गैरे नत्थूखैरोंकेलिये दवाओंकी शीशियां रहती हैं खुदके पांवमें साबुत जूतियां नहीं और उस रोज दूकान बेचकर उस...... नादिहन्दको दो हजार दे दिये जिससे पठान भी तोबा माँग चुके हैं। उस रोज स्कूल से आते हुए यारोंने उन्हें बनानेके खयालसे कहा—

बड़े भाई आज तो ईखका रस पिलवाओ। थोड़ी देरमें क्या देखते हैं कि हम ८१० साथियोंकेलिये ईख रसके बजाय सन्तरेके रसके गिलास आरहे हैं। हमने खिलाफ़ तवक्क़ह देखकर पूछा—'बड़े भाई यह क्या तकल्लुफ़?' फर्माया—"आप लोग कब बारबार पिलानेको कहते हैं।"

"रस पी चुकने पर हम सबकी मुश्तर्का राय थी कि विमल भाई ख़प्ती होनेके साथ साथ बुद्धू भी हैं"

लड़केने अपनी बात कुछ इस ढंगसे कही कि मेरे वे साहित्यिक मित्र तपाकसे बोले — हां यार इनके खप्तका एक ताजा लतीफ़ा तो सुनो।—

"पुकार फिल्ममें किस क़दर रश है, यह तो तुम्हें मालूम ही है। विमल भाईने भी भीड़में घुसकर ४-५ फर्स्टक्लास टिकट खरीद लिये। एक तो अपनेलिए बाकीके परिचित या मुहल्लेके लोगोंके लिए, इस खयालसे कि कोई आये तो परेशान न हों। दर्शकोंकी भीड़ हालमें घुसी जारही है और विमल हैं कि आने वाले परिचितोंकी प्रतीक्षामें बाहर सूख रहे हैं। और जब राम-राम करके टिकिटोंसे मुक्ति पाई तो हालमें तिल रखनेको जगह न थी टिकिट जिन साहबने लिये, उनमेंसे किसीने फ्री पास समझकर और किसी ने बुरा न मान जाएं इस भयसे टिकिटके दाम नहीं दिये। एक साहबने दाम देनेकी जहमत फर्माते हुए अठन्नी उनके हाथपर रखी और बोले जब हाउस फुल हो गया तो टिकिटके पूरे दाम कैसे?"

यह लतीफा उन्होंने इस अन्दाजमें बयान किया कि हम लोट-पोट गये। रातको सोने लगा तो मुझे विमलभाईकी ऐसी कई बातें स्मरण हो आईं, जिन्हें मैं अबतक उनकी खूबियां तसव्वुर किया करता था। अब जो दुनियांकी ऐनक लगाकर देखता हूं तो रङ्ग ही दूसरा नज़र आने लगा।

सन् १९३३ की बात है। मुझे ऐतिहासिक अनुसन्धानके लिये अकस्मात् उदयपुर जाना उसी रोज़ आवश्यक होगया। मार्ग-व्ययके लिये तो रुपये उधार मिल गये। और ठहरने आदिकी सुविधा इतिहास-प्रेमी बलवन्तसिंहजी मेहताके यहां हो गई। परन्तु पहननेके कपड़े मेरे पास कतई नहीं थे। जेलसे आकर बैठा था। जो कपड़े थे उनमेंसे कुछ धोबीके यहां थे, कुछ मैले पड़े थे। स्वच्छ एक भी न था। और उदयपुर जाना उसी रोज़ अत्यन्त आवश्यक था। बड़ी असमञ्जस और चिन्तामें था कि यकायक विमलभाई आये और बोले कि सुना है आप उदयपुर जा रहे हैं, वहां आपको कई रोज़ लगेंगे। मेरे पास फाल्तू कपड़े तो नहीं हैं, परन्तु आप घरपर दिनभर रहें तो आपके सब कपड़े धो दूं। मजबूरन विमलभाईको कपड़े देने पड़े। शामको धोकर दिये तो इतने स्वच्छ कि धोबी भी देखकर शर्माये।

गतवर्ष गर्मीके दिनोंमें आपके यहां चोरी होगई। जिन बिस्तरोंपर आप आराम फर्मा रहे थे, उनको छोड़कर नक़द, जेवर, कपड़े, बर्तन सब ले गये। लगे हाथ झाड़ू भी दे गये ताकि सुबह उठकर सर पीटकर रोनेके अतिरिक्त आपको झाड़ू देनेकी ज़हमत न उठानी पड़े। समाचार सुना तो घबड़ाया हुआ विमलभाईके यहाँ पहुंचा। समझमें नहीं आता था कि इस मंहगी और कण्ट्रोलके जमानेमें अब कैसे पौन दर्जन फ़ौजका तन ढकेंगे। और हवा-पानीके अलावा क्या खाने-पीनेको देंगे। सान्त्वना देनेके लिये न कोई शब्द सूझते थे, न कोई कमबख्त शेर ही याद आता था। इसी उधेड़बुनमें मुंह लटकाये पहुंचा तो विमलभाई देखते ही खिल उठे और मैं कुछ कहूँ इससे पहले स्वयं ही बोले—

"भाई! हमारा तो सदैवके सङ्कटसे पीछा छूट गया। यक़ीनन आजसे हमारे बुरे दिन गये और अच्छे दिन आये।"

मैंने समझा कि विपताका पहाड़ टूट पड़नेसे विक्षिप्त हो गया है। परन्तु वह विक्षिप्त नहीं था, फिर बोला—'भाई! यह परिग्रह ही सब झगड़ोंकी जड़ है इसीके कारण अनेक क्लेश और बाधाएँ आती हैं। अब सुख-चैन ही सुख चैन है। रोटियाँ तो खानेको मिलेंगी ही। आधे दर्जन बच्चे हो गये अब पत्नी ज़ेवर पहनने क्या अच्छी लगती थी? विलायती कपड़ा सब जाता रहा अब झक मारकर स्वदेशी पहनेगी!' और फिर वही चेहरेपर फूलसी मुस्कराहट

उठकर चला तो वहांसे एक साहब साथ और हो लिये। फ़र्माया—"देखा आपने इनका खप्त! लोगोंके घर चोरी होती है तो दहाड़ मारकर रोते हैं और एक आप हैं कि खिल खिल हंस रहे हैं। गोया चोरी नहीं हुई, लाटरीमें हरामका रुपया हाथ लग गया है। अगर इनका वस चले तो चोरी होनेकी खुशीमें दावत दे दें।"

सान्त्वना प्रकट करनेके लिये तो मुझे कोई शेर याद नहीं आया, उसकी आवश्यकता भी नहीं पड़ी, परन्तु इन साथीकी बकवास पर ग़ालिबका शेर मनमें झूमने लगा —

न लुटता दिनको तो यूँ रातको क्यों बेख़बर सोता।
रहा खटका न चोरीका दुआ देता हूं रहज़नको ॥

सन् ३० के असहयोग आन्दोलनमें आपने खद्दर की दुकान खोली। विमल भाईकी दुकानपर बाहरके व्यापारीतो तब आते जब परिचित यारोंकी कुछ कमी होती। भीड़ लग गई, लोग हैरान कि जिसने कभी दूकान नहीं की वह इस फर्राटेसे क्योंकर बिक्री कर रहा है। घरवाले भी खुश कि चवन्नी न सही दुअन्नी रुपया भी मुनाफा लिया तो २००-३०० रुपयेकी बिक्री पर २५-३० तो कहीं भी न गये। हमने स्वयं अपनी आंखोंसे आपकी दुकानदारीके जौहर देखे। दुकान ऐसी चली कि २-३ माहमें ही पंख निकल आये। माँने अपने ३०००) मांगे तो एक हजार रुपये की उधारकी लिस्ट दे दी और दो हज़ार रुपये एकके नाम ऋण लिखे दिखला दिये।

मांने सर पीट कर कहा—'तैंने उस नादिहिन्दको दो हजार क्यों पकड़ा दिये'? फर्माया— मां तू तो बेकारमें घबड़ाती है, उसने मुझे क़सम खाकर २०००) रुपये जल्दी लोटानेको कहा है। उसे पठान तंग कर रहे थे, इसीसे उसे रुपयेकी ज़रूरत आन पड़ी थी।

इन १७ वर्षोंमें जब जब विमलभाईसे पूछा कि वे रुपये पटे या नहीं। तबतब आपने बड़े विश्वासकेसाथ कहा— "भई रुपये मारमें थोड़े ही हैं। विचारा खुद मुसीबतमें है. उससे रुपयेका तकाजा करना भलमन-साहतमें दाखिल नहीं।"

मैं इन २३ वर्षोंमें स्वयं निर्णय नहीं कर पाया कि विमलभाई खप्ती हैं या जीवनमुक्त? क्या पाठक अपनी उपयुक्त सम्मति देंगे।

डालमियानगर, २ फरबरी १९४८

हिन्दी-गौरव

(१)

बन रही मां भारतीके भालका शृङ्गार हिन्दी!
पूर्ण होने जारहे हैं स्वप्न सब अपने सजीले,
सुखद-मादक बन रहे हैं आज कवि गायन सुरीले
मिट रहे अभियोग युग-युगके, मिले वरदान नीके,
मिल रहा बलिदानका फल जल रहे हैं दीप घीके।
पा रही सब भारतीयोंके दिलोंका प्यार हिन्दी!
बन रही मां भारतीके भालका शृङ्गार हिन्दी!!

(२)

हो गये आज़ाद, पूरी हो गई चिर-कामनाएँ;
दूर कटकर गिर पड़ी हैं दासताकी शृङ्खलाएँ।
हर्ष—पूरित लोचनोंमें मुस्कराती मृदुल-आशा,
दूर देखेंगी खड़ी सब, अन्य भाषाएँ तमाशा॥
मुकुट हिन्दीको मिलेगा, पाएगी सत्कार हिन्दी!
बन रही मां भारतीके भालका शृङ्गार हिन्दी!!

(३)

सोचते थे हिन्दमें कब ग्रामराज स्वराज होगा,
हिन्दी सुभगलिपि नागरीके सीसपर कब ताज होगा
कल्पनाके नील नभमें उड़ रही थी भावनाएँ,
दासताके पाशमें थीं बद्ध अपनी यौजनाएँ॥
अब करेगी सभ्यताके ज्ञानका सुप्रसार हिन्दी!
बन रही मां भारतीके भालका शृङ्गार हिन्दी!!

(४)

राज-भवनोंसे कुटी तक नागरीमें कार्य होगा,
देश भारतवर्षका अब 'आर्य' सच्चा आर्य होगा।
जीर्ण अगणित अब्दियोंके टूक सकल विधान होंगे,
मुदित होंगे श्रमिक जनसब, तुष्ट सकल किसान होंगे
विश्वमें गूञ्जे तुम्हारा नित्य जय जयकार हिन्दी
बन रही मां भारतीके भालका शृङ्गार हिन्दी!!

पं० हरिप्रसाद
'अविकसित'

सोमनाथका मन्दिर

[बा० छोटेलाल जैन, प्रेसीडेंट "गनीट्रेड्स एसोसियेशन" कलकत्ता]

आज हम अपने पाठकोंको एक ऐसे प्रदेशका दिग्दर्शन कराते हैं जिसके महत्वको मुसलमानोंके निरन्तर अत्याचारोंसे हम भूलसे गये हैं। यह स्थान है काठियावाड़, जिसका प्राचीन नाम था सौराष्ट्र। जूनागढ़की रियासत काठियावाड़में शामिल है। काठियावाड़ ३२ बड़ी रियासतोंमें विभक्त है जिनमें सबसे बड़ी जूनागढ़ है, और जूनागढ़ उन सब रियासतोंसे कर लेतो है। भूतपूर्व नवाब जूनागढ़ने अपनी बहुसंख्यक हिन्दु प्रजापर नाना प्रकारके अत्याचार किये। यही नहीं, भारतके स्वतन्त्र होने पर नवाब प्रजाकी इच्छाके विरुद्ध पाकिस्तानसे मिल गया, परन्तु प्रजाकी सामूहिक शक्तिके सामने नवाबको कराची भागना पड़ा और अब पश्चिमका यह पुनीत भू-भाग प्रजाकी इच्छानुसार भारतमें मिल गया है। हम आपको यह बतलायेंगे कि काठियावाड़के प्रायद्वीप में, जिसको औरङ्गजेबने "भारतका सौन्दर्य और आभूषण" कहा था शैवों, वैष्णवों, बौद्धों, तथा जैनियोंके कितने ही प्राचीन और पवित्र मन्दिर और अन्य धर्म स्थान हैं। कितनी ही मसजिदें हिन्दु तीर्थोंकी भूमिपर ध्वस्त किये देवालयोंकी सामग्रीसे बनी हुई हैं। कितनी ही मसजिदें हिन्दु-मन्दिरोंका केवल साधारण रूपान्तर हैं, जो असलमें हिन्दुओंके ही मन्दिर हैं।

लगभग एक सहस्र वर्षसे परतन्त्रता ग्रस्त भारतमें हिन्दुओंकी धर्मभावना मुसलमानोंके निरन्तर अत्याचारसे दलित और अर्धमृत होती रही है। आज स्वतन्त्र भारतमें भारतसरकारके उप-प्रधानमन्त्री श्रीयुत सरदार बल्लभभाई पटेलने हिन्दुओंकी धर्म भावनाको सबल और दृढ बनानेके लिये सोमनाथ मन्दिरके नव-निर्माणका परामर्श दिया है। इस घोषणासे हिन्दुओंके हृदयमें अपार हर्ष हुआ है। प्रत्येक हिन्दु सोमनाथ मन्दिरके लिये दान देनेमें गौरव समझता है, क्योंकि सोमनाथ १२ ज्योतिर्लिङ्गों में सबसे प्रथम है, और सारे भारतका महान तीर्थ है।

काठियावाड़ प्राय: चारों ओरसे जलावेष्टित है। केवल उत्तरकी ओरसे एक लम्बा सङ्कीर्ण भूमि अंश इसे गुजरातसे मिलाता है। इसी कारण गुजरात और राजपूतानेका, जो इसके उत्तरमें है, इतिहास सौराष्ट्रके मध्यकालीन इतिहाससे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है।

इतिहास—

जबसे भगवान कृष्ण मथुराको छोड़कर द्वारिकामें आये, तभीसे सौराष्ट्र देश प्रकाशमें आया। द्वारिकाके यादवोंके समयसे यहां प्रभास क्षेत्रमें यात्रियोंके आने जानेका प्राचीन वर्णन मिलता है।

ईसासे ३२२ वर्ष पूर्व भारतके प्रसिद्ध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्यके चार भागोंमेंसे सौराष्ट्र एक था। और ईसासे २५० वर्ष पूर्वका महाराजा अशोकका शिलालेख गिरनारमें मिलता है। यहां गिरनार पर्वतकी तहलटी में महाराज अशोकने सुदर्शन नामक एक विशाल झील बनवाई थी। मौर्य वंशके पतनके पश्चात् सौराष्ट्र ईसासे १५५ वर्ष पूर्व तक शुङ्ग वंशके पुष्यमित्र के आधीन रहा, उनके बाद शक क्षत्रपोंके अधिकारमें चला गया जिनमें महाराज रुद्रमन (सन् १५०) बहुत प्रसिद्ध हुए। इनका भी शिलालेख यहां मिलता है। उन्होंने सुदर्शन झीलकी, जिसका बांध टूट गया था, मरम्मत करवाई थी। फिर यहां गुप्त वंशका आधिपत्य हुआ। महाराज स्कन्दगुप्तने भी वहां एक

शिलालेख (सन् ४५७ का) छोड़ा है जिससे पता चलता है कि इन महाराजने भी झील सुदर्शनको जिसका बांध फिर टूट गया था, मरम्मत करवाई थी। इन तीन उपरोक्त शक्तिशाली राजाओंने जहां अपनी धर्म-लिपि और कीर्ति-द्योतक लेख शिलाओंपर अंकित करना उचित समझा, उस स्थानका उस समय कितना अधिक महत्व होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

गुप्त वंशके पीछे बल्लभी राजाओंने सौराष्ट्र पर अपनी सत्ता जमाई। ये शिव-भक्त थे। बहुत सम्भव है कि सोमनाथ मन्दिरकी स्थापना बल्लभी राजाओंके शासनकाल (सन् ४८० से ७६४) में हुई हो। इन राजाओंके स्वयं शिव-उपासक होनेके कारण इस मंदिरकी विशेष ख्याति इन्हींके समयमें हुई है। इन्हीं राजाओंने सोमनाथ-मन्दिरके निर्वाहके लिये सहस्रों ग्राम दान दिये। गुजरातके अन्य राजाओंने भी सहस्रों गांव सोमनाथके नाम किये थे।

फिर सौराष्ट्रमें चूड़सम वंशकी स्थापना (सन ८७५ के लगभग) हुई, जिसका राज्य ६०० वर्ष तक रहा, और उसके बाद मुसलमानोंके आक्रमणोंका तांता बँध गया। इस वंशका अन्तिम स्वतन्त्र राजा राव मंडलीक हुआ, जिसको यवनोंने परास्तकर मुसलमान बना लिया (सन् १४७० में) और उसका नाम खांजहां रक्खा गया और जूनागढ़का नाम मुस्तफाबाद रक्खा, परन्तु यह नाम अधिक दिन तक न चल सका।

काठियावाड़(सौराष्ट्र)की राजधानी गत १००० वर्ष से अधिक कालसे जूनागढ़ रही है। १५ वीं शताब्दीसे काठियावाड़के मुसलमान शासक या फौजदार जूनागढ़ में रहते थे। ये शासक पहले गुजरातके सुल्तानोंके, और फिर अहमदाबादके मुग़ल सूबेदारोंके अधीन रहे परन्तु मुग़ल साम्राज्यके पतनके साथ साथ १८ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें यहांके शासक स्वतन्त्र हो गये और अन्तमें अंग्रेजोंके अधीन हुए। अब भारतके स्वतन्त्र होनेपर यहांका नवाब किस तरहकी चालसे पाकिस्तान से मिला, और प्रजाके विरोधसे किस तरह उसे पलायन करना पड़ा यह सब तो आप लोग जानते ही हैं।

हमारा सम्बन्ध—

जूनागढ़से हमारा न केवल राजनैतिक सम्बन्ध ही है, बल्कि इससे कहीं अधिक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सम्बन्ध भी है।

सौराष्ट्रका दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्वीय प्रदेश ही विशेष कर पौराणिक युगके इतिहासका क्रीडास्थल रहा है। यहीं पर भगवान श्रीकृष्णने मथुरासे आकर द्वारिकाकी रचना की, यहीं पर यादवों सहित अनेक लीलाएँ कीं, और यहींपर श्रीकृष्णने मदोन्मत्त विशाल यादव कुलको अपनी लीलासे विनाश कराया, और यहीं पर प्रभास-पट्टन नामक पवित्र नगरके निकट असावधानीसे जरत्कुमार (व्याध)-द्वारा आहत होकर अपनी जीवन-लीला समाप्त की थी।

(१) बल्लभी,

(२) मूल द्वारिका (प्राचीन द्वारिका) जो भगवान कृष्णके निधनके पश्चात् समुद्र निमग्न हो गई,

(३) माधवपुरी (जहां भगवान कृष्णने रुक्मिणीका पाणिग्रहण किया),

(४) तुलसी श्याम,

(५) सुदामापुरी (जिसको भगवान कृष्णने अपने मित्र सुदामाके लिये बनवाकर उसके दरिद्रताके पाश काटे थे और जिसका आधुनिक नाम पोरबन्दर है)

(६) श्रीनगर,

(७) वामस्थली, (वनस्थली) इत्यादि प्राचीन नगर भी इसी दक्षिण-पूर्वीय प्रदेशमें हैं। जैनियोंके गिरनार व पालीताना(शत्रुञ्जय)नामक प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थ यहीं हैं। यहींपर बौद्धोंके गुहामन्दिर जूनागढ़, तलाजा, साना, धांक और सिद्धेश्वरमें हैं। यहांके अनेक अतिकलापूर्ण पाषाणनिर्मित मन्दिरोंके ध्वंसावशेषोंसे जो कि सेजकपुर, थान, आनन्दपुर, पवेदी, चौबारी तथा बढ़वानादि स्थानोंमें मिलते हैं, इससे यह बात प्रमाणित होती है कि मध्यकालमें मध्य सौराष्ट्र एक पूर्ण वैभवशाली और अति-जनाकीर्ण प्रदेश था। सन्६४० में ह्युयेन स्यांग नामक चीनी परिव्राजक बल्लभीमें आया, और उसने भी यहांकी समृद्धिका वर्णन करते हुए लिखा है कि-यहांपर बौद्धोंके सैंकड़ों

मठ, ६००० बौद्ध भिक्षु, और सैकड़ों देव मन्दिर थे। और इसी प्रदेशमें लोक-प्रसिद्ध प्रभास-पट्टनका सोमनाथ मन्दिर है।"

सोरठ देश (सौराष्ट्र) हिन्दुओंके लिए सदा ही आकर्षक रहा है। उनके लिए यह देश भूमिपर स्वर्गके समान है। यहां निर्मल-नीर-वाहिनी नदियां हैं, प्रसिद्ध(जातिके) घोड़े मिलते हैं और यहांकी रमणियां सुन्दरताके लिए प्रसिद्ध हैं। किन्तु इन सबसे ऊपर यह पवित्र स्थान है क्योंकि जैनियोंके लिए यह तीर्थंकर आदिनाथ और अरिष्टनेमि (कृष्णके चचेरे भाई)की भूमि है और हिन्दुओंके लिए महादेव और श्रीकृष्ण का देश है।

सोमनाथ पट्टन—

जिस नगरमें सोमनाथमन्दिर है उसे पटन, पट्टन पाटन प्रभासपट्टन, देवपट्टन, सोमनाथ पट्टन, रेहवास पट्टन, शिव पट्टन और सोरठी-सोमनाथ भी कहते हैं। इस अति प्राचीन नगरमें अतीत गौरवके अनेकों चिह्न मिलते हैं यहां उजड़े हुए प्राचीन सोमनाथमन्दिर और आधुनिक सोमनाथ मन्दिरके अतिरिक्त अन्य भग्नावशेषोंमें जामा मस्जिद भी है। यह मस्जिद एक प्राचीन विशाल सूर्य मन्दिरको जो इसी स्थानपर पहले था, नष्ट कर, मन्दिरके सामानसे बनाई गई है। इसी जामा मस्जिदके थोड़ी दूर उत्तरमें पार्श्वनाथ (जैन तीर्थंकर) का एक बहुत पुराना मन्दिर था जो आजकल एक रहनेके मकानके रूपमें व्यवहृत होरहा है। इस नगरके पश्चिममें (पट्टन और वेरावलके बीचमें) माइपुरी मसजिद है जो कि एक मन्दिरको मसजिदके रूपमें रूपांतरित कर दी गई प्रतीत होती है। यहां भाटकुण्ड भी है जहां, कहा जाता है, भगवान श्रीकृष्णने शरीर छोड़ा था। इस नगरके पूर्वकी ओर तीन सुन्दर सरिताओंका त्रिवेणी सङ्गम है, जो भगवान श्रीकृष्णके शरीरका दाह-संस्कार-स्थान होनेके कारण पवित्र है यह सारा स्थान भगवान श्रीकृष्णकी लीलाओंसे सम्बन्धित है। इस स्थानको "वैराग्य क्षेत्र" कहते हैं, क्योंकि यहां पर श्रीकृष्णकी रुक्मणी आदि महारानियां सती हुई थीं। यहां एक गोपी तालाब है, जिसकी मृत्तिकाका रामानन्दी वैरागी, और दूसरे वैष्णव भक्त मस्तकपर लगाते हैं और इस मृत्तिकाको गोपी-चन्दन कहते हैं।

गिरनार पर्वतसे ४० मील दक्षिणकी ओर सोमनाथका प्राचीन मन्दिर समुद्रके पूर्वी कोनेपर अब तक स्थित है। इस मन्दिरकी दीवारोंके कोई चिन्ह नहीं मिलते मन्दिरकी नींवके आस-पासकी भूमिको समुद्रकी तरङ्गोंसे बचानेके लिये एक सुदृढ़ दीवार बनी हुई है। दीवारोंकी खाली जगहको पत्थरोंसे भर कर मसजिद बना ली गई है। वर्तमान मन्दिरका जो अवशिष्टांश है वह मूलतः गुजरातके महाराजकुमारपाल द्वारा निर्मित किये गये मन्दिरका है। जिसका निर्माण सन् ११६८ में हुवा था।

सोमनाथ मन्दिर—

पश्चिमी भारतके मन्दिरोंमें, जिनकी संख्या अगणित है, हिन्दू धर्मके समस्त इतिहासमें काठियावाड़के दक्षिणी सागर तटपर स्थित वेरावल बन्दरके निकट सोमनाथ पट्टनका सोमनाथ मन्दिर सर्व-प्रसिद्ध है। यह सर्व भारतमें प्रसिद्ध १२ ज्योतिर्लिङ्गोंमें से प्रथम है *। और न ही किसी अन्य मन्दिरका इतिहास इतना प्राचीन है जितना कि सोमनाथका। अनेकों ही बार इसकी दीवारोंने युद्धके परिणामको देखा, और कितनी ही बार पिशाची आक्रमणकारियों द्वारा यह मन्दिर धराशायी कर दिया गया, परन्तु ज्यों ही शत्रुने पीठ मोड़ी त्यों ही एक अमर प्राणीकी तरह इसकी दीवारें फिर खड़ी हो गईं। शङ्करकी ध्वजा फिर आकाशमें फहराने लगी, और घण्टा शङ्खों और डमरू के शब्दसे शिवकी पूजा आरम्भ होती गई।

इतिहासमें सोमनाथका मन्दिर मुख्यतः महमूद

* १२ ज्योतिर्लिङ्गोंके नाम—श्री शैल (तिलङ्गना) का मल्लिकार्जुन, उज्जैनका महाकाल, देवगढ़ (विहार) का वैद्यनाथ, रामेश्वरम् (दक्षिणभारत) का रामेश्वर, भीमानदीके मुहानेपर भीम शङ्कर, नासिकका त्र्यम्बक, हिमालयका केदारनाथ, बनारसके विश्वेश्वर, गौतम (अज्ञात)।

गज़नवीके सन् १०२५ के हमलेके कारण बहुत प्रसिद्ध है। इसलाम धर्मकी कुत्सित शिक्षाके प्रभावसे महमूद गज़नवीने मूर्ति-पूजाको मिटानेका मूर्खता-पूर्ण दृढ सङ्कल्प किया। और हिन्दु मन्दिरोंमेंसे प्रचुर धनराशि के उपलब्ध होनेके जघन्य लालचने इसको बिलकुल अन्धा बना दिया।

सोमनाथके मन्दिरका धारावाहिक इतिहास अभी तक सन्तोषप्रद नहीं लिखा गया है। इस मन्दिरकी स्थापना और ख्याति शायद बल्लभी राजाओंके समयसे हुई है (सन् ४८० से सन् ७६४ तक)। इस मन्दिरके दर्शनार्थ दूर २ से हिन्दु यात्री आते थे। इस मन्दिरके निर्वाहके लिये १०,००० ग्राम बल्लभी और अन्य राजाओंद्वारा दान दिये गये थे। और उस समय इस मन्दिरमें इतनी प्रचुर रत्न राशि थी कि किसी भी बड़ेसे बड़े राजाके पास उसका दशांश भी नहीं था।

सोमनाथकी सेवाके लिये २००० ब्राह्मण नियुक्त थे। इस मन्दिरके भीतर २०० मन सोनेकी जन्जीर से एक विशाल घड़ावल लटकती थी, जिसको निश्चित समयोंपर बजाकर भक्तोंको पूजाके लिये आह्वान किया जाता था। यात्रियोंके मुण्डनादिके लिये इस मन्दिरमें ३०० क्षौरकार (नाई) थे। ५०० नर्तकियां, और ३५० सङ्गीत विशारद और सुनिपुण वाद्यकार देव-सेवाके लिये नियुक्त थे जिनका निर्वाह पूजाके निमित्त अर्पित गांवों और राजागण तथा यात्रियोंके दानपर आधारित था। यद्यपि सोमनाथसे श्री गङ्गाजी १२०० मील दूर रही हैं, तथापि अभिषेकके लिये नित्य गङ्गाजल लानके लिये यात्री नियुक्त थे। महमूद द्वारा ध्वस्त सोमनाथका यह मन्दिर ईंट और काष्ठका बना हुआ था, जैसी कि उस समय गुजरातकी प्राचीन मन्दिर-निर्माण प्रणाली थी।

इस मन्दिरमें ५६ सागवानके विशाल स्तम्भ थे जिनपर हीरा माणिक पन्नादि रत्न जड़े हुवे थे। ये स्तम्भ भारतके विविध राजाओं द्वारा निर्मित किये गये थे और उनके नाम उन उन स्तम्भोंपर अङ्कित थे। यह मन्दिर तेरह मञ्जिल ऊँचा था, और इसके शिखरपर चौदह सुवर्ण कलश थे जो सूर्य प्रकाशमें जगमग २ करते थे और दूरसे दिखाई पड़ते थे। विशाल शिवलिङ्गपर शृङ्गारके लिये बहुतसे रत्न-जटित आभूषण रहते थे।

महमूदका आक्रमण—

प्राचीन मुसलमान लेखकोंने इस मन्दिरके संबन्ध में बहुत कुछ लिखा है। उन लेखोंके आधारपर, जिनको अंग्रेज इतिहास-वेत्ताओंने संशोधित किया, यह सारा लेख लिखा गया है। ❀

जूनागढ़में मक्काका एक फ़क़ीर रहता था जिसका नाम मंगलूरी शाह था (जिसे हाजी महमूद भी कहते थे।) इसी फ़क़ीरने बार बार महमूदको सूचना दी कि सोमनाथके मन्दिरमें अथाह धन राशि है, और यहांकी मूर्ति इस्लाम धर्मको चुनौती है। महमूद गज़नवीको इसी फ़क़ीरने इस मन्दिरके विषयमें आवश्यक सब सूचनाएँ दीं।

धनकी लालसासे प्रेरित होकर, महमूद गज़नवी ने सोमनाथ मन्दिरपर आक्रमण करनेका निश्चय किया और १२ अक्तूबर सन् १०२५ में महमूद गज़नवी गज़नी (अफ़गानिस्तान स्थित) से ३०,००० चुने हुवे तुर्क नौजवान घुड़सवारोंको हथियारोंसे पूरा सुसज्जित करके मुलतानकी ओर रवाना हुआ, और मध्य नवम्बरमें मुलतान पहुंचा। मुलतानमें जब उसे मालूम हुआ कि मुलतान और सोमनाथके बीचमें एक विस्तीर्ण निर्जल तृण रहित मरुभूमि है, तो उसने हर सवारके साथ दो दो ऊंट पानीसे लदे हुवे लगा दिये। और उनके अतिरिक्त २०,००० ऊंटोंपर खाद्य पदार्थ और पानी लेकर सोमनाथकी ओर बढ़ा।

मार्गमें मुढेर या मुढेरा पड़ा जहां २०,००० हिन्दुओंने महमूदको आगे बढ़नेसे रोकनेके लिये कठिन युद्ध किया, पर महमूदको रोक न सके।

जब वह अजमेर पहुंचा तो वहांके लोगोंने इसका सामना नहीं किया तो भी महमूदने कत्लेआम, लूट,

❀ देखो, (१) इबनी इ-अमीर (सन् ११२१, (२) मीर ख्वौंदका रौज़त उस्सफा (सन् १४६४)।

स्त्री-बच्चोंको कैद करनेका हुक्म दिया, और उनकी देव मूर्तियोंको खण्डित किया। और आगे बढ़कर भूवारा (नहेर वाला अनिहलवाड़ पट्टन) पहुंचा। उस समय वहांके राजा भीमदेव प्रथम थे। वहां पर महमूदने अपना अड्डा बनाया। यहांसे आगे बढ़ते हुवे और मार्गमें पड़ने वाले मन्दिरों और मूर्तियोंको नष्ट करते हुवे, और लूट पाट करते हुवे वह सोमनाथ के निकट बृहस्पतिवार, ६ जनवरी सन १०२६ को पहुंचा। सोमनाथमें उसने एक सुदृढ़दुर्ग देखा जिसकी प्राचीरके मस्तक तक समुद्र तरङ्गें उछलती थीं।

हिन्दु, दर्शकोंकी नाईं, दुर्गप्रवरपर चढ़कर मुसलमानी फौजको देखने लगे कि किस तरह बाबा सोमनाथ मुसलमानोंको नष्ट करते हैं। जैसी कि उनकी धारणा थी। मुसलमानी फौजने दुर्गकी प्रचीरोंपर भयङ्कर तीर वर्षा की, और "अल्लाह-हो-अकबर" का नारा लगाते हुवे क़िलेकी दीवारोंपर चढ़ गये। आक्रमण होते ही हिन्दुओंने मृत्युको हथेलीपर रखकर घोर युद्ध कियां, और शत्रुके दांत खट्टे कर दिये। सारे दिनके घमासान युद्धके बाद हिन्दुओंने मुसलमानोंको भगा दिया, और मुसलमान आततायियोंने अपने शिविरोंमें शरण ली। दूसरे दिन मुसलमान ने ज़बरदस्त धावा किया, और हजारों हिन्दुओंको काट कर मन्दिरमें घुस गये, फिर भी हिन्दू योद्धाओंने रात होने तक दुश्मनका ज़ोरोंसे मुकाबिला किया। जो हिन्दु नौकाओंमें चढ़कर प्राणरक्षाके लिये समुद्रपथसे रवाना हुवे, उन्हें महमूदने अपनी सेना द्वारा कत्ल कराकर अथवा समुद्र निमग्न करा कर, अपना कुत्सित कार्य सफल किया। इस मन्दिरके समीप ५०,००० हिन्दुओंने अपने आराध्य देवकी रक्षामें प्राण दिये।

७ जनवरी सन् १०२६ को जब महमूद मन्दिरके अन्दर पहुंचा तो वहां पांच गज़ ऊंचा शिवलिङ्ग देखा, जिसका दो गज़ भाग भूमिमें था और तीन गज़ ऊपर था। जब इस लिङ्गको खण्डित करनेके लिये हथोड़े उठाये गये तो ब्राह्मण पुजारियोंने महमूद के साथियोंसे कहा कि यदि वे मूर्तिको खण्डित न करें तो बदलेमें करोड़ोंका सोना दिया जा सकता है।

इसपर उसके उमरावोंने महमूदको सलाह दी कि एक मूर्तिको तोड़कर सोमनाथकी दीवारोंसे मूर्ति-पूजा विलुप्त नहीं की जा सकती। अतः मूर्तिको तोड़नेसे कोई लाभ नहीं होगा। पर इतना प्रचुर धन मिलनेसे मुसलमानोंको ख़ैरात देकर सवाब हासिल किया जा सकता है। इसपर महमूदने कहा कि बात तो कुछ ठीक है, पर वह इतिहासमें "बुतशकुन" कहलाना चाहता है, "बुतफ़रोश" नहीं कहलाना चाहता, और मूर्तिको भङ्ग कर दिया।

मूर्ति भङ्ग करते ही पोले लिङ्गमें से हीरे, मोती, पन्नादिकी ढेर रत्न राशि निकल पड़ी।

इस मन्दिरसे जो धन राशि मिली उसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि लूटका कुछ माल उमरावों और सैनिकोंमें वितरण किया गया। जिसका पांचवां हिस्सा महमूदको मिला जिसकी कीमत दो करोड़ दीनार थी। महमूदकी सोनेकी दीनारका वजन ६४'८ ग्रेन था। उस परिमाणसे उसका मूल्य एक करोड़ पांच लाख पाउंड होता है अर्थात् १५ करोड़ ७५ लाख रुपये हुवे। (देखो "The life and Times of Sultan Mahmud of Ghazni" by Mohamed Nazim, Cambridge 1931, Page 118) यहां पाउंड १५) रुपयेका गिना गया है और सोना २४) रुपये तोला लगाया गया है।

अलबरूनी इतिहासकारने (सन् १०३०) में लिखा है कि महमूदने लिङ्गके ऊपरके भागको तोड़ दिया और बाकीका हिस्सा अपने नगर ग़ज़नीमें ले गया। और वहां ग़ज़नीकी जामा मसजिदके द्वारपर लगवा दिया, ताकि मुसलमान नमाजी मसजिदमें घुसनेसे पहले अपने पांवकी धूलि उससे पांछ सकें।

साथ ही महमूद सोमनाथ-मन्दिरकी चन्दन-निर्मित दरवाज़ोंकी जोड़ियां भी उखाड़कर ले गया। पाठकोंको मालूम होगा कि आठ शताब्दी बाद लार्ड एलिनबराने जब अफ़ग़ानिस्तानसे बदला लेनेके लिये पलटन भेजी, तो उसके जनरलको सोमनाथ मन्दिरके दरवाजे गजनीसे भारत लौटा लानेका आदेश दिया था जिससे कि हिन्दु प्रसन्न हों। किन्तु वह जनरल

महमूद ग़ज़नवीके मक़बरेपर लगे हुवे दरवाज़ोंको ही सोमनाथके चन्दन-द्वार समझकर वृथा ही उखाड़ लाया जो अब तक आगरेके किलेके एक कोनेमें पड़े हैं।

महमूद लूटका माल ले भागनेकी जल्दीमें केवल लिङ्ग तोड़ सका। इस अत्याचारसे हिन्दुओंमें रोष छा गया, और कई राजा, आबूक राजा परमर्दीदेवके नेतृत्वमें अरबली पहाड़ियों और कच्छकी रणके बीचसे जाने वाले मार्गको रोकनेके लिये आगे बढ़े, ताकि महमूदको रोक लिया जावे, किन्तु महमूद लड़ाईसे बचनेके लिये दूसरे मार्गसे अर्थात् पश्चिमकी ओर कच्छ और सिन्धके बीचसे होता हुवा निकल भागा। वापसीमें सिन्ध नदीके किनारे मुलतानकी तरफ जाट इसकी सेनाके पिछले भागपर टूट पड़े जिससे इसके बहुतसे सैनिक और घोड़े ऊंट मारे गये। महमूद २ अप्रैल सन् १०२६ में ग़ज़नी वापिस पहुंचा।

भागनेसे पहले कहते हैं, महमूदने मीठा-खां नामके अफसरको नियुक्त किया जिसने सोमनाथ मन्दिरको पूर्णरूपसे नष्ट किया। परन्तु अनिहिलवाड़ पट्टनके महाराज भीमदेवने (सन १०२१-१०७३) मीठा-खांको मार भगाया और सोमनाथके मन्दिरका पुनर्निर्माण किया। महाराज सिद्धराज (सन् १०६३-११४३) ने इसको भूपित और सुसज्जित किया और अन्तमें महाराज कुमारपालने सन् ११६८ में जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिके परामर्शानुसार ७२ लाख रुपये (जो कि उनके राज्यकी एक वर्षकी पूरी आय थी) लगाकर इस मन्दिरको सम्पूर्ण किया। कई इतिहासकारोंका मत है कि यह नया मन्दिर पुराने मन्दिरकी जगहमें बना था। कई लेखक इसको कल्पना मानते हैं। उनका मत है कि सरस्वती नदीके मुहानेसे तीन मील पश्चिमकी ओर, और भीडिया मन्दिरसे प्राय: २०० गज़ दूरीपर जो भग्नावशेष हैं, वहींपर सोमनाथ का मूल मन्दिर था।

अन्य आक्रमण—

महमूदके बाद भी इस मन्दिरपर मुसलमानोंके आक्रमण होते रहे। सन् १२६८ में देहलीके बादशाह अल्लाउद्दीन खिलजीके सिपहसालार अलफखांने इस मन्दिरको फिर धराशायी किया। लिङ्गको जड़से इस आशयसे उखाड़ा कि नीचे दबा हुवा धन मिलेगा जैसाकि धन-लोलुप मन्दिर-ध्वसंक मुसलमानोंकी रीति थी। उसने मन्दिरका नामो निशान मिटानेकी चेष्टा की।

राजा महीपालदेवने (१३०८-१३२५) फिर इस मन्दिरका निर्माण किया। सन् १३१८ में सोमनाथ मन्दिरपर फिर मुसलमानोंका आक्रमण हुवा, और मन्दिर नष्ट कर दिया गया, परन्तु राजा महीपालदेव के सुपुत्र श्री खङ्गार चतुर्थने (१३२५-५१) इस मन्दिरको फिर निर्मित किया और सोमनाथ लिङ्गकी प्रतिष्ठा की।

सन् १३६४ में गुजरातके शासक स्वधर्मत्यागी मुजफ्फरखांने पड़ोसी हिन्दु राजाओंके विरुद्ध भयङ्कर धार्मिक युद्ध (जहाद) छेड़ा, और सोमनाथके मंदिरको फिर एकबार ध्वस्त किया और इसकी जगह मसजिद बना दी। इतिहासकार फरिश्ता लिखता है कि मुजफ्फरखांने जितने मन्दिर तोड़े, उनकी जगह मसजिद बनाता गया। इस्लाम धर्मके प्रचार और प्रसारके लिये मौलवियोंको नियुक्त किया, और इसीने यहां पहली बार मन्दिरोंको मसजिदोंमें परिणत करनेका काम शुरू किया था।

परन्तु हिन्दुओंने सोमनाथ मन्दिरको फिरसे बना लिया। इसके बाद सन १४१३ में मुजफ्फरखांके पोते अहमदशाहने, जो अहमदाबादके अहमदशाही वंशका संस्थापक था, जूनागढके राजापर आक्रमण किया और सोमनाथके मन्दिरको नष्ट किया जहांसे उसे बहुमूल्य सम्पत्ति प्राप्त हुई।

गुजरातके शासक महमूद बेगरा (मुजफ्फर-द्वितीय) ने भी सोमनाथ मन्दिरके अवशेषोंपर आक्रमण किये।

सन् १७०२-३ में जब औरङ्गजेब ८४ वर्षका हुवा तो उसने अहमदाबादके अपने सूबेदार शुजातखांको फरमान भेजा कि उसके जीवित रहते रहते सोमनाथ-

मन्दिरको तुरन्त नष्ट किया जावे ताकि मूर्ति-पूजा सदाके लिये बन्द हो जाय।

मुसलमानोंके बार-बार आक्रमण, लूट और ध्वंसोंसे हिन्दुलोग हतोत्साह हो गये, और सोमनाथका मन्दिर फिर अपने उस ऐश्वर्यको नहीं प्राप्त कर सका जो उसे कुमारपालके समयमें प्राप्त था।

इन्दोरकी महारानी अहल्याबाईने प्राचीन सोमनाथ मन्दिरके स्थानको छोड़कर नये स्थानपर अन्तिम सोमनाथका मन्दिर बनवाया जो आजकल भी अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें उपस्थित है।

सोमनाथ मन्दिरका नव-निर्माण हो—

बहुत दिनोंसे हिन्दुओंकी यह एकान्त कामना रही कि किसी तरह सोमनाथ मन्दिरका निर्माण हो। ईस्ट इण्डिया कम्पनीके समय लार्ड एलिनबराके शासनकालमें सोमनाथ मन्दिरके बनानेकी चर्चा उठी थी पर उसमें सफलता नहीं हो सकी। जूनागढ़के मुसलमान नवाबोंने इसका सदैव विरोध किया। यही नहीं 'देहोत्सर्ग' "वैराग्य क्षेत्र" आदि पावन स्थानोंकी हिन्दुओं द्वारा देख रेख भी मुसलमान नवाबोंके लिये असह्य हुई, और वहां पूजा करनेकी सख्त मनाई कर दी गई यहां तक कि उसके आस-पास की भूमिमें मुर्दा गाढ़कर उसे अपवित्र भी करने लगे।

जब भारत स्वतन्त्र हुवा तो जूनागढ़की प्रजाकी सुप्त प्रतिक्रिया नवाबके विरुद्ध अति उग्र हो उठी। और जब वहांका मुसलमान नवाब जनताकी इच्छाके विरुद्ध पाकिस्तानसे मिल गया, तो वहांके लोगोंने सशस्त्र स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ किया और नवाबको दुधर्ष जनसङ्घकी सामूहिक शक्तिके सामने पलायन करना पड़ा।

अतः अब समय आ गया है कि हम लोग सोमनाथ मन्दिरके अतीत गौरवको पुनः लौटाएं।

अब हिन्दुओंको अपने छिने हुए धर्मस्थानोंको वापिस लेना चाहिये। दुर्बलताका समय चला गया अब भारत स्वतन्त्र है, और भारतको बलवान बनना चाहिये। बल एकतासे आता है, और धर्म एकताके लिये सहायक होता है। हमने अपनी लापरवाही निर्बलता और फूटसे लगभग ८०० वर्ष तक परतन्त्रता की बेड़ियां पहनीं। आज कितने ही देश-भक्तोंके पुरुषार्थ और बलिदानोंके पश्चात् हम स्वतन्त्र हुए हैं। स्वतन्त्रताकी रक्षा करना हमारे हाथ है।

सोमनाथ मन्दिरके निर्माणके विषयको लेकर गनीट्रेड्स एसोसिएशन कलकत्ताके हिन्दु सदस्योंकी तथा अन्य हेसियन बोरेके कार बार करनेवालोंकी एक सभा गत सप्ताहमें हुई। उस सभामें श्रीयुक्त माधोप्रसादजी बिड़ला, केसरदेवजी जालान, भागीरथ जी कानोड़िया देवीप्रसादजी गोयनका छोटेलालजी कानोड़िया रामसहायमलजी मोर मनसुखरायजी मोर गिरधारीलालजी मेहता, विलासरायजी भिवानीवाले, केसरदेवजी कानोड़िया, तुलसीदासजी, जयलालजी वेरीवाले आदि अनेकों बोरेके कारोबारसे सम्बन्ध रखनेवाले महानुभाव उपस्थित थे।

श्रीयुक्त भागीरथजी कानोड़ियाने सोमनाथ मंदिर के नव-निर्माणके बारेमें सभाके सामने अपने विचार रखे। उन्होंने बतलाया कि रविवार ४ जनवरीको सरदार पटेलने पाट, बोरा, कपड़ा, कागज, चीनी, सीमेंट आदिके विभिन्न व्यापारिक प्रतिनिधियोंसे बिरला पार्कमें भेंट की, और उनको जूनागढ़स्थित सोमनाथ मन्दिरके नव-निर्माणके लिये सहायता करनेका परामर्श दिया। श्री भागीरथजी कनोड़ियाने बतलाया कि अन्य व्यापारवालोंने सरदार पटेलको सोमनाथ मन्दिरके लिये धन एकत्रित करनेका आश्वासन दिया है अतः बोरेके व्यापारसे सम्बन्ध रखने वाले सभी सज्जनोंको सोमनाथ मन्दिरके निर्माणके लिये दान देना चाहिये; क्योंकि सोमनाथ मन्दिर सभी हिन्दुओंका है, उन्होंने यह भी कहा कि सोमनाथके पतनके साथ हिन्दुओंकी स्वतन्त्रता-ह्रासका इतिहास भी निहित है। अब भारत स्वतन्त्र हुआ है, अतः सोमनाथका जीर्णोद्धार अवश्य होना चाहिये। सभी उपस्थित सज्जनोंने इस कथनका सहर्ष अनुमोदन किया।

फिर श्री माधोप्रसादजी बिड़लाने अपने उन मित्रोंके नामोंका उल्लेख किया, जिनसे सहायताके वचन उन्होंने प्राप्त कर लिये हैं और उपस्थित सज्जनों से चन्दा लिखवानेकी अपील की। १॥ डेढ़ लाख रुपयेसे अधिककी सहायता सोमनाथ मन्दिर-कोषके लिये हेशियन बोराके व्यापारियोंसे प्राप्त हो चुकी है। चन्दा लिखानेके लिये एक सोमनाथ मन्दिर-कोष-समिति भी बनाई गई जिसमें निम्नलिखित सदस्योंके नाम हैं—श्रीयुत माधोप्रसादजी बिड़ला, केसरदेवजी जालान, देवीप्रसादजी गोयनका, छोटेलालजी कानोड़िया, रामसहायमलजी मोर, जयलालजी बेरीवाला, भागीरथजी कनोड़िया, बिलासरायजी भिवानीवाला, छोटेलालजी सरावगी। इस सब कमेटीको अन्य सदस्य लेनेका अधिकार है।

बोरे बाजारके दलालोंकी भी एक अलग सोम-नाथ-मन्दिर-कोष-सबकमेटी बनाई गई जिसमें निम्न लिखित सदस्योंके नाम हैं—श्रीयुत परमेश्वरीलालजी गुप्ता, जानकीदासजी बेरीवाला, बद्रीप्रसादजी परस-रामपुरिया, बनारसीलालजी फमारनिया, हरिकिसन जी आचार्य। इस सब-कमेटीको भी अन्य सदस्य लेनेका अधिकार है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि सभी हिन्दु भाई इस कोषमें प्रचुर सहायता प्रदानकर अखण्ड-हिन्दु-जाति (राष्ट्र) को सुदृढ़ बनायेंगे।

अन्तमें हम श्री बिड़ला बन्धुओंको धन्यवाद देते हैं कि इस हिन्दु जागरणके कार्यमें वे सबसे आगे आकर इस फण्डकी सफलताके लिये तन, मन, धनसे पूर्ण प्रयत्नशील हुये हैं।

अद्भुत बन्धन !

बता बता रे ! बन्दी ! मुझको,
बांधा किसने आज तुझे ?
बोला—"मेरे स्वामीने ही,
कसकर बांधा आज मुझे ॥
सोचा था धन-बल ही से मैं,
लांघ सकूं सारा संसार।
और धरा धन निजी कोष वह,
था जिसपर नृपका अधिकार ॥
निद्राके हो वशीभूत मैं,
लेट गया उस शय्यापर।
जो मेरे मालिककी प्यारी—
थी मनहर अति ही सुन्दर ॥
ज्ञात हुईं मुझको सब बातें,
जब निद्रासे जाग चुका।
हा ! मैं बन्दी बना हुआ हूं,
अपने ही कोशालयका ॥"

बता ! बनाई किसने तेरी,
यह अटूट अति दृढ बेड़ी ?
बोला बंदी—"बड़े यत्नसे,
इसको मैंने स्वयं घड़ी ॥
सोचा था करलेगा बन्दी,
जगको मेरा प्रबल प्रताप।
सदा भरूंगा शान्ति-सहित मैं,
एकाकी स्वाधीनालाप ॥
अतः रात दिन अथक परिश्रम,
करनेका सब भार लिया।
भट्टी और हथोड़ों—द्वारा,
बेड़ीको तैयार किया ॥
कड़ियां पूर्ण अटूट हुईं सब,
सभी कार्य सम्पूर्ण हुआ।
ज्ञात हुआ इनहीने मुझको,
हा ! बन्धनमें बांध लिया" ॥

[रचयिता—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक—अनूपचन्द जैन न्यायतीर्थ]

करनीका फल

[लेखकः—अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

["अनेकान्त"के दूसरे और तीसरे वर्षमें इस स्तम्भके नीचे ऐतिहासिक, पौराणिक और मौखिक सुनी हुई ऐसी छोटी-छोटी शिक्षाप्रद और मनोरञ्जक कहानिया दी जाती रही हैं, जो प्रवचनोंमें उदाहरणका काम दे सकें। इस तरहकी छोटी-छोटी लाखों कहानिया लोगोंके हृदयोंमें बिखरी पड़ी हैं, जो अक्सर हमारे घरोंमें सुनाई जाती हैं और सीने बसीने चली आरही हैं। परन्तु कागजोंमें लिखी नहीं मिलती। ये कहानिया हमारे देशकी अमूल्य निधि हैं। ये कल्पित उपन्यासों और कहानियोंसे अधिक रोचक और हृदयस्पर्शिनी होती हैं। ऐसी छोटी-छोटी कहानिया भेजने वालोंका अनेकान्त स्वागत करेगा। कहानियोंकी आत्मा चाहे ऐतिहासिक या पौराणिक हो अथवा सुनी सुनाई हो, परन्तु उसकी भाषाका परिधान स्वयं लेखकका होना चाहिए। नमूनेके तौरपर हम एक कहानी दे रहे हैं, यद्यपि वह कुछ बड़ी होगई है, अगले अंकोंमें छोटी २ भी देनेका यत्न किया जायगा। —गोयलीय]

क—एक करके आठ पुत्र-वधुओंके भरी जवानीमें विधवा हो जानेपर भी वृद्धकी आंखोंमें आंसू न आये। साम्यभावसे सब कुछ सहन करता रहा। अपने हाथों आग देकर इस तरह घर आन बैठा जिस तरह लार्ड वेवल बङ्गालके अकाल पीड़ितोंको एड़ियाँ रगड़ते-रगड़ते देखकर दिल्ली आ बैठते थे।

गाँवके कुछ लोग उसके धैर्यकी प्रशंसा उसी तरह करते, जिस तरह आज काश्मीर महाराजके साहसकी कर रहे हैं। कुछ लोग बज्र हृदय कहकर उसका उपहास करते। श्मशानमें जिन्हें शीघ्र वैराग्य घेर लेता है और फिर घर आकर सांसारिक कार्योंमें उसी तरह लिप्त हो जाते हैं, जिस तरह पं० नेहरू मुस्लिम-लीगी आक्रमणोंको भूलकर व्यस्त हो जाते हैं। ऐसे लोग उन्हें जीवन्मुक्त और विदेह कहनेसे न चूकते और छिद्रान्वेषी उन्हें मनुष्य न मानकर पशु समझते।

बात कुछ भी हो, एक-एक करके व्याहे-त्याहे ८ लड़के दो वर्षमें उठ गये। उनकी स्त्रियोंके करुण-क्रन्दनसे पड़ोसियोंको रुलाई आ जाती, पर वृद्ध खटोलेपर चुपचाप उसी तरह बैठा रहता जैसे भूखसे बिलखतोंको देखकर राशनिङ्ग अफसर बैठा रहता है।

कुछ दिनों बाद गांवमें प्लेगकी आन्धी आई तो उसमें उसका एकमात्र पौत्र भी लुढ़क गया। वृद्धके धैर्यका बान्ध टूट गया, उसने अपना सर दीवारसे दे मारा। नारदमुनि अकस्मात् उधरसे निकले तो वृद्धको टकराते हुये देखकर उसी तरह खड़े हो गये, जिस तरह अपहृत अबलाओंके धैर्य बन्धानेको नेता पहुंच जाते हैं। या आग और पानीमें छटपटाते मनुष्योंको देखने न्यूज़-रिपोर्टर रुक जाते हैं।

विपद्-ग्रस्तको देखकर सूखी सहानुभूति प्रकट करनेमें लोगोंका बिगड़ता ही क्या है? जो कल दहाड़ मारकर रोते देखे गये हैं, वे भी उपदेश देनेके इस सुनहरी अवसरसे नहीं चूकते। फिर नारदमुनि तो आखिर नारदमुनि ठहरे! जिस प्रकार आर्य-समाजका मक्केमें वैदिक धर्मका झण्डा फहरानेका अधिकार सुरक्षित है या हसननिज़ामीको सात करोड़ हरिजनोंको मुस्लिम बनानेके हुकूक़ हासिल हैं। ऐसे ही कर्तव्यभारके नाते कण्ठमें मिसरी घोलते हुये नारदमुनि बोले—

"बाबा! धैर्य रखो, रोनेसे क्या लाभ?"

वृद्धने अजनबीसी आवाज सुनी तो अचकचा कर

देखा, तो पीताम्बर पहने और हाथमें वीणा लिये नारद दिखाई दिये। वृद्ध उन्हें साधारण भिक्षु समझ कर भरे हुए कण्ठसे बोला—स्वामिन् धैर्यकी भी कोई सीमा है। एक-एक करके आठ बेटोंको आगमें धर आया। अब ले देकरके घरमें एक टिमटिमाता दीपक बचा था, सो आज वह भी क्रूरकाल आन्धीने बुझा दिया फिर भी धैर्य रखनेको कहते हो, बाबा! धैर्य मेरे पास अब है ही कहां जो उसे रखूं, वह तो कालने पहले ही छीन लिया। मुझे अब बुढापेमें रोनेके सिवाय और काम भी क्या रह गया है स्वामिन्!

सहनशक्तिसे अधिक आपत्ति आनेपर आस्तिक भी नास्तिक बन जाते हैं। जो पर्वत सीना ताने हुए करारी बून्दोंके वार हँसते हुए सहते हैं, वे भी आग पड़नेपर पिघल उठते हैं। ज्वालामुखीसे सिहर उठते हैं। नारदको भय हुआ कि वृद्ध नास्तिक न हो जाय अतः बोले—

"तो क्या तुम अपने पौत्रकी मृत्युसे सचमुच दुखी हो? वह तुम्हें पुनः दिखाई दे जाय तो क्या सुखी हो सकोगे?

वृद्धने निर्निमेष नेत्रोंसे नारदकी ओर उसी तरह देखा जिस तरह नङ्गी उघारी स्त्रियां लाईनमें खड़ी कपड़ेकी दुकानकी ओर देखती हैं। वृद्धने अपने हृदयकी वेदनाको आंखोंमें व्यक्त करके अपनी अभिलाषाको उसी मौन भाषामें प्रकट कर दिया जिस भाषामें बङ्ग-महिलाओंने सतीत्व-लुटनेकी व्यथाको महात्मा गान्धीपर ज़ाहिर किया था।

नारदकी मायासे क्षितिजपर पौत्र दिखाई दिया तो वृद्ध विह्वल होकर उसी तरह लपका जैसे सिनेमा शौक़ीन टिकट घरकी ओर लपकते हैं।

"अरे मेरे लाल, तू कहां चला गया था"?

"अरे दुष्ट तू मेरे शरीरको छूकर अपवित्र न कर पूर्व जन्ममें तूने और तेरे आठ पुत्रोंने जिन लोगोंको यन्त्रणाएँ पहुंचाई थीं। ऐश्वर्य और अधिकारके मदमें जिन्हें तूने मिट्टीमें मिला दिया था। वे ही निरीह प्राणी तेरे पुत्र और पौत्र रूपमें जन्मे थे। ये रुदन करती हुई तेरी आठों पुत्र बधू तेरे पूर्व जन्म के पुत्र हैं, जिन्होंने न जाने कितनी विधवाओंका सतीत्व हरण किया था"।

स्वर्गीय आत्मा विलीन हो गई। वृद्धके चेहरेपर स्याही-सी पुत गई। नारदबाबा वीणापर गुनगुनाते चले गये—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।

भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, ३ फरवरी १९४८

क्या सम्यग्दृष्टि अपर्याप्तकालमें स्त्रीवेदी हो सकता है?

[लेखक—बाबू रतनचन्द जैन, मुख्तार]

श्री षट्खण्डागमके ९३ सूत्रपर 'संजद' पदके विषयमें चर्चा चलते हुए एक यह विषय भी विवाद रूपमें आगया कि असंयत-सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त कालमें स्त्री-वेदी हो सकता है या नहीं? द्रव्य-स्त्री होना तो किसीको इष्ट नहीं है, केवल भाव-स्त्री या स्त्री वेदके उदयपर विवाद है। इस विषयमें पं० फूलचन्द्जी शास्त्री पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य आदि विद्वानोंने युक्ति तथा आगम प्रमाण द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि असंयत सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त कालमें स्त्रीवेदका उदय नहीं होता, यहां षट्खंडागमके तृतीयखंड बंधस्वामित्व-विचयकी श्री वीरसेन स्वामि-कृत धवला टीकासे स्पष्ट है।

१. पत्र १३० सूत्र ७५में कहा है— मनुष्यगतिमें मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त, एवं मनुष्यनियोंमें तीर्थंकर

प्रकृति तक ओघके समान जानना चाहिये। विशेषता इतनी है कि द्विस्थानिक और अप्रत्याख्यानावरणीयकी प्ररूपणा पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचोंके समान है। इस सूत्रकी टीकामें पत्र १३१ पर श्री वीरसेन स्वामीने जहां भेद है उसे बताया लिखा है कि मिथ्यादृष्टिमें ५३, सासादन में ४८, सम्यग्मिथ्यादृष्टिमें ४२ और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ४४ प्रत्यय होते हैं; क्योंकि यहां वैक्रियिक व वैक्रियिकमिश्र प्रत्यय नहीं होते मनुष्यनियोंमें इसी प्रकार प्रत्यय होते हैं। विशेष इतना है कि सब गुणस्थानोंमें पुरुष व नपुंसक वेद, असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें औदारिकमिश्र व कार्मण, तथा अप्रमत्तगुणस्थानमें आहारक द्विक प्रत्यय नहीं होते। प्रकट है कि प्रत्यय (आस्रवके कारण) मूलमें चार और उत्तर सत्तावन होते है। इन में से कौन २ और कितने प्रत्यय किस २ गुणस्थानमें होते हैं, यह सब पत्र २०से २७ तक टीकाकारने कथन किया है। यहांपर इस कथनसे कि मनुष्यनियोंमें सब गुणस्थानमें पुरुष व नपुंसक वेद और अप्रमत्तगुणस्थानमें आहारद्विक प्रत्यय नहीं होते, स्पष्ट हो जाता है कि गति मार्गणामें मनुष्यनी शब्दसे आशय भावस्त्री का है, द्रव्य-स्त्रीका नहीं। यदि द्रव्यस्त्रीका आशय होता तो मनुष्यनीमें अप्रमत्त गुणस्थानको न कहते और पुरुष व नपुंसकवेदका अभाव भी नहीं कहते, क्योंकि द्रव्य-स्त्रीके अप्रमत्तगुणस्थान संभव नहीं और वेद विषमतामें पुरुष व नपुंसक प्रत्यय हो सकते हैं। यहांपर मनुष्यनियोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था का भी विचार किया गया है; क्योंकि औदारिकमिश्र व कार्मण प्रत्ययोंका कथन है जो केवल अपर्याप्त कालमें ही होते हैं। मनुष्यनियोंके असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें औदारिकमिश्र व कार्मण प्रत्यय नहीं होते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्यनियोंके अपर्याप्त कालमें सम्यक्त्व नहीं होता।

२. योग मार्गणानुसार औदारिकमिश्रकाययोगियों में पांच ज्ञानावरणीय आदि प्रकृतियोंके बन्धक मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, और असंयतसम्यग्दृष्टि कहे हैं (सूत्र १४४ व १४५ पत्र २०५ व २०६)। यहां टीकामें श्री वीरसेन स्वामीने स्वोदय-परोदय बन्ध बताते हुए पत्र २०७, पंक्ति १६-२० में पुरुषवेदका बंध असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें स्वोदयसे कहा है, परोदय से नहीं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें मनुष्य व तिर्यंचोंके अपर्याप्त कालमें केवल पुरुषवेदका ही उदय होता है। स्त्री या नपुंसक वेदका उदय नहीं रहता। यदि स्त्री या नपुंसक वेदका उदय भी सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्तकालमें होता तो पुरुषवेदका बन्ध स्वोदय न कह कर स्वोदय-परोदय कहते। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि व सासादन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें कहा है। अतः जिसके औदारिक मिश्रकाय योगमें सम्यक्त्व होगा उसके स्त्री वेद नहीं होगा।

३. पत्र २०८में औदारिकमिश्रकाययोगके प्रत्यय बताते हुए पंक्ति २१में असंयतसम्यग्दृष्टिके बत्तीस प्रत्यय होते हैं। चूंकि असंयतसम्यग्दृष्टियोंमें स्त्री और नपुंसकवेदोंके साथ बारह योगोंका अभाव है। इससे भी यह सिद्ध होता कि है मनुष्य व तिर्यंचोंके अपर्याप्त कालमें असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें स्त्री वेदका उदय नहीं होता।

४. पत्र २३५ पर कार्मणकाययोगियोंमें प्रत्यय बताते हुए पंक्ति १८ में यह कहा है कि अनन्तानुबन्धि चतुष्क और स्त्रीवेदको कम करनेपर असंयतसम्यग्दृष्टियोंके तेतीस प्रत्यय होते हैं। यहांपर नपुंसक वेद को कम नहीं किया है; क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि मर कर नरकमें जा रहा है उसके नपुंसकवेदका सद्भाव पाया जाता है। परन्तु असंयतसम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त कालमें स्त्री वेदका उदय किसी भी गतिमें संभव नहीं है।

५. योग मार्गणानुसार स्त्रीवेदीके प्रत्यय बताते हुए पत्र २४४ पंक्ति २१-२३ में लिखा है कि असंयत सम्यग्दृष्टियोंमें औदारिकमिश्र, वैक्रियिकमिश्र और कार्मणकाय योग प्रत्ययोंको कम करना चाहिए: क्योंकि स्त्री-वेदियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टियोंके अपर्याप्त

कालका अभाव है। यहांपर तो श्री वीरसेन स्वामीने स्वयं इस विषयको बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

६. आहार मार्गणानुसार अनाहारक जीवोंके द्विस्थान प्रकृतियों (वह कर्मप्रकृतियां जो केवल पहले और दूसरे गुणस्थानमें बंधती हैं और जिनकी बन्ध व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थानमें होती है) की प्ररूपणा करते हुए पत्र ३६४ पंक्ति २७में यह कहा है — अनन्तानुबन्धि चतुष्कका बन्ध व उदय दोनों साथ व्युच्छिन्न होते हैं। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि अनाहारक जीवोंके अपर्याप्त कालमें दूसरे गुणस्थानसे उपरिम गुणस्थानोंमें स्त्री वेदका उदय नहीं है।

सल का भाग्योदय*

[ले०—विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री]

सल सोमवंशसे संबद्ध यदुकुलका था। यह उत्तरसे आकर शशकपुर वर्तमान मैसूर राज्यान्तर्गत मुडुगेरे तालुकमें अवस्थित अङ्गडिमें रह रहा था। उस समय अङ्गडि एक छोटासा ग्राम था। उसके चारों ओर भयङ्कर जङ्गल था। सल महा शूर एवं व्यवहार चतुर था। फलतः वह अङ्गडि का रक्षक बनकर जङ्गलसे गांवमें आ, हानि पहुंचाने वाले जङ्गली जानवरोंसे गांववालों की रक्षा करने लगा। इस कार्यके लिये इसे गांववाले प्रतिवर्ष अनाजके रूपमें कुछ कर देने लगे।

इस प्रकार थोड़े समयके बाद सलके पास काफी अनाज एकत्रित हुआ। तब अपने गांवकी रक्षाके लिये इसने एक छोटीसी सेना तैयार की। सल जैन धर्मावलम्बी था। इसके श्रद्धेय गुरु सुदत्त यति थे +। सलको गुरुदेवपर असीम भक्ति थी। एक दिन की बात है कि स्थानीय वसन्तदेवीके मन्दिरमें सल गुरुदेवसे धर्मोपदेश सुन रहा था इसी बीचमें सुदत्त यतिने दूरीपर एक बाघको खरगोशके पीछे दौड़ते हुए देखा। इतने में यति सोचने लगे कि यह दीन खरगोश अवश्य बाघका ग्रास बन जायगा, तत्क्षण ही यति महाराजने धर्म-श्रवणार्थ पासमें बैठे हुए परम भक्त वीर शिरोमणि सलसे कहा कि 'अदं पोय सल' अर्थात् 'सल, उसे मारो'।

बस, गुरुजीका इतना कहना था कि सल हवाकी तरह दौड़कर बाघकी पीठपर चढ़, कटारीकी सहायतासे उसे वश करके गुरुदेवके पादमूलमें ला पटका ÷। शिष्यके इस अद्भुत शौर्यको देखकर गुरुजी बड़े प्रसन्न हुए। इस उपलक्षमें उत्तरोत्तर उन्नतिकी कांक्षासे

---

* 'Epigraphia carnatica'के आधार पर

\+ डा० सालेतोर सागर कट्टे एवं हुंबुचके शिलालेखोंके आधारपर इन सुदत्त यतिका अपर नाम वर्धमान योगीन्द्र बताते हैं। [Mediaeval Jainism] पर वह यह नहीं बता सके कि सुदत्त यतिका नाम वर्धमान योगीन्द्र क्यों पड़ा।

÷ एक शिलालेखसे स्पष्ट है कि सुदत्त यतिने सलके शौर्यकी परीक्षा करनेकेलिये ही यह घटना घटित की थी। दूसरे एक शिलालेखमें यह भी उपलब्ध है कि स्वयं पद्मावती देवीने सिंहका रूप धारण करके सरदार सलकी परीक्षा करनेमें यति सुदत्तकी सहायता की थी। साथ ही साथ यह भी सिद्ध है कि यति महाराजने ही 'सिंह' सलका राजचिह्न नियतकरके पोय्-सल या होय्सल उसका विजयी नाम घोषित किया था। ['Epigraphia Carnatica' भाग ८ पृष्ठ ५]

यति महाराजने शिष्य सलको गम्भीर आशीर्वाद दिया। पीछे वह घाटोंमें छोटे छोटे नायकोंको जीतकर उस समूचे प्रान्तका शासक बना।

उस जमानेमें जनतामें धर्म-श्रद्धा विशेष थी। मुनिवर सुदत्त वहांकी जनताके लिये साक्षात् ईश्वर थे उनकी आज्ञा बिना जनता कोई कार्य नहीं करती थी। सुदत्त यतिमें एक विलक्षण तेज एवं प्रभाव वर्तमान था। इसलिये एक शब्द भी उनके विरुद्ध बोलनेका साहस वहांकी जनतामें नहीं था। फलत: सलको हर प्रकारसे जनतासे सहायता मिलती थी। धीरे धीरे सल अपनी सेनाको बढ़ाकर आस-पासके प्रान्तोंका भी नायक बना।

उस समय सल जिस देशमें था, वह चोल राजाओंके वशमें था। अपनी मातृभूमिको परतन्त्रता से मुक्त करानेके लिये सलने चालुक्योंकी सहायता प्राप्त कर अपने देशको स्वतन्त्र बनाया। बल्कि क्रमश: चोल वर्तमान समूचे मैसूरसे ही खदेड़ दिये गये। होय्सल वंशने लगभग १० वर्षतक राज्यशासन किया था। इस वंशकी राजधानी पहले वेलूर, और पीछे द्वार समुद्र रहा। इस लिये ये 'द्वारावती पुरवराधीश्वर' कहलाते थे।

निस्सन्देह होय्सलोंका समय जैनधर्मके ह्रासका था। चोल राजाओंके द्वारा जैनराष्ट्र गंगवाड़िका अंत हो चुका था। वैष्णव और शैव आचार्योंने अपने चमत्कारोंसे शासक-वर्गपर अपना अधिकार जमा लिया था। ऐसे विकट समयमें जैन यतिको धर्मप्रभावना और राष्ट्रोद्धारकी सुध आना स्वाभाविक था। राष्ट्रीय जागृतिके अभावमें धर्मोन्नतिका होना कठिन था। इसलिये सिंहनंद्याचार्यके अनुरूप ही श्री सुदत्त यतिको होय्सल राज्यकी स्थापना करना आवश्यक प्रतीत हुआ। डा० भास्करानन्द सालेतोरने इस संबंधमें निम्नप्रकार लिखा है — होयसल राज्य जैनी बुद्धि-कौशलकी दूसरी श्रेष्ठ कृति था। अत: अहिंसाप्रधान जैनधर्मने विजयनगर साम्राज्यके उदय काल तक दो बार देशके राजनैतिक जीवनमें नव जागृतिका संचार किया। जैनाचार्योंने राज्यकी सहायता पानेकेलिये ही इन साम्राज्योंकी स्थापना नहीं की। क्योंकि दक्षिणमें जैनधर्मके केन्द्र पहलेसे विद्यमान थे और उनमें उच्च कोटिके विद्वान् मौजूद थे, जैसे भारतमें विरले ही हुए हैं। प्रत्युत उन्होंने राज्य स्थापनामें सक्रिय भाग इसलिये लिया कि देशकी राजनैतिक विचारधारा ठीक दिशामें बहे, और राष्ट्रीय जीवन उन्नत बने। भारतके इतिहासमें जैनधर्मका महत्व इसी कारण है। होय्सल जैन राज्यसे ही विजयनगरके सम्राटोंको वह सन्देश मिला जिसने भारतके इतिहासमें एक नया गौरवपूर्ण अध्याय ही खोल दिया।* इस वंशमें विनयादित्य, एरेयंग, विष्णुवर्धन + नारसिंह और बल्लाल आदि कई धर्मश्रद्धालु शासक हो गये हैं जिन्होंने अपने शासन कालमें जैनधर्मकी काफी सेवा की थी। सकलचंद्र बालचन्द्र, अभयचन्द्र, रामचन्द्र, शान्तिदेव तथा गोपनन्दी आदि विद्वान् जैनाचार्य उपर्युक्त शासकोंके गुरु या प्रबल प्रेरक रहे। आज 'अनेकांत' के विज्ञ पाठकोंके समक्ष होयसल वंशका इतना ही परिचय दिया गया है।

* Mediaeval Jainism, P P. 59-60.

+ यद्यपि यह पीछे वैष्णव हो गया था, फिर भी अंत तक जैनधर्मपर इनकी सहानुभूति बनी रही।

सद्विचार-मणियां

१-जिसके राग-द्वेष-मोह क्षीण हो गये हैं वह फ़क़ीर कङ्करोंपर जो सुख अनुभव करता है वह चक्रवर्ती भी अपनी पुष्पशैय्यापर नहीं अनुभव कर सकता। —ईसा

२-चक्रवर्तिकी सम्पदा इन्द्रलोकके भोग।
काकबीट सम गिनत हैं वीतरागके लोग॥
—जैनवाङ्मय

चतुर्थ वाग्भट्ट और उनकी कृतियां

[लेखक—पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री]

ग्भट नामके अनेक विद्वान हुए हैं। उनमें अष्टाङ्गहृदय नामक वैद्यक ग्रन्थके कर्ता वाग्भट सिंहगुप्तके पुत्र और सिन्धुदेशके निवासी थे। नेमिनिर्वाण काव्यके कर्ता वाग्भट प्राग्वाट या पोरवाड़वंशके भूषण तथा छाहड़के पुत्र थे। और वाग्भट्टालङ्कार नामक ग्रन्थके कर्ता वाग्भट सोमश्रेष्ठीके पुत्र थे। इनके अतिरिक्त वाग्भट नामके एक चतुर्थ विद्वान और हुए हैं जिनका परिचय देनेके लिये ही यह लेख लिखा जाता है।

ये महाकवि वाग्भट नेमिकुमारके पुत्र थे; व्याकरण छन्द, अलङ्कार, काव्य, नाटक, चम्पू और साहित्यके मर्मज्ञ थे; कालीदास, दण्डी, और वामन आदि विद्वानोंके काव्य-ग्रन्थोंसे खूब परिचित थे, और अपने समयके अखिल प्रज्ञालुओंमें चूडामणि थे, तथा नूतन काव्य रचना करनेमें दक्ष थे। * इन्होंने अपने पिता नेमिकुमारको महान् विद्वान् धर्मात्मा और यशस्वी बतलाया है और लिखा है कि वे कौन्तेय कुलरूपी कमलोंको विकसित करने वाले अद्वितीय भास्कर थे। और सकलशास्त्रोंमें पारङ्गत तथा सम्पूर्ण लिपि भाषाओंसे परिचित थे और उनकी कीर्ति समस्त कवि-कुलोंके मान, सन्मान और दानसे लोकमें व्याप्त हो रही थी। और मेवाड़देशमें प्रतिष्ठित भगवान पार्श्वनाथ जिनके यात्रा महोत्सवसे उनका अद्भुत यश अखिल विश्वमें विस्तृत हो गया था। नेमिकुमारने राहडपुरमें * भगवान नेमिनाथका और नलोटकपुरमें बाईस देवकुलकाओं सहित भगवान आदिनाथका विशाल मन्दिर बनवाया था +। नेमिकुमारके पिताका नाम 'मक्कलप' और माताका नाम महादेवी था, इनके राहड और नेमिकुमार दो पुत्र थे, जिनमें नेमिकुमार लघु और राहड ज्येष्ठ थे। नेमिकुमार अपने ज्येष्ठ भ्राता राहडके परमभक्त थे और उन्हें आदर तथा प्रेमकी दृष्टिसे देखते थे। राहडने भी उसी नगरमें भगवानआदिनाथके मन्दिरकी दक्षिण दिशामें बाईस जिन-मन्दिर बनवाए थे, जिस से उनका यशरूपी चन्द्रमा जगतमें पूर्ण हो गया था—व्याप्त हो गया था÷।

कवि वाग्भट्ट भक्तिरसके अद्वितीय प्रेमी थे, उनकी स्वोपज्ञ काव्यानुशासनवृत्तिमें आदिनाथ नेमिनाथ और भगवान पार्श्वनाथका स्तवन किया

---

*. नव्यानेकमहाप्रबन्धरचनाचातुर्यविस्फूर्जित-
स्फारोदारयशः प्रचारसततव्याकीर्णविश्वत्रयः।
श्रीमन्नेमिकुमार-सूरिरखिलप्रज्ञालुचूडामणिः।
काव्यानामनुशासनं वरमिदं चक्रे कविर्वाग्भटः॥

छन्दोनुशासनकी अन्तिम प्रशस्तिमें भी इस पद्यके ऊपर के तीन चरण ज्योंके त्यों रूपमें पाये जाते हैं। सिर्फ चतुर्थ चरण बदला हुआ है, जो इस प्रकार है—

'छन्दः शास्त्रमिदं चकार सुधियामानन्दकृद्वाग्भटः'।

*. जान पड़ता है कि 'राहडपुर' मेवाड़देशमें ही कहीं नेमिकुमारके ज्येष्ठ भ्राता राहडके नामसे बसाया गया है।

+. देखो, काव्यानुशासनटीकाकी उत्थानिका पृष्ठ १

÷. नाभेयचैत्यसदने दिशि दक्षिणस्यां।
द्वाविंशतिं विदधता जिनमन्दिराणि।
मन्ये निजाग्रजवर प्रभु राहडस्य।
पूर्णीकृतो जगति येन यशः शशाङ्कः।
काव्यानुशासन पृष्ठ ३४

गया है। जिससे यह सम्भव है कि इन्होंने किसी स्तुति ग्रन्थकी भी रचना की हो; क्योंकि रसोंमें रति (शृङ्गार) का वर्णन करते हुए देव-विषयक रतिके उदाहरणमें निम्न पद्य दिया है—

नो मुक्त्यै स्पृहयामि विभवैः कार्यं न सांसारिकैः,
किंत्वायोज्य करौ पुनरिदं त्वामीशमभ्यर्चये।
स्वप्ने जागरणे स्थितौ विचलने दुःखे सुखे मंदिरे,
कान्तारे निशिवासरे च सततं भक्तिर्ममास्तु त्वयि।

इस पद्यमें बतलाया है कि हे नाथ ! मैं मुक्तिपुरी की कामना नहीं करता और न सांसारिक कार्योंके लिये विभव (धनादि सम्पत्ति) की ही आकांक्षा करता हूं; किन्तु हे स्वामिन् हाथ जोड़कर मेरी यह प्रार्थना है कि स्वप्नमें, जागरणमें, स्थितिमें, चलनेमें दुःख-सुखमें, मन्दिरमें, वनमें, रात्रि और दिनमें निरन्तर आपकी ही भक्ति हो।

इसी तरह कृष्ण नील वर्णोंका वर्णन करते हुए राहडके नगर और वहां प्रतिष्ठित नेमिजिनका स्तवन-सूचक निम्न पद्य दिया है—

सजलजलदनीलाभाति यस्मिन्वनाली,-
मरकतमणिकृष्णो यत्र नेमि जिनेन्द्रः।
विकचकुवलयालि श्यामलं यत्सरोम्भः-
प्रमुदयति न कांस्कांस्तत्पुरं राहडस्य ॥

इस पद्यमें बतलाया है कि जिसमें वन-पंक्तियां सजलमेघके समान नीलवर्ण मालूम होती हैं और जिस नगरमें नीलमणि सदृश कृष्णवर्ण श्री नेमि जिनेन्द्र प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें तालाब विकसित कमलसमूहसे पूरित हैं वह राहडका नगर किन किनको प्रमुदित नहीं करता।

महाकवि वाग्भट्टकी इस समय दो कृतियां उपलब्ध हैं—छन्दोनुशासन और काव्यानुशासन। उनमें छन्दोनुशासन काव्यानुशासनसे पूर्व रचा गया है; क्योंकि काव्यानुशासनकी स्वोपज्ञवृत्तिमें स्वोपज्ञ-छन्दोनुशासनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसमें छन्दोंका कथन विस्तारसे किया गया है। अतएव यहांपर नहीं कहा जाता *।

छन्दोनुशासन—

जैनसाहित्यमें छन्दशास्त्रपर 'छन्दोनुशासन, + स्वयम्भूछन्द, ※ छन्दोकोष, ÷ और प्राकृतपिङ्गल ★ आदि अनेक छन्द ग्रन्थ लिखे गये हैं। उनमें प्रस्तुत छन्दोनुशासन सबसे भिन्न है। यह संस्कृत भाषाका छन्द ग्रन्थ है और पाटनके श्वेताम्बरीय ज्ञानभंडारमें

* अयं च सर्वप्रपञ्चः श्रीवाग्भटाभिधस्वोपज्ञ छन्दोनुशासने प्रपञ्चित इति नात्रोच्यते।'

+ यह छन्दोनुशासन जयकीर्तिके द्वारा रचा गया है। इसे उन्होंने माण्डव्य, पिंगल, जनाश्रय, सेतव, पूज्यपाद (देवनंदी) और जयदेव आदि विद्वानोंके छन्द ग्रन्थोंको देखकर बनाया गया है। यह जयकीर्ति अमलकीर्तिके शिष्य थे। सम्वत् ११९२ मे योगसारकी एक प्रति अमलकीर्तिने लिखवाई थी इससे जयकीर्ति १२वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १३वीं शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् जान पड़ते हैं। यह ग्रन्थ जैसलमेरके श्वेताम्बरीय ज्ञानभण्डारमे सुरक्षित है। देखो गायकवाड़ संस्कृतसीरीजमे प्रकाशित जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूची।

※ यह अपभ्रंशभाषाका महत्वपूर्ण मौलिक छन्द ग्रन्थ है इसका सम्पादन एच० डी० वेलंकरने किया है। देखो बम्बईयूनिवर्सिटी जनरल सन् १९३३ तथा रायल-एशियाटिक सोसाइटी जनरल सन् १९३५

÷ यह रत्नशेखरसूरिद्वारा रचित प्राकृतभाषाका छन्दकोश है।

★ पिंगलाचार्यके प्राकृतपिंगलको छोड़कर, प्रस्तुत पिंगल ग्रन्थ अथवा 'छन्दो विद्या' कविवर राजमलकी कृति है जिसे उन्होंने श्रीमालकुलोत्पन्न वणिकपति राजा भारमल्लके लिये रचा था। इस ग्रन्थमे छन्दोंका निर्देश करते हुए राजा भारमल्लके प्रताप यश और वैभव आदिका अच्छा परिचय दिया गया है। इन छन्द ग्रन्थोंके अतिरिक्त छन्दशास्त्र वृत्तरत्नाकर और श्रुतबोध नामके छन्द ग्रन्थ और हैं जो प्रकाशित हो चुके हैं।

ताडपत्रपर लिखा हुआ विद्यमान है *। उसकी पत्रसंख्या ४२ और श्लोकसंख्या ५४० के करीब है और जो स्वोपज्ञवृत्ति या विवरणसे अलंकृत है। इस ग्रन्थका मङ्गल पद्य निम्न प्रकार है—

विभुं नाभेयमानम्य छन्दसामनुशासनम्।
श्रीमन्नेमिकुमारस्यात्मजोऽहं वच्मि वाग्भटः

यहां मङ्गल पद्य कुछ परिवर्तनके साथ काव्यानुशासनकी स्वोपज्ञवृत्तिमें भी पाया जाता है, जसमें 'छन्दसामनुशासनं' के स्थानपर 'काव्यानुशासनम्' दिया हुआ है।

यह छन्दग्रन्थ पांच अध्यायोंमें विभक्त है, संज्ञाध्याय १, समवृत्ताख्य २, अर्धसमवृत्ताख्य ३, मात्रासमक ४, और मात्रा छन्दक ५। ग्रन्थ सामने न होनेसे इन छन्दोंके लक्षणादिका कोई परिचय नहीं दिया जा सकता और न ही यह बतलाया जा सकता है कि ग्रन्थकारने अपनी दूसरी किन किन रचनाओंका उल्लेख किया है।

काव्यानुशासनकी तरह इस ग्रन्थमें भी राहड और नेमिकुमारकी कीर्तिका खुला गान किया गया है और राहडको पुरुषोत्तम तथा उनकी विस्तृत चैत्यपद्धतिको प्रमुदित करनेवाली प्रकट किया है। यथा—

पुरुषोत्तम राहडप्रभो कस्य न हि प्रमदं ददाति सद्यः
वितता तव चैत्य पद्धतिर्वातचलध्वजमालभारिणी।

और अपने पिता नेमिकुमारकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'घूमनेवाले भ्रमरसे कम्पित कमलके मकरन्द (पराग) समूहसे पूरित, भड़ौंच अथवा भृगुकच्छनगरमें नेमिकुमारकी अगाध वावड़ी शोभित होती है। यथा—

परिभमिरभमरकंपिरसररूहमयरंदपुंजपुंजरिआ।
वावी सहइ अगाहा नेमिकुमारस्स भरुअच्छे ॥

इस तरह यह छन्दग्रन्थ बड़ा ही महत्वपूर्ण जान पड़ता है समाजको चाहिये कि वह इस अप्रकाशित छन्दग्रन्थको प्रकाशित करनेका प्रयत्न करे।

काव्यानुशासन—

काव्यानुशासन नामका प्रस्तुत ग्रन्थ मुद्रित होचुका है। इसमें काव्य सम्बन्धि विषयोंका— रस अलङ्कार छन्द और गुण दोष आदिका-कथन किया गया है। इसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें उदाहरण स्वरूप विभिन्न ग्रंथोंके अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं जिनमें कितने ही पद्य ग्रन्थकर्ताके स्वनिर्मित भी होंगे, परन्तु यह बतला सकना कठिन है कि वे पद्य इनके किस ग्रन्थके हैं। समुद्धृत पद्योंमें कितने ही पद्य बड़े सुन्दर और सरस मालूम होते हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिये उनमेंसे दो तीन पद्य नीचे दिये जाते हैं।

कोऽयं नाथ जिनो भवेत्तव वशी हुं हुं प्रतापी प्रिये
हुं हुं तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपक्रियां।
मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किङ्कराः के वयं
इत्येवं रतिकामजल्पविषयः सोऽयं जिनः पातु वः

एक समय कामदेव और रति जङ्गलमें विहार कर रहे थे कि अचानक उनकी दृष्टि ध्यानस्थ जिनेन्द्रपर पड़ी, उनके रूपवान् प्रशान्त शरीरको देखकर कामदेव और रतिका जो मनोरञ्जक संवाद हुआ है उसीका चित्रण इस पद्यमें किया गया है। जिनेन्द्रको मेरुवत् निश्चल ध्यानस्थ देखकर रति कामदेवसे पूछती है कि हे नाथ! यह कौन है? तब कामदेव उत्तर देता है कि यह जिन हैं,—राग-द्वेषादि कर्मशत्रुओंको जीतने वाले हैं—पुनः रति पूछती है कि यह तुम्हारे वशमें हुए, तब कामदेव उत्तर देता है कि हे प्रिये! यह मेरे वशमें नहीं हुए; क्योंकि यह प्रतापी हैं। तब फिर रति पूछती है यदि यह तुम्हारे वशमें नहीं हुए तो तुम्हें 'त्रिलोकविजयी' पनकी शूरवीरताका अभिमान छोड़ देना चाहिये। तब कामदेव रतिसे पुनः कहता है कि इन्होंने मोह राजाको जीत लिया है जो हमारा प्रभु है, हम तो उसके किङ्कर हैं। इस तरह रति और कामदेवके संवाद-विषयभूत यह जिन तुम्हारा संरक्षण करें।

* See Patan Catalague of Manuscripts p. 117

शठकमठ विमुक्ताग्रावसंघातघात-,
व्यथितमपिमनो न ध्यानतो यस्य नेतुः।
अचलदचलतुल्यं विश्वविश्वैकधीरः,
स दिशतु शुभमीशः पार्श्वनाथो जिनो वः।

इस पद्यमें बतलाया है कि दुष्ट कमठके द्वारा मुक्त मेघसमूहसे पीड़ित होते हुए जिनका मन ध्यानसे जरा भी विचलित नहीं हुआ वे मेरुके समान अचल और विश्वके अद्वितीय धीर, ईश पार्श्वनाथ जिन तुम्हें कल्याण प्रदान करें।

इसी तरह 'कारणमाला'के उदाहरण स्वरूप दिया हुआ निम्न पद्य भी बड़ा ही रोचक प्रतीत होता है। जिसमें जितेन्द्रियताको विनयका कारण बतलाया गया है और विनयसे गुणोत्कर्ष, गुणोत्कर्षसे लोकानुरञ्जन, और जनानुरागसे सम्पदाकी अभिवृद्धिका होना सूचित किया है, वह पद्य इस प्रकार है—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं,
गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेणजनोऽनुरज्यते,
जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः॥

इस ग्रन्थकी स्वोपज्ञवृत्तिमें कविने अपनी एक कृतिका 'स्वोपज्ञ ऋषभदेव महाकाव्ये' वाक्यके साथ उल्लेख किया है और उसे 'महाकाव्य' बतलाया है, जिससे वह एक महत्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ जान पड़ता है इतना ही नहीं किन्तु उसका निम्न पद्य भी उद्धृत किया है—

यत्पुष्पदन्त-मुनिसेन-मुनीन्द्रमुख्यैः,
पूर्वैकृतं सुकविभिस्तदहं विधित्सुः।
हास्यास्य कस्य ननु नास्ति तथापिसन्तः,
शृण्वन्तु कञ्चनममापि सुयुक्ति सूक्तम्।

इसके सिवाय, कविने भव्यनाटक और अलंकारादि काव्य बनाये थे। परन्तु वे सब अभी तक अनुपलब्ध हैं, मालूम नहीं, कि वे किस शास्त्रभण्डारकी काल कोठरीमें अपने जीवनकी सिसकियाँ ले रहे होंगे।

सम्प्रदाय और समय—

ग्रन्थकर्ताने अपनी रचनाओंमें अपने सम्प्रदायका कोई समुल्लेख नहीं किया और न यही बतलानेका प्रयत्न किया है कि उक्त कृतियां कब और किसके राज्यकालमें रची गई हैं? हां, काव्यानुशासनवृत्तिके ध्यानपूर्वक समीक्षणसे इस बातका अवश्य आभास हो जाता है कि कविका सम्प्रदाय 'दिगम्बर' था; क्योंकि उन्होंने उक्त वृत्तिके पृष्ठ ६ पर विक्रमकी दूसरी तीसरी शताब्दिके महान् आचार्य समन्तभद्रके 'बृहत्स्वयम्भू स्तोत्रके द्वितीय पद्यको 'आगम आप्तवचनं यथा' वाक्यके साथ उद्धृत किया है *। और पृष्ठ ५ पर भी 'जैनं यथा' वाक्यके साथ उक्त स्तवनका 'नयास्तव स्यात्पदसत्यलांछिता रसोपविद्धा इव लोह धातवः। भवन्त्यमी प्रेतगुणा यतस्ततो भवन्त-मार्याः प्रणिता हितैषिणः'॥ यह ६५वां पद्य समुद्धृत किया है। इसके सिवाय पृष्ठ १५ पर ११ वीं शताब्दीके विद्वान आचार्य वीरनन्दीके 'चन्द्रप्रभचरित' का आदि मङ्गलपद्य + भी दिया है, और पृष्ठ १६ पर सज्जन-दुर्जन चिन्तामें 'नेमिनिर्वाण काव्यके' प्रथम सर्गका निम्न२० वां पद्य उद्धृत किया है—

गुणप्रतीतिः सुजनाजनस्य,
दोषेष्ववज्ञा खलजल्पितेषु।
अतोध्रुवं नेह मम प्रबन्धे,
प्रभूतदोषेऽप्ययशोवकाशः॥

और उसी १६वें पृष्ठमें उल्लिखित 'उद्यानजलकेलि मधुपानवर्णनं नेमिनिर्वाण राजीमती परित्यागादौ' इस वाक्यके साथ नेमिनिर्वाण और राजीमती परि-

* प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषुकर्मसु प्रजाः। प्रबुद्धतत्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः॥२॥

+ श्रिय क्रियाद्यस्य सुरागमे नटत्सुरेन्द्रनेत्रप्रतिबिम्बलाञ्छिता। सभा बभौ रत्नमयी महोत्पलैः कृतोपहारेव स वोग्रजो जिनः॥

त्याग नामके दो ग्रन्थोंका समुल्लेख किया है। उनमेंसे नेमिनिर्वाणके ८ वें सर्गमें जलक्रीड़ा और १०वें सर्गमें मधुपानसुरतका वर्णन दिया हुआ है। हां, 'राजीमती परित्याग' नामका अन्य कोई दूसरा ही काव्यग्रन्थ है जिसमें उक्त दोनों विषयोंके कथन देखनेकी सूचना की गई है। यह काव्यग्रन्थ सम्भवत: पं० आशाधर जीका 'राजमती विप्रलम्भ' या परित्याग जान पड़ता है; क्योंकि उसी सोलहवें पृष्ठ पर 'विप्रलम्भ वर्णनं राजमती परित्यागादौ वाक्यके साथ उक्त ग्रन्थका नाम 'राजीमती परित्याग' सूचित किया है। जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि उक्त काव्यग्रन्थमें 'विप्रलम्भ'विरह का वर्णन किया गया है। विप्रलम्भ और परित्याग शब्द भी एकार्थक है। यदि यह कल्पना ठीक है तो प्रस्तुत ग्रन्थका रचना काल १३ वीं शताब्दीके विद्वान् पं० आशाधर जीके बादका हो सकता है।

इन सब ग्रन्थोल्लेखोंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थकर्ता उल्लिखित विद्वान् आचार्योंका भक्त और उनकी रचनाओंसे परिचित तथा उन्हींके द्वारा मान्य दिगम्बरसम्प्रदायका अनुसर्ता अथवा अनुयायी था। अन्यथा समन्तभद्राचार्यके उक्त स्तवन पद्यके साथ भक्ति एवं श्रद्धावश 'आगम और आप्तवचन' जैसे विशेषणोंका प्रयोग करना सम्भव नहीं था।

अब रही 'रचना समयकी बात' सो इनका समय विक्रमकी १४ वीं शताब्दीका जान पड़ता है; क्योंकि काव्यानुशासनवृत्तिमें इन्होंने महाकवि दण्डी वामन और वाग्भटादिकके द्वारा रचेगये दश काव्य-गुणोंमेंसे सिर्फ माधुर्य ओज और प्रसाद ये तीन गुण ही माने हैं और शेष गुणोंका इन्हीं तीनमें अन्तर्भाव किया है ÷। इनमें वाग्भट्टालङ्कारके कर्ता वाग्भट विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान् हैं। इससे प्रस्तुत वाग्भट वाग्भट्टालङ्कारके कर्तासे पश्चात् वर्ति है यह सुनिश्चित है। किन्तु ऊपर १३ वीं शताब्दीके विद्वान पं० आशाधर जीके 'राजीमती विप्रलम्भ या परित्याग' नामके ग्रन्थका उल्लेख किया गया है जिसके देखनेकी प्रेरणा की गई है। इस ग्रन्थोल्लेख से इनका समय तेरहवीं शताब्दीके बादका सम्भवत: विक्रमकी १४ वीं शताब्दीका जान पड़ता है।

वीरसेवा मन्दिर ता० १५-२-४८

÷ इति दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीता दशकाव्यगुणाः। वयं तु माधुर्यौजप्रसादलक्षणांस्त्रीनेव गुणा मन्यामहे, शेषास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति। तद्यथा— माधुर्ये कान्तिः सौकुमार्यं च, औजसि श्लेषः समाधिरुदारता च। प्रसादेऽर्थव्यक्तिः समता चान्तर्भवति। काव्यानुशासन २, ३१

महात्मा गान्धीके निधनपर शोक-प्रस्ताव !

"महात्मागांधीकी तेरहवीं दिवसपर २२ फरवरी १९४८ को वीरसेवामन्दिरमें श्रीमान् पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार सम्पादक 'अनेकान्त' की अध्यक्षता में शोक-सभा की गई जिसमें विविध वक्ताओंने गान्धीजीके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलियां प्रकट कीं और उपस्थित जनताने निम्न शोक-प्रस्ताव पास किया—

विश्वके महान् मानव, मानव समाजके अनन्य सेवक अहिंसा-सत्यके पुजारी और भारतके उद्धारमें सविशेषरूपसे संलग्न, उसकी महाविभूति महात्मा मोहनदास गांधीकी ३० जनवरीको होनेवाली निर्मम हत्याका दु:समाचार सुना है और साथही यह मालूम हुआ है कि उसके पीछे कोई भारी षड्यन्त्र है जो देशमें फासिस्टवादका प्रचार कर तबाह व बर्बाद करना चाहता है तबसे वीरसेवामन्दिरका, जो कि रिसर्च इन्स्टिट्यूट और साहित्य सेवाके रूपमें जैन समाजकी एक प्रसिद्ध प्रधान संस्था है, सारा परिवार दु:खसे पीड़ित और शोकाकुल है और अपनी उस

वेदनाको मन्दिरसे प्रकाशित होने वाले 'अनेकान्त' पत्रको जनवरी मासकी किरणमें भारतकी महाविभूति का दु:सह वियोग' शीर्षकके नीचे कुछ प्रकट भी कर चुका है। आज महात्माजीकी १३ वींके दिन जबकि उनके शरीरकी पवित्र भस्म नदियोंमें प्रवाहितकी जायगी, नगरकी सारी जैन जनता वीरसेवामन्दिरमें एकत्र हुई, और उसने महात्माजीके इस आकस्मिक निधनपर अपना भारी दु:ख तथा शोक प्रकट किया। साथही यह स्वीकार किया कि आपभी महावीरके अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहवाद जैसे सिद्धान्तोंकी मौलिक शिक्षाओंका व्यापक प्रचार और प्रसार करने वाले एक सन्तपुरुष थे। देश आपके उपकारों और सेवाओंका बहुत बड़ा ऋणी है आपके इस निधनसे भारतको ही नहीं बल्कि सारे विश्वको भारी क्षति पहुंची है, जिसकी शीघ्र पूर्ति होना असंभव जान पड़ता है। अत: वीरसेवामन्दिरका समस्त परिवार एकत्रित जैन जनता और जैनेतर जनताके साथ स्वर्गीय महात्माजीको अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करता हुआ उनकी आत्माके लिये परलोकमें सुख-शान्ति की कामना करता है और उनके समस्त परिवारके प्रति अपनी हार्दिक समवेदना व्यक्त करता है। साथ ही यह दृढ़भावना और भगवान महावीरसे प्रार्थना भी करता है कि पं० जवाहरलाल नेहरू सरदार बल्लभ भाई पटेल, डा० राजेन्द्रकुमार और मौलाना अब्बुलकलाम आज़ाद जैसे देशके वर्तमान नेताओं को जिनके ऊपर महात्माजी अपने मिशनका भार छोड़ गये हैं वह अपार बल और साहस प्राप्त होवे जिससे वे राष्ट्रके समुचित निर्माण और उत्थानके कार्यमें पूरी तरह समर्थ हो सकें।

गाँधीकी याद !

[लेखक:—मु० फ़ज़लुलरहमान जमाली, सरसावी]

वह देशका रहबर था, वह महबूबे नज़र था ! सच पूछो तो वह हिन्दका मुमताज़ बशर था !!
हिन्दूको अगर जान तो मुस्लिमका जिगर था ! गङ्गाको अगर मौज तो जमनाकी लहर था !!
वह सो गया सोया है मगर सबको जगाकर !
रूपोश हुआ पर्देमें, वह पर्दा उठाकर !!

तस्वीरे मुहब्बत था, अहिंसाका वह पैकर ! बहता हुआ वह रहम व हमीयतका समन्दर !!
ऐ आह ! कि वह छुप गया खुर्शीद मनव्वर ! हर मुल्कमें अन्धेर तो मातम हुआ घर घर !!
तबक़ा यह उलट जाय तो कुछ दूर नहीं है !
गान्धीकी मगर रूहको मंज़ूर नहीं है !!

अब कौन है इस डूबती कश्तीका सहारा ! उन लोगोंका यों दौर है जो हैं सितम आरा !!
यह सदमा तो दिलको नहीं होता था गवारा ! क्या डूब चुका हिन्दकी किस्मतका सितारा !!
उम्मीद बढ़ी दिलकी लगे होश ठिकाने !
अब दूसरा गांधी किया 'नहरू' को खुदाने !!

जाँ देके बड़े कामको अंजाम दिया है ! कोमतको अहिंसाकी अदा करके रहा है !!
गाँधी जिया जिस तरहसे यूं कौन जिया है ! नाथूने मगर हिन्दको बदनाम किया है !!
जो शमा हिदायत थी उसे आह बुझा दी !
जालिमने लगी आगमें और आग लगा दी * !!

* यह उर्दू कविता १२ फरवरी सन् १९४८ को सरसावाकी सार्वजनिक शोकसभामें पढ़ी गई और पसन्दकी गई

१—राष्ट्रपिताको श्रद्धांजलि—

राष्ट्रपिताके निधनपर हम क्या श्रद्धांजलि अर्पित करें ? हम तो उनकी भेड़ थे। जिधरको संकेत किया बढे, जब रोका रुके, पर्वतोंपर चढ़नेको कहा चढे, और गिरनेको कहा तो गिरे। श्रद्धाञ्जलि तो हमारी पीढ़ी दर पीढ़ी अर्पित करेगी जिसे स्वतन्त्र भारतमें जन्म लेनेका अधिकार बापूने प्रदान किया है।

१५ अगस्तको जब समस्त भारत स्वतन्त्रता समारोहमें लीन था, तब हमारा राष्ट्रपिता कलकत्तेमें बैठा साम्प्रदायिक विष पी रहा था। समग्र भारतकी इच्छा उसे अभिशिक्त करनेकी थी, परन्तु वह कलकत्तेसे हिला नहीं। और उसने सांकेतिक भाषामें सावधान कर दिया कि जिस समुद्रमन्थनसे स्वतंत्रता-सुधा निकली है, उसीसे सांप्रदायवाद-हलाहल भी निकल पड़ा है। यह मुझे चुपचाप पीने दो। इसकी बूंद भी बाहर रही तो सुधाको भी गरल बना देगी। और सचमुच उस हर्षोन्मादकी छीना-झपटीमें हमारे हाथों जो गरल छलको तो वह पानीमें मिट्टीके तेलकी तरह सर्वत्र फैल गई। और दूसरे पदार्थोंके सम्मिश्रणसे उसका ऐसा विकृतरूप हुआ कि उसके पानसे न तो हम मरते ही हैं और न जीते ही हैं। एड़ियां रगड़ रगड़कर छटपटा रहे हैं फिर भी प्राण नहीं निकल रहे हैं।

इस सांघातिक महाव्याधिसे छुटकारा दिलाने राष्ट्रपिता दिल्ली पहुंचे, उपचार चल ही रहा था कि इस रोगसे ग्रसित कुछ अभागोंको सन्निपात हो गया। और उसी सन्निपातके वेगमें उन्होंने राष्ट्रपिताका वध कर डाला। पुत्र ही पिताके घातक हो गये।

आर्यकुलमें आश्चर्य जनक घटनाएँ मिलती हैं। पुत्रने माताका वध किया, माताने पुत्रोंको जङ्गलोंकी खाक छाननेको मजबूर किया। भाईने बहनके बालकोंका वध किया। देवरने भाभीको नग्न करनेका बीड़ा उठाया, शिष्यने गुरुको मारा. मित्रने मित्रकी बहनका अपहरण किया। नारियोंने पतियोंके और पतियोंने नारियोंके वध किये। परन्तु पुत्रोंने पिताका वध किया हो ऐसा उदाहरण आर्य, अनार्य, देश, विदेशमें कहीं नहीं मिलता। गोडसेने यह कृत्य करके कलङ्ककी इस कमीको पूर्ण कर दिया है।

एकही भारतमें दो नारियोंको प्रसव-पीड़ा हुई। एकने बापूको और एकने गोडसेको जन्म दिया। कितना आकाश-पातालका अंतर है इस जन्म देनेमें। एकने वह अमर ज्योति दी जिससे समस्त विश्व दीप्त हो उठा, दूसरीने वह राहु प्रसव किया जिसके कारण आज भारत तिमिराछन्न है। एटम बमके जनकसे अधिक निकृष्ट निकली यह नारी। क्या विधाता इस नारीको वन्ध्या बनानेमें भी समर्थ न हो सका।

गोडसेके इस कृत्यने उसके वंशपर, जातिपर, प्रान्तपर कालिमा पोत दी है। गोडसे वंशकी कन्याएँ वरोंकी खोजमें भटकती फिरेंगी युवकोंकी ओर लालायित दृष्टिसे देखेंगी। परन्तु युवक क्या बूढे भी उस ओर नहीं थूकेंगे। सर्वत्र थू थू दुर दुर लानत और

फटकार बरसेगी। नाथू गोडसे पर थूकना भी लोग पसन्द नहीं करेंगे। कौन ऐसे वंशपर थूक कर अपने थूकको अपवित्र करेगा?

ओ दुर्दैव! तू अपने भयानक चक्रमें फंसाकर हमारे समुचित अपराधोंकी सजा देना। पर हमारे देशमें, प्रान्तमें, समाजमें, वंशमें, ऐसा कलंकी उत्पन्न न करना! भले ही हमारा पुरुषत्व और नारियोंका जनन अधिकार छीन लेना; परन्तु हमें इस अभिशापसे बचाना। दैव! हम तेरे पांव पड़ते हैं, हमने इतना दीन हो कर त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रसे भी कभी कुछ न मांगा, आज हम गिड़गिड़ाकर यह भीख मांगते है कि हमारे देशमें फिर ऐसा कलङ्की उत्पन्न न करना।

बापूकी मृत्यु इस शानसे हुई जिसके लिये बड़े २ महारथी तरसते है। मगर नसीब नहीं होती —
जो मर जावे खटिया पड़कर उसके जीवनको धिक्कार।

बचपनमें आल्हाखण्डका यह पद्यांश सुना और अभी तक विस्मरण नहीं हुआ। विस्मरण होनेकी चीज भी नहीं है। बचपनसे ही देखता आ रहा हूं कि सचमुच अधमसे अधम, गये बीतेसे गया बीता भी खटियापर नहीं मरना चाहता, वह भी मरनेसे पूर्व खटियासे पृथ्वीपर ले लिया जाता है। रणक्षेत्र या कार्यक्षेत्र धर्मक्षेत्र न सही पृथ्वीपर लेटकर प्राण देनेसे उसका तसल्वुर तो नेत्रोंमें रहता है। जिसका जीवन इतना संघर्षमय और व्यस्त हो, उसे खटियापर मरनेका अवकाश कहां? वह तो चलते-चलते, ईश्वर नाम लेते-लेते गया। एक नहीं, दो नहीं, चार-चार गोली सीनेमें मर्दाना वार खाकर भी तो गिरा आगेकी ओर। जिसने जीवनमें कभी पीछे हटना नहीं जाना वह अन्तिम समयमें भी पीछे क्यों गिरता? कर्तव्य पथपर अग्रसर, जिह्वापर भगवानका नाम, हृदयमें विश्व-कल्याणकी भावना, मुखपर क्षमाकी अपूर्व आभा—बताइये तो ऐसी शहादतका दर्जा बापूके अतिरिक्त और किसको मयस्सर हुआ है?

अहिंसाका पुजारी हिंसकद्वारा शहीद किया गया, पर, हिंसक क्या सचमुच विजय पा सका। विजय तो बापूके ही हाथ लगी। वह क्षमाका अवतार मरते-मरते अभय दे गया, हिंसासे भी खिलखिलाकर छेड़कर गया।

और हिंसाके भक्त जो दिन-रात लाठी-बर्छे दिखाते फिरते थे। आसुरी बलपर जिन्हें घमण्ड था, वही आज प्राणभयसे कुत्तोंकी तरह भागते फिर रहे हैं। जो निशस्त्र गान्धीका मखौल उड़ाते थे, वे आज भेड़ोंकी तरह मिमया रहे हैं। एकसे भी सुर्खरू होकर जनताके सामने आते नहीं बना।

बापूके अहिंसक अनुयाइयोंपर गवर्नमैण्ट भी हाथ डालते हुए सहमती थी। गिरफ्तार होते थे तो जेलखानोंको इस शानसे जाते थे कि देखनेवालोंको उनके इस बांधपनपर गर्व होता था। शत्रु भी हृदयसे इज्जत देते थे। इसके विपरीत आसुरी बल और हिंसाके गीत गानेवालोंका जो हाल हुआ वह दयनीय है।

राष्ट्रपिताने अपनी शानके योग्य ही मृत्युका वरण किया, परन्तु हमें रह-रहकर एक कलमलाहट बेचैन किये देती है। हजारों बर्षकी दुद्धर तपश्चर्याके फलस्वरूप हमें जो निधि प्राप्त हुई, उसे हम सम्हालकर न रख सके। हम ऐसे बावले हो गये कि खुलेआम उसे रखकर खुर्राटे लेने लगे। हम अपनी इस मूर्खतापर उसी तरह उपहासास्पद हो गये हैं जिस तरह एक मजदूर डर्बीकी लाटरीको बांसमें रखे घूमता था। और लाटरी पानेकी खुशीमें उसने बांसको समुद्रमें इस खयालसे फैंक दिया था कि जब इतना रुपया मिलेगा तो बांसको रखकर क्या करूगा?

मृत्यु-महोत्सव—

जैनशास्त्रोंमें जितना महत्व मृत्युमहोत्सवको दिया गया, है उसमें भी कई गुणा अधिक महत्व हमने उसे अपने जीवनमें दे रक्खा है। मृत्यु-समय हँसते हुए प्राण-त्याग देना, ममता-मोह लेशमात्र भी न रहना और मृत्यु-वेदनाको साम्यभावसे सहन करने आदिके उदाहरण साधु महात्मा, शूरवीर, धर्मनिष्ठ एव, देशभक्तों आदिके मिलते हैं। सर्वसाधारणसे ऐसी आशा बहुत कम होती है।

पर, हमारी समाजमें प्राय: छोटे बड़े सभी एक सिरेसे मृत्यु-समय महोत्सव मना रहे हैं। मृत्यु उनके सर पर नाच रही है, पृथ्वी उनके पांवोंके नीचेसे खिसकी जारही है। प्रलयके थपेड़े चप्पत मारकर बतला रहे हैं कि रणचण्डीका तांडव-नृत्य प्रारम्भ होगया है। उसका घातक प्रभाव आंधीकी तरह संसारमें फैल गया है। संसारके विनाशकी चिन्ता और अपने अस्तित्व मिट जानेकी आशंका दूरदर्शी मनुष्योंके कलेजोंको खुरच-खुरच कर खाए जारही है। पृथ्वीके गर्भमें जो विस्फोट भर गया है वह न जाने कब फूट निकले और इस दीवानी दुनिया को अपने उदर-गह्वरमें छुपा ले। एक क्षण भरमें क्या होनेवाला है— यह कह सकनेकी आज राजनीति के किसी भी पंडितमें सामर्थ्य नहीं है। संसार समुद्र में जो विषैली गैस भर गई है वह उसे नष्ट करनेमें कालसे भी अधिक उतावली है।

किन्तु, जैनसमाजका इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं है। वह उसी तरहसे अपने राग रङ्गमें मस्त है दुख, चिन्ता, पीड़ा आदिके होते हुए भी आनन्द-विभोर रहना, मुसीबतोंका पहाड़ टूट पड़नेपर भी मुस्कराना मनुष्यके वीरत्व साहस और धैर्यके चिह्न हैं। पर जब यही क्लेश, दुख, चिन्ता आदि दूसरेको पीड़ित कर रहे हों, तब उनका निवारण न करके अथवा समवेदना प्रकट न करके आनन्द रत रहना मनुष्यताका द्योतक नहीं। गाना अच्छी चीज है, पर पड़ौसमें आग लगी होनेपर भी सितार बजाते रहना, उसके बुझानेका प्रयत्न न करना आनन्दके बजाय क्लेशको निमन्त्रण देना है। जहाजका कप्तान अपनी मृत्युका आलिंगन मुस्कराते हुए कर सकता है, पर यात्रियोंकी मृत्युकी संभावनापर उसका आनन्द विलीन हो जाता है और कर्तव्य सजग हो उठता है।

हम भी इस संसार-समुद्रमें जैनसमाज-रूपी जहाजमें यात्रा कर रहे हैं। जब संसार सागर विक्षुब्ध हो उठा है और उसकी प्रलयङ्कारी लहरें अपने अन्तस्थलमें छुपानेके लिये जीभ निकाले हुए दौड़ी आरही हैं तब हमारा निश्चेष्ट बैठे रहना, रागरङ्गमें मस्त रहना, निश्चय ही आत्मघातसे भी अधिक जघन्य पाप है।

पोलेण्ड और फिनलैंडका वही हश्र हुआ जो निर्बल राष्ट्रों और अल्पसङ्ख्यक जातियोंका होता है। इस घटनासे शंकित आज कमजोर और असहाय राष्ट्र मृत्युवेदनासे छटपटा रहे हैं। निर्बल राष्ट्र ही क्यों? वे सबल राष्ट्र भी—जिनकी तलवारोंके चमकनेपर बिजली कौन्दती है, जिनके सायेके साथ साथ हाथ बान्धे हुए विजय चलती है, जिनके इशारे पर मृत्यु नाचती है— आज उसी सतृष्ण दृष्टिसे अपने सहायकोंकी ओर देख रहे हैं। जिस तरह डाकुओंसे घिरा हुआ काफिला (यात्री दल)। क्योंकि उनके सामने भी अस्तित्व मिट जानेकी सम्भावना घात लगाये हुए खड़ी है। इस प्रलयकारी युगमें जो राष्ट्र या समाज तनिक भी असावधान रहेगा, वह निश्चय ही औन्धे मुँह पतनके गहरे कूपमें गिरेगा। अत: जैन समाजको ऐसी परिस्थितिमें अत्यन्त सचेत और कर्तव्यशील रहनेकी आवश्यकता है।

३-सम्प्रदायवादका अन्त—

जबसे हमारा भारत स्वतन्त्र हुआ है, उसे अनेक विषम परिस्थितियोंने घेर लिया है। पाकिस्तानी, रियासती और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओंके हल करनेमें तो वह चिन्तित है ही, अपने आन्तरिक मामलोंसे वह और भी परेशान है। जिन रूढ़िवादियों, प्रगतिविरोधियों, पोंगापन्थियों, जी हूजूरों, पूँजीपतियों आदि ने स्वतन्त्रता प्राप्तिमें विघ्न डाले और हमारे मार्गमें पग-पग पर कांटे बिछाये, वही आज सम्प्रदायवाद, प्रान्तवाद और जातीयतावादोंके झण्डे लेकर खड़े हो गये हैं। जिन भलेमानुषों (?) ने गुलामीकी जंजीर में जकड़ने वाली ब्रिटिशसत्ताको दृढ़ बनानेके लिये लाखों नवयुवक फौजमें भर्ती कराके कटा डाले, असंख्य पशुधन विध्वंस करा डाला और यहांका अनाज बाहर भेजकर लाखों नर नारियों और बालक बालिकाओंको भूखे मार डाला, वही आज "धर्म डूबा धर्म डूबा" का नारा बुलन्द करके सम्प्रदायवादका बवण्डर उठा रहे हैं।

ऐसेही स्वार्थी धर्मभेषिश्रोंको बहकाकर सम्प्रदायवादके नाम पर शासनसत्ता अपने हाथमें लेनेका अधम प्रयत्न कर रहे हैं। प्रान्तवादका यह हाल है कि १-२ प्रान्तोंको छोड़कर प्रायः सभी प्रान्त वाले एक-दूसरेको घृणा करने लगे हैं। प्रान्तीय सुविधाएँ और नौकरियां अन्य प्रान्तीय न लेने पाएँ। इसके लिये प्रयत्न प्रारम्भ हो गये हैं। जातीयवादका यह हाल है कि कुछ लोग महाराष्ट्र साम्राज्यका दुःस्वप्न देख रहे हैं। कुछ जाटिस्तान, कुछ सिक्खस्तान और कुछ अछूतस्तान बनानेके काल्पनिक घोड़े दौड़ा रहे हैं। हर कोई अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग-अलग पका रहा है। परिणाम इसका यह होरहा है कि भारत स्वतंन्त्र होकर उत्तरोत्तर उन्नत और बलवान होनेके बजाय अवनत और निर्बल होता जा रहा है।

सम्प्रदायवादके नामपर भारतमें जो इन दिनों नरमेधयज्ञ हुआ है—यदि उसके नरकङ्कालोंको एकत्र करके हिमालयके समक्ष रखा जाय तो वह भी अपनी हीनतापर रो उठेगा। इस सम्प्रदायवादके विषाक्त कीटाणु अब इतने रक्त पिपासु हो गये हैं कि अन्य सम्प्रदायोंका रक्त न मिलनेपर अपने ही सम्प्रदायका रक्त पीने लगे हैं। महात्मा गान्धी इसी घिनोने सम्प्रदायकी वेदीपर बलि चढ़ा दिये गये हैं। और न जाने कितने नररत्न श्रेष्ठोंकी तालिका अभी बाकी हैं।

"घोड़ेके नाल जड़ती देखकर मेंढ़कीने भी नाल जड़वाई" या नहीं; परन्तु इन विषैले कीटाणुओंका घातक प्रभाव हमारी समाजके भी कतिपय बन्धुओं-पर हुआ है। जिसके कारण वे तो नष्ट होंगे ही, पर मालूम होता है कि जिस नावमें वे बैठे हैं उसे भी ले डूबनेका इरादा रखते है।

वे तो डूबेंगे सनम हमको भी ले डूबगे।

सम्प्रदायवाद जब असाध्य हो जाता है तब रोगी सन्निपातसे पीड़ित धर्मोन्मादावस्थामें बहकने लगता है—"हमारा धर्म भिन्न, संस्कृति भिन्न, आचार भिन्न, व्यवहार भिन्न, कानून भिन्न और अधिकार भिन्न हैं। हम सबसे भिन्न विशेष अधिकारोंके पात्र हैं।"

हम पूछते हैं जब पागलोंको पागलखाने और संक्रामक रोगियोंको तुरन्त एकान्त स्थानमें भेज दिया जाता है, फिर इन सांघातिक धर्मोन्मादकों, मजहबी दीवानों और सम्प्रदायवादियोंको कारावास क्यों नहीं भेजा जाता? जो मानव अपने देश, धर्म, समाज और वंशके लिये अभिशाप होने जा रहा है, उसकी क्यों नहीं शीघ्रसे शीघ्र चिकित्सा कराई जाती? जिन्हाकी धर्मान्धताके कारण मुसलमानोंकी कैसी दुर्गति हुई गोडसेके कारण हिन्दुसभा, राष्ट्रीयसङ्घ, महाराष्ट्रप्रान्त, महाराष्ट्रीय ब्राह्मणोंको कितना कलङ्कित होना पड़ा. उनपर कैसी आपदाएं आईं और ईसाके घातक यहूदी आज किस जघन्य दृष्टिसे देखे जाते हैं, बतानेकी आवश्यकता नहीं। अतः हमें अपनी समाजमें सम्प्रदायवादका प्रवेश प्राणपणसे रोकना चाहिये। हम भगवान महावीरके अहिंसा, सत्य, अपरिग्रहत्व और विश्वबन्धुत्वके प्रसारके लिये सम्प्रदायवादके दल-दलमें न फंसकर अनेकान्त-ध्वजा फहरायेंगे। आज अनेकान्ती बन्धुओंको साम्यवाद, शैववाद, नैयायिकवाद, चार्वाकवादसे लोहा नहीं लेना है। उसे विश्वमें फैले, सम्प्रदायवाद, जातीयवाद, प्रान्तवाद, गुरुडमवाद, परिग्रहवादसे संघर्ष करना है।

४-हिन्दू और जैन--

हमारी समाजके ख्यातिप्राप्त विद्वान डाक्टरहीरालालजीका उक्त शीर्षकसे जैनपत्रोंमें लेख प्रकाशित हुआ है! जैन अपनेको हिन्दू कहे या नहीं? यदि नहीं कहें तो हिंन्दुओंको मिलने वाली सुविधाओंसे सम्भवतया जैन बंचित कर दिये जाएंगे। और बहिष्कारको भी सम्भावना है। यही इस लेखका सार है। जो भय और चिन्ता डाक्टर साहबको है, वही चिन्ता और भय प्रायः सभी समाज-हितैपियोंको खुरच खुरचकर खाये जा रहा है। और अब वह समय आगया है कि हम इस ओर अब अधिक उपेक्षा नहीं कर सकते। शिकारीके भयसे आंख बन्द कर लेने या रेतेमें गर्दन छिपा लेनेसे विपत्ति कम न होकर बढ़ेगी ही।

जिस सिन्धु नदीके कारण भारत हिन्द कहलाया,

वह तो भारतमें न रहकर पाकिस्तानमें चलीगई। और अपने भारत की पराधीनताकी अमिट निशानी "हिन्दू" यहां छोड़ गई। हिंन्दू परतंत्र पद दलित और विजित भारतका बलात् नाम करण है और मुस्लिम शब्द कोषोंमें हिंन्दूका अर्थ गुलाम या काफिर किया गया है। अत: भारतका उपयुक्त प्राचीन नाम तो भारत ही श्रेष्ठ है। और इसके निवासी सभी भारतीय हैं। जैन भी भारतीय जैन हैं। परन्तु हिन्दु शब्द रूढ़ होजाने से यदि भारतका नाम हिन्द भी रहता है तो यहांके सभी निवासी हिन्दू या हिन्दी है चाहे वे आर्य, जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुस्लिम, ईसाई पारसी कोई भी क्यों न हो। हां मनुष्य आर्य हिन्दू जैन हिन्दू या मुस्लिम हिन्दू लिखनेका अधिकारी है।

किन्तु हिन्दू शब्द भी एकवर्ग विशेषके लिये रूढ़ होगया है, जिसमें इतर धर्म पर आस्था रखने वालों केलिये स्थान नहीं है। इसीलिये हर राष्ट्रीय विचारका मनुष्य अपनेको हिन्दू न कर हिन्दी कहता है। हालांकि दोनोंका अर्थ भारत निवासी ही है। परन्तु प्रचलित रूढ़िके अनुसार हिन्दू एक सम्प्रदायवादका और हिन्दी भारतीयताका द्योतक बन गया है। और आगे चल कर भाषाके मामलेमें हिन्दी शब्दभी समस्त भारतीयों की भाषाका द्योतक न होकर नागरीलिपि का रूपक हो गया है। महात्मागांधी भारतीयताके नाते तो हिन्दी थे; परन्तु भाषाके प्रश्नपर वे हिन्दीके समर्थक न होकर हिन्दुस्तानीके समर्थक थे। जो हिन्दी शब्द सभी सम्प्रदायवाले भारतीयोंके एकीकरणके लिये उपयुक्त समझा गया, वही हिन्दी शब्द एक विशेष अर्थमें रूढ़ हो जानेके कारण सभी भारतीयोंकी मिली जुली भाषा केलिये उपयुक्त नहीं समझ कर और उसके एवज "हिन्दुस्तानी" शब्दका प्रचलन किया गया। और अब इसका भी एक रूढ़ अर्थ हो गया है, अर्थात् हिन्दुस्तानी वह खिचड़ी भाषा जिसे कोई भी अपनी न समझे। लावारिस वर्णशंकरी भाषा।

कहनेका तात्पर्य है कि जैन, जैन हैं। हम भारत के आदि निवासी हैं आर्य-अनार्य कौन बाहरसे आया और कौन यहांका मूल निवासी है, हमें इस पचड़ेमें जानेकी आवश्यकता नहीं। पर हमारे मूलपुरुष यहीं जन्में, यहीं निर्वाणको प्राप्त हुए हैं। भारतको उन्नत बनानेमें हमने भरसक और अनथक कार्य किये हैं। अत: हमारे देशका नाम यदि भारत ही रहता हैं तो हम भारतीय जैन हैं और यदि हिन्द रहता है तो हम हिन्दी या हिन्दू जैन हैं। हम अपने लिये न कोई विशेष अधिकार चाहते हैं न अपने लिये कोई नये कानूनका सृजन चाहते है। हमने सबके हितमें अपना हित और दुखमें दुख समझा है और आगे भी समझेंगे। भगवान महावीरके अहिंसा, सत्य और अपरिग्रहत्व और विश्वबन्धुत्वकी अमृत वाणीको साम्प्रदायिक पोखरमें डालकर अपवित्र नहीं होने देंगे राष्ट्रकी भलाईमें हम हिन्दू हैं, हिन्दी हैं और भारतीय हैं; किन्तु यदि हिन्दू शब्द किसी विशेष सम्प्रदायवादका पोषक है किसी खास वर्गवादका द्योतक है, और प्रजातन्त्रके सिद्धान्तोंको कुचलकर नाज़ी या फासिस्टवाद जैसा सम्प्रदायवाद या जातिवादका परिचायक है तो जैन केवल मनुष्य हैं। सम्प्रदाय-वाद या साम्राज्यवादका एक महल बनानेमें वे कभी सहायक न होंगे। चाहे सभी जैन राष्ट्रपिता बापूकी तरह बलि चढ़ा दिये जाएँ।

५—श्रेष्ठ नागरिक—

सम्प्रदायवादके साथ-साथ जैनोंको राजनैतिक सङ्घर्षोंसे भी बचना होगा। कभी शासनसत्ता गांधी-वादियों, कभी समाजवादियों, कभी कम्यूनिस्टों और कभी किसीके हाथमें होगी। शासनसत्ता हस्तांतरित करनेके लिये व्यापक षडयन्त्र और नर-हत्याएँ भी होंगी। शासकदल विरोधी पक्षको कुचलेगा, विरोधी पक्ष विजयी दलको चैनसे सांस न लेने देगा। ऐसी स्थितिमें अल्पसंख्यक जैनसमाजका कर्तव्य है कि वह सामूहिक रूपमें किसी दल विशेषके साथ सम्बन्ध न जोड़े। हां व्यक्तिगत रूपसे अपनी इच्छानुसार हर व्यक्तिको भिन्न भिन्न कार्य क्षेत्रोंमें कार्य करनेका अधिकार है। यह भावना कि हम जैन हैं इसलिये हमें इतनी सीटें और इतनी नौकरियां मिलनी चाहिए" हमारे विकाशमें बाधक होगा। हम अपनेको इस

योग्य बनायें कि हर उपयुक्त स्थानपर हमारी उपादेयता प्रकट हो। "योग्य व्यक्तियोंके स्थानपर भी हम अयोग्योंको इसलिये लिया जाय कि हम अमुक वर्गसे सम्बन्धित हैं" यह नारा मुसलमानों, सिक्खों, अछूतोंका रहा है। हम इस नारेको हरगिज़ न दुहराएँगे। हमें तो अपनेको इस योग्य बनाना है कि विरोधी पक्ष इच्छा न होते हुए भी अपने लिये निर्वाचित करें। षणमुखमचेट्टी कांग्रेसके प्रबल विरोधी होते हुए भी केवल योग्यताके बलपर कांग्रेसी सरकारमें सम्मिलित हुए। उसी तरह जैनोंको सम्प्रदायके नामपर नहीं, अपनी योग्यता, वीरता, धीरता, को लेकर आगे बढ़ना है। हम जैन अपनेको इतना श्रेष्ठ नागरिक बनाएँ कि जैनत्व ही श्रेष्ठताका परिचायक हो जाय। जिस तरह विशिष्ट गुण या अवगुणके कारण बहुत सी जातियां ख्याति पाती हैं। उसी तरह हमारे लोकोत्तर गुणोंसे जैनत्व इतनी प्रसिद्धि पाजाय कि केवल जैन शब्दही हमारी योग्यता प्रामाणिकता, सौजन्यता, भद्रताका प्रतीक बन जाय।

६—पाँचवें सवार—

अपनी समाजमें कुछ ऐसे चलते हुए लोग भी हैं, जिनका न राजनीतिमें प्रवेश है और न देशकेलिए ही उन्होंने कभी कोई कष्ट सहन किया। अपितु सदैव प्रगतिशील कार्योंमें विघ्न स्वरूप बने रहे हैं। दस्सा पूजनाधिकार, अन्तर्जातीय विवाह, शास्त्रोद्धार, नुक्ता प्रथाबन्दी बाल-वृद्ध विवाह आदि आन्दोलनोंके विरोधी रहे हैं। हर समाजोपयोगी कार्योंमें रोड़े अटकाते रहे हैं। सुधारकों और देशभक्तोंको अधर्मी कहते रहे हैं, उनका बहिष्कार करते रहे हैं वही आज इन लोगोंके हाथमें सत्ता आते देख खुशामदी लेख लिख रहे हैं, पत्रोंके विशेषांक केवल उनके लेख पाने के लोभसे निकाल रहे हैं, और जैन स्वत्व अधिकार के नामपर मनमाना प्रलाप करके समाजके मस्तकको नीचा कर रहे हैं। समाजके किए गये बहुमूल्य बलिदानका मोल तोल कर रहे हैं।

जो जैन अपनी योग्यता और लोकसेवी कार्योंके बलपर अधिकसे अधिक जाने चाहियें। वहां ये अपनी घातक नीतिके कारण केवल एक सीटकेलिये पृथ्वी आकाश एक कर चुके हैं। अभी तक यह लोग बिनेकावार और दस्से जैनोंके लिये पूजा पाठ रोके हुए थे। चाहे जिसका बहिष्कार करके दर्शन-पूजा बन्द कर देते थे। अब हरिजनोंकेलिये मन्दिर खुलते देख इन्हें भय हुआ कि जब हरिजन ही मंदिरों में प्रवेश पा जाएंगे, तब इन अभागे दस्सोंको कैसे रोका जायगा? अत: चट एक चाल चली और "जैन हिन्दू नहीं हैं" यह लिखकर उस क़ानूनके अन्तर्गत जैन उपासना-गृहोंको नहीं आने दिया। पर इन दयावतारोंने यह नहीं सोचा कि जैन यदि बहुसंख्यक जातिके साथ क़ानूनमें नहीं बंधते हैं तो उन्हें बहुसंख्यक जातिको मिलने वाली सारी सुविधाओंसे वञ्चित होना पड़ेगा। और यह नीति आत्म-घातक सिद्ध होगी। हिंदुओंसे पृथक् समझने वाली मुसलमान जातिका आज भारतमें क्या हश्र हुआ? वे अपने ही वतनमें बदसे बदतर हो गये। उनकी मस्जिदें वीरान होगईं, व्यापार चौपट होगये, और घरसे निकलना दुश्वार होगया, यहां तक कि बाइज़्ज़त मरना भी उनके लिये मुहाल होगया। ऐंग्लोइण्डियन्सका जिनका ख़ुदा इंगलेण्डमें रहता था, आज भारतमें क्या व्यक्तित्व रह गया है? तब क्या जैन समाजके ये जिन्हा जैनोंको भी उसी तरह बर्बाद करना चाहते हैं। उस जिन्हामें सूझ थी, बुद्धि थी, अक्ल थी, कानूनकी अपार जानकारी थी। मुसलमानोंके लिये उसके पास धन था और समय था। जिसने अपने प्रलयङ्कारी आन्दोलनसे पर्वतोंको भी विचलित कर दिया था। वाक्‌जालमें अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञोंको फँसा लिया था, फिर भी वह मुसलमानोंका अनिष्टकारक ही सिद्ध हुआ। फिर जैन समाजके ये जिन्हा जिन्हें अक्ल कभी मांगे न मिली, जैन स्वत्वके नामपर वायवेला मचाते हैं तो यह समझनेमें किसी समझदारको देर न लगेगी कि जैन-समाजकी नैया जिस तूफ़ानसे गुज़र रही है, उसे चकनाचूर करने और डुबानेमें कसर न छोड़ेंगे।

—गोयलीय

वीरसेवामन्दिरको सहायता

(गत १२ वीं किरणके बाद)

२५) ला० होरीलाल नेमचन्दजी जैन, सरसावा (चि० प्रेमचन्दके विवाहकी खुशीमें निकाले हुए दानमेंसे)

१०) ला० मेहरचन्द शीतलप्रसादजी जैन, अब्दुल्लापुर जिला अम्बाला (चि० सुपुत्रीके विवाहोपलक्षकी खुशीमें)

५) मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ७१ वीं वर्षगांठ के अवसरपर निकाले हुए दानमें से प्राप्त

४०)

अनेकान्तको सहायता---

२५) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर की ओरसे ३ जैन संस्थाओं और दो जैनेतरर विद्वानोंको फ्री भिजवानेके लिये।

१०) ला० होरीलाल नेमचन्दजी (चि० प्रेमचन्द के विवाहकी खुशीमें निकाले हुए दानमें से)

११) बा० रामस्वरूपजी मुरादाबादके (चि० पुत्र की शादीकी खुशीमें निकाले दानमें से)

५) मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीकी ७१ वीं वर्षगाठके अवसरपर निकाले दानमें से प्राप्त

५१)

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके प्रकाशन

१. **महाबन्ध**—(महाधवल सिद्धान्त शास्त्र प्रथम भाग। हिन्दी टीका सहित मूल्य १२)

२. **करलक्खण**—(सामुद्रिक शास्त्र) हिन्दी अनुवाद सहित। हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ। सम्पादक—प्रो० प्रफुल्लचन्द्र मोदी एम० ए०, अमरावती। मूल्य १)

३. **मदनपराज्य**—कवि नागदेव विरचित (मूल संस्कृत) भाषानुवाद तथा विस्तृत प्रस्तावनासहित। जिनदेवके कामके पराजयका सरस रूपक। सम्पादक और अनुवादक—पं० राजकुमारजी सा० मूल्य ८)

४. **जैनशासन**—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करने वाली सुन्दर रचना। हिन्दू विश्वविद्यालयके जैन रिलीजनके एफ० ए० के पाठ्यक्रममें निर्धारित। कवर पर महावीरस्वामी का तिरंगा चित्र मूल्य ४।-)

५. **हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास**—हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास तथा परिचय। २।।।)

६. **आधुनिक जैन कवि**—वर्तमान कवियोंका कलात्मक परिचय और सुन्दर रचनाएँ। मूल्य ३।।।)

७. **मुक्ति-दूत**—अञ्जना-पवनञ्जयका पुण्यचरित्र (पौराणिक रोमांस) मूल्य ४।।।)

८. **दो हजार वर्षकी पुरानी कहानियां**—(६४ जैन कहानियां) व्याख्यान तथा प्रवचनोंमें उदाहरण देनेयोग्य ३)

९. **पथचिह्न**—(हिन्दी साहित्यकी अनुपम पुस्तक) स्मृति रेखाएँ और निबन्ध। मूल्य २)

१०. **पाश्चात्य तर्कशास्त्र**—(पहला भाग) एम० ए० के लाजिकके पाठ्यक्रमकी पुस्तक। लेखक—भिक्षु जगदीशजी काश्यप, एम० ए०, पालि-अध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी। पृष्ठ ३८४। मूल्य ४।।)

११. **कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न**—२)।

१२. **कन्नडप्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थसूची**—(हिन्दी) मूडबिद्री के जैनमठ, जैनभवन, सिद्धान्तवसदि तथा अन्य ग्रन्थ भण्डार कारकल और अलिपूरके अलभ्य ताडपत्रीय ग्रन्थोंका सविवरण परिचय। प्रत्येक मन्दिरमें तथा शास्त्रभंडारमें विराजमान करनेयोग्य। १०)

वीर सेवामन्दिरके सब प्रकाशन यहांपर मिलते हैं

—प्रचारार्थ पुस्तक मंगानेवालोंको विशेष सुविधा।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्डरोड, बनारस।

Regd. A—731.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ अनित्यभावना— मुख्तार श्रीजुगलकिशोरके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मू० ।)

२ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र— नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या-सहित। मू० ।)

३ सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ— मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमें श्रीवीरवर्द्धमान और उनके बादके, जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमङ्गल-कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना, ३ साधुवेशनिदर्शक-जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

४ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड— यह पञ्चाध्यायी तथा लाटी संहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य प० दरबारीलाल कोठिया और पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १॥)

५ उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा— मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीकी ग्रन्थपरीक्षाओं का प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओं के इतिहास को लिये हुये १४ पेजकी नई प्रस्तावना-सहित। मू० ।)

६ न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण) न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाद्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अब तक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थी उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रंथ और उनके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, साथमें सम्पादक-द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका एक संस्कृत टिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोडी ही प्रतियाँ छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मंगा लेना चाहिये।

७ विवाह-समुद्देश्य— लेखक प० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है, अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याओंको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण-द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रमसे उसका क्या सम्बन्ध है? यह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम हो सकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा ही युक्ति पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। आर्ट पेपर पर छपी है। विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य है। मू० ॥)

प्रकाशन विभाग—

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

मुद्रक— [illegible]

फाल्गुन, संवत २००४ मार्च, सन १९४८

संस्थापक-प्रकाशक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

संचालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

★

★

लेखोंपर पारितोषिक

'अनेकान्त'के इस पूरे वर्षमें प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ लेखोंपर डेढ़सौ १५०), सौ १००) और पचास ५०) का पारितोषिक दिया जाएगा। इस पारितोषिक स्पर्धामें सम्पादक, व्यवस्थापक और प्रकाशक नहीं रहेंगे। बाहरके विद्वानोंके लेखोंपर ही यह पारितोषिक दिया जाएगा। लेखोंकी जाँच और तत्सम्बन्धी पारितोषिकका निर्णय 'अनेकान्त'का सम्पादक मण्डल करेगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

९ किरण ३

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

लेखोंपर पारितोषिक

'अनेकान्त'के इस पूरे वर्षमें प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ लेखोंपर डेढ़सौ १५०), सौ १००) और पचास ५०) का पारितोषिक दिया जाएगा। इस पारितोषिक-स्पर्धामें सम्पादक, व्यवस्थापक और प्रकाशक नहीं रहेंगे। बाहरके विद्वानोंके लेखोंपर ही यह पारितोषिक दिया जाएगा। लेखोंकी जांच और तत्सम्बन्धी पारितोषिकका निर्णय 'अनेकान्त'का सम्पादक-मण्डल करेगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

विषय-सूची

विद्वत्परिषद्का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन

श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषदका चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीकी, जिन्होंने अब क्षुल्लकके महनीय पदकी दीक्षा ले ली है, अध्यक्षतामें ता० २४, २५ मार्च सन् १९४८को बरुआसागर (झाँसी)में अपूर्व समारोहके साथ सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशनमें भाग लेनेके लिये इन्दौर, बनारस, बड़ौत, सूरत, जबलपुर, सागर, बीनाललितपुर, पपौरा, मथुरा, देहली, मेरठ, सहारनपुर, देहरादून, सरसावा आदि देशके विविध भागोंसे विद्वान् और धार्मिक-जन पधारे थे। क्षुल्लकजी महाराजके संघमें अनेक त्यागी, ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी, क्षुल्लक आदि व्रतीजन पहलेसे ही मौजूद थे और जिनका भी एक महत्वका व्रती सम्मेलन हुआ। अष्टाह्निका पर्वका समय होनेके कारण बहुत धार्मिक आनन्द रहा। अनेक लोगोंने व्रतादि ग्रहण किये। वात्सल्य-मूर्ति बाबू रामस्वरूपजी बरुआसागरकी ओरसे सिद्धचक्र विधान हुआ और अन्य समस्त आयोजन भी इन्हींके द्वारा हुए। विद्वानोंके महत्वपूर्ण मार्मिक भाषण हुए। इस अधिवेशनमें विद्वत्परिषद्ने नये अनेक प्रस्ताव पास न कर पुराने प्रस्तावोंको ही तत्परताके साथ अमलमें लानेके लिये दोहराया। महात्मा गाँधीकी मृत्युके शोक-प्रस्तावके अतिरिक्त एक महत्वका नया प्रस्ताव यह किया गया है कि जैनसमाजसे अनुरोध किया जाय कि वह अपने योग्य विद्यार्थियोंको अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, आदिकी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिये विदेशोंमें भेजनेके वास्ते एक बृहत् छात्रवृत्ति फण्ड कायम करें। इसी फण्डसे विदेशोंमें जैन-संस्कृति और अहिंसा-प्रधान जैनधर्मका प्रचार करनेके लिये योग्य विद्वान भेजे, जो एक वर्ष तक विद्वत्परिषद्के नियन्त्रणमें रहकर उच्चतम धार्मिक शिक्षा और आचरणका अभ्यास करें।

अधिवेशनमें और भी अनेक समस्याओंपर गहरा विचार हुआ। वर्णीजी (अब क्षुल्लकजी) की अध्यक्षतासे विद्वत्सम्मेलनको एक सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि विद्वानोंमें उच्च चारित्रकी भावना दृढमूल होती जारही है और उसमें पर्याप्त वृद्धिकी आशा है। शङ्का-समाधान विभाग पूर्ववत् कायम रहा। उसमें बाबू रतनचन्दजी रि० मुख्तार सहारनपुरका नाम और शामिल किया गया है। इस तरह यह अधिवेशन विचार लाभ, धर्मलाभ, सज्जन समागम आदि कई दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण रहा। और सभीने वर्णीजीकी अमृतवाणीका अपूर्व लाभ लिया। दरबारीलाल कोठिया

ॐ अर्हम्

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	मार्च
किरण ३	फाल्गुण, वीरनिर्वाण संवत् २४७३, विक्रम संवत् २००४	१९४८

होली होली है !!

(१)

ज्ञान-गुलाल पास नहिं, श्रद्धा—
समता रङ्ग न रोली है ।
नहीं प्रेम-पिचकारी करमें,
केशर-शान्ति न घोली है ॥
स्याद्वादी सुमृदङ्ग बजे नहिं,
नहीं मधुर-रस-बोली है ।
कैसे पागल बने हो चेतन!
कहते 'होली होली है' ॥

(२)

ध्यान-अग्नि प्रज्वलित हुई नहिं,
कर्मेन्धन न जलाया है ।
असद्भावका धुआँ उड़ा नहिं,
सिद्ध स्वरूप न पाया है ॥
भीगी नहीं ज़रा भी देखो—
स्वानुभूतिकी चोली है ।
पाप धूलि नहिं उड़ी, कहो फिर—
कैसे 'होली होली है' ॥*

रचयिता—'युगवीर'

*श्रीसम्मेदशिखरकी बीसपन्थी कोठीके जैनमन्दिरकी एक दीवारको इस रचनासे अलंकृत किया गया है—सुन्दर पेंटिंग-द्वारा मोटे अक्षरोंमें इसे उसपर लिखा गया है ।

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने
युक्त्यनुशासन

प्रवृत्ति-रक्तैः शम-तुष्टि-रिक्तैरुपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्ग-निष्ठा ।
प्रवृत्तितः शान्तिरपि प्ररूढं तमः परेषां तव सुप्रभातम् ॥३८॥

'जो लोग शम और तुष्टिसे रिक्त हैं—क्रोधादिककी शान्ति और सन्तोष जिनके पास नहीं फटकते—,(और इस लिये) प्रवृत्ति-रक्त है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रहमे कोई प्रकारका नियम अथवा मर्यादा न रखकर उनमे प्रकर्षरूपसे प्रवृत्त हैं—आसक्त हैं—उन (यज्ञवादी मीमांसकों) के द्वारा, प्रवृत्तिको स्वयं अपनाकर, 'हिंसा अभ्युदय (स्वर्गादिकप्राप्ति) के हेतुकी आधारभूत है' ऐसी जो मान्यता प्रचलित की गई है वह उनका बहुत बडा अन्धकार है—अज्ञानभाव है । इसी तरह (वेदविहित पशुवधादिरूप) प्रवृत्तिसे शान्ति होती है ऐसी जो मान्यता है वह भी (स्याद्वादमतसे बाह्य) दूसरोंका घोर अन्धकार है—क्योंकि प्रवृत्ति रागादिकके उद्रेकरूप अशान्तिकी जननी है न कि अरागादिरूप शान्तिकी । (अतः हे वीरजिन !) आपका मत ही (सकल अज्ञान-अन्धकारको दूर करनेमे समर्थ होनेसे) सुप्रभातरूप है, ऐसा सिद्ध होता है ।'

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान्किलाऽऽराध्य सुखाभिगृद्धाः ।
सिद्ध्यन्ति दोषाऽपचयाऽनपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥३९॥

'जीवात्माके लिये दुःखके निमित्तभूत जो शीर्षोपहारादिक है—अपने तथा बकरे आदिके सिरकी बलि चढ़ाना, गुग्गुल धारण करना, मकरको भोजन कराना, पर्वतपरसे गिरना जैसे कृत्य हैं—उनके द्वारा (यक्ष-महेश्वरादि) देवोंकी आराधना करके ठीक वे ही लोग सिद्ध होते है—अपनेको सिद्ध समझते तथा घोषित करते है—जो दोषोंके अपचय (विनाश) की अपेक्षा नहीं रखते—सिद्ध होनेके लिये राग-द्वेषादि विकारोंको दूर करनेकी जिन्हें पर्वाह नहीं है—और सुखाभिगृद्ध है—काम सुखादिके लोलुपी हैं !! और यह (सिद्धि-मान्यतारूप प्ररूढ अन्धकार) उन्हींके युक्त है जिनके हे वीरजिन ! आप ऋषि-गुरु नहीं है !'— अर्थात् इस प्रकारकी घोर अज्ञानताको लिये अन्धेरगर्दी उन्हीं मिथ्यादृष्टियोंके यहाँ चलती है जो आप जैसे वीतदोष-सर्वज्ञ-स्वामीके उपासक नहीं हैं । (फलतः) जो शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए आप जैसे देवके उपासक है—आपको अपना गुरु नेता मानते हैं—(और इसलिये) जो हिंसादिकसे विरक्तचित्त है, दया-दम त्याग-समाधिकी तत्परताको लिये हुए आपके अद्वितीय शासन (मत) को प्राप्त हैं और नय-प्रमाण-द्वारा विनिश्चित परमार्थकी एवं यथावस्थित जीवादि तत्त्वार्थोंकी प्रतिपत्तिमे कुशलमन है, उन सम्यग्दृष्टियोंके इस प्रकारकी मिथ्या-मान्यतारूप अन्धेरगर्दी (प्ररूढतमता) नहीं बनती, क्योंकि प्रमादसे अथवा अशक्तिके कारण कहीं हिंसादिकका आचरण करते हुए भी उसमे उनके मिथ्या-अभिनिवेशरूप पाशके लिये अवकाश नहीं होता—वे उसमें अपनी सिद्धि अथवा आत्मभलाईका होना नहीं मानते ।'

[यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासन स्तोत्रमे शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीरजिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका सक्षेपसे निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये ।]

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः, सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्तिपदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं सङ्क्षेपतोऽपाकृतं, तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥ —विद्यानन्दः

गाँधीजीका पुण्य-स्तम्भ

[श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल]

[इस लेखके ले० डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एक बहुत बड़े प्राच्य विद्या विशारद विद्वान् है। मथुरा और लखनऊके म्यूजियमोंमें क्यूरेटर (Curator) के प्रतिष्ठित पदपर रह चुके हैं और आजकल न्यू देहलीमें सरकारी पुरातत्त्व-विभागके एक बहुत ऊँचे पदपर आसीन हैं। बड़े ही उदार-हृदय एवं सज्जन-स्वभावके महानुभाव हैं। आपने गाँधीजीके पुण्य स्तम्भके सुझावको लेकर यह जो लेख लिखा वह बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इससे विजय कीर्तिस्तम्भादि विविध स्तम्भोंके प्राचीन इतिहासपर भारी प्रकाश पड़ता है। सहृदय पाठक इसपरसे स्तम्भोंकी दृष्टि और उनके महत्वका कितना ही बोध प्राप्त कर सकते हैं। यह लेख प्रथमतः २२ फरवरी सन् १९४८ के दैनिक हिन्दुस्तानमें प्रकट हुआ है और वहींसे यहाँपर उद्धृत किया जाता है। लेखक महोदयने हिन्दुस्तानमें मुद्रित लेखको पुनः पढ़कर उसकी अशुद्धियोंको सुधार देनेके साथ लेख सम्बन्धी स्तम्भ चित्रोंके ब्लॉक भी हिन्दुस्तान ऑफिससे दिला देनेकी कृपा की है। इस अनुग्रहके लिये हम आपके बहुत आभारी हैं। साथ ही हिन्दुस्तानके सहायक सम्पादकजीका भी आभार मानते हैं, जिनके सौजन्यसे चित्रोंके ब्लॉक शीघ्र प्राप्त हो सके हैं। —सम्पादक]

"जहाँ वे बैठे वह मन्दिर होगया और जहाँ उन्होंने पैर रक्खा वह पवित्र भूमि बन गई।"

नेहरूजीके ये शब्द गाँधीजीके प्रति राष्ट्रके मनमें भरी हुई देश-व्यापी भावनाको प्रकट करते है। वह एक ज्योति थे। ज्योतिका मन्दिर उनका शरीर, प्रकाश-स्तम्भकी तरह जहाँ-जहाँ गया उसने वहाँ-वहाँ युग-युगसे फैले हुए अन्धकार और मूर्छाको हटाकर चैतन्यका आलोक फैला दिया। निखिल भुवनमें भरी हुई दिव्य ज्योति उनके द्वारा जिस-जिस स्थानपर विशेषरूपसे प्रकट होती रही वह सब सचमुच पवित्र है—न केवल वर्तमान युगके लिये अपितु आने वाली पीढ़ियोंके लिये भी। कोटानुकोटि जन इस महापुरुषकी वन्दनाके लिये आते हुए उन-उन स्थानोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ायेंगे और हृदय एवं बुद्धिकी कृतज्ञतासे पूर्ण प्रणाम-भाव अर्पित करेंगे।

महान पुरुष अमर विचारोंके प्रतीक होते हैं। उनके लिये जो स्मारक हम रचते हैं वे उन विचारोंके प्रति हमारे सम्मानके प्रतीक बन जाते है। विचार और कर्म इन्हीं दोनोंका समुदित नाम जीवन है। सुन्दर और लोकोपयोगी जीवन-तत्त्वको किसी एक व्यक्तिने इतनी अधिक मात्रामें इतने थोड़े समयमें और इतने बहुसंख्यक व्यक्तियोंके लिये सुलभ और प्रत्यक्ष सिद्ध बनाया हो, इसका उदाहरण भारतके इतिहासमें दूसरा नहीं। हमारे इतिहासका लम्बा भूत-काल अपने समस्त तेज और हितकारी अंशको लेकर गाँधीजीकी आत्मामें प्रविष्ट होगया और उनके शब्दोंमें और कर्मोंके द्वारा फूट निकला। वे कर्म और वे शब्द राष्ट्रके भावी जीवनमें सच्चे स्मारककी भाँति स्थायी रहेंगे। भौतिक स्मारक भी इन्हींको चिरजीवन प्रदान करनेके साधनमात्र बन सकते हैं।

वेदोंके हिरण्यस्तूप

वेदोंके समयसे इस प्रकारके स्मारकोंकी कल्पना की जासकती है, जब दिव्य विचार और दिव्य

कर्मोंको पृथ्वीके साथ सम्बन्धित करके किसी स्तूप या स्तम्भके रूपमें स्थायित्व प्रदान किया गया। वेदोंके हिरण्य-स्तूप एक ऋषिके संज्ञक हैं। 'सुनहली ज्योतिका स्तूप' यह नाम अवश्य ही सत्यके उस सुनहले स्वरूपमें लिया गया है जो इस विश्वमें सृष्टिके आदिमें ही स्थापित है। भौतिक पक्षमें रात्रिके तम और आवरणको हटाकर सूर्यका बड़ा सुनहला स्तूप नित्यप्रति हमारे सामने बनता है। सूर्यके रूपमें मानो हम नित्यप्रति उस सत्य और ज्योति तत्वका एक बड़ा स्मारक देखते हैं, जिसकी किरणें सारे संसारमें फैल जाती हैं। अन्धकारपर ज्योतिकी विजय—यह इस नाटकीय स्मारकका स्वरूप है।

ब्रह्मकी स्तम्भ-रूपसे कल्पना

किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण एक दूसरी कल्पना है जिसमें ब्रह्मको ही स्तम्भ या खम्भा कहा गया है। ईश्वरीय शक्तिका यह स्तम्भ सारे ब्रह्माण्डकी विधृति है अर्थात् उसके धारण करने वाली नींव, उसके संस्थान या ढाँचेको खड़ा रखने वाली दृढ़ टेक और उसकी रक्षक छत है। बिना ईश्वरीय खम्भेके एक क्षण को भी इस जगतकी स्थिति सम्भव नहीं। यही गांधीजीकी विलक्षण राम-निष्ठा थी। उनका यह ध्रुव विश्वास कि बिना रामकी इच्छाके कुछ नहीं मिलता उसी पुराने सत्यका नई भाषामें उलथा था। सत्य, धर्म, अमृत, जीवन और प्राण नाना प्रकारके निर्माणकारी तत्व उसी एक मूल ईश्वरीय खम्भेके अनेक रूप हैं जिनसे हमारा समाज टिका हुआ है। इस प्रकारके महापुरुषरूपी खम्भे जो राष्ट्र और समाज की टेक बनते हैं उसी एक मूल ब्रह्म-स्तम्भके रूपान्तर या टुकड़े कहे जा सकते हैं। गांधीजी सचमुच इस एक प्रकारके महान स्तम्भ थे। राष्ट्रकी मानस-भूमिपर इस उन्नत स्तम्भकी सत्ता बहुत काल तक अडिग रहेगी।

वैदिक यज्ञोंके यूप

वैदिक यज्ञोंके रूपमें जो व्यक्तिगत और सामाजिक रीतिसे उदात्त और लोकोपकारी कार्य किये जाते थे उन समारोहोंके स्मारक भी बनाये जाते थे। वस्तुतः यह स्मारक वही खम्भे थे जिन्हें यज्ञकी वेदीके बीचमें खड़ा किया जाता था और उनके लिए पुराना पारिभाषिक नाम यूप था। वैदिक यज्ञ-सिद्धांत के अनुसार बिना यूपकी स्थितिके कोई यज्ञ नहीं किया जा सकता। यज्ञीय कर्म करनेके लिये यूपकी पूर्वस्थिति आवश्यक है। इस सत्यात्मक नियमको हम अपने ही हालके इतिहासमें चरितार्थ देखते हैं। भारतवर्षमें जो राष्ट्रीय यज्ञ किया गया जिसके चारों ओर देशके लाखों-करोड़ों आदमी एकत्र होगये उस विराट यज्ञके यूप-स्तम्भ गांधीजी थे। ऋग्वेदकी एक कल्पना है कि जब देवताओंने पुरुषका सुधार करनेके लिये पुरुषमेध यज्ञ करना चाहा तो उस पुरुषको पशु बनाकर उन्होंने उस यज्ञके खम्भेके साथ बाँध लिया। इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्यमें जितना भी पाशविक अंश है उसको हटानेके लिये सर्वप्रथम यज्ञके खम्भेके साथ बाँधकर उसीकी भेंट चढ़ाई गई। राष्ट्रीय यज्ञमें भी इसीको दोहराया गया और गांधीरूपी यूपसे बांधकर राष्ट्रका जो जड़ता और पशुता का अंश था वह धीरे-धीरे मिटाया गया और संस्कृत बनाया गया। सौभाग्यसे कर्मकाण्डीय यज्ञोंके स्मारक रूप बनाये जाने वाले यज्ञीय स्तम्भ या यूपोंके कई अच्छे उदाहरण भारतीय-कलामें प्राप्त हुए हैं। इनमें दूसरी शताब्दीका मथुराका यज्ञीय स्तम्भ कलाकी दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसका निचला भाग चौकोर और ऊपरका अठकोण है एवं चोटीपर एक सुन्दर माला पहनाई गई है। चौकोर भागके एक ओर सुन्दर ब्राह्मी लिपि और संस्कृत भाषामें एक लेख उत्कीर्ण है जो ई० दूसरी शताब्दीमें राजा वसिष्कके राज्य-कालका है। यह खम्भा यमुनाके किनारे बालूमें गड़ा हुआ मिला था जहाँ किसी समय वह यज्ञ किया गया होगा।

महाभारतकी इन्द्रयष्टि

महाभारतके पुराने इतिहासमें राजा उपरिचार वसुकी एक कहानी दी हुई है, जिसमें यह कल्पना की गई है कि समृद्धिशाली राष्ट्रका हँसता-खेलता हुआ

जो स्वरूप है वह एक खम्भा है जिसका सार्वजनिक पूजन अनेक प्रकारसे राष्ट्रकी जनता करती है। इस खम्भेका नाम वहाँपर इन्द्रयष्टि कहा गया है, और इसके साथकी मालाका नाम वैजयन्ती बताया गया है, जो राष्ट्रीय-विजय-सूचक है। कहा जाता है कि राजा वसुने तपश्चर्या की जिससे इन्द्रको डर लगा कि कहीं यह स्वर्ग तो नहीं चाहता। तब इन्द्रने उसके तपसे प्रसन्न होकर कहा कि तुम पृथ्वीपर रहते हो और मैं स्वर्गमें, मैं तुम्हें पृथ्वीपर ही अपना प्रिय मित्र बनाता हूं, तुम ऐसा देश बसाओ जहाँके निवासी धर्मशील और सदा सन्तुष्ट हों, जो हँसीमें भी झूठ न बोलें, जहाँ मनुष्य तो क्या पशुओंपर भी अत्याचार न हो, जहाँ सब अपने-अपने कर्तव्य या सधर्मको पूरा करें, जहाँ भूमि अच्छी हो और सब तरहका धनधान्य पूरा हो। ऐसे सब प्रकारसे रमणीय और ऐश्वर्ययुक्त देशमें तुम राजा बनो। इस प्रकारके सर्व-सुखी राष्ट्रकी सूचक यह इन्द्रयष्टि मैं तुमको देता हूँ। देशका जो सम्रानन्दी रूप है, उसकी प्रतीक यह इन्द्रयष्टि है। यष्टिको ही प्राकृतमें लाठी और हिन्दीमें उसीको लाठ या लाट कहते हैं। इस प्रकारकी यष्टि या स्तम्भके अनेक उदाहरण प्राचीन भारतीय सिक्कों पर और प्राचीन भारतीयकलामें पाये जाते हैं, जिसमें एक ऊंचे खम्भेपर फहराते हुए दोहरे झण्डेकी आकृति बनी हुई होती है।

सम्राट अशोकके धर्मस्तम्भ

भारतीय इतिहासमें स्तम्भ और स्मारकोंकी सर्वोत्तम देन मौर्य सम्राट महाराज अशोकसे हमें प्राप्त होती है। अशोकने बुद्धके लगाये हुए छोटेसे पौधेको राष्ट्रकी शक्तिसे सींचकर ससारव्यापी बना दिया। उनका मन बुद्धके गुणोंका ध्यान करके व्यक्तिगत श्रद्धासे भर गया। उन्होंने बुद्धके जन्मस्थानकी यात्रा की और नेपालकी तराईमें बुद्धके जन्मस्थान लुम्बिनी गाँवमें एक स्तम्भ बनवाया जिसपर लिखा है, "यहाँ भगवानका जन्म हुआ था। यह गाँव राज-करसे मुक्त किया जाता है।" पाटलीपुत्रसे लुम्बिनीकी यात्राका मार्ग तय करते हुए संभवतः धर्म-यात्रीके पड़ावके सूचक और भी स्तम्भ बनवाये गये। अशोकका नाम न केवल भारतवर्ष बल्कि एशियाके इतिहासमें सबसे महत्वपूर्ण है। उसने सबसे पहले एशियाकी एकताका स्वप्न देखा और अपनी निर्मल दृष्टि और दृढ़ निश्चयसे प्रेम और अहिंसाके द्वारा मनुष्यका मनुष्यके साथ सम्बन्ध स्थापित करने-का जो नया प्रयोग उसने चलाया उसमें सम्मिलित होनेके लिये अपने पड़ौसी देशके राजाओंको भी निमंत्रण दिया। देहरादून जिलेमें कालसी नामक स्थानकी चट्टानपर खुदे हुए लेखमें उसने सीरिया, मिस्र और यूनानके उन राजाओंका नाम दिया है जिनके पास उसने अपने दूत भेजे थे ताकि वे उन्हें भी धर्म-विजयका संदेश सुनाएं। अपने पुत्र महेन्द्र और अपनी पुत्री संघमित्राको सिंहलमें धर्म-प्रचारक लिए भेजकर उसने इतिहासमें एक अद्भुत उदाहरण रखा। अशोकके मनकी यही प्रेरणात्मक शक्ति थी जो उसके अनेक देवोत्तर कार्योंके द्वारा प्रकट होती है। बर्मा, नैपाल आदि भारतके पड़ौसी देश भी अशोककी धर्म-विजयसे लाभ उठानेमें समर्थ हुए। सम्राटको जितनी स्वदेशकी चिन्ता थी सम्भवतः दूसरे देशोंकी उससे कम न थी। स्वदेश और विश्व-का यह विलक्षण समन्वय अशोकके जीवनमें जैसा था वैसा ही गांधीजीके जीवनमें भी प्रकट होता है। अशोकके धर्मका मूलमन्त्र समवाय या पारस्परिक मेलमिलापपर आश्रित था। 'समवाय एव साधु' इस अपने एक वाक्यमें मानो सम्राटने भारत-राष्ट्रकी सदा-सदाकी विशेषता और जीवनकी आवश्यकताका निचोड़ बता दिया है। अशोकका साम्राज्य अफगा-निस्तानसे मैसूर तक फैला हुआ था। उसने सारे राष्ट्र में चट्टानों और खम्भोंपर अभिलेख खुदवाये जिनमें बार-बार सीधे-सादे शब्दोंमें सभाईके उन नियमोंका बताया गया है जिनसे व्यक्ति, समाज और देशका जीवन उदात्त बनाया जा सकता है। अपने विचारोंके अनुसार राष्ट्रका निर्माण करते हुए उसने दीन, दरिद्र, दुखी, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सबके उद्धार और उन्नतिका ध्यान रखा है। इन लेखोंको लिखवाते समय अशोक

के सामने ईरानी सम्राट महान दारा प्रथमका उदाहरण था जिसने तीन-तीन भाषाओंमें बड़े-बड़े लेख बहिस्तून (प्राचीन भगस्थान अर्थात देवताओंका स्थान) और सूसा (संस्कृत शूषा) आदि स्थानोंमें अपनी दिग्विजयका डङ्का पीटनेके लिये लिखवाये। वे लेख आज भी अस्तित्वमें हैं और दाराकी हिंसा और मारकाटसे भरे हुए दिग्विजयके चित्रको हमारे सामने लाते हैं। पर अशोककी विजय दूसरे प्रकारकी थी और उसके शब्दोंमें हम एशियाकी आश्वस्त आत्माकी पुकार सुन सकते हैं। अशोकका आदर्श भविष्यके लिये है। दाराका यश परिमित किन्तु अशोकका अपरिमित है। अशोक सच्चे अर्थोंमें भारतीय संस्कृतिका पुत्र था।

अशोक स्तम्भ जो नन्दगढमें बना हुआ है।

अशोक-स्तम्भोंकी विशेषता

भाषा, लिपि और विषयकी दृष्टिसे भी अशोकके शिलालेख और स्तम्भलेख हमारे लिये शिक्षाप्रद हैं। उसने जनताकी बोलचालकी भाषाको अपनाया। उसने अपने एक लेखमें कहा कि मैं ठेठ देहातके मनुष्योंके (जानपदस जनस) दर्शन करना चाहता हूँ, उनका कुशल-प्रश्न पूछना चाहता हूँ और उन तक अपने धार्मिक उपदेशोंकी आवाज पहुँचाना चाहता हूँ। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह रीति-रिवाजोंका पचड़ा नहीं था बल्कि जीवनको ऊँचा उठानेके लिये आत्मासे निकली हुई एक सीधी पुकार थी जो सबकी समझमें आने योग्य थी। अशोकके लेखोंकी दूसरी विशेषता उनकी ब्राह्मी लिपि है। उस के अक्षर सुन्दर हैं और वह उस समयकी राष्ट्रीय लिपि थी। हमारी वर्तमान देवनागरी लिपि उसी
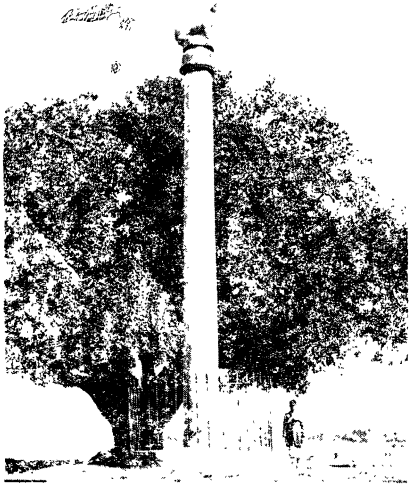
अशोक-कालीन ब्राह्मी लिपिका ही विकसित रूप है।

लगभग २२०० वर्षोंसे अशोकके स्तम्भ देशके विभिन्न भागोंमें खड़े हुए उसके यशको उजागर बनाते रहे हैं। अशोकके साढ़े छः सौ वर्ष बाद आने वाले चीनी यात्री फाहियानने छः खम्भोंका उल्लेख किया है, लेकिन सातवीं शताब्दीमें हर्षके समयमें आने वाले चीनी धर्म-यात्री ग्वान च्वाङ्गने अशोकके पन्द्रह खम्भोंका आँखों देखा वर्णन लिखा है, जिनमें से कई अब नष्ट होचुके हैं। अब तक अशोकके शैल-स्तम्भ निम्नलिखित स्थानोंमें मिल चुके हैं:—

(१) टोपरा, जिला अम्बाला। (२) मेरठ। (३) इलाहाबाद। (४) कौशाम्बी। (५) लौरिया-अरराज। (६) लौरिया-नन्दनगढ़ (सिंह-शीर्षक-युक्त)। (७) रामपुरवा। (८) साँची। (९) सारनाथ। (१०) संकिसा। (११) रुम्मिनदेई (बुद्धका जन्मस्थान)। (१२) निगलीव।

हो सकता है इनमेंसे कुछ स्तम्भ अशोकसे पहलेके भी रहे हों, क्योंकि अपने लेखमें उसने एक जगह ऐसा सङ्केत किया है-'जहाँ शिला स्तम्भ या फलक हो वहाँ यह धर्मलिपि लिखवा दी जाय, जिससे यह चिरस्थायी हो।"

भौगोलिक बंटवारेकी दृष्टिसे भी अशोकके लेख विचारणीय हैं। उनमेंसे कुछ तो बुद्धके पवित्र स्थानोंको सूचित करते हैं, जैसे रुम्मिनदेईका स्थान, और कुछ उस समयकी बड़ी राजधानियोंको जैसे साँची, सारनाथ और कौशाम्बी आदि। उसके फैले हुए लेखोंसे उसके राज्य और विस्तारकी सीमा मिलती है। सम्भव है ये सभी दृष्टिकोण सम्राट्के मनमें रहे हों।

प्रयाग स्थित अशोक-स्तम्भ

अशोक-स्तम्भोंकी कला

कलाकी दृष्टिसे अशोकके खम्भे भारतीय कलाका एक
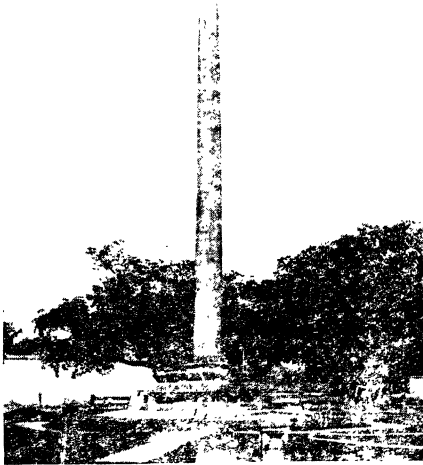
विलक्षण चमत्कार कहे जासकते हैं। पत्थरके खम्भोंपर जो दमक है वह शीशेको भी मात करती है। सत्रहवीं शताब्दीमें टॉमकोरियट नामक यात्रीने दिल्लीके खम्भेको तांबेका बना हुआ समझ लिया था। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक श्री विन्सेण्ट स्मिथने लिखा है—"पत्थरका काम करने वालोंकी निपुणता इन खम्भोंके निर्माणमें अपनी पूर्ण पराकाष्ठाको पहुँच गई थी और उन्होंने वह चमत्कार कर दिखाया जो शायद बीसवीं सदीकी शक्तिसे भी बाहर है। तीस-चालीस फुट लम्बे कड़े पत्थरके खम्भोंपर बहुत ही बारीकीका काम हुआ है और ऐसा ओप लगाया गया है जो अब किसी कारीगरकी शक्तिसे बाहर है।" सारनाथका सिंह-शीर्षक स्तम्भ इस कलाकी पराकाष्ठाको सूचित करता है। ह्वानत्सांगने भी लिखा है कि यह खम्भा उस जगह लगाया गया था जहाँ बुद्धने पहली बार अपने धर्मका उपदेश दिया। यह खम्भा सत्तर फुट ऊँचा था और इसकी दमक यशबकी जैसी थी। अन्तिम बात आज भी ज्यों-की-त्यों सच्ची है। सर जान मार्शलने इस भारतीय कलाकी प्रशंसामें लिखा है—"शैली और कारीगरी दोनों दृष्टियोंसे यह सर्वोत्कृष्ट है। इसकी नक्काशी भारतीय शिल्पमें अद्वितीय है और मेरे विचारमें प्राचीन संसारमें कोई चीज इस क्षेत्रमें इससे बढ़कर नहीं बनी।" सारनाथका सिंहस्तम्भ और उसपर बना हुआ चक्र अब हमारी राष्ट्रीय मुद्रा और चक्रध्वज नामक
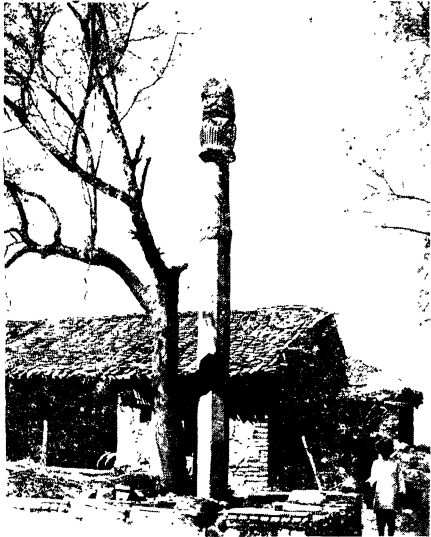
अशोक कालीन एक और स्तम्भ जो हेलीडोरोस नामक स्थानपर स्थित है।

राष्ट्रीय झण्डेके साथ सम्बन्धित होगए हैं। इसके द्वारा नवीन भारतने एक प्रकारसे अपने आपको अशोककी आत्माके साथ मिला दिया है।

इन खम्भोंके बनाने और कई सौ मील दूर लेजानेका कार्य भी एक बड़ी कठिन समस्या रही होगी। ये सब चुनारके गुलाबी पत्थरके बने हुए हैं। पचास-साठ फुट लम्बे पत्थरोंके बड़े टुकड़ोंको काटकर उन्हें तराशना, डौलियाना और सांठना बहुत ही कठिन कार्य रहा होगा। उस समयके इञ्जीनियर किनने परिश्रमसे चुनार या पाटलीपुत्रकी केन्द्रीय शिल्पशालासे सुदूर स्थानों तक इन्हें लेगये इसका कुछ अनुमान हम सुलतान फिरोजशाह तुगलकके वर्णनसे लगा सकते है। उसने दिल्लीकी अपनी राजधानीको सजानेके लिए अम्बाला जिलेके टापरा गाँवमें अशोकका खम्भा उखाड़कर यहाँ खड़ा किया। उसके लिये बयालीस पहियोंकी एक गाड़ी बनाई गई, एक पहियेसे बंधे हुए रस्सेको दोसौ आदमी खींचते थे और खम्भेके सहित सारी गाड़ीके बोझको ८४०० आदमी खींच रहे थे। खम्भेको नीचे लानेके लिये एक रूईका पहाड़ बनाया गया और धीरे-धीरे नीचा करके गाड़ीके बराबर लाकर खम्भेको उसपर लादा गया। वहाँसे जब उसे जमुनाके किनारे लाये तो कई बड़ी नावोंपर उसे लादा गया और फिर दिल्लीमें उसका स्वागत किया गया। वहाँसे फिर वह खम्भा फिरोजशाहके कोटले तक लाकर एक ऊँचे ठिकानेपर खड़ा किया गया। ऐसा करनेके लिए उस समयके बन्धानियोंने देशी ढङ्गसे तैयार होनेवाले रस्से बाँस बल्लियोंका ठाठ और बालाकुप्पीका प्रयोग किया। इसका वर्णन करने वाली तत्कालीन पुस्तक प्राप्त हुई है जो पुरातत्त्व विभागसे सानुवाद प्रकाशित हो चुकी है।

समुद्रगुप्तका स्तम्भ

अशोकके खम्भोंको बादमें भी लोगोंने खूब पसन्द किया होगा। इसका एक उदाहरण यह है कि गुप्त-वंशके प्रतापी महाराज समुद्रगुप्तने अपनी दिग्विजयका लेख लिखवानेके लिये अशोकके खम्भे को ही चुना। उसमें कहा गया है 'कि मानो पृथ्वीने खम्भेके रूपमें आकाशकी ओर अपना ही एक हाथ ऊँचा उठा दिया'।

एक यूनानी राजदूतका गरुडध्वज

बाहरसे आने वाले विदेशियोंने भी खम्भोंकी परम्पराको अपनाया। पहली शताब्दी ईसवी पूर्व हिलियोडोरस नामका एक यूनानी राजदूत मध्यभारत के राजाके पास आया था। यहाँ वह भागवत धर्मसे दीक्षित होगया और उसने विष्णुका बहुत सुन्दर *गरुडध्वज-स्तम्भ भेलसामें स्थापित किया। यह स्तम्भ* नीचे अठकोना ऊपर सोलहकोना और फिर अन्तमें गोल होगया है। इसका मस्तक पद्माकृति है। खम्भेके निचले भागके एक पहलूपर लेख उत्कीर्ण है जिसमें सत्य, दम और दान रूपी धर्मकी प्रशंसा की गई है।

महरौलीका लोह-स्तम्भ

प्राचीन कीर्ति-स्तम्भोंमें एक बहुत अच्छा उदाहरण महरौलीका लोह-स्तम्भ है। इसका लोहा १५०० वर्षोंसे धूप और मेहका सामना करते हुए भी जङ्गसे बिल्कुल अछूता रहा। इसे स्मिथने 'धातु-निर्माणकी कलाका करिश्मा' कहा है। आज भी संसारमें ऐसे कारखानोंकी संख्या थोड़ी ही है जो इतना बड़ा लोहेका लट्ठा ढाल सकें। इस स्तम्भपर खुदा हुआ संस्कृतका लेख चन्द्र नामक राजाका है, जिसने ४०० ई० के लगभग गङ्गासे बल्ख तकके समस्त देशोंको एकताके सूत्रमें बाँध दिया था। सम्भवतः यह सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य थे, जिनका नाम भारतीय साहित्यके क्षेत्रमें अमर है।

गुप्तकालीन विजय-स्तम्भ

गुप्तकालमें पत्थरके बने विजयस्तम्भकी परम्परा और भी फैली। गाजीपुरके भीतरी गाँवमें स्कन्दगुप्त-का एक खम्भा मिला है जिसके लेखमें लिखा है कि उन्होंने अपने भुज-दण्डोंकी शक्तिसे युद्धभूमिमें हूणों-से लोहा लेकर इस पृथ्वीको कम्पायमान कर दिया। गुप्त-कालके बाद भारत में अनेक प्रकारके स्तम्भ बनाये जाने लगे। विशेषकर गुफाओं और मन्दिरोंके

लिए बहुत प्रकारके स्तम्भोंका उपयोग होने लगा। अजन्ताकी गुफाओंमें या एलोराके कैलाश मन्दिरमें अथवा चिदम्बरमके सहस्र खम्भों वाले मण्डपमें हम अनेक प्रकारकी कारीगरीसे सुसज्जित अच्छेसे अच्छे खम्भे पाते हैं। इनकी विविधता और रूपाको देखकर कहा जा सकता है कि भारतवर्ष कलाके क्षेत्रमें स्तम्भोंका देश रहा है।

स्तम्भोंकी निर्माण-कला

कलाकी दृष्टिसे सुन्दर स्तम्भके तीन भाग होने चाहिए—अधिष्ठान या नीचे-का भाग, दण्ड या बीचका भाग और शीर्ष या ऊपरका भाग, इन तीनोंके भी और कितने ही अलङ्करण कहे गये हैं। मध्यकालमें प्रायः प्रत्येक बड़े मन्दिरके सामने एक स्वतन्त्र स्तम्भ या मान स्तम्भ बनानेकी प्रथा चल पड़ी थी। किन्तु प्राचीन विजय-स्तम्भों-की परपरामें कीर्ति-स्तम्भ भी बनने लगे थे जो पत्थर-की ऊँची मीनार कहे जा सकते हैं। चित्तौड़में राणा कुम्भाका कीर्ति-स्तम्भ इसी प्रकारकी वस्तु है और कलाकी दृष्टिसे बहुत ही आकर्षक है।

गांधीजीका पुण्य-स्तम्भ

बुद्धके उपदेशोंको उनके शिष्योंने पीछे उनका धर्म-शरीर समझा था। गांधीजीने भी जो कुछ कहा वह उनके विचारोंका प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होनेके कारण उनका विचार-शरीर कहा जा सकता है। इसकी रक्षा और चिर-स्थितिका प्रयत्न हमारा राष्ट्रीय
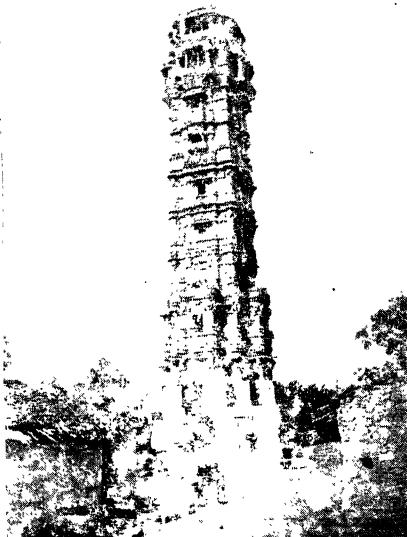
चित्तौड़का सुप्रसिद्ध विजय स्तम्भ

इसे राणा कुम्भाने अपनी विजयके स्मारकमें बनवाया था।

कर्तव्य है। जिस प्रकार प्रियदर्शी अशोकने जनताकी भाषामें जनताके बोधके लिए अपने विचारोंका लेखोंके द्वारा चिरस्थायी बनाया और यह प्रयत्न किया कि छोटे-बड़े सब तक वे विचार पहुँचाए जा सके उसी प्रकारका प्रयत्न अपने अर्वाचीन राष्ट्र-पिताके लिए भी करने योग्य है। आज प्रचारके अन्य अनेक साधन सुलभ होगये हैं फिर भी शिल्पकलाके द्वारा महापुरुषोंकी वाणीको अङ्कित करनेका प्रयत्न अवश्य ही आगे आने वाले युगोंके लिए अभिनन्दनीय रहेगा।

[illegible] स्तम्भ

रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय

[सम्पादकीय]

(गत किरणसे आगे)

अब मैं प्रो. हीरालालजीकी शेष तीनों आपत्तियों-पर भी अपना विचार और निर्णय प्रकट कर देना चाहता हूं; परन्तु उसे प्रकट कर देनेके पूर्व यह बतला देना चाहता हूँ कि प्रो० साहबने, अपनी प्रथम मूल आपत्तिको 'जैन-साहित्यका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबन्धमें प्रस्तुत करते हुए, यह प्रतिपादन किया था कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्यके उपदेशोंके पश्चात् उन्हींके समर्थनमें लिखा गया है, और इसलिये इसके कर्ता वे समन्तभद्र होसकते हैं जिनका उल्लेख शिलालेख व पट्टावलियोंमें कुन्दकुन्द-के पश्चात् पाया जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य और उमास्वामिका समय वीरनिर्वाणसे लगभग ६५० वर्ष पश्चात् (वि सं० १८०) सिद्ध होता है—फलतः रत्न-करण्डश्रावकाचार और उसके कर्ता समन्तभद्रका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीका अन्तिम भाग अथवा तीसरी शताब्दीका पूर्वार्ध होना चाहिये (यही समय जैनसमाजमें आमतौरपर माना भी जाता है)। साथ ही, यह भी बतलाया था कि 'रत्नकरण्डके कर्ता ये समन्तभद्र उन शिवकोटिके गुरु भी होसकते है जो रत्नमालाके कर्ता हैं'[1]। इस पिछली बातपर आपत्ति करते हुए पं० दरबारीलालजीने अनेक युक्तियोंके आधारपर जब यह प्रदर्शित किया कि रत्न-माला एक आधुनिक ग्रन्थ है, रत्नकरण्डश्रावकाचारसे शताब्दियों बादकी रचना है, विक्रमकी ११वीं शताब्दी-के पूर्वकी तो वह हो ही नहीं सकती और न रत्न-करण्डश्रावकाचारके कर्ता समन्तभद्रके साक्षात् शिष्य की कृति ही होसकती है[2] तब प्रो० साहबने उत्तरकी धुनमें कुछ कल्पित युक्तियोंके आधारपर यह तो लिख दिया कि "रत्नकरण्डकी रचनाका समय विद्यानन्दके समय (ईसवी सन् ८१६के लगभग) के पश्चात् और वादिराजके समय अर्थात् शक सं० ९४७ (ई० सन् १०२५) से पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधिके प्रकाशमें रत्नकरण्डश्रावकाचार और रत्नमालाका रचनाकाल समीप आजाते हैं और उनके बीच शताब्दियोंका अन्तराल नहीं रहता"[1]। साथ ही आगे चलकर उसे तीन आपत्तियोंका रूप भी दे दिया[2]; परन्तु इस बातको भुला दिया कि उनका यह सब प्रयत्न और कथन उनके पूर्वकथन एवं प्रतिपादनके विरुद्ध जाता है। उन्हें या तो अपने पूर्वकथनको वापिस ले लेना चाहिये था और या उसके विरुद्ध इस नये कथनका प्रयत्न तथा नई आपत्तियोंका आयोजन नहीं करना चाहिये था। दोनों परस्पर विरुद्ध बातें एक साथ नहीं चल सकतीं।

अब यदि प्रोफेसर साहब अपने उस पूर्व कथनको वापिस लेते हैं तो उनकी वह थियोरी (Theory) अथवा मत-मान्यता ही बिगड़ जाती है जिसे लेकर वे 'जैन-साहित्यका एक विलुप्त अध्याय' लिखनेमें प्रवृत्त हुए हैं और यहाँ तक लिख गये हैं कि 'बोडिक-सङ्घके संस्थापक शिवभूति, स्थविरावलीमें उल्लिखित आर्य शिवभूति, भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्य और उमास्वातिके गुरुके गुरु शिवश्री ये चारों एक ही व्यक्ति हैं। इसी तरह शिवभूतिके शिष्य एवं उत्तराधिकारी भद्र, निर्युक्तियोंके कर्ता भद्रबाहु, द्वादश-वर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणीके कर्ता व दक्षिणापथ-को विहार करने वाले भद्रबाहु, कुन्दकुन्दाचार्यके गुरु भद्रबाहु, बनबासी सङ्घके प्रस्थापक सामन्तभद्र और आप्तमीमांसाके कर्ता समन्तभद्र ये सब भी एक ही व्यक्ति हैं।'

१ जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय पृ० १८, २०।
२ अनेकान्त वर्ष ६, किरण १२, पृ० ३८० ३८२।

१ अनेकान्त वर्ष ७, किरण ५-६, पृ० ५४। २ अनेकान्त वर्ष ८, कि ३, पृ० १३२ तथा वर्ष ६, कि १ पृ० ६, १०।

और यदि प्रोफेसर साहब अपने उस पूर्व-कथनको वापिस न लेकर पिछली तीन युक्तियोंको ही वापिस लेते हैं तो फिर उनपर विचारकी जरूरत ही नहीं रहती—प्रथम मूल आपत्ति ही विचारके योग्य रह जाती है और उसपर ऊपर विचार किया ही जा चुका है।

यह भी होसकता है कि प्रो०साहबके उक्त विलुप्त अध्यायके विरोधमें जो दो लेख (१ क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?, २ शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार) वीरसेवामन्दिरके विद्वानों द्वारा लिखे जाकर अनेकान्तमें प्रकाशित हुए हैं[1] और जिनमें विभिन्न आचार्योंके एकीकरणकी मान्यताका युक्तिपुरस्सर खण्डन किया गया है तथा जिनका अभीतक कोई भी उत्तर साढे तीन वर्षका समय बीत जानेपर भी प्रो० साहबकी तरफसे प्रकाशमें नहीं आया, उन-परसे प्रो० साहबका विलुप्त-अध्याय-सम्बन्धी अपना अधिकांश विचार ही बदल गया हो और इसीसे वे भिन्न कथन द्वारा शेष तीन आपत्तियोंको खड़ा करने-में प्रवृत्त हुए हों। परन्तु कुछ भी हो, ऐसी अनिश्चित दशामें मुझे तो शेष तीनों आपत्तियोंपर भी अपना विचार एवं निर्णय प्रकट कर देना ही चाहिये। तदनुसार ही उसे आगे प्रकट किया जाता है।

(२) रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका भिन्न-कर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये प्रो० साहबकी जो दूसरी दलील (युक्ति) है वह यह है कि "रत्न-करण्डका कोई उल्लेख शक संवत् ९४७ (वादिराजके पार्श्वनाथचरितके रचनाकाल) से पूर्वका उपलब्ध नहीं है तथा उसका आप्तमीमांसाके साथ एककर्तृत्व बतलाने वाला कोई भी सुप्राचीन उल्लेख नहीं पाया जाता।" यह दलील वास्तवमें कोई दलील नहीं है, क्योंकि उल्लेखाऽनुपलब्धिका भिन्नकर्तृत्वके साथ कोई अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है—उल्लेखके न मिलनेपर भी दोनोंका एक कर्ता होनेमें स्वरूपसे कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि रत्नकरण्डका वह पूर्ववर्ती उल्लेख प्रो० सा० को उपलब्ध नहीं है या किसीको भी उपलब्ध नहीं है अथवा वर्तमानमें कहीं उसका अस्तित्व ही नहीं और पहले भी उसका अस्तित्व नहीं था? यदि प्रो० साहबको वह उल्लेख उपलब्ध नहीं और किसी दूसरेको उपलब्ध हो तो उसे अनुपलब्ध नहीं कहा जासकता—भले ही वह उसके द्वारा अभीतक प्रकाश-में न लाया गया हो। और यदि किसीके द्वारा प्रकाश-में न लाये जानेके कारण ही उसे दूसरोंके द्वारा भी अनुपलब्ध कहा जाय और वर्तमान साहित्यमें उसका अस्तित्व हो तो उसे सर्वथा अनुपलब्ध अथवा उस उल्लेखका अभाव नहीं कहा जा सकता। और वर्तमान साहित्यमें उस उल्लेखके अस्तित्वका अभाव तभी कहा जा सकता है जब सारे साहित्यका भले प्रकार अवलोकन करनेपर वह उसमें न पाया जाता हो। सारे वर्तमान जैनसाहित्यका अवलोकन न तो प्रो० साहबने किया है और न किसी दूसरे विद्वानके द्वारा ही वह अभी तक हो पाया है। और जो साहित्य लुप्त होचुका है उसमें वैसा कोई उल्लेख नहीं था इस तो कोई भी दृढताके साथ नहीं कह सकता। प्रत्युत इसके, वादिराजके सामने शक सं० ९४७ में जब रत्नकरण्ड खूब प्रसिद्धिको प्राप्त था और उसमें कोई ३० या ३४ वर्ष बाद ही प्रभाचन्द्राचार्यने उसपर संस्कृत टीका लिखी है और उसमें उसे साफ तौरपर स्वामी समन्तभद्रकी कृति घोषित किया है, तब उसका पूर्व साहित्यमें उल्लेख होना बहुत कुछ स्वा-भाविक जान पड़ता है। वादिराजके सामने कितना ही जैनसाहित्य ऐसा उपस्थित था जो आज हमारे सामने उपस्थित नहीं है और जिसका उल्लेख उनके ग्रंथोंमें मिलता है। ऐसी हालतमें पूर्ववर्ती उल्लेखका उपलब्ध न होना कोई खास महत्व नहीं रखता और न उसके उपलब्ध न होने मात्रसे रत्नकरण्डको रचना-को वादिराजके सम-सामयिक ही कहा जा सकता है, जिसके कारण आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डके भिन्न कर्तृत्वकी कल्पनाको बल मिलता।

दूसरी बात यह है कि उल्लेख दो प्रकारका होता है—एक ग्रन्थनामका और दूसरा ग्रन्थके साहित्य

[1] अनेकान्त वर्ष ६, कि० १०-११ और वर्ष ७, कि० १-२

तथा उसके किसी विषय-विशेषका। वादिराजसे पूर्व-का जो साहित्य अभीतक अपनेको उपलब्ध है उसमे यदि ग्रन्थका नाम 'रत्नकरण्ड' उपलब्ध नहीं होता तो उससे क्या? रत्नकरण्डका पद-वाक्यादिके रूपमे साहित्य और उसका विषयविशेष तो उपलब्ध होरहा है; तब यह कैसे कहा जा सकता है कि 'रत्नकरण्डका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है'? नहीं कहा जा सकता। आ० पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमे स्वामी समन्तभद्रके ग्रन्थोंपरसे उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थको कहीं शब्दानुसरणके, कहीं पदानुसरणके, कहीं वाक्यानुसरणके, कहीं अर्थानुसरणके, कहीं भावानुसरणके, कहीं उदाहरणके, कहीं पर्यायशब्दप्रयोगके और कहीं व्याख्यान-विवेचनादिके रूपमे पूर्णत: अथवा अंशत: अपनाया है—ग्रहण किया है—और जिसका प्रदर्शन मैंने 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक अपने लेखमे किया है[१]। उसमे आप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासनके अलावा रत्नकरण्डश्रावकाचारके भी कितने ही पद-वाक्योंको तुलना करके रक्खा गया है जिन्हे सर्वार्थसिद्धिकारने अपनाया है, और इस तरह जिनका सर्वार्थसिद्धिमे उल्लेख पाया जाता है। अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दके श्लोकवार्तिकमे भी ऐसे उल्लेखोंकी कमी नहीं है। उदाहरणके तौरपर तत्त्वार्थसूत्र-गत ७वें अध्यायके 'दिग्देशाऽनर्थदण्ड' नामक २१ वें सूत्रसे सम्बन्ध रखने वाले "भोग-परिभोग-सख्यान पञ्चविध त्रसघात-प्रमाद-बहुवधाऽनिष्टाऽनुपसेव्य-विषयभेदात्" इस उभय-वार्तिक-गत वाक्य और इसकी व्याख्याओंको रत्नकरण्डके 'त्रसहतिपरिहरणार्थं,' 'अल्पफलबहुविघातात्,' 'यदनिष्टं तद् व्रतयेत्' इन तीन पद्यों (न० ८४, ८५, ८६) के साथ तुलना करके देखना चाहिये, जो इस विषयमे अपनी खास विशेषता रखते है।

परन्तु मेरे उक्त लेखपरसे जब रत्नकरण्ड और सर्वार्थसिद्धिके कुछ तुलनात्मक अश उदाहरणके तौरपर प्रो० साहबके सामने यह बतलानेके लिये रक्खे गये कि 'रत्नकरण्ड सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपादसे भी पूर्वकी कृति है और इसलिये रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिके गुरु उसके कर्ता नहीं हो सकते' तो उन्होंने उत्तर देते हुए लिख दिया कि "सर्वार्थसिद्धिकारने उन्हे रत्नकरण्डसे नहीं लिया, किन्तु सम्भव है रत्नकरण्डकारने ही अपनी रचना सर्वार्थसिद्धिके आधारसे की हो"। साथ ही रत्नकरण्डके उपान्त्य-पद्य 'येन स्वय वीतकलङ्कविद्या'को लेकर एक नई कल्पना भी कर डाली और उसके आधारपर यह घोषित कर दिया कि 'रत्नकरण्डकी रचना न केवल पूज्यपादसे पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्दसे भी पीछेकी है'। और इसीको आगे चलकर चौथी आपत्तिका रूप दे दिया। यहाँ भी प्रो० साहबने इस बातको भुला दिया कि 'शिलालेखोंके उल्लेखानुसार कुन्दकुन्दाचार्यके उत्तरवर्ती जिन समन्तभद्रको रत्नकरण्डका कर्ता बतला आए है उन्हे तो शिलालेखोंमे भी पूज्यपाद, अकलङ्क और विद्यानन्दके पूर्ववर्ती लिखा है, तब उनके रत्नकरण्डकी रचना अपने उत्तरवर्ती पूज्यपादादिके बाद की अथवा सर्वार्थसिद्धिके आधारपर की हुई कैसे हो सकती है?' अस्तु, इस विषयमे विशेष विचार चौथी आपत्तिके विचाराऽवसरपर ही किया जायगा।

यहांपर मै साहित्यिक उल्लेखका एक दूसरा स्पष्ट उदाहरण ऐसा उपस्थित कर देना चाहता हूँ जो ईसाकी ७वीं शताब्दीके ग्रन्थमे पाया जाता है और वह है रत्नकरण्डश्रावकाचारके निम्न पद्यका सिद्धसेनके न्यायावतारमे ज्योंका त्यों उद्धृत होना—

> आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम् ।
> तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥९॥

यह पद्य रत्नकरण्डका एक बहुत ही आवश्यक अङ्ग है और इसमे यथास्थान-यथाक्रम मूलरूपसे पाया जाता है। यदि इस पद्यको उक्त ग्रन्थसे अलग कर दिया जाय तो उसके कथनका सिलसिला ही बिगड जाय। क्योंकि ग्रन्थमे, जिन आप्त, आगम (शास्त्र) और तपोभृत (तपस्वी) के अष्ट अङ्गसहित

१ अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११, पृ० ३४६-३५२

और त्रिमूढतारहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया गया है उनका क्रमशः स्वरूप निर्देश करते हुए, इस पद्यमें पहले 'आप्त' का और इसके अनन्तर 'तपोभृत' का स्वरूप दिया है, यह पद्य यहाँ दोनोंके मध्यमें अपने स्थानपर स्थित है, और अपने विषयका एक ही पद्य है। प्रत्युत इसके, न्यायावतारमें, जहाँ भी यह नम्बर ९ पर स्थित है, इस पद्यकी स्थिति मौलिकताकी दृष्टिसे बहुत ही सन्दिग्ध जान पड़ती है—यह उसका कोई आवश्यक अङ्ग मालूम नहीं होता और न इसको निकाल देनेसे वहाँ ग्रन्थके सिलसिलेमें अथवा उसके प्रतिपाद्य विषयमें ही कोई बाधा आती है। न्यायावतारमें परोक्ष प्रमाणके 'अनुमान' और 'शब्द' ऐसे दो भेदोंका कथन करते हुए, स्वार्थानुमानका प्रतिपादन और समर्थन करनेके बाद इस पद्यमें ठीक पहले 'शाब्द' प्रमाणके लक्षणका यह पद्य दिया हुआ है—

'दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥८॥

इस पद्यकी उपस्थितिमें इसके बादका उपर्युक्त पद्य, जिसमें शास्त्र (आगम) का लक्षण दिया हुआ है, कई कारणोंसे व्यर्थ पड़ता है। प्रथम तो उसमें शास्त्रका लक्षण आगम-प्रमाणरूपसे नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि ऐसे शास्त्रसे उत्पन्न हुआ ज्ञान[२] आगम प्रमाण अथवा शाब्दप्रमाण कहलाता है, बल्कि सामान्यतया आगमपदार्थके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है, जिसे 'रत्नकरण्डमें सम्यग्दर्शनका विषय बतलाया गया है। दूसरे, शाब्दप्रमाणसे शास्त्रप्रमाण कोई भिन्न वस्तु भी नहीं है, जिसकी शाब्दप्रमाणके बाद पृथक् रूपसे उल्लेख करनेकी जरूरत होती, बल्कि उसीमें अन्तर्भूत है। टीकाकारने भी शाब्दके 'लौकिक' और 'शास्त्रज' ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, यह सूचित किया है कि इन दोनोंका ही लक्षण इस आठवें पद्यमें आगया है[१]। इससे ९वें पद्यमें शाब्दके 'शास्त्रज' भेदका उल्लेख नहीं, यह और भी स्पष्ट होजाता है। तीसरे, ग्रन्थभरमें, इससे पहले, 'शास्त्र' या 'आगम'-शब्दका कहीं प्रयोग नहीं हुआ जिसके स्वरूपका प्रतिपादक ही यह ९ वाँ पद्य समझ लिया जाता, और न 'शास्त्रज' नामके भेदका ही मूलग्रन्थमें कोई निर्देश है जिसके एक अवयव (शास्त्र) का लक्षणप्रतिपादक यह पद्य हो सकता। चौथे, यदि यह कहा जाय कि ८ वें पद्यमें 'शाब्द' प्रमाणको जिस वाक्यसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है उसीका 'शास्त्र' नामसे अगले पद्यमें स्वरूप दिया गया है तो यह बात भी नहीं बनती, क्योंकि ८ वें पद्यमें ही 'दृष्टेष्टाव्याहत' आदि विशेषणोंके द्वारा वाक्यका स्वरूप दे दिया गया है और वह स्वरूप अगले पद्यमें दिये हुए शास्त्रके स्वरूपसे प्रायः मिलता जुलता है—उसके 'दृष्टेष्टाव्याहत' का 'अदृष्टेष्टाविरोधक' के साथ साम्य है और उसमें 'अनुल्लंघ्य' तथा 'आप्तोपज्ञ' विशेषणोंका भी समावेश हो सकता है, 'परमार्थाभिधायि' विशेषण 'कापथघट्टन' और 'सार्व' विशेषणोंके भावका द्योतक है; और शाब्दप्रमाणको 'तत्त्वग्राहितयोत्पन्न' प्रतिपादन करनेसे यह स्पष्ट ध्वनित है कि वह वाक्य 'तत्त्वोपदेशकृत' माना गया है—इस तरह दोनों पद्योंमें बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। ऐसी हालतमें समर्थनमें उद्धरणके सिवाय ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ उसकी दूसरी कोई गति नहीं; उसका विषय पुनरुक्त ठहरता है। पाँचवें, ग्रन्थकारने स्वयं अगले पद्यमें वाक्यको उपचारसे 'परार्थानुमान' बतलाया है। यथा—

स्व-निश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः ।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥१०॥

१ सिद्धर्षिकी टीकामें इस पद्यसे पहले यह प्रस्तावना वाक्य दिया हुआ है—"तदेवं स्वार्थानुमानलक्षणं प्रतिपाद्य तद्वता भ्रान्ततावि‌प्रतिपत्तिं च निराकृत्य अधुना प्रतिपादित परार्थानुमानलक्षण एवाल्पवक्तव्यत्वात् तावच्छाब्द लक्षणमाह"।

२ स्व-परावभासी निर्बाध ज्ञानको ही न्यायावतारके प्रथम पद्यमें प्रमाणका लक्षण बतलाया है, इसलिये प्रमाणके प्रत्येक भेदमें उसकी व्याप्ति होनी चाहिये।

१ "शाब्दं च द्विधा भवति—लौकिकं शास्त्रजं चेति। तत्रेदं द्वयोरपि साधारणं लक्षणं प्रतिपादितम्"।

इन सब बातों अथवा कारणोंसे यह स्पष्ट है कि न्यायावतारमें 'आप्तोपज्ञ' नामक ९वें पद्यकी स्थिति बहुत ही सन्दिग्ध है, वह मूल ग्रन्थका पद्य मालूम नहीं होता। उसे मूलग्रन्थकार-विरचित ग्रन्थका आवश्यक अङ्ग माननेसे पूर्वोत्तर पद्योंके मध्यमें उसकी स्थिति व्यर्थ पड़ जाती है, ग्रन्थकी प्रतिपादन-शैली भी उसे स्वीकार नहीं करती, और इसलिये वह अवश्य ही वहाँ एक उद्धृत पद्य जान पड़ता है, जिसे 'वाक्य'के स्वरूपका समर्थन करनेके लिये रत्नकरण्ड-परसे 'उक्तञ्च' आदिके रूपमें उद्धृत किया गया है। उद्धरणका यह कार्य यदि मूलग्रन्थकारके द्वारा नहीं हुआ है तो वह अधिक समय बादका भी नहीं है; क्योंकि विक्रमकी १०वीं शताब्दीके विद्वान आचार्य सिद्धर्पिकी टीकामें यह मूलरूपमें परिगृहीत है, जिससे यह मालूम होता है कि उन्हें अपने समयमें न्याया-वतारकी जो प्रतियाँ उपलब्ध थीं उनमें यह पद्य मूलका अङ्ग बना हुआ था। और जबतक सिद्धर्पिसे पूर्वकी किसी प्राचीन प्रतिमें उक्त पद्य अनुपलब्ध न हो तबतक प्रो० साहब तो अपनी विचार-पद्धति[1]के अनुसार यह कह ही नहीं सकते कि वह ग्रन्थका अङ्ग नहीं—ग्रन्थकारके द्वारा योजित नहीं हुआ अथवा ग्रन्थकारसे कुछ अधिक समय बाद उसमें प्रविष्ट या प्रक्षिप्त हुआ है। चुनाँचे प्रो० साहबने वैसा कुछ कहा भी नहीं और न उस पद्यके न्यायावतारमें उद्धृत होनेकी बातका स्पष्ट शब्दोंमें कोई युक्तिपुरस्सर विरोध ही प्रस्तुत किया है—वे उसपर एकदम मौन हो रहे हैं।

[1] प्रो० साहबकी इस विचारपद्धतिका दर्शन उस पत्रपरसे भले प्रकार होसकता है जिसे उन्होंने मेरे उस पत्रके उत्तरमें लिखा था जिसमें उनसे रत्नकरण्डके उन सात पद्योंकी बाबत सयुक्तिक राय माँगी गई थी जिन्हें मैंने रत्नकरण्डकी प्रस्तावनामें सन्दिग्ध करार दिया था और जिस पत्रको उन्होंने मेरे पत्र-सहित अपने पिछले लेख (अनेकान्त वर्ष ८ कि० १ पृ० १२) में प्रकाशित किया है।

अतः ऐसे प्रबल साहित्यिक उल्लेखोंकी मौजूदगी-में रत्नकरण्डको विक्रमकी ११वीं शताब्दीकी रचना अथवा रत्नमालाकारके गुरुकी कृति नहीं बतलाया जा सकता और न इस कल्पित समयके आधारपर उसका आप्तमीमांसासे भिन्नकर्तृत्व ही प्रतिपादित किया जा सकता है। यदि प्रो० साहब साहित्यके उल्लेखादिको कोई महत्व न देकर ग्रन्थके नामोल्लेख-को ही उसका उल्लेख समझते हों तो वे आप्तमीमांसा-को कुन्दकुन्दाचार्यसे पूर्वकी तो क्या, अकलङ्कके समयसे पूर्वकी अथवा कुछ अधिक पूर्वकी भी नहीं कह सकेंगे; क्योंकि अकलङ्कसे पूर्वके साहित्यमें उसका नामोल्लेख नहीं मिल रहा है। ऐसी हालतमें प्रो० साहबकी दूसरी आपत्तिका कोई महत्व नहीं रहता, वह भी समुचित नहीं कही जा सकती और न उसके द्वारा उनका अभिमत ही सिद्ध किया जा सकता है।

(अगली किरणमें समाप्त)

वीरसेवामन्दिरको सहायता

श्रीमान ला० घनश्यामदासजी जैन सड्डी मुलतान वाले प्रोप्राइटर 'इन्द्राहोजरी मिल्स' जयपुरने, पं० अजितकुमारजी शास्त्रीकी प्रेरणाको पाकर स्वर्गीय ला० बिहारीलालजीके दानमेंसे १०५) रु० वीरसेवामन्दिरको उसकी लायब्रेरीको सहायतार्थ प्रदान किये हैं। इसके लिये उक्त लाला साहब और शास्त्रीजी दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं।

अधिष्ठाता

हमारे पूर्वज—

पं० गोपालदासजी बरैया

[लेखक अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

आर्यसमाजमें जो स्थान स्वामी श्रद्धानन्द, राय-जादा हंसराज और मुस्लिम कौममें सर सैयद अहमद-का है वही स्थान जैनसमाजमें पं० गोपालदासजी बरैयाको प्राप्त है। जिस समय जैनसमाज अपने धर्मसे अनभिज्ञ मिथ्यान्धकारमें फंसा हुआ था, उसके चारों ओर शिक्षा-प्रसारका उज्ज्वल प्रकाश फैल रहा था, और उसकी चकाचौंधसे चुन्धियाकर इधर-उधर ठोकरें खा रहा था, तभी उसके हाथमें धर्मज्ञानका दीपक देकर बरैयाजीने उसे यथार्थ मार्ग देखनेका अवसर दिया। आज जो जैनसमाजमें सर्टीफिकेट-शुदा विद्वद्वर्ग नज़र आ रहा है, उसमें अधिकांश उनके शिष्यों और प्रशिष्योंका ही समूह अधिक है।

बरैयाजीका आविर्भाव होनेसे पूर्व भारतमें धर्म-शिक्षाप्रसार और सम्प्रदाय संरक्षणकी होड़ भी लगी हुई थी। आर्यसमाज समूचे भारतमें ही नहीं, अरब, ईरानमें भी वैदिकधर्मका झण्डा फहरानेका मनसूबा डंकेकी चोट जाहिर कर रहा था; उसके गुरुकुल, महाविद्यालय, हाईस्कूल और कालेज पनवाड़ीकी दूकानकी तरह तीव्रगतिसे खुलते जारहे थे। मुसल-मानोंके भी देवबन्दमें धार्मिक और अलीगढ़में राज्य-शिक्षा प्रणालीके केन्द्र खुल चुके थे। ईसाइयोंकी तो होड़ ही क्या, हर शहरमें मिशन-शिक्षा केन्द्रोंका जाल-सा बिछ गया था। लाखोंकी संख्यामें धार्मिक ट्रेक्ट वितरित ही नहीं होरहे थे, अपितु बपतिसमा दिया जारहा था। केवल अभागा जैनसमाज खिसियाना-सा अकर्मण्य बना अलग-अलग खड़ा था।

शायद अकलङ्क और समन्तभद्रकी आत्मा जैन-समाजकी इस दयनीय स्थितिसे द्रवीभूत होगई और उन्होंने अपना अलौकिकज्ञान और शास्त्रार्थकी प्रतिभा देकर फिर एकबार जैनधर्मकी दुन्दुभि बजानेको इस कृशकाय सलौने व्यक्तिको उत्साहित किया।

बरैयाजीने जो अभूतपूर्व कार्य किया, भले ही हम कादिल शिष्योंद्वारा वह लिखा नहीं गया है, परन्तु उनके महत्वपूर्ण कार्यके साक्षी आज आचार्य, तीर्थ, शास्त्री और पंडित रूपमें समाजमें सर्वत्र देखनेको मिलते हैं।

हमारे यहां तीर्थङ्करोंका प्रामाणिक जीवन-चरित्र नहीं, आचार्योंके कार्य-कलापकी तालिका नहीं, जैन-संघके लोकोपयोगी कार्योंकी कोई सूची नहीं, जैनरा-जाओं, मन्त्रियों, सेनानायकोंके बल-पराक्रम और शासन प्रणालीका कोई लेखा नहीं साहित्यिकोंका कोई परिचय नहीं, और तो और हमारी आंखोंके सामने कल-परसों गुज़रनेवाले— दयाचन्द्र गोयलीय, बाबू देवकुमार, जुगमन्दरदास जज, बैरिस्टर चम्पतराय, ब्र० शीतलप्रसाद, बा० सूरजभान, अर्जुनलाल सेठी आदि विभूतियोंका जिक्र नहीं, और ये जो हमारे २-४ बड़े बूढ़े मौतकी चौखटपर खड़े हैं, इनसे भी हमने इनकी विपदाओं और अनुभवोंको नहीं सुना है। और शायद भविष्यमें एक पीढ़ीमें जन्म लेकर मर जाने वालों तक के लिये उल्लेख करनेका हमारे समाज-को उत्साह नहीं होगा।

मेरे होश सम्हालने— कार्यक्षेत्रमें आने—से पूर्व ही बरैयाजी स्वर्गस्थ हो गये, न मैं उनके दर्शनोंका ही पुण्य प्राप्त कर सका, न उनके सम्बन्धमें ही विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सका। केवल एक लेख उनकी मृत्युउपरान्त शायद पं० मक्खनलालजी न्यायालङ्कारका

सरस्वतीमें उस समय पढ़ा था। उनके दर्शन न हुए तो न सही, उनकी कार्यस्थली मौरेनाकी रज ही किसी तरह मस्तकपर लगाऊँ। उनके समवयस्क और सहयोगियोंसे उनके संस्मरण सुनकर कानोंको तृप्त करूँ ऐसी प्रबल इच्छा बनी रहती थी कि दिसम्बर १९४० में परिषद्के कार्यकर्ताओंके साथ मौरेना जानेका अवसर भी प्राप्त हो गया। वरैयाजीके साझीदार ला० अयोध्याप्रसाद * तथा बा० नेमिचन्द वकील आदि १०-१२ बन्धुओंसे रातभर वरैयाजीके सम्बन्धमें कुरेद-कुरेद कर बातें जाननेका प्रयत्न किया किन्तु एक-दो घटनाके सिवा कुछ नहीं मालूम हो सका। आज उन्हीं स्मृतिकी धुन्धली रेखाओंको कागजपर खींचनेका प्रयास कर रहा हूं।

जिन सज्जनोंको उनके सम्बन्धमें कुछ उल्लेखनीय बातें मालूम हों, या पत्र सुरक्षित हों, वे हमारे पास कृपा-पूर्वक भिजवाएँ। हम उनका उपयोगी अंश धन्यवादपूर्वक अनेकान्तमें प्रकाशित करेंगे। ऐसे ही छोटे छोटे संस्मरण और पत्र इतिहास-निर्माणकी बहुमूल्य सामग्री बन जाते हैं। जैनसमाजके अन्य कार्य-कर्ताओंके भी संस्मरण और पत्र भेजनेके लिये हम निमन्त्रण देते हैं। भले ही वह संस्मरण और पत्र साधारणसे प्रतीत होते हों, फिर भी उन्हें भिजवाइये। न जाने उसमें क्या कामकी बात निकल आये।

—१—

सामाजिक क्षेत्रमें आनेसे पूर्व किसी समय वरैया जी एक रायबहादुर सेठ के ÷ यहां ३०) रु० मासिकपर कार्य करते थे। एकबार सेठ साहब आपको भी तीर्थयात्रामें अपने साथ ले गये। शास्त्रप्रवचनके साथ-साथ गुमास्तेकी उपयोगिताका भी विचार करके इन्हें साथ लिया गया था। वरैयाजी शास्त्र-प्रवचन में तो पटु थे। किन्तु गुमास्तगीरीकी कलामें कोरे थे। सफरमें रेलवे टिकिटोंकी कतरव्योंत, लगेज, भाड़ा दिये बिना पार करना, चुङ्गीवालोंको चकमा देना, स्टेशन बाबुओंको झांसा देना, कुलियों-तांगेवालोंको बातोंमें राजी करना, थर्डको भी बिस्तर बिछाकर सेकिण्ड बना लेना, धर्मशालाके चपरासियोंसे भी भरपूर सुविधा लेना और इनामकी जगह अंगूठा दिखा देनेमें जो जितना प्रवीण होता है, वही प्रवासमें रखनेकेलिये उपयुक्त समझा जाता है। वरैयाजी इस शिक्षामें कोरे थे। इन्हें शिक्षित और चतुर समझकर टिकिट लानेका कार्य दिया गया। ये टिकिटोंमें कुछ कतरव्योंत तो क्या करते उलटा लगेज तुलवाकर उसका भी भाड़ा दे आये।

सेठ और रायबहादुर होकर उनका सामान तुल जाए इससे अधिक और सेठ साहबका क्या अपमान होता? धनियोंके यहां चापलूस और चुगलखोरोंकी क्या कमी? उन्होंने वरैयाजीके बुद्धूक होनेका ऐसा सजीव वर्णन किया कि बेचारे शिकारपुरी न होते हुए भी सेठ साहबकी नजरोंमें शिकारपुरी होकर रह गये। जहां सत्यका प्रवेश नहीं, यथार्थ बात सुननेका चलन नहीं। धोखा, छल, फरेब, मायाचार ही जहां उन्नतिके साधन हों बिलफ और चकमा खाना हो जहां अभीष्ट हो वहां वरैयाजी कितने दिन निभते? किनाराकशी ही स्वाभिमानकी रक्षाके लिये उन्होंने आवश्यक समझी।

—२—

यह मूर्खता करके वरैयाजी पछताये नहीं, यह अचौर्यव्रत उनके पञ्चाणुव्रतोंमेंसे तीसरा आवश्यक व्रत था। एकबार वे सपरिवार बम्बईसे आगरे आये। घर आकर कई रोज बाद मार्ग-व्यय आदि लिखा तो मालूम हुआ नौकरने उनके तीन वर्षके बालकका टिकट ही नहीं लिया। मालूम होनेपर बड़ी आत्म ग्लानि हुई और आपने तत्काल स्टेशनमास्टरके पास पहुंचकर क्षमा-याचना करते हुए टिकिटका मूल्य उनकी मेजपर रख दिया। स्टेशनमास्टरने समझाया कि ३॥ वर्षसे अधिककी आयुपर टिकट लेनेका नियम है तो पर कौन इस नियमका पालन करता है। हम तो ४-५ वर्षके बालककी नजरन्दाज कर देते हैं। आपने

* सम्भवतया यही नाम था, यदि भूलसे दूसरा नाम लिखा गया हो तो वे बन्धु क्षमा करेंगे।

÷ नाम मैंने जान बूझकर नहीं लिखा है।

आप टिकटका पैसा देने कोई हमारे पास आया हो. हमें ऐसा मूर्ख कभी नहीं मिला। आप बड़े भोले मालूम होते हैं. यह दाम आप उठा लीजिये, सब यूंही चलता है।" परन्तु बरैयाजी चालाक और धूर्त दुनियांके लिये सचमुच मूर्ख थे, वे दाम छोड़कर चले आये और बुद्धिपर जोर देनेपर भी अपनी इस मूर्खताका रहस्य न समझ पाये और जीवनभर ऐसा मूर्खता करते रहे।

—३—

ला० अयोध्याप्रसादजीके साझेमें मोरेनामें बरैयाजीकी आढ़तकी दुकान थी। लाला साहबका एक व्यक्तिसे लेन-देनका झगड़ा चल रहा था। आखिर व्यक्ति तङ्ग आकर बोला—"आपके साझी बरैयाजी जो निर्णय देंगे, मुझे मंजूर होगा।" लालाजीने सुना तो बाछें खिल गईं। मनकी मुराद छप्पर फाड़कर आई। परन्तु निर्णय अपने विपक्षमें सुना तो उसी तरह निस्तब्ध रह गये जिस तरह ऋद्धिधारी मुनिके हाथोंमें गरमागरम खीर परोसकर रत्नोंकी बारिश देखनेको बुढ़िया आतुरतापूर्वक आकाशकी ओर देखने लगी थी और वर्षा न होनेपर लुटी-सी खड़ी रह गई थी।

लाला साहबको बरैयाजीका यह व्यवहार पसन्द न आया। "अपने होकर भी निर्णय शत्रु-पक्षमें दिया, ऐसी तैसी इस न्यायप्रियताकी। डायन भी अपना घर बख्श देती है, इनसे इतना भी न हुआ। हमें मालूम होता कि पण्डितजीके मनमें यह कालौंस है तो हम क्यों इन्हें पंच स्वीकार करते? इससे तो अदालत ही ठीक थी, सौ फी सदी मुकदमा जीतनेका वकीलने विश्वास दिलाया था। वाह साहब, अच्छी इन्होंने आपसदारी निभाई। माना कि हमारी ज्यादती थी, फिर भी क्या हुआ. आपसदारीके नाते भी तो हमारी टेक रखनी थी। जब पण्डितजीने हमारा रत्तीभर लिहाज नहीं किया तो अब इनसे क्या साझे-में निभाव होगा? भई ऐसे तोते चश्मसे तो जुदा ही भले।"

इसी तरहके विचारोंसे प्रेरित होकर लाला साहबने पण्डितजीसे साझा बांट लिया, बोलचाल बन्द कर दी। बरैयाजीसे किसीने इस आशारहित निर्णयके सम्बन्धमें जिक्र किया तो बोले—"भाई इष्टमित्रोंकी खातिर मैं अपने धर्मको तो नहीं बेचूंगा। जब मुझमें न्यायीकी स्थापना दोनों पक्षोंने कर दी तो फिर मैं अन्यायीका रूप क्यों धारण करता? मेरा धर्म मुझे न छोड़े, चाहे सारा संसार मुझे छोड़ दे तो भी मुझे चिन्ता नहीं।"

लालाजीने मुझे स्वयं उक्त घटना सुनाई थी। फर्माते थे कि—थोड़े दिन तो मुझे पण्डितजीके इस व्यवहारपर रोष सा रहा। पर धीरे-धीरे मेरा मन मुझे ही धिक्कारने लगा और फिर उनकी इस न्याय-प्रियता, सत्यवादिता, निष्पक्षता और नैतिकताके आगे मेरा सर झुक गया, श्रद्धा भक्तिसे हृदय भर गया और मैंने भूल स्वीकार करके उनसे क्षमा मांग ली। पंडितजी तो मुझसे रुष्ट थे ही नहीं, मुझे ही मान हो गया था, अतः उन्होंने मेरी कौली भर ली और फिर जीवनके अन्त तक हमारा स्नेह-सम्बन्ध बना रहा।

मुझे जिस तरह और जिस भाषामें उक्त संस्मरण सुनाये गये थे, न वे अब पूरी तरह स्मरण ही रहे हैं न उस तरहकी भाषा ही व्यक्त कर सकता हूं, फिर भी आज जो बैठे बिठाये याद आई तो लिखने बैठ गया।

डालमिया नगर, (बिहार) ४ मार्च १९४८

———

यशोधरचरित्र सम्बन्धी जैन-साहित्य

[लेखक श्री अगरचंद नाहटा]

कथा कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्य है। भारतवर्षमें उसकी उपयोगिताकी ओर सब समय ध्यान रहा है, फलत: हजारों ग्रन्थ कथा-कहानियों एवं जीवनचरितोंके रूपमें पाये जाते हैं। मनोरञ्जन, सत-शिक्षा एवं धर्मप्रचारके उद्देश्यसे इनका निर्माण हुआ है। भारत पुरातन कालसे धर्मप्रधान देश होनेसे सबसे अधिक कथा-ग्रन्थ धार्मिक आदर्शोंके प्रचारके लिये ही रचे गये हैं। इनमेंसे कईयोंका सम्बन्ध तो वास्तविक घटनाओंके साथ है; पर कई कथाएं धार्मिक अनुष्ठानोंकी ओर जनताको आकर्षित करनेके उद्देश्यसे गढ़ ली गई प्रतीत होती हैं। किन किन धार्मिक कार्योंको करके किस २ व्यक्तिने क्या लाभ उठाया? एवं किन-किन पापकार्यों द्वारा किन-किन जीवोंने अनिष्ट-फल प्राप्त किया, इन्हीं बातोंको जनताके हृदयपर अङ्कित करनेके लिये धार्मिक कथा-साहित्यका निर्माण हुआ एवं रचयिता इस कार्यमें सफल हुए भी कहे जा सकते हैं। यद्यपि आज भी कहानीका प्रचार ही सर्वाधिक है पर अब उसका उद्देश्य एवं रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो चुका है। वर्तमान लोक-मानसके झुकावपर विचार करनेसे अब प्राचीन शैली अधिक दिन रुचिकर नहीं रह सकेगी अत: हमारे धर्मप्रधान कथा-चरित ग्रन्थोंको भी नये ढगसे लिखकर प्रचारित करना आवश्यक हो गया है, अन्यथा उनकी उपयोगिता घटकर विनाश होना अवश्यम्भावी है।

भारतीय कथा-साहित्यमें जैनकथा-साहित्य भी अपनी विशालता एवं विविधताकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण स्थान रखता है जिसका संक्षिप्त परिचय मैं अपने 'जैनकथा साहित्य' शीर्षक लेखमें कर चुका हूं * अत: यहां उसपर पुन: विचार नहीं किया जाता। कई जैनकथाएँ तो विश्वव्यापी हो गई हैं। यही उनकी जनप्रियताका ज्वलन्त उदाहरण है। जनरुचिका ध्यान रखते हुये जैन विद्वानोंने लोक कथाओंको भी खूब अपनाया और उन कथाओंके सम्बन्धमें सैकड़ों ग्रन्थोंका निर्माण किया जिसका परिचय भी मेरे "लोक-कथाओं ÷ सम्बन्धी जैन साहित्य" एवं 'विक्रमादित्य + सम्बन्धी जैन साहित्य' शीर्षक लेखोंद्वारा पाठकोंको मिल चुका है। कई जैनकथाओंका प्रचार जैनसमाज तक ही सीमित है। पर दि० श्वे० दोनों सम्प्रदायोंमें वे समानरूपसे आदृत हैं। ऐसी कथाओंमेंसे श्रीपालचरित्र सम्बन्धी साहित्यका परिचय भी अनेकान्त वर्ष ७। ३ अङ्क २।७ में कई वर्ष पूर्व प्रकाशित कर चुका हूं। प्रस्तुत लेखमें ऐसे ही एक अन्य चरित सम्बन्धी साहित्यका परिचय दिया जारहा है जिसका नाम है 'यशोधरचरित्र'। दि० एवं श्वे० दोनों विद्वानोंके रचित करीब ५० ग्रन्थ इसी चरित सम्बन्धी जाननेमें आये हैं। उनकी सूची पाठकोंकी जानकारीकेलिये इस लेखमें दी जारही है।

यशोधर चरित्रकी प्राचीनता—

नृपति यशोधर कब हुए हैं। प्रमाणाभावसे समय बतलाया नहीं जासकता। कथा वस्तुपर विचार करनेपर जब देवीके आगे पशुबलिका अमानुषिक कार्य जोरोंसे चल रहा था तब उसके कुफलको बतलानेके प्रसङ्गसे इसकी रचना हुई ज्ञात होती है। प्राप्त यशोधर चरित्रोंमें सबसे प्राचीन राजर्षि प्रभञ्जन रचित ही प्रतीत होता है। वि० सं०८३५ में श्वे० उद्योतन सूरिके रचित कुवलयमाला कथामें इसका

* जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष १२, अङ्क १

÷ नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ५२, अङ्क १

+ विक्रमस्मृति ग्रन्थ एवं जैन सत्यप्रकाश वर्ष ६, अङ्क ४

निम्नोक्त उल्लेख पाया जाता है—

सत्तगु जो जसहरो, जसहरचरिएण जणवए पयडो।
कलिमल पभंजणो च्चिय, पभंजणो आसि रायरिसी ॥४०॥

इससे संवत् ८३५से पूर्व प्रभञ्जनका यशोधरचरित प्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता था यह सिद्ध होता है। फिर भी प्रभञ्जनका वास्तविक समय अभीतक अन्वेषणीय है।

निश्चित समयके ज्ञात ग्रन्थकारोंमें श्वे० जैनाचार्य हरिभद्रसूरिजीके "समराइच्चकहा" ग्रन्थमें कथानायकके पूर्वभवके प्रसङ्गमें यशोधरकी कथा पाई जाती है। हरिभद्रसूरिका समय वि० की ९वीं शती निश्चित है। प्रभञ्जनके यशोधरचरितकी प्रति अनेकान्तमें प्रकाशित मूडबिद्री-भण्डारकी सूचीमें वहाँके भण्डारमें प्राप्त होनेकी सूचना मिलती है। संस्कृत भाषामें ३६१ श्लोकमय प्रस्तुत चरितकी प्रति ४ पत्रोंकी है। मूडबिद्री-भण्डारके संचालकोंसे अनुरोध है कि वे इस चरितको शीघ्र ही प्रकाशित करें, जिससे इसमें वर्णित चरितमें पिछले ग्रन्थकारोंने क्या २ परिवर्तन किये अर्थात् कथाके विकासके विषयमें विचार करनेका सुन्दर साधन सामने आ सके। जबतक वह प्रकाशित न हो, हरिभद्रसूरिके समरादित्य-चरितके अन्तर्गत यशोधरचरितको ही प्रधानता देकर पिछले चरित्र-ग्रन्थोंकी आलोचना करनेकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इनके परवर्ती चरित-ग्रन्थोंमें अपभ्रंशके महाकवि पुष्पदन्तका 'जसहरचरिउ' एवं महाकवि हरिषेण एवं अमरकीर्तिके अनुपलब्ध अपभ्रंश ग्रन्थ हैं। प्रभञ्जनके साथ हरिषेणके यशोधरचरितका उल्लेख वासवसेनने अपने यशोधरचरित्रमें किया है। यथा

प्रभञ्जनादिभिः पूर्वं, हरिषेण समन्वितैः।
यदुक्तं तत्कथं शक्यं मया बालेन भाषितम् ॥

वासवसेनका समय मुझे ज्ञात नहीं है। उनके उल्लिखित हरिषेण, धम्मपरिक्खा नामक अपभ्रंश ग्रन्थके रचयिता होनेकी सम्भावना माननीय प्रेमीजीने (मुझे लिखित पत्रमें) की है। इसीलिये मैंने उसे अपभ्रंश भाषामें रचित होनेका निर्देश किया है। पूर्ण निर्णय तो हरिषेणके यशोधर-चरितकी प्राप्तिपर ही निर्भर है। सम्भव है खोज करनेपर वह किसी दिगम्बर जैन ज्ञान-भण्डारमें उपलब्ध हो जाय। विद्वानोंका ध्यान उसके अन्वेषणकी ओर भी आकर्षित किया जाता है।

११वीं शताब्दीके संस्कृत-यशोधरचरितोंमें सोमदेवसूरिका यशस्तिलक चम्पू विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। संवत् १०१६ (शाके ८८१) के चैत्र शुक्ला १३ को गङ्गधारामें इसकी रचना हुई है। यशोधरकी छोटी-सी कथाका विकास कविने कितने सुन्दर ढङ्गसे किया है, इसपर भलीभाँति प्रकाश डालनेके लिये भी विद्वानोंसे अनुरोध है। संवत् १०८४ के लगभग सुप्रसिद्ध विद्वान् वादिराजने[१] ४ सर्गात्मक २९६ श्लोकोंका यशोधरचरित बनाया है। तंजौरके श्री टी० एस० कुप्पू स्वामी शास्त्रीने इसे प्रकाशित किया था, जिसका हिन्दीमें सार श्रीउदयलालजी काशलीवालने सन् १९०८ में जैन-साहित्य-प्रसारक कार्यालय, बम्बईसे प्रकाशित किया था।

११वीं शताब्दीके परवर्ती वासवसेन, वादिचन्द्र, चन्द्रप्रवर्णी आदिका समय निश्चित नहीं है। ज्ञात समयके चरित्रोंका प्रारम्भ १४वीं शताब्दीमें आरम्भ होता है और १६से १८वीं शताब्दीमें बहुतसे यशोधर चरित्रोंकी संस्कृत, हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओंमें रचना हुई है, जिनका परिचय आगे दी जाने वाली सूचीसे भलीभाँति मिल जायगा। सूचीसे यह भी स्पष्ट है कि इसका प्रचार कन्नड, गुजरात राजपूताने आदिमें सर्वत्र था।

यशोधरचरितकी प्रसिद्धिका कारण--

जैनधर्मका सबसे बड़ा एवं महत्वपूर्ण आदर्श अहिंसा है। वास्तवमें वह जैनधर्मकी आत्मा है।

१ वादिराजकृत पार्श्वनाथचरित्रका रचनाकाल शक सं० ९४७ है। पार्श्वनाथचरित्रका उल्लेख उनके यशोधरचरित्रमें होनेसे उसका निर्माण पार्श्वनाथचरित्रके बाद ही हुआ सिद्ध होता है। आपने काकुत्स्थचरित्र का उल्लेख भी आपने इस ग्रन्थमें किया है पर वह प्राप्त नहीं है, इस लिए उसकी भी खोज होना आवश्यक है।

अहिंसाकी जितनी सूक्ष्म व्याख्या एवं आचरणकी तत्परता और कठोरता जैनधर्ममें पाई जाती है वैसी विश्वके किसी भी धर्मग्रन्थमें पाई नहीं जाती। जैन-धर्मकी अहिंसाकी मर्यादा मानवोंतक ही सीमित नहीं पर पशु-पक्षीके साथ पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल एवं वनस्पति जगतकी रक्षामें भी आगे बढ़ती है। किसी भी प्राणका विनाश तो हिंसा है ही, यहाँ तो उनको मानसिक, वाचिक, कायिक एवं कृतकारित अनुमोदित रूपसे भी तनिक-सा कष्ट पहुँचाना भी हिंसाके अन्तर्गत माना गया है। इतना ही नहीं, किसी भी प्राणीके विनाश एवं कष्ट न देनेपर भी यदि हमारे अन्तर्जगत-भावनामें भी किसीके प्रति कालुष्य है और प्रमादवश स्वगुणोंपर कर्म-आवरण आता है तो उसे भी आत्मगुणका विनाश मानकर हिंसाकी संज्ञा दी गई है। श्रीमद् देवचन्दजीने आध्यात्मगीतामें कहा है कि—

आत्मगुणनो हणतो, हिंसक भावे थाय।
आत्मधर्मनो रक्षक, भाव अहिंस कहाय॥
आत्मगुणरक्षणा, तेह धर्म।
स्वगुणविध्वसना, तेह अधर्म॥

अहिंसाका इतनी गम्भीर एवं मर्मस्पर्शी व्याख्या विश्वके किसी भी अन्य धर्ममें नहीं पाई जायगी। जैनधर्मके महान् उद्धारक भगवान महावीरने अहिंसा पालनके लिये मुनिधर्ममें कठिन-से-कठिन नियम बनाये, जिससे अधिक-से-अधिक अहिंसाकी प्रतिष्ठा जीवनमें हो सके।

भगवान महावीरके समय यज्ञादिमें महान नरहिंसा व पशुहिंसा हो रही थी। धर्मके नामपर होने वाली इस जीवहत्याको धर्मके ठेकेदार स्वर्ग-प्राप्तिका साधन बतलाते थे। इस घोर पाखण्डका भगवान महावीर एवं बुद्धने सख्त विरोध किया। जिसके फलस्वरूप हज़ारों ब्राह्मणोंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया और यज्ञ होने प्रायः बन्दसे हो गये। यज्ञके बाद पशु-हिंसाकी प्रवृत्ति देवीपूजामें पाई जाती है, जो हजारों वर्षोंसे अनर्थ मचा रही है। यज्ञ बन्द हो गये, पर इसने तो अभीतक पिंड नहीं छोड़ा। मेरी रायमें इसके बने रहनेका कारण यह है कि यज्ञमें पशु-हिंसा करना बड़ा खर्चीला अनुष्ठान था उसे तो राजा-महाराजा व सम्भ्रान्त लोग ही करवाते थे। अतः उसकी व्यापकता इतनी नहीं हुई, इसीसे थोड़े व्यक्तियोंके हृदय-परिवर्तन-द्वारा वह बन्द हो गया; पर देवीपूजामें एक-आध बकरे आदिकी बलि साधारण बात थी और इसलिये वह घर-घरमें प्रचारित हो गई। ऐहिक स्वार्थ ही इसमें मुख्य था। अतः इसको बन्द करनेके लिये सारी जनताका हृदय परिवर्तन होना आवश्यक था। धर्म-प्रचार सभ्य समाजमें ही अधिक प्रबल हो सका, अतः उन्हींके घरोंसे तो बलि बन्द हुई पर ग्रामीण जनता तथा साधारण बुद्धि वाले लोगोंमें यह चलती ही रही। इसको बन्द करानेके लिये बहुत बड़े आन्दोलनकी आवश्यकता थी। जैनाचार्योंने समय-समयपर इसे हटानेके लिये विविध प्रयत्न किये, उन्हींमेसे एक प्रयत्न यशोधरकी कथाका निर्माण भी कहा जा सकता है। यशोधरचरित्रमें प्रधान घटना यही है कि यशोधरने अनिच्छासे माताके दबावके कारण देवीके आगे साक्षात् मुर्गेका नहीं पर आटेके मुर्गेका वध किया, उसके फलस्वरूप उसे व उसकी माताको अनेक बार मयूर, कुत्ता, सेही, सर्प, मच्छ, मगर, बकरा, भैंसा आदि पशु-योनियोंमें उत्पन्न होना पड़ा एवं इन सब भवोंमें उनको निर्दयता-पूर्वक मारा गया।

इस कथाके प्रचारका उद्देश्य यह था कि जब अनिच्छासे आटेके मुर्गेको देवीके बलि देनेपर इतने दुःख उठाने पड़े तो जान-बूझकर हर्षमें जो साक्षात् जीव-हत्या करते हैं उनको नरकमें भी कहाँ ठिकाना होगा? अतः बलि-प्रथा दुर्गतिदाता होनेसे सर्वथा परिहार्य है।

पशु-बलिको दुर्गतिदायी सिद्ध करनेमें सहायक इस कथाको जैन विद्वानों-द्वारा अधिक अपनाना स्वाभाविक एवं उचित ही था। वास्तवमें इस कथासे हजारों आत्माओंको पशु-बलिसे छुटकारा दिलाने व दूर रखनेमें सहायता मिली होगी।

धार्मिक कथाओंमें मुख्यत: तीन प्रकारकी भावना काम कर रही प्रतीत होती है। कई कथायें वास्तविक चरित्रको उपस्थित करनेको, कई धार्मिक अनुष्ठानोंको अपनानेसे अनेक प्रकारके सुख प्राप्त करनेके प्रलोभन एवं रोचक ढङ्गसे उपस्थित करनेको, कई बुरे कामोंसे नरकादिके दु:ख पानेको बताने वाली भयानक कथाओंको रचना हुई है। यशोधरचरित तीसरे प्रकारकी कथा है। वर्तमान शिक्षासे वैज्ञानिक विचारधाराका विकास अधिक हो चुका है। अत: बहुतसे नवशिक्षितोंको इन कथाओंमें अतिरञ्जितपना एवं अस्वाभाविकता नजर आयेगी, पर कथाकारोंका उद्देश्य पवित्र था। उन्होंने अपने अनुकूल वातावरण उपस्थित करने व लोकरुचिको प्रभावित करनेके लिये ही मूलकथामें इधर-उधरकी बातें जोड़ भी दी हों तो वे क्षम्य ही समझी जानी चाहिएँ। ऐसी कई कथाओंको पढ़ते हुए जिस रूपमें वे वर्णित हैं, कर्म-सिद्धान्तसे, उनकी कई बातें मेल नहीं खाती भी प्रतीत होती हैं; पर इस विषयपर विशेष विचार अधिकारी विद्वान ही कर सकते हैं।

मैं स्वयं इस बातका अनुभव करता हूँ कि प्रस्तुत लेखमें यशोधरके कथानकको लेकर विभिन्न ग्रन्थकारोंने उसमें क्या-क्या परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किया है, उसपर तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन किया जाना आवश्यक था। इसी प्रकार इसी ढङ्गकी अन्य भी जो कथायें प्राप्त हैं उनका पारस्परिक प्रभाव भी स्पष्ट किया जाना तो लेख बहुत उपयोगी होजाता, पर अभी उसके लिये मुझे समय एवं साधन प्राप्त नहीं है। अत: इस कार्यको किसी योग्य व्यक्तिके लिये छोड़कर यशोधरचरित्रोंकी सूची देकर ही लेखको समाप्त किया जारहा है। आशा है मेरे अधूरे कार्यको कोई विद्वान शीघ्र ही पूर्ण करनेका प्रयत्न करेंगे।

यशोधरचरित्र सम्बन्धी दिगम्बर साहित्य—

संस्कृत

१ यशोधरचरित्र—प्रभंजन (वि० ८३५ पूर्व) मूडबिद्री भण्डार पत्र ४ श्लोक ३६। (प्रभंजनका उल्लेख दि० श्वे० दोनों विद्वानों ने किया है। अत: ये किस सम्प्रदाय के थे? ठीक नहीं कहा जासकता)।

२ यशस्तिलक चम्पू¹—सोमदेवसूरि (शक सं० ८८१ चै० शु० १३ गङ्गधार में) रचित

३ यशोधरचरित—श्लो० २९६ (४ सर्ग) वादिराज (स० १०८२) कृत।

४ यशोधरचरित्र—पद्मनाभ कायस्थ (सं० १४६१ के लगभग) निर्मित। [इसकी एक प्रति बीकानेर में कुं० मोतीचन्दजी खजाँचीके संग्रहमें है ग्रन्थ-प्रशस्ति महत्वकी है, उसकी प्रतिलिपि हमारे संग्रहमें है पर वह अभी पासमें नहीं होनेसे विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सका]।

५ यशोधरचरित—वादिचन्द्रकृत सं० १६५७ अङ्कलेश्वर

६ यशोधरचरित्र—वासवसेन कृत

७ यशोधरचरित्र—पद्मनन्दिकृत

८ यशोधरचरित—सकलकीर्तिकृत

९ यशोधरचरित—(८ सर्ग) सोमकीर्ति (सं० १५३६ पो० व० ५ मेवाड़के गोढल्यामें) रचित। [इसकी प्रति बीकानेरके अनूपसंस्कृतलाइब्रेरीमें ३३ पत्रोंकी है]।

१० यशोधरचरित—ज्ञानकी (मूडबिद्री भ० पत्र १६ श्लोक ३८०) कृत।

११ यशोधरचरित—कल्याणकीर्ति स० १४८८ (श्लोक १८५०) रचित। [अनेकान्त वर्ष १ में उल्लेख है]

१२ यशोधरचरित—ज्ञानकीर्ति स० १६५९ (ग्रं० १४००)। वादिभूषण शि०

१३ यशोधरचरित—ब्र० नेमिदत्त (सं० १५७५)

१४ यशोधरचरित—पूर्णदेव

१५ यशोधरचरित—मल्लिसेन

१६ यशोधरचरित—श्रुतसागर (संभवत: टीका हो)

१७ यशोधरचरित—सर्वसेन

१८ यशोधरचरित—चारुकीर्ति

¹इसपर श्रीदेवरचित पंजिका एवं श्रुतसागरकी टीका प्राप्त हैं।

१९ यशोधरचरित—दयासुन्दर कायस्थ (संभवतः पद्मनाम हों)।

२० यशोधरचरित—देवेन्द्र (संभवतः पीछे उल्लिखित श्वे० रासका कर्ता हो ?)

२१ यशोधरचरित—सोमसेन

अपभ्रंश

१ जसहरचरिउ—A पुष्पदंत शाके ८९४ (अपूर्ण प्रति हमारे संग्रहमें उपलब्ध) B गंधर्व पूरित ३ प्रकरण।

२ जसहरचरिउ—हरिषेण (अनुपलब्ध)।

३ जसहरचरिउ—अमरकीर्ति (अनुपलब्ध)।

हिन्दी

१ यशोधरचरित्र—गौरवदास सं० १५८१ फर्फोद

२ यशोधरचरित्र—गरीबदास सं० १६०० अजमेर (प्रति हमारे संग्रहमें हैं)।

३ यशोधरचरित्र—खुशालचन्द्र काला सं० १७९१ सांगानेर।

४ यशोधरचरित्र—परिहानन्द

५ यशोधरचरित्र—भूरजी अग्रवाल।

६ यशोधरचरित्र—मनमोद अग्रवाल

७ यशोधरचरित्र—पन्नालाल चौधरी (२०वीं श०)

८ यशोधरचरित्र - नंदराम (१९०४ के लगभग)

९ यशोधरचरित्र वचनिका—लक्ष्मीदास।

गुजराती

१ यशोधररास—ब्र० जिनदास(सं०१५२० लगभग)

२ यशोधररास—सोमकीर्ति (सं० १६००, पंचायती मन्दिर, देहली)।

कन्नड

१ यशोधरचरित्र—चन्दप्प [चन्दन] वर्णी (श्लोक ३५००)।

आधुनिक हिन्दीमें वादिराजके चरित्रका हिन्दी-सार उदयलाल काशलीवाल लिखित जैन-साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बईसे प्रकाशित होनेका उल्लेख पूर्व किया जाचुका है। माननीय प्रेमीजीकी सूचनानुसार सहारनपुरके जैनीलालजीने भी यशोधरचरित्र (भाषा) छपवाया था, पर अब नहीं मिलता। दि० जैन पुस्तकालय सूरत से गुजरातीमें १९ पेजका १८ प्रकरणात्मक यशोधरचरित प्रकाशित है।

श्वेताम्बर साहित्य—

संस्कृत

१ यशोधरचरित्र—देवसूरि [ग्र० ३५०] (सम्भव है दि० श्रीदेवकी पंजिका हो)।

२ यशोधरचरित्र—माणिक्यसूरि

३ यशोधरचरित्र—हेमकुँजर (सं० १६०७ पूर्व)

४ यशोधरचरित्र—पद्मसागर (उ. जैन सा सं.इ.)

५ यशोधरचरित्र—ज्ञानदास लोंका (सं० १६२३)

६ यशोधरचरित्र—क्षमाकल्याण (सं० १९३९ जैसलमेर)

गुजराती-राजस्थानी

१ यशोधररास—(सं० १५७३) देवगिरि

२ यशोधररास—ज्ञान (सम्भव है उपर्युक्त ज्ञानदास वाला ही हो)।

३ यशोधररास—मनोहरदास (विजयगच्छ) (सं० १८७६ श्रा० व० ६ दशपुर)

४ यशोधररास—नयसुन्दर (सं० १६१८ पो० व० १ गु०)।

५ यशोधररास—जयनिधान (सं० १६४३)

६ यशोधररास—देवेन्द्र (सं० १६३८)

७ यशोधररास—उदयरत्न (सं० १७६७ पो० शु० ५ पाटण) (माणिक्यसूरिके चरित्रके आधारपर)

८ यशोधररास—जिनहर्ष (सं० १७४७ वै० व० ८ पाटण)।

९ यशोधररास—विमलकीर्ति (सं० १६६५ विजय दशमी अमृतसर)।

अन्यग्रन्थान्तर्गत

१ समराइच्चकहा—प्रा० हरिभद्रसूरि (८वीं)

२ समराइच्चकहा—संक्षेप, प्रद्युम्नसूरि (सं० १३२४)

३ समराइच्चकहा—क्षमाकल्याण, सुमति वर्द्धन

४ उपदेशप्रासाद—विजयलक्ष्मीसूरि (१९वीं श०)

जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहासमें हरिभद्रसूरिजी के स्वतन्त्र यशोधरचरित्रका भी उल्लेख है पर वह सम्भव कम ही है।

आधुनिक हिन्दीमे विद्याकुमार सेठी व राजमल लोढा लिखित जैनसाहित्यसीरीज नम्बर १५ के रूपमें अजमेरसे प्रकाशित है।

उपर्युक्त सूचीमें ज्ञात यशोधरचरित्रोंका नाम निर्देश किया गया है। उनमेसे कई संदिग्ध प्रतीत होते हैं पर उनके निर्णयके लिये सब ग्रन्थोंकी जाँच होना आवश्यक है और वह सम्भव कम है। अत: जितनी भी जानकारी थी यहाँ उपस्थित करदी गई है। इस सूचीके निर्माणमें निम्नोक्त ग्रन्थोंकी सहायता लीगई है:—

१ जैनरत्न कोष H. D. वेलणकर
२ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास एवं जैनगुर्जर कविओ भाग २, ३
३ अनेकान्तमे प्रकाशित दि० भण्डारोंकी सूचियाँ।
४ प्रेमीजी सम्पादित "दि० जैनग्रंथ और ग्रंथकार"

तत्व चर्चा—

शंका-समाधान

[इस स्तम्भके नीचे ऐसे सभी शङ्काकार और समाधानकार महानुभावोंको निमंत्रित किया जाता है, जो अपनी शङ्कायें भेजकर समाधान चाहते हैं अथवा शङ्काओं सहित समाधानोंको भी भेजनेके लिये प्रस्तुत हैं या किसी सैद्धान्तिक विषयपर ऊहापोह पूर्वक विचार करनेके लिये तैयार हैं। अनेकान्त इन सबका स्वागत करेगा। —सम्पादक]

८ शङ्का—अरिहत और अरहत इन दोनों पदोंमे कौन पद शुद्ध है और कौन अशुद्ध ?

८ समाधान—दोनों पद शुद्ध है। आर्ष-ग्रथोंमे दोनों पदोंका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ दिया गया है और दोनोंको शुद्ध स्वीकार किया गया है। श्रीपट्खण्डागमकी धवला टीकाकी पहली पुस्तकमे आचार्य वीरसेनस्वामीने देवतानमस्कारसूत्र (णमोकारमंत्र) का अर्थ देते हुए अरिहत और अरहत दोनोंका व्युत्पत्ति-अर्थ दिया है और लिखा है कि अरिका अर्थ मोहशत्रु है उसको जो हनन (नाश) करते है उन्हे 'अरिहंत' कहते है। अथवा अरि नाम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मोंका है उनको जो हनन (नाश) करते है उन्हे अरिहंत कहते है। उक्त कर्मोंके नाश होजानेपर शेष अघाति कर्म भी भ्रष्ट (सड़े) बीजके समान निःशक्तिक होजाते है और इस तरह समस्त कर्मरूप अरिको नाश करनेसे 'अरिहत' ऐसी सज्ञा प्राप्त होती है। और अतिशय पूजाके अर्हयोग्य होनेसे उन्हे अरहंत या अर्हन्त ऐसी भी पदवी प्राप्त होती है, क्योंकि जन्मकल्याणादि अवसरोंपर इन्द्रादिकों द्वारा वे पूजे जाते है। अत: अरिहंत और अरहत दोनों शुद्ध है। फिर भी णमोकारमन्त्रके स्मरणमे 'अरिहत' शब्द का उच्चारण ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि षट्खण्डागममे मूल पाठ यही उपलब्ध होता है और सर्वप्रथम व्याख्या भी इसी पाठकी पाई जाती है। इसके सिवाय जिन, जिनेन्द्र, वीतराग जैसे शब्दोंका भी यही पाठ सीधा बोधक है। भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्तिमे भी दोनों शब्दोंका व्युत्पत्ति अर्थ देते हुए प्रथमत: 'अरिहंत' शब्दकी ही व्याख्या की गई है। यथा—

अट्ठविह पि य कम्म अरिभूय होइ सव्वजीवाण।
त कम्ममरि हता अरिहता तेण वुच्चति ॥६२०॥
अरिहंति वदण-णमंसणाइ अरिहंति पूयसक्कार।
सिद्धिगमण च अरिहा अरहता तेण वुच्चति ॥६२१॥

९ शङ्का—कहा जाता है कि भगवान आदिनाथसे मरीचि (भरतपुत्र)ने जब यह सुना कि उसे अन्तिम तीर्थंकर होना है तो उसको अभिमान आगया, जिस

से वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करके नाना कुयोनियोंमे गया। क्या उसके इस अभिमानका उल्लेख प्राचीन शास्त्रोंमे आया है?

९ समाधान—हाँ, आया है। जिनसेनाचार्य-कृत आदिपुराणके अतिरिक्त भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्तिमे भी मरीचिके अभिमानका उल्लेख मिलता है और वह निम्न प्रकार है—

तव्वयण सोऊण तिवइ आप्फोडिऊण तिक्खुत्तो ।
अब्भहियजायहरिसो तत्थ मरीई इम भणई ॥४३०॥
जइ वासुदेवु पढमो मूआइ विदेहि चक्कवट्टित्तं ।
चरमो तित्थयराण होऊं अलं इत्तिअ मज्झ ॥४३१॥

१० शङ्का—पूजा और अर्चामे क्या भेद है? क्या दोनों एक है?

१० समाधान—यद्यपि सामान्यत: दोनोंमे कोई भेद नहीं है, पर्याय शब्दोंके रूपमे दोनोंका प्रयोग रूढ़ है तथापि दोनोंमे कुछ सूक्ष्म भेद जरूर है। इस भेदको श्रीवीरसेनस्वामीने षट्खण्डागमके 'बन्ध-स्वामित्व' नामके दूसरे खण्डकी धवला टीका पुस्तक आठमे इस प्रकार बतलाया है—

"चरु बलि-पुप्फ-फल-गन्ध-धूव-दीवादीहि सगभत्तिपयासो अच्चण णाम। एदाहि सह अइंदधय-कप्परुक्ख महामह-सव्वदोभद्दादिमहिमाविहाण पूजा णाम।" पृ० ९२।

अर्थात् चरु, बलि (अक्षत), पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप इत्यादिसे अपनी भक्ति प्रकाशित करना अर्चना (अर्चा) है और इन पदार्थोंके साथ ऐन्द्रध्वज कल्पवृक्ष, महामह, सर्वतोभद्र आदि महिमा (धर्म-प्रभावना)का करना पूजा है।

तात्पर्य यह कि फलादि द्रव्योंको चढ़ा (स्वाहा-पूर्वक समर्पण कर संक्षेपमे लघु भक्तिको प्रकट करना अर्चा है और उक्त द्रव्यों सहित समारोह पूर्वक विशाल भक्तिका प्रकट करना पूजा है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन्द्रध्वज आदि पूजामहोत्सवोंका विधान वीरसेनस्वामीसे बहुत पहलेसे विहित है और जैन शासनकी प्रभावना मे उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

११ शङ्का—निम्न पद्य किस ग्रन्थका मूल पद्य है? उसका मूल स्थान बतलायें?

सुखमाल्हादनाकारं विज्ञान मेयबोधनम् ।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥

११ समाधान—उक्त पद्य अनेक ग्रन्थोंसे उद्धृत पाया जाता है। आचार्य विद्यानन्दने अष्ट-सहस्री (पृ० ७८) में इसे 'इतिवचनात्' शब्दोंके साथ दिया है। आचार्य अभयदेवने सन्मतिसूत्र-टीका (पृ० ४७८)मे इस पद्यको उद्धृत करते हुए लिखा है—

"नच सोगतमतमेतत् न जैनमतमिति वक्तव्यम्, 'सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः' [ ] इति जैनैरभिधानात्। तथा च सहभावित्व गुणाना प्रतिपादयता दृष्टान्तार्थमुक्तम्—"

इसके बाद उक्त पद्य दिया है। सिद्धिविनिश्चय टीकाकार बड़े अनन्तवीर्यने इसी पद्यका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

"कथमन्यथा न्यायविनिश्चये 'सहभुवो गुणाः' इत्यस्य 'सुखमाल्हादनाकार ' इति निदर्शनं स्यात्।"—(टी०लि० पृ० ७६।)

अभयदेव और अनन्तवीर्यके इन उल्लेखोंसे प्रतीत होता है कि गुणोंके सहभावीपना प्रतिपादन करनेके लिये दृष्टान्तके तौरपर उसे अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चयमें कहा है। परन्तु न्यायविनिश्चय मूल मे यह पद्य उपलब्ध नहीं होता। हो सकता है उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमे उसे कहा हो। मूलमे तो सिर्फ ११११वी कारिकामे इतना ही कहा है कि 'गुण पर्ययवद्द्रव्य ते सहक्रमवृत्तयः'। यदि वस्तुत यह पद्य न्याय-विनिश्चयवृत्तिमे कहा है तो यह प्रश्न उठता है कि वहाँ वृत्तिकारने उसे उद्धृत किया है या स्वय रचकर उपस्थित किया है? यदि उद्धृत किया है तो मालूम होता है कि वह अकलङ्कदेवसे भी प्राचीन है। और यदि स्वय रचा है तो उसे उनके न्यायविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिका समझना चाहिए। वादिराजसूरिने न्यायविनिश्चयविवरण (प० २४० पूर्वा०) मे 'यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे' शब्दोंके उल्लेख-पूर्वक उक्त पद्यको प्रस्तुत किया है, जिससे वह 'स्याद्वादमहार्णव' नामक किसी जैन दार्शनिक ग्रन्थका जाना जाता है। यह

ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है और इससे यह नहीं कहा जासकता कि इसके रचयिता कौन आचार्य हैं। हो सकता है कि अकलङ्कदेवने भी इसी स्याद्वाद-महार्णवपरसे उक्त पद्य उदाहरणके बतौर न्यायविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिमे, जो आज अनुपलब्ध है, उल्लेखित किया हो और इससे प्रकट है कि यह पद्य काफी प्रसिद्ध और पुराना है।

१२ शङ्का—आधुनिक कितने ही विद्वान यह कहते हुए पाये जाते हैं कि प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्टने अपने मीमांसा-श्लोकवार्त्तिककी निम्न कारिकाओंको समन्तभद्रस्वामीकी आप्तमीमांसागत 'घटमौलिसुवर्णार्थी' आदि कारिकाके आधारपर रचा है और इसलिये समन्तभद्रस्वामी कुमारिलभट्टसे बहुत पूर्ववर्ती विद्वान् है। क्या उनके इस कथनको पुष्ट करने वाला कोई प्राचीन पुष्ट प्रमाण भी है? कुमारिलकी कारिकाएँ ये है—

वर्द्धमानकभङ्गेन रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।

१२ समाधान—उक्त विद्वानोंके कथनको पुष्ट करने वाला प्राचीन प्रमाण भी मिलता है। ई० सन् १०२५ के प्रख्यात विद्वान् आचार्य वादिराजसूरिने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (लि० प० २४५) में एक असन्दिग्ध और स्पष्ट उल्लेख किया है और जो निम्न प्रकार है—

"उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि—
घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक प्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम्॥
वर्द्धमानकभङ्गेन रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्॥इति च॥"

इस उल्लेखमे वादिराजने जो 'तदुपजीविना' पदका प्रयोग किया है उससे स्पष्ट है कि आजसे नौ सौ वर्ष पूर्व भी कुमारिलको समन्तभद्रस्वामीका उक्त विषयमे अनुगामी अथवा अनुमर्ता माना जाता था। जो विद्वान समन्तभद्रस्वामीको कुमारिल और उसके समालोचक धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती बतलाते हैं उन्हें वादिराजका यह उल्लेख अभूतपूर्व और प्रामाणिक समाधान उपस्थित करता है।

वीरसेवामन्दिर
२७ फरवरी १९४८

—दरबारीलाल कोठिया

स्मृतिकी रेखाएँ—

भिक्षुक मनोवृत्ति

(ले० अयोध्या प्रसाद गोयलीय)

बहुधा लोगोंके जीवनमे ऐसे अवसर आते है कि दिनभर भूखे-प्यासे रहनेसे पेट अन्तड़ियोंसे लग जाता है, जीभ तालूसे जालगी है, ओठोंपर पपड़ियाँ जम गई है और चलते-चलते पाँव मूसल होगये हैं। न पासमे एक धेला है जो चने चाबकर ही ठण्डा पानी पिया जाय, न मंजिले मकसूद ही नजर आती है। पासमे पैसे न होनेकी वजह मुफलिसी ही नहीं होती, आकस्मिक घटनाएँ भी होती है। कभी जेब कट जाती है, कभी घरसे लेकर न चले और साथियों ने रास्तेमे ही पकड़ लिया और समझा कि अभी वापिस आये जाते हैं, मगर रास्तेमे कार फेल होगई या ताँगा पलट गया पैदल चलनेके सिवा कोई चारा नहीं। कभी रेल्वे टिकिटके लिये १-२ पैसेकी कमी रह गई है। परदेशमे किससे माँगे, कोई जान पहचानका

भी तो दिखाई नहीं देता, कि इस मुसीबतसे निजात मिले। और दिखाई दिया भी तो माँगनेकी हिम्मत न हुई, ओठ काँपकर रह गये। घरमें बच्चा बीमार पड़ा है, उसी रोज वेतन मिलने वाला है, मगर घरमें डाक्टरको बुलानेके लिये रुपये फीसको तो कुजा, आफिस जानेके लिये इक्केके लिये दो पैसे भी नहीं है। और मनमें यह सोच ही रहे हैं कि चलो बच्चेको ही हस्पताल गोदमें लेचला जाये, ऐसे ही नाजुक मौकेपर कोई साहब आते हैं। शक्लोशबाहत-से अच्छे खासे ज़ीविकार और भले मालूम देते है। हाथमें ४-४ रुपयेकी रेजगारी भी लिये हुए हैं। कुम्भ-स्नानको जाना है, एक-दो रुपयेकी जो कमी रह गई है, उसे पूरी करने चले आये हैं और इनकी धज देखिये—नाज मुद्दतसे छोड़ रक्खा है, सिर्फ फल-दूधपर गुजर फर्माते हैं, ऐसे सयमीकी सहायता करना आवश्यक है। भांजीके भातमें २०००) रु० की कसर रह गई है, ऐसे कारे सवाबमें मदद करना अखलाकी फर्ज है। अफीम खानेको पैसे नहीं रहे है, अफीम न मिली तो विचारा जम्हायाँ लेते-लेते मर जायगा, इन्सानी जान बचाना निहायत जरूरी है। ऐसे दुखद प्रसङ्गोंपर बड़ी विचित्र परिस्थिति होती है। खासकर उस अवसरपर जबकि आप खुद सही मायनोंमें इम्दादके मुस्तहक़ है, मगर अपनी वजहदारीकी वजहसे आप किसीपर भी यह राज़ जाहिर नहीं करना चाहते और तभी कोई आपके जाने पहचाने साहब—किसी जल्सेके लिये, चौबेको भरपेट लाडू खिलानेके लिये, किसी साधुके मन्दिर का कुआ बनवानेकी हठ करनेके लिये, चिड़ीमारके चगुलसे तोते छुड़ानेके लिये, मुहल्लेमे साँग करनेके लिये, कलकत्ते बम्बईमे चलने वाली मजदूर हड़तालके लिये, देवीका परसाद बाँटनेके लिये, क़साईके हाथसे लङ्गड़ी गाय छुड़ानेके लिये—चन्दा माँगने आजाते है। तब कैसी दयनीय परिस्थिति होजाती है, ना करनेकी हिम्मत नहीं; देनेको कानी कौड़ी नहीं। कभी दिल चाहता है दीवारसे टकराकर अपना सर फोड़ले, कभी जी चाहता है इन माँगनेवालोंपर टूट पड़ें और जो ये लाये हैं, उसे छीनकर अपना काम चलाएँ। मगर कुछ नहीं बनता और एक निरीह, खुदगरज, अहङ्कारी, रूक्षस्वभावी न जाने क्या-क्या लोगोंकी नज़रोंमे बनकर रहजाते हैं। कुछ आप बीती अर्ज करता हूं:—

२

सन ३८की दिवाली आई और चली गई, न हमारे घरमें चराग़ न मिठाई आई। इस बातसे हमारे चेहरेपर शिकन आई न दिलमे कोई मलाल, बल्कि हक़ीकी मायनोंमे हमे अपनी इस बेबसीपर नाज़ था। क्योंकि यह मुसीबत देवकी तरफ़से नही हमने खुद ही बुलाई थी। दीवालीसे दो-तीन रोज बाद माँने कहा—बेटा! मुझे तुझसे कहना याद नही रहा, एक आदमी १०-१२ चक्कर लगा चुका है, न नाम बताता है न काम, न तेरे मिलनेके वक्तपर आता है, यूं कई चक्कर काट चुका।" माँ अपनी बात पूरी भी न कर पाई थी कि बोली—"देख, वही शायद फिर आवाज दे रहा है।"

बाहर आकर उनका परिचय पूछूँ कि वे स्वयं ही बोले—

"आप ही गोयलीयजी है।"

"जी, मुझ खाकसारको गोयलीय कहते हैं।"

"वाह, साहब आप भी खूब है; पचासों चक्कर लगा डाले तब आप मिले है।"

मै हैरान कि खामाखाँ झाड़ पिलाने वाले यह साहब आखिर है कौन? पुलिस वाले यह हो नहीं सकते, उनकी इतनी हिम्मत भी नहीं कि इस तरह पेश आएं, कोई कर्ज माँगने वाला भी नहीं होसकता क्योंकि यहाँ यह आलम रहा है कि—

> घरमे भूका पड रहे दस फाके होजाएँ।
> तुलसी भैया बन्धुके कभी न माँगन जाएँ॥

जब बाबा तुलसीभैया बन्धुसे माँगना वर्जित कर गये है तब ग़ैरोंसे उधार माँगनेकी तो मै बेवकूफ़ी करता ही क्यों? फिर भी मैंने बडी आजिज़ीसे न मिलनेका अफ़सोस जाहिर करते हुए उनसे ग़रीब-

खानेपर तशरीफ आवरीका सबब पूछा तो मालूम हुआ कि मेरे साथ जो जेलमें एक वालिण्टियर १-२ माह रहे थे, ये उनके भाई हैं। उनकी तन्दुरुस्ती ठीक न होनेकी वजहसे वे शिमले जाना चाहते हैं। लिहाजा मुझे उनके पहाड़ी अखराजातके माकूल इन्तजामात कर देने चाहिये।

मैं तो सुनकर मन्न रह गया। पहले तो यही बड़ी मुश्किलमें समझमें आया कि ये आखिर जिक्र किन साहबका कर रहे हैं। यह जान पहचान ठीक इसी तरह की थी जैसे कोई कहार देहलीसे डोली खरीदकर ले जाएँ और लोगोंसे कहे कि प० नेहरू रिश्तेमें साढ़ू होते हैं। और कुरेदकर पूछनेपर बताएँ कि जिस शहरसे पण्डितजी कमला नेहरूका डोला लाये थे, वहीं से हम भी डोली लाये हैं।

मुझे उसकी इस दीदादिलेरी, बेतकल्लुफी, भीखके ट्रक और बाजारमें डकार वाली शानपर ताव तो बहुत आया, मगर घरपर आया जानकर बल खाकर रह गया और निहायत आजिजीसे मजबूरी ज़ाहिर की, न चाहते हुए भी मुफलिसीकी रेखा खींची। मगर उसका यकीन न आया। "लोग बड़े खुदगरज हैं, खुद गुलछर्रे उडाते हैं, मगर दूसरोंको छटपटाते देखकर भी नहीं सिहरते।" इसी तरहके भाव व्यक्त करते हुए वे चले गये और मैं अपनी इस बेबसीपर नादिम गढा-सा रह गया कि एक वो हैं जो स्वास्थ्य सुधारने पहाड़ जारहे हैं और एक हम हैं कि दम उखाड़ने वाली खाँसीके लिये मुलैठी-सत नहीं जुटा पारहे हैं।

— ३ —

कुछ घटनाएं विरोधी भी सुनिये—

१९३३ या ३४ की बात है। जमनामें बाढ आजानेसे निकटवर्ती गाँव बड़ी विपदामें आगये थे। उन्हें भोजन, वस्त्र, दवा आदिकी अविलम्ब आवश्यकता थी। दिल्ली वाले प्राणपणसे सहायता पहुँचा रहे थे। हमारे इलाकेसे भी हजारों रुपये एकत्र हुए। हम एक कारमें आवश्यक सामान रखकर नहरके रास्तेमें पड़ने वाले गाँवमें गये। वहाँ दवाएँ, वस्त्र आदि बाँटते हुए एक ऐसे गाँवमें गये जहाँ वर्षासे बहुत हानि नहीं हुई थी और बादमें मालूम हुआ कि यह ब्राह्मणोंका गाँव था। वहाँ गाँव वालोंकी सलाहसे तय हुआ कि पूरे गाँव भरके लिये कमसे कम एक सप्ताहके भोजनका प्रबन्ध फौरन कर देना चाहिये और जबतक स्थिति पूर्व जैसी न होजाय बराबर साप्ताहिक सहायता आती रहनी चाहिये। जन-लेखा का हिसाब लगाया गया तो ८० मन गेहूं की हफ्ते बैठता था। गाड़ी यहाँ आकर अटकी कि ८० मन गेहूँ दिल्लीसे क्योंकर लाया जाय? कारके आने-जाने को ही बमुश्किल नहर विभागसे आज्ञा मिली है। इस खतरेमें ट्रक या लॉरी तो किसी हालतमें भी नहीं आसकती।

हम लोगोंको चिन्तामें पड़े देख गाँव वाले बोले "दिल्लीसे गेहूँ लानेकी क्या जरूरत है। हमारे यहाँ सबके पास गेहूँ भरा पडा है, दाम देकर चाहे जितना खरीद लो।"

हमारी हैरानीकी हद न रही, हमने कहा—अरे भई जब तुम्हारे पास गल्ला भरा पड़ा है तब तुम नाहक हमसे लेना चाहते हो?

वे बोले—"वाह साहब, आप जब इतनी दूर चलकर देने आये हैं तब हम क्यों न लें, आप भी अपने मनमें क्या कहेंगे कि ब्राह्मण होकर दान लेनेसे इन्कार किया।" हमने अपनी हंसी और आवेशको रोककर कहा—"भई हम इस वक्त खैरात करने नहीं आये, अपने भाइयोंकी मदद करने आये हैं। मुसीबतमें इन्सान ही इन्सानके काम आता है। हम दे रहे हैं इसीसे दाता नहीं और जो जरूरतमन्द ले रहे हैं, वह माँगते नहीं। यह तो सब मिलकर मुसीबतमें एक दूसरेका हाथ बटा रहे हैं। इसीलिये गाँवमें जो सचमुच इमदादके योग्य हो उसे बुलादो, जो हमसे उसकी सहायता बन सकेगी करेंगे।"

गाँव वालोंने जिस बुढ़ियाका नाम बताया, उसने मिन्नतें करनेपर भी कुछ नहीं लिया। तब वे गाँव वाले स्वय ही बोले—आप नाहक परेशान होते हैं। इमदाद लेगा तो सारा गाँव लेगा, वर्ना कोई न लेगा।

अगर आप हमें न देकर सिर्फ १-२ को देकर चले जायेंगे तो सारा गाँव इन्हें हलका समझेगा, ताना मारेगा, इसी डरसे यह लोग नहीं लेते हैं न लेंगे।

बड़ा जी खराब हुआ, जिन्हें सचमुच सहायताकी जरूरत थी, उन्हें भी सहायता न दी जासकी। लाचार कारमें बैठकर नहरकी पटरी-पटरी दिल्लीकी ओर वापिस जारहे थे कि नहरके किनारे कुछ लोग औरतों बच्चों समेत दिखाई दिये तो कार रुकवा ली। पूछनेपर मालूम हुआ कि गाँवमें पानी आजानेसे यह लोग यहाँ आगये हैं और ज्यादातर किसान जाट हैं।

हमने जब इमदाद देनेकी बात उठाई तो वे लोग बातको टाल गये, दुबारा कहा तो ऐसे चुप होगये जैसे कुछ सुना ही नहीं। फिर तनिक जोर देकर कहा तो बोले—आपकी मेहरबानी, हमें किसी चीजकी दरकार नहीं, भगवानका दिया सब कुछ है।"

उस गाँवकी भिक्षुक मनोवृत्ति देखकर हम जो गाँव वालोंके प्रति अपनी राय क़ायम कर चुके थे, वह उड़ती नजर आई तो हमने अपनी दानवीरताके बड़प्पनके स्वरमें तनिक मधुरता घोलते हुए कहा—"सङ्कोचकी कोई बात नहीं, तुम्हारा जब सब उजड़ गया है, तो यह सामान लेनेमें उज्र किस बातका? यह तो लाये ही आप लोगोंके लिये हैं।"

हमारी बात उन्हें अच्छी नहीं लगी, शिष्टाचारके नाते उन्होंने कहा तो शायद कुछ नहीं, फिर भी उनके मनोभाव हमसे छिपे नहीं रहे। उन्होंने मौन रहकर ही हमपर प्रकट कर दिया कि जो स्वयं अन्नदाता है, वे हाथ क्या पसारेंगे? फिर भी हमारे मन रखनेको उनमेंसे एक बूढ़ा बोला—"लाला—हम सब बड़े मौजमें हैं, अगर कुछ देनेकी समाई है तो उस टीलेपर हमारे गाँवका फकीर पड़ा है, उसे जो देना चाहो दे आओ। हम सब अपनी-अपनी गुजर-बसर कर लेंगे। उसकी इमदाद हमारे बसकी नहीं।"

आखिर उस फ़कीरको ही आटा-वस्त्र देकर अपनी दानशीलताकी खाज मिटाई गई। कारमें सब साथी मुँह लटकाये दिल्ली वापिस जारहे थे, हम बड़े या ये किसान, शायद इसी समस्याको सब सुलझा रहे थे।

— ४ —

डालमियाँनगरमें सहारनपुरके चौ० कुलवन्त-राय जैन रहते थे। ५०-५५ वर्षकी आयु होगी। ज़ीशऊर, खुशपोश और बड़ी वजह क़तहके बुजुर्ग थे। घरके आसूदा थे, मगर व्यापारमें घाटा आजानेसे यहाँ सर्विस करके दिन गुज़ार रहे थे। मामूली वेतन और मामूली पोस्टपर काम करते थे। मेरे पास अक्सर आया करते और बड़ी नजरुबेकी बातें सुनाया करते थे। निहायत खुश अखलाक बामज़ाक, नेकचलन और कायदा करीनेके इन्सान थे। उनकी सुहबतमें जितना भी वक्त सर्फ हुआ, पुरलुत्फ रहा। हर इन्सानको घरेलू परेशानियाँ और नौकरी सम्बन्धी असुविधाएँ होती हैं, मगर २-३ सालके अर्सेमें एकबार भी जबानपर न लाये। मिल क्षेत्रोंमें जहाँ बैठें बिठाये, लोगोंको उत्पात सूझते रहते हैं। इक्रीमेण्ट, (वार्षिक तरक्की) बोनस (नौकरीके अतिरिक्त वार्षिक भत्ता) डेजिगनेशन (पद) और ऑफिसर्सकी शिकायतें, किन्कलाब, मुर्दाबाद और हाथ-हाथके नारोंसे अच्छे अच्छोंके आसन और मन हिलजाते हैं। तब भी उनके चेहरेपर न शिकन दिखाई दी, न जबानपर हर्फेशिकायत।

उनका इकलौता लड़का रुड़की कॉलिजमें इञ्जीनियरिङ्ग पढ़ रहा था। शायद ८०) रु० मासिक भेजने पड़ते थे। मैं जानता था यह उनके बूतेके बाहर है, उन्हें बमुश्किल इतना कुल वेतन मिलता था। अतः मैं समझता था कि या तो धीरे-धीरे बचे खुचे जेवर सर्फ होरहे है या सरपर ऋण चढ़ रहा हैं। पूछनेकी हिम्मत भी न होती थी, पूछूँ भी किस मुँहसे?

आखिर एक रोज जी कड़ा करके मैंने रास्तेमें उनसे साहू साहबसे छात्रवृत्ति लेनेके लिये कह ही दिया। सुनकर शुक्रिया अदा करके मन्दिरजी चले

गये। दूसरे रोज घरपर तशरीफ लाये और फर्माया—"गोयलीयजी, आप मेरे बड़े शुभचिन्तक हैं, यह मैं जानता हूं। आपने मेरा दिल दुखानेको नही बल्कि नेकनीयतीसे ही मुझे यह सलाह दी है। आपकी बात टालनेकी हिम्मत न होनेकी वजहसे, मैं उस वक्त स्वीकारता देकर चला गया। मगर फिर घर जाकर सोचा तो, बात मनमें बैठी नहीं। एक साल रह गया जैसे भी होगा निकल जायगा। इस बुढ़ापे में क्यों जरासी बातपर खानदानको दाग लगाया ? भला लड़का ही अपने मनमें क्या सोचेगा, भई गोयलीयजी मैं छात्रवृत्ति लेकर अपने बच्चेका दिल छोटा हरगिज नहीं करूँगा।"

चौधरी साहब इतना स्वाभिमानका उत्तर देंगे, अगर मुझे यह आगाह भी होता तो मै यह जिक्र तक न छेड़ता। मगर अब तो तीर कमानसे निकल चुका था, निशानेपर न लगे तो तीरन्दाजकी खूबी क्या ? मै तनिक अधिकारपूर्वक बोला—चौधरी साहब, आपका साहबजादा फर्स्टक्लास फर्स्ट आया है, ऐसे होनहारको तो वजीफा लेनेका पूरा हक है। इसमे सङ्कोच और एहसानकी क्या बात है ? यह तो उसे बतौर इनाम मिलेगा।

मैने समझा वार भरपूर बैठा और चौधरी साहब अब सीधे खड़े नहीं रह सकते। मगर नहीं, उन्होंने वार भी बड़ी खूबीसे काटा और मुझे पटखना भी ऐसा दिया कि चोट भी न लगे और हमलावरकी तारीफ करनेको जी भी चाहे।

फर्माया—गोयलीयजी, आपका फर्माना बजा है, मगर बेअदबी मुआफ, यह होनहार लड़कोंको वजीफेके तौरपर मिलता है तो ग़रीब-अमीर सब लडकोंको बिना माँगे क्यों नहीं मिलता, सिर्फ ग़रीब लड़कोंको ही क्यों मिलता है।"

मेरे पास इसका जवाब नहीं था, क्योंकि मैं जानता था कि असहाय विद्यार्थी भी उच्चसे उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके, आर्थिक अभावके कारण उनका विकास न रुक जाय, इसी सद्भावनासे प्रेरित होकर श्रीमान साहु साहबने छात्रवृत्ति जारी की हैं।

चौधरी साहब आज संसारमें नहीं हैं, मगर उनकी वज़हदारी याद आती रहती है।

१८ फरवरी १९४८

सम्पादकीय

१ मगरमच्छके आंसू—

महात्माजीके निधनसे सारा भारत शोकमग्न हो गया है। भारतीयोंको ही नहीं विदेशियोंके हृदयको भी काफी आघात पहुँचा है। उनके धार्मिक और राजनैतिक सिद्धान्तोंसे मतभेद रखने वाले भी व्यथित हुए हैं। महात्माजीका व्यक्तित्व ही ऐसा था कि विरोधी भी उनके लोकोत्तर गुणोंके क़ायल थे।

ऐसे लोग भी जो जीवनभर महात्माजीके सिद्धान्तोंका विरोध करते रहे, उनके चलाये स्वराज्य-संग्राममें विपक्षीकी ओरसे लड़ते रहे। निहत्थोंपर गोलियाँ चलवाते रहे। स्वराज्य-सैनिकोंको गिरफ़्तार कराते रहे, अदालतोंमें झूठी गवाहियाँ देकर सजा दिलाते रहे। खद्दर पहनना तो दरकिनार विलायती कपड़ा पहनते रहे-बेचते रहे। पतितोद्धार तो कुजा अपने सजातियोंको भी मन्दिर-प्रवेशसे रोकते रहे। हिन्दू-मुस्लिम राज्यकी क्या चली अपने समाजको कुरुक्षेत्रका मैदान बनाये रहे—आज महात्माजीके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पण कर रहे है, तार भेज रहे है, शोक-सभाओंमें भाषण देरहे है, लेख लिख रहे है, जिन्हे स्वयं लिखना नहीं आता, वे दूसरोंसे लिखवा

रहे हैं, पत्रोंके विशेषांक निकाल रहे हैं, स्मारक बनवा रहे हैं। मानों सारा भारत गांधीवादी होगया है। काश लोगोंने अपनी भूल समझी होती, और सचमुच हृदय परिवर्तन किया होता! जो संतप्त होनेका अभिनय कर रहे हैं काश सचमुच संतप्त हुए होते तो महात्माजीका मरण भी भारतके लिये वरदान हुआ होता!

ऐसे छद्मस्थ लोगोंके आँसू उस मगरके समान हैं जो धोखेमें डालनेको तो आँखोंमें आँसू भरे रखता है, पर अपनी करनीसे लहमेभरको भी बाज नहीं आता। सन ३२ या ३३में महात्माजी जब पहली बार दिल्लीकी हरिजन कौलोनीमें ठहरे तो सन्ध्याकालीन प्रार्थनाके समय काफ़ी जन-समूह एकत्र हुआ। जिनमें विलायती वस्त्रोंमें सुसज्जित बनी-ठनी महिलाएँ और सूटबूट धारी युवक ही ज्यादातर थे। पाँव छूनेके लिये अग्रसर होती हुई भीड़को देखकर महात्माजी तनिक ऊंचे स्वरमें बोले—"तुम लोग मेरे पाँव छूनेके बजाय मेरे मुँहपर थूक देते तो अच्छा था। मैं जिन सिद्धान्तोंके प्रसारके लिये मारा-मारा फिर रहा हूँ, जिस स्वराज्य-संग्राममें मैं लिप्त हूँ, उसमें तो तुम लोग मेरी तनिक भी सहायता नहीं करते? उल्टा जिन विदेशी वस्त्रोंकी मैं होली जलवाता फिर रहा हूँ, उन्हें ही पहनकर तुम मेरे सामने आते हो? मेरी एक भी बात न मानकर केवल दर्शन करनेमें ही जीवनकी सार्थकता समझते हो।"

सचमुच उस नेतासे बड़ा अभागा दुनियामें और कौन होसकता है, जिसका जय-जयकार तो सारा देश करे, उसे ईश्वर तुल्य पूजे किन्तु आदेशोंका पालन मुट्ठीभर ही करते हों।

ऐसे ही छद्मस्थ अनुयायियोंके कारण नेता धोखा खाजाते हैं। स्वयं महात्माजी भी कई बार ऐसे धोखेके शिकार हुए। भारतमें सर्वत्र इस तरहकी श्रद्धा भक्तिसे ओत-प्रोत भीड़को देखकर उन्हें अपने अनुयायियोंकी इस बहुसंख्याका गलत अन्दाज होजाता था। वे समझ लेते थे, मेरे इशारेपर समूचा भारत तैयार बैठा है किन्तु युद्ध छेड़नेपर ३५ करोड़के देशमें १ लाखसे अधिक सैनिक कभी नहीं हुए।

आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि हमारी समाजमें जिन भले मानुसोंने ब्र० शीतलप्रसादका बहिष्कार इसलिये किया कि वे अन्तर्जातीय विवाह और दस्सा पूजनको जैनधर्मानुकूल समझते थे। वही आज अछूतोंके मन्दिर-प्रवेश तथा रोटी-बेटी व्यवहार और विधवा विवाहके प्रबल प्रसारक महात्माजीका बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे कीर्तन कर रहे हैं। जिन लोगोंने ब्रह्मचारीजीको अपने सभामञ्चसे न बोलने दिया, वही महात्माजीकी शोक-सभा मन्दिरोंमें कर रहे हैं। जिन्होंने शिष्टताके नाते उन्हें ब्रह्मचारी तक लिखना छोड़ दिया, मन्दिरोंमें जानेसे रोक दिया, वही आज महात्माजीका स्मारक बनानेकी सोच रहे हैं, विश्व-वन्द्य कहकर अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट कर रहे हैं।

जब हम चले तो साया भी अपना न साथ दे।
जब वे चलें जमीन चले आस्माँ चले॥
—जलील

यदि सचमुच यह लोग महात्माजीके अनुयायी और श्रद्धालु हुए होते तो बात ही क्या थी। भूल किससे नहीं होती, बड़े-बड़े दोषी भी प्रायश्चित करने पर मञ्जमें मिला लिये जाते हैं। पर नहीं, इनके हृदय में उसी तरह हलाहल भरा हुआ है, देशकी प्रगतिमें ये बाधक रहे हैं और रहेंगे, सुधार कार्योंमें सदैव विघ्न स्वरूप बने रहेंगे। इनका रुदन केवल दिखावा मात्र है। महात्माजीके अनुयायियोंके हाथमें आज शासन-सत्ता है इसीलिये इन्होंने अपना यह बहुरूपिया वेष बनाया है। शासन-सत्ता जिसके हाथमें हो, वह चाहे भारतीय हो या अभारतीय, पटवारी हो या दरोगा उसीके तलुवे सहलानेमें लोग दक्ष होते हैं।

२ जाली संस्थाएं—

कुछ धूर्तोंका यह विश्वास है कि दुनिया मूर्खोंसे भरी पड़ी है। इसमें हियेके अन्धे और गाँठके पूरे अधिक और विवेकबुद्धि वाले बहुत कम हैं। इसी लिये वे धूर्तताके जालमें लोगोंको फँसाते रहते हैं। हमारी समाजमें भी कितनी जाली संस्थाएं ऐसे लोगों ने कायमकी हुई हैं। कोई धर्मार्थ औषधालयके नाम-

पर, कोई अहिंसा प्रचारक सङ्घके नामपर, मनमानी लूट मचा रहे हैं। पत्रोंमें विज्ञापन देते हैं, उपदेशकी का जामा पहनकर गाँव-गाँवमे घूमते हैं। चन्दा इकट्ठा करते हैं और गुलछर्रे उड़ाते हैं। समाजका खून चूसने वाली ऐसी जाली संस्थाओंका सामूहिक रूपसे भण्डाफोड़ होना चाहिये। इनके संचालकोंके काले कारनामोंका सचित्र उल्लेख होना चाहिये। ताकि समाज इन धूर्तोंके चङ्गुलसे बच सके। अनेकान्त ऐसे लेखोंका स्वागत करेगा।

३ हमारा नेता—

हमारे नेता एक नहीं अनेक हैं, जितने नावमे बैठने वाले नहीं उससे अधिक खेवट मौजूद है। अगर यह खेवट एक मत होकर हमारी इस जीर्ण-शीर्ण नौकाको पार लगानेका प्रयत्न करते तो हमे अपने भाग्यपर गर्व होता, हम बाआवाज़ बुलन्द कहते कि जहाँ इतर नौकाओंको एक-दो मल्लाह नहीं मिल पा रहे है, वहाँ हमारी सुरक्षाको इतने नाविक मौजूद है। परन्तु खेद है कि स्थिति इसके विपरीत है। इतर नौकाओंके मनुष्योंमे बाकायदा जिन्होंने मार्गकी दुर्गम कठिनाइयोंका अनुभव प्राप्त किया है। जिन्हे मार्गमे पड़ने वाली चट्टानों, लहरों और भँवरों का ज्ञान है और जो आँधी, पानी, तूफानोंके आनेका इरादा सप्ताह पूर्व भाँप लेते है बकौल इकबाल—

जो है पर्देमे पिन्हा[1] चश्मबीना[2] देख लेती है।
जमानेकी तबीयतका तकाजा देख लेती है॥

उन्हीं सुदक्ष और अनुभवी मनुष्योंके हाथमे पतवार देकर अपना खेवट चुना है और जिन्हें दक्षता प्राप्त नहीं हुई है, वे चुपचाप नावमे बैठे तूफानोंसे टक्कर लेनेके अनुभव भी प्राप्त कर रहे है और पार भी होरहे हैं।

परन्तु अपने यहाँ बात ही जुदा है। किनारेपर लगे वृक्षोंसे जो भी तना, शाख, डाली, टहनी तोड़ सका, उसने उसीको चप्पू बनाकर नाव खेनेका अमोघ उपाय समझ लिया। जिन्हे टहनी न मिली, वह धोतियोंको ही पानीमे डालकर उससे पतवारका काम लेनेका दुःस्साहस कर रहे है। इतना भी होता तो गनीमत थी, शायद तूफानोंमे पड़कर लहरोंके सहारे वह कभी न कभी पार होजाती। परन्तु यहाँ तो आलम ही जुदा है। हर नाविक बना हुआ अपनी अक्लकी पन्तल फाड़ रहा है। एक-दूसरेके मार्गका विपरीत अनुसरण कर रहा है। नाव भँवरमें पड़कर मौतके चक्कर काट रही है और उसके सितमज़रीफ़ नाविक एक दूसरेको धकेलने और अपनी मनमानी करनेपर तुले हुए हैं। और नावमे बैठे हुए निरीह अबोध माली सर पीटकर चिल्ला रहे हैं—

खेलना जब उनको तूफानों से आता ही न था।
फिर यह किश्तीके हमारे नाखुदा[1] क्यों होगये?

कैसी दयनीय स्थिति है उस समाजकी, जिसके भूतपूर्व बल पराक्रमको याद करके मृत्यु उसके पास आनेसे झिझकती है, परन्तु उसके मार्गदर्शक बने हुए उसे स्वयं मौतके मुँहमे ले जारहे हैं। गन्तव्य स्थान तक सम्यक् मार्गप्रदर्शन कोई नहीं कर रहा है। रविशंसिद्दीकीके शब्दोंमे—

खिज्र[2] ही खिज्र नजर आते हैं हरसू[3] हमको।
कारवाँ[4] बेखबरे राहेगुजर[5] आज भी है॥

एक मार्ग प्रदर्शक हो तो उसकी बात समझमें आए और गिरते-पड़ते लक्षकी ओर भी बढ़ा जाए। परन्तु जहाँ न लक्षका पता है, न मार्गका पता है, वहाँ सिवा दम घुट-घुटकर मरनेके और चारा भी क्या है?

हम सच्चे मार्गप्रदर्शककी खोजमे इधर-उधर भटकते है, परन्तु सफलता नहीं मिलती:—

चलता हूँ थोड़ी दूर हरइक तेज़रौ के साथ।
पहचानता नहीं हूँ अभी राहबरको मैं[6]॥

हमारी स्थिति उक्त शेरके अनुसार होती तो भी

---

१ पर्देमे छुपा हुआ, अप्रकट। २ दूरन्देश दृष्टि।

१ खेवट-मल्लाह। २ पथप्रदर्शक। ३ चारों ओर। ४ यात्रीदल। ५ भटकी राहमे।

६ मिर्जा गालिब फरमाते हैं—मै हर तेजरौ (शीघ्र चलने वालेके साथ) चलता हूँ पर जब मुझे मालूम होता है कि यह तो स्वयं भटक रहा है या लुटेरा है तो ठहर जाता हूँ इस मेरे भटकनेका कारण यही है कि मै अभी तक अपने असली पथप्रदर्शक (राहबर) को नहीं पहचान पाया हूँ।

गनीमत थी, भटकते-भटकते कभी तो सच्चे मार्ग-दर्शकका पता पाते। परन्तु यहाँ तो कोई नेता है ही नहीं, नेताओंके वेषमे भेड़िये, बावले, अबोध और अकर्मण्य हमारे चारों ओर घूम रहे हैं। और अपनी जुदा-जुदा डफली बजा रहे हैं, उस डफलीकी तानपर मस्त होकर कौन कुएमें गिरेगा और कौन खाईमें इसकी इन्हे न चिन्ता है और न सोचनेका समय है।

जैन समाजके तीनों सम्प्रदायोंमें अखिलभारतीय संस्था तीन भी होतीं तो भी ठीक थीं। परन्तु २ दर्जनसे तो अब भी कम नहीं और कई संस्थाओंके बीजारोपण होरहे हैं। और तारीफ यह है कि इनके अधिकारियोंको अपने निजी कार्योंसे लहमेभरकी फुरसत नहीं। कार्यालय मामूली क्लर्क चलाते है और इनकी ओरसे बहुत साधारण टकेपन्थी एक-एक दो-दो उपदेशक गाँव-गाँवमे घूमते है। वे कहाँ जाते है और क्या-क्या अनाप-शनाप कह आते और उसका क्या फल होता है, यह जानने तकका अवकाश किसीके पास नहीं है। इन अखिल भारतीय सभाओं के अधिवेशन होते है। वह अधिवेशन क्यों होरहा है और क्या उपयोगी योजनाएँ समाजके लिये रखनी है, इसपर कार्यकारिणी कभी विचार तक नहीं करती। विचार करनेको समय ही नहीं, बमुश्किल बड़े दिन या ईस्टरकी छुट्टियोंमे केवल अधिवेशनमें सम्मिलित होनेको समय निकल पाता है। परिणाम यह होता है कि विषय निर्वाचनीमे बैठे हुए महानुभाव वहीकी वही परस्पर विरोधी उलूल-जुलूल प्रस्ताव गढ़ते रहते है, घण्टों बहस होती रहती है और अन्तमे कुछका कुछ पास होजाता है। न कोई यह सोचता है कि इस प्रस्तावका क्या प्रतिफल होगा, न कोई उसे अमली रूप देनेकी योजनापर ही विचार करता है।

जिनके पास संस्थाएँ है, वे कुछ कर नहीं पारहे है, जिनके पास नहीं है वे किसी न किसी बहाने अपनी नई संस्था खोलने जारहे है। पानकी दुकान खोलनेमें शायद असुविधा हो, परन्तु संस्था खोलनेमें कोई परेशानी नहीं। समाजसे चन्दा मिल ही जाता है, बस अपने दो-चार आदमियोंको आजीविका भी मिल गई और स्वयं नेता भी बन गये।

नेता बनना बुरा नहीं यदि त्याग और तपस्याके साथ-साथ कुछ कर गुजरनेकी चाह हो। परन्तु केवल आजीविकाके लिये, अपनी महत्वाकांक्षाएँ पूर्ण करनेके लिये और अपनेको अर्थ-चिन्तासे निराकुल करनेके लिये नेता बननेका प्रयत्न दुखिया समाजको पीठमे छुरा भोंकना है।

४ अल्पसंख्यकोंके सुधार—

सन् १९२८ की दशलाक्षणीके दिन थे। मैं और स्वर्गीय रायबहादुर साहु जुगमन्दरदासजी नजीबाबादमे धार्मिक और सामाजिक चर्चाएँ कर रहे थे। सुधारोंको लेकर जैनसमाजकी तू-तू, मैं-मैं का भी प्रसङ्ग छिड़ गया। रायबहादुर साहब एक ही सुलझे हुए आदमी थे, वे सहसा गम्भीर हो उठे और बोले:—"गोयलीयजी, समाजकी शक्ति इन व्यर्थके कार्योंमे नष्ट होती देखकर मुझे बड़ा दुख होता है। इन छोटे-छोटे सुधारोंको लेकर हमारी समाजमे व्यर्थकी उथल-पथल मची हुई है।"

सुधारोंके विपक्षमे रायजनी करते सुनकर मैं कुछ कहना ही चाहता था कि वे बोले—"घबराओ नहीं, मैं सुधारोंका विरोधी नहीं आपसे अधिक पक्षपाती हूँ, परन्तु मैं समाजमे उन्हीं आन्दोलनोंका समर्थक हूँ जो जैनसमाजसे सम्बन्ध रखते है और जैनेतर बहुसंख्यकों पर आश्रित नहीं है। मै कब कहता हूँ कि शास्त्रोद्धारका आन्दोलन बन्द कर दिया जाय, यह आन्दोलन तो इतने वेगसे चलाया जाय कि एक भी शास्त्र अमुद्रित न रहने पाए, दस्सा-पूजनाधिकार, अन्तर्जातीयविवाहका आन्दोलन आप खूब कीजिये। बाल और वृद्ध विवाह रोकिये, वर-विक्रय, वेश्यानृत्य, नुक्ता प्रथाको अविलम्ब बन्द कराइये। यह सब आन्दोलन केवल अपनी समाजसे सम्बन्ध रखते हैं अतः इन्हे सहर्ष चलाइये और सफलता प्राप्त कीजिये।"

"मेरा आशय तो यह है कि वे आन्दोलन जो हमारे इतर भिन्न धर्मियों, पड़ौसियों और सज तिओं-से सम्बन्ध रखते हैं उन्हे न छेड़ा जाय। क्योंकि यदि

उन कार्योंको वे पसन्द न करेंगे तो हमें कभी सफलता नहीं मिल सकती, उल्टा हमारी स्थिति बड़ी दयनीय होजायगी। उदाहरणके लिये आप लीजिये— दस्साओंको हम मन्दिरोंमे पूजा-प्रक्षालका तो अधिकार सहर्ष दे सकते हैं; क्योंकि मन्दिर अपने निजी हैं, उनपर जैनेतर बन्धुओंका कोई अधिकार नहीं। हमारे इस कार्यसे उनका बनता बिगड़ता भी नहीं है। किन्तु यदि हम उनसे शादी व्यवहार करने लगे तो हमारे सजातीय किन्तु भिन्न भाइयोंके कान अवश्य खड़े होजाएँगे। यदि वह स्वय इसे नहीं अपनाएँगे तो हमे ऐसा करते देख हमारे साथ विवाह तथा सामाजिक-सम्बन्ध विच्छेद कर देंगे। और कोई भी इतने बड़े समुदायसे वहिष्कृत होकर— पानीमें मगरसे असहयोग रखकर जीवित नहीं रह सकता। अछूतोद्धार आदि आन्दोलन भी इसी तरहके हैं। आप लाख प्रयत्न इनके उद्धारका कीजिये, यदि बहुसख्यक समाज इन्हे नही अपनाता तो आप भी उनकी दृष्टिमे अछूत बनकर रह जाएँगे। और जिस रोज हमारे बहुसख्यक सजातीय भाई और इतर समाज इनको लेना चाहेंगे, तब आपको भी अनुकरण करना पड़ेगा। जिन कार्योंमे बहुसंख्यक समुदायका हित-अहित सन्निहित है; वे उन्हींके करनेके लिये छोड़ देने चाहिये, उपर्युक्त कार्योंमें उनको सहयोग देना चाहिये, परन्तु ऐसे कार्योंको लेकर अपनी समाजमे वितण्डावाद नहीं बढ़ाना चाहिये।"

रायबहादुर साहबकी उक्त भविष्यवाणी आज साक्षात् हो उठी है। जो पण्डे, पुजारी मन्दिरोंमें अछूतोंको नहीं जाने देते थे, कुत्ते-बिल्लीसे भी अधिक घृणा उनसे करते थे; जिनकी मूर्खतासे १०-१२ करोड़ विधर्मी बन चुके थे। आज वही बहुसख्यक जनता द्वारा चुने गये शासनाधिकारियों द्वारा बनाये गये अछूत मन्दिर-प्रवेश और समान सिद्धान्तके सामने सर टेकते नजर आरहे हैं।

अब कानूनन हरिजनोंसे धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रोंमे समान व्यवहार होगा, वे मन्दिरोंमे बेरोक-टोक जा सकेंगे। उनसे जो रोटी-बेटी व्यवहार करेंगे उनसे घृणा करने वाले दण्डनीय होंगे। वे भोजन गृह खोल सकेंगे। तब बताइये पृथ्वीपर अब उनसे दामन बचाकर चलना कैसे सम्भव हो सकेगा?

जैन जो बहु-सख्यक समाजके विरोधके भयसे पतितोद्धार कार्य करते हुए हिचकते थे। अब उपयुक्त अवसर आया है कि वे उन्हें जिनधर्ममे दीक्षित करके जैनसङ्घकी सख्या बढ़ाएँ।

डालमियाँनगर (बिहार)
८ मार्च १६४८ —गोयलीय

निरीक्षण और सम्मति

हालमें जैनसमाजके ख्यातिप्राप्त और स्याद्वादमहाविद्यालय काशीके प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्जी सिद्धान्तशास्त्री वीरसेवामन्दिरमे पधारे थे। आपने यहाँके कार्योंका निरीक्षण कर जो वीरसेवामन्दिरपर अपने उद्‌गार प्रकट किये हैं और निरीक्षणबुकमे सम्मति लिखी है। उसे यहाँ दिया जा रहा है:—

आज मुझे वर्षोंके बाद वीरसेवामन्दिरको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। माननीय मुख्तारसा० ७१ वर्षकी उम्रमें भी जवानोंकी सी लगन लिए हुए कार्यमे जुटे है। उनके दोनों सहयोगी विद्वान न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया व प० परमानन्दजी भी अपने-अपने कार्यमे संलग्न है। इस मन्दिरसे दिगम्बर जैन-साहित्य और इतिहासकी जो ठोस सेवा होरही है वह चिरस्मरणीय है। मेरी यही भावना है कि मुख्तारसा० सुदीर्घ काल तक जीवित रह कर हमारे साहित्यकी सेवा करते रहे।

कैलाशचन्द्र शास्त्री
१०—२—४८ स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय, काशी

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ राजुल [काव्य]

लेखक, श्रीबालचन्द्र जैन विशारद काशी। प्राप्तिस्थान, साहित्यसाधनासमिति जैनविद्यालय भदैनी काशी। मूल्य १॥)।

यह पद्यकाव्यग्रन्थ हालमें प्रकट हुआ है। यह लेखककी अपनी दूसरी रचना है। इसके पहले वे 'आत्मसमर्पण' पाठकोंको भेंट कर चुके हैं, जिसका परिचय पिछली किरणमें प्रकट होचुका है। इसमें कविने राजुल और नेमिकुमारका पौराणिक ऐतिहासिक चरित्र आधुनिक रोचक ढङ्गसे चित्रित किया है। इसमे दर्शन, स्मरण, विराग, विरह और उत्सर्ग ये पाँच अध्याय है। प्रथम अध्याय कविने कल्पनाके आधारपर रचा है और शेष चार अध्याय पुराणवर्णित कथानुसार निर्मित किये है। कविसे यह काव्य उत्कृष्ट कोटिका बन पड़ा है। काव्यमे जैसी कुछ कोमलता, सरलता, शिक्षा, नीति, सुधार कवित्वकला आदि गुण अपेक्षित हैं वे प्राय: सब इस 'राजुल'में विद्यमान हैं। इसके कुछ नमूने देखिये—'स्मरण' अध्यायमे कवि राजुल-मुखसे कहलाता है—

जीवन सूनासा लगता था यदि नेमि न आए जीवनमें,
जीनेका क्या उपयोग ! अरे उत्साह न आए जीवनमे।

यहाँ नीतिकी कितनी सुन्दर पुट है।

'विरह' अध्यायमें राजुल विरहीकी अवस्थाको प्राप्त करती हुई भी अपने नारीत्वके अभिमानको नहीं भूलती। कवि राजुलके मुखसे वहाँ कहलाता है—

बन बनमें मैं सँग सँग फिरती गिरिमें भी मै सँग सँग तपती,
बना संगिनी जीवनकी फिर भी मुझको कायर माना।
तुमने कब मुझको पहिचाना।

नारी ऐसी क्या हीन हुई !
तनकी कोमलता ही लेकर नरके सम्मुख वह दीन हुई !
जो पुरुष करे कर हम न सकें ! जीवन-पथमें क्या बढ न सकें !
समझे जग हमको क्यों कायर, ऐसी भी क्या हम क्षीण हुई।
नारी ऐसी क्या हीन हुई !

'उत्सर्ग' अध्यायमें राजुल जब गिरनार पर्वतपर नेमिकुमारके पास जाकर अपने आपको उनके चरणोंमें समर्पण कर देती है तब कविने नेमिकुमारके द्वारा उनके समर्पणको स्वीकार करते हुए उनके मुखसे कितना सैद्धान्तिक उत्तर दिलाया है—

"आओ हम दोनों ही जगके दुखके कारणकी खोज करें,
बन्धन जगके हम काटेंगे बस यही भावना रोज करें।
रत्नत्रय अपना परम साध्य तप औ' संयमको अपनाएँ,
निश्चय ही बन्धन-मुक्त बनें स्वातन्त्र्य-गीत फिर हम गाएँ॥"

कहनेका तात्पर्य यह कि यह काव्य कई दृष्टियोंसे अच्छा बना है। विदुषीरत्न प० ब्र० चन्दाबाईजीकी महत्वकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाने तो स्वर्ण कलशका काम किया है। इस उदीयमान कविसे समाजको बहुत कुछ आशा है। हम उनकी इस रचनाका स्वागत करते हैं।

२ मुक्तिमन्दिर [पद्यमय रचना]

लेखक, पण्डित लालबहादुर शास्त्री। प्राप्तिस्थान नलिनी सरस्वती मन्दिर, भदैनी बनारस। मूल्य।)।

यह क्षमा, निरभिमानता, सरलता, सत्य, निर्लोभता, सयम, तप, त्याग, अपरिग्रहता और ब्रह्मचर्य इन दश मानव-धर्मोंका, प्रत्येकका पाँच-पाँच सुन्दर एवं सरल पद्योंमे, कथनकरने वाली नवीन शैलीकी एक उत्तम रचना है। यह सामान्य जनतामें काफी संख्यामे प्रचार-योग्य है और लोकरुचिके अनुकूल है। ऐसी सरल रचना करनेके लिये लेखक समाजके धन्यवादपात्र है।

—दरबारीलाल जैन, कोठिया

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ **अनित्यभावना**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमे प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मूल्य ।)

२ **आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र**—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी सानुवाद व्याख्या-सहित। मूल्य ।)

३ **सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमे श्रीवीर-वर्द्धमान और उनके बादके, जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका सग्रह है और शुरूमे १ लोकमंगल-कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शन-जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पॉच प्रकरण हैं। पुस्तक पढते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ।।)

४ **अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड**—यह पञ्चाध्यायी तथा लाटीसहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्ल-की अपूर्व रचना है। इसमे अध्यात्मसमुद्रको कूजेमे बन्द किया गया है। साथमे न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया और पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १।।)

५ **उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना-सहित। मू० ।)

६ **न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)** न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अबतक प्रकाशित सस्करणोंमें जो अशुद्धियॉ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे सशोधनको लिये हुए यह सस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची, और कोई ८ परिशिष्टोंसे सकलित है, साथमे सम्पादक-द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका एक सस्कृत टिप्पण भी लगा हुआ है, जो ग्रंथगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं और थोड़ी ही अवशिष्ट रह गई हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मॅगा लेना चाहिये।

७ **विवाह-समुद्देश्य**—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमे प्रकाशित चतुर्थ सस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी साहित्यमे अपने ढगकी एक ही चीज है। इसमे विवाह-जैसे महत्वपूर्ण विषयका बडा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है, अनेक विरोधी विधि-विधानों एव विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्योंको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण-द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमे दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यो किया जाता है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रम-से उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिए वर्ण और जातिका क्या नियम होसकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमे बड़ा ही युक्ति-पुरस्सर एव हृदयग्राही वर्णन है। बढिया आर्ट पेपरपर छपी है। विवाहो के अवसरपर वितरण करने योग्य है। मू० ।।)

वीरसेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

अनेकान्त

चैत्र, संवत् २००५ :: अप्रैल, सन् १९४८

वर्ष ९

किरण ४

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

सञ्चालक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

विषय-सूची

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीर-सेवामन्दिरको निम्न सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

३१) लाला उदयराम जिनेश्वरप्रसाद जी जैन बजाज सहारनपुर (दर्शन प्रतिमा ग्रहण करनेके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे लायब्रेरी सहायतार्थ) मार्फत प० परमानन्दजी जैन शास्त्री।

५) बाबू माईदयालजी जैन बी० ए० देहली और लाला श्रीचन्दजी जैन देहरादून (पुत्र-पुत्रीके विवाहकी खुशीमें)।

३६) अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

अनेकान्तको सहायता

गत दूसरी किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको निम्न सहायता और प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

२०) लाला सुमेरीलाल गुलाबरायजी, बाराबङ्की (इन्द्रकुमार जैनकी दादीकी मृत्यु-समय निकाले गये १०१) के दानमेंसे)।

४) बाबू दीपचन्दजी, कानपुर (चि० पुत्रके विवाहोपलक्षमें निकाले गये दानमेंसे)।

४) बाबू चिरञ्जीलालजी जैन, वर्धा (चि० पुत्रके विवाहोपलक्षमें निकाले हुए दानमेंसे)।

३०) व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

सूचना

अनेकान्त कार्यालयको कुछ सहायता प्राप्त हुई है जिसके आधारपर हम ३३ विद्यार्थियों, लायब्रेरी अथवा वाचनालयोंको रियायती मूल्य ३) तीन रुपया में अनेकान्त एक वर्ष तक दे सकते हैं। जिन्हें आवश्यकता हो वे ३) रुपया शीघ्र मनिआर्डर से भेज देवें, रुपया आनेपर अनेकान्त चालू कर दिया जावेगा।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

सूचना

अनेकान्त कार्यालयके लिये एक सुयोग्य विद्वान की आवश्यकता है जो पत्र व्यवहार आदि कार्योंके साथ प्रूफ रीडिंग करनेमें भी दक्ष हो। वेतन योग्यतानुसार दिया जावेगा। जो विद्वान आना चाहें वे निम्न पतेपर पत्र व्यवहार करें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा
(सहारनपुर)

सूचना

अनेकान्तके पिछले वर्षोंकी कुछ फाइलें, वर्ष ४-५-६-७-८की अवशिष्ट बची हैं। जो महानुभाव खरीदना चाहेंगे, उन्हें वीरजयन्तीसे वीरशासन जयन्ती तक निर्दिष्ट मूल्यमें ही दी जावेंगी। अत: आॅर्डर भेजनेकी शीघ्रता करें, अन्यथा ये फाइलें भी पहले दूसरे और तीसरे वर्षकी तरह अप्राप्य हो जायेंगी।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

भूल सुधार

'पराक्रमी जैन' शीर्षक लेखके अन्तमें लेखकका नाम और तारीख छपनेसे रह गई है। कृपया प्रेमी पाठक वहाँ अयोध्याप्रसाद 'गोयलीय' और तारीख १४ फरवरी सन् १९४० बना लेवें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

ॐ अर्हम्

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	अप्रैल
किरण ४	चैत्र शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत् २४७४, विक्रम-संवत् २००४	१९४८

जैन तपस्वी

शीतरितु-जोरैं अंग सब ही सकोरैं तहाँ—
तनको न मोरैं नदीधोरैं धीर जे खरे ।
जेठकी झकोरैं जहाँ अंडा चील छोरैं पशु—
पंछी छाँह लोरैं गिरि कोरैं तप वे धरें ॥
घोर घन घोरैं घटा चहूँ ओर डोरैं ज्यों-ज्यों—
चलत हिलोरैं त्यों-त्यों फोरैं बल ये अरे ।
देह-नेह तोरैं परमारथसौं प्रीति जोरैं
ऐसे गुरु ओरैं हम हाथ अंजली करें ॥

—कवि भूधरदास

ग्रीषमकी ऋतुमाहिं जल थल सूख जाहिं
परत प्रचंड धूप आगिसी बरत है ।
दावाकीसी ज्वाल-माल बहत बयार अति
लागत लपट कोऊ धीर न धरत है ॥
धरती तपत मानों तवासी तपाय राखी
बडवा-अनल-सम शैल जो जरत है ।
ताके शृंग शिलापर जोर जुग पाँव धर ,
करत तपस्या मुनि करम हरत है ॥

—कवि भगवतीदास

स्वरूप-भावना

[कैराना जिला मुजफ्फरनगरके बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुये, आजसे कोई १५ वर्ष पहले जो षट्पत्रात्मक ग्रन्थसंग्रह प्राप्त हुआ था और जिसके षट्दर्शनसूत्रादि आठ ग्रन्थोंमेसे 'रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' नामका एक ग्रन्थ गत वर्षकी १२वीं किरणमें प्रकाशित किया जाचुका है उसीपरसे यह 'स्वरूप-भावना' नामका ग्रन्थ भी नोट किया गया था, जो आज प्रकाशित किया जाता है। यह अध्यात्म-विषयका एक बड़ा ही सुन्दर एव चित्ताकर्षक लघु ग्रन्थ अथवा प्रकरण है। इसमे सक्षेपतः आत्मा-के शुद्ध स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए 'उसी पावन स्वरूपकी मैं सदा भावना करता हूँ' ऐसा बार-बार कहा गया है। इसके कर्ताका नाम मालूम नहीं होसका। कुछ दिन हुए देहली पंचायतीमन्दिरके शास्त्रभण्डारमे भी इसकी एक प्रतिका पता चला है, जो प्राचीन गुटकेमे है परन्तु उसमे भी कर्ताका नाम नहीं दिया। किसी अन्य विद्वानको यदि कर्ताके नामका पता चले तो वे सूचित करनेकी कृपा करें। —सम्पादक]

(भुजगप्रयात)

मुनि-स्तुत्य-चित्तत्व-नीरेज-भृङ्गं, परित्यक्त-रागादि-दोषाऽनुसङ्गम् ।
जगद्वस्तु-विद्योतकं ज्ञानरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥१॥

स्वशुद्धात्म-पीयूष-वारांशिपूरं, जिनेन्द्रोक्त-जीवादि-तत्त्वार्थ-सारम् ।
सुवर्णत्ववन्नित्य-चैतन्य-रूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥२॥

गलत्कर्म-बन्धं त्रुटन्मोह-पाशं, स्वदेह-त्रिलोक-प्रमाण-प्रदेशम् ।
तरुस्थाऽग्निवद्देहतो भिन्नरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥३॥

शरीरादि-नोकर्म-कर्म-प्रमुक्तं, निरुद्धास्रवं सप्तभङ्गि-प्रयुक्तम् ।
स्वशक्ति-स्थिताऽनन्त-बोध-स्वरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥४॥

स्वरूच्यग्नि-निर्दग्ध-दुःकर्म-कक्षं, स्वसंवेदन-ज्ञान-गम्यं निरक्षम् ।
लसद्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥५॥

परिप्राप्त-संसार-वारांशि-पारं, निजानन्द-सत्पान-भृच्चित्करीरम् ।
चिदानन्द-बीजं परंब्रह्मरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥६॥

विनष्टाऽन्यभाव-प्रभूत-प्रमादं, निरस्ताङ्ग-सज्ज्ञान-लिङ्गादिभेदम् ।
निरातङ्क-सानन्द-चैतन्य-रूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥७॥

स्वचिद्भाव-वाक्-सम्भवाऽनन्त-शक्ति, निराशं निरीशं परिप्राप्त-मुक्तिम् ।
त्रिलोकेश्वरं निश्चलं नित्यरूपं, सदा पावनं भावयामि स्वरूपम् ॥८॥

स्वरूपभावना समाप्ता

रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय

[सम्पादकीय]

(गत किरणसे आगे)

(३) रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये प्रोफेसर हीरालालजीकी जो तीसरी दलील (युक्ति) है उसका सार यह है कि 'वादिराज-सूरिके पार्श्वनाथचरितमें आप्तमीमांसाको तो 'देवागम' नामसे उल्लेख करते हुए 'स्वामि-कृत' कहा गया है और रत्नकरण्डको स्वामिकृत न कहकर 'योगीन्द्र-कृत' बतलाया है। 'स्वामी'का अभिप्राय स्वामी समन्तभद्रसे और 'योगीन्द्र'का अभिप्राय उस नामके किसी आचार्यसे अथवा आप्तमीमांसाकारसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रसे है। दोनों ग्रन्थोंके कर्ता एक ही समन्तभद्र नही हो सकते अथवा यों कहिये कि वादिराज-सम्मत नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों ग्रन्थोंके उल्लेख-सम्बन्धी दोनों पद्योंके मध्यमें 'अचिन्त्य-महिमादेवः' नामका एक पद्य पड़ा हुआ है जिसके 'देव' शब्दका अभिप्राय देवनन्दी पूज्यपादसे है और जो उनके शब्दशास्त्र(जैनेन्द्र)की सूचनाको साथमें लिये हुए है।' जिन पद्योंपरसे इस युक्तिवाद अथवा रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एककर्तृत्वपर आपत्तिका जन्म हुआ है वे इस प्रकार हैं:—

"स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाऽद्यापि प्रदर्श्यते ॥१७॥
अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१८॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाऽक्षय्य सुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥१९॥

इन पद्योंमेंसे जिन प्रथम और तृतीय पद्योंमें ग्रन्थोंका नामोल्लेख है उनका विषय स्पष्ट है और जिसमें किसी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं है उस द्वितीय पद्यका विषय अस्पष्ट है, इस बातको प्रोफेसर साहबने स्वयं स्वीकार किया है। और इसीलिये द्वितीय पद्यके आशय तथा अर्थके विषयमें विवाद है—एक उसे स्वामी समन्तभद्रके साथ सम्बन्धित करते हैं तो दूसरे देवनन्दी पूज्यपादके साथ। यह पद्य यदि क्रममें तीसरा हो और तीसरा दूसरेके स्थानपर हो, और ऐसा होना लेखकोंकी कृपासे कुछ भी असम्भव या अस्वाभाविक नहीं है, तो फिर विवादके लिये कोई स्थान नहीं रहता; तब देवागम (आप्तमीमांसा) और रत्नकरण्ड दोनों निर्विवादरूपसे प्रचलित मान्यताके अनुरूप स्वामी समन्तभद्रके साथ सम्बन्धित हो जाते हैं और शेष पद्यका सम्बन्ध देवनन्दी पूज्यपाद और उनके शब्दशास्त्रसे लगाया जा सकता है। चूंकि उक्त पार्श्वनाथचरित-सम्बन्धी प्राचीन प्रतियोंकी खोज अभी तक नहीं हो पाई है, जिससे पद्योंकी क्रमभिन्नताका पता चलता और जिसकी बहुत बड़ी सम्भावना जान पड़ती है, अतः उपलब्ध क्रमको लेकर ही इन पद्योंके प्रतिपाद्य विषय अथवा फलितार्थपर विचार किया जाता है:—

पद्योंके उपलब्ध क्रमपरसे दो बाते फलित होती हैं—एक तो यह कि तीनों पद्य स्वामी समन्तभद्रकी स्तुतिको लिये हुए हैं और उनमें उनकी तीन कृतियोंका उल्लेख है; और दूसरी यह कि तीनों पद्योंमें क्रमशः तीन आचार्यों और उनकी तीन कृतियोंका उल्लेख है। इन दोनोंमेंसे कोई एक बात ही ग्रन्थकारके द्वारा अभिमत और प्रतिपादित हो सकती है—दोनों नहीं। वह एक बात कौनसी हो सकती है, यही यहाँपर विचारणीय है। तीसरे पद्यमें उल्लिखित 'रत्नकरण्डक' यदि वह रत्नकरण्ड या रत्नकरण्ड-श्रावकाचार नहीं है जो स्वामी समन्तभद्रकी कृतिरूपसे प्रसिद्ध और प्रचलित है, बल्कि 'योगीन्द्र' नामके आचार्य-द्वारा रचा हुआ उसी नामका कोई दूसरा ही ग्रन्थ है, तब तो यह कहा जा सकता है कि तीनों पद्योंमें तीन आचार्यों और उनकी तीन कृतियोंका

उल्लेख है—भले ही वह दूसरा रत्नकरण्ड कहींपर उपलब्ध न हो अथवा उसके अस्तित्वको प्रमाणित न किया जा सके। और तब इन पद्योंको लेकर जो विवाद खड़ा किया गया है वही स्थिर नहीं रहता—समाप्त हो जाता है अथवा यों कहिये कि प्रोफेसर साहबकी तीसरी आपत्ति निराधार होकर बेकार हो जाती है। परन्तु प्रो० साहबको दूसरा रत्नकरण्ड इष्ट नहीं है, तभी उन्होंने प्रचलित रत्नकरण्डके ही छठे पद्य 'क्षुत्पिपासा'को आप्तमीमांसाके विरोधमें उपस्थित किया था, जिसका ऊपर परिहार किया जा चुका है। और इसलिये तीसरे पद्यमें उल्लिखित 'रत्नकरण्डक' यदि प्रचलित रत्नकरण्डश्रावकाचार ही है तो तीनों पद्योंको स्वामी समन्तभद्रके साथ ही सम्बन्धित कहना होगा, जबतक कि कोई स्पष्टबाधा इसके विरोधमें उपस्थित न की जाय। इसके सिवाय, दूसरी कोई गति नहीं; क्योंकि प्रचलित रत्नकरण्डको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकृत माननेमें कोई बाधा नहीं है, जो बाधा उपस्थित की गई थी उसका ऊपर दो आपत्तियोंका विचार करते हुए भले प्रकार निरसन किया जा चुका है और यह तीसरी आपत्ति अपने स्वरूपमें ही स्थिर न होकर असिद्ध तथा सन्दिग्ध बनी हुई है। और इसलिये प्रो० साहबके अभिमतको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। जब आदि-अन्तके दोनों पद्य स्वामी समन्तभद्रसे सम्बन्धित हो तब मध्यके पद्यको किसी दूसरेके साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरणके तौरपर कल्पना कीजिये कि रत्नकरण्डके उल्लेख वाले तीसरे पद्यके स्थानपर स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत स्वयम्भूस्तोत्रके उल्लेखको लिये हुए निम्न प्रकारके आशयका कोई पद्य है—

'स्वयम्भूस्तुतिकर्तारं भस्मव्याधि-विनाशनम्।
विराग-द्वेष-वादादिमनेकान्तमतं नुमः॥'

ऐसे पद्यकी मौजूदगीमें क्या द्वितीय पद्यमें उल्लिखित 'देव' शब्दको देवनन्दी पूज्यपादका वाचक कहा जा सकता है? यदि नहीं कहा जा सकता तो रत्नकरण्डके उल्लेखवाले पद्यकी मौजूदगीमें भी उसे देवनन्दी पूज्यपादका वाचक नहीं कहा जा सकता, उस वक्त तक जब तक कि यह सिद्ध न कर दिया जाय कि रत्नकरण्ड स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है। क्योंकि असिद्ध साधनोंके द्वारा कोई भी बात सिद्ध नहीं की जा सकती।

इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, आजसे कोई २३ वर्ष पहले रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनाके साथमें दिये हुए स्वामी समन्तभद्रके विस्तृत परिचय (इतिहास)में जब मैंने 'स्वामिनश्चरितं तस्य' और 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' इन दो पद्योंको पार्श्वनाथचरितसे एक साथ उद्धृत किया था तब मैंने फुटनोट (पादटिप्पणी)में यह बतला दिया था कि इनके मध्यमें 'अचिन्त्यमहिमा देवः' नामका एक तीसरा पद्य मुद्रित प्रतिमें और पाया जाता है जो मेरी रायमें इन दोनों पद्योंके बाद होना चाहिये—तभी वह देवनन्दी आचार्यका वाचक हो सकता है। साथ ही, यह भी प्रकट कर दिया था कि "यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रन्थकी प्राचीन प्रतियोंमें इन दोनों पद्योंके मध्यमें ही पाया जाता है और मध्यका ही पद्य है तो यह कहना पड़ेगा कि वादिराजने समन्तभद्रको अपना हित चाहने वालोंके द्वारा वन्दनीय और अचिन्त्य महिमावाला देव प्रतिपादन किया है। साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रन्थका उल्लेख किया है"। अपनी इस दृष्टि और रायके अनुरूप ही मैं 'अचिन्त्यमहिमा देवः' पद्यको प्रधानतः 'देवागम' और 'रत्नकरण्ड'के उल्लेख वाले पद्योंके उत्तरवर्ती तीसरा पद्य मानता आरहा हूँ और तदनुसार ही उसके 'देव' पदका देवनन्दी अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। अतः इन तीनों पद्योंके क्रमविषयमें मेरी दृष्टि और मान्यताको छोड़कर किसीको भी मेरे उस अर्थका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए जो समाधितन्त्रकी प्रस्तावना तथा सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठमें दिया हुआ है[1]। क्योंकि मुद्रितप्रतिका पद्य-क्रम

[1] प्रो० साहबने अपने मतकी पुष्टिमें उसे पेश करके सचमुच ही उसका दुरुपयोग किया है।

ही ठीक होनेपर मैं उस पद्यके 'देव' पदको समन्तभद्रका ही वाचक मानता हूं और इस तरह तीनों पद्योंको समंतभद्रके स्तुति-विषयक समझता हूँ। अस्तु।

अब देखना यह है कि क्या उक्त तीनों पद्योंको स्वामी समन्तभद्रके साथ सम्बन्धित करने अथवा रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति बतलानेमें कोई दूसरी बाधा आती है ? जहाँ तक मैंने इस विषयपर गम्भीरताके साथ विचार किया है मुझे उसमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। तीनों पद्योंमें क्रमशः तीन विशेषणों स्वामी, देव और योगीन्द्रके द्वारा समन्तभद्रका स्मरण किया गया है। उक्त क्रमसे रक्खे हुए तीनों पद्योंका अर्थ निम्न प्रकार है:—

'उन स्वामी (समन्तभद्र)का चरित्र किसके लिये विस्मयकारक (आश्चर्यजनक) नहीं है जिन्होंने 'देवागम' (आप्तमीमांसा) नामके अपने प्रवचन-द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है। वे अचिन्त्यमहिमा-युक्त देव (समन्तभद्र) अपना हित चाहने वालोंके द्वारा सदा वन्दनीय हैं, जिनके द्वारा (सर्वज्ञ ही नहीं किन्तु) शब्द भी[1] भले प्रकार सिद्ध होते हैं। वे ही योगीन्द्र (समन्तभद्र) सच्चे अर्थोंमें त्यागी (त्यागभावसे युक्त अथवा दाता) हुए हैं जिन्होंने सुखार्थी भव्यसमूहके लिये अक्षयसुखका कारणभूत धर्मरत्नोंका पिटारा—'रत्नकरण्ड' नामका धर्मशास्त्र—दान किया है।'

इस अर्थपरसे स्पष्ट है कि दूसरे तथा तीसरे पद्यमें ऐसी कोई बात नहीं जो स्वामी समन्तभद्रके साथ सङ्गत न बैठती हो। समन्तभद्रके लिये 'देव' विशेषणका प्रयोग कोई अनोखा अथवा उनके पदसे कोई अधिक चीज नहीं है। देवागमकी वसुनन्दि-वृत्ति, पं० आशाधरकी सागारधर्मामृत-टीका, आचार्य जयसेनकी समयसार-टीका, नरेन्द्रसेन आचार्यके सिद्धान्तसार-संग्रह और आप्तमीमांसामूलकी एक वि० संवत् १७४२की प्रतिकी अन्तिम पुष्पिकामें समन्तद्भद्रके साथ 'देव' पदका खुला प्रयोग पाया जाता है, जिन सबके अवतरण पं० दरबारीलालजी कोठियाके लेखमें उद्धृत होचुके हैं[1]। इसके सिवाय, वादिराजके पार्श्वनाथचरितसे ४७ वर्ष पूर्व शक सं० ९०० में लिखे गये चामुण्डरायके त्रिषष्ठिशलाका-महापुराणमें भी 'देव' उपपदके साथ समन्तभद्रका स्मरण किया गया है और उन्हें तत्त्वार्थभाष्यादिका कर्ता लिखा है[2]। ऐसी हालतमें प्रो० साहबका समन्तभद्रके साथ 'देव' पदकी असङ्गतिकी कल्पना करना ठीक नहीं है—वे साहित्यिकोंमें 'देव' विशेषणके साथ भी प्रसिद्धिको प्राप्त रहे हैं।

और अब प्रो० साहबका अपने अन्तिम लेखमें यह लिखना तो कुछ भी अर्थ नहीं रखता कि "जो उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं उन सबमें 'देव' पद समन्तभद्रके साथ-साथ पाया जाता है। ऐसा कोई एक भी उल्लेख नहीं जहाँ केवल 'देव' शब्दसे समन्तभद्रका अभिप्राय प्रकट किया गया हो।" यह वास्तवमें कोई उत्तर नहीं, इसे केवल उत्तरके लिये ही उत्तर कहा जा सकता है; क्योंकि जब कोई विशेषण किसीके साथ जुड़ा होता है तभी तो वह किसी प्रसङ्गपर संकेतादिके रूपमें अलगसे भी कहा जा सकता है, जो विशेषण कभी साथमें जुड़ा ही न हो वह न तो अलगसे कहा जा सकता है और न उसका वाचक ही हो सकता है। प्रो० साहब ऐसा कोई भी उल्लेख प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे जिसमें समन्तभद्रके साथ 'स्वामी' पद जुड़नेसे पहले उन्हें केवल 'स्वामी' पदके द्वारा उल्लेखित किया गया हो। अतः मूल बात समन्तभद्रके साथ 'देव' विशेषणका पाया जाना है, जिसके उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं और जिनके आधारपर द्वितीय पद्यमें प्रयुक्त हुए 'देव' विशेषण अथवा उपपदको समन्तभद्रके साथ सङ्गत कहा जा सकता है। प्रो० साहब वादिराजके इसी उल्लेखको वैसा एक उल्लेख समझ सकते हैं जिसमें 'देव' शब्दसे समन्तभद्रका अभिप्राय प्रकट किया गया है; क्योंकि वादिराजके सामने अनेक प्राचीन उल्लेखोंके

[1] मूलमें प्रयुक्त हुए 'च' शब्दका अर्थ।

[1] अनेकान्त वर्ष ८ कि० १०-११, पृ० ४१०-११

[2] अनेकान्त वर्ष ६ कि० १ पृ० ३३

रूपमें समन्तभद्रको भी 'देव' पदके द्वारा उल्लेखित करनेके कारण मौजूद थे। इसके सिवाय, प्रो० साहब ने श्लेषार्थको लिये हुए जो एक पद्य 'देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या' इत्यादि उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है उसका अर्थ जब स्वामी समन्तभद्र-परक किया जाता तब 'देव' पद स्वामी समन्तभद्रका, अकलङ्क-परक अर्थ करनेसे अकलङ्कका और विद्यानन्द-परक अर्थ करनेसे विद्यानन्दका ही वाचक होता है। इससे समन्तभद्र नाम साथमें न रहते हुए भी समन्तभद्रके लिये 'देव' पदका अलगसे प्रयोग अघटित नहीं है, यह प्रो० साहब-द्वारा प्रस्तुत किये गये पद्यसे भी जाना जाता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि वादिराज 'देव' शब्दको एकान्ततः 'देवनन्दी'का वाचक समझते थे और वैसा समझनेके कारण ही उन्होंने उक्त पद्यमें देवनन्दीके लिये उसका प्रयोग किया है; क्योंकि वादिराजने अपने न्याय-विनिश्चय-विवरणमें अकलङ्कके लिये 'देव' पदका बहुत प्रयोग किया है[1], इतना ही नहीं बल्कि पार्श्वनाथचरितमें भी वे 'तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलङ्कधीः' इस वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'देव' पदके द्वारा अकलङ्कका उल्लेख कर रहे हैं। और जब अकलङ्कके लिये वे 'देव' पदका उल्लेख कर रहे हैं तब अकलङ्कसे भी बड़े और उनके भी पूज्यगुरु समन्तभद्रके लिये 'देव' पदका प्रयोग करना कुछ भी अस्वाभाविक अथवा अनहोनी बात नहीं है। इसके सिवाय, उन्होंने न्यायविनिश्चय-विवरणके अन्तिम भागमें पूज्यपादका देवनन्दी नामसे उल्लेख न करके पूज्यपाद नामसे ही उल्लेख किया है[1], जिससे मालूम होता कि यही नाम उनको अधिक इष्ट था।

ऐसी स्थितिमें यदि वादिराजका अपने द्वितीय पद्यसे देवनन्दि-विषयक अभिप्राय होता तो वे या तो पूरा देवनन्दी नाम देते या उनके 'जैनेन्द्र' व्याकरण-का साथमें स्पष्ट नामोल्लेख करते अथवा इस पद्यको रत्नकरण्डके उल्लेख वाले पद्यके बादमें रखते, जिससे समन्तभद्रका स्मरण-विषयक प्रकरण समाप्त होकर दूसरे प्रकरणका प्रारम्भ समझा जाता। जब ऐसा कुछ भी नहीं है तब यही कहना ठीक होगा कि इस पद्यमें 'देव' विशेषणके द्वारा समन्तभद्रका ही उल्लेख किया गया है। उनका अचिन्त्यमहिमासे युक्त होना और उनके द्वारा शब्दोंका सिद्ध होना भी कोई असङ्गत नहीं है। वे पूज्यपादसे भी अधिक महान थे, अकलङ्क और विद्यानन्दादिक बड़े-बड़े आचार्योंने उनकी महानताका खुला गान किया है, उन्हें सर्व-पदार्थतत्त्वविषयक स्याद्वाद-तीर्थको कलिकालमें भी प्रभावित करने वाला, वीरशासनकी हजारगुणी वृद्धि करने वाला, और 'जैनशासनका प्रणेता' तक लिखा है। उनके असाधारण गुणोंके कीर्तनों और महिमाओंके वर्णनोंसे जैनसाहित्य भरा हुआ है, जिसका कुछ परिचय पाठक 'सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ'में दिये हुए समन्तभद्रके स्मरणोंपरसे सहज ही में प्राप्त कर सकते हैं। समन्तभद्रके एक परिचय-पद्यसे मालूम होता है कि वे 'सिद्धसारस्वत'[2] थे—सरस्वती उन्हें सिद्ध थी; वादीभसिंह-जैसे आचार्य उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि' बतलाते हैं और एक दूसरे ग्रन्थकार समन्तभद्र-द्वारा रचे हुए ग्रन्थ-समूहरूपी निर्मलकमल-सरोवरमें, जो भावरूप हंसोंसे परिपूर्ण है, सरस्वतीको क्रीडा करती हुई उल्लेखित करते हैं[3]। इससे समन्तभद्रके द्वारा शब्दों-

१ जैसा कि नीचे के कुछ उदाहरणोंसे प्रकट है:—
"देवस्तार्किकचक्रचूडामणिर्भूयात्स वः श्रेयसे"। पृ० ३
"भूयो भेदनयावगाहगहन देवस्य यद्वाङ्मयम्"।
"तथा च देवस्यान्यत्र वचन-"व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वत एव नः"। प्रस्ताव १
"देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः"। प्रस्ताव २

१ "विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दयापालं सन्मतिसागरं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा"।
२ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-४ पृ० २६
३ सत्साधुस्मरणमंगलपाठ, पृ० ३४, ४६

का सिद्ध होना कोई अनोखी बात नहीं कही जा सकती। उनका 'जिनशतक' उनके अपूर्व व्याकरण-पाण्डित्य और शब्दोंके एकाधिपत्यको सूचित करता है। पूज्यपादने तो अपने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' यह सूत्र रखकर समन्तभद्र-द्वारा होने वाली शब्दसिद्धिको स्पष्ट सूचित भी किया है, जिस परसे उनके व्याकरण-शास्त्रकी भी सूचना मिलती है। और श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने अपने गद्यकथाकोशमें उन्हें तर्कशास्त्रकी तरह व्याकरण-शास्त्रका भी व्याख्याता (निर्माता)[1] लिखा है[2]। इतनेपर भी प्रो० साहबका अपने पिछले लेखमें यह लिखना कि "उनका बनाया हुआ न तो कोई शब्दशास्त्र उपलब्ध है और न उसके कोई प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख पाये जाते हैं" व्यर्थ की खींचतानके सिवाय और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि आज कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तो उसका यह आशय तो नहीं लिया जा सकता कि वह कभी था ही नहीं। वादिराजके ही द्वारा पार्श्वनाथ-चरितमें उल्लिखित 'सन्मतिसूत्र'की वह विवृति और विशेषवादीकी वह कृति आज कहाँ मिल रही है? यदि उनके न मिलने मात्रसे वादिराजके उल्लेख-विषयमें अन्यथा कल्पना नहीं की जा सकती तो फिर समन्तभद्रके शब्दशास्त्रके उपलब्ध न होने मात्रसे ही वैसी कल्पना क्यों की जाती है? उसमें कुछ भी औचित्य मालूम नहीं होता। अतः वादिराजके उक्त द्वितीय पद्य नं० १८का यथावस्थित क्रमकी दृष्टिसे समन्तभद्र-विषयक अर्थ लेनेमें किसी भी बाधाके लिये कोई स्थान नहीं है।

रही तीसरे पद्यकी बात, उसमें 'योगीन्द्रः' पदको लेकर जो वाद-विवाद अथवा झमेला खड़ा किया गया है उसमें कुछ भी सार नहीं है। कोई भी बुद्धिमान ऐसा नहीं हो सकता जो समन्तभद्रको योगी अथवा योगीन्द्र माननेके लिये तय्यार न हो, खासकर उस हालतमें जब कि वे धर्माचार्य थे—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यरूप पञ्च आचारोंका स्वयं आचरण करनेवाले और दूसरोंको आचरण कराने वाले दीक्षागुरुके रूपमें थे-, 'पदर्द्धिक' थे तपके बलपर चारणऋद्धिको प्राप्त थे—और उन्होंने अपने मंत्रमय वचनबलसे शिवपिण्डीमें चन्द्रप्रभकी प्रतिमाको बुला लिया था ('स्वमन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभः')। योग-साधना जैन मुनिका पहला कार्य होता है और इस लिये जैन मुनिको 'योगी' कहना एक सामान्य-सी बात है, फिर धर्माचार्य अथवा दीक्षागुरु मुनीन्द्रका तो योगी अथवा योगीन्द्र होना और भी अवश्य-भावी तथा अनिवार्य हो जाता है। इसीसे जिस वीरशासनके स्वामी समन्तभद्र अनन्य उपासक थे उसका स्वरूप बतलाते हुए, युक्त्यनुशासन (का०६)में उन्होंने दया, दम और त्यागके साथ समाधि (योग-साधना)को भी उसका प्रधान अङ्ग बतलाया है। तब यह कैसे हो सकता है कि वीरशासनके अनन्य-उपासक भी योग-साधना न करते हों और इसलिये योगी न कहे जाते हों?

सबसे पहले सुहृद्वर प० नाथूरामजी प्रेमीने इस योगीन्द्र विषयक चर्चाको 'क्या रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं?' इस शीर्षकके अपने लेखमें उठाया था और यहाँ तक लिख दिया था कि "योगीन्द्र-जैसा विशेषण तो उन्हें (समन्तभद्रको) कहीं भी नहीं दिया गया[1]।" इसके उत्तरमें जब मैंने 'स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनों थे' इस शीर्षकका लेख[2] लिखा और उसमें अनेक प्रमाणोंके आधारपर यह स्पष्ट किया गया कि समन्तभद्र योगीन्द्र थे तथा 'योगी' और 'योगीन्द्र' विशेषणोंका उनके नामके साथ स्पष्ट उल्लेख भी बतलाया गया तब प्रेमीजी तो उस विषयमें मौन हो रहे, परन्तु प्रो० साहबने इस चर्चाको यह लिखकर लम्बा किया कि—

१ अनेकान्त वर्ष ८ किरण १०-११ पृ० ४१६

२ 'जैनग्रन्थावली'में रॉयल एशयाटिक सोसाइटीकी रिपोर्टके आधारपर समन्तभद्रके एक प्राकृत व्याकरणका नामोल्लेख है और उसे १२०० श्लोकपरिमाण सूचित किया है।

१ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-४, पृ० २६, ३०

२ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६, पृ० ४२-४८

"मुख्तार साहब तथा न्यायाचार्यजीने जिस आधारपर 'योगीन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्र-कृत स्वीकार कर लिया है वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिये प्रमाण दिये हैं उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानोंमेंसे किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्रका कथाकोष स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना कि प्रभाचन्द्रकृत कथाकोषमें समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' शब्द आया है। केवल प्रेमीजीने कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि "दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है"। उसीके आधारपर आज उक्त दोनों विद्वानोंको "यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्य-कथाकोषमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है।"

इसपर प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोषको मँगाकर देखा गया और उसपरसे समन्तभद्रका 'योगी' तथा 'योगीन्द्र' बतलाने वाले जब डेढ दर्जनके करीब प्रमाण न्यायाचार्यजीने अपने अन्तिम लेख[1]में उद्धृत किये तब उसके उत्तरमें प्रो० साहब अब अपने पिछले लेखमें यह कहने बैठे हैं, जिसे वे नेमिदत्त-कथाकोषके अनुकूल पहले भी कह सकते थे, कि "कथानकमें समन्तभद्रको केवल उनके कपट-वेषमें ही योगी या योगीन्द्र कहा है, उनके जैनवेषमें कहीं भी उक्त शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता"। यह उत्तर भी वास्तवमें कोई उत्तर नहीं है। इसे भी केवल उत्तरके लिये ही उत्तर कहा जा सकता है। क्योंकि समन्तभद्रके योग-चमत्कारको देखकर जब शिवकोटिराजा, उनके भाई शिवायन और प्रजाके बहुतसे जन जैनधर्ममें दीक्षित होगये तब योगरूपमें समन्तभद्रकी ख्याति तो और भी बढ़ गई होगी और वे आम तौरपर योगिराज कहलाने लगे होंगे, इसे हर कोई समझ सकता है; क्योंकि वह योगचमत्कार समन्तभद्रके साथ सम्बद्ध था न कि उनके पाण्डुराङ्ग-तपस्वीवाले वेषके साथ। ऐसा भी नहीं कि पाण्डु-राङ्गतपस्वीके वेषवाले ही 'योगी' कहे जाते हों जैनवेषवाले मुनियोंको योगी न कहा जाता हो। यदि ऐसा होता तो रत्नकरण्डके कर्ताको भी 'योगीन्द्र' विशेषणसे उल्लेखित न किया जाता। वास्तवमें 'योगी' एक सामान्य शब्द है जो ऋषि, मुनि, यति, तपस्वी आदिकका वाचक है; जैसा कि धनञ्जय-नाममालाके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुस्तापसः संयतो व्रती।
तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च पातु वः ॥३॥

जैनसाहित्यमें योगीकी अपेक्षा यति-मुनि-तपस्वी जैसे शब्दोंका प्रयोग अधिक पाया जाता है, जो उसके पर्याय नाम हैं। रत्नकरण्डमें भी यति, मुनि और तपस्वी शब्द योगीके लिये व्यवहृत हुए हैं। तपस्वीको आप्त तथा आगमकी तरह सम्यग्दर्शनका विषयभूत पदार्थ बतलाते हुए उसका जो स्वरूप एक पद्य[1]में दिया है वह खासतौरसे ध्यान देने योग्य है। उसमें लिखा है कि—'जो इन्द्रिय-विषयों तथा इच्छाओंके वशीभूत नहीं है, आरम्भों तथा परिग्रहों-से रहित है और ज्ञान, ध्यान एवं तपश्चरणोंमें लीन रहता है वह तपस्वी प्रशंसनीय है।' इस लक्षणसे भिन्न योगीके और कोई सींग नहीं होते। एक स्थानपर सामायिकमें स्थित गृहस्थको 'चेलोपसृष्ट-मुनि'की तरह यतिभावको प्राप्त हुआ लिखा है[2]।' चेलोपसृष्टमुनिका अभिप्राय उस नग्न दिगम्बर जैन योगीसे है जो मौन-पूर्वक योग-साधना करता हुआ ध्यानमग्न हो और उस समय किसीने उसको वस्त्र ओढ़ा दिया हो, जिसे वह अपने लिये उपसर्ग समझता है। सामायिकमें स्थित वस्त्रसहित गृहस्थको उस मुनिकी उपमा देते हुए उसे जो यतिभाव-योगीके भावको प्राप्त हुआ लिखा है और अगले पद्यमें उसे "अचलयोग" भी बतलाया है उससे स्पष्ट जाना

१ अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०-११ पृ० ४२०-२१

१ विषयाऽऽशा-वशाऽतीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

२ सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२॥

जाता है कि रत्नकरण्डमें भी योगीके लिये 'यति' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसके सिवाय, अकलङ्कदेवने अष्टशती (देवागम-भाष्य)के मङ्गल-पद्यमें आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रको 'यति' लिखा है[1] जो सन्मार्गमें यत्नशील अथवा मन-वचन-कायके नियन्त्रणरूप योगकी साधनामें तत्पर योगीका वाचक है, और श्रीविद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्रीमें उन्हें 'यतिभृत्' और 'यतीश' तक लिखा है[2], जो दोनों ही 'योगिराज' अथवा 'योगीन्द्र' अर्थके द्योतक हैं, और 'यतीश'के साथ 'प्रथिततर' विशेषण लगाकर तो यह भी सूचित किया गया है कि वे एक बहुत बड़े प्रसिद्ध योगिराज थे। ऐसे ही उल्लेखोंको दृष्टिमें रखकर वादिराजने उक्त पद्यमें 'समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणका प्रयोग किया जान पड़ता है। और इसलिये यह कहना कि 'समन्तभद्र योगी नहीं थे अथवा योगीरूपसे उनका कहीं उल्लेख नहीं' किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। रत्नकरण्डकी अब तक ऐसी कोई प्राचीन प्रति भी प्रो० साहबकी तरफसे उपस्थित नहीं की गई जिसमें ग्रन्थकर्ता 'योगीन्द्र' नामका कोई विद्वान् लिखा हो अथवा स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न दूसरा कोई समन्तभद्र उसका कर्ता है ऐसी स्पष्ट सूचना साथमें की गई हो।

समन्तभद्र नामके दूसरे छह विद्वानोंकी खोज करके मैंने उसे रत्नकरण्डश्रावकाचारकी अपनी प्रस्तावनामें आजसे कोई २३ वर्ष पहले प्रकट किया था—उसके बादसे और किसी समन्तभद्रका अब तक कोई पता नहीं चला। उनमेंसे एक 'लघु', दूसरे 'चिक्क', तीसरे 'गेरुसोप्पे', चौथे 'अभिनव', पाँचवें 'भट्टारक', छठे 'गृहस्थ' विशेषणसे विशिष्ट पाये जाते हैं। उनमेंसे कोई भी अपने समयादिककी दृष्टिसे 'रत्नकरण्ड'का कर्ता नहीं हो सकता[3]। और इस लिये जबतक जैनसाहित्यपरसे किसी ऐसे दूसरे समन्तभद्रका पता न बतलाया जाय जो इस रत्नकरण्डका कर्ता हो सके तब तक 'रत्नकरण्ड'के कर्ताके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणके प्रयोग-मात्रसे उसे कोरी कल्पनाके आधारपर स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रकी कृति नहीं कहा जा सकता।

ऐसी वस्तुस्थितिमें वादिराजके उक्त दोनों पद्योंको प्रथम पद्यके साथ स्वामिसमन्तभद्र-विषयक समझने और बतलानेमें कोई भी बाधा प्रतीत नहीं होती[1]। प्रत्युत इसके, वादिराजके प्रायः समकालीन विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्रका अपनी टीकामें 'रत्नकरण्ड' उपासकाध्ययनको साफ तौरपर स्वामी समन्तभद्रकी कृति घोषित करना उसे पुष्ट करता है। उन्होंने अपनी टीकाके केवल संधि-वाक्योंमें ही 'समन्तभद्रस्वामि-विरचित' जैसे विशेषणों-द्वारा वैसी घोषणा नहीं की बल्कि टीकाकी आदिमें निम्न प्रस्तावना-वाक्य-द्वारा भी उसकी स्पष्ट सूचना की है—

"श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।"

हाँ, यहाँपर एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि प्रो० साहबने अपने 'विलुप्त अध्याय' में यह लिखा था कि "दिगम्बरजैन साहित्यमें जो आचार्य स्वामीकी उपाधिसे विशेषतः विभूषित किये गये हैं वे आप्तमीमांसाके कर्ता समन्तभद्र ही हैं।" और आगे श्रवणबेल्गोलके एक शिलालेखमें भद्रबाहु द्वितीयके साथ 'स्वामी' पद जुड़ा हुआ देखकर यह बतलाते हुए कि "भद्रबाहुकी उपाधि स्वामी थी जो कि साहित्यमें प्रायः एकान्ततः समन्तभद्रके लिये ही प्रयुक्त हुई है," समन्तभद्र और भद्रबाहु

१ "येनाचार्यसमन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः संततम्।"

२ "स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद्-भूयाद्विभुर्भानुमान्।"
"स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः।"

३ माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचार प्रस्तावना पृ० ५से ६।

१ सन् १९१२में तंजोरसे प्रकाशित होनेवाले वादिराजके 'यशोधर-चरित'की प्रस्तावनामें, टी. ए. गोपीनाथराव एम. ए. ने भी इन तीनों पद्योंको इसी क्रमके साथ समन्तभद्रविषयक सूचित किया है।

द्वितीयको "एक ही व्यक्ति" प्रतिपादन किया था। इसपरसे कोई भी यह फलित कर सकता है कि जिन समन्तभद्रके साथ 'स्वामी' पद लगा हुआ हो उन्हे प्रो० साहबके मतानुसार आप्तमीमांसा कर्ता समझना चाहिये। तदनुसार ही प्रो० साहबके सामने रत्नकरण्डकी टीकाका उक्त प्रमाण यह प्रदर्शित करनेके लिये रक्खा गया कि जब प्रभाचन्द्राचार्य भी रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकृत लिख रहे हैं और प्रो० साहब 'स्वामी' पदका असाधारण सम्बन्ध आप्तमीमांसाकारके साथ जोड़ रहे हैं तब वे उसे आप्तमीमांसाकारसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रकी कृति कैसे बतलाते हैं? इसके उत्तरमें प्रो० साहबने लिखा है कि "प्रभाचन्द्रका उल्लेख केवल इतना ही तो है कि रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं उन्होंने यह तो प्रकट किया ही नहीं कि ये ही रत्नकरण्डके कर्ता आप्तमीमांसाके भी रचयिता हैं[१]।" परन्तु साथमें लगा हुआ 'स्वामी' पद तो उन्हींके मन्तव्यानुसार उसे प्रकट कर रहा है यह देखकर उन्होंने यह भी कह दिया है कि 'रत्नकरण्डके कर्ता समन्तभद्रके साथ 'स्वामी' पद बादको जुड़ गया है—चाहे उसका कारण भ्रांति हो या जानबूझकर ऐसा किया गया हो।' परन्तु अपने प्रयोजनके लिये इस कह देने मात्रसे कोई काम नहीं चल सकता जब तक कि उसका कोई प्राचीन आधार व्यक्त न किया जाय—कमसे कम प्रभाचन्द्राचार्यसे पहलेकी लिखी हुई रत्नकरण्डकी कोई ऐसी प्राचीन मूलप्रति पेश होनी चाहिये थी जिसमें समन्तभद्रके साथ स्वामी पद लगा हुआ न हो। लेकिन प्रो० साहबने पहलेकी ऐसी कोई भी प्रति पेश नहीं की तब वे बादको भ्रान्ति आदिके वश स्वामी पदके जुड़नेकी बात कैसे कह सकते हैं? नहीं कह सकते, उसी तरह जिस तरह कि मेरे द्वारा सन्दिग्ध करार दिये हुए रत्नकरण्डके सात पद्योंको प्रभाचन्द्रीय टीकासे पहलेकी ऐसी प्राचीन प्रतियोंके न मिलनेके कारण प्रक्षिप्त नहीं कह सकते[१] जिनमें वे पद्य सम्मिलित न हों।

इस तरह प्रो० साहबकी तीसरी आपत्तिमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता। युक्तिके पूर्णतः सिद्ध न होनेके कारण वह रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एककर्तृत्वमें बाधक नहीं हो सकती, और इसलिये उसे भी समुचित नहीं कहा जा सकता।

(४) अब रही चौथी आपत्तिकी बात; जिसे प्रो० साहबने रत्नकरण्डके निम्न उपान्त्य पद्यपरसे कल्पित करके रक्खा है—

येन स्वयं वीतकलङ्क-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावं।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥

इस पद्यमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए यह बतलाया गया है कि 'जिस (भव्यजीव)ने आत्माको निर्दोष विद्या, निर्दोष दृष्टि और निर्दोष क्रियारूप रत्नोंके पिटारेके भावमें परिणत किया है—अपने आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मका आविर्भाव किया है—उसे तीनों लोकोंमें सर्वार्थसिद्धि—धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप सभी प्रयोजनोंकी सिद्धि—स्वयंवरा कन्याकी तरह स्वयं प्राप्त होजाती है, अर्थात् उक्त सर्वार्थसिद्धि उसे स्वेच्छासे अपना पति बनाती है, जिससे वह चारों पुरुषार्थोंका स्वामी होता है और उसका कोई भी प्रयोजन सिद्ध हुए बिना नहीं रहता।'

इस अर्थको स्वीकार करते हुए प्रो० साहबका जो कुछ विशेष कहना है वह यह है—

"यहाँ टीकाकार प्रभाचन्द्रके द्वारा बतलाये गये वाच्यार्थके अतिरिक्त श्लेषरूपसे यह अर्थ भी मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि "जिसने अपनेको अकलङ्क और विद्यानन्दके द्वारा प्रतिपादित निर्मल ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्नोंकी पिटारी बना लिया है उसे तीनों स्थलोंपर सर्व अर्थोंकी सिद्धिरूप सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है, जैसे इच्छामात्रसे पतिको अपनी पत्नी।" यहाँ निःसन्देहतः रत्नकरण्डकारने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई तीनों टीकाओंका उल्लेख

१ अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३, पृ० १२६।

१ अनेकान्त वर्ष ६, किरण १ पृ० १२पर प्रकाशित प्रो० साहबका उत्तर पत्र।

किया है। सर्वार्थसिद्धि कहीं शब्दशः और कहीं अर्थतः अकलङ्ककृत राजवार्तिक एवं विद्यानन्दिकृत श्लोकवार्तिकमें प्रायः पूरी ही ग्रथित है। अतः जिसने अकलङ्ककृत और विद्यानन्दिकी रचनाओंको हृदयङ्गम कर लिया उसे सर्वार्थसिद्धि स्वयं आजाती है। रत्नकरण्डके इस उल्लेखपरसे निर्विवादतः सिद्ध होजाता है कि यह रचना न केवल पूज्यपादसे पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्दिसे भी पीछेकी है[1]।" ऐसी हालतमें "रत्नकरण्डकारका आप्तमीमांसा के कर्तासे एकत्व सिद्ध नहीं होता[2]।"

यहाँ प्रो० साहब-द्वारा कल्पित इस श्लेषार्थके सुघटित होनेमें दो प्रबल बाधाएं हैं—एक तो यह कि जब 'वीतकलंक' से अकलंकका और विद्यासे विद्यानन्दका अर्थ लेलिया गया तब 'दृष्टि' और 'क्रिया' दो ही रत्न शेष रह जाते हैं और वे भी अपने निर्मल-निर्दोष अथवा सम्यक् जैसे मौलिक विशेषणोंसे शून्य। ऐसी हालतमें श्लेषार्थके साथ जो "निर्मल ज्ञान" अर्थ भी जोड़ा गया है वह नहीं बन सकता और उसके न जोड़नेपर वह श्लेषार्थ ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ असङ्गत हो जायगा; क्योंकि ग्रन्थभरमें तृतीय पद्यसे प्रारम्भ करके इस पद्यके पूर्व तक सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नोंका ही धर्मरूपसे वर्णन है, जिस का उपसंहार करते हुए ही इस उपान्त्य पद्यमें उनको अपनानेवालेके लिये सर्व अर्थकी सिद्धिरूप फलकी व्यवस्था की गई है। इसकी तरफ किसीका भी ध्यान नहीं गया। दूसरी बाधा यह है कि 'त्रिषु विष्टपेषु' पदोंका अर्थ जो "तीनों स्थलोंपर" किया गया है वह सङ्गत नहीं बैठता; क्योंकि अकलंकदेवका राजवार्तिक और विद्यानन्दका श्लोकवार्तिक ग्रन्थ ये दो ही स्थल ऐसे हैं जहाँपर पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति) शब्दशः तथा अर्थतः पाई जाती है, तीसरे स्थलकी बात मूलके किसी भी शब्दपरसे उसका आशय व्यक्त न करनेके कारण नहीं बनती। यह बाधा जब प्रो० साहबके सामने उपस्थित की गई और पूछा गया कि 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ जो 'तीनों स्थलोंपर' किया गया है वे तीन स्थल कौनसे हैं जहाँपर सर्व अर्थकी सिद्धिरूप 'सर्वार्थसिद्धि' स्वयं प्राप्त होजाती है? तब प्रोफेसर साहब उत्तर देते हुए लिखते हैं—

"मेरा खयाल था कि वहाँ तो किसी नई कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलोंकी सङ्गति सुस्पष्ट है जो टीकाकारने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र; क्योंकि वे तत्त्वार्थसूत्रके विषय होनेसे सर्वार्थसिद्धिमें तथा अकलङ्कदेव और विद्यानन्दिकी टीकाओंमें विवेचित हैं और उनका ही प्ररूपण रत्नकरण्डकारने किया है[1]।"

यह उत्तर कुछ भी सङ्गत मालूम नहीं होता; क्योंकि टीकाकार प्रभाचन्द्रने 'त्रिषु विष्टपेषु' का स्पष्ट अर्थ 'त्रिभुवनेषु' पदके द्वारा 'तीनों लोकमें' दिया है। उसके स्वीकारकी घोषणा करते हुए और यह आश्वासन देते हुए भी कि उस विषयमें टीकाकारसे भिन्न "किसी नई कल्पनाकी आवश्यकता नहीं" टीकाकारका अर्थ न देकर 'अर्थात्' शब्दके साथ उसके अर्थकी निजी नई कल्पनाको लिये हुए अभिव्यक्ति करना और इस तरह 'त्रिभुवनेषु' पदका अर्थ "दर्शन, ज्ञान और चारित्र" बतलाना अर्थका अनर्थ करना अथवा खींचतानकी पराकाष्ठा है। इससे उत्तरकी सङ्गति और भी बिगड़ जाती है; क्योंकि तब यह कहना नहीं बनता कि सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओंमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र विवेचित है—प्रतिपादित है, बल्कि यह कहना होगा कि दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाएँ विवेचित हैं—प्रतिपादित हैं, जो कि एक बिल्कुल ही उल्टी बात होगी। और इस तरह आधार-आधेय सम्बन्धादिकी सारी स्थिति बिगड़ जायगी; और तब श्लेषरूपसे यह भी फलित नहीं किया जा सकेगा कि अकलङ्क और विद्यानन्दकी टीकाएँ ऐसे कोई स्थल या स्थानविशेष हैं जहाँपर पूज्यपादकी टीका सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त होजाती है।

१ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६ पृ० ५३
२ अनेकान्त वर्ष ८ किरण ३ पृ० १३२

१ अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३ पृ० १३०

इन दोनों बाधाओंके सिवाय श्लेषकी यह कल्पना अप्रासङ्गिक भी जान पड़ती है, क्योंकि रत्नकरण्डके साथ उसका कोई मेल नहीं मिलता, रत्नकरण्ड तत्त्वार्थसूत्रकी कोई टीका भी नहीं जिसमें किसी तरह खींचतान कर उसके साथ कुछ मेल बिठलाया जाता, वह तो आगमकी ख्यातिको प्राप्त एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ है, जिसे पूज्यपादादिकी उक्त टीकाओंका कोई आधार प्राप्त नहीं है और न हो सकता है। और इसलिये उसके साथ उक्त श्लेषका आयोजन एक प्रकारका असम्बद्ध प्रलाप ठहरता है अथवा यों कहिये कि 'विवाह तो किसीका और गीत किसीके' इस उक्तिको चरितार्थ करना है। यदि बिना सम्बन्धविशेषके केवल शब्दछलको लेकर ही श्लेषकी कल्पना अपने किसी प्रयोजनके वश की जाय और उसे उचित समझा जाय तब तो बहुत कुछ अनर्थोंके सङ्घटित होनेकी सम्भावना है। उदाहरणके लिये स्वामिसमन्तभद्र-प्रणीत 'जिनशतक'के उपान्त्य पद्य (नं० ११५)में भी 'प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा' इस वाक्यके अन्तर्गत 'सर्वार्थसिद्धि' पदका प्रयोग पाया जाता है और ६१वें पद्यमें तो 'प्राप्य सर्वार्थसिद्धिं गां' इस वाक्यके साथ उसका रूप और स्पष्ट होजाता है, उसके साथ वाले 'गां' पदका अर्थ वाणी लगा लेनेमें वह वचनात्मिका 'सर्वार्थसिद्धि' होजाती है। इस 'सर्वार्थसिद्धि'का वाच्यार्थ यदि उक्त श्लेषार्थकी तरह पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि लगाया जायगा तो स्वामी समन्तभद्रको भी पूज्यपादके बादका विद्वान कहना होगा और तब पूज्यपादके 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस व्याकरणसूत्रमें उल्लिखित समन्तभद्र चिन्ताके विषय बन जायेंगे तथा और भी शिलालेखों, प्रशस्तियों तथा पट्टावलियों आदिकी कितनी ही गड़बड़ उपस्थित हो जायगी। अतः सम्बन्धविशेषको निर्धारित किये बिना केवल शब्दोंके समानार्थको लेकर ही श्लेषार्थकी कल्पना व्यर्थ है।

इस तरह जब श्लेषार्थ ही सुघटित न होकर बाधित ठहरता है तब उसके आधारपर यह कहना कि "रत्नकरण्डके इस उल्लेखपरसे निर्विवादतः सिद्ध होजाता है कि वह रचना न केवल पूज्यपादसे पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्दिसे भी पीछेकी है" कोरी कल्पनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है। उसे किसी तरह भी युक्तिसङ्गत नहीं कहा जा सकता—रत्नकरण्डके 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' पद्यका न्यायावतारमें पाया जाना भी इसमें बाधक है। वह केवल उत्तरके लिये किया गया प्रयासमात्र है और इसीसे उसको प्रस्तुत करते हुए प्रो० साहबको अपने पूर्व कथनके विरोधका भी कुछ खयाल नहीं रहा; जैसा कि मैं इससे पहले द्वितीयादि आपत्तियोंके विचारकी भूमिकामें प्रकट कर चुका हूँ।

यहाँपर एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि प्रो० साहब श्लेषकी कल्पनाके बिना उक्त पद्यकी रचनाको अटपटी और अस्वाभाविक समझते हैं, परन्तु पद्यका जो अर्थ ऊपर दिया गया है और जो आचार्य प्रभाचन्द्र-सम्मत है उससे पद्यकी रचनामें कहीं भी कुछ अटपटापन या अस्वाभाविकता का दर्शन नहीं होता है। वह बिना किसी श्लेषकल्पनाके ग्रन्थके पूर्व कथनके साथ भले प्रकार सम्बद्ध होता हुआ ठीक उसके उपसंहाररूपमें स्थित है। उसमें प्रयुक्त हुए विद्या, दृष्टि जैसे शब्द पहले भी ग्रन्थमें ज्ञान-दर्शन जैसे अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं, उनके अर्थमें प्रो० साहबको कोई विवाद भी नहीं है। हाँ, 'विद्या' से श्लेषरूपमें 'विद्यानन्द' अर्थ लेना यह उनकी निजी कल्पना है, जिसके समर्थनमें कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया, केवल नामका एक देश कहकर उसे मान्य कर लिया है[1]। तब प्रो० साहबकी दृष्टिमें

१ जहाँतक मुझे मालूम है संस्कृत साहित्यमें श्लेषरूपमें नामका एकदेश ग्रहण करते हुए पुरुषके लिये उसका पुल्लिंग अंश और स्त्रीके लिये स्त्रीलिंग अंश ग्रहण किया जाता है, जैसे 'सत्यभामा' नामका स्त्रीके लिये 'भामा' अंशका प्रयोग होता है न कि 'सत्य' अंशका। इसी तरह 'विद्यानन्द' नामका 'विद्या' अंश, जो कि स्त्रीलिंग है, पुरुषके लिये व्यवहृत नहीं होता। चुनाँचे प्रो० साहबने श्लेषके उदाहरणरूपमें जो 'देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य

पद्यकी रचनाका अटपटापन या अस्वाभाविकपन एकमात्र 'वीतकलङ्क' शब्दके साथ केन्द्रित जान पड़ता है, उसे ही सीधे वाच्य-वाचक-सम्बन्धका बाधक न समझकर आपने उदाहरणमें प्रस्तुत किया है। परन्तु सम्यक् शब्दके लिये अथवा उसके स्थान-पर 'वीतकलङ्क' शब्दका प्रयोग छन्द तथा स्पष्टार्थकी दृष्टिसे कुछ भी अटपटा, असङ्गत या अस्वाभाविक नहीं है; क्योंकि 'कलङ्क'का सुप्रसिद्ध अर्थ 'दोष' है[1] और उसके साथमें 'वीत' विशेषणविगत, मुक्त त्यक्त, विनष्ट अथवा रहित जैसे अर्थका वाचक है, जिसका प्रयोग समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंमें भी ऐसे स्थलोंपर पाया जाता है जहाँ श्लेषार्थका कोई काम नहीं; जैसे आप्तमीमांसाके 'वीतरागः' तथा 'वीतमोहतः' पदोंमें, स्वयम्भूस्तोत्रके 'वीतघनः' तथा 'वीतरागे' पदोंमें, युक्त्यनुशासनके 'वीतविकल्पधीः' और जिनशतकके 'वीतचेताविकाराभिः' पदमें। जिसमेंसे दोष या कलङ्क निकल गया अथवा जो उससे मुक्त है उसे वीतदोष, निर्दोष, निष्कलङ्क, अकलङ्क तथा वीतकलङ्क जैसे नामोंसे अभिहित किया जाता है, जो सब एक ही अर्थके वाचक पर्याय नाम हैं। वास्तवमें जो निर्दोष है वही सम्यक् (यथार्थ) कहे जानेके योग्य है—दोषोंसे युक्त अथवा पूर्णको सम्यक् नहीं कह सकते। रत्नकरण्डमें सत्, सम्यक्, समीचीन, शुद्ध और वीतकलङ्क इन पाँचों शब्दोंका एक ही अर्थमें प्रयुक्त किया है और वह है यथार्थता—निर्दोषता, जिसके लिये स्वयम्भूस्तोत्रमें 'समञ्जस' शब्दका भी प्रयोग किया गया है। इनमें 'वीतकलङ्क' शब्द सबसे अधिक शुद्धसे भी अधिक स्पष्टार्थको लिये हुए है और वह अन्तमें स्थित हुआ अन्तदीपककी तरह पूर्वमें प्रयुक्त हुए 'सत्' आदि सभी शब्दोंकी अर्थदृष्टि-पर प्रकाश डालता है, जिसकी जरूरत थी, क्योंकि 'सत्' सम्यक् जैसे शब्द प्रशसादिके भी वाचक हैं वह प्रशसादि किस चीजमें है? दोषोंके दूर होनेमें है। उसे भी 'वीतकलङ्क' शब्द व्यक्त कर रहा है। दर्शनमें दोष शङ्का-मूढतादिक, ज्ञानमें संशय-विपर्ययादिक और चारित्रमें राग-द्वेषादि होते हैं। इन दोषोंसे रहित जो दर्शन-ज्ञान और चारित्र हैं वे ही वीतकलङ्क अथवा निर्दोष दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उन्हीं रूप जो अपने आत्माको परिणत करता है उसे ही लोक-परलोक सर्व अर्थोंकी सिद्धि प्राप्त होती है। यही उक्त उपान्त्य पद्यका फलितार्थ है, और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पद्यमें 'सम्यक्'के स्थानपर 'वीतकलङ्क' शब्दका प्रयोग बहुत सोच-समझकर गहरी दूर-दृष्टिके साथ किया गया है। छन्दकी दृष्टिसे भी वहाँ सत्, सम्यक्, समीचीन, शुद्ध या समञ्जस जैसे शब्दोंमेंसे किसीका प्रयोग नहीं बनता और इसलिये 'वीतकलङ्क' शब्दका प्रयोग श्लेषार्थके लिये अथवा द्राविडी प्राणायामके रूपमें नहीं है जैसा कि प्रोफेसर साहब समझते हैं। यह बिना किसी श्लेषार्थकी कल्पनाके ग्रन्थसन्दर्भके साथ सुसम्बद्ध और अपने स्थानपर सुप्रयुक्त है।

अब मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण करनेपर उसमें कितनी ही बातें ऐसी पाई जाती हैं जो उसकी अति प्राचीनताकी द्योतक हैं, उसके कितने ही उपदेशों-आचारों, विधि-विधानों अथवा क्रियाकाण्डोंकी तो परम्परा भी टीकाकार प्रभाचन्द्रके समयमें लुप्त हुई सी जान पड़ती है, इसीसे वे उनपर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाल सके और न बादको ही किसीके द्वारा वह डाला जा सका है; जैसे 'मूर्धरुह-मुष्टि-वासो-बन्ध' और 'चतुरावर्त-त्रितय' नामक पद्योंमें वर्णित आचारकी बात। अष्ट-मूलगुणोंमें पञ्च अणुव्रतोंका समावेश भी प्राचीन

निजभक्त्या' नामका पद्य उद्धृत किया है उसमें विद्यानन्दका 'विद्या' नामसे उल्लेख न करके पूरा ही नाम दिया है। विद्यानन्दका 'विद्या' नामसे उल्लेखका दूसरा कोई भी उदाहरण देखनेमें नहीं आता।

[1] 'कलङ्कोऽङ्के कालायसमले दोषापवादयोः।' विश्व० कोश०
दोषके अर्थमें कलङ्क शब्दके प्रयोगका एक सुस्पष्ट उदाहरण इस प्रकार है—

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः काय-वाक्-चित्त सम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिना सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥—ज्ञानार्णव

परम्पराका द्योतक है जिसमे समन्तभद्रसे शताब्दियों बाद भारी परिवर्तन हुआ और उसके अणुव्रतोंका स्थान पञ्चउदम्बरफलोंने ले लिया[1]। एक चाण्डाल-पुत्रको 'देव' अर्थात् आराध्य बतलाने और एक गृहस्थको मुनिसे भी श्रेष्ठ बतलाने जैसे उदार उपदेश भी बहुत प्राचीनकालके सूचक है जबकि देश और समाजका वातावरण काफी उदार और सत्यको ग्रहण करनेमे सक्षम था। परन्तु यहाँ उन सब बातोंके विचार एव विवेचनका अवसर नही है—वे तो स्वतन्त्र लेखके विषय है, अथवा अवसर मिलने-पर 'समीचीन-धर्मशास्त्र'की प्रस्तावनामे उनपर यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा। यहाँ मै उदाहरणके तौरपर सिर्फ दो बाते ही निवेदन कर देना चाहता हूँ और वे इस प्रकार है—

(क) रत्नकरण्डमे सम्यग्दर्शनको तीन मूढताओंसे रहित बतलाया है और उन मूढताओंमे पाखण्डि-मूढताका भी समावेश करते हुए उसका जो स्वरूप दिया है वह इस प्रकार है—

सग्रन्थाऽऽरम्भ-हिंसानां संसाराऽऽवर्त-वर्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डि-मोहनम् ॥२४॥

'जो सग्रन्थ है—धन-धान्यादि परिग्रहसे युक्त है—आरम्भ सहित है—कृषि-वाणिज्यादि सावद्यकर्म करते है—, हिंसामे रत हैं और संसारके आवर्तोंमे प्रवृत्त हो रहे हैं—भवभ्रमणमे कारणीभूत विवाहादि कर्मो-द्वारा दुनियाके चक्कर अथवा गोरखधन्धेमें फँसे हुए हैं, ऐसे पाखण्डियोंका—वस्तुतः पापके खण्डनमे प्रवृत्त न होने वाले लिङ्गी साधुओंका जो (पाखण्डीके रूपमे अथवा साधु-गुरु-बुद्धिसे) आदर-सत्कार है उसे 'पाखण्डिमूढ' समझना चाहिए।'

इसपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि रत्नकरण्ड ग्रन्थकी रचना उस समय हुई है जब कि 'पाखण्डी' शब्द अपने मूल अर्थमे—'पापं खण्डयतीति पाखण्डी' इस निर्युक्तिके अनुसार—पापका खण्डन करनेके लिये प्रवृत्त हुए तपस्वी साधुओंके लिये आमतौरपर व्यवहृत होता था, चाहे वे साधु स्वमतके हों या परमतके। चुनाँचे मूलाचार (अ० ५)मे 'रत्तवड-चरग-तापस-परिहत्तादीयअण्णपासंडा' वाक्यके द्वारा रक्तपटादिक साधुओंको अन्यमतके पाखण्डी बतलाया है, जिससे साफ ध्वनित है कि तब स्वमत (जैनों)के तपस्वी साधु भी 'पाखण्डी' कहलाते थे। और इसका समर्थन कुन्दकुन्दाचार्यके समयासार ग्रन्थकी 'पाखंडी-लिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि' इत्यादि गाथा नं० ४०८ आदिसे भी होता है, जिनमे पाखण्डीलिङ्गको अनगार साधुओं (निर्ग्रन्थादि मुनियों)का लिङ्ग बतलाया है। परन्तु 'पाखण्डी' शब्दके अर्थकी यह स्थिति आजसे कोई दशों शताब्दियों पहलेसे बदल चुकी है और तबसे यह 'शब्द' प्रायः 'धूर्त' अथवा 'दम्भी-कपटी' जैसे विकृत अर्थमे व्यवहृत होता आरहा है। इस अर्थका रत्न-करण्डके उक्त पद्यमे प्रयुक्त हुए 'पाखण्डिन्' शब्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ 'पाखण्डी' शब्दके प्रयोगको यदि धूर्त, दम्भी, कपटी अथवा झूठे (मिथ्यादृष्टि) साधु जैसे अर्थमे लिया जाय, जैसा कि कुछ अनुवादकोंने भ्रमवश आधुनिक दृष्टिसे ले लिया है, तो अर्थका अनर्थ हो जाय और 'पाखण्डि-मोहनम्' पदमे पड़ा हुआ 'पाखण्डिन्' शब्द अनर्थक और असम्बद्ध ठहरे। क्योंकि इस पदका अर्थ है 'पाखण्डियोंके विषयमे मूढ होना' अर्थात् पाखण्डीके वास्तविक[1] स्वरूपको न समझकर अपाखण्डियों

---

[1] इस विषयको विशेष जाननेके लिये देखो लेखकका 'जैना-चार्योंका शासन भेद' नामक ग्रन्थ पृष्ठ ७ से १५। उसमे दिये हुए 'रत्नमाला'के प्रमाणपरसे यह भी जाना जाता है कि रत्नमालाकी रचना उसके बाद हुई है जबकि मूल-गुणोंमे अणुव्रतोंके स्थानपर पञ्चोदम्बरकी कल्पना रूढ होचुकी थी और इस लिये भी रत्नकरण्डसे शताब्दियों बादकी रचना है।

[1] पाखण्डीका वास्तविक स्वरूप वही है जिसे ग्रन्थकार महोदयने 'तपस्वी'के निम्न लक्षणमे समाविष्ट किया है। ऐसे ही तपस्वी साधु पापोंका खण्डन करनेमे समर्थ होते हैः—

विषयाशा-वशाऽतीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

अथवा पाखण्डयाभासोंको पाखण्डी मान लेना और वैसा मानकर उनके साथ तद्रूप आदर-सत्कारका व्यवहार करना। इस पदका विन्यास ग्रन्थमें पहलेसे प्रयुक्त 'देवतामूढम्' पदके समान ही है, जिसका आशय है कि 'जो देवता नहीं हैं—रागद्वेषसे मलीन देवताभास हैं—उन्हें देवता समझना और वैसा समझकर उनकी उपासना करना। ऐसी हालतमें 'पाखण्डिन्' शब्दका अर्थ 'धूर्त' जैसा करनेपर इस पदका ऐसा अर्थ होजाता है कि धूर्तोंके विषयमें मूढ होना अर्थात् जो धूर्त नहीं है उन्हें धूर्त समझना और वैसा समझकर उनके साथ आदर-सत्कारका व्यवहार करना' और यह अर्थ किसी तरह भी सङ्गत नहीं कहा जा सकता। अतः रत्नकरण्डमें पाखण्डिन्' शब्द अपने मूल पुरातन अर्थमें ही व्यवहृत हुआ है, इसमें जरा भी सन्देहके लिये स्थान नहीं है। इस अर्थकी विकृति विक्रम सं० ७३४से पहले होचुकी थी और वह धूर्त जैसे अर्थमें व्यवहृत होने लगा था, इसका पता उक्त संवत् अथवा वीरनिर्वाण सं० १२०४में बनकर समाप्त हुए श्रीरविषेणाचार्य-कृत पद्मचरितके निम्न वाक्यसे चलता है - जिसमें भरत चक्रवर्तीके प्रति यह कहा गया है कि जिन ब्राह्मणोंकी सृष्टि आपने की है वे वर्द्धमान जिनेन्द्रके निर्वाणके बाद कलियुगमें महा-उद्धत 'पाखण्डी' हो जायेंगे। और अगले पद्यमें उन्हें 'सदा पापक्रियोद्यताः' विशेषण भी दिया गया है -

वर्द्धमान-जिनस्यान्ते भविष्यन्ति कलौ युगे।
एते ये भवता सृष्टाः पाखण्डिनो महोद्धताः॥ ४-११६

ऐसी हालतमें रत्नकरण्डकी रचना उन विद्यानन्द आचार्यके बादकी नहीं हो सकती जिनका समय प्रो० साहबने ई० सन् ८१६ (वि० संवत् ८७३)के लगभग बतलाया है।

(ख) रत्नकरण्डमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याऽशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेल-खण्ड-धरः॥१४७॥

इसमें, ११वीं प्रतिमा (कक्षा)-स्थित उत्कृष्ट श्रावकका स्वरूप बतलाते हुए, घरसे 'मुनिवन'को जाकर गुरुके निकट व्रतोंको ग्रहण करनेकी जो बात कही गई है उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि यह ग्रन्थ उस समय बना है जबकि जैन मुनिजन आमतौरपर वनोंमें रहा करते थे,—वनोंमें ही यत्याश्रम प्रतिष्ठित थे—और वहीं जाकर गुरु (आचार्य)के पास उत्कृष्ट श्रावकपदकी दीक्षा ली जाती थी। और यह स्थिति उस समयकी है जबकि चैत्यवास—मन्दिर-मठोंमें मुनियोंका आमतौर निवास—प्रारम्भ नहीं हुआ था। चैत्यवास विक्रमकी ४थी-५वीं शताब्दीमें प्रतिष्ठित हो चुका था - यद्यपि उसका प्रारम्भ उससे भी कुछ पहले हुआ था ऐसा तद्विषयक इतिहाससे जाना जाता है। प० नाथूरामजी प्रेमीके 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' नामक निबन्धसे भी इस विषय-पर कितना ही प्रकाश पड़ता है[1] और इस लिये भी रत्नकरण्डकी रचना विद्यानन्द आचार्यके बादकी नहीं हो सकती और न उस रत्नमालाकारके सम-सामयिक अथवा उसके गुरुकी कृति हो सकती है जो स्पष्ट शब्दोंमें जैन मुनियोंके लिये वनवासका निषेध कर रहा है—उसे उत्तम मुनियोंके द्वारा वर्जित बतला रहा है—और चैत्यवासका खुला पोषण कर रहा है[2]। वह तो उन्हीं स्वामी समन्तभद्रकी कृति होनी चाहिये जो प्रसिद्ध वनवासी थे, जिन्हें प्रोफेसर साहबने श्वेताम्बर पट्टावलियोंके आधारपर 'वन-वासी' गच्छ अथवा सङ्घके प्रस्थापक 'सामन्तभद्र' लिखा है जिनका श्वेताम्बर-मान्य समय भी दिगम्बर-मान्य समय (विक्रमकी दूसरी शताब्दी) के अनुकूल है और जिनका आप्तमीमांसाकारके साथ एकत्व माननेमें प्रो० सा०को कोई आपत्ति भी नहीं है।

रत्नकरण्डके इन सब उल्लेखोंकी रोशनीमें प्रो० साहबकी चौथी आपत्ति और भी निःसार एवं निस्तेज होजाती है और उनके द्वारा ग्रन्थके उपान्त्य पद्यमें की गई श्लेषार्थकी उक्त कल्पना बिल्कुल ही

[1] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४७से ३६६
[2] कलौकाले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थापितं च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥२२ रत्नमाला

निर्मूल ठहरती है—उसका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं होता। रत्नकरण्डके समयको जाने-अनजाने रत्नमालाके रचनाकाल (विक्रमकी ११वीं शताब्दीके उत्तरार्ध या उसके भी बाद)के समीप लानेका आग्रह करनेपर यशस्तिलकके अन्तर्गत सोमदेवसूरिका ४६ कल्पोंमें वर्णित उपासकाध्ययन (वि० सं० १०१६) और श्रीचामुण्डरायका चारित्रसार (वि० सं० १०३५के लगभग) दोनों रत्नकरण्डके पूर्ववर्ती ठहरेंगे, जिन्हें किसी तरह भी रत्नकरण्डके पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि दोनों रत्नकरण्डके कितने ही शब्दादिके अनुसरणको लिये हुए हैं—चारित्रसारमें तो रत्नकरण्डका 'सम्यग्दर्शनशुद्धाः' नामका एक पूरा पद्य भी 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत है। और तब प्रो० साहबका यह कथन भी कि 'श्रावकाचार-विषयका सबसे प्रधान और प्राचीन ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार है' उनके विरुद्ध जायगा, जिसे उन्होंने धवलाकी चतुर्थ पुस्तक (क्षेत्रस्पर्शन अनु०) प्रस्तावनामें व्यक्त किया है और जिसका उन्हें उत्तरके चक्करमें पड़कर कुछ ध्यान रहा मालूम नहीं होता और वे यहाँ तक लिख गये हैं कि "रत्नकरण्ड की रचनाका समय इस (विद्यानन्दसमय वि० सं० ८७०)के पश्चात् और वादिराजके समय अर्थात् शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२)से पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधिके प्रकाशमें रत्नकरण्डश्रावकाचार और रत्नमालाका रचनाकाल समीप आजाते हैं और उनके बीच शताब्दियोंका अन्तराल नहीं रहता[१]।"

इस तरह गम्भीर गवेषण और उदार पर्यालोचनोंके साथ विचार करनेपर प्रो० साहबकी चारों दलीलें अथवा आपत्तियोंमेंसे एक भी इस योग्य नहीं ठहरती जो रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करने अथवा दोनोंके एककर्तृत्वमें कोई बाधा उत्पन्न करनेमें समर्थ हो सके और इसलिये बाधक प्रमाणोंके अभाव एवं साधक प्रमाणोंके सद्भावमें यह कहना न्याय-प्राप्त है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार उन्हीं समन्तभद्र आचार्यकी कृति है जो आप्तमीमांसा (देवागम)के रचयिता हैं। और यही मेरा निर्णय है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा।
ता० २१-४-१९४८

जुगलकिशोर मुख्तार

१ अनेकान्त वर्ष ७, किरण ५-६, पृ० ५४

अमूल्य तत्त्वविचार

बहुत पुण्यके पुञ्जसे इस शुभ मानव-देहकी प्राप्ति हुई, तो भी अरे रे! भवचक्रका एक भी चक्कर दूर नहीं हुआ। सुखको प्राप्त करनेसे सुख दूर होजाता है, इसे जरा अपने ध्यानमें लो। अहो! इस क्षण-क्षणमें होने वाले भयङ्कर भाव-मरणमें तुम क्यों लवलीन हो रहे हो? ॥१॥

यदि तुम्हारी लक्ष्मी और सत्ता बढ़ गई, तो कहो तो सही कि तुम्हारा बढ़ ही क्या गया? क्या कुटुम्ब परिवारके बढ़नेसे तुम अपनी बढ़ती मानते हो? हर्गिज ऐसा मत मानो; क्योंकि संसारका बढ़ना मानो मनुष्य-देहको हार जाना है। अहो! इसका तुमको एक पलभर भी विचार नहीं होता? ॥२॥

निर्दोष सुख और निर्दोष आनन्दको, जहां कहींसे भी वह मिल सके वहींसे प्राप्त करो जिससे कि यह दिव्य शक्तिमान आत्मा जञ्जीरोंसे निकल सके। इस बातकी सदा मुझे दया है कि परवस्तुमें मोह नहीं करना। जिसके अन्तमें दुःख है उसे सुख कहना, यह त्यागने योग्य सिद्धान्त है ॥३॥

मैं कौन हूँ, कहांसे आया हूँ, मेरा सच्चा स्वरूप क्या है, यह सम्बन्ध किस कारणसे हुआ है, उसे रक्खू या छोड़ दूँ? यदि इन बातोंका विवेकपूर्वक शान्तभावसे विचार किया तो आत्मज्ञानके सब सिद्धान्त-तत्त्व अनुभवमें आगए ॥४॥

—श्रीमद्राजचन्द्र

कथा—कहानी—

इज़्ज़त बड़ी या रुपया

[लेखक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

देहलीकी एक प्रसिद्ध सर्राफ़ेकी दूकानपर ४०-५० हज़ार रुपयोंकी गिन्नियाँ गिनी जारही थीं कि एक उचट कर इधर-उधर होगई। काफी तलाश करनेपर भी नहीं मिली। उस दूकानपर उनका कोई ग़रीब रिश्तेदार भी बैठा हुआ था। सयोगकी बात कि उसके पास भी एक गिन्नी थी। गिन्नी न मिलते देख, उसने मनमें सोचा कि "शायद अब तलाशी ली जायगी। ग़रीब होनेके नाते मुझीपर शक जायगा। मेरे पास भी गिन्नी हो सकती है किसीको यकीन नहीं आयगा। गिन्नी भी छीन लेंगे और बेइज़्ज़त भी करेंगे। इससे तो बेहतर यही है कि गिन्नी देकर इज़्ज़त बचाली जाए।"

ग़रीबने यही किया! जेबमेंसे गिन्नी चुपकेसे निकाल कर ऐसी जगह डाल दी कि खोजनेवालोंको मिल गई। गिन्नी देकर वह खुशी-खुशी अपने घर चला गया! बात आई-गई हुई!

दीवालीपर दावात साफ की गई तो उसमेंसे एक गिन्नी निकली। गिन्नीको दावातमेंसे निकलते देख लाला साहब बड़े क्रुद्ध हुए। "रुपयोंकी तो बिसात क्या, यहाँ गिन्नियाँ इधर-उधर रूली फिरती हैं, फिर भी रोकड़बहीका जमा खर्च ठीक मिलता रहता है। हद होगई इस अन्धेरकी।"

रोकड़िया परेशान कि यह हुआ तो क्या हुआ? "इतनी सचाई और लगनसे हिसाब रखनेपर भी यह लाँछन व्यर्थमें लग रहा है।" सोचते-सोचते उसे उस रोजकी घटना याद आई। काफी देर अक्लसे कुश्ती लड़नेपर उसे खयाल आया कि "कहीं वह गिन्नी उचट कर दावातमें तो नहीं गिर गई थी, तब वह गिन्नी मिली कैसे? शायद उस ग़रीबने अपने पाससे डालकर खुजवादी हो।" यह खयाल आते ही वह स्वयं अपनी इस मूर्खतापर हँस पड़ा। भला उसके पास गिन्नी कहाँसे आती? उसके बड़ोंने भी कभी गिन्नियाँ देखी हैं जो वह देखता? और शायद कहीं-से झाँप भी ली हो तो, वह इतना बुद्धू कब है जो उसे हमें दे देता?"

जब खयाल कल्पनाने साथ नहीं दिया तो यह उलझा हुआ विचार लाला साहबके सामने पेश किया गया! लाला साहब सब समझ गये। उनका रिश्तेदार ग़रीब तो जरूर है, पर विश्वस्त और बाइज़्ज़त है, यह वह जानते थे। अतः लाला साहब उसके पास गये और वास्तविक घटना जाननी चाही तो काफी टालमटोलके बाद ठीक स्थिति समझादी! लाला साहब गिन्नी वापिस करने लगे तो बोला—

"भैया साहब, मैं अब इसे लेकर क्या करूँगा? मेरी उस वक्त आबरू रह गई यही क्या कम है? आबरूके लिये ऐसी हज़ारों गिन्नियाँ कुर्बान! मेरे भाग्यमें गिन्नी होती तो यह घटना ही क्यों घटती? मुझे सन्तोष है कि मेरी बात रह गई। रुपया तो हाथका मैल है फिर भी इकट्ठा हो सकता है, पर इज़्ज़त-आबरू वह जानेपर फिर वापिस नहीं आती।"

२

कुछ इसीसे मिलती-जुलती घटना इन पंक्तियोंके लेखकके साथ भी घटी। सन १९२०में लाला नारायणदास सूरजभानकी दुकानपर कपड़ेका काम सीखता था। उनके यहाँ हुण्डियोंका लेन-देन भी होता था। दिनमें कई बार दलाल रुपये लाता और ले जाता। बार-बार उन चाँदीके रुपयोंको कौन गिने? बगैर गिने ही आते और चले जाते। उन रुपयोंको मैं ही लेता और देता; कभी एक रुपयेकी भी घटी-बढ़ी नहीं हुई। एक रोज़ असावधानीसे वह रुपये ऊपरसे नीचे गिर पड़े और खन-खन करते हुए समूची दुकानमें बिखर गये। बटोर कर गिने तो

पाँच रुपये कम ! मेरी जेबमें भी घर खर्चके लिये ५) रुपये चाँदीके पड़े थे ! मैं बड़ा चकराया, अब क्या होगा ? न मिले तो जैसे बात बनेगी ? लाला चुपचाप गद्दीपर बैठे थे, मैंने ही रुपये बखेरे थे और मैं ही उन्हें गिन रहा था। जी बड़ा धुकड़-पुकड़ करने लगा। छोटी आयु और नया-नया इनके यहाँ आया हूँ। यद्यपि पूरा विश्वास करते है, परन्तु प्रामाणिकताकी जाँचसे तो अभी नही निकला हूँ। कहीं इन्हें शक होगया तो, जेबमें पाँच रुपये हैं ही चोर बनते क्या देर लगेगी ? इसी ऊहापोहमें गिन्नी वाली घटना याद आई तो मन एकदम स्वस्थ्य होगया। रुपये अपने पाससे मिलानेका सङ्कल्प करके भी खोजनेमें लगा रहा और मेरे सौभाग्यसे पाँचों रुपये मिल भी गये !

रुपये मिलनेपर मुझे प्रसन्नता होनेके बजाय क्रोध हो आया ! मैंने लालासे कहा—"देखिये पाँच रुपये कम हो रहे थे और मेरी जेबमें भी पाँच ही थे ! न मिलते तो मैं चोर बन गया था। आइन्दा हुण्डियोंके रुपये गिनकर लेने और देने चाहियें।" लाला मेरे इस बचपने पर हँसे और बोले—"तुम व्यर्थ अपने जीको हलका क्यों कर रहे हो तुमपर यकीन न होता तो हम यह हजारों रुपये तुम्हें कैसे बिन गिने दे दिया करते ? और इतने रुपये बार-बार गिनना कैसे मुमकिन हो सकता है ? आजतक बीच एक पैसेका फर्क न पड़ा तो आगे क्यों पड़ेगा, और पड़ेगा भी तो तुम्हें उसकी चिन्ता क्यों ?"

किन्तु मैं इस घटनासे ऐसा शङ्कित होगया कि रुपये गिनकर लेने-देनेकी बातपर अड़ा रहा। और इस नियमकी स्वीकृति न मिलनेसे मैं बारबार पुचकारनेपर भी दूसरे दिनसे दूकानपर नही गया !

३

उक्त घटनाओंका सन ३४में गुड़गाँवके लाला बनारसीदास जैनके सामने जिक्र आया तो बोले—अजी साहब, एक इसी तरहकी घटना हम आपबीती आपको सुनाते है।

हमारे पिताजीके एक मित्र हमारे जिलेमें रहते हैं। वे जब मुक़दमे या सामान खरीदनेको गुड़गाव आते हैं तो हमारे यहाँ ही ठहरते हैं। एक रोज उनका पत्र आया कि "जिस चारपाईपर मैं सोया था, अगर वहाँ लाल रङ्गका मेरा अङ्गोछा मिले तो सम्हाल कर रख लेना।" अँगोछा तलाश किया गया, मगर नहीं मिला। वे जाड़ोंके विस्तरोंमें सोचते थे और वह जाड़े खत्म होनेसे ऊपर टाँडपर रख दिये गये थे। सिर्फ एक अङ्गोछेके लिये घरभरके इतने विस्तरे उठा कर देखनेकी जरूरत नहीं समझी गई। और अङ्गोछा नहीं मिलनेकी उन्हें सूचना भिजवादी गई ! बात आई-गई हुई, वे हमेशाकी तरह हमारे यहाँ आते-जाते रहे।

दीवालीपर मकानकी सफाई हुई और जाड़ोंके बिस्तरे धूपमें डाले गये तो उनमेंसे लाल अङ्गोछा धमसे नीचे गिरा। खोलकर देखा तो दस हजारके नोट निकले। हम सब हैरान कि यह इतने नोट कहाँसे आये, किसने यहाँ छिपाकर रखे। सोचते-सोचते खयाल आया कि हो न हो यह रुपये उनके ही होंगे। इस अङ्गोछेमें रुपये थे इसीलिये तो उन्होंने अङ्गोछा तलाश करके रखनेको लिखा था, सिर्फ अङ्गोछेके लिये वे क्यों लिखते ? मैं उनके पास रुपये लेकर गया और उलाहना देते हुए बोला—"चाचा जी ! आप भी खूब है, इतनी बड़ी रकमका तो जिक्र भी नहीं किया, सिर्फ अङ्गोछा सम्हालकर रखलेनेको लिख दिया और हमारे मना लिख देनेपर भी आपने कभी इशारा तक नहीं किया। बताइये कोई नौकर ले गया होता तो टाँडपर चूहे ही काट गये होते तो, हमारा तो हमेशाको काला मुँह बना रहता।

चचा हँसकर बोले—"भाई जितनी बात लिखने की थी, वह तो लिख ही दी थी। मेरा खयाल था कि तुम समझ जाओगे कि कोई न कोई बात जरूर है। वर्ना दो आनेके पुराने अङ्गोछेके लिये दो पैसेका कार्ड कौन खराब करता ! और रुपयोंका जिक्र जानबूझकर इसलिये नहीं किया कि अगर कोई उठा ले गया होगा तो भी तुम अपने पाससे दे जाओगे। अपनी इस असावधानीके लिये तुम्हें परेशानीमें डालना मुझे इष्ट न था।" १३ फरवरी १९४८

अनेकान्त

[महात्मा भगवानदीनजी]

दर्शन, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार आदि विद्याओंके सिद्धान्त गढ़े नहीं जाते—खोजे जाते हैं, इकट्ठे किये जाते है। इकट्ठे होनेपर विद्वान उन्हें अलग-अलग करते है और उनके नाम रख देते है। नाम प्रायः अटपटे होते है। विद्वानों तकको उनके समझनेमे मुश्किल होती है औरोंका तो कहना ही क्या ?

इस सवालका जवाब कि अनेकान्त कबसे है ? यही हो सकता है कि जबसे जगत तबसे अनेकान्त। अगर जगतको किसीने बनाया है तो वह अनेकान्ती रहा होगा। और अगर जगत अनादि है तो अनेकान्त भी अनादि है। इस द्वन्द्वयुक्त जगतमे और इस उपजने-विनशनेवाली दुनियामे अनेकान्तके बिना एक क्षण भी काम नही चल सकता। तरह-तरहकी दुनियामे मेल बनाये रखनेके लिये अनेकान्त अत्यन्त आवश्यक है।

अनेकान्त तर्कका एक सिद्धान्त है। तर्क इकट्ठी की हुई विद्या है। अनेकान्तको बोलचालमे 'तरह-तरह से कहना' कह सकते हैं। हम जब मिल-जुलकर प्रेम प्यारसे रहते है तब अनेकान्तमे ही बातचीत करते हैं। हँसी-मजाकमे कभी-कभी एकान्त भी चल पड़ता है। पर टिक नहीं पाता। लड़ाई-झगड़ोंमे एकान्तसे ही काम लिया जाता है फिर भी वे लड़ाई-झगड़े चाहे घरेलू हों, देशके या धर्मके। अनेकान्तको काममे तो सब सब धर्मवाले लाते है पर अलग विद्याका रूप इसे हिन्दुस्तानके एक धर्म विशेपने ही दे रखा है। और वही इसकी दुहाई जगह-बजगह देता रहता है।

दो अनेकान्ती लड़-झगड़ नहीं सकते। पर लड़ना-झगड़ना मनुष्यका स्वभाव बना हुआ है और अनेकान्तका हथियार लेकर ही लड़ते हैं तो असलमें उनके हाथोंमें एकान्त ही के हथियार होते हैं। पर वे हथियार अनेकान्तके खोलमे होते हैं इसलिये जब भरी सभामें वे खोलसे बाहर आते है तो समझदार तमाशा देखने वाले हँस पड़ते है। अनेकान्तका और भी सीधा नाम 'झगड़ा-फैसल' हो सकता है। अब जहाँ 'झगड़ा-फैसल' मौजूद हो वहाँ झगड़ा कैसा ? अनेकान्ती (यानी तरह-तरहसे कहने समझाने वाला) लड़े-झगड़ेगा क्यों ? वह तो दूसरेकी बातको समझने की कोशिश करेगा, शङ्का करेगा, कम बोलेगा, सामने वालेको ज्यादा बोलने देगा और जब समझ जावेगा तो मुसका देगा, शायद हँस भी दे और शायद सामनेवालेको गले लगाकर यह भी बोल उठे 'आहा, आपका यह मतलब है, ठीक ! ठीक !'

कोई हकीम नुसखेमे अगर "वर्गे रेहाँ" लिख दे तो आप जरूर कुछ पैसे अत्तारके यहाँ ठगा आयेगे। यों आप वर्गेरेहाँ (तुलसीके पत्ते) घरकी तुलसीसे तोड़कर रोज ही चबा लेते है। अनेकान्तसे रोज काम लेनेवाले आपमेसे कुछ अनेकान्तको न समझते होंगे इसलिये उसे थोड़ासा साफ कर देना जरूरी है।

सेठ हीरालाल जब यह कह रहे है कि आज दो अक्टूबर दोपहरके ठीक बारह बजे मेरा लड़का रामू बड़ा भी है और छोटा भी तब वे अनेकान्तकी भाषा बोल रहे है। पर कोई एकदम यह कह बैठे 'बिल्कुल गलत' तो ऐसा कहनेवाला या तो मूर्ख है, जल्दबाज है नहीं तो एकान्ती तो है ही। और कोई यह पूछ बैठे 'कैसे ?' तो वह भला आदमी है, समझदार भी है पर बुद्धिपर जोर नहीं देना चाहता, अनेकान्तसे उसे प्यार भी है। बात बिल्कुल सीधी है रामू असलमें उस दिन दस बरसका हुआ वह अपने सात बरसके छोटे भाई श्यामूसे बड़ा और तेरह बरसके बड़े भाई धर्मूसे छोटा है। सेठ हीरालाल यह

भी कह बैठे कि मेरे लोटेका पानी इसी वक्त ठण्डा और गरम है तो अनेकान्तकी सीमामें ही रहेगे। पानी अगर सौ दरजे गरम है तो घड़ेके अड़मठ दरजेके पानीसे गरम और चूल्हेपर चढ़े बर्तनके एकसौ बीस दरजेके पानीसे ठण्डा है। आह पतीलीमे हाथ डालकर लोटेमें डालिये तो आपको इनकी बातकी सचाईका पता लग जायगा। यह हुआ हँसता खेलता घरेलू अनेकान्त।

अब लीजिये धर्मका भारी भरकम अनेकान्त।

एक हिन्दू पीली मिट्टीके एक ढेलेमें कलाया लपेट कर उसमें गणेशको ला बैठाता है। एक जैन उससे भी बढ़कर धानसे निकले एक चावलमे भगवानको विराजमान कर देता है। पर वही हिन्दू, कोयले, खड़िया या गेरूके टुकड़ेमे वैसा करनेसे हिचक ही नहीं डरता है और वही जैन एक खण्डित मूर्ति या एक कपड़ा पहने सुन्दर मूनिमे भगवानकी स्थापना करनेमे इतना भयभीत होता है मानों कोई बड़ा पाप कर रहा हो। और वही हिन्दू जबलपुरके धुआंधारमे जाकर जिसतिस पत्थरको गणेशजी मान लेता है वही जैन सोनागिरिपर चढ़कर अनगढ़ मूर्तियोंको भगवानकी स्थापना मानकर उनके सामने माथा टेक देता है। अतदाकार स्थापनाकी बात दोनों ही रिवाजकी भाङ्ग पीकर भूल जाते हैं। यह घरमे अनेकान्ती रहते हुए रिवाजमे कट्टर एकान्ती बन जाते है। वे करे क्या? असलमे धर्ममे अनेकान्तीने अभी तक जगह ही नही पाई।

रेलमे बैठा एक मुसाफिर यदि यह चिल्ला उठे 'जयपुर आगया' तो कोई दूसरा मुसाफिर उसके पीछे डण्डा लेकर खड़ा नहीं होता और न उससे यही पूछता है कि जयपुर कैसे आगया, क्या जयपुर चला आता है जो तू आगया कहता है? और न यह कहकर उसे दुरुस्त करता है कि हम 'जयपुर आगये' ऐसा कह। कोई बहू यदि अपने बरसोंसे घरसे भागे निखट्टू पतिके सम्बन्धमे अपनी सासके सामने यह कह बैठे कि मैं तो सुहागिन होते विधवा हूँ, या मेरा पति जीता मरा हुआ है तो सास यह सुनकर पल्ला लेकर रोने नही लग जाती है। वह अनेकान्ती है, वह समझती है कि बहूका क्या मतलब है!

महावीर स्वामी जब गर्भमे आये उसी दिनसे उनके भक्त उन्हे भगवान नामसे पुकारते हैं। ठीक है। अनेकान्त ऐसा करनेकी इजाजत देता है। निर्वाण तक और उसके बादसे आजतक वे भगवान ही हैं। बचपनमे वे रोटी खाते थे, मुनि होकर आहार भी लेते थे। अब कोई यह कहे कि भगवान महावीर रोटी खाते थे, आहार लेते थे तो इसमे भूल कहाँ है? अनेकान्तीको इसे माननेमे कोई कठिनाई नहीं हो सकती। वही भक्त कुन्दकुन्द स्वामीके पास रहकर यह कहने लगे कि भगवानने कभी खाना खाया ही नही तो इसमे भी भूल कहाँ? अनेकान्ती जरा बुद्धि-पर जोर देकर इसे समझ लेगा। कुन्दकुन्द स्वामी देहको भगवान नही मानते। जीवको भगवान मानते है। देहको भगवान मानना निश्चयनय या सत्यनयकी शानके खिलाफ है। जीव न खाता है, न पीता है न करता है, न मरता है, न जन्म लेता है। साँप पवनभक्षी कहलाता है। दो दवायें मिलकर पानी बन जाती है यह बात स्कूलके लड़के भी जानते है। महावीर स्वामीका देह निर्वाणसे एक समय पहले तक यदि सास लेता रहा, लेता रहो। महावीर स्वामा-के निर्लेप जीवको इससे क्या। महावीर भगवान खाना खाते थे और नही भी खाते थे। यह इतना ही ठीक कथन है जितना सेठ हीरालालका यह कह बैठना कि मेरा बीमार लड़का रामू पानी पीता भी है और नही पीता क्योंकि वह पीकर कय कर देता है, उसको हज्म नही होता। अनेकान्तमे यही तो गुण है कि वह झगड़ेका फैसला चुटकी बजाते कर देता है। जभी तो मैंने उसका नाम झगड़ा फैसल रखा है।

अनेकान्त घर-घरमे है, मन-मनमे है। मन्दिर-मन्दिरमे नहीं है, धर्म-धर्ममें नहीं है, राज-राजमे नही है। वहाँ फैलानेकी जरूरत है। पढ़ने-पढ़ानेकी चीज नहीं, लिखने-लिखानेसे कुछ होना आना नहीं। अनेकान्तका पौदा अभ्यासका जल चाहता, सहिष्णुता के खादकी उसे जरूरत है, सर्वधर्म समभावके

पराक्रमी जैन

पथिक ! इस वाटिकाकी बर्बादीका कारण इन उल्लुओं और कौओंसे न पूछकर हमसे सुन । ये तुझे भ्रममें डाल देंगे। हमारे ही बड़ोंने इसे अपने रक्तसे सींचा था । उन्हींकी हड्डियोंकी खातसे यह सर-सब्ज हुआ था। वे चल बसे, हम चलने वाले हैं, पर इसके एक-एक अणुपर हमारा अमिट बलि-दान अङ्कित है ।

जो लोग कहते है—'भारतके आदि निवासी और थे, हम एरियन (आर्य) यहाँ दूसरी जगहसे आकर बसे', वे सचमुच दूसरी जगहसे आये होंगे। मगर हम यहाँके क़दीमी बाशिन्दे हैं । क़दीमी बाशिन्दे क्या, हम यहाँके मालिक हैं। यहाँके कण-कणपर हमारे आधिपत्यकी मुहर लगी हुई है।

भारतवर्ष हमारे प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभ-देवके पुत्र भरत चक्रवर्तीके नामसे प्रसिद्ध है। उनकी अमर कीर्तिका सजीव स्मारक है । उससे पहले हमारा भारत जम्बूद्वीप आदि किन नामोंसे प्रसिद्ध था, इस गहराईमें उतरनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं। हमारा देश जबसे 'भारत' हुआ, उससे भी बहुत पहलेसे आजतक भारतकी आन और मानपर मिटने की जो शानदार कुर्बानियाँ जैन-वीरोंने की हैं, वे यद्यपि सबकी सब चिथड़ोंके बने काग़ज़पर लिखी हुई नहीं है, फिर भी इतिहासके अधूरे पृष्ठोंमें और पृथ्वीके गर्भमें जो लुप्ती पड़ी है, आँख वाले उन्हें देख सकते हैं।

जिसे पौराणिक युग कहा जाता है, जो जैनोंका सबसे उज्ज्वल पृष्ठ है, उसे न भी खोला जाय तो भी ऐतिहासिक युगके अवतरण जैनोंकी गौरव-गरिमाके चारण बने हुए हैं।

३२५ ई० पूर्व यूनानसे तूफानकी तरह उठकर सिकन्दर महान् पर्वतोंको रौंदता, नदियोंको फलाँगता देशके-देश कुचलता हुआ भूखे शेरकी भाँति जब भारतपर टूटा, तबका चित्र काश लिया गया होता तो आजके युवक उसे देखकर दहशतसे चीख उठते। बाज जैसे चिड़ियोंपर, सिंह जैसे हरिण समूहपर और नाग जैसे चूहोंपर झपटता है, उससे भी अधिक उसका भयानक आक्रमण था । करारी बूँदोंकी मार और सूर्यकी प्रचण्ड धूपको पर्वत जिस अनमने भाव

मैदानमें उसकी पौद लगनी चाहिये, सार्व-प्रेमकी हवा उसको पिलाई जानी चाहिये, विचार स्वातन्त्र्य-की धूप उसे खिलानेकी जरूरत है, वह वट-वृक्षकी तरह अमर है, बढ़ेगा, फैलेगा, फूलेगा, फलेगा।

अगर कोई धर्म प्रगति-शील है, उसके ग्रन्थोंमें नित्य कुछ घटाया-बढाया जाता है तो समझना चाहिये कि अनेकान्तका सिद्धान्त उस धर्ममें जीता जागता है। यदि ऐसा नहीं है तो समझना चाहिये कि उस धर्मके पण्डितों और अनुयायियोंकी जिह्वापर है काममें नहीं है। विज्ञानमें, कानूनमें, साहित्यमें, कलामें, सङ्गीत इत्यादिमें वह जीवित है। देशमें, राजमें, धर्ममें वह मर चुका है। अनेकान्त व्यावहारिक धर्मका प्राण है और समुदायकी शान्तिका ईश्वर है। अनेकता अने-कान्तके बिना टकरायेगी, टूटे-फूटेगी मरेगी नहीं। और अनेकता अनेकान्तके साथ, मिलेगी-जुलेगी, मीठे स्वर निकालेगी, आनन्दके बाजे बजायेगी, सुख देगी ।

अनेकान्तका फल है स्वममय, आत्माकी निर्लेप अवस्थाका ज्ञान, बेखुदीका इल्म, कर्मयोग, अना-सक्तियोग, जीवन मुक्त होजाना और परमात्मा बन जाना । [वीरसे]

से महन करता है। आँधीके वेगका वृक्ष जैसे सर झुकाकर बर्बस स्वागत करता है। उसी तरह भारतने सिकन्दरके आक्रमणपर यह सब किया!

जानपर खेल जानेका जिनका स्वभाव था, वह सिकन्दरकी युद्धाग्निमें पतङ्गेकी भाँति मर मिटे, कुछ गायकी तरह डकराये, कुछ नीची गर्दन किये भेड़ोंकी मौत मरे, कुछ हाय करके रह गये, कुछ विधाताकी लीला समझ चुप होगये। पर जिनके रक्तमें उबाल था, वे कीड़े-मकोडे, भेड़, बकरियोंकी तरह कैसे अपमानित जीवन व्यतीत करते?

उन्हींमें चन्द्रगुप्त था, पर निरा अबोध बालक। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जैसे सामर्थ्यवान सेना-संग्रह किये बगैर रावणसे भिड़नेको प्रस्तुत नहीं हुए, तब बालक चन्द्रगुप्त उस सिकन्दरसे कैसे टकराता जो पहाड़की तरह कठोर और दैत्यकी तरह रक्त-लोलुप था।

पर चन्द्रगुप्तमें साहस था, उसमें धैर्य था और चट्टानकी तरह *स्थिर निश्चय था*। *'भरत'*का *'भारत'* वह पद्दलित होते कैसे देख सकता था? उसने लोहेसे लोहा काटनेका निश्चय किया। सिकन्दरके पेटमें घुसकर उसने उसकी अन्तरङ्ग शक्ति और कमजोरीको भाँपा! और चाणक्यको लेकर नवीन पद्धतिसे सैन्य-संग्रह प्रारम्भ कर दिया।

भाग्यकी बात; महान् सिकन्दरकी क़िस्मतमें पराजयका कलङ्क नहीं बदा था। वह सैनिकोंके विद्रोह करनेपर पञ्जाबसे लौट गया और मार्गमें मर गया। उसके सेनापति सैल्युकसके हृदयमें भारत विजय करनेकी लालसा थी। सिकन्दरके आँख बन्द करते ही उसने वह विश्व-विजयी सेना फिर भारतकी ओर फेरी और कामदेवकी तरह दुन्दुभि बजाता हुआ भारतपर छागया।

चन्द्रगुप्तके क्रोधकी सीमा न रही। भारतके सुखी जीवनमें वह कैसे अशान्ति देख ले, वह कैसे अपने नेत्रोंसे धार्मिक क्षेत्रोंपर होते उत्पात देखे और कैसे कानोंसे अबलाओंका करुण-क्रन्दन सुने? वह अपने पूर्वजोंके भारतको क्योंकर विदेशियोंसे पद-दलित होते देखता? जबकि उसकी धमनियोंमें रक्त और बाहुओंमें बल था!

उसने आगे बढ़कर सैल्युकसको रोका, तनिक भारतके पानीका जौहर दिखलाया। जो सैल्युकस भारत-विजय करने और सम्राट् बनने आया था, वह मैदानसे भाग खड़ा हुआ। भारत-विजयका स्वप्न तो भङ्ग हुआ ही ब्याजमें अपनी कन्या चन्द्रगुप्तसे ब्याहनी पड़ी और काबुल, कान्धार, बिलोचिस्तान जैसे प्रदेश भी पराजय स्वरूप देने पड़े। भारतको दासताके पाशसे पहले-पहल मुक्तकर जैन-कुलोत्पन्न चन्द्रगुप्तने जैनोंकी गौरव-गाथाकी अमिट छाप लगादी, जिसे आज भी पराधीन भारतीय बड़े गौरव के साथ सुनते और कहते है।

— २ —

मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त जैनने भारतको दासताके पापसे मुक्त करके एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करके और अभूतपूर्व शासन-व्यवस्थाकी नींव डालकर जो शानदार उदाहरण उपस्थित किया है, उसपर हजारों ग्रन्थ लिखे जानेपर भी लेखकोंको अभी सन्तोष नहीं है।

चन्द्रगुप्तके बाद बिन्दुसार, अशोक, सम्प्रति आदि मौर्य सम्राटोंने उत्तरोत्तर भारतमें शासनका सुव्यवस्थाकी! यह मौर्यवंश जैनधर्मानुयायी थे। केवल अशोकने और उसके पुत्रने व्यक्तिगत बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था वैसे मौर्य राज्य घराना जैन धर्मानुयायी था। अशोकके पौत्र सम्प्रतिने अपने शासनकालमें जैनधर्मके प्रचारका बहुत अधिक उद्योग किया। यहाँ तक कि काबुल, कान्धार और बिलोचिस्तान जैसे बर्बर प्रदेशोंमें भी धर्मकी प्रभावना बढ़ानेके लिये जैनसाधुओंके संघ भिजवाए।

मौर्य राजाओंके निरन्तर प्रयत्न करने पर भारत जब सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा था। घर-घरमें मङ्गलाचार होरहे थे। उपद्रवों और सैनिक-प्रदर्शनोंके बजाए धार्मिक महोत्सव होते थे, रथ-यात्राएँ निकलती थीं। भारतीय स्वच्छन्द श्वास लेते थे तभी एक दुर्घटना हुई।

जैनधर्मका यह प्रचार, शान्तिका यह साम्राज्य जैनधर्मद्वेषी मौर्य सेनापति पुष्यमित्रसे न देखा गया उसने विश्वासघात करके धोखेसे मौर्य सम्राट् बृहद्रथको मार डाला और स्वयं सम्राट् बन बैठा[1]।

इस पुष्यमित्रने अपने शासनकालमें बौद्धों और जैनोंपर वह-वह क़हर ढाये, अत्याचार किये, जो महमूद गजनवी, अलाउद्दीन, तैमूर, औरङ्गजेब, नादिरशाहने भी न किये होंगे ?

इसी समय (ई० स० १८४) यवनराज दिमेत्रने भारतपर आक्रमण कर दिया, वह चाहता था कि भारतपर वह स्वयं शासन करे। भारतको पराधीनता के पाशमें बाँधनेका यह दूसरा प्रयत्न था। किन्तु इन्हीं दिनों कलिङ्गका राजा खारवेल जो कि जैन था, द्वितीयाके चन्द्रमाके समान बढ़ रहा था। उसने दिमेत्र और पुष्यमित्र दोनोंके हाथसे भारतके शासन की बागडोर छीन ली। खारवेलने अपने शासनकालमें जो जो लोकोत्तर और वीरता-धीरताके कार्य किये, इसकी साक्षी हाथी गुफामें अङ्कित शिलालेख आज भी दे रहा है[1]।

इस प्रकार दोबार भारतको विदेशियोंकी अधीनतासे जैनसम्राटोंने बचाया। जब जैन साम्राज्य नष्ट कर दिये गये और यहाँ अनेक दूषित वातावरण उत्पन्न होगये, तब भारत मुसलमानों द्वारा विजित कर लिया गया[2]। इस मुस्लिम कालीन भारतमें भी राजपूतानेमें, कर्माशाह, भामाशाह, दयालशाह, आशाशाह, वस्तुपाल, तेजपाल, विमलशाह, भीमसी कोठारी आदिने जो जो वीरता-धीरताके कार्य किये हैं, वे राजपूतानेके कण-कणपर अङ्कित हैं[3]।

१ मौर्य राजाओंका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये लेखक की "मौर्यसाम्राज्यके जैनवीर" १७३ पृष्ठकी पुस्तक देखनी चाहिये।

१ इस वीर पराक्रमी सम्राट्का जीवन लेखककी "आर्य-कालीन भारत" पुस्तकमें देखिये।

२ भारत परतन्त्र क्यों हुआ ? इसका विस्तार पूर्वक वर्णन लेखककी "आर्यकालीन भारत" पुस्तकमें मिलेगा।

३ इन सब शूरवीरोंका परिचय राजपूतानेके "जैन वीर" पुस्तकमें देखिये।

शंका-समाधान

१३ शङ्का—दिगम्बर-परम्परा और समस्त दिगम्बर-साहित्यमें भगवान महावीरके बालब्रह्मचारी एवं अविवाहित होनेकी जो मान्यता पाई जाती है वह क्या श्वेताम्बर-परम्परा और श्वेताम्बर-साहित्यमें उपलब्ध होती है ?

१३ समाधान—हाँ, उपलब्ध होती है। विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान और बहु सम्मानास्पद एवं विभिन्न निर्युक्तियोंके कर्ता आचार्य भद्रबाहुने अपनी प्रधान और महत्वपूर्ण रचना 'आवश्यक निर्युक्ति'में भगवान महावीरकी उन चार तीर्थंकरोंके साथ परिगणना की है जिन्होंने न राज्य किया और न विवाह किया तथा जो कुमारावस्थामें ही प्रवृजित (दीक्षित) होगये और जिससे यह जाना जाता है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी भद्रबाहु जैसे महान् आचार्य और उनके अनुयायी भगवान महावीरको बाल-ब्रह्मचारी एवं अविवाहित स्वीकार करते थे। यथा—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च ॥
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥
रायकुलेसुऽवि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु ।
न य इत्थिआभिसेया कुमारवासंमि पव्वइया ॥

—आवश्यक० नि०गा० २२१, २२२

अर्थात् वीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य इन पाँच जिनों (तीर्थंकरों) को छोड़कर शेष जिन राजा हुए। तथा उक्त पाँचों जिन विशुद्ध क्षत्रिय राजकुलोंमें उत्पन्न होकर भी स्त्री-सम्बन्धसे रहित रहे और कुमारावस्थामें ही इन्होंने दीक्षा ली।

आचार्य भद्रबाहुका यह समुल्लेख दोनों परम्पराओंके मधुर सम्मेलनमें एक अन्यतम सहायक हो सकता है।

१४ शङ्का—पञ्च णमोकार मंत्रमें जो 'णमो लोए सव्वसाहूणं' अन्तिम वाक्य है उसमें 'लोए' और 'सव्व' इन दो पदोंको जो पहलेके चार वाक्यों में भी नहीं है, क्यों दिया गया है ? यदि उनका देना वहाँ सार्थक है तो पहले अन्य चार वाक्योंमें भी प्रत्येकमें उन्हें देना चाहिए था ?

१४ समाधान—'लोए' और 'सव्व' ये दोनों पद अन्त दीपक हैं, वे अन्तिम वाक्यमें सम्बन्धित होते हुए पूर्वके अन्य चार वाक्योंमें भी सम्बन्धित होते हैं। मतलब यह कि जिन दीपक पदोंको एक जगहसे दूसरी जगह भी जोड़ा जाता है वे तीन तरह के होते हैं—१ आदि दीपक पद, २ मध्य दीपक पद और ३ अन्त दीपक पद। प्रकृतमें 'लोए' और 'सव्व' पद अंतिम वाक्यमें आनेसे अन्त दीपक पद है अत. वे पहले वाक्योंमें भी जुड़ते हैं और इसलिए पूरे नमस्कारमंत्रका अर्थ निम्न प्रकार समझना चाहिए—

१ लोकमें (त्रिकालगत) सर्व अरिहन्तोंको नमस्कार हो।
२ लोकमें (त्रिकालवर्ती) सर्व सिद्धोंको नमस्कार हो।
३ लोकमें (त्रिकालवर्ती) सर्व आचार्योंको नमस्कार हो।
४ लोकमें (त्रिकालवर्ती) सर्व उपाध्यायोंको नमस्कार हो।
५ लोकमें (त्रिकालवर्ती) सर्व साधुओंको नमस्कार हो।

यही वीरसेन स्वामीने अपनी धवला-टीकाकी पहली पुस्तक (पृ० ५२) में कहा है—

'सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोक शब्दावन्त दीपकत्वा दध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचरार्हदादि देवता प्रणमनार्थम्।'

१५ शङ्का—परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला आदि जैनन्यायके ग्रन्थोंमें प्रत्यभिज्ञान प्रमाणके, जो परोक्ष प्रमाणका एक भेद है, दोसे अधिक भेद बतलाये गये है; परन्तु अष्टसहस्री (पृ० २७९)में विद्यानन्द स्वामीने उसके दो ही भेद गिनाये है। क्या यह आचार्यमत-भेद है अथवा क्या है ?

१५ समाधान—हाँ, यह आचार्यमतभेद है। आचार्य विद्यानन्दने न केवल अष्टसहस्रीमें ही प्रत्यभिज्ञानके दो भेदोंको गिनाया है अपितु श्लोक-

वार्त्तिक और प्रमाणपरीक्षामें भी उसके दो ही भेद स्पष्टतः बतलाये हैं। यथा—

(क) 'तत् द्विधैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितम्'
—त० श्लो० पृ० १९०।

(ख) 'द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदमित्येकत्वनिबन्धनं तादृशमेवेदमिति सादृश्यनिबन्धनं च।'
प्र० प० पृ० ६९।

अतः यह एक आचार्यमान्यताभेद ही समझना चाहिए।

१६ शङ्का—जैसा प्रत्यभिज्ञानको लेकर आपने जैनन्यायमें आचार्योंका मान्यताभेद बतलाया है वैसा और भी किसी विषयको लेकर उक्त मान्यताभेद पाया जाता है?

१६ समाधान—हाँ पाया जाता है—

(क) आचार्य माणिक्यनन्दि और उनके व्याख्याकार आचार्य प्रभाचन्द्र तथा अनन्तवीर्य आदिने हेत्वाभासके चार भेद बतलाये हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर। यथा 'हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्कराः'—परीक्षा ६-२१। पर वादिराजसूरिने उसके तीन ही भेद गिनाये हैं। यथा—

'तत्र त्रिविधो हेत्वाभासः असिद्धानैकान्तिकविरुद्धविकल्पात्।' —प्रमाणनिर्णय पृ० ५०।

(ख) इसी तरह जहाँ अन्य अनेक आचार्योंने परोक्षप्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद प्रतिपादन किये हैं वहाँ आचार्य वादिराजने परोक्षके दो ही भेद बतलाये हैं और उन दो भेदोंमें अन्य प्रसिद्ध पाँच भेदोंका स्वरुचि-अनुसार अन्तर्भाव किया है। यथा—

'तच्च (परोक्षं) द्विविधमनुमानमागमश्चेति। अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति। तस्य चानुमानत्वं यथापूर्वमुत्तरोत्तरहेतुतयाऽनुमाननिबन्धनत्वात्।' प्र. नि. पृ. ३३

इसी तरहके आचार्योंके मान्यताभेद और भी मिल सकते हैं। कहनेका मतलब यह कि जैनसिद्धान्तकी तरह जैनन्यायमें भी आचार्योंका मतभेद उपलब्ध होता है और यह मतभेद कोई विरोध उत्पन्न नहीं करता। केवल ग्रन्थकारोंके विवक्षाभेद या दृष्टिभेदको प्रकट करता है।

१७ शङ्का—अतिक्रम और व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इनमें परस्पर क्या अन्तर है?

१७ समाधान—मानसिक शुद्धिकी हानि होना अतिक्रम है और मनमें विषयाभिलाषा होना व्यतिक्रम है। तथा इन्द्रियोंमें आलस्य (असावधानी)का होना अतिचार है और लिये व्रतको तोड़ देना अनाचार है। यथा—

अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषः।
तथातिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचार इह व्रतानाम्॥
—पट्० प्रा० टी० पृ० १६८ (उद्धृत)।

१८ शङ्का—नरकगतिमें सातवीं पृथिवीमें क्या सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है?

१८ समाधान—हाँ, सातवीं पृथिवीमें भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि आर्षग्रन्थोंमें नरकगतिमें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारणोंको निम्न प्रकार बतलाया है'—

'नारकाणां प्राक् चतुर्थ्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषांचिद् जातिस्मरणं। केषांचिद् धर्मश्रवणं। केषांचिद् वेदनाभिभवः। चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्या नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च।' —सर्वार्थसि० पृ० १२।

'तत्रोपरि तिसृषु पृथिवीषु नारकास्त्रिभिः कारणैः सम्यक्त्वमुपजनयन्ति केचिज्जातिं स्मृत्वा, केचिद्धर्मं श्रुत्वा, केचिद्वेदनाभिभूताः। अधस्ताच्चतसृषु पृथिवीषु द्वाभ्यां कारणाभ्यां केचिज्जातिं स्मृत्वा, अपरे वेदनाभिभूताः।'
—तत्त्वार्थवा पृ० ७२।

इन उद्धरणोंमें बतलाया गया है कि नरकगतिमें पहलेकी तीन पृथिवियोंमें तीन कारणोंसे सम्यग्दर्शन होता है—जाति स्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाभिभवसे। नीचेकी चार पृथिवियोंमें धर्मश्रवणको छोड़कर शेष दो कारणों—जातिस्मरण और वेदनाभिभवसे उत्पन्न होता है। अतएव सातवीं पृथिवीमें दो कारणोंका सद्भाव रहनेसे वहाँ सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है। परन्तु निकलते समय वह छूट जाता है।

३-४-४८] —दरबारीलाल कोठिया

त्यागका वास्तविक रूप

(प्रवक्ता पूज्य श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी, न्यायाचार्य)

[समाजका शायद कोई ही ऐसा व्यक्ति हो जो पूज्य वर्णीजी और उनके महान् व्यक्तित्वसे परिचित न हो। आप उच्चकोटिके विद्वान् होनेके अतिरिक्त सन्त, वक्ता, नेता, चारित्रवान् और प्रकृतिभद्र सहृदय लोकोत्तर महापुरुष हैं। महापुरुषोंके जो लक्षण हैं वे सब आपमें विद्यमान हैं और इसलिये जनता आपको बाबाजी एवं महात्माजी कहती है। आपकी अमृतवाणीमें वह स्वाभाविकता, सरलता और मधुरता रहती है कि जिसका पान करनेके लिये जनता बड़ी ही उत्कण्ठित रहती है और पान करके अपनेको कृतकृत्य मानती है। आज 'अनेकान्त'के पाठकोंके लिये उनके एक महत्वके अनुभवपूर्ण प्रवचनको, जिसे उन्होंने गत भादोंके पर्यूषणपर्वमें त्याग-धर्मके दिन दिया था, और जो अभी कहीं प्रकाशित भी नहीं हुआ, यहाँ दिया जाता है।

हम पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरके अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने वर्णीजीके पर्यूषणपर्वमें हुए प्रवचनोंके समस्त सङ्कलनको, जिसे उन्होंने स्वय किया है, 'अनेकान्त'के लिये बड़ी उदारतासे दिया। प्रस्तुत प्रवचन उन्हीं प्रवचनोंमेंसे एक है। शेष प्रवचन भी आगे दिये जावेंगे।
—कोठिया]

आज त्यागका दिन है। त्याग सबको करना चाहिये। अभी एक स्त्रीने अपने बच्चेको बड़े जोरसे चाँटा दिया। चाँटा देकर उसने अपनी कषायका त्याग कर लिया। आप लोग भी अपनी-अपनी कषायका त्याग कर यदि शान्त होजायें तो अच्छा है।

त्यागका अर्थ छोड़ना होता है पर छोड़ा क्या जाय? जो चीज़ आपकी नहीं है उसे छोड़ दिया जाय। अपने आत्माके सिवाय अन्य सब पदार्थोंमें ममत्व-भावको छोड़ दो, यही त्याग धर्म है।

आज संसारकी बड़ी विकट परिस्थिति है। जिन्होंने अपनी सम्पत्ति छोड़ी, स्त्री छोड़ी, बच्चे छोड़े और एक केवल चार रोटियोंके लिये शरणार्थी बने इधर-उधर भटक रहे हैं। उन लोगोंपर भी दुष्ट प्रहार कर रहे हैं। कैसा हृदय उनका है? कैसा धर्म उनका है? इस समय तो प्रत्येक मनुष्यको स्वयं भूखा और नङ्गा रहकर भी दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। आपके नगरमें यदि शरणार्थी आवे तो प्राणपनसे उनका उद्धार करो। मानवमात्र की सेवा करना प्रत्येक प्राणीका कर्त्तव्य है। आप लोग अच्छे अच्छे वस्त्र पहिने, अच्छा-अच्छा भोजन करें पर तुम्हारा पड़ौसी नङ्गा और भूखा फिरे तो तुम्हारे धनको एकबार नहीं सौबार धिक्कार है। अब समय ऐसा है कि सुवर्णके जेवर और जरीके कपड़े पहिनना बन्द कर देना चाहिये और सादी वेशभूषा तथा सादा खानपान रखकर दुःखी प्राणियोंका उपकार करना चाहिये।

एकबार ईश्वरचन्द्र विद्यासागरकी माँ बनारस आई। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरको कौन नहीं जानता? कलकत्ता विश्वविद्यालयका प्रिंसिपल, हरएक ऊँचेसे ऊँचे ऑफिसरसे उनकी पहिचान—मेलजोल। एक बार किसी ऊँचे ऑफिसरसे उनका मनमुटाव होगया। लोगोंने कहा कि वह उच्च अधिकारी है अतः उससे विरोध करना ठीक नहीं; पर ईश्वरचन्द्रने कड़ा जवाब दिया कि मै अपने स्वाभिमानको नष्ट

करके किसीको प्रसन्न नहीं रखना चाहता। दो दिनमे एक दिन तो खाना मिलेगा, दो जूनमें एक जून तो मिलेगा, अच्छे कपड़े न सही, सादा खद्दर तो मिलेगा; पर मै स्वाभिमानको नष्ट नहीं कर सकता। हाँ, तो उनकी माँ बनारस आई। अच्छे-अच्छे आदमी उनसे मिलने गये। उनके शरीरपर एक सफेद धोती थी। हाथमे एक कड़ा भी नहीं था, लोगोने कहा—माँ जी! आप इतने बड़े पुरुषकी माँ होकर भी इस प्रकार रहती है। उन्होंने जवाब दिया—क्या हाथोंकी शोभा सोना और चाँदीके द्वारा ही होती है; नहीं, इन हाथोंकी शोभा गरीबकी सेवासे होती है। भूखेको रोटी बनाकर खिलानेसे होती है। लोग उनका उत्तर सुनकर चुप रह गये। वास्तविक बात यही है। पर हम लोग अपना कर्त्तव्य भूल गये। हम केवल अपने आपको सुखी देखना चाहते है। दूसरा चाहे भाड़मे जाय, पर ऐसा करनेका विधान जैनधर्ममे नही है। जैनधर्म महान उपकारी धर्म है। वह एक-एक कीड़ी तककी रक्षा करनेका उपदेश देता है फिर मनुष्योंकी उपेक्षा कैसे कर देगा?

हैदराबादकी बात है। वहाँ एकबार अकाल पड़ा। लोग दुःखी होने लगे। मन्त्री चण्डूप्रसादको जब इस बातका पता लगा कि हमारी प्रजा दुःखी होरही है। उसने खजाना खुलवा दिया और सब लोगोंको यथावश्यक बाँट दिया। ईर्ष्यालु लोगोंने राजासे शिकायत की कि इसने सब खजाना लुटवा दिया, बिना खजानेके राज्यका कार्य कैसे चलेगा? राजाने भी उसे अपराधी मान लिया। तोपके सामने उसे खड़ा किया गया तीन बार तोप दागी गई पर एक बार भी नहीं चली। सब उसके पुण्य प्रभावको देखकर दङ्ग रह गये। कुछ समय बाद पानी बरस गया। लोगोंका कष्ट दूर होगया। खजानेसे जो जितना लेगया था सबने उससे दूना-दूना लाकर खजाना भर दिया। जब खजाना भर चुका तब मन्त्री अपना पद छोड़कर साधु होगया। यह तो रही तवारीखकी बात। मैं आपको आपके प्रान्तकी अभी चार साल पहलेकी बात सुनाता हूँ।

देवरानमे[1] लम्बू सिंघई था। अपने प्रान्तका भला आदमी था। पानी नहीं बरसा जिससे लोग दुखी होगये। गाँवके लोगोंने विचार किया कि इसके पास खूब अनाज रखा है। लूट लिया जाय। जब लम्पूको पता चला तब उसने अपना सब अनाज बाहर निकलवाया और लोगोंको बुलाकर कहा कि लूटनेकी क्या आवश्यकता है। तुम लोग ले जाओ बाँट लो। उसने, किसने कितना लिया, यह लिखा भी नही। उन्हीं लोगोंमेसे किसीने अपना कर्त्तव्य समझकर लिख लिया। अनाजके सिवाय उसने हजार दो हजार नकद भी बाँट दिये। भाग्यवश पानी बरस गया। लोगोंका सङ्कट दूर होगया। सबने सवाया लाकर बिना माँगे दे दिया। यदि आप दूसरे के दुःखमे सहानुभूति दिखलाएं तो वह सदाके लिये आपका कृतज्ञ होजाय—वह आपके विरुद्ध कभी बोल न सके।

मड़ावरे[2]की बात है। पातरे सिंघई वहाँ रहते थे। उस जमानेके वे लखपती थे। बड़े दयालु थे। वह जमाना अच्छा था। खूब सस्ता था। एक रुपये-का इतना अधिक गल्ला आता था कि आदमी उठा नहीं सकता था। उसी समयकी यह कहावत है कि 'एक बैल दो भइया पीछे लगी लुगैया तोई न पूरो होय रुपैया'। यदि कोई गरीब आदमी उनके पास पूंजीके लिये आता तो उसे वे बड़े प्रेमसे ५०) पचास रुपयेकी पूंजी दे देते थे। उस समय पचास रुपयेकी पूंजीसे घोड़ा भर कपड़ा आजाता था। आज तो चार जोड़ा भी नहीं आवेंगे। और ५०) रुपये उसके परिवारके खानेके लिये अलगसे दे देते थे। उस समय ५०)मे एक परिवार साल भर अच्छी तरह खा लेता था। पर आज एक आदमीका एक माहका पूरा खर्च भी ५०)मे नहीं होता। वह आदमी साल भर बाद जब रुपये वापिस करने जाता और ब्याजके १२) बारह रुपये बतलाता तो वे ब्याज लेनेसे इन्कार कर देते और जब कोई अधिक आग्रह करता तो

१ यह ओरछा रियासतका एक गाव है।—सपादक।
२ झांसी जिलेका एक कस्बा।

१) ले लेते और उसके बदले वायना (मिठाई) आदिके रूपमे उसे दसों रुपयेका सामान दे देते थे। सह-धर्मियोंसे वात्सल्य रखने वाले ऐसे पुरुष पहले होते थे। पर आजके मनुष्य तो चाहते है हमारा घर ही धनसे भर जावे और दूसरे दाने-दानेके लिये फिरे। इन विचारोंके रहते हुए भी क्या आप अपनेको जैनी कहते हो ?

धन इच्छा करनेसे नहीं मिलता। यदि भाग्य होता है तो न जाने कहाँसे सम्पत्ति आ टपकती है मैं मडावरेका हूँ। मेरा एक साथी था—परमादी। परमादी ब्राह्मणका लड़का था। हम दोनों एक साथ चौथी क्लासमे पढ़ते थे। परमादीके बापको ८) पेंशन मिलती थी और १०००) एक हजार उसके पास नकद थे। वह इतना अधिक कंजूस था कि कभी परमादी एक आध पैसेका अमरूद खाले तो वह उसे बुरी तरह पीटता था। बापके बर्तावसे लड़का बड़ा दुखी रहता था। अचानक उसका बाप मर गया। बापके मरनेके बाद लड़केने खूब खाना पीना शुरू कर दिया। बापकी जायदादको मिटाने लगा। मैंने उसे समझाया—परमादी! अनाप-शनाप खर्च क्यों करता है? पीछे दुःखी होगा। वह बोला, बड़े भाग्यसे बाप मरा तो भी न खावे-पीवे। भैया! उसने एक सालमे ही एक हजार मिटा दिये। मैंने कहा, परमादी अब क्या करोगे? वह बोला, भाग्यमे होगा तो और भी मिलेगा। मेरे भाग्यमे कोई महन्त मरेगा उसकी जायदाद मैं भोगूगा। ऐसा ही हुआ। वह वहाँसे मालवा चला गया। देखनेमे सुन्दर था ही, किसी महन्तकी सेवा खुशामद करने लगा। महन्त प्रसन्न होगया और जब मरने लगा तब लिख गया कि मेरा उत्तराधिकारी परमादी होवे। क्या था? अब वह लखपति बन गया। हाथी, घोड़े आदि महन्तोंका क्या वैभव होता है सो आप लोग जानते ही है। मै इलाहाबादमे पण्डित ठाकुरदासजीके पास पढ़ता था। वह भी एक वक्त गङ्गास्नानके लिये इलाहाबाद गया। मैं पुस्तक लेकर पण्डितजीके पास पढ़ने जारहा था, वह भी एक हाथीपर बैठा बड़े ठाटबाटके साथ जारहा था। मेरा ध्यान तो उस ओर नहीं गया, पर उसने मुझे देख लिया और हाथी खड़ाकर मुझसे बोला? मुझे पहचानते हो मैंने कहा अरे परमादी! उसने अपना किस्सा सुनाते हुए कहा, कि तुम तो कहते थे कि अब क्या करोगे? मैं अब मालवाका महन्त हूँ। दस-पाँच लाखकी जायदाद है।

सो भैया! जिसको सम्पत्ति मिलनी होती है सो अनायास मिल जाती है। व्यर्थकी चिन्तामे रात दिन पड़े रहना अच्छा नहीं।

जब बाईजीको मरनेके १० दिन रह गये तब लम्पूने उनसे कहा, बाईजी! कुछ चिन्ता तो नहीं है। उन्होंने कहा, नहीं है। लम्पूने कहा, छिपाती क्यों हो? वर्णीजीकी चिन्ता नहीं है। उन्होंने कहा, पहले थी; अब नहीं है। पहले तो विकल्प था कि हमने इसे पुत्रसे भी कहीं अधिक पाला, इसलिये मोह था कि यदि यह दो-चार हजार रुपये किसी तरह बचा लेता तो इसके काम आते। पर मैंने इसके कार्योंसे देखा कि यह एक भी पैसा नहीं बचा सकता। मैंने यह सोचकर सतोषकर लिया है कि लड़का भाग्यवान् है। जिस प्रकार मैं इसे मिल गई ऐसा ही कोई उल्लू और मिल जायेगा।

मै एक बार अहमदाबाद कांग्रेसको गया। पं० मुन्नालालजी, राजधरलाल वरया तथा एक दो सज्जन और भी साथ थे। अहमदाबादमे एक मारवाड़ीने नेवता किया। पूरी, खीर आदि सब सामान उसने बनवाया। मुझे ज्वर आता था, इसलिये पहले तो मैंने खीर नहीं ली। पर जब दूसरोंको खाते देखा और उसकी सुगन्धि फैली तो मैंने भी ले ली और खूब खाली। एक घण्टे बाद मुझे ज्वर आगया। इच्छा थी कि इतनी दूर तक आया तो गिरनारजीके दर्शन और कर आऊँ। शामको गाड़ीमे सवार हुआ। मेरे पैरोंमे खूब दर्द हो रहा था। पर सकोच था, इसलिये किसीसे यह कहते न बना कि कुछ दबा दो। रातको एक पूनाका वकील हमारे पास आया। कुछ देर तो चर्चा करता रहा पर बादमे मेरे सो जानेपर वह वहीं बैठा रहा। न जाने उसके मनमे क्या आया।

वह मेरे पैर दाबने लगा और रातके ३ बजे तक दाबता रहा। तीन बजे बोला—पण्डितजी, उठिये आपको यहाँ गाड़ी बदलनी है।

हम लोग धनकी चिन्तामें रात दिन व्यग्र होरहे हैं पर व्यग्र होनेमें क्या धरा ? धन रखते हो तो उसकी रक्षाके लिये तैयार रहो। लोग कहते हैं कि दूसरे लोग भीतर ही भीतर पहलेसे तैयारी करते रहे। अरे ! तुम्हारे दादाको किसने रोक दिया था ? जैन धर्म यह कब बतलाता है कि तुम नपुंसक बनकर रहो। लोग कहते हैं कि जैनधर्मने भारतको गारत कर दिया। अरे ! जैनधर्मने भारतको गारत नहीं कर दिया। जबसे लोगोंने जैनधर्म छोड़ा तबसे गारत हो गये। जैनधर्म तो प्राणीमात्रका उपकार चाहता है वह किसीका भी बुरा नहीं सोचता। वहाँ तो यही उपदेश है 'सर्वे सन्तु निरामयाः' सब निरामय नीरोग रहें। 'क्षेमं सर्वप्रजानां' सारी प्रजाका कल्याण हो। जैन-तीर्थकरोंने छह खण्डकी पृथिवीका राज्य किया, सो क्या कायर बनकर किया ? नपुंसक बनकर किया ? नहीं, जैनके समान तो कोई वीर हो नहीं सकता। उसे कोई घानीमें पेल दे तो भी अपने आत्मासे च्युत नहीं होता। जिन तो एक आत्मा विशेषका नाम है। जिसने रागादि शत्रुओंको जीत लिया वह जिन है। उसने जिस धर्मका उपदेश दिया वह जैनधर्म है। इसे कायरोंका धर्म कौन कह सकता है ?

आज त्याग-धर्म है। मैं धनके त्यागका उपदेश नहीं देता। और मेरी समझमें जो धनके त्यागका उपदेश देता है वह वक्ता बेवकूफ है। धन तुम्हारा है ही कहाँ ? वह तो स्पष्ट जुदा पदार्थ है। यह चादर जो मेरे शरीरपर है न मेरी है न मेरे बापकी है और न मेरी मात पेरीकी है। वह द्रव्य दूसरा है और मैं द्रव्य दूसरा। एक द्रव्यका चतुष्टय जुदा, दूसरे द्रव्यका चतुष्टय जुदा। आप पदार्थको जानते हैं। क्या पदार्थ आपमें आजाता है ? आप पेडा खाते हैं, मीठा लगता है क्या मीठा रस आपके आत्मामें घुस जाता है ? औरत बड़ी सफाईके साथ रोटी बनाती है क्या उसके हाथ या उसकी अङ्गुलियाँ रोटीरूप होजाती हैं ? कुम्हार मिट्टीका घड़ा बनाता है क्या उसके हाथ-पैर आदि घड़ारूप होजाते हैं ? नहीं, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश त्रिकालमें भी नहीं हो सकता। जब दूसरा द्रव्य हमारा है ही नहीं तब उसका त्याग करना कैसा ? यहाँ त्यागसे अर्थ है पर पदार्थोंमें आत्मबुद्धिका छोड़ना। धनका जोड़ना बुरा नहीं। आपके पास जितना धन है उससे चौगुना अपनी तिजोरियोंमें भरलो पर उसमें जो आत्मबुद्धि है उसे छोड दो। जब तक हम किसीको अपना समझते रहेंगे तब तक उसके सुख-दुःखके कारणोंसे हम सुखी-दुःखी होते रहेंगे। यह नरेन्द्र बैठा है इसे यदि हम अपना मानेंगे तो इसपर आपत्ति आनेपर हम स्वयं दुःखी हो उठेंगे। इसीलिये तो आचार्य कहते हैं कि आत्मातिरिक्त किसी भी पदार्थको अपना नहीं समझो। जिस समय आत्मामें ही आत्मबुद्धि रह जायगी उसी समय आप सुखी हो सकेंगे, यह निश्चय है।

जैनधर्मका उपदेश मोह घटानेके लिये ही है। आपके त्यागसे किसी पदार्थका त्याग नहीं हो सकता त्याग करके आप उस पदार्थकी सत्ता दुनियासे मिटा देनेमें समर्थ नहीं हैं। आप क्या कोई भी समर्थ नहीं है। उसमें केवल मोह ही छोड़ा जा सकता है। जब तक अपने हृदयमें मोह रहता है तब तक ही इस परिग्रहकी चिन्ता रहती है। मोह निकल जानेपर कोई भी इसे लेजाओ, इसका कुछ भी होता रहे, इसका विकल्प रञ्चमात्र भी नहीं होता। कल आपने वज्रदन्त चक्रवर्तीका कथानक सुना था। जब उसका मोह दूर हुआ तब उसके मनमें यह विकल्प नहीं आया कि हमारे इस विशाल राज्यको कौन सँभालेगा ? लड़कोंको राज्य देना चाहा, पर जब उन्होंने लेनेसे इकार कर दिया तब अनुन्धरीके छह माहके पुण्डरीक-को राज्य देकर जङ्गलमें चला गया। निर्मोह दशाका कितना अच्छा उदाहरण है। चक्रवर्तीके दीक्षा लेनेके बाद उनकी स्त्री लक्ष्मीमती अपने जमाई वज्रजंघको जो कि भगवान आदिनाथके जीव थे, पत्र लिखती है कि 'पति और पुत्र सभी साधु होगये हैं। जिसपर

२५४६ वर्ष बाद

जय स्याद्वाद

[ले०—प्रो० गोराबाला खुशाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य]

"दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।" (स्वामी समन्तभद्र)

उन्नति नहीं अवनति

भगवान् महावीरकी २५४५वीं जन्म-जयन्ती मनानेका विचार करते ही उन परिस्थितियोंका अनायास स्मरण हो आता है जिनका प्रतीकार करके लिच्छविकुमार सन्मतिने अनादि मार्गका प्रकाश किया था और अपनी तीर्थंकर सज्ञाको सार्थक बनाया था। चिर अतीतका ध्यान निकटतम वर्तमान पर दृष्टि डालनेके लिये लुभाता है। आधुनिक आविष्कार तथा ऐहिक सुख साधनकी अनियन्त्रित सामग्री क्षण भरके लिये शिरको ऊँचा और सीनेको तना कर देती है। अपनेको पूर्वजोंसे सभ्यतर मानने वाला यह मनुष्य कह ही उठता है कि ये ढाई हज़ार वर्ष व्यर्थ नहीं गये है। हमने आशातीत उन्नति की है। जहाँ अमेरिकाने उत्पादनकी समस्याको सुलझा दिया है, वहीं रूसने वितरणरीतिको सम कर दिया है। एक ओर यदि हिटलर और मुसोलिनीने हिंसाका ही डङ्का पीटा था तो दूसरी ओर युगपुरुष, मूर्तिमान-भारत, प्रियदर्शी गाँधीजीने अहिंसाकी शीतल मन्द सुगन्ध मलयानिलका प्रवाह किया था। यदि अमेरिका, रूस तथा अँग्रेजोंकी विजयको पशुबलकी सर्वोपरि जीत कहा जाय, तो सत्य और अहिंसाके बलपर प्राप्त सक्रिय तथा निष्क्रिय भारतकी दो भागों मे विभक्त स्वतन्त्रता भी नैतिक बलकी अभूतपूर्व विजय है। आज समयकी तराजूके एक पलड़ेपर अमेरिकाका अणुबम है और दूसरेपर गाँधीजीकी अहिंसामय नीति। अनायास ही ऐसा प्रतीत होता है कि हम उस युगसे जारहे हैं जिसमे प्रत्येक वस्तु संभवतः विकासकी चरमसीमा तक पहुँच चुकी है। किन्तु वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। क्या आज दृष्टिभेदके कारण व्यक्ति-भेद और राष्ट्र-वैमनस्य नहीं है? क्या अहिंसा पुज्य गाँधीजीको गोली मार मनुष्यकी हिंस्रवृत्ति-नारकीयतासे भी नीचे नहीं चली गई है? निःशस्त्रीकरणका राग अलापते-अलापते क्या मनुष्य ने महामारू-अस्त्र अणुबम नहीं बना डाला है? क्या धर्मके नामपर हिंसा, चोरी, झूठ, अकल्पित व्यभिचार तथा संचयका ताण्डव नहीं होरहा है? सच तो यह है कि मनुष्यने ये ढाई हज़ार वर्ष संकल्प पूर्वक अपनी अवनति और उन सब आदर्शोंका

राज्यका भार आया है वह छोटासा बालक है। प्रभावशाली शासकके न होनेसे राज्यमें अराजकता मच रही है। आप आइये।' वह प्रकरण बाँचकर आँखोंमे आँसू आजाते है। कहाँ छह खण्डके अधिपति चक्रवर्तीकी रानी और कहाँ रक्षाके लिये दूसरे को पत्र लिखता है? कल जो रक्षक थी वह आज रक्षाके लिये दूसरोंका मुँह ताकती है। भैया! यही तो संसार है, ससारका स्वरूप ऐसा ही है।

त्याग करनेसे कोई कहे कि हमारी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है सो आज तक ऐसे उदाहरण देखनेमें नहीं आये कि कोई दान देकर दरिद्र हुआ हो।

जब वसन्त याचक भये दीने तरु मिल पात।
इससे नव पल्लव भये दिया व्यर्थ नहिं जात॥

एक कविकी यह कितनी सुन्दर उक्ति है। जब वसन्त याचक होता है तब वृक्ष पतझड़ बन जाते हैं—अपने-अपने पत्ते दे डालते हैं। यही कारण है कि उनमें नये-नये पत्ते पैदा होजाते हैं।

मटियामेंट करनेमें लगाये हैं जिनकी शिक्षा भगवान महावीरने दी थी। इसीलिये बर्नार्डशा जैसे व्यक्ति की आँखें वर्तमान सभ्यताके गाढ़ अन्धकारको चीरती हुई वीर प्रभुके उपदेशपर ठिठककर रह गई हैं। क्योंकि रूस-अमेरिकाकी प्रतियोगिता, तानाशाही के जन्मकी आशङ्का, और मुसलिम-अमुसलिम अकारण वैमनस्यका विकार आदिका अन्त शोषित और शोषक द्वन्द्वका विनाश तथा नैतिकताका पुनरुद्धार उसी प्रणालीसे संभव है जिसमें "दृष्ट और इष्टका विरोध नहीं है" जैसा कि वीरप्रभुने कहा था।

राजनैतिक अस्याद्वाद

विगत विश्व युद्धके घावोंपर अभी पट्टी भी नहीं बँध पाई है। कुपथगामी वीर जर्मन-राष्ट्र समता, स्वतन्त्रता और स्वजनताके हामी राष्ट्रके पैरोंके तले कराह रहा है। वर्षों बीत गये पर कोई अन्तिम संधि नहीं हो सकी है। यह सब होते हुये भी तीसरे विश्व युद्धकी तैयारी होने लगी है। खुले आम अमेरिका और रूसने अपने दल बनाने प्रारम्भ कर दिये है। दोनो दलोंकी इस वृत्तिने वर्तमान (दृष्ट) की प्रगतिको ही नहीं रोक दिया है अपितु भविष्यकी सभावना (इष्ट)को भी अन्धकाराच्छन्न कर दिया है। मोटे रूपसे देखनेपर कोई ऐसा कारण सामने नहीं आता जो रूस और अमेरिकाके मनोमालिन्यके औचित्यको सिद्ध कर सके। तथोक्त जाग्रत राजनीतिज्ञ कहते है कि साम्यवादी रूस पूंजीवादी अमेरिकाके प्रसारकी कैसे उपेक्षा करे? किन्तु दोनों देशोंके जन तथा शासनका पर्यवेक्षण करनेपर कोई ऐसी भलाई या बुराई नहीं मिलती जो एकमें ही हो, दूसरेमें बिल्कुल न हो। दोनों देश उत्पादन, संचय तथा वितरणको खूब बढ़ा रहे है। यदि एक व्यक्तिगत रूपसे तो दूसरा समष्टिगत रूपसे। दोनों देशोंका आदर्श भौतिक (जड़) भोगोपभोग सामग्रीका चरम विकास है। अपने दलके लोगों, राष्ट्रोंको धन-जनसे सहायता में कोई नहीं चूक रहा है। साधन, साध्य और फल-की एकतामें दृष्टि या 'वाद' भेदकी हल्कीसी छाया भी नहीं दीखती है। तथापि पग पगपर 'दृष्टि' या 'वाद' भेदकी दुहाई दी जाती है। और एक दूसरेको अपना घातक शत्रु मान बैठा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कल्पित दृष्टिभेद ही विश्वके वर्तमानको प्रत्यक्ष रूपसे बिगाड़े हुये है और पाप तथा दुखःमय भविष्यकी कल्पना करा रहा है। जब कि साम्यवाद तथा जनतन्त्रवादके मूढ़ग्राहको छोड़कर अमेरिका-रूस विश्वको शान्ति, सुख और सदाचारकी ओर सरलता से ले जा सकते है। यह तभी सम्भव है, जब हम स्याद्वाद या बौद्धिक अहिंसा, या सब दृष्टियोंसे विचारना अथवा उदारदृष्टिसे काम ले जो प्रत्यक्ष ही संघर्ष और अशान्तिसे बचाता है तथा मैत्री और प्रमादपूर्ण भविष्यकी कल्पना कराता है।

धार्मिक अस्याद्वाद

जहाँ राजनैतिक विचार सहिष्णुतासे वर्तमान विश्वमें मध्य-पश्चिमी योरुप, अमेरिका, चीन, बर्मा आदिकी समस्याएँ सरलतासे सुलझ सकती है, वहीं धार्मिक विचार सहिष्णुता द्वारा मुसलिम तथा अमुसलिम राष्ट्रोंके बीच चलने वाला संघर्ष भी शान्त हो सकता है। सन् १९२४ के बादसे धार्मिकता या साम्प्रदायिकताके नामपर भारतमें जो हुआ है, उससे साधारणतया साम्प्रदायिकता और विशेष रूपसे इस्लामकी ओरसे की गई इतिहास-सिद्ध आक्रमकता और बर्बरताकी पुष्टि तो होती ही है, साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो गया है कि इस धार्मिक उन्मादसे किसी भी धर्म या सम्प्रदायका वास्तविक प्रचार और प्रसार हो ही नहीं सकता। यदि इसके द्वारा कुछ हुआ है तो वह है सामाजिक मर्यादाओंका लोप और अनैतिकताका अनियन्त्रित प्रचार।

अतीतको भूलकर यदि १५ अगस्त सन ४६ के बादके भारतपर ही दृष्टि डाले तो ज्ञात होता है कि 'साक्षात् क्रिया' माने मारकाट, चोरी, डकैती, अप-हरण तथा नारकीय व्यभिचार; मुसलिम लीग, हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वय सेवकसङ्घ माने देशद्रोह और मानवताकी फाँसी। इस प्रकार धर्म और सम्प्रदायके नामपर इधर डेढ़ वर्षमें जो हुआ है, उस ने भारतकी सनातन विरासत नैतिकताकी नींवको

ऐसा खोद डाला है कि हमारा सामाजिक वर्तमान (दृष्ट) ही विरूप और नष्ट नहीं हुआ है अपितु भविष्यको कल्पना (इष्ट) भी अत्यन्त अस्पष्ट और निराशाजनक होगई है। यह सब हुआ धर्मके नशेके कारण, धर्मके कारण नहीं। इतिहास इस बातका साक्षी है कि अमुस्लिम धर्मोंने भारतमें इस्लाम या उसकी संस्थापर कभी आक्रमण नहीं किया है। इतना ही नहीं, मुस्लिम आक्रमणके बादसे ही सब प्रकारसे मुसलमानों द्वारा सताये जानेपर भी अमुस्लिम भारतने उन दुर्घटनाओंको भुला ही दिया है। यही अवस्था प्राचीन भारतीय सम्प्रदायों और धर्मों के पारस्परिक कलह और दमनकी हुई है। तथापि मनुष्यमें इतना विवेक नहीं जागा कि धर्म "जीव उद्धार" की कला है। जिसे जहाँ विशुद्धि मिले, उसे वहीं स्वतन्त्रता पूर्वक रहने दिया जाय। क्योंकि जो सत्य रूपसे किसी भी धर्मको मानते हैं, वे कभी आपसमें नहीं लड़ते। फलत: न इस्लाम खतरेमें है और न हिन्दू या यहूदी धर्म ही विश्वका स्वर्ग बना सकता है। अत: मनुष्यको अपने आप अपनी दृष्टि बनाने, ज्ञान प्राप्त करने और आचरण करनेकी स्वतन्त्रता होनी ही चाहिये। भगवान महावीरके इस समन्तभद्र धर्मके द्वारा ही हम भारत तथा फिलिस्तीन आदि देशोंकी तथोक्त धार्मिक गुत्थियां सरलतासे सुलझा सकते हैं।

सामाजिक अस्याद्वाद

धार्मिक असहिष्णुताकी राक्षसी सन्तानका ही नाम सामाजिक अनाचार या अस्याद्वाद है। आधुनिक युगके "वाद" या धर्मके पक्षपातने अनगिनती हानियाँ और अत्याचार किये है। किन्तु उन सबका सम्राट तो वह वृत्ति है जिसके कारण मनुष्य कुकृत्योंको आज निःसकोच भावसे कर रहा है जिनके करनेकी शायद उसने कल्पना भी न की होगी। मुस्लिमलीगने भारतकी अनेक हानियाँ की हैं, उनमें घातक तो वह अनाचार है जिससे उत्तेजित होकर अमुस्लिम भारतीयोंने भी उसकी पुनरावृत्ति की है। आज मुस्लिमके समान ही अमुस्लिम भारतीय किसीको छुरा भोंक देता है, आग लगा देता है, दूसरेकी बहू-बेटीको ले भागता है और कभी तथा कहीं भी बलात्कार करता है। हमारे सामाजिक वर्तमान (दृष्ट)की निस्सारता और पतन तो स्पष्ट है किन्तु यदि इन वृत्तियोंका निरोध न हुआ तो भविष्य का अनुमान (इष्ट) करते ही रोमांच हो आता है, प्राण सिहर उठते है। हिंसककी हिंसा, चोरकी चोरी, झूठे को धोखा, व्यभिचारीकी बहिन बेटीके साथ व्यभिचार और पूजीपतिके विरोधके लिये पूंजीपति बनना ही हमारी नीति और आदर्श होगये है—जैसा कि आजके विश्वमे स्पष्ट दिखाई देता है—तो साम्यवाद और समाजवाद, सामन्तशाही और नादिरशाही सभी बदतर सिद्ध होगे। विध्वस और पतनकी गति इतनी तेज होगी कि गत ४२ वर्षोंकी अभूतपूर्व वैज्ञानिक विध्वंस-प्रणाली भी उसके सामने वैसी लगेगी, जैसी बुन्देलेकी तलवार आज अणुबमके सामने लगती है। आजका सर्वतोमुख पतन इतना व्यापक है कि कुछ समय और बीतते ही वह स्वभाव मान लिया जायगा। क्योंकि आज बहुजनका जीवन तो शिथिलाचारकी ओर बढ़ ही चुका है। "महाजन को भी असयत होनेमें अधिक समय न लगेगा और फिर असयत ही 'पन्थ' या सहज जीवन हो जायगा। आजके विश्वमें किसीको यदि खतरा है तो वह है संस्कृति या मानवताको। चाहे पूजीवादी अमेरिका हो या समाजवादी रूस, सब ही इस खतरेकी चर्चा करते है। किन्तु किसी भी वादके अनुयायिओंका जीवन ऐसा नही है जिससे मानवताकी सुरक्षाकी आंशिक भी आशा बँधे।

धर्मनीति

तब क्या यह मान लिया जाय कि मनुष्यका सुधार नहीं ही हो सकता है। तथोक्त वैज्ञानिक प्रतीकार असफल है तब और क्या किया जाय? उत्तर कठिन नही है। यदि दो अणुबमोंने जापानका लङ्का-दहन कर दिया तो प्रियदर्शी गाँधीजीने भी तो हिन्दुत्वके कलङ्क—गोली मारने वालेको हाथ जोड दिये थे। यह दृष्टि, ज्ञान और आचरण कहाँसे

मिला ? सत्य और अहिंसामें ही तो ? यों तो भारतीय संस्कृति ही अहिंसा प्रधान है, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि इसका मूल स्रोत जैन मार्ग ही रहा है। तथा हमारे युगमें भगवान महावीर। भगवान वीरने ही तो स्पष्ट कहा था कि 'यदि हिंसककी हिंसा न्याय्य मानोगे तो कोई भी इस संसारमें अवध्य नहीं रहेगा मैत्री, प्रमोद, शान्ति और विकास असम्भव हो जायेंगे। यदि झूठको ही नीतिमत्ता मानोगे तो ऐसी नीतिमत्तामें किसीकी भी विपत्ति न टलेगी और संसारमें विश्वास नामकी वस्तु दुर्लभ हो जायगी। यदि धर्म भेद या व्यक्ति भेदके कारण दूसरेकी बहिन बेटीसे कुचेष्टा या बलात्कार करनेमें पुरुषार्थ मानोगे तो वह पुरुषार्थ तुम्हारी बहिन-बेटीकी मर्यादा और लज्जा नष्ट कर देगा। आवश्यकतासे अधिक पैसा संचय करनेमें यदि पाप न समझोगे तो कोई ऐसा पाप नहीं, जिसे करनेमें तुम हिचकोगे।'

सम्भव है, सौ-पचास वर्ष पहिले यह सब धर्मोपदेश सा लगता किन्तु आज तो यह अनिवार्य आवश्यकता है। अन्यथा आक्रांत जर्मनी तथा अन्य योरुपीय राष्ट्र, चीन, फिलिस्तीन, काश्मीर, हैदराबाद और पाकिस्तानमें सहज जीवनकी कल्पना भी संभव न रहेगी। किन्तु दूसरेके प्राण, वचन, धन, शील और आवश्यकताकी रक्षा हम तब ही कर सकते हैं जब हमारी दृष्टि व्यापक हो। जिसे मूढग्राह होगा उससे यह आशा तब तक नहीं की जा सकती जब तक उसे अपनी हठसे मुक्ति न मिले तथा उसकी दृष्टि परमहिष्णु न हो जाय। यह तब ही सम्भव है जब मनुष्य प्रत्यक्ष ही विकृत और पतित वर्तमानसे बचे तथा ऐसा कोई काम न करे जो प्रत्यक्ष ही बुरा है अथवा भीषण भविष्यका अनुमापक है। यह स्याद्वाद द्वारा ही सम्भव है क्योंकि इस प्रणालीमें प्रत्येक कल्पनाका विवध और व्यापक दृष्टिसे विचार करना आवश्यक है। तथा हर पहलूसे विचार करते ही वैर और विरोध स्वय काफूर होजाते हैं। अतः आजके राष्ट्र तथा सम्प्रदायगत विरोधोंको दूर करनेकी सामर्थ्य भगवान वीरके स्याद्वादमें ही है इस बौद्धिक अहिंसाके आते वाचनिक और कायिक अहिंसा स्वय सिद्ध हो जायगी। अतः प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे अबाधित स्याद्वाद ही ज्ञेय तथा आचरणीय है।

जैन सन्देशसे।

अपने ही लोगों द्वारा बलि किये गये महापुरुष

१ सुकरात—यूनानी दार्शनिक तत्त्ववेत्ता, ईसासे ३९९ वर्ष पूर्व जहर द्वारा।

२ ईसामसीह—आजसे १९४८ वर्ष पूर्व, यहूदियों द्वारा दी गई शूलीसे।

३ अब्राहमलिंकन - अमेरिकाके प्रथम राष्ट्रपति, १४ अप्रैल १८६५में गोली द्वारा।

४ माइकेल कोलिंस—आजाद आयर्लैंडके प्रथम राष्ट्रपति, १९२२में गोली द्वारा।

५ स्वामीदयानन्द—आर्यसमाजके संस्थापक, ३० अक्टूबर १८८३में जहर द्वारा।

६ स्वामीश्रद्धानन्द आर्यसमाज और कांग्रेसके नेता, गोली द्वारा।

७ आगसान—स्वतन्त्र वर्माके प्रथम प्रधानमन्त्री, १९ जुलाई १९४७में, पार्लियामेण्ट भवनमें, गोली द्वारा।

८ अमरसाहित्यकार टोडरमल—जैनसमाजके महाविद्वान और साहित्यकार, विक्रम संवत १८२४ (ई० १७६७)में धर्मान्धताप्रपूर्ण साम्प्रदायिकतासे अभिभूत एक नरेशकी अविचारित आज्ञासे हाथी द्वारा।

९ ट्राटस्की—रूसका लेखक और महान नेता, मेक्सिकोमें घरपर हथौड़े द्वारा।

१० महात्मा गाँधी—अहिंसा और मानवताके पुजारी, भारत तथा विश्वके महानतम मानव, सन्त और नेता, ३० जनवरी १९४८में, दिल्लीके बिड़लाभवनमें, नाथूराम गोडसेकी पिस्तौलकी तीन गोलियोंसे।

महामुनि सुकुमाल

(श्री ला० जिनेश्वरप्रसाद जैन)

[इस लेखके लेखक ला० जिनेश्वरप्रसादजी सहारनपुरके उन धार्मिक पुरुषोंमेंसे एक हैं जिनसे सहारनपुरका मस्तक ऊँचा है। आप ज्ञानवानों और चारित्रवानोंका बड़ा आदर किया करते हैं। लाला उदयराम जिनेश्वरप्रसादके नामसे प्रसिद्ध कपड़ेकी फर्मके आप मालिक हैं। अपने व्यापारसे उदासीन-जैसी वृत्ति रखते हुए आप सदा ही धर्मकी ओर यथेष्ट ध्यान रखते हैं। जैनगुरुकुल सहारनपुरके आप जन्म-दाता और अधिष्ठाता हैं तथा उसे हजारों रुपये प्रदान कर चुके हैं। हालमें आप सकुटुम्ब पूज्य क्षुल्लक वर्णीजीके दर्शन, वन्दन और उपदेशश्रवणके लिये बरुआसागर गये थे। वहाँपर वर्णीजीको आहार दान देनेका भी आपको सकुटुम्ब सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उधरसे वापिस आकर आपने विचारपूर्वक दर्शन-प्रतिमा ग्रहण की है। हालमें मेरी आपसे भेंट हुई। आपके विचारों, उन्नत धार्मिक भावों और शान्त परिणतिको जानकर बड़ा प्रमोदभाव हुआ। महामुनि सुकुमालके जीवनचरितपरसे आपने जो विचार बनाये उन्हें लेखबद्धरूपमें मुझे सुनाया। सुनकर मेरी तबियत बड़ी प्रसन्न हुई। मेरी प्रेरणापर उसे उन्होंने 'अनेकान्त' में प्रकट करनेके लिये भेजा है। आप यद्यपि लेखक नहीं हैं—सफल व्यापारी धनपात है—फिर भी अपने प्रथम प्रयत्नमें वे इतना सुन्दर लिख सके, यह जानकर पाठक भी प्रसन्न होंगे। आशा है अब आप अपने लिखनेका प्रयत्न बराबर जारी रक्खेंगे। —कोठिया]

आज बैठे बैठे विचार उत्पन्न हुआ कि वे प्रभु सुकुमाल स्वामी कौन थे? उनकी पूर्वली अवस्था कैसी थी, जिन्होंने इतनी वीरताके साथ कर्म-शृङ्खलाकी कड़ियोंको काटा था?

पूर्व अवस्थामें वे कर्मके प्रेरे पापोदयवश एक महादुर्गन्धा अस्पृश्य कन्याके शरीरमें बन्द इस ससार अटवीमें ही थे, जिसके शरीरमें इतनी दुर्गन्ध आरही थी कि उसको देखकर बहु-मनुष्योंका समुदाय नाकपर वस्त्र रखकर ही उस मार्गसे निकलता था।

उसी समय महान त्यागमूर्ति, ज्ञानस्वरूप, अनेक प्रतिमाधारी, महान तपस्वी एक ऋषि महाराज उसके समीपसे विहार करते हुए निकले, अचानक उनकी दृष्टि उस कन्यापर गई। उन्होंने विचार किया—अरे! यह तो कर्दममें लिपटा हुआ रत्न यहाँ पड़ा है और यह तो निकटभव्य आत्मा है। कर्मोंके चक्करमें फँसी हुई है। उन्होंने शीघ्र ही स्वदृष्टि उस ओर घुमाई और बोले—हे बालिके! तू कौन है? विचार तो सही? पूर्वली दशा तेरी कौन थी? किस पापो-दयसे तू इस अवस्थामें अवतरित हुई? विचार और सोच! तेरा कल्याण निकट है, तेरी अवस्था इस महान नारकीय दुःखसे छूटने वाली है, तनिक स्थिर-तासे विचार और उपयोग लगा!!

इतना वचन उन महान कल्याणकारी धीर-वीर, ज्ञानी, ऋषीश्वरका सुनकर वह विचारती है—ये कौन हैं? इनकी वाणी परम-सुहावनी मालूम पड़ती है। मुझ दीन-हीनपर क्यों करुणा करते हैं? मेरे तो समीप भी कोई नहीं आता। धन्य, इन वात्सल्यधारी महान् प्रभुको। इतना विचारते-विचारते उसे उसी क्षण पूर्वभवका जाति-स्मरण ज्ञान होता है और वर्तमान दशापर खेद होते-होते युगल नेत्रोंमें अश्रु-धार बह जाती है और वह लालायित दृष्टिसे निर्निमेष उनकी ओर देखती रहती है।

वे महामुनि उसे सम्बोधते हुए शीघ्र कहते हैं—

'हे पुत्री ! तू शीघ्र श्रविकाके व्रतोंको धारण कर। तुझे संसारमें परिभ्रमण करते-करते अनन्तकाल बीत गया, तेरी आयु भी अल्प है, जो शीघ्र पूरी होरही है। मुनिराजके करुणा-भरे इन वचनोंको सुनकर वह शीघ्र श्रविकाके व्रतोंको भावसहित धारण करके दृढताके साथ पालन करती हुई मरणको प्राप्त होती है और स्वर्गमे देवपर्य्यायको धारण करती है—स्त्रीलिङ्गका विच्छेद कर देती है। वहाँसे चयकर यही देवपर्य्यायका जीव एक राज सेठानीका पुत्र सुकुमाल कुमार होता है।

देखो, कर्मकी विचित्रगति! कहाँ तो दुर्गन्धयुक्त अस्पृश्य और अछूत कन्या और कहाँ महान् ऋद्धिधारी स्वर्गका देव! फिर कहाँ ये राजभोग, वैभवके ठाठ! जिनके अनेक स्त्रियाँ तथा कोमल शरीर। जिस शरीरमें राई और सरसों भी चुभती हों, जिनके नेत्रोंमेंसे आरतीके दीपकसे भी जल झरने लगे, जिनका महान कोमल शरीर एक विशेष प्रकारके तंदुल ही चुन-चुनकर भक्षण कर सके। कितनी कोमलता! कितना राजसी-ठाठ! वही सुकमाल कुमार एक दिन इस शरीर, कुटुम्ब और भोगोंको अनर्थकारी समझ संसार और देहसे भयभीत होकर और स्वको निरखकर एक सिंहकी तरह—गर्जना करते है और अपनेको सम्बोधते है- हे मूर्ख! तूने आज तक इन माता, स्त्री, धन-दौलत आदि भोगोंके चक्करमें पड़कर समस्त जीवन, समस्त काल और समस्त भावनायें व्यर्थ गँवाई। अब तो चेत! और अपनेको पहचान! तू तो पूर्ण प्रभु है। इस कटक-पूर्ण मार्गका त्याग कर। इन कर्म-फाँसोंसे निकल। अन्यथा प्रातःकाल होनेपर तू यहाँसे नहीं निकल सकेगा, इसलिये शीघ्रता कर।

यह विचार दृढ करते ही शीघ्रतासे ऊपरली खिड़कीके रास्ते धोती-दुपट्टोंकी कमन्द बनाकर वे धीरे-धीरे नीचे आते है। उनका वह महान् कोमल शरीर आज कमन्दकी रगड़ोंको खाता हुआ नीचे आता है और नीचे आनेपर वह पथरीली कंटक-सहित भूमिपर अपने युगल चरणोंको रख देता है। भूमिको छूते ही विशेष कोमलताके कारण उनके चरणोंमेंसे रुधिरकी धार बह निकलती है। पर सुकुमाल इसकी कुछ भी परवाह न करते हुए और वैराग्यभावोंसे ओत-प्रोत होते हुए निर्ग्रन्थ मुनियोंके चरणोंमें जाकर भक्तिपूर्वक वन्दना करके नतमस्तक होकर उनसे विशेष प्रार्थना करते है। हे प्रभो! हे कल्याणमूर्ति! हे अनन्तगुणोंके स्वामी! हे पतितोद्धारक! मुझे शीघ्र उबारो। मै इस ससाररूपी काराग्रहसे निकलकर निज कुटुम्बमें वास करना चाहता हूँ। मैं अब इस संसारसे तप्तायमान हूँ। प्रभो! मै अब आपके चरणोंमे रहकर इन कर्म-फाँसोंका तार-तार करूंगा। इनको निःसत्त्व करके आपके सदृश बनूंगा। मै ससार-वनी मे आज तक भ्रमा। हे प्रभो! हे स्वामिन! सिंह होते हुए भी मै अपनेको भूलकर गधोंकी टोलीमें फँस गया और कुम्हारके डंडे, अपनी ही भूलसे अपनी ही मूर्खतासे, आज तक खाता रहा!

हे प्रभो! उबारो! मुझ पतितको उबारो! अब मै आपके चरणोंमे आया हूँ। मुझे निरखो और अपना सेवक समझ मेरे कल्याण-मार्गकी जननी देव-दुर्लभा श्रीभगवती जिनदीक्षा मुझे प्रदान करो। यही मुझ दासानुदासकी आपसे प्रार्थना है। वे महान योगी परम वीतरागी, परम वात्सल्य-गुणधारी, धीर-वीर, ऋषिवर अपने युगल नेत्रोंको सुकुमालकी तरफ घुमाते हैं और मधुर-कोमल शब्दों द्वारा कहते है—

'हे वत्स! तूने प्रशंसनीय विचार किया। तूने स्वको समझ लिया और यह भी जान लिया कि पूर्वले भवमें तेरी यह आत्मा पूर्ण दुर्गन्धसे युक्त अस्पृश्य (अछूत) कन्याके शरीरमें बन्द थी। अब तूने होश किया। अब ही सही। अब भी तेरी आयु ३ दिवसकी है, इसलिये तीन दिवसमें ही तेरा कल्याण होगा। तू स्थिर हो स्वमें समा जा। यह श्रीभगवती जिनेन्द्र दीक्षा तेरा कल्याण करेगी'।

ऐसा कहकर वीतरागताके धनी उन परउपकार-निरत निर्ग्रन्थ मुनिराजने सुकुमालको श्रीजिन-दीक्षासे भूषित किया।

प्रभु सुकुमाल, वे राजर्षि सुकुमाल श्रीभगवती जिनदीक्षासे विभूषित होकर तुरन्त वनको विहार करते हैं और उनके पीछे-पीछे उनके चरणोंसे जो रुधिर बहता आरहा था उसको चाटते हुए उनके पूर्वले भवकी लात खाई हुई भावजका जीव शृगाली और उसके दो बच्चे तीनों वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँपर प्रभु सुकुमाल ध्यान-अवस्थामें—अखंड ध्यानमें निश्चल विराज रहे थे।

प्रभुका शृगाली अपने बच्चो सहित चरणोंकी तरफसे चाटना शुरू कर देती है, चाटते-चाटते वह भक्षण करना आरम्भ कर देती है, उधर दोनों बच्चे भी प्रभुको भक्षण करते हैं। इस तरह वे तीनों हिंस्र जन्तु उन महान मुनि श्रीसुकुमाल स्वामीको तीन दिवस पर्य्यन्त भक्षण करते रहे। भक्षण करते-करते वे प्रभुकी जंघा तक पहुँच गये। उधर प्रभु ध्यानारूढ हैं। ध्यानमें विचारते हैं—मैं तो पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हूं, आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञायक हूँ, चिदानन्द हूँ, नित्य हूँ, निरञ्जन हूँ, शिव हूँ, ज्ञानी हूँ, अखंड हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ, स्वयभू हूँ, आनन्दमयी हूँ, निश्चल हूँ, निजस्वरूप हूँ, नित्यानन्द हूँ, सत्यस्वरूप हूँ, समयसार हूँ। और यह देह गलनरूप, रोग रूप, नाना आधि-व्याधियोंका घर है। यह मेरी नहीं और न मैं इसका हूँ। कौन कह सकता है कि ऐसे ध्यानमग्न और उच्चतम आत्मीय भावनामें लीन महामुनि सुकुमाल शृगालीके द्वारा खाये जाते हुए दुखी थे। नहीं, नहीं, शृगालीके द्वारा खाये जाते हुए वे महामुनि दुखी नहीं थे, किन्तु उनका आत्मा परम सुखी था। वे तो आत्माकी चैतन्य परिणतिरूप अमृतका पान कर रहे थे। आत्माका सुखानुभव करनेमें वे ऐसे लीन थे कि शरीरपर लक्ष्य ही नहीं था। वे अनन्त सिद्धोंकी पंक्तिमें बैठकर आत्माके आनन्दामृतका उपयोग कर रहे थे।

इस प्रकार ध्यानमें लीन हो प्रभु इस नश्वरदेहसे विदा होकर सर्वार्थसिद्धि विमानमें विराजमान हो जाते हैं, जहाँसे एक मनुष्य पर्य्याय प्राप्तकरके उसी भवसे मोक्षमें पधारेंगे। धन्य इन महात्मा सुकुमाल स्वामीको। मेरा इन प्रभुवरको बारम्बार नमोस्तु।

ता० २२—४—४८

पं० रामप्रसादजी शास्त्रीका वियोग !

पं० रामप्रसादजी शास्त्री, प्रधान कार्यकर्ता 'ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन, बम्बई' का चैत्र वदी २ रविवार ता० ११ अप्रैलको शाम ५ बजे अचानक स्वर्गवास होगया। आप अर्सेसे अस्वस्थ चल रहे थे। आपके निधनसे समाजकी बड़ी क्षति हुई है। आप बड़े ही मिलनसार थे और वीरसेवामन्दिरको समय-समयपर भवनके अनेक ग्रन्थोंकी प्राप्ति होती रहती थी। आपकी इस असामयिक मृत्युको सुनकर वीरसेवामन्दिर परिवारको बड़ा दुःख तथा अफसोस हुआ। हम दिवङ्गत आत्माके लिये परलोकमें सुख-शान्तिकी कामना करते हुए उनके कुटुम्बीजनोंके प्रति हार्दिक सम्वेदना व्यक्त करते हैं।

—परमानन्द शास्त्री

सेठीजीका अन्तिम पत्र

(प्रेषक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय)

[पुराने कागजात उलटते हुए मुझे स्वर्गीय श्रद्धेय पं० अर्जुनलालजी सेठीका निम्न पत्र फुलिस्कैप आकारके छह पृष्ठोंमें पेंसिलसे लिखा हुआ मिला। यह पत्र जिनको सम्बोधन करके लिखा गया है, उनका नाम और उन सम्बन्धी व्यक्तिगत बातें और कुछ राजनैतिक चर्चाएँ जो अब अप्रासांगिक होगई हैं—छोड़कर पत्र ज्योंका त्यों दिया जा रहा है। पत्रके नीचे उनके दस्तख़त नहीं हैं। हालाँकि समूचा पत्र उन्हींका लिखा हुआ है। मालूम होता है या तो वे स्वयं इस कटे-कुटे पत्रको साफ करके भेजना चाहते थे या दूसरेसे प्रतिलिपि कराके भेजना चाहते थे। परन्तु जल्दीमें साफ न होनेके कारण वही भेज दिया। सम्भवतया जैनसमाजको लक्ष करके लिखा गया उनका यह अन्तिम पत्र है, ध्यान रहे यह पत्र मुझे नहीं लिखा गया था। पत्र मेरी मार्फत आया था इसलिये उन्हें दिखाकर मैंने अपने पास सुरक्षित रख छोड़ा था। लिखा जासका तो सेठीजीके संस्मरण भी "अनेकान्त"के किसी अङ्कमें देनेका प्रयत्न करूँगा।—गोयलीय]

अजमेर
१६ जुलाई १९३८

धर्म बन्धु,

संसारके मूलतत्वको अर्हत-केवली कथित अनेकान्त स्वरूपसे विचारा जाय और तदनुसार अभ्यास में उसका अनुभव भी प्राप्त हो तो, स्पष्ट होजाता है कि प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपनी विशेषता रखता है, और वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों ही प्रकारके जीवनमें परिवर्तन स्ववश हो चाहे परवश, अवश्यम्भावी होता है। यह परिवर्तन एकान्तसे निर्दोष श्रेयस्कर ही होगा ऐसा नहीं कहा जासकता। कई अवस्थाओंमें वैयक्तिकरूपसे और कतिपयमें सामूहिक रूपसे परिवर्तन अर्थात् इन्कलाब हित और कल्याणके विरुद्ध अवाञ्छनीय नहीं नहीं—विष फलदायक भी साबित होता है। मानव जातिका समष्टिगत इतिहास इसका साक्षी है। अतः भारतमें परिवर्तन—इन्क़लाबका जो शोर चहुँ ओर मच रहा है और जिसकी गूँज कोने-कोनेमें सुनाई दे रही है, उससे जैनसमाज भी बच नहीं सकता। परन्तु अनेकान्तदृष्टिमें तथा अनेकान्तरूप व्यवहारमें जैन समाजके लिये उक्त परिवर्तन ध्वनिसे उत्पन्न हुआ वातावरण किस हद तक लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकारका हित-साधक होगा, यह एक गहन विचारणीय विषय है। इसी समस्या और आशयको लेकर मैं आपके सम्मुख एक खुली प्रार्थना लेकर उपस्थित होता हूँ और आपका विशेष ध्यान बाल-सुखसे हटाकर अन्तस्तलकी तरफ ले जानेका प्रयास करता हूँ। मुझे आशा है कि मेरे रक्त-माँस रहित शुष्क तन पिंजड़के कैदी आत्माकी अन्तर्ध्वनि आपके द्वारा जैनसमाजियोंके बहिरात्मा और अन्तरात्मामें पहुँच जाय जो यथार्थ तत्वदर्शनकी प्रगति और मोक्षसिद्धि में साधक प्रमाणित हो।

आप ही को मैं क्यों लिख रहा हूँ, आपसे ही उक्त आशा क्यों होती है, इसका भी कारण है। मेरा जीवनभर जैनसमाज और भारतवर्षके उत्थानमें साधारणतया वाक्शूर वा क़लमशूरकी तरह नहीं गुजरा, मैंने असाधारण आकारके घन-पिण्डमें अपना और अपने हृदय-मन्दिरकी दिव्य तपस्वी-मूर्तियोंका उबलता हुआ रक्त दिया है, जैनों और भारतीयोंके उग्र तपोधन देवोंका प्रत्येक जीवन मार्ग में स्वपर-भेद जनित वासनाओंको भस्मीभूत करके सार्वहितके लक्षसे प्रगतिका क्रियात्मक सञ्चालन किया

और कराया है। भारतवर्षीय जैन-शिक्षा-प्रचारक समितिका सङ्गठन स्वर्गीय दयाचन्द्र गोयलीय और उनके वर्गके अन्य सत्यहृदयी कार्यकर्ता—मोती[1], प्रताप[1], मदन[2], प्रकाश[3] की जैसी राजनैतिक आत्मोत्सर्गी कड़ियाँ मेरे सामने इस असमर्थ दशामें भी चिर आराध्य-पदपर आसीन हैं; प्रातः-स्मरणीय आदर्श पण्डित-राज गोपालदासजी वरैया, दानवीर सेठ माणिकचन्द्र और महिला-ज्योति मगन बहनके आदिके नेतृत्व-मण्डलका मैं अंगीभूत पुजारी अद्यावधि हूँ और पर्देकी ओटमें उन सबकी सत्ता-वाटिकाका निरन्तर भोगी भी हूँ और योगी भी। कौन किधर कहाँसे यहाँ क्या और वहाँ क्या इत्यादि प्रत्येक प्रश्नके उत्तरमें मेरे लिये तो उक्त दिव्य महा-

---

१ स्वर्गीय वीर-शहीद मोतीचन्द सेठीजीके शिष्य थे। उन्हें आराके महन्तको वध करनेके अभियोगमें (सन् १९१३)में प्राण दण्ड मिला था। गिरफ़ारीसे पूर्व पकड़े जानेकी कोई सम्भावना नहीं थी। यदि शिवनारायण द्विवेदी पुलिसकी तलाशी लेनेपर स्वयं ही न बहकता तो पुलिसको लाख सर पटकने पर भी सुराग नहीं मिलता। पकड़े जानेसे पूर्व सेठीजी अपने प्रिय शिष्योंके साथ रोज़ानाकी तरह घूमने निकले थे कि मोतीचन्दने प्रश्न किया 'यदि जैनोंको प्राणदण्ड मिले तो वे मृत्युका आलिङ्गन किस प्रकार करें?' बालकके मुँहसे ऐसा वीरोचित किन्तु असामयिक प्रश्न सुनकर पहले तो सेठीजी चौंके, फिर एक साधारण प्रश्न समझकर उत्तर दे दिया। प्रश्नोत्तरके १ घण्टे बाद ही पुलिस ने घेरा डालकर गिरफ़ारकर लिया, तब सेठीजी उनकी मृत्युसे वीरोचित जूझनेकी तैयारीका अभि-प्राय समझे। ये मोतीचन्द महाराष्ट्र प्रान्तके थे। इनकी मृत्युसे सेठीजीको बहुत आघात पहुँचा था। इनकी स्मृतिस्वरूप सेठीजीने अपनी एक कन्या महाराष्ट्र प्रान्त जैसे सुदूर देशमें ब्याही थी। सेठीजीके इन अमर शहीद शिष्योंके सम्बन्धमें प्रसिद्ध विप्लववादी श्री० शचीन्द्रनाथ सान्यालने "बन्दी-जीवन" द्वितीय भाग पृ० १३७में लिखा है—"जैनधर्मावलम्बी होते हुए भी उन्होंने कर्तव्यकी खातिर देशके मङ्गलके लिये सशस्त्र विप्लवका मार्ग पकड़ा था। महन्तके खूनके अपराधमें वे भी जब फाँसीकी कोठरीमें कैद थे, तब उन्होंने भी जीवन-मरणके वैसे ही सन्धिस्थलसे अपने विप्लवके साथियोंके पास जो पत्र भेजा था, उसका सार कुछ ऐसा था—"भाई मरनेसे डरे नहीं, और जीवनकी भी कोई साध नहीं है; भगवान् जब जहाँ जैसी अवस्थामें रक्खेंगे, वैसी ही अवस्थामें सन्तुष्ट रहेंगे।" इन दो युवकोंमेंसे एकका नाम था मोतीचन्द और दूसरेका नाम था माणिकचन्द्र या जयचन्द्र। इन सभी विप्लवियोंके मनके तार ऐसे ऊँचे सुरमें बँधे थे जो प्रायः साधु और फकीरोंके बीच ही पाया जाता है।

१ प्रतापसिंह वीर-केसरी ठाकुर केसरसिंहके सुपुत्र और सेठीजीके प्रिय शिष्य थे। सेठीजीके उपदेश परसे ये उस समयके सर्वोच्च क्रान्तिकारी नेता स्वर्गीय रासबिहारी बोसके सम्पर्कमें रहते थे। इनके जाँबाज़ कारनामे और आत्मोत्सर्गकी वीर-गाथा 'चाँद' वगैरहमें प्रकाशित हो चुकी है।

२ मदनमोहन मथुरासे पढ़ने गये थे। इनके पिता सराफा करते थे। सम्पन्न घरानेके थे। सम्भवतः इनकी मृत्यु अचानक ही होगई थी। इनके छोटे भाई भगवानदीन चौरासीमें ११-१४-१५में मेरे साथ पढ़ते रहे हैं, परन्तु मदनमोहनके सम्बन्धमें कोई बात नहीं हुई। बाल्यावस्थाके कारण इस तरहकी बातें करनेका उन दिनों शऊर ही कब था?

३ प्रकाशचन्द सेठीजीके इकलौते पुत्र थे। सेठीजी की नज़रबन्दीके समय यह बालक थे। उनकी अनुपस्थितिमें अपने-परायोंके व्यवहार तथा आप-दाओंके अनुभव प्राप्त करके युवा हुए। सेठीजी ५-६ वर्षकी नज़रबन्दीसे छूटकर आये ही थे कि उनकी प्रवास-अवस्थामें ही अकस्मात् मृत्यु होगई। सेठीजीको इससे बहुत आघात पहुँचा। इन्हीं प्रकाशकी स्मृति-स्वरूप इनके बाद जन्म लेने वाले पुत्रका नाम भी उन्होंने प्रकाश ही रक्खा।

पुरुषोंकी आत्माएँ ही अचूक परीक्षा-कसौटीका काम देती हैं, चाहे उस समयमें और अब जीवोंके परिणाम और लेश्याओंमें जमीन आस्मानका ही अन्तर क्यों न हो गया हो।

सतनामें परिषदका अधिवेशन पहला मौका था तब उल्लेखनीय जैनवीर-प्रमुख श्री.................... के द्वारा आपसे मेरी भेंट हुई थी। मैं कई वर्षोंके उपयुक्त मौनाग्रहव्रतके बाद उक्त अधिवेशनमें शरीक हुआ था। इधर-उधर गत-युक्तके सिंहावलोकनके पश्चात् मैं वहाँ इस नतीजेपर पहुँच चुका था कि आप में सत्य-हृदयता है और अपने सहधर्मी जैनबन्धुओं के प्रति आपका वात्सल्य ऊपरकी झिल्ली नहीं है किन्तु रगोरेशेमें खौलता हुआ खून है परन्तु तारीफ यह है कि ठोस काम करता है और बाहर नहीं छलकता। ....

इस तरह मुझे तो दृढ प्रतीत होता है कि आपके सामने यदि मैं जैनसमाजके आधुनिक जीवन-सत्वके सम्बन्धमें मेरी जिन्दगी भरकी सुलझाई हुई गुत्थियों को रख दूँ तो आप उनको अमली लिबासमें जरूर रख सकेंगे। अपेक्षा—विचारसे यही निश्चयमें आया।

बन्धुवर,

आपने राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्रके गुटोंमें घुल-घुल कर काम किया है, उसकी रग-रगसे आप वाकिफ हो चुके हैं और तजरुबेसे आपको यह स्पष्ट हो चुका है कि हवाका रुख किधरको है। इसीसे परिणाम स्वरूप आपने निर्णय कर लिया कि जैनेतरोंकी ज्ञात वा अज्ञात भक्ष्य-भक्षक प्रतिद्वन्द्विताके मुकाबिलेमें सदियोंके मारे हुए जैनियोंके रग-पट्ठोंमें जीवन-संग्राम और मूल संस्कृतिकी रक्षाकी शक्ति पैदा हो सकती है तो केवल उन्हीं साधनों और उपायोंसे जो दूसरे लोग कर रहे हैं अथवा जिनमें बहुत कुछ सफलता जैनोंके सहयोगसे मिलती है। .. ..

आपके सामने आधुनिक काल-प्रवाहके भिन्न-भिन्न आन्दोलन समूह धार्मिक वा सामाजिक, वाञ्छनीय वा अवाञ्छनीय, हेय वा उपादेय, उपेक्षणीय वा अनुपेक्षणीय, आदरणीय वा तिरस्कार्य, व्यवहार्य वा अव्यवहार्य, लाभप्रद वा हानिकर इत्यादि अनेक रूप-रूपान्तरमें मौजूद हैं। उनमेंसे प्रत्येकका तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओंका गृहस्थ तथा त्यागी, श्रावक-श्राविकाओंके दैनिक जीवनपर एवं मन्दिर-तीर्थों अथवा अन्य प्रकारकी नूतन और पुरातन संस्थाओंपर पड़ा है, वह भी आपके सम्मुख है। मैं तो प्रायः सबमें होकर गुजर चुका हूँ, और उनके कतिपय कड़वे फल भी खूब चाख चुका हूँ और चाख रहा हूँ। अत आपका और आपके सहकारी कार्य-कर्ताओंका विशेष निर्णायक लक्ष इस ओर अनिवार्य-अटल होना चाहिये। नहीं तो जैन सङ्गठन और जैनत्वकी रक्षाके समीचीन ध्येयमें केवल बाधाएँ ही नहीं आएँगी, धक्का ही नहीं लगेगे, प्रत्युत नामा-निशान मिटा देने वाली प्रलय भी होजाय तो मानव-जातिके भयावह उथल-पुथलके इतिहासको देखते हुए कोई असम्भव बात नहीं है। अल्पसंख्यक जातियोंको पैर फूक-फूककर चलना होता है और बहुसंख्यक जातियोंके बहुतसे आन्दोलन जो उन्हींको उपयोगी होते हैं, अल्पसंख्यकोंमें घुस जाते हैं और उनके लिये कारक होनेकी अपेक्षा मारकका काम देते हैं। उनकी बाहरी चमक लुभावनी होती है, कई हालतोंमें तो आँखोंमें चकाचौंध पैदाकर देती है, मगर वास्तवमें Old is not gold glitters हरेक चमकदार पदार्थ सोना ही नहीं होता। बहुसंख्यक लोगोंकी तरफसे मखमली खूबसूरत पलङ्गोंमें ढके हुए खड्डे विचारपूर्वक वा अन्तःस्थित पीढ़ियोंके स्वभावज चक्रमें तैयार होते रहते हैं जिनके प्रलोभन और ललचाहटमें फँसकर अल्पसंख्यक लोग शत्रुको ही मित्र समझने लगते हैं, यही नहीं; किन्तु अपने सत्व-स्वत्वकी रक्षाका खयाल तक छोड़ बैठते हैं। क्रिमाधिकम् इस स्व-रक्षणकी भावना वासना भी उनको अहितकर जँचने लगती है। इसके अलावा भावी उदयावलीके बल अथवा यों कहें कि कालदोष से अभागे अल्पसंख्यकोंमेंसे कोई कस जैसे भी पैदा होजाते हैं जो अपने घरके नाश करनेपर उतारू होजाते हैं, गैरोंके चिराग जलाते हैं और पूर्वजोंके

सम्पादकीय

वीर-जयन्ती

गत वर्षोंकी तरह इस वर्ष भी चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को वीर-प्रभुकी जयन्ती समूचे भारतमें अत्यन्त उत्साह-पूर्वक मनाई गई। इस वीर-जयन्तीकी प्रणाली से जैनधर्मका काफी प्रसार हुआ है। पहले जैन-समाजके उत्सव आदि अत्यन्त संकुचित रूपमें होते थे। प्रायः जैनमन्दिर, जैनधर्मशाला और जैन उपाश्रय ही उत्सव और व्याख्यानादिके क्षेत्र नियत थे। सार्वजनिक सभाओंके करनेका न तो आमतौर-पर साहस होता था और न इस तरहके व्याख्यान-दाता ही प्राप्त थे।

वीर-जयन्तीकी यह परिपाटी पड़ जानेसे बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। इस अवसरपर अब प्रायः सर्वत्र सार्वजनिक स्थानोंपर सभाएँकी जाती है, कवि सम्मेलनों-मुशायरोंका भी आकर्षक कार्यक्रम रखा जाता है; सर्वधर्म सम्मेलन किये जाते है; नगर-जुलूस निकाले जाते है और व्याख्यान देनेके लिये नेताओं—लोकसेवी विद्वानोंको भी बुलानेका प्रयत्न किया जाता है। कितने ही स्थानोंपर जैनधर्मके समीपके सम्प्रदायोंके अनुयायी भेदभाव भूलकर यह उत्सव मनाते है और अपने भिन्नधर्मी देशवासियोंको भी प्रेमपूर्वक उसमें सम्मिलित करते है।

इस प्रयत्नसे भ्रातृत्वकी भावना बढ़ती है, जैन-धर्मके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है, फैली हुई अनेक भ्रामक धारणाएँ दूर होती हैं और जैनधर्मके मानवोचित सिद्धान्तोंका व्यापक प्रसार होता है।

वीर-जयन्तीके समान और भी सार्वजनिक तथा व्यापक दृष्टिकोण वाले उत्सवोंकी परिपाटी डालनी चाहिये। वीरसेवामन्दिर-द्वारा वीर-शासन-जयन्तीका आयोजन भी इसी तरहका पुण्य प्रयास है। अब इसका व्यापक प्रचार होनेकी नितान्त आवश्यकता है। कलकत्ता, बम्बईमें पर्यूषणपर्वपर व्याख्यानमालाकी सूझ भी अभिनन्दनीय है। आशा है अब जैनसमाज के बहुजनता वाले शहरों—इन्दौर, अजमेर, ब्यावर, जयपुर, सहारनपुर, देहली, जबलपुर, अहमदाबाद आदिके उत्साही कार्यकर्ता इस प्रथाका अनुसरण करेंगे। १४-२० शहरोंके कार्यकर्ताओंकी एक समिति बन जानी चाहिये, जो सार्वजनिक २०-२५ व्याख्यान-दाताओंका निर्वाचन करके इस तरहका कार्यक्रम निर्धारित करे जिससे ये विद्वान् १० शहरोंमें निरा-कुलता पूर्वक जाकर पर्यूषणपर्वमें व्याख्यान दे सकें। इस संगठित प्रणालीसे व्यय भी कम होगा और स्थानीय कार्यकर्ता विद्वानोंके बुलाने आदिकी झंझटसे भी बच सकेंगे। दस रोज एकसे एक नये विद्वान्का व्याख्यान सुननेके लिये जनता भी उत्साहित रहेगी और जैनधर्मको धीरे-धीरे सार्वजनिकरूप भी प्राप्त होगा।

भारतके लोकोपयोगी और सार्वजनिक कार्योंमें जैनोंका सदैव भरपूर सहयोग रहा है। हर उन्नत कार्योंमें सर्वत्र जैनोंने हाथ बटाया है, फिर भी वे सार्वजनिक दृष्टिकोणसे कितने उपेक्षित है, यह आभास पग-पगपर होता है।

इसका कारण यही है कि हमने इस विज्ञापनके युगमें जैनधर्मके सिद्धान्तोंको जनताके सामने लानेका

घरको अंधेरा नरक बना देते है।

............इस तरह जैनकुलोंमें, जैनपञ्चायतोंमें, जैनगृहोंमें चलती-चलाती ठण्डी पड़ी हुई अग्नाओंमें कलह, भीषण क्षोभ, और तत्कालस्वरूप तीव्र कषा-योदय और अशुभ बन्धके अनेक निमित्त कारणोंसे बचाकर जैनोका रक्षण, सगठन और उत्थान होगा, तभी इस समयकी लपलपाती हुई अनेकान्त-नाशक जाज्वल्यमान दावाग्निसे जैनधर्म और जैनसस्कृति स्थिर रहेगी।

ठीक-ठीक प्रयत्न नहीं किया। न हमने जैनधर्म सम्बन्धी कोई ऐसा ग्रन्थ निर्माण किया जिसमें जनता जैनधर्मके व्यापकरूपको समझ सके; न हमने जैनधर्मानुयायी आचार्यों, कवियों, राजाओं, सेनानायकों, शूरवीरों और कर्मवीरोंका प्रामाणिक इतिहास ही प्रकाशित किया है; न हमने जैन-चित्रकलाका परिचय दिया है और न हमने अपने लोकसेवी कार्यकर्ताओंका ही उल्लेख किया है। फिर किस आधार पर और किस विशेषतापर लोग जैनधर्मकी ओर आकर्षित हों और क्योंकर सार्वजनिकरूपमें जनताके सामने उल्लेख हो।

इस विज्ञापनके युगमें विज्ञापनके बलपर जापानी इमीटेशन घर-घर पहुँच सकते हैं और विज्ञापनका साधन न मिलनेसे हीरे-मोती बक्सोंमें रखे धूल फाँकते रहते हैं।

अतः आवश्यकता इस बातकी है कि जैनसमाज अपने संकुचित सम्प्रदायके गड्ढेसे निकलकर जैन-धर्मके सत्य-अहिंसा-अपरिग्रहवादका सार्वजनिकरूप से विश्लेषण करे। हमारे साधु, मुनिराजोंको अब उपाश्रय और मन्दिरकी संकुचित चारदीवारीसे निकलकर आम जनताके सामने अपने दिव्य उपदेश देने चाहिएं। हमें अपने मन्दिरोंके पुराने ढङ्ग बदलने होंगे। उनके सोने-चाँदीके चँवर-छतर-उपकरण तथा वर्तमान पूजा-पद्धति ही जैनधर्मके व्यापक प्रचारको रोकती है। जैनधर्मके मन्दिर ऐसे होने चाहिएं कि जहाँ न चौकीदारकी आवश्यकता रहे, न पुजारीकी और न ताले-कुञ्जीकी। एक ऐसी आमफहम (सबकी समझमें आने योग्य) दर्शन-पूजा-पद्धति हमें चालू करनी होगी जो मानवमात्रके लिये उपयोगी हो सके। हर मनुष्य भगवानकी शरणमें जा सके, हमें इस ओर अविलम्ब प्रयत्न करना होगा।

सदियों पूर्व श्रवणबेलगोलमें भगवान बाहुबलिकी मूर्तिका निर्माण करके हमारे पराक्रमी पूर्वजोंने हमारे सामने एक आदर्श रख दिया था और बता दिया था कि जिस वीतराग मूर्तिके ऊपर न चवर है न छतर है, जो न तालेमें बन्द है न पुजारीके आश्रित है, उस मूर्तिके आगे वे भी नतमस्तक होंगे जो हीरे-जवाहरातकी मूर्तियोंसे भी प्रभावित नहीं होते हैं। हम इस व्यापक और महान आदर्शको न समझ पाए और हमने वीतराग भगवान और जिनवाणी माताको तालोंमें बन्द करके रख दिया!

डालमियानगर (बिहार)
२६ अप्रैल ४८   —गोयलीय

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ आदिपुराण [छन्दोबद्ध]

लेखक, कवि श्रीतुलसीरामजी देहली। प्रकाशक, मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया, चन्दावाड़ी, सूरत। पृष्ठ संख्या ३८४ मूल्य ४) रुपया।

इस ग्रन्थका विषय इसके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें जैनियोंके प्रथम तीर्थङ्कर भगवान आदिनाथका, जिन्हें भागवतके पञ्चम स्कन्धमें ऋषभावतारके नामसे उल्लेखित किया गया है, जीवन-परिचय दिया हुआ है। साथ ही उनके पूर्वभवोंका चित्रण करते हुए प्रसङ्गवश अन्य कथाओंको भी दिया गया है। ग्रन्थ में २० सर्ग हैं जिनकी श्लोक संख्या चार हजार छहसौ अट्ठाईस बतलाई गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ विक्रम की १५वीं शताब्दीके विद्वान् भट्टारक सकलकीर्तिके संस्कृत आदिपुराणका हिन्दी पद्यानुवाद है। ग्रन्थमें चौपई, पद्धड़ी, घत्ता, दोहा, भुजङ्गप्रयात, मन्दाक्रान्ता, अडिल्ल, मोतियादाम आदि विविध छन्दोंका उपयोग किया गया है। कविता साधारण होते हुए भी वह भावपूर्ण है। इस पद्यानुवादके कर्ता पं० तुलसीरामजी हैं जो दिल्लीके निवासी थे, जो धर्मात्मा,

सज्जन तथा उदार प्रकृतिके थे, और समाजके कार्योंमें सदा भाग लिया करते थे। इनका ४० वर्षकी अल्प वयमें ही सवत् १९९६में स्वर्गवास हुआ है इस ग्रन्थकी प्रस्तावनाके लेखक प० सुमेरचन्दजी न्याय-तीर्थ उन्नतीपु हैं। प्रस्तावनामें ऐतिहासिक दृष्टिसे भगवान ऋषभदेवके जीवनपर विचार किया होता तथा ग्रन्थकी कविता और भाषा आदिके सम्बन्धमें आलोचनात्मक दृष्टिसे विचार किया जाता तो ग्रन्थकी उपयोगिता और भी अधिक बढ जाती। अस्तु

इस ग्रन्थके प्रकाशक मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया है जिन्होंने ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके स्मारक फण्डमें प्रकाशित किया है। और इस तरह ब्रह्मचारीजीकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनानेका प्रयत्न किया है, परन्तु इस ग्रन्थके प्रकाशमें लानेका सबसे प्रथम श्रेय बाबू पन्नालालजी अग्रवाल देहलीको है जिन्होंने इसकी प्रेस कापी स्वय करके भेजी है। आप बहुत ही प्रेमी सज्जन है, आपको अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशमें लानेका बडा उत्साह है। अतएव दोनों ही महानुभाव धन्यवादके पात्र है। पुस्तकमें प्रेस सम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ रह गई है फिर भी ग्रन्थ पठनीय है।

२ महाजन [ऐतिहासिक उपन्यास]

लेखक, कृष्णलाल वर्मा। प्रकाशक, बलवन्तसिंह महता, साहित्य कुटीर सोनाशेरी, उदयपुर। पृष्ठ सख्या १४८। मूल्य सजिल्द प्रति २॥) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें गुजरातके बादशाह मुहम्मद बेगड़ाके समय वि० स० १४०२से १४६८क मध्य घटने वाली घटना-का चित्रण है, जो गुजरातके समय खेमा सेठ द्वारा एक वर्ष तक दिये हुए अन्नदान और उसके उपलक्षमें मुहम्मद बेगड़ाद्वारा प्रदान की हुई 'शाह' पदवी आदिको उपन्यासका रूप दिया गया है। पुस्तक अकालकी समस्याको सुलझानेका मार्ग प्रदर्शन करती हुई महाजनोंकी गृहीजीवनकी त्याग और समुदार भावनाको प्रकट करती है। लेखकने इसमें पर्याप्त परिश्रम किया है और वह अपने कार्यमें सफल भी हुआ है। इस पुस्तककी प्रस्तावनाके लेखक भार्गव विट्ठल वरेरकर है, जो मामा वरेरकरके नामसे प्रसिद्ध है और मराठी वाङ्मयके सफल लेखक हैं। छपाई सफाई अच्छी है, परन्तु मूल्य कुछ अधिक जान पडता है।

३ टोडरमलाङ्क [विशेषाङ्क]

सम्पादक, प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ और प० भँवरलाल न्यायतीर्थ, मनिहारोंका रास्ता, जयपुर। वार्षिक मूल्य ३) रु०। इस अङ्कका मूल्य २) रुपया।

प्रस्तुत अङ्क वीरवाणीका विशेषाङ्क है जो आचार्य-कल्प प० टोडरमलजीकी स्मृतिमें निकाला गया है। इसमें पं० जीके जीवन-परिचयके साथ उनके कार्योंका संक्षिप्त परिचय भी कराया गया है। यद्यपि पण्डित जीके व्यक्तित्व एवं पाण्डित्यके सम्बन्धमें खासा मोटा ग्रन्थ लिखा जा सकता है, इससे पाठक सहज ही में जान सकते हैं कि वे कितने महान थे। समाज-में उनके ग्रन्थोंके पठन-पाठनका अच्छा प्रचार है। अतएव उनके नामसे जनता परिचित तो थी; किन्तु उनके जीवन-चरितसे प्राय अपरिचित थी। अतएव इस दिशामें पं० चैनसुखदासजीके प्रयत्नस्वरूप वीर-वाणीका यह विशेषाङ्क अपना खासा महत्व रखता है। परन्तु अङ्ककी साधारण छपाई-सफाई तथा प्रूफ सम्बन्धी कुछ अशुद्धियोंको देखकर दुःख भी होता है, कि क्या जैनसमाज अपने पूर्वजोंके उपकारको भूल गई है ? जो सुवर्णाक्षरोंमें अङ्कित करने योग्य हैं। सचमुच वीरवाणीने अपने थोड़े ही समयमें अच्छी प्रगति की है। आशा है भविष्यमें अपनेको वह और भी समुन्नत बनानेका प्रयत्न करेगी।

परमानन्द जैन साधेलीय

Regd. No. A-731

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ **अनित्यभावना**—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मूल्य।)

२ **आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र**—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी सानुवाद व्याख्या सहित। मूल्य।)

३ **सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ**—मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमें श्रीवीर-वर्द्धमान और उनके बादके, जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगल-कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना ३ साधुवेषनिदर्शन-जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

४ **अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड**—यह पञ्चाध्यायी तथा लाटी संहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्ल की अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया और पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १॥)

५ **उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा**— मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुये १४ पेजकी नई प्रस्तावना-सहित। मू० ।)

६ **न्याय-दीपिका (महत्वका नया संस्करण)** न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अबतक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, साथमें सम्पादक-द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका एक संस्कृत टिप्पण भी लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंको खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं और थोड़ी ही अवशिष्ट रह गई हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

७ **विवाह-समुद्देश्य**—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह-जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है। अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याओंको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण-द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रम से उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम होसकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा ही युक्ति-पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। बढ़िया आर्ट पेपरपर छपी है। विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य है। मू० ।।)

प्रकाशन विभाग—

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

प्रकाशक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये अयोध्याप्रसाद गोयलीय द्वारा रॉयल प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त

वैशाख, संवत् २००५ :: मई, सन् १९४८

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

वर्ष ९ ★ किरण ५

सञ्चालक व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

साधु-विवेक

असाधु

वस्त्र रँगाते मन न रँगाते, कपट-जाल नित रचते हैं;
'हाथ सुमरनी पेट कतरनी', पर-धन-वनिता तकते हैं।
आपा-परकी खबर नहीं, परमार्थिक बातें करते हैं;
ऐसे ठगिया साधु जगतकी, गली-गलीमें फिरते हैं॥

साधु

राग, द्वेष जिनके नहिं मनमें, प्रायः विपिन विचरते हैं;
क्रोध, मान, मायादिक तजकर, पञ्च महाव्रत धरते हैं।
ज्ञान-ध्यानमें लीन-चित्त, विषयोंमें नहीं भटकते हैं;
वे हैं साधु, पुनीत, हितैषी, तारक जो खुद तरते हैं॥

—पं० दलीपसिंह कागजी

विषय-सूची

वीरशासन-जयन्ती मनाइये

श्रावण कृष्ण-प्रतिपदाकी पुण्यतिथि आरही है

इस वर्ष आगामी २२ जुलाई १९४८ बृहस्पतिवार-को श्रावणकृष्णाप्रतिपदाकी पुण्य-तिथी अर्थात् वीरशासनजयन्ती अवतरित हो रही है। इस दिन भगवान् महावीरका तीर्थ (शासन) प्रवर्तित हुआ था—इसी दिन उन्होंने अपना लोक-कल्याणकारी सर्वप्रथम उपदेश दिया था, उनकी दिव्यध्वनि वाणी पहले पहल खिरी थी, जिसे सुन कर दुखी और अशान्त जनताने सुख-शान्तिका अपूर्व अनुभव किया था साथ ही धर्मके नामपर होनेवाले बलिदानों और अत्याचारों-की रोक हुई थी। भगवान वीरने हिंसा अहिंसा तथा धर्म-अधर्मका तत्त्व इसी दिनसे समझाना प्रारम्भ किया था, अहिंसा और अपरिग्रह धर्मका लोगोंको यथार्थ स्वरूप समझाया था और इसलिये यह दिन कृतज्ञ संसारके लिये बड़े महत्वका है।

इसके सिवाय, इस तिथिका ऐतिहासिक भी महत्व है। भारतवर्षमें पहले वर्षका प्रारम्भ इसी दिनसे हुआ करता था।

इस तरह यह पुण्यतिथि—वीरशासन जयन्ती सभीके द्वारा समारोहके साथ मनाये जानेके योग्य है। सब जगह प्रत्येक गाँव और शहरके लोगोंको अभीसे उसको मनानेकी तैयारियाँ शुरू कर देनी चाहिये। वीरसेवामन्दिर इस बार इस पुण्य पर्वको मनानेकी कुछ विशिष्ट आयोजनाएँ तत्परताके साथ कर रहा है। इस दिन अहिंसा और अपरिग्रह-जैसे जैन सिद्धान्तोंका प्रचारक सुन्दर साहित्य लोकमें प्रचुर मात्रामें प्रचारित किया जाना चाहिये, महावीर-सन्देशको घर घरमें पहुँचाना चाहिये और उसके अनुसार चलनेका पूरा प्रयत्न होना चाहिये।

—दरबारीलाल कोठिया (न्यायाचार्य)

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	मई
किरण ५	वैशाख शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७४, विक्रम-संवत २००५	१९४८

सम्यग्दृष्टि

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट, सीतलचित्त भयौ जिम चन्दन ।
केलि करै सिवमारगमै, जगमाहि जिनेसुरके लघुनन्दन ॥
सत्यसरूप सदा जिन्हकै, प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकन्दन ।
सांतदशा तिन्हकी पहिचानि, करै करजोरि बनारसि वन्दन ॥१॥

स्वारथके साँचे परमारथके साँचे चित, साँचे साँचे बैन कहैं साँचे जैनमती हैं ।
काहूके विरोधि नाहि परजाय-बुद्धि नाहिं, आतमगवेषी न गृहस्थ है न जती है ॥
सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमै प्रगट सदा, अन्तरकी लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं ।
दास भगवन्तके उदास रहै जगतसौं, सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ॥२॥

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ, हिरदै हरखि महामोहकौं हरतु है ।
साँचौ सुख मानै निज महिमा अडोल जानै, आपुहीमे आपनौ सुभाउ ले धरतु है ॥
जैसे जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै, तैसैं जीव अजीव बिलच्छनु करतु है ।
आतम सकति साधै ग्यानकौ उदौ अराधै, सोई समकिति भवसागर तरतु है ॥३॥

—कवि बनारसीदास

परमात्मराज-स्तोत्र*

(श्रीपद्मनन्दिमुनि विरचित)

यस्य प्रमाद-वशतो वृषभादयोऽपि प्रापुर्जिनाः परम-मोक्षपुराऽधिपत्यम् ।
आधन्तमुक्त-महिमानमनन्त-शक्ति भक्त्या नमामि तमहं परमात्मराजम् ॥ १ ॥
त्वां चिद्घनं समयसारमखण्डमूर्तिं ज्योतिःस्वरूपममल पर-भाव-मुक्तम् ।
स्तोतु न सूक्ष्म-मतयोयनयोऽपि शक्ताः कोऽहं चिदात्मक पुनर्जडिमैक-पात्रम् ॥ २ ॥
प्रोक्तं कथञ्चिदिह तत्त्वविदांवरेण चिद्रूप तत्र भवतोभवतः स्वरूपम् ।
नो बुद्ध्यते बुधजनोऽप्यथवा प्रबुद्धं तन्मोक्षमक्षय-सुखं द्रुतमातनोति ॥ ३ ॥
यो ज्ञानवान्स्व-परयोः कुरुते विभेदं ज्ञानेन नीर-पयसोरिव राजहंसः ।
सोऽपि प्रमोद-भर-निर्भरमप्रमेय-शक्ति कथञ्चिदिह विन्दति चेतनत्वम् ॥ ४ ॥
तादात्म्य-वृत्तिमिह कर्म-मलेन साकं यः स्वात्मनो वितनुते ततुधीः प्रमादात् ।
स त्वां चिदात्मक कथं प्रथितप्रकाश विश्वाऽतिशायि-महिमानमवैति योगी ॥ ५ ॥
चित्राऽऽत्म-शक्ति-समुदाय-मयं चिदात्मन् ये त्वां श्रयन्ति मनुजा व्यपनीत-मोहाः ।
ते मोक्षमक्षय-सुखं त्वरित लभन्ते मूढास्तु मसृति-पथे परितो भ्रमन्ति ॥ ६ ॥
चित्पिण्ड-चण्डिम-निरस्कृत-कर्मजाले ज्योतिर्मये त्वयि समुल्लसति प्रकामम् ।
निक्षेपधीः क नय-पक्ष-विधिः क शास्त्रं कुत्राऽऽगमः क च विकल्प-मतिः क मोहः ॥ ७ ॥
स्याद्वाद-दीपित-लसन्महसि त्वयीशे प्राप्तोदये विलयमेति भव-प्रसूतिः ।
चञ्चत्प्रताप-निकरेऽभ्युदय दिनेशे याते हि वल्गति कियत्तमसः समूह ॥ ८ ॥
कुर्वन्तु तानि विविधानि तपांसि शील चिन्वन्तु शास्त्र-जलधि च तरन्त्वगाधम् ।
चिद्रूप ते हृदय-वागतिवर्ति-धाम्नो ध्यान विना न मुनयोऽक्षय-सौख्य-भाजः ॥ ९ ॥
सिद्धान्त-लक्षण-मदध्ययनेन चित्तमात्मीयमत्र नियत परिरञ्जयन्ति ।
ये ते बुधाः प्रतिगृहं बहवश्चिदात्मन ये त्वत्स्वरूप-निरता विरलास्त एव ॥१०॥
दृग्गोचरत्वमुपयासि न वा ममत्व धत्से न सस्तवनतोऽपि न तुष्टिमेसि ।
कुर्वे किमत्र तदपि त्वमसि प्रियो मे यस्माद्भवाऽऽमय-हृतिर्भवदाश्रितेयम् ॥११॥
आनन्द-मेदुरमिदं भवत स्वरूप नृणां मनः स्पृशति चेत्क्षणमप्यमोहात् ।
दुःखानि दुर्धर-भव-भ्रमणोद्भवानि नश्यन्ति चेत्तदिह किं कुरु कंचिदात्मन् ॥१२॥
ज्ञानं त्वमेव चरवृत्तमपि त्वमेव त्व दर्शनं त्वमपि शुद्धनयस्त्वमंशः ।
पुण्यः पुराणपुरुषः परमस्त्वमेव यत्किञ्चनत्वमपि किं बहु-जल्पितेन ॥१३॥
सच्चित्समत्कृति-चिताय जगन्नताय शुद्धस्फुरत्समरसैक-सुधाऽर्णवाय ।
दुःकर्म-बन्धन-भिदेऽप्रतिम-प्रभाय चिद्रूप तत्र भवते भवते नमोऽस्तु ॥१४॥
अच्छोच्छलत्परमचित्ति-चितं कलङ्क-मुक्तं विविक्त-महसं परमात्मराजम् ।
यो ध्यायते प्रतिदिनं लभते यतीन्द्रो मुक्ति स भव्य-जन-मानस-पद्मनन्दी ॥१५॥

इति परमात्मराज-स्तुतिः (स्तोत्रम्)

*यह स्तोत्र कैराना जि० मुजफ्फरनगरकी उसी पट्पत्रात्मक ग्रन्थप्रतिपरसे उपलब्ध हुआ है जिसपरसे पिछली किरणों मे प्रकाशित 'स्वरूपभावना' और 'रावण-पार्श्वनाथ स्तोत्र' उपलब्ध हुए थे। सम्पादक

समवसरणमें शूद्रोंका प्रवेश

[सम्पादकीय]

जैन तीर्थङ्करोंके दिव्य समवसरणमे, जहाँ सभी भव्यजीवोंको लक्ष्यमे रखकर उनके हितका उपदेश दिया जाता है, प्राणीमात्रके कल्याणका मार्ग सुझाया जाता है और मनुष्यों-मनुष्योंमे कोई जाति-भेद न करके राजा-रङ्क सभी गृहस्थोंके बैठनेके लिये एक ही वलयाकार मानवकोठा नियत रहता है; जहाँके प्रभावपूर्ण वातावरणमे परस्परके वैरभाव और प्राकृतिक जातिविरोध तकके लिये कोई अवकाश नही रहता; जहाँ कुत्ते-बिल्ली, शेर-भेडिये, साँप-नेवले, गधे-भैंसे जैसे जानवर भी तीर्थङ्करकी दिव्यवाणीको सुननेके लिये प्रवेश पाते है और सब मिलजुलकर एक ही नियत पशुकोठेमे बैठते हैं, जो अन्तका १२वाँ होता है, और जहाँ सबके उदय-उत्कर्षकी भावना एव साधनाके रूपमे अनेकान्तात्मक 'सर्वोदय तीर्थ' प्रवाहित होता है वहाँ श्रवण, ग्रहण तथा धारणकी शक्तिसे सम्पन्न होते हुए भी शूद्रोंके लिये प्रवेशका द्वार एक दम बन्द होगा, इसे कोई भी सहृदय विद्वान अथवा बुद्धिमान माननेके लिये तैयार नहीं होसकता। परन्तु जैनसमाजमे ऐसे भी कुछ पण्डित है जो अपने अद्भुत विवेक, विचित्र सस्कार अथवा मिथ्या धारणाके वश ऐसी अनहोनी बातका भी माननेके लिये प्रस्तुत है, इतना ही नहीं बल्कि अन्यथा प्रतिपादन और गलत प्रचारके द्वारा भोले भाइयोंकी आँखोंमे धूल झोंककर उनसे भी उसे मनवाना चाहते है। और इस तरह जाने-अनजाने जैन तीर्थङ्करोंकी महती उदार-सभाके आदर्शको गिरानेके लिये प्रयत्नशील है। इन पण्डितोंमे अध्यापक मङ्गलसेनजीका नाम यहाँ खासतौरसे उल्लेखनीय है, जो अम्बाला छावनीकी पाठशालामे पढाते है। हालमे आपका एक सवादी पेर्जी लेख मेरी नजरमे गुजरा है, जिसका शीर्षक है "१०० रुपयेका पारितोषिक—सुधारकोंको लिखित शास्त्रार्थका खुला चेलेज" और जो 'जैन बोधक' वर्ष ६३ के २७वे अङ्कमे प्रकाशित हुआ है। इस लेख अथवा चेलेजको पढकर मुझे बड़ा कौतुक हुआ और साथ ही अध्यापकजीके साहसपर कुछ हँसी भी आई। क्योंकि लेख पद-पदपर स्खलित है—स्खलित भाषा, अशुद्ध उल्लेख, गलत अनुवाद, अनोखा तर्क, प्रमाण-वाक्य कुछ उनपरसे फलित कुछ, और इतनी असावधान लेखनीके होते हुए भी चैलेज का दु:साहस! इसके सिवाय, खुद ही मुद्दई और खुद ही जज बननेका नाटक अलग!! लेखमे अध्यापकजीने बुद्धिबलसे काम न लेकर शब्दच्छलका आश्रय लिया है और उसीसे अपना काम निकालना अथवा अपने किसी अहंकारको पुष्ट करना चाहा है; परन्तु इस बातको भुला दिया है कि कोरे शब्दच्छलसे काम नहीं निकला करता और न व्यर्थका अहंकार ही पुष्ट हुआ करता है।

आप दूसरोंको तो यह चैलेज देने बैठ गये कि वे आदिपुराण तथा उत्तरपुराण-जैसे आर्षग्रन्थोंके आधारपर शूद्रोंका समवसरणमे जाना, पूजा-वन्दना करना तथा श्रावकके बारह व्रतोंका ग्रहण करना सिद्ध करके बतलाएँ और यहाँ तक लिख गये कि "जो महाशय हमारे नियमके विरुद्ध कार्य कर समाधानका प्रयत्न करेंगे (दूसरे आर्षादि ग्रन्थोंके आधारपर तीनों बातोंको सिद्ध करके बतलायेंगे) उनके लेखको निस्सार समझ उसका उत्तर भी नहीं दिया जावेगा।" परन्तु स्वय आपने उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर अपने निषेध-पक्षको प्रतिष्ठित नहीं किया—उनका एक भी वाक्य उसके समर्थनमे उपस्थित नहीं किया, उसके लिये आप दूसरे ही ग्रंथों

का गलत आश्रय लेते फिरे हैं जिनमें एक 'धर्मसंग्रह-श्रावकाचार' जैसा अनार्ष ग्रन्थ भी शामिल है, जो विक्रमकी १६वीं शताब्दीके एक पण्डित मेधावीका बनाया हुआ है। यह है अध्यापकजीके न्यायका एक नमूना, जिसे आपने स्वयं जजका जामा पहनकर अपने पास सुरक्षित रख छोड़ा है और यह घोषित किया है कि "इस चैलेंजका लिखित उत्तर सीधा हमारे पास ही आना चाहिये अन्यथा लेखोंके हम जुम्मेवार नहीं होंगे।"

इसके सिवाय, लेखमें सुधारकोंको 'आगमके विरुद्ध कार्य करने वाले', 'जनताको धोखा देने वाले' और 'काली करतूतों वाले' लिखकर उनके प्रति जहाँ अपशब्दोंका प्रयोग करते हुए अपने हृदय-कालुष्यको व्यक्त किया है वहाँ उसके द्वारा यह भी व्यक्त कर दिया है कि आप सुधारकोंके किसी भी वाद या प्रतिवाद के सम्बन्धमें कोई जजमेंट (फैसला) देनेके अधिकारी अथवा पात्र नहीं हैं।

गालबन इन्हीं सब बातों अथवा इनमेंसे कुछ बातोंको लक्ष्यमें लेकर ही विचार-निष्ठ विद्वानोंने अध्यापकजीके इस चैलेंज-लेखको विडम्बना-मात्र समझा है और इसीसे उनमेंसे शायद किसीकी भी अब तक इसके विषयमें कुछ लिखनेकी प्रवृत्ति नहीं हुई. परन्तु उनके इस मौन अथवा उपेक्षाभावसे अनुचित लाभ उठाया जा रहा है और अनेक स्थलों पर उसे लेकर व्यर्थकी कूद-फाँद और गल-गर्जना की जाती है। यह सब देखकर ही आज मुझे अवकाश न होते हुए भी लेखनी उठानी पड़ रही है। मैं अपने इस लेख-द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अध्यापकजीका चैलेंज कितना बेहूदा, बेतुका तथा आत्मघातक है और उनके लेखमें दिये हुए जिन प्रमाणोंके बलपर कूदा जाता है अथवा अहंकारसे पूर्ण बातें की जाती हैं वे कितने निःसार, निष्प्राण एवं असङ्गत हैं और उनके आधारपर खड़ा हुआ किसी का भी अहङ्कार कितना बेकार है।

उक्त चैलेंज लेख सुधारकोंके साथ आमतौरपर सम्बद्ध होते हुए भी खासतौरपर तीन विद्वानोंको लक्ष्यमें लेकर लिखा गया है—तीन ही उसमें नम्बर हैं। पहले नम्बरपर व्याकरणाचार्य पं० बन्शीधरजी का नाम है, दूसरे नम्बरपर मेरा नाम (जुगलकिशोर) 'सुधारकशिरोमणि' के पदसे विभूषित! और तीसरे नम्बरपर 'सम्पादक जैनमित्रजी' ऐसा नामोल्लेख है। परन्तु इस चैलेञ्जकी कोई कापी अध्यापकजीने मेरे पास भेजनेकी कृपा नहीं की। दूसरे विद्वानोंके पास भी वह भेजी गई या कि नहीं, इसका मुझे कुछ पता नहीं, पर खयाल यही होता है कि शायद उन्हें भी मेरी तरह नहीं भेजी गई है और यों ही—सम्बद्ध विद्वानोंको खासतौरपर सूचित किये बिना ही—चैलेञ्जको चरितार्थ हुआ समझ लिया गया है! अस्तु।

लेखमें व्याकरणाचार्य पं० बन्शीधरजीका एक वाक्य, कोई आठ वर्ष पहलेका, जैनमित्रसे उद्धृत किया गया है और वह निम्न प्रकार है—

"जब कि भगवानके समोशरणमें नीचसे नीच व्यक्ति स्थान पाते हैं तो समझमें नहीं आता कि आज दस्सा लोग उनकी पूजा और प्रक्षालसे क्यों रोके जाते हैं।"

इस वाक्यपरसे अध्यापकजी प्रथम तो यह फलित करते हैं कि "दस्साओंके पूजनाधिकारको सिद्ध करनेके लिए ही आप (व्याकरणाचार्यजी) समोशरणमें शूद्रोंका उपस्थित होना बतलाते हैं।" इसके अनन्तर—"तो इसके लिये हम आदिपुराण और उत्तरपुराण आपके समक्ष उपस्थित करते हैं" ऐसा लिखकर व्याकरणाचार्यजीको बाध्य करते हैं कि वे उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर "शूद्रोंका किसी भी तीर्थंकरके समोशरणमें उपस्थित होना प्रमाणों द्वारा सिद्ध करके दिखलावें।" साथ ही तर्कपूर्वक अपने जजमेंटका नमूना प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं —"यदि आप इन ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा शूद्रोंका समोशरणमें जाना सिद्ध नहीं कर सके तो दस्साओं के पूजनाधिकारका कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा" और फिर पूछते हैं कि "मङ्गठनकी आड़ लेकर जिन दस्साओंको आपने आगमके विरुद्ध

उपदेश देकर पूजनादिका अधिकारी ठहराया है उस पापका भागी कौन होगा।" इसके बाद, यह लिख कर कि "अब हम जिस आगमके विरुद्ध आपके कहनेको मिथ्या बतलाते हैं उसका एक प्रमाण लिख कर भी आपको दिखलाते हैं", जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणका 'पापशीला विकुर्माणाः' नामका एक श्लोक यह घोषणा करते हुए कि उसमें "भगवान नेमिनाथके समोशरणमें शूद्रोंके जानेका स्पष्टतया निषेध किया है" उद्धृत करते हैं और उसे ५९वें सर्गका १९०वाँ श्लोक बतलाते हैं। साथ ही पण्डित गजाधरलालजीका अर्थ देकर लिखते हैं--"हमने यह आचार्य वाक्य आपको लिखकर दिखलाया है आप अन्य इतिहासिक ग्रन्थों (आदिपुराण-उत्तरपुराण) के प्रमाणों द्वारा इसके अविरुद्ध सिद्ध करके दिखलावें और परस्परमें विरोध होनेका भी ध्यान अवश्य रक्खें।"

अध्यापकजीका यह सब लिखना अविचारितरम्य एवं घोर आपत्तिके योग्य है, जिसका खुलासा निम्न प्रकार है:—

प्रथम तो व्याकरणाचार्यजीके वाक्यपरसे जो अर्थ स्वेच्छापूर्वक फलित किया गया है वह उसपरसे फलित नहीं होता, क्योंकि "शूद्रोंका समोशरणमें उपस्थित होना" उसमें कहीं नहीं बतलाया गया-- 'शूद्र' शब्दका प्रयोग तक भी उसमें नहीं है। उसमें साफतौरपर नीचसे नीच व्यक्तियोंके समवसरणमें स्थान पानेकी बात कही गई है और वे नीचसे नीच व्यक्ति 'शूद्र' ही होते हैं ऐसा कहीं कोई नियम अथवा विधान नहीं है, जिससे 'नीचसे नीच व्यक्ति' का वाच्यार्थ 'शूद्र' किया जासके। उसमें 'नीचसे नीच' शब्दोंके साथ 'मानव' शब्दका भी प्रयोग न करके 'व्यक्ति' शब्दका जो प्रयोग किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। नीचसे नीच मानव भी एक मात्र शूद्र नहीं होते, नीचसे नीच व्यक्तियोंकी तो बात ही अलग है। 'नीचसे नीच व्यक्ति' शब्दोंका प्रयोग उन हीन तिर्यञ्चोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया जान पड़ता है जो समवसरणमें खुला प्रवेश पाते हैं। उनके इस प्रकट प्रवेशकी बातको लेकर ही बुद्धिको अपील करते हुए ऐसा कहा गया है कि जब नीचसे नीच तिर्यञ्च प्राणी भी भगवानके समवसरण में स्थान पाते हैं तब दस्सा लोग तो, जो कि मनुष्य होनेके कारण तिर्यञ्चोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं, समवसरणमें जरूर स्थान पाते हैं फिर उन्हें भगवानके पूजनादिकसे क्यों रोका जाता है ? खेद है कि अध्यापकजीने इस सहज-ग्राह्य अपीलको अपनी बुद्धिके कपाट बन्द करके उस तक पहुँचने नहीं दिया और दूसरेके शब्दोंको तोड़-मरोड़कर व्यर्थमें चैलेंजका षड्यन्त्र रच डाला।

दूसरे, व्याकरणाचार्यजीको एक मात्र आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके आधारपर किसी तीर्थंकरके समवसरणमें शूद्रोंका उपस्थित होना सिद्ध करनेके लिये बाध्य करना किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जासकता, क्योंकि उन्होंने न तो शूद्रोंके समवसरण-प्रवेशपर अपने पक्षको अवलम्बित किया है और न उक्त दोनों ग्रन्थोंपर ही अपने पक्षका आधार रक्खा है। जब ये दोनों बातें नहीं तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या अध्यापकजीकी दृष्टिमें उक्त दोनों ग्रन्थ ही प्रमाण हैं, दूसरा कोई जैनग्रन्थ प्रमाण नहीं है ? यदि ऐसा है तो फिर उन्होंने स्वयं हरिवंशपुराण और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके प्रमाण अपने लेखमें क्यों उद्धृत किये ? यदि दूसरे जैनग्रन्थ भी प्रमाण हैं तो फिर एक मात्र आदिपुराण और उत्तरपुराणके प्रमाणों को उपस्थित करनेका आग्रह क्यों ? और दूसरे ग्रंथोंके प्रमाणोंकी अवहेलना क्यों ? यदि समान-मान्यता के ग्रन्थ होनेसे उन्हींपर पक्ष-विपक्षके निर्णयका-आधार रखना था तो अपने निषेधपक्षको पुष्ट करनेके लिये भी उन्हीं ग्रन्थोंपरसे कोई प्रमाण उपस्थित करना चाहिए था; परन्तु अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये उनका कोई भी वाक्य उपस्थित नहीं किया गया और न किया जा सकता है; क्योंकि उनमें कोई भी वाक्य ऐसा नहीं है जिसके द्वारा शूद्रोंका समवसरणमें जाना निषिद्ध ठहराया गया हो। और जब उक्त दोनों ग्रन्थोंमें शूद्रोंके समवसरणमें जाने-न-जाने

सम्बन्धी कोई स्पष्ट उल्लेख अथवा विधि-निषेध-परक वाक्य ही नहीं तब ऐसे ग्रन्थोंके आधारपर चैलेंज की बात करना चैलेंजकी कोरी विडम्बना नहीं तो और क्या है? इस तरहके तो पूजनादि अनेक विषयोंके सैकड़ों चैलेंज अध्यापकजीको तत्त्वार्थ-सूत्रादि ऐसे ग्रन्थोंको लेकर दिये जा सकते हैं जिनमें उन विषयोंका विधि या निषेध कुछ भी नहीं है। परन्तु ऐसे चैलेंजोंका कोई मूल्य नहीं होता, और इसीसे अध्यापकजीका चैलेंज विद्वद्दृष्टिमें उपेक्षणीय ही नहीं किन्तु गर्हणीय भी है।

तीसरे, अध्यापकजीका यह लिखना कि "यदि आप इन ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा शूद्रोंका समोशरण-में जाना सिद्ध नहीं कर सके तो दस्साओंके पूजना-धिकारका कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा" और भी विडम्बनामात्र है और उनके अनोखे तर्क तथा अद्भुत न्यायको व्यक्त करता है! क्योंकि शूद्रोंका यदि समवसरणमें जाना सिद्ध न किया जासके तो उन्हींके पूजनाधिकारको व्यर्थ ठहराना था न कि दस्साओंके, जिनके विषयका कोई प्रमाण माँगा ही नहीं गया! यह तो वह बात हुई कि सबूत किसी विषयका और निर्णय किसी दूसरे ही विषयका! ऐसी जजीपर किसे तर्स अथवा रहम नहीं आएगा और वह किसके कौतुकका विषय नहीं बनेगी!!

यदि यह कहा जाय कि शूद्रोंके पूजनाधि-कारपर ही दस्साओंका पूजनाधिकार अवलम्बित है —वे उनके समानधर्मा हैं—तो फिर शूद्रोंके स्पष्ट पूजनाधिकार-सम्बन्धी कथनों अथवा विधि-विधानों को ही क्यों नहीं लिया जाता? और क्यों उन्हें छोड़ कर शूद्रोंके समवसरणमें जाने न जानेकी बातको व्यर्थ उठाया जाता है? जैन शास्त्रोंमें शूद्रोंके द्वारा पूजनकी और उस पूजनके उत्तम फलकी कथाएँ ही नहीं मिलतीं बल्कि शूद्रोंको स्पष्ट तौरसे नित्यपूजनका अधिकारी घोषित किया गया है। साथ ही जैनगृहस्थों, अविरत-सम्यग्दृष्टियों, पाक्षिक श्रावकों और व्रती श्रावकों सभीको जिनपूजाका अधिकारी बतलाया गया है और शूद्र भी इन सभी कोटियोंमें आते हैं, इतना ही नहीं बल्कि श्रावकका ऊँचा दर्जा ११वीं प्रतिमा तक धारण कर सकते हैं और ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक भी हो सकते हैं। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके शब्दोंमें 'दान और पूजा श्रावकके मुख्य धर्म हैं, इन दोनोंके बिना कोई श्रावक होता ही नहीं, ('दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा') और शूद्र तथा दस्सा दोनों जैनी तथा श्रावक भी होते हैं तब वे पूजनके अधिकारसे कैसे वञ्चित किये जासकते हैं? नहीं किये जा सकते। उन्हें पूजनाधिकारसे वञ्चित करनेवाला अथवा उनके पूजनमें अन्तराय (विघ्न) डालनेवाला घोर पापका भागी होता है, जिसका कुछ उल्लेख कुन्दकुन्दकी रयणसारगत 'खय कुट्ठ-सूल-मूलो' नामकी गाथासे जाना जाता है। इन सब विषयोंके प्रमाणोंका काफी सकलन और विवेचन 'जिनपूजाधिकारमीमांसा' में किया गया है और उन-में आदिपुराण तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारके प्रमाण भी संगृहीत हैं। उन सब प्रमाणों तथा विवेचनों और पूजन-विषयक जैन सिद्धान्तकी तरफसे आँखें बन्द करके इस प्रकारके चैलेंजकी योजना करना अध्यापकजीके एकमात्र कौटिल्यका द्योतक है। यदि कोई उनकी इस तर्कपद्धतिको अपनाकर उन्हींसे उलटकर यह कहने लगे कि 'महाराज, आप ही इन आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके द्वारा शूद्रोंका सम-वसरणमें जाना निषिद्ध सिद्ध कीजिये, यदि आप ऐसा सिद्ध नहीं कर सकेंगे तो दस्साओंके पूजना-धिकारको निषिद्ध कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा' तो इससे अध्यापकजीपर कैसी बीतेगी, इसे वे स्वयं समझ सकेंगे। उनका तर्क उन्हींके गले-का हार हो जायगा और उन्हें कुछ भी उत्तर देते बन नहीं पड़ेगा; क्योंकि उक्त दोनों ग्रन्थोंके आधारपर प्रकृत विषयके निर्णयकी बातको उन्हींने उठाया है और उनमें उनके अनुकूल कुछ भी नहीं है।

चौथे, 'उस पापका भागी कौन होगा' यह जो अप्रासङ्गिक प्रश्न उठाया गया है वह अध्यापकजीकी हिमाकतका द्योतक है। व्याकरणाचार्यजीने तो आगमके विरुद्ध कोई उपदेश नहीं दिया, उन्होंने तो

अधिकारीको उसका अधिकार दिलाकर अथवा अधिकारी घोषित करके पुण्यका ही कार्य किया है। अध्यापकजी अपने विषयमें सोचें कि वे जैनी दस्साओं तथा शूद्रोंके सर्व साधारण नित्यपूजनके अधिकारको भी छीनकर कौनसे पापका उपार्जन कर रहे हैं और उस पापफलसे अपनेको कैसे बचा सकेंगे जो कुन्दकुन्दाचार्यकी उक्त गाथामें क्षय, कुष्ठ, शूल, रक्तविकार, भगन्दर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना, शीत-उष्णके आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदिके रूपमें वर्णित हैं।

पाँचवे, हरिवंशपुराणका जो श्लोक प्रमाणमें उद्धृत किया गया है वह अध्यापकजीकी सूचनानुसार न तो ५९वें सर्गका है और न १९०वें नवम्बरका, बल्कि ५७वें सर्गका १७३वाँ श्लोक है। उद्धृत भी वह गलतरूपमें किया गया है, उसका पूर्वार्ध तो मुद्रित प्रतिमें जैसा अशुद्ध छपा है प्रायः वैसा ही रख दिया गया है* और उत्तरार्ध कुछ बदला हुआ मालूम होता है। मुद्रित प्रतिमें वह "विकलांगेन्द्रियोद्भ्रांता परियांति बहिस्ततः" इस रूपमें छपा है, जो प्रायः ठीक है, परन्तु अध्यापकजीने उसे अपने चैलेंजमें "विकलांगेन्द्रियाज्ञाता पारियत्ति वहिस्तता" यह रूप दिया है, जिसमें 'ज्ञाता', 'पारियत्ति' और 'तता' ये तीन शब्द अशुद्ध हैं और श्लोकमें अर्थभ्रम पैदा करते हैं। यदि यह रूप अध्यापकजीका दिया हुआ न होकर प्रेसकी किसी गलतीका परिणाम है तो अध्यापकजीको चैलेंजका अङ्ग होनेके कारण उसे अगले अङ्कमें सुधारना चाहिये था अथवा कमसे कम सुधारकशिरोमणिके पास तो अपने चैलेंजकी एक शुद्ध कापी भेजनी चाहिये थी; परन्तु चैलेंजके नामपर यदि योंही वाहवाही लूटनी हो तो फिर ऐसी बातोंकी तरफ ध्यान तथा उनके लिये परिश्रम भी कौन करे? अस्तु, उक्त श्लोक अपने शुद्धरूपमें इस प्रकार है:—

पापशीला विकुर्वाणाः शूद्राः पाखण्ड-पाटवाः।
विकलांगेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियन्ति बहिस्ततः ॥१७३॥

इसमें शूद्रोंके समवसरणमें जानेका कहीं भी स्पष्टतया कोई निषेध नहीं है, जिसकी अध्यापकजीने अपने चैलेंजमें घोषणा की है। मालूम होता है अध्यापकजीको पं० गजाधरलालजीके गलत अनुवाद अथवा अर्थपरसे कुछ भ्रम होगया है, उन्होंने ग्रन्थके पूर्वाऽपर सन्दर्भपरसे उसकी जाँच नहीं की अथवा अर्थको अपने विचारोंके अनुकूल पाकर उसे जाँचने की जरूरत नहीं समझी, और यही सम्भवतः उनकी भ्रान्ति, मिथ्या धारणा एवं अन्यथा प्रवृत्तिका मूल है। पं० गजाधरलालजीका हरिवंशपुराणका अनुवाद साधारण चलता हुआ अनुवाद है, इसीसे अनेक स्थलोंपर बहुत कुछ स्खलित है और ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप नहीं है। उन्होंने अनुवादसे पहले कभी इस ग्रन्थका स्वाध्याय तक नहीं किया था, सीधा सादा पुराण ग्रन्थ समझकर ही वे इसके अनुवादमें प्रवृत्त होगये थे और इससे उत्तरोत्तर कितनी ही कठिनाइयाँ झेलकर 'यथा कथञ्चित्' रूपमें वे इसे पूरा कर पाये थे, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपनी प्रस्तावना (पृ० ४) में किया है और अपनी त्रुटियों तथा अशुद्धियोंके आभासको भी साथमें व्यक्त किया है। इस श्लोकके अनुवादपरसे ही पाठक इस विषयका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। उनका वह अनुवाद, जिसे अध्यापकजीने चैलेंजमें उद्धृत किया है, इस प्रकार है:—

'जो मनुष्य पापी नीचकर्म करने वाले शूद्र पाखण्डी विकलांग और विकलेन्द्रिय होते वे समवशरणके बाहर ही रहते और वहींसे ही प्रदक्षिणा पूर्वक नमस्कार करते थे।"

इसमें 'उद्भ्रान्ता' पदका अनुवाद तो बिल्कुल ही छूट गया है, 'पापशीला'का अनुवाद 'पापी' तथा 'पाखण्डपाटवाः'का अनुवाद 'पाखण्डी' दोनों ही अपूर्ण तथा गौरवहीन हैं और "समाशरणके बाहर ही रहते और वहींसे ही प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे" इस अर्थके वाचक मूलमें कोई पद ही नहीं है, भूतकालकी क्रियाका वाचक भी कोई पद नहीं है, फिर भी अपनी तरफसे इस अर्थकी कल्पना करली गई है अथवा 'परियान्ति बहिस्ततः' इन शब्दोंपरसे

* यथा—"पापशीला विकुर्माणाः शूद्राः पाखण्ड पाडवाः"

अनुवादकको भारी भ्रान्ति हुई जान पड़ती है। 'परियन्ति' वर्तमानकाल-सम्बन्धी बहुवचनान्त पद है, जिसका अर्थ होता है 'प्रदक्षिणा करते हैं' – न कि 'प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे'। और 'बहिस्ततः' का अर्थ है उसके बाहर। उसके किसके? समवसरण के नहीं बल्कि उस श्रीमण्डपके बाहर जिसे पूर्ववर्ती श्लोक में 'अन्तः' पदके द्वारा उल्लेखित किया है, जहाँ भगवानकी गन्धकुटी होती है और जहाँ चक्रपीठपर चढ़कर उत्तम भक्तजन भगवानकी तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं, अपना शक्ति तथा विभवके अनुरूप यथेष्ट पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं और फिर हाथ जोड़े हुए अपना-अपनी सोपानोंसे उतर कर आनन्दके साथ यथा स्थान बैठते हैं। और जिसका वर्णन आगेके निम्न पद्योंमें दिया है:—

> चत्रचामरभृङ्गारवहाय जयाजिरे।
> आर्यैरनुगताः कृत्वा विशन्त्यञ्जलिमीश्वरः ॥१७४॥
> प्रविश्य विधिवद्भक्त्या प्रणम्य मणिमौलयः।
> चक्रपीठं समारुह्य परियन्ति त्रिरीश्वरम् ॥१७५॥
> पूजयन्तो यथाकामं स्वशक्तिविभवार्चनैः।
> सुरासुरनरेन्द्राद्या नामादेश(?) नमन्ति च ॥१७६॥
> ततोऽवतीर्य सोपानैः स्वैः स्वैः स्वाञ्जलिमौलयः।
> रोमाञ्चव्यक्तहर्षास्ते यथास्थानं समासते ॥१७७॥
> —हरिवंशपुराण सर्ग ५७

इन पद्योंके साथमें आदिपुराणके निम्न पद्योंको भी ध्यानमें रखना चाहिये, जिनमें भरतचक्रवर्तीके समवसरणस्थित श्रीमण्डप-प्रवेश आदिका वर्णन है और जिनपरसे संक्षेपमें यह जाना जाता है कि मानस्तम्भोंको आदि लेकर समवसरणकी कितनी भूमि और कितनी रचनाओंका उल्लङ्घन करनेके बाद अन्तःप्रवेशकी नौबत आती है, और इस लिये अन्तःप्रवेशका आशय श्रीमण्डप-प्रवेशसे है, जहाँ चक्रपीठादिके साथ गन्धकुटी होती है, न कि समवसरण-प्रवेशसे:—

> परीत्य पूजयन्मानस्तम्भानस्त्यैस्ततः परम्।
> खाता लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयम् ॥१८॥
> द्वितीयमालमुत्क्रम्य ध्वजान्कल्पद्रुमावलिम्।
> स्तूपान्प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥१७॥
> ततो दौवारिकैर्देवैः सम्भ्राम्यद्भिः प्रवेशितः।
> श्रीमण्डपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीम् ॥१६॥
> ततः प्रदक्षिणीकुर्वन्धर्मचक्रचतुष्टयम्।
> लक्ष्मीवान्पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकाम् ॥१९॥
> ततो द्वितीयपीठस्थान विभोरष्टौ महाध्वजान्।
> सोऽर्चयामास सम्प्रीतः पूतैर्गन्धादिवस्तुभिः ॥२०॥
> मध्ये गन्धकुटीद्धि पराध्ये हरिविष्टरे।
> उदयाचलमूर्धस्थमिवार्क जिनमैक्षत ॥२१॥
> —आदिपुराण पर्व २४

इन सब प्रमाणोंकी रोशनीमें 'बहिस्ततः' पदोंका वाच्य श्रीमण्डपका बाह्य प्रदेश ही हो सकता है— समवसरणका बाह्य प्रदेश नहीं, जो कि पूर्वापर कथनोंके विरुद्ध पड़ता है। और इस लिये पं० गजाधरलालजीने १७२वें पद्यमें प्रयुक्त हुए 'अन्तः' पदका अर्थ "समवसरणमें" और १७३वें पद्यमें प्रयुक्त 'बहिस्ततः' पदोंका अर्थ 'समवसरणके बाहर' करके भारी भूल की है। अध्यापकजीने विवेकसे काम न लेकर अन्धानुसरणके रूपमें उसे अपनाया है और इसलिये वे भी उस भूलके शिकार हुए हैं। उन्हें अब समझ लेना चाहिये कि हरिवंशपुराणका जो पद्य उन्होंने प्रमाणमें उपस्थित किया है वह समवसरणमें शूद्रादिकोंके जानेका निषेधक नहीं है बल्कि उनके जानेका स्पष्ट सूचक है, क्योंकि वह उनके लिये समवसरणमें श्रीमण्डपके बाहर प्रदक्षिणा-विधिका विधायक है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि 'शूद्राः' पदके साथमें जो 'विकुर्वाणाः' विशेषण लगा हुआ है वह उन शूद्रोंके असत् शूद्र होनेका सूचक है जो खोटे अथवा नीचकर्म किया करते हैं, और इसलिये सत्शूद्रोंसे इस प्रदक्षिणा-विधिका सम्बन्ध नहीं है—वे अपनी रूचि तथा भक्तिके अनुरूप श्रीमण्डपके भीतर जाकर गन्धकुटीके पाससे भी प्रदक्षिणा कर सकते हैं। प्रदक्षिणाके समवसरणमें दो ही प्रधान मार्ग नियत होते हैं—

१ प्रादक्षिण्येन वन्दित्वा मानस्तम्भमनादितः।
उत्तमाः प्रविशन्त्यन्तरुत्तमाहितभक्तयः ॥ १७२ ॥

एक गन्धकुटीके पास चक्रपीठकी भूमिपर और दूसरा श्रीमण्डपके बाह्य प्रदेशपर । हरिवंशपुराणके उक्त श्लोकमें श्रीमण्डपके बाह्य प्रदेशपर प्रदक्षिणा करने वालोंका ही उल्लेख है और उनमें प्रायः वे लोग शामिल हैं जो पाप करनेके आदी हैं—आदतन (स्वभावतः) पाप किया करते हैं, खोटे या नीच कर्म करने वाले असत् शूद्र हैं, धूर्तताके कार्यमें निपुण (महाधूर्त) हैं, अङ्गहीन अथवा इन्द्रियहीन हैं और पागल हैं अथवा जिनका दिमाग चला हुआ है। और इस लिये समवसरणमें प्रवेश न करने वालोंके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

छठे, अध्यापकजीने व्याकरणाचार्यजीके सामने उक्त श्लोक और उसके उक्त अर्थको रखकर उनसे जो यह अनुरोध किया है कि "आप अन्य इतिहासिक ग्रन्थों (आदिपुराण-उत्तरपुराण)के प्रमाणों द्वारा इसके अविरुद्ध सिद्ध करके दिखलावें और परस्परमें विरोध होनेका भी ध्यान अवश्य रक्खें" वह बड़ा ही विचित्र और बेतुका मालूम होता है ! जब अध्यापकजी व्याकरणाचार्यजीके कथनको आगमविरुद्ध सिद्ध करनेके लिये उनके समक्ष एक आगम-वाक्य और उसका अर्थ प्रमाणमें रख रहे हैं तब उन्हींसे उसके अविरुद्ध सिद्ध करनेके लिये कहना और फिर अविरोधमें भी विरोधकी शङ्का करना कोरी हिमाकतके सिवाय और क्या हो सकता है ? और व्याकरणाचार्यजी भी अपने विरुद्ध उनके अनुरोधको माननेके लिये कब तैयार हो सकते हैं ? जान पड़ता है अध्यापकजी लिखना तो कुछ चाहते थे और लिख गये कुछ और ही है, और यह आपकी स्वलित भाषा तथा असावधान लेखनीका एक खास नमूना है जिसके बल-बूतेपर आप सुधारकोंको लिखित शास्त्रार्थका चैलेंज देने बैठे हैं !!

सातवें, शूद्रोंका समवसरणमें जाना जब अध्यापकजीके उपस्थित किये हुए हरिवंशपुराणके प्रमाणसे ही सिद्ध है तब वे लोग वहाँ जाकर भगवानकी पूजा-वन्दनाके अनन्तर उनकी दिव्य वाणीको भी सुनते हैं, जो सारे समवसरणमें व्याप्त होती है, और उसके फलस्वरूप श्रावकके व्रतोंको भी ग्रहण करते हैं, जिन के ग्रहणका पशुओंको भी अधिकार है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। फिर आदिपुराण-उत्तरपुराणके आधारपर उसको अलगसे सिद्ध करनेकी जरूरत भी क्या रह जाती है ? कुछ भी नहीं।

इसके सिवाय, किसी कथनका किसी ग्रन्थमें यदि विधि तथा प्रतिषेध नहीं होता तो वह कथन उस ग्रन्थके विरुद्ध नहीं कहा जाता। इस बातको आचार्य वीरसेनने धवलाके क्षेत्रानुयोग-द्वारमें निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

"ण च सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्त-विरुद्धं, तत्थ विधिप्पडिसेधाभावादो ।" (पृ० २२)

अर्थात्—लोककी उत्तरदक्षिण सर्वत्रसातराजु मोटाईका जो कथन है वह 'करणानुयोगसूत्र'के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उस सूत्रमें उसका यदि विधान नहीं है तो प्रतिषेध भी नहीं है।

शूद्रोंका समवसरणमें जाना, पूजावन्दन करना और श्रावकके व्रतोंका ग्रहण करना इन तीनों बातों-का जब आदिपुराण तथा उत्तरपुराणमें स्पष्टरूपसे कोई विधान अथवा प्रतिषेध नहीं है तब इनके कथनको आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। वैसे भी इन तीनों बातोंका कथन आदिपुराणादिकी रीति, नीति और पद्धतिके विरुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आदिपुराणमें मनुष्योंकी वस्तुतः एक ही जाति मानी है, उसीके वृत्ति-(आजीविका)भेदसे ब्राह्मणादिक चार भेद बतलाये हैं[१], जो वास्तविक नहीं हैं। उत्तरपुराणमें भी साफ कहा है कि इन ब्राह्मणादि वर्णों-जातियोंका आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य शरीरमें नहीं पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिकमें गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो

१ मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ३८-४५ ॥

वास्तविक जाति भेदके विरुद्ध है [1]। इसके सिवाय, आदिपुराणमें दूषित हुए कुलोंकी शुद्धि और अनक्षरम्लेच्छों तकको कुलशुद्धिआदिके द्वारा अपनेमें मिला लेनेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी पाई जाती है [2]। ऐसे उदार उपदेशोंकी मौजूदगीमें शूद्रोंके समवसरणमें जाने आदिको किसी तरह भी आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। विरुद्ध न होनेकी हालतमें उनका 'अविरुद्ध' होना सिद्ध है, जिसे सिद्ध करनेके लिये अध्यापकजी १००) रु०के पारितोषिककी घोषणा कर रहे हैं और उन रुपयोंको बाबू राजकृष्ण प्रेमचन्दजी दरियागञ्ज कोठी नं० २३ देहलीके पास जमा बतलाते हैं।

चैलेञ्ज लेखमें मेरी 'जिनपूजाधिकारमीमांसा' पुस्तकका एक अंश उद्धृत किया गया है, जो निम्न प्रकार है—

"श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण (सर्ग २) में, महावीर स्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए लिखा है—समवसरणमें जब श्रीमहावीर स्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारों वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंने श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नहीं किन्तु उनकी पवित्र-वाणीका यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यञ्चोंने भी श्रावकके व्रत धारण किये। इससे, पूजा-वन्दना और धर्मश्रवणके लिये शूद्रोंका समवसरणमें जाना प्रगट है।"

इस अंशको 'समोशरण' जैसे कुछ शब्द-परिवर्तनके साथ उद्धृत करनेके बाद अध्यापकजी लिखते हैं—"इस लेखको आप संस्कृत हरिवंशपुराणके प्रमाणों द्वारा सत्य सिद्ध करके दिखलावें। आपको इसकी असलियत स्वयं मालूम होजावेगी।"

मेरी जिनपूजाधिकारमीमांसा पुस्तक आजसे कोई ३५ वर्ष पहले अप्रेल सन १९१३में प्रकाशित हुई थी। उस वक्त तक जिनसेनाचार्यके हरिवंश-पुराणकी प० दौलतरामजी कृत भाषा वचनिका ही लाहौरसे (सन १९१०में) प्रकाशमें आई थी और वही अपने सामने थी। उसमें लिखा था—

"जिस समय जिनराजने व्याख्यान किया उस समय समवसरणमें सुर-असुर नर तिर्यञ्च सभी थे, सो सबके समीप सर्वज्ञने मुनिधर्मका व्याख्यान किया, सो मुनि होनेको समर्थ जो मनुष्य तिनमें केईक नर संसारसे भयभीत परिग्रहका त्याग कर मुनि भये शुद्ध है जाति कहिये मातृपक्ष कुल कहिये पितृपक्ष जिनके ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सैकड़ों साधु भये ॥ १३१, १३२ ॥ और केएक मनुष्य चारों ही वर्णोंके पञ्च अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षा व्रत धार श्रावक भये। और चारों वर्णोंकी केइएक स्त्री श्राविका भई ॥१३४॥ और सिंहादिक तिर्यंच बहुत श्रावके व्रत धारते भये, यथाशक्ति नेमविषै तिष्ठे ॥१३५॥"

इस कथनको लेकर ही मैंने जिनपूजाधिकार-मीमांसाके उक्त लेखांशकी सृष्टि की थी। पाठक देखेंगे, कि इस कथनके आशयके विरुद्ध उसमें कुछ भी नहीं है। परन्तु अध्यापकजी इस कथनको शायद मूलग्रन्थके विरुद्ध समझते हैं और इसी लिये संस्कृत हरिवंशपुराणपरसे उसे सत्य सिद्ध करनेके लिये कहते हैं। उसमें भी उनका आशय प्रायः उतने ही अंशसे जान पड़ता है जो शूद्रोंके समवसरणमें उपस्थित होकर व्रत ग्रहणसे सम्बन्ध रखता है और उनके प्रकृत चैलेंज-लेखका विषय है। अतः उसीपर

१ वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात् ।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधान-प्रवर्तनात् ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाऽश्ववत् ।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ उ. पु. गुणभद्र

२ "कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम् ।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥४० १६८
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्र पौत्रादि-सन्ततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥—१६९॥
"स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजा बाधा विधायिनः ।
कुलशुद्धि प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ ४२ १७६ ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः ।

यहाँ विचार किया जाता है और यह देखा जाता है कि क्या पंडित दौलतरामजीका वह कथन मूलके आशयके विरुद्ध है। श्रावकीय व्रतोंके ग्रहणका उल्लेख करने वाला मूलका वह वाक्य इस प्रकार है —

पंचधाऽणुव्रतं केचित् त्रिविधं च गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं तत्र स्त्री-पुरुषा दधुः ॥१३४॥

इसका सामान्य शब्दार्थ तो इतना ही है कि 'समवसरण-स्थित कुछ स्त्रीपुरुषोंने पंच प्रकार अणुव्रत तीन प्रकार गुणव्रत और चार प्रकार शिक्षाव्रत ग्रहण किये।' परन्तु 'विशेषार्थकी दृष्टिसे' उन स्त्रीपुरुषों को चारों वर्णोंके बतलाया गया है; क्योंकि किसी भी वर्णके स्त्री-पुरुषोंके लिये समवसरणमें जाने और व्रतोंके ग्रहण करनेका कहीं कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसके सिवाय, ग्रन्थके पूर्वाऽपर कथनोंसे भी इसकी पुष्टि होती है और वही अर्थ समीचीन होता है जो पूर्वाऽपर कथनोंको ध्यानमें रखकर अविरोध रूपसे किया जाता है। समवसरणमें असत् शूद्र भी जाते हैं यह हम श्रीमण्डपसे बाहर उनके प्रदक्षिणा-विधायक वाक्यके विवेचनपरसे ऊपर जान चुके हैं। यहाँ पूर्वाऽपर कथनोंके दो नमूने और नीचे दिये जाते हैं—

(क) समवसरणके श्रीमण्डपमें वलयाकार कोष्ठकोंके रूपमें जो बारह सभा-स्थान होते हैं उनमेंसे मनुष्योंके लिये केवल तीन स्थान नियत होते हैं— पहला गणधरादि मुनियोंके लिये, तीसरा आर्यिकाओं के लिये और ११वाँ शेष सब मनुष्योंके लिये। इस ११वें कोठेका वर्णन करते हुए हरिवंशपुराणके दूसरे सर्गमें लिखा है—

सपुत्र-वनिताऽनेक-विद्याधर-पुरस्सराः।
न्यषीदन् मानुषा नाना-भाषा-वेष-रुचस्ततः ॥८६॥

अर्थात्—१०वें कोठेके अनन्तर पुत्र और वनिताओं-सहित अनेक विद्याधरोंको आगे करके मनुष्य बैठे, जो कि (प्रान्तादिके भेदोंसे) नाना भाषाओंके बोलने वाले, नाना वेषोंको धारण करने वाले और नाना वर्णों वाले थे।"

इसमें किसी भी वर्ण अथवा जाति-विशेषके मानवोंके लिये ११वें कोठेको रिज़र्व नहीं किया गया है बल्कि 'मानुषाः' जैसे सामान्य पदका प्रयोग करके और उसके विशेषणको 'नाना' पदसे विभूषित करके सब के लिये उसे खुला रक्खा गया है। साथमें 'विद्याधर-पुरस्सराः' विशेषण लगाकर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उस कोठेमें विद्याधर और भूमिगोचरी दोनों प्रकारके मनुष्य एक साथ बैठते हैं। विद्याधरका 'अनेक' विशेषण उनके अनेक प्रकारोंका द्योतक है, उनमें मातङ्ग (चाण्डाल) जातियोंके भी विद्याधर होते हैं और इस लिये उन सबका भी उसके द्वारा समावेश समझना चाहिए।

(ख) '५८वें सर्गके तीसरे पद्यमें भगवान नेमिनाथ की वाणीको 'चतुर्वर्णाश्रमाश्रया' विशेषण दिया गया है, जिसका यह स्पष्ट आशय है कि समवसरणमें भगवानकी जो वाणी प्रवर्तित हुई वह चारों वर्णों और चारों आश्रमोंका आश्रय लिये हुए थी—अर्थात् चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चारों आश्रमों ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यस्तको लक्ष्यमें रखकर प्रवर्तित हुई थी। और इसलिये वह समवसरणमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमोंके प्राणियोंकी उपस्थितिको और उनके उसे सुनने तथा ग्रहण करनेके अधिकारको सूचित करती है।

ऐसी हालतमें प० दौलतरामजीने अपनी भाषा वचनिकामें 'स्त्रीपुरुषाः' पदका अर्थ जो 'चारों वर्णके स्त्रीपुरुष' सुझाया है वह न तो असत्य है और न मूलग्रन्थके विरुद्ध है। तदनुसार जिनपूजाधिकारमीमांसाकी उक्त पंक्तियोंमें मैंने जो कुछ लिखा है वह भी न असत्य है और न ग्रन्थकारके आशयके विरुद्ध है। और इसलिये अध्यापकजीने कोरे शब्दछलका आश्रय लेकर जो कुछ कहा है वह बुद्धि और विवेक से काम न लेकर ही कहा जा सकता है। शायद अध्यापकजी शूद्रोंमें स्त्री-पुरुषोंका होना ही न मानते हों और न उन्हें मनुष्य ही जानते हों, और इसीसे 'मानुषाः' तथा 'स्त्री-पुरुषाः' पदोंका उन्हें वाच्य ही न समझते हों!!!

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि जिस हरिवंशपुराणके कुछ शब्दोंका गलत

आश्रय लेकर अध्यापकजी शूद्रों तथा दस्साओंको जिनपूजाके अधिकारसे वञ्चित करना चाहते हैं उसके २६वें सर्गमें वसुदेवकी मदनवेगा-सहित 'सिद्धकूट-जिनालय' की यात्राके प्रसङ्गपर उस जिनालयमें पूजा-वन्दनाके बाद अपने-अपने स्तम्भका आश्रय लेकर बैठे हुए[1] मातङ्ग (चाण्डाल) जातिके विद्याधरोंका जो परिचय[2] कराया गया है वह किसी भी ऐसे आदमी की आँखें खोलनेके लिये पर्याप्त है जो शूद्रों तथा दस्साओंके अपने पूजन-निषेधको हरिवंशपुराणके आधारपर प्रतिष्ठित करना चाहता है। क्योंकि उस-परसे इतना ही स्पष्ट मालूम नहीं होता कि मातङ्ग जातियोंके चाण्डाल लोग भी तब जैनमन्दिरमें जाते और पूजन करते थे बल्कि यह भी मालूम होता है कि श्मशान-भूमिकी हड्डियोंके आभूषण पहने हुए, वहाँ-की राख बदनसे मले हुए तथा मृगछालादि ओढ़े, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएँ हाथोंमें लिये हुए भी जैनमन्दिरमें जा सकते थे[3], और न केवल जा ही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजा करनेके बाद उनके वहाँ बैठने-के स्थान भी नियत थे, जिससे उनका जैनमन्दिरमें जाने आदिका और भी नियत अधिकार पाया जाना है[4]।

मेरे उक्त लेखांश और उसपर अपने वक्तव्यके अनन्तर अध्यापकजीने महावीरस्वामीके समवसरण-वर्णनसे सम्बंध रखने वाला धर्मसंग्रहश्रावकाचारका एक श्लोक निम्न प्रकार अर्थसहित दिया है—

"मिथ्यादृष्टिरभव्योऽप्यसंज्ञी कोऽपि न विद्यते ।
यश्चानध्यवसायोऽपि यः संदिग्धो विपर्ययः ॥१३६॥

अर्थात्—श्रीजिनदेवके समोशरणमें मिथ्यादृष्टि-अभव्य - असञ्ज्ञी - अनध्यवसायी - संशयज्ञानी तथा मिथ्यात्वी जीव नहीं रहते हैं।"

इस श्लोक और उसके गलत अर्थको उपस्थित करके अध्यापकजी बड़ी धृष्टता और गर्वोक्तिके साथ लिखते हैं—

"बाबू जुगलकिशोरजीके निराधार लेखको और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके प्रमाण सहित लेखको आप मिलान करें—पता लग जायगा कि वास्तवमें आगम-के विरुद्ध जैन जनताको धोखा कौन देता है ?"

मेरा जिनपूजाधिकारमीमांसा वाला उक्त लेख निराधार नहीं है यह सब बात पाठक ऊपर देख चुके हैं, अब देखना यह है कि अध्यापकजीके द्वारा प्रस्तुत धर्मसंग्रहश्रावकाचारका लेख कौनसे प्रमाणोंको साथमें लिये हुए है और उन दोनोंके साथ आप मेरे लेखकी किस बातका मिलान कराकर आगमविरुद्ध कथन और धोखादेही जैसा नतीजा निकालना चाहते हैं ? धर्मसंग्रहश्रावकाचारके उक्त श्लोकके साथ अनु-वादको छोड़कर दूसरा कोई प्रमाण-वाक्य नहीं है। मालूम होता है अध्यापकजीने अनुवादको ही दूसरा प्रमाण समझ लिया है, जो मूलके अनुरूप भी नहीं है और न मेरे उक्त लेखके साथ दोनोंका कोई सम्बन्ध ही है। मेरे लेखमें चारों वर्णोंके मनुष्योंके समवसरण में जाने और व्रत ग्रहण करनेकी बात कही गई है, जब कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारके उक्त श्लोक और अनु-

१ कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् ।
तस्थुः स्तम्भानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥

२ देखो, श्लोक १४ से २३ तथा 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' पृष्ठ ३१ से ३५। यहां उन दससेंसे दो श्लोक नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं—

श्मशानाऽस्थि कृतोत्तंसा भस्मरेणु विधूसराः ।
श्मशान-निलयास्त्वेते श्मशान स्तम्भमाश्रिताः ॥१६॥
कृष्णाऽजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बर स्रजः ।
कालील स्तम्भमभ्येत्य स्थिताः काल श्वपाकिनः ॥१८॥

३ यहाँपर इस उल्लेखपरसे किसीको यह समझनेकी भूल न करनी चाहिए कि लेखक आजकल वर्तमान जैनमन्दिरों में भी ऐसे अपवित्र वेषमें जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है।

४ श्रीजिनसेनाचार्यने ९वीं शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी ऐसे लोगोंका जैनमन्दिरमें जाना आदि आपत्तिके योग्य नहीं ठहराया और न उससे मन्दिरके अपवित्र हो जानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनन्दन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा ?

बादमें उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं है। क्या अध्यापक जी शूद्रोंको सर्वथा मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी (मनरहित) अनध्यवसायी, संशयज्ञानी तथा विपरीत (या अपने अर्थके अनुरूप 'मिथ्यात्वी') ही समझते हैं और इसीसे उनका समवसरणमें जाना निषिद्ध मानते हैं? यदि ऐसा है तो आपके इस आगम-ज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानपर रोना आता है; क्योंकि आगमसे अथवा प्रत्यक्षसे इसकी कोई उपलब्धि नहीं होती—शूद्र लोग इनमेंसे किसी एक भी कोटिमें सर्वथा स्थित नहीं देखे जाते। और यदि ऐसा नहीं है अर्थात् अध्यापकजी यह समझते हैं कि शूद्र लोग सम्यग्दृष्टि, भव्य, संज्ञी, अध्यवसायी, असंशयज्ञानी और अविपरीत (अमिथ्यात्वी) भी होते हैं तो फिर उक्त श्लोक और उसके अर्थको उपस्थित करनेसे क्या नतीजा? वह उनका कोरा चित्तभ्रम अथवा पागलपन नहीं तो और क्या है? क्योंकि उससे शूद्रोंके समवसरणमें जानेका तब कोई निषेध सिद्ध नहीं होता। खेद है कि अध्यापकजी अपने बुद्धिव्यवसायके इसी बल-बूतेपर दूसरोंको आगमके विरुद्ध कथन करने वाले और जनताको धोखा देने वाले तक लिखनेकी धृष्टता करने बैठे हैं!!

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि अध्यापक जीका उक्त श्लोकपरसे यह समझ लेना कि समवसरणमें मिथ्यादृष्टि तथा संशयज्ञानी जीव नहीं होते कोरा भ्रम है—उसी प्रकारका भ्रम है जिसके अनुसार वे 'विपर्यय' पदका अर्थ 'मिथ्यात्वी' करके 'मिथ्यादृष्टि' और 'मिथ्यात्वी' शब्दोंके अर्थमें अन्तर उपस्थित कर रहे हैं—और वह उनके आगमज्ञानके दिवालियेपनको भी सूचित करता है। क्योंकि आगममें कहीं भी ऐसा विधान नहीं है जिसके अनुसार सभी मिथ्यादृष्टियों तथा संशयज्ञानियोंका समवसरणमें जाना वर्जित ठहराया गया हो। बल्कि जगह-जगहपर समवसरणमें भगवानके उपदेशके अनन्तर लोगोंके सम्यक्त्व-ग्रहण ी अथवा उनके संशयोंके उच्छेद होनेकी बात कही गई है और जो इस बातकी स्पष्ट सूचक है कि वे लोग उससे पहले मिथ्यादृष्टि थे अथवा उन्हें किसी विषयमें सन्देह था। दूर जानेकी भी जरूरत नहीं, अध्यापकजीके मान्य ग्रन्थ धर्मसंग्रहश्रावकाचारको ही लीजिये, उसके निम्न पद्यमें जिनेन्द्रसे अपनी अपनी शङ्काके पूछने और उनकी वाणीको सुनकर सन्देह-रहित होनेकी बात कही गई है—

निजनिज-हृदयाकूतं पृच्छन्ति जिनं नराऽमरा मनसा।
श्रुत्वाऽनक्षरवाणीं बुध्यन्त स्युर्विसन्देहा ॥३-४४॥

हरिवंशपुराणके ५८वें सर्गमें कहा है कि नेमिनाथकी वाणीको सुनकर कितने ही जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए, जिससे प्रगट होता है कि वे पहले सम्यग्दर्शनसे रहित मिथ्यादृष्टि थे। यथा:—

ते सम्यग्दर्शनं केचित्संयमासंयमं परे।
संयमं केचिदायाताः संसारावासभीरवः ॥३०७॥

भगवान् आदिनाथके समवसरणमें मरीचि मिथ्यादृष्टिके रूपमें ही गया, जिनवाणीको सुनकर उसका मिथ्यात्व नहीं छूटा, और सब मिथ्या तपस्वियोंकी श्रद्धा बदल गई और वे सम्यक् तपमें स्थित होगये परन्तु मरीचिकी श्रद्धा नहीं बदली और इस लिये अकेला वही प्रतिबोधको प्राप्त नहीं हुआ; जैसा कि जिनसेनाचार्यके आदिपुराण और पुष्दन्त-कृत महापुराणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"मरीचि-वर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः।"
आदिपुराण २४-८२

"दंसणमोहणीय-पडिरुद्धउ एक्कु मरीइ णाय पडिबुद्धउ"
—महापुराण, संधि ११

वास्तवमें वे ही मिथ्यादृष्टि समवसरणमें नहीं जा पाते हैं जो अभव्य होते हैं—भव्य मिथ्यादृष्टि तो असंख्याते जाते हैं और उनमेंसे अधिकांश सम्यग्दृष्टि होकर निकलते हैं—और इस लिये 'मिथ्यादृष्टि' तथा 'अभव्योऽपि' पदोंका एक साथ अर्थ किया जाना चाहिये, वे तीनों मिलकर एक अर्थके वाचक हैं और वह अर्थ है—'वह मिथ्यादृष्टि जो अभव्य भी है'। धर्मसंग्रहश्रा०के उक्त श्लोकका मूलस्रोत तिलोयपण्णत्तीकी निम्न गाथा है, जिसमें

'मिच्छादिट्ठिअभव्वा' एक पद है और एक ही प्रकारके व्यक्तियोंका वाचक है—

मिच्छाइट्ठिअभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइआई।
तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा॥ ४-९३२॥

इसी तरह 'संदिग्ध:' पद भी संशयज्ञानीका वाचक नहीं है—संशयज्ञानी तो असंख्याते समवसरणमें जाते हैं और अधिकांश अपनी अपनी शङ्काओंका निरसन करके बाहर आते हैं—बल्कि उन मुश्तभा प्राणियोंका वाचक है जो बाह्यवेषादिके कारण अपने विषयमें शङ्कनीय होते है अथवा कपट-वेषादिके कारण दूसरोंके लिये भयङ्कर (dangerous, risky) हुआ करते है। ऐसे प्राणी भी समवसरण-सभाके किसी कोठेमें विद्यमान नहीं होते है।

तीसरे नम्बरपर अध्यापकजीने सम्पादक जैन-मित्रजीका एक वाक्य निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है—

"समोशरणमें मानवमात्रके लिये जानेका पूर्ण अधिकार है चाहे वह किसी भी वर्णका अर्थात् जाति का चाण्डाल ही क्यों न हो।"

इसपर टीका करते हुए अध्यापकजीने केवल इतना ही लिखा है—"सम्पादक जैनमित्रजी अपनेसे विरुद्ध विचारवालेको पोंगापन्थी बतलाते है। और अपने लेख द्वारा समोशरणमें चाण्डालको भी प्रवेश करते हैं। बलिहारी आपकी बुद्धिकी।"

इससे सम्पादक जैनमित्रजी बहुत सस्ते छूट गये हैं! निःसन्देह उन्होंने बड़ा राजब किया जो अध्यापकजी जैसे विरुद्ध विचारवालोंको 'पोंगापन्थी' बतला दिया! परन्तु अपने रामकी रायमें अध्यापकजीने उससे भी कहीं ज्यादा राजब किया है जो समवसरणमें चाण्डालको भी प्रवेश कराने वालेकी बुद्धिपर 'बलिहारी' कह दिया!! क्योंकि पद्मपुराणके कर्ता श्रीरविषेणाचार्यने व्रती चाण्डालको भी ब्राह्मण बतलाया है- दूसरे मनःशूद्रादिकोंकी तो बात ही क्या है?—और स्वयं ही नहीं बतलाया बल्कि देवोंने—अर्हन्तों तथा गणधरोंने—बतलाया है ऐसा स्पष्ट निर्देश किया है—

"व्रतस्थमपि चाण्डालं त देवा ब्राह्मणं विदु:।" ११-२०३

ऐसी हालतमें उन चाण्डालोंको समवसरणमें जानेसे कौन रोक सकता है? ब्राह्मण होनेसे उनका दर्जा तो शूद्रोंसे भी ऊँचा होगया!

और स्वामी समन्तभद्रने तो रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्य २८) में अव्रती चाण्डालको भी सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न होनेपर 'देव' कह दिया है और उन्होंने भी स्वयं नहीं कहा बल्कि देवोंने वैसा कहा है ऐसा 'देवा देवं विदु:' इन शब्दोंके द्वारा स्पष्ट निर्देश किया है। तब उस देव चाण्डालको समवसरणमें जानेसे कौन रोक सकता है, जिसे मानव होनेके अतिरिक्त देवका भी दर्जा मिल गया?

इसके सिवाय, म्लेच्छ देशोंमें उत्पन्न हुए म्लेच्छ मनुष्य भी सकल संयम (महाव्रत) धारण करके जैन-मुनि हो सकते हैं ऐसा श्रीवीरसेनाचार्यने जयधवला टीकामें और श्रीनेमिचन्द्राचार्य (द्वितीय) ने लब्धिसार गाथा १९३की टीकामें व्यक्त किया है[1]। तब उन मुनियोंको समवसरणमें जानेसे कौन रोक सकता है? वे तो गन्धकुटीके पासके सबसे प्रधान गणधर-मुनि-कोठेमें बैठेंगे, उनके लिये दूसरा कोई स्थान ही नहीं है।

ऐसी स्थितिमें अध्यापकजी किस किस आचार्यकी बुद्धिपर 'बलिहारी' होंगे? इससे तो बेहतर यही है कि वे अपनी ही बुद्धिपर बलिहारी होजाएँ और ऐसी अज्ञानतामूलक, उपहासजनक एवं आगमविरुद्ध व्यर्थकी प्रवृत्तियोंसे बाज आएँ।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० २-६-१९४८ जुगलकिशोर मुख्तार

---

[1] देखो, उक्त टीकाएँ तथा 'भगवान महावीर और उनका समय' नामक पुस्तक पृ० २६

वर्णीजीका हालका एक आध्यात्मिक पत्र

श्रीयुत् लाला जिनेश्वरदासजी (सहारनपुर) योग्य—

आपका पत्र श्रीभगतजीके पास आया—समाचार जानकर आश्चर्य हुआ। इतनी व्यग्रताकी आवश्यकता नहीं। यहाँ कोई प्रकारकी असुविधा नहीं। संसारमें पुण्य-पापके अनुकूल सर्वसामग्री स्वयमेव मिल जाती है और यह जो सामग्री है सो कुछ कल्याण-मार्गकी साधक नहीं, कल्याण-मार्गकी साधक तो अन्तरङ्गकी निर्मलता है, जहाँ परसे तटस्थता है। तटस्थता ही संसार-बन्धनको पैनी छैनी है। न तो संसार अपना बुरा करने वाला है और न कोई महापुरुष हमारा कल्याणका जनक है। हमने आजतक अपनेको न जाना और न जाननेका प्रयत्न है, केवल परके व्यामोहमें पड़कर इस अनन्त संसारके पात्र बने। अतः अब इस पराधीनताको त्यागो, केवल अपनेको बनाओ। जहाँ आत्मा केवल बन जावेगी, बस सर्व आपत्तियोंका अन्त हो जावेगा। यह भावना त्यागो—जो हमसे परोपकार होता है या परसे हमारा उपकार होता है। न तो कोई उपकारक है और न अपकारक है। जैसे चिड़िया जालमें फस जाती है इसीतरह हम भी इनके द्वारा कल्याण होगा—इस व्यामोहसे परके जालमें फंस जाते हैं, नाना प्रकारकी चेष्टाएं कर परको प्रसन्न करना चाहते हैं। प्रथम तो वह हमारे अधीन नहीं और न उसका परिणमन हमारे अधीन है। थोड़े समयको कल्पना करो, उसका परिणमन हमारे अनुकूल हो भी गया तब उस परिणमनसे हमें क्या लाभ? हमारा लाभ और अलाभ हमारे परिणमनके अधीन है। अतः कल्याणकी आकांक्षा है तब इन भूरिशः विकल्पजालोंको त्यागो, जिस दिन यह परिणमन होगा, स्वयमेव कल्याण हो जावेगा। समयानुकूल जो होवे सो होने दो, किसीके अधीन मत रहो। अपने आपको आप समझो, परकी चिन्ता त्यागो। और जो समय इन पत्रोंके लिखनेमें व्यय किया जाता है वह समय स्वात्म-चिन्तनमें लगाओ, स्वाध्यायका यही मर्म है। मेरी तो यह सम्मति है जो काम करो अपना हितका अंश पहले देखो। यदि उसमें आत्महित न हो तब चाहे श्रीभगवत्का अर्चन हो और चाहे संसार-सम्बन्धी कार्य हो, करनेकी आवश्यकता नहीं। जिस कार्यके करनेसे आत्मलाभ न हो वह कार्य करना व्यर्थ है। सम्यग्दृष्टि भगवत-अर्चा करता है वहाँ उसे अशुभोपयोगकी निवृत्तिसे शान्ति मिलती है। शुभोपयोगको तो शान्तिका बाधक ही मानता है, परन्तु क्या करै मोह-के उदयमें उसे करना पड़ता है, यह तो शुभोपयोगकी बात रही। जिस समय उसकी विषयादिमें प्रवृत्ति होती है उस समय उस कार्यको वेदनाका इलाज समझकर करता है और जैसे कड़वी औषध पीकर रोगी रोगको दूर करता है तब विचारो रोगीको कड़वी औषधसे प्रेम है या रोग-निवृत्तिसे। एवं उस ज्ञानीकी दशा है जो चारित्र-मोहके उदयमें विषय-सेवन करता है। यद्यपि बहुतसे मनुष्य इस मर्मको न समझें, परन्तु जिनने शास्त्रका मर्म जाना है उन्हें तो इसे समझना कोई कठिन नहीं। अतः आप इस ओरकी चिन्ताको छोड़कर स्वाध्यायमें संलग्न रहिए। विशेष क्या लिखें, हम स्वयं इस जालमें आगए अन्यथा आपको पत्र लिखनेकी ही क्या आवश्यकता थी। आपके परिणमनके हम स्वामी नहीं, व्यर्थ ही चेष्टा कर रहे हैं, जो आप यों करो।

नोट—मैंने तो अन्तरङ्गसे यह निश्चय कर लिया जो आपकी प्रवृत्ति हमारे अनुकूल न हुई और न है और न होगी। एवं मेरी भी यही दशा है जो आपके अनुकूल न है और न था और न हूँगा। इसी प्रकार सर्व संसारकी जानना।

आ० शु० चि०
गणेशप्रसाद वर्णी

(वैसाखसुदि)

कथा–कहानी—

कुत्ते

"माँ ! यह आज इन्सानोंको क्या होगया है" ?

"यह बावले होगये हैं बेटा" !

"बावले" ?

"हाँ, बावले" ।

"क्या इन्सान भी बावले हुआ करते है माँ" !

"अब यह इन्सान कहाँ रहे ? हमारी तरह कुत्ते बन गये हैं यह लोग" !

"कुत्ते" ?

"हाँ, हाँ, कुत्ते" !

"लेकिन, माँ ! इनकी सूरत तो हमारी तरह नहीं बदली" ।

"सूरत नहीं बदली तो क्या ? करतूत तो हमारे जैसे होगये है बेटा ! सूरत भी बदल जायगी ।

"और यह तड़-तड़की आवाज़ क्या थी माँ" !

"यह इनके बावलेपनकी दवा है । इन्सान हमारे बावलेपनका इलाज ज़हरकी गोलियोंसे करते है और बन्दूककी गोलियोंसे उनका बावलापन दूर होता है" ।

*　　*　　*　　*

परेडके मैदानमें मैले-कुचैले इन्सानोंकी भीड़मे लाल झण्डेके नीचे बरफकी तरह सुफेद कपड़े पहने हुए एक इन्सान कह रहा था—"रोटी और दुनियावी ख्वाहिशात हासिल करनेका नाम ही ज़िन्दगी है । बाकी सब बाते बुरजुआ लोगोंकी मनघड़न्त है" ।

ज़िन्दगी, बस रोटी और ख्वाहिशात हासिल करनेका नाम है ! उफ ! उफ !! उफ !!! मेरी माँ ने बिल्कुल सच कहा था, आदमके बेटे कुत्ते बन गये है कुत्ते । लेकिन इनकी सूरत तो अभी तक नहीं बदली । वह भी बदल जायगी । मन और वचन जब बदल गये है तो कायाको भी बदलते क्या देर लगेगी ?

आखिर हमारी कौमी लुगत (जातीय कोष) मे भी तो खान-पान और ख्वाहिशात हासिल करनेका नाम ही तो ज़िन्दगी है । ज़िन्दगीकी ख्वाहिशात क्या हैं—?

"दूसरोंके मुँहसे छीछड़े और हड्डियाँ छीननेके लिये आपसमें लड़ना, एक दूसरेको काटना, और अपनी जिन्सको औरतोंसे · · ···· उफ, उफ, उफ ! इन्सानी कुत्ते भी अब हमारी तरह सोचने लगे है । लेकिन यह बुरजवा किस शै का नाम है ? शायद कुत्ता बननेसे पहले इन्सानको बुरजुआ कहते थे ।

*　　*　　*　　*

जलसेसे लौट रहा था कि सामनेसे बेहिजाब फैशनेबिल औरतोका गोल मुस्कराता, कहकहे लगाता आ रहा था । नज़दीक आनेपर मैंने सुना—

"अब औरते मर्दोंकी मुहताज नहीं रहेंगी, वे खुद कमाकर खाएँगी" ।

"यूरुपमे तो औरत हर किस्मकी गुलामीसे आज़ाद होचुकी है" ।

मैंने इत्मीनानकी साँस ली, हमारी कौमकी औरते भी तो खुद कमाकर खाती है । वे भी तो किसीकी गुलाम बनकर नहीं रहती । मै अपने ख़यालोंमे डूबा हुआ था कि कानोंमे सुरीली आवाज़ आई—

"ए इश्क कहीं ले चल इस पापकी दुनियासे" ।

आवाजकी सीधमे निगाह दौड़ाई, दो नौजवान लड़के आँखे फाड़-फाड़कर इन औरतोको देख रहे थे । उनके ओठोंपर हँसी खेल रही थी और आँखो मे वही बेहया चमक थी जो हम कुत्तोंकी आँखोंमे कुत्तियोंको देखकर आ जाती है ।

* आगरेसे प्रकाशित मार्च माहके उर्दू 'शायर' मे जनाब आज़ाद शाहपुरीकी कहानीका यह संक्षिप्त अंश साभार दिया जारहा है ।

— गोयलीय

त्यागका वास्तविक रूप

[परिशिष्ट]

(प्रवक्ता पूज्य श्रीक्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य)

---*---

आज अकिञ्चन्य धर्म है, पर दो द्वादशी होजानेसे आज भी त्याग धर्म माना जायगा। त्यागका स्वरूप कल आप लोगोंने अच्छी तरह सुना था। आज उसके अनुसार कुछ काम करके दिखलाना है।

मूर्च्छाका त्याग करना त्याग कहलाता है। जो चीज आपकी नहीं है उसे आप क्या छोड़ेंगे? वह तो छूटी ही है। रुपया, पैसा, धन, दौलत सब आपसे जुदे हैं। इनका त्याग तो है ही। आप इनमें मूर्च्छा छोड़ दो, लोभ छोड़ दो; क्योंकि मूर्च्छा और लोभ तो आपका है—आपकी आत्माका विभाव है। धनका त्याग लोभकषायके अभावमें होता है। लोभका अभाव होनेसे आत्मामें निर्मलता आती है। यदि कोई लोभका त्यागकर मान करने लग जाय—दान करके अहङ्कार करने लग जाय तो वह मान, कषायका दादा हो गया। 'चूल्हेसे निकले भाड़में गिरे' जैसी कहावत होगई। सो यदि एक कषायसे बचते हो तो उससे प्रबल दूसरी कषाय मत करो।

देखें, आप लोगोंमेंसे कोई त्याग करता है या नहीं। मैं तो आठ दिनसे परिचय कर रहा हूँ। आज तुम भी कर लो। इतना काम तुम्हीं कर लो।

एक आदमीसे एकने पूछा आप रामायण जानते हो तो बताओ उत्तरकाण्डमें क्या है? उसने कहा—अरे, उत्तरकाण्डमें क्या धरा? कुछ ज्ञान-ध्यानकी बातें हैं। अच्छा, अरण्यकाण्डमें क्या है? उसमें क्या धरा? अरण्य वनको कहते हैं, उसीकी कुछ बातें है। लङ्काकाण्डमें क्या है? अरे, लङ्काको कौन नहीं जानता? वही तो लङ्का है जिसमें रावण रहा करता था। भैया! अयोध्याकाण्डमें क्या है? बड़ी बात पूछी, उसमें क्या है? वही तो अयोध्या है जिसमें रामचन्द्रजी पैदा हुए थे। अच्छा, बालकाण्डमें क्या है? खूब रही, इतने काण्ड हमने बतलाये, एक काण्ड तुम्हीं बतला दो। सभी काण्ड हम ही से पूछना चाहते हो। इसी प्रकार हमारा भी कहना है कि इतने धर्म तो हमने बतला दिये। अब एक त्याग धर्म तुम्हीं बतला दो। और हमसे जो कुछ कहो सो हम त्याग करनेको तैयार है—कहो तो चले जायं। (हँसी)। आपके त्यागसे हमारा लाभ नहीं—आपका लाभ है। आपकी समाजका लाभ है, आपके राष्ट्रका लाभ है। हमारा क्या है? हमें तो दिनमें दो रोटियाँ चाहिएँ, सो आप न दोगे, दूसरे गाँववाले दे देंगे। आप लुटिया न उठाओगे तो (क्षुल्लकजीके हाथसे पीछी हाथमें लेकर) यह पीछी और कमण्डलु उठाकर स्वयं बिना बुलाये आपके यहाँ पहुँच जाऊँगा। पर अपना सोच लो। आज परिग्रहके कारण सबकी आत्मा (हाथका इशारा कर) यों काँप रही है। रात-दिन चिन्तित है—कोई न ले जाय। कँपनेमें क्या धरा? रक्षाके लिये तैयार रहो। शक्ति सञ्चित करो। दूसरेका मुंह क्या ताकते हो? यो अटूट श्रद्धान रक्खो जिस कालमें जो बात जैसी होने वाली है वह उस कालमें वैसी होकर रहेगी।

'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः॥'

यह नीति बच्चोंको हितोपदेशमें पढ़ाई जाती है। जो काम होने वाला नहीं वह नहीं होगा और जो होने वाला है वह अन्यथा प्रकार नहीं होगा। महादेवजी तो दुनियाके स्वामी थे, पर उन्हें एक वस्त्र

भी नहीं मिला। और हरि (कृष्ण) संसारके रक्षक थे उन्हें सोनेके लिये मखमल आदि कुछ नहीं मिला। क्या मिला ? सर्प।

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे ।
अनहोनी होसी नहि कबहूँ काहे होत अधीरा रे ॥

होगा तो वही जो वीतरागने देखा है, जो बात अनहोनी है वह कभी नहीं होगी।

दिल्लीकी बात है। वहाँ हरजसराय(?) रहते थे। करोड़पति आदमी थे। बड़े धर्मात्मा थे। जिन-पूजनका उनके नियम था। जब सवत् १४ (?) की गदर पड़ी तब सब लोग इधर-उधर भाग गये। इनके लड़कोंने कहा—पिता जी ! समय खराब है इस लिये स्थान छोड़ देना चाहिये। हरजसरायने कहा—तुम लोग जाओ, मैं वृद्ध आदमी हूँ। मुझे धनकी आवश्यकता नहीं। हमारे जिनेन्द्रकी पूजा कौन करेगा ? यदि आदमी रखा जायगा तो वह भी इस विपत्तिके समय यहाँ स्थिर रह सकेगा, यह सम्भव नहीं। पिताके आग्रहसे लड़के चले गये। एक घण्टे बाद चोर आये। हरजसरायने स्वयं अपने हाथों सब तिजोरियाँ खोल दीं। चोरोंने सब सामान इकट्ठा किया। लेजानेको तैयार हुए, इतनेमें एकाएक उनके मनमें विचार आया कि कितना भला आदमी है ? इसने एक शब्द भी नहीं कहा। लूटनेके लिये सारी दिल्ली पड़ी है, कौन यही एक है, इस धर्मात्माको सताना अच्छा नहीं। हरजसरायने बहुत कहा, चोर एक कणिका भी नहीं ले गये और दूसरे चोर आकर इसे तङ्ग न करें, इस खयालसे उसके दरवाजे पर ५ डाकुओंका पहरा बैठा गये। मेरा तो अब भी विश्वास है कि जो इतना दृढ श्रद्धानी होगा उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। 'बाल न बाँका कर सके जो जग हो रिपु होय।' जिसका धर्मपर अटल विश्वास है सारा संसार उसके विरुद्ध होजाय तो भी उसका बाल बाँका नहीं हो सकता। तुम ऐसा विश्वास करो, तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ ले तो मैं जिम्मेदार हूँ; लिखा लो मुझसे।

मैं श्रद्धाकी बात कहता हूँ। वरुआसागरमें मूलचन्द्र था। बड़ा श्रद्धानी था। उसके पाँच विवाह हुए थे। पाँचवीं स्त्रीके पेट गर्भ था। कुछ लोग बैठे थे, मूलचन्द्र था, मैं भी था। किसीने कहा कि मूलचन्द्र के बच्चा होगा, किसीने कहा बच्ची होगी, इस प्रकार सभीने कुछ न कुछ कहा। मूलचन्द्र मुझसे बोला—आप भी कुछ कह दो। मैंने कहा भैया ! मैं निमित्त-ज्ञानी तो हूँ नहीं जो कह दूँ कि यह होगा। वह बोला—जैसी एक-एक गप्प इन लोगोंने छोड़ी वैसी आप भी छोड़ दीजिए। मुझे कह आया कि बच्चा होगा और उसका श्रेयांसकुमार नाम होगा। समय आनेपर उसके बच्चा हुआ। उसने तार देकर बाईजी-को[1] तथा मुझे बुलाया। हम लोग पहुँच गये। बड़ा खुश हुआ। उसने खुशीमें बहुत सारा गल्ला ग़रीबोंको बाँटा और बहुतोंका कर्ज छोड़ दिया। नाम-संस्करण के दिन एक थालीमें सौ-दो-सौ नाम लिखकर रक्खे और एक पाँच वर्षकी लड़कीसे उनमेंसे एक कागज निकलवाया। सो उसमें श्रेयांसकुमार नाम निकल आया। मैंने तो गप्प ही छोड़ी थी। पर वह सच निकल आई। एक बार श्रेयांसकुमार बीमार पड़ा तो गाँवके कुछ लोगोंने मूलचन्द्रसे कहा कि एक सोनेका राक्षस बनाकर कुएको चढा दो। मूलचन्द्रने बड़ी दृढताके साथ उत्तर दिया कि यह लड़का मर जाय, मूलचन्द्र मर जाय, उसकी स्त्री मर जाय, सब मर जायँ; पर मैं राक्षस बनाकर नहीं चढा सकता। श्रेयांसकुमार उसके पाँच विवाह बाद उत्पन्न एक ही लड़का था फिर भी वह अपने श्रद्धानपर डटा रहा। सो श्रद्धान तो यही कहता है। जो मौका आनेपर विचलित होजाते हैं उनके श्रद्धानमें क्या धरा ?

यह पञ्चाध्यायी ग्रन्थ है। इसमें लिखा है कि सम्यग्दृष्टि निःशङ्क होता है—निर्भय होता है। मैं आपसे पूछता हूँ कि उसे भय है हो किस बातका ? वह अपने आपको जब अजर, अमर, अविनाशी पर-पदार्थसे भिन्न श्रद्धन करता है, उसे जब इस बातका विश्वास है कि पर पदार्थ मेरा नहीं है, मैं अनाद्यनन्त

1 वर्णीजीकी माता श्री चिरोंजाबाईजी।—स०।

नित्योद्योत विशद-ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ। मैं एक हूँ। पर-पदार्थसे मेरा क्या सम्बन्ध ? अणुमात्र भी पर-द्रव्य मेरा नहीं है। हमारे ज्ञानमें ज्ञेय आता है पर वह भी मुझसे भिन्न है। मै रसको जानता हूँ पर रस मेरा नहीं हो जाता। मै नव पदार्थोंको जानता हूँ पर नव पदार्थ मेरे नहीं हो जाते। भगवान् कुन्दकुन्द-स्वामीने लिखा है—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण-णाणमइओ सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥"

मै एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन-ज्ञानमय हूं, अरूपी हूं। अधिककी बात जाने दो परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है।

पर बात यह है कि हम लोगोंने तिलीका तेल खाया है, घी नहीं। इसलिये उसे ही सब कुछ समझ रहे है। कहा है—'तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृत क्वापि। अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीयः॥' जिसने वास्तविक सुखका अनुभव नहीं किया वह विषयसुखको ही रमणीय कहता है। इस जीवकी हालत उस मनुष्यके समान होरही है जो सुवर्ण रखे तो अपनी मुट्ठीमे है पर खोजता फिरता है अन्यत्र। अन्यत्र कहाँ धरा ? आत्माकी चीज आत्मामे ही मिल सकती है।

एक भद्रप्राणी था। उसे धर्मकी इच्छा हुई। मुनि-राजके पास पहुँचा, मुझे धर्म चाहिए। मुनिराजने कहा–भैया ! मुझे और बहुतसा काम करना है। अतः अवसर नहीं। इस पासकी नदीमें चले जाओ उसमे एक नाकू रहता है। मैंने उसे अभी अभी धर्म दिया है वह तुम्हे दे देगा। भद्रप्राणी नाकूके पास जाकर कहता है कि मुनिराजने धर्मके अर्थ मुझे आपके पास भेजा है, धर्म दीजिये। नाकू बोला, अभी लो, एक मिनिटमे लो, पर पहले एक काम मेरा कर दो। मै बड़ा प्यासा हूँ, यह सामने किनारेपर एक कुआ है उससे लोटा भर पानी लाकर मुझे पिला दो, फिर मैं आपको धर्म देता हूँ। भद्रप्राणी कहता है—तू बड़ा मूर्ख मालूम होता है, चौबीस घण्टे तो पानी-मे बैठा है और कहता है कि मैं प्यासा हूं। नाकूने कहा कि भद्र ! जरा अपनी ओर भी देखो। तुम भी चौबीसों घण्टे धर्ममें बैठे हो, इधर-उधर धर्मकी खोजमे क्यों फिर रहे हो ? धर्म तो तुम्हारा आत्मा-का स्वभाव है, वह अन्यत्र कहाँ मिलेगा।

सम्यग्दृष्टि सोचता है जिस कालमे जो बात होने वाली होती है उसे कौन टाल सकता है ? भगवान आदिनाथको ६ माह आहार नहीं मिला। पाण्डवोंको अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान होने वाला था, ज्ञानकल्याण का उत्सव करनेके लिये देवलोग आने वाले थे। पर इधर उन्हे तप्त लोहेके जिरह बख्तर पहिनाये जाते है। देव कुछ समय पहले और आजाते ! आ कैसे जाते ? होना तो वही था जो हुआ था। यही सोच कर सम्यग्दृष्टि न इस लोकसे डरता है, न परलोकसे। न उसे इस बातका भय होता है कि मेरी रक्षा करने वाले गढ़, कोट आदि कुछ भी नहीं है। मै कैसे रहूंगा ? न उसे आकस्मिक भय होता है और सबसे बड़ा मरणका भय होता है सो सम्यग्दृष्टिको वह भी नहीं होता वह अपनेको सदा 'अनाद्यनन्त-नित्योद्योतविशदज्ञानज्योति' स्वरूप मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव ससारसे उदासीन होकर रहता है। तुलसीदासने एक दोहेमे कहा है—

'जगतै रहु छत्तीस हो रामचरण छह तीन।'

ससारसे ३६के समान विमुख रहो और रामचन्द्र जीके चरणोंमे ६३के समान सम्मुख।

वास्तवमे वस्तुतत्त्व यही है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मा बड़ी पवित्र होजाती है, उसका श्रद्धान गुण बड़ा प्रबल हो जाता है। यदि श्रद्धान न होता तो आपके गाँवमे जो २८ उपवास वाला बैठा है वह कहांसे आता ? इस लड़कीके (काशीबाईकी ओर सकेत करके) आज आठवां उपवास है। तथा कहीं बैठा होगा उसके बारहवां उपवास है और एक-एक, दो-दो उपवासवालोंकी तो गिनती ही क्या है ? 'अलसा कौन पियादोंमे' ? वे तो सौ, दो-सौ होंगे। यदि धर्मका श्रद्धान न होता तो इतना क्लेश फौकटमे कौन सहता ?

व्याख्यानकी बात थी सो तो हो चुकी। अब आपके नगरके एक बड़े आदमीका कुछ आग्रह है सो प्रकट करता हूँ। भैया! मैं तो ग्रामोफोन हूँ, चाहे जो बजा लेता है—जो मुझे जैसी कहता है वैसी ही कह देता हूँ। इन बड़े आदमियोंकी इतनी बात माननी पड़ती है; क्योंकि उनका पुण्य ही ऐसा है। अभी यहाँ बैठनेको जगह नहीं है पर सेठ हुकुमचन्द्र आजाय तो सब कहने लगोगे, इधर आओ, इधर आओ। अरे! हमारी तुम्हारी बात जाने दो, तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि तो समयपर ही खिरती है पर यदि चक्रवर्ती पहुँच जाय तो असमयमे भी खिरने लगती है। अपने राग-द्वेष है पर उनके तो नहीं है। चक्रवर्तीकी पुण्यकी प्रबलतासे भगवानकी दिव्यध्वनि अपने आप खिरने लगती है। हाँ, तो यह सिंघईजी कह रहे हैं कि महिलाश्रमके लिये अभी कुछ होजाय तो अच्छा है फिर मुश्किल होगा। भैया! मैं विद्यालयको तो मांगना नहीं और उस वक्त भी नही मांगे थे, पर बिना मांगे ही सेठ २५०००) दे गया तो मैं क्या करूँ मैं तो बाहरकी संस्थाओंको देता था, पर मुझे कह आया कि यदि सागर इतने ही और देवे तो सब वही लेले। आप लोगोंने बहुत मिला दिये। कुछ बाकी रह गये सो आप लोग अपना वचन न निभाओगे तो किसीसे भीख मांग दूगा। यह बात महिलाश्रमकी है जैसे बच्चे तैसे बच्चियाँ। आपकी ही तो हैं। इनकी रक्षामे यदि आपका द्रव्य लगता है तो मैं समझता हूँ अच्छा ही होरहा है। पाप करके लक्ष्मीका संचय जिनके लिये करना चाहते हो वे उसके फल भोगनेमे शामिल न होंगे। बाल्मीकिका किस्सा है। बाल्मीकि, जो एक बड़ा ऋषि माना जाता है, चोरी-डकैती करके अपने परिवारका पालन करता था। उसके रास्ते जो कोई निकलता उसे वह लूट लेता था। एकबार एक साधु निकले। उनके हाथमे कमण्डलु था। बाल्मीकिने कहा—रख दो यहाँ कमण्डलु। साधुने कहा—बच्चे! यह तो डकैती है, इसमे पाप होगा। बाल्मीकिने कहा—मैं पाप-पुण्य कुछ नही जानता, कमण्डलु रख दो। साधुने कहा—अच्छा, मैं यहाँ खड़ा रहूँगा, तुम अपने घरके लोगोंसे पूछ आओ कि मैं एक डकैती कर रहा हूँ उसका जो फल होगा, उसमे शामिल हो, कि नहीं? लोगोंने टकासा जवाब दे दिया—तुम चाहे डकैती करके लाओ, चाहे साहुकारीसे। हम लोग तो खाने भरमे शामिल है। बाल्मीकिको बात जम गई और वापिस आकर साधुसे बोला—बाबा! मैने डकैती छोड़ दी। आप मुझे अपना चेला बना लीजिये।

बात वास्तविक यही है। आप लोग पाप-पुण्यके द्वारा जिनके लिये सम्पत्ति इकट्ठी कर रहे हो वे कोई साथ देने वाले नही हैं। अतः समय रहते सचेत हो जाओ। देखे, आप लोगोंमेंसे कोई हमारा साथ देता है या नहीं।

समय रहते सावधान!

जौलौं देह तेरी काहू रोगसों न घेरी जौलौं, जरा नाहिं नेरी जासों पराधीन परि है।
जौलौं जमनामा वैरी देय न दमामा जौलौं, माने कान रामा बुद्धि जाइ न बिगरि है॥
तौलौं मित्र! मेरे निज कारज सँवार ले रे, पौरुष थकैंगे फेर पीछे कहा करि है।
अहो आग आये जब झोंपरी जरन लागे, कुआके खुदाये तब कौन काज सरि है॥

—कवि भूधरदास

संगीतपुरके सालुवेन्द्र नरेश और जैनधर्म

ले०—कामताप्रसाद जैन, सम्पादक 'वीर' अलीगञ्ज (एटा)

दक्षिण भारतके राजवंशोंमें होय्सल राजवश सर्व अन्तिम हिन्दूशासक कहा जाय तो बेजा नहीं। मुहम्मदग़ाज़नीने उसी वशके राजाको पराजित करके मुसलमानी शासनकी नीव दक्षिणमें डाली थी। हिन्दू अपनी स्वाधीनताको खोती हुई देखकर तिलमिला उठे। सबका माथा ठनका और सबने यवनोंका विरोध करना निश्चय किया। पहले वैष्णव, शैव, लिङ्गायत और जैनोंकी आपसमे स्पर्द्धा चलती थी—यवनोंके आक्रमणने उस स्पर्द्धाका अन्त कर दिया। वैष्णव, शैव, जैन और लिङ्गायत कन्धासे कन्धा मिलाकर जननी जन्मभूमिकी रक्षाके लिये जुट पड़े। सबने मिलकर विजयनगर साम्राज्यकी स्थापना की। होय्सल नरेशके प्रान्तीय शासक महामण्डलेश्वर हरिहरराय एक पराक्रमी शासक थे। जनताने उनको ही अपना नेता चुनकर विजयनगरके राजसिंहासनपर बैठाया। उनके संरक्षणमे हिन्दू-शासनकी रक्षा हुई। किन्तु यह हिन्दू साम्राज्य साम्प्रदायिकताके विषसे मुक्त था। पाकिस्तानकी तरह उसमे अल्पसंख्यकोंका शोषण और निष्कासन नहीं किया गया था। मुसलमान भी विजयनगरके हिन्दू साम्राज्यमें आजादीसे रहते ही नहीं, बल्कि राज्यशासनमें उच्चपदोंपर आसीन थे। विजयनगरके कई सेनापति भी मुसलमान थे। इन मुसलमान कर्मचारियोंने हमेशा मतसहिष्णुताका परिचय दिया—यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दू देवता और गुरुको दान भी दिये। किन्तु इतना होते हुए भी उन्होंने हिन्दुओंकी समुदार-वृत्तिका अवसर मिलते ही दुरुपयोग किया! कदाचित् विजयनगर हिन्दू साम्राज्यके कतिपय सामन्तगण स्वार्थमे बहकर राजद्रोह न करते और विजयनगरकी मुसलमान सेना और सेनापति धोखा देकर मुसलमान बादशाहोंसे न जा मिलते तो दक्षिण भारतमें हिन्दू राज्यका पतन शायद ही होता! प्रस्तुत लेखमे हम पाठकोंके समक्ष विजयनगर साम्राज्यके एक प्रसिद्ध सामन्त राजवंशका परिचय उपस्थित करते हैं, जो इतना प्रभावशाली था कि अन्ततो गत्वा उसी वशका एक पराक्रमी राजा विजयनगर साम्राज्यका अधिकारी हुआ था।

तुलुवदेशमें संगीतपुर एक बड़ा नगर था। वह हाडुहल्लि नामसे प्रसिद्ध था। आजकल यह स्थान उत्तर कनाड़ा ज़िलेमे है। उस समय यहाँ सालुवेन्द्र नरेश राज्याधिकारी थे। सारे तौलव देशपर उनका शासन चलता था। उनका वंश काश्यपगोत्री चन्द्रकुलका क्षत्रयवंश था। सङ्गीतपुर उस समय निस्संदेह एक महान् नगर था। जैनधर्मका वहाँ प्राबल्य था। सन् १४८८ ई०के एक शिलालेखमे लिखा है कि "तौलवदेशमे सङ्गीतपुर सौभाग्यका ही निकेत था। उसमे उत्तुङ्ग चैत्यालय बने हुए थे। वहाँपर सुखी, समुदार और भोग-विलासमें मग्न नागरिक रहते थे। हाथी-घोड़ोंसे वह भरा था। वहाँ बड़े-बड़े योद्धा, उच्चकोटिके कविगण, वादी और प्रवक्ता रहते थे। मानो वह नगर सरस्वतीका आवास होरहा था। उच्च साहित्यका निर्माण जो वहाँ होता था। अपनी ललित कलाओंके लिये भी वह प्रसिद्ध था।"

सङ्गीतपुरमें उस समय महामण्डलेश्वर सालुवेन्द्र शासन कर रहे थे। वह सालुवेन्द्र नरेश जिनेन्द्र चन्द्रप्रभुके चरण-चञ्चरीक बने हुए थे। उनका हृदय रत्नत्रयधर्मके लिए सुदृढ़ मंजूषा था। उन्होंने सङ्गीतपुरमें अतीव उत्तुङ्ग और नयनाभिराम जिन चैत्यालय बनवाये थे, जिनके विशाल मण्डप और सुन्दर मानस्तम्भ बने हुए थे। धातु और पाषाणकी भव्य

मूर्तियाँ भी उन्होंने निर्माण कराई थीं। नगरमे मनोरम पुष्पवाटिकाएँ (Parks) बनवाकर उन्होंने नगरकी शोभाको बढ़या था और नागरिकोंको सुखसुविधा प्रदान की थी। नागरिक उनमे जाकर आनन्दकेलि करते थे। इतनेपर भी सालुवेन्द्रको इस बातका ध्यान था कि नगरमे धर्ममर्यादा अक्षुण्ण रहे। इसीलिये वह मन्दिरोंकी धर्मव्यवस्था ठीक रखनेके लिए सतर्क रहते थे। मन्दिरोंमे नियमित धर्म क्रियाएँ होती रहे, इसके लिए उन्होंने दान-व्यस्था की थी। देवपूजा, चतुर्विध दान और विद्वानोंको निरन्तर वृत्तियाँ दी जाती थीं। सारांश यह कि सालुवेन्द्र नरेशने राजत्वके आदर्शका निभाया और धर्ममर्यादाको आगे बढ़ाया था।

इन सालुवेन्द्र नरेशके राजमन्त्री भी राजवंशके रत्न थे। उनका नाम पद्म अथवा पद्माण था। राज-मर्यादाको स्थिर रखनेमे उनका उल्लेखनीय हाथ था। इसीसे प्रसन्न होकर सालुवेन्द्रने उनको ओगेय-केरे नामक ग्राम भेट किया। किन्तु पद्म इतने समुदार और धर्मवत्सल थे कि उन्होंने वह ग्राम जिनधर्मके उत्कर्षके लिये दान कर दिया। 'जैन-जयतु-शासन' सूत्र मूर्तमान इस प्रकार ही था। उन्होंने अपने नामपर 'पद्माकरपुर' नामक ग्राम बसाया था। सन् १४९८ ई०मे उन्होंने उस ग्राममे एक भव्य जिनालय निर्माण कराया और उसमे भगवान पार्श्वनाथकी दिव्यमूर्ति विराजमान की थी। महामण्डलेश्वर इन्दगरस ओडेयरकी इच्छानुसार उन्होंने उसके लिए भूमिदान दिया था। उस मन्दिर-मे निरन्तर अभय-ज्ञान-भैषज्य-आहार दान दिया जाता था। जैन मन्दिर लोकोपकारक शिक्षाके केन्द्र होरहे थे—वे भुवनाश्रय थे। जीवमात्र उनमे पहुँच कर अपना आत्मकल्याण करते थे।

महामण्डलेश्वर इन्दगरस सालुवेन्द्रनरेशके छोटे थे। वे महामण्डलेश्वर साङ्गिराजके पुत्र थे। इन्दगरस 'इम्मडि सालुवेन्द्र' नामसे प्रसिद्ध थे। उनका नाम सैनिक प्रवृत्तियोंके कारण खूब चमक रहा था। वह एक बहादुर योद्धा थे। सन १४९१के एक शिलालेख में उनके शौर्यका विवरण है। उसमें लिखा है कि उन्होंने शौर्य देवताको जीत लिया था। कर्मसूर होनेके साथ वह धर्मसूर भी थे। धर्मकार्य वह निरन्तर करते थे। बिडिरू (वेणुपुर)मे बर्द्धमान स्वामीका मन्दिर था। इन्दगरसने उस मन्दिरके प्राचीन भूमिदानका पुनरुद्धार जैनधर्मको उन्नत बनानेके लिये किया था।

सङ्गीतपुरके अवशेष नरेशोंमे सालुव मल्लिराय, सालुव देवराय और सालुव कृष्णदेव जैनधर्मके प्रसङ्गमे उल्लेखनीय है। कृष्णदेवकी माता पद्माम्बा विजयनगर सम्राट् देवराय प्रथमकी बहन थीं। सन् १५३० ई०के दानपत्रसे स्पष्ट है कि इन तीनों राजाओ ने प्रसिद्ध जैनगुरु वादी विद्यानन्दको आश्रय दिया था। सालुव मल्लिराय और सालुव देवरायने राज-दरबारोंमे उन्होंने परवादियोंसे सफल वाद किया था। कृष्णदेवने श्रीविद्यानन्दके पाद-पद्मोंकी पूजा की थी।

(मोडियावल जैनीज्म, पृष्ठ ३१४—३१८ देखे)

सन १५२९ ई०के एक लेखसे स्पष्ट है कि सम्राट कृष्णरायके शासनकालमे सङ्गीतपुरका शासनसूत्र गुरुरायके हाथमे था, जो जेरसप्पेके शासकोंसे सम्बन्धित थे। गुरुराय भी अपने पूर्वजोंके समान जैनधर्मके अनन्य भक्त थे। वह 'रत्नत्रयधर्माराधक' 'जैनधर्मध्वजारोहक'—'स्वर्णिम जिनमन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माता' कहे गये है। इन विरुदोंसे उनकी जिनधर्मके प्रति भक्ति और श्रद्धा प्रगट होती है। इनकी सन्ततिमे हुए भैरव नरेशने आचार्य वीरसेन-की आज्ञानुसार वेणुपुरके 'त्रिभुवनचूडामणि-बस्ती' नामक मन्दिरकी छतपर तांबेके पत्र लगवाये थे। उनके कुलदेव भगवान पार्श्वनाथ और राजगुरु पण्डिताचार्य वीरसेन थे। उनकी रानी नागलदेवी भी भक्तवत्सला श्राविका थीं उन्होंने उपर्युक्त मन्दिरके सम्मुख एक सुन्दर मानस्तम्भ बनवाया था। उनकी पुत्रियाँ (१) लक्ष्मीदेवी और (२) पण्डितादेवी भी अपनी माँकी तरह धर्मात्मा थीं। वे निरन्तर जैन साधुओंको दान दिया करती थीं। जब भैरव नरेश

जैनधर्म बनाम समाजवाद

(लेखक—प० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

आजके प्रगतिशील युगमें वे ही शक्तियाँ, सामाजिकप्रथाएँ एवं आचारके नियम जीवित रह सकते हैं जो लोग समाजको चरम विकासकी ओर ले जा सकें। जैनधर्मका लक्ष्य विन्दु भी एकमात्र मानव समाजको आध्यात्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिसे विकासकी ओर लेजाना है। जैनाचार्योंने जीवनके प्रारम्भिक विन्दुको (Starting point) उसी स्थानपर रखकर जीवन-गति रेखाको आरम्भ किया है, जहाँसे मानव समाजके निर्माणका कार्य आरम्भ होता है।

जिस प्रकार स्वतन्त्रता व्यक्तिवाद (Individualism)की कुञ्जी मानी जाती है, उसी प्रकार समानता समाजवादकी। जैनधर्ममें समस्त जीवधारियोंको आत्मिक दृष्टिसे समानत्वका अधिकार प्राप्त है। इसमें स्वातन्त्र्यको बड़ी महत्ता दी गई है। संसारके सभी प्राणियोंकी आत्मामें समानशक्ति है तथा प्रत्येक संसारी प्राणीकी आत्मा अपनी भूलसे अवनति और जागरूकतासे उन्नति करती है, इसका भाग्य किसी ईश्वर विशेषपर निर्भर नहीं है। प्रत्येक जीवधारीके शरीरमें पृथक् पृथक् आत्मा होनेपर भी सब आत्माओंका स्वभाव एक समान है; किन्तु इन संसारी आत्माओंमें संस्कार—कर्मजन्य मैल रहता है जिससे इनके भावोंमें, शरीरकी रचनामें तथा इनके अन्य क्रिया-कलापोंमें अन्तर है। यदि यह संस्कार—विषय वासना और कषायोंसे उत्पन्न कर्मजन्य मलिनता दूर हो जाय तो सबका स्वभाव एक समान प्रकट हो जायगा[1]। उदाहरणके तौरपर यों कहा जा सकता है कि कई एक जलके भरे हुए घड़ोंमें नाना प्रकारका रङ्ग घोल दिया जाय तो उन घड़ोंका पानी एकसा नहीं दिखलाई पड़ेगा; रङ्गोंके सम्बन्धसे नाना प्रकारका मालूम होगा। किन्तु बुद्धि पूर्वक विचार करनेसे सभी घड़ोंका पानी एकसा है, केवल परसंयोगी विकारके कारण उनके जलमें कुछ भिन्नता मालूम पड़ता है। अतएव सभी प्राणियोंकी आत्माएँ समान है—All souls are similar as regards their true real nature

आध्यात्मिक दृष्टिसे समस्त समाजको एक स्तरपर लानेके लिये ही सबसे आवश्यक यह है कि समस्त प्राणियोंको परमात्मस्वरूप माना जाय। जैनधर्ममें इसीलिये परमात्माकी शक्ति जीवात्मासे अधिक नहीं मानी है और न जीवात्मासे भिन्न कोई परमात्मा ही माना है। इस प्रकार परमात्मा एक नहीं, अनेक है। जो कषाय और वासनाओंसे उत्पन्न अशुद्धतासे छूट कर मुक्त हो जाता है, वही एक समान गुणधारी परमात्मा हो जाता[2] है। अल्पज्ञानी एवं विषय-

---

रोगग्रस्त हुए तो वह जिनेन्द्र भगवानकी शरणमें पहुँचे। रोगमुक्त होनेके लिये उन्होंने जिन पूजा की और दान दिया। ऐसे दृढ़ श्रद्धानी यह राजपुरुष थे। उनकी धर्म श्रद्धा उन्हें सुखी और सम्पन्न बनानेमें कारणभूत थी। आजका जगत उनके आदर्शको देखे और धर्मके महत्वको पहिचाने तो दुख-शोक भूल जावे!

इस प्रकार विजयनगर साम्राज्यके एक जैन-धर्मानुयायी सामन्त राजवशका परिचय है। इनके साथ अन्य सामन्तगण भी जिनेन्द्र भक्त थे। उनका परिचय कभी आगे पाठकोंकी नजर करेंगे।

१—नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥
—समाधिशतक श्लोक ७५

२—स्वबुद्ध्या यावद् गृह्णीयात् कायवाचेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥
—समाधिशतक श्लोक ६२

वासनाओंमें आसक्त प्राणीको भी यह परमात्मा होनेकी योग्यता वर्तमान है। परमात्मा हो जानेपर इच्छाओंका अभाव होजता है और शरीर, मन, वचन नहीं रहते जिससे उन्हें किसी भी कामके करने की चिन्ता नहीं होती है, न किसी कामकी वे आज्ञा देते हैं, अतएव जगतकर्तृत्वका प्रसङ्ग इन राग-द्वेषसे रहित स्वतन्त्र परमात्माओंको प्राप्त नहीं होता[1] है।

यह विश्व सदासे है और सदा रहेगा; (world is eternal) न कभी बना है और न कभी नाश होगा। इसमे प्रधानतः जड़ और चेतन दो प्रकारके पदार्थ हैं। इनका कभी नाश नहीं होता है, केवल इनकी अवस्थाएँ बदला करती हैं। इस परिवर्तनमे भी कोई बाह्य ईश्वरादि शक्ति कारण नही हैं; किन्तु षड्द्रव्योंका स्वाभाविक परिणमन ही कारण है। जैन मान्यतामे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य माने गये हैं, इन द्रव्योंका समवाय—एकीकरण ही लोक[2] है। इन द्रव्योंमे गुण और पर्याय ये दो प्रकारकी शक्तियाँ है। जो एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे पृथक् करता है उसे गुण एवं द्रव्योंकी जो अवस्थाएँ बदलती हैं उन्हें पर्याय कहते है। गुण और पर्यायोंके कारण ही द्रव्योंकी व्यवस्था होती है।

जीव—चैतन्य ज्ञानादि गुणोंका धारी जीव द्रव्य है। यह अपनी उन्नति और अवनति करनेमे स्वतन्त्र है, किसी के द्वारा शासित नहीं है, इसका विकास अपने हाथोंमे है, इसे स्वतन्त्र होनेके लिये किसीके आश्रित रहनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु इतनी बात अवश्य है कि जीव अपनी स्वाभाविक विशेषनाओंके कारण अपने उत्थान और पतनमें पुद्गल (Matter) को निमित्त कारण—सहायक बना लेता है। इसलिये जीवके परिणामोंकी प्रेरणासे-मन, वचन और कायके परिस्पन्दनसे पुद्गलके परिमाणु अपनी शक्ति विशेषके कारण जीवसे आकर चिपट जाते हैं; जिससे जीवके स्वाभाविक गुण मलिन होजाते हैं। यह मलिनता सदासे चली आरही है, जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा इसे अलग कर परमात्मा बन जाता है।

पुद्गल—यह द्रव्य मूर्त्तिक है, इसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श चार गुण पाये जाते हैं। जितने पदार्थ हमे आँखोंसे दिखलाई पड़ते हैं वे सब पौद्गलिक है। इसमे मिलने और बिछुड़नेकी योग्यता है यह स्कन्ध—पिण्ड और परमाणुके रूपमें पाया जाता है। शब्द (sound), बन्ध (union), सूक्ष्म (fineness), स्थूल (grassness), संस्थान-भेद-तमच्छाया (shape, division, darkness and image), उद्योत-आतप (lustre heat) ये सब पुद्गल द्रव्यकी पर्यायाएँ (modification) हैं। इसके अनेक भेद-प्रभेद और भी बताये गये हैं, जिनसे जीवोंके प्रायः सभी व्यवहारिक कार्य चलते हैं।

धर्मद्रव्य[3]—जैन आम्नायमे इसे पुण्य-पापरूप नहीं माना गया है, किन्तु जीवों और पुद्गलोंके हलन-चलनमे बाहिरी सहायता (Assists the movement of moving) प्रदान करने वाले सूक्ष्म अमूर्त्त पदार्थको धर्मद्रव्य माना है। यह आते, जाते, गिरते, पड़ते, हिलते, चलते पदार्थोंको उनकी गतिमे मदद करता है, बलपूर्वक किसीको नहीं चलाता, किन्तु उदासीनरूपसे चलते हुए पदार्थोंकी गतिमे सहायक होता है। इसका अस्तित्व समस्त लोकमे पाया जाता है।

---

१ अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥
—गो० सा० जी० गा० ६८

२ लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइ णिहणो सहावणिव्वत्तो।
जवाजीवेहि फुडो सव्वागासावयवो णिच्चो ॥
—त्रिलोकसागर गा० ४

३ The Jain philosophers mean by Dharama kind of ether, which is the fulcrum of Motion, with the help of Dharam, Pudgala and Jiva move
—द्रव्यसग्रह पृष्ठ ५२

अधर्मद्रव्य—यह अमूर्तिक पदार्थ स्थिर होने वाले जीव और पुद्गलोंको स्थिर होनेमें सहायता (Assists the staying of) करता है। उसका अस्तित्व भी समस्त लोकमें पाया जाता है।

आकाशद्रव्य—जो सब द्रव्योंको अवकाश—स्थान (space) देता है उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। अनन्त आकाशके मध्यमें जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म पाये जायँ उसे लोकाकाश[1] (universe) और जहाँ केवल आकाशद्रव्य ही हो उसे अलोकाकाश (non-universe) कहते हैं।

कालद्रव्य—जिसके निमित्तसे वस्तुओंकी अवस्थाएँ बदलती हैं उसे कालद्रव्य कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि इन छः द्रव्यों (Substences) में काम करने वाले (Actors) संसारी—अशुद्ध जीव और पुद्गल हैं, ये चलना, ठहरना, स्थान पाना एवं बदलना—परिवर्तन ये चार कार्य करते रहते हैं। इनके कार्योंमें क्रमशः धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य निमित्त कारण (Auxiliary cause) अर्थात् सहायक होते हैं। इस प्रकार विश्वकी सारी व्यवस्था बिना किसी प्रधान शासक—ईश्वर कर्त्ताके सुचारुरूपसे बन जाती है। सभी द्रव्य अपने अपने विशेष गुणोंके कारण अपने-अपने कार्यको करते रहते हैं। इन सांसारिक कार्योंमें जीव और पुद्गल उपादान कारण और अन्य द्रव्य निमित्त कारण होते हैं।

आर्थिक दृष्टिकोण

आर्थिक दृष्टिसे समाजको समान स्तरपर लाना जैनधर्मका एक विशिष्ट सिद्धान्त है। जैन संस्कृतिके प्रधान अङ्ग अपरिग्रह और सयमवाद ये दोनों ही समाजमेंसे शोषित और शोषक वर्गकी समाप्ति कर आर्थिक दृष्टिसे समाजको उन्नत स्तरपर लाते हैं।

अहिंसा-प्रधान जैनधर्ममें समस्त प्राणियोंके साथ मैत्रीभाव रखकर समाजके विकासपर जोर दिया है। मानवकी कोई भी क्रिया केवल अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिये नहीं होनी चाहिये, बल्कि उसे समस्त समाजके स्वार्थको ध्यानमें रखकर अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसी कारण समस्त समाजको सुखी बनानेके लिये व्यक्तिसे समाजको अधिक महत्व दिया गया है तथा समाजकी इकाईके प्रत्येक घटकका दायित्व समानरूपसे बताया गया है।

अपरिग्रहवाद—अपने योगक्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय और अत्याचार-द्वारा पूँजीका अर्जन न करना अपरिग्रह है। शास्त्रीय दृष्टिसे पूर्ण परिग्रहका त्याग तो साधु-अवस्थामें ही सम्भव है, किन्तु उपर्युक्त परिभाषा गृहस्थ जीवनकी दृष्टिसे दी गई है। जैन संस्कृतिमें परिग्रहपरिमाण[1]के साथ भोगोपभोगपरिमाणका भी कथन किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि वस्त्र, आभरण, भाजन, ताम्बूल[2] आदि भोगोपभोगकी वस्तुओंके सम्बन्धमें भी समाजकी परिस्थितिको देखकर उचित नियम करना मानवमात्रके लिये आवश्यक है। उपर्युक्त दोनों प्रश्नोंके समन्वयका अभिप्राय यह है कि समस्त मानव समाजकी आर्थिक अवस्थाको उन्नत बनाना। चन्द लोगोंको इस बातका कोई अधिकार नहीं कि वे

१ धम्माधम्मा काला पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो॥
—द्रव्यसंग्रह गा० २०

लोकतीति लोकः—लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः। —तत्त्वार्थराजवार्तिक ५।१२

१ वास्तु क्षेत्र धान्य दासी दासश्चतुष्पद भाण्डम।
परिमेय कर्त्तव्य सर्व सन्तोपकुशलेन॥
—अमितगतिश्रावकाचार पृ० १६२

ममेदमिति संकल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु।
ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषा कर्शनं तत्प्रमाव्रतम॥
—सा० ध० अ० ४, श्लोक ५६

२ ताम्बूलगन्धलेपनमज्जनभोजनपुरोगमो भोगः।
उपभोगो भूषास्त्रीशयनासनवस्त्रवाहाद्याः॥
भोगोपभोगसंख्या विधीयते शक्तितो भक्त्या।
अमितगतिश्रावकाचार पृ० १६८

शोषण कर आर्थिक दृष्टिसे समाजमें विषमता उत्पन्न करें। यद्यपि इतना सुनिश्चित है कि समस्त मनुष्योंमें उन्नति करनेकी शक्ति एकसी न होनेके कारण समाज में आर्थिक दृष्टिसे समानता स्थापित होना कठिन है, तो भी जैनधर्म समस्त मानव-समाजको लौकिक उन्नतिके समान अवसर एवं अपनी-अपनी सामर्थ्यके अनुसार उन्नति करनेके लिये स्वतन्त्रता देता है। क्योंकि परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण-का एक मात्र लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर कर सुखी बनाना है। वस्तुतः अपरिग्रहवाद पूंजीवादका विरोधी सिद्धान्त है और यह समाजको समाजवादकी प्रणालीपर संगठित होनेके लिये प्रेरणा देता है। इसी लिये जैन ग्रन्थोंमे परिग्रहको महा-पाप बतलाया है, क्योंकि शोषणकर्त्ता हिंसा, झूठ, चोरी आदि सभी पापोंको करने वाला[1] है।

परिग्रहके दो भेद है—बाह्य परिग्रह और अन्तरङ्ग परिग्रह। बाह्य परिग्रहमें धन, भूमि, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ परिगणित है। इनके सञ्चयसे समाजको आर्थिक विषमताजन्य कष्ट भोगना पड़ता है, अतः आवश्यकता भर ही इन वस्तुओंको ग्रहण करना चाहिये, जिससे समाजके किसी भी सदस्यको कष्ट न हो और समस्त मानवसमाज सुखपूर्वक अपने जीवनको बिता सके।

अन्तरङ्गपरिग्रहमे वे भावनाएँ शामिल है जिनसे धन-धान्यका संग्रह किया जाता है, दूसरे शब्दोंमे यों कह सकते हैं कि सञ्चयशील बुद्धिका नाम ही अन्त-रङ्गपरिग्रह है। यदि बाह्य परिग्रह छोड़ भी दिया जाय और ममत्व बुद्धि बनी रहे तो समाजकी छीना-झपटी दूर नहीं हो सकती। इसलिये जैन मान्यताने अन्तरङ्ग, लोभ, माया, क्रोध आदि कषायोंके छोड़ने को विशेष महत्व दिया है। सारांशरूपमें अपरिग्रहकी स्पष्ट परिभाषा यों कही जा सकती है कि यह वह सिद्धान्त है जो पूंजी और जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक वस्तुओंके अनुचित संग्रहको रोककर शोषणको बन्द करता है, जिससे मानवीय दशाओं-की भीषणता लुप्त होजाती है।

पूंजीकी प्राप्तिको ईश्वरकी कृपा या भाग्यका फल एव दरिद्रता—गरीबीको ईश्वरकी अकृपा या भाग्यका कुपरिणाम जैनधर्ममें नही माना गया है। बल्कि जैन[1] कर्मसिद्धान्तमे स्पष्टरूपसे कहा गया है कि सानाकर्मके उदयसे परिणामोंमें शान्ति और असाता कर्मके उदयसे परिणामोंमे अशान्ति होती है। लक्ष्मीकी प्राप्ति किसी कर्मके उदयसे नहीं होती है, किन्तु सामाजिक व्यवस्था ही पूंजीके अर्जनमे कारण है। हाँ धनकी प्राप्ति, अप्राप्तिको साता, असाताके उदयमे नोकर्म—कर्मोदयमे सहायक कारण माना जा सकता है। अतएव सामाजिक व्यवस्थामें सुधार कर समाजके प्रत्येक सदस्यको उन्नतिके समान अव-सर प्रदान करना प्रत्येक मानवका कर्त्तव्य है।

संयमवाद—संसारमे सम्पत्ति एवं भोगोपभोग की सामग्री कम है, भोगने वाले ज्यादा है और तृष्णा भी अधिक है, इसीलिये प्राणियोंमे परस्पर संघर्ष और छीना-झपटी होती है, फलतः समाजमें नाना प्रकारके अत्याचार और अन्याय होते है जिससे अहर्निश समाजमें दुःख बढ़ता जाता है। परस्परमे ईर्षा, द्वेषकी मात्रा और भी अधिक है जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिकी उन्नतिका अवसर ही नहीं मिलने देता। इन सब बातोंका परिणाम यह होता है कि समाजमें संघर्षकी मात्रा बढ़कर विषमतारूपी जहर उत्पन्न होजाता है।

---

१ तन्मूलाः सर्वदोषानुषङ्गाः—सपरिग्रहो मूलमेषां ते तन्मूलाः। के पुनस्ते सर्वदोषानुषङ्गाः, ममेदमिति हि सति सकल्पे रक्षणादयः सजायते। तत्र च हिंसावश्य भाविनी तदर्थमनृत जल्पति चौर्यं चाचरति मैथुने च कर्मणि प्रतियतते। —राजवार्तिक पृ० २७६

अविश्वासतमोनक्त लोभानलघृताहुतिः।
आरम्भमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रहः॥
—सागारधर्मामृत अ० ४ श्लो० ६३

१ देखें, श्री प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित कर्मव्यवस्था शीर्षक निबन्ध, जो शीघ्र प्रकाशित हो रहा है।

इस हलाहलकी एकमात्र औषधि संयमवाद है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं, वासनाओं और कषायों[1]पर नियन्त्रण रखकर छीना-झपटीको दूर कर दे तो समाजमेंसे आर्थिक विषमता अवश्य दूर होजाय तथा सभी सदस्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति निराकुलरूपसे कर सके।

संयमके दो भेद हैं—इन्द्रियसंयम और प्राणि-संयम। इन्द्रियोंको वशमें करना इन्द्रियसंयम है। इस संयमका पालने वाला अपने जीवनके निर्वाहके लिये इन्द्रियजय-द्वारा कमसे कम सामग्रीका उपभोग करता है, शेष सामग्री अन्य लोगोंके काम आती है, इससे संघर्ष कम होता है और विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे तो दूसरोंके लिये सामग्री कम पड़ेगी तथा शोषणकी शुरुआत भी यहींसे हो जायगी। समाजमें पूंजीका समान वितरण होजानेपर भी जबतक तृष्णा शान्त नहीं होगी, अवसर मिलनेपर मनमाना उपभोग लोग करते ही रहेंगे तथा वर्ग-संघर्ष चलता रहेगा। अतएव आर्थिक वैषम्यको दूर करनेके लिये अपनी इच्छाओं और लालसाओंको प्रत्येक व्यक्तिको नियन्त्रित करना होगा, तभी समाज सुखी और समृद्धिशाली बन सकेगा।

प्राणिसंयम—अन्य प्राणियोंको किञ्चित भी दुःख न देना प्राणिसंयम है। अर्थात् संसारके समस्त प्राणियोंकी सुख-सुविधाओंका पूरा-पूरा खयाल रखकर अपनी प्रवृत्ति करना, समाजके प्रति अपने कर्तव्यको अदा करना एवं व्यक्तिगत स्वार्थ भावनाको त्याग कर समस्त प्राणियोंके कल्याणकी भावनासे अपने प्रत्येक कार्यको करना प्राणिसंयम है। इतना निश्चित है कि जबतक समर्थ लोग संयम-पालन नहीं करेंगे तबतक निर्बलोंको पेट भर भोजन नहीं मिल सकेगा और न समाजका रहन-सहन ही ऊंचा हो सकेगा। जैनाचार्योंने संयमको आत्मशुद्धि और उसके विकासका साधन तो माना ही है, पर इसका रहस्य सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ बनाना है। शासित और शासक या शोषित और शोषक इन वर्गोंकी बुनियाद भी संयमके पालन-द्वारा दूर होजायगी। क्या आजका समाज स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या कर वर्गसंघर्षको दूर कर सकेगा।

सामाजिक दृष्टिकोण

समस्त प्राणियोंको उन्नतिके अवसरोंमें समानता प्रदान करना जैनधर्मका सामाजिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तका व्यावहारिकरूप अहिंसाकी बुनियादपर आश्रित है। इसी कारण जैन अहिंसाका क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उससे जीवनका कोई भी कोना अछूता नहीं है। परस्पर भाई-भाईकासा व्यवहार करना, एक दूसरेके दुःखदर्दमें सहायक होना, दूसरों को ठीक अपने समान समझना, हीनाधिककी भावनाका त्याग करना, अन्य लोगोंकी सुखसुविधाओं को समझना तथा उनके विपरीत आचरण न करना अहिंसा है। जैनधर्मकी अहिंसाका ध्येय केवल मानव समाजका ही कल्याण करना नहीं है, किन्तु पशु, पक्षी, कीड़, मकोड़े आदि समस्त प्राणियोंको जानदार समझकर उन्हे किसी प्रकारका कष्ट न देना, उनकी उन्नति और विकासकी चेष्टा करना, सर्वत्र सुख और शान्ति स्थापित करनेके लिये विश्वप्रेमके सूत्रमें आबद्ध होना सम्प्रदाय, जाति या वगगत वैषम्यको दूर करना है।

मानवका सामाजिक सम्बन्ध कुछ हद तक पाशविक शक्तियोंके द्वारा संचालित होता आ रहा है। इसका प्रारम्भ कुछ अधिनायकशाही मनोवृत्तिके व्यक्तियों द्वारा हुआ है जो अपनी सत्ता समाजपर लादकर उसका शोषण करते रहते हैं। अहिंसा ही एक ऐसी वस्तु है जो मानवकी मानवताका मूल्याङ्कन कर उपर्युक्त अधिनायकशाहीकी मनोवृत्तिको दूर कर सकती है। पाखण्ड और धोखेबाजीकी भावनाएँ ही संसारमें अपना प्रभुत्व स्थापित कर साम्राज्यवादकी नींवको दृढ करती हैं। क्योंकि सत्ता और धोखा ये दोनों ही एक दूसरेपर आश्रित हैं तथा इन्हें एक

[1] कषत्यात्मानामिति कषायः क्रोधादिपरिणामः, कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः।
—राजवार्तिक पृ० २४८

ही कार्यके दो भेद कहा जा सकता है। चन्द व्यक्ति सत्ताके द्वारा जिस कार्यको सम्पादित नहीं कर सकते, उसीको धोखे द्वारा पूरा करते हैं। जब शोषितवर्ग उस सत्ताके प्रति बगावत करता है तो ये सत्ताधारी अपने प्रचार और बल प्रयोग द्वारा उसे दबानेका प्रयत्न करते हैं; इस प्रकार संघर्षका क्रम चलता रहता है। अहिंसाकी दैवीशक्ति ही इस संघर्षकी प्रक्रियाका अन्त कर वर्गसंघर्षको दूर कर सकती है।

जैनधर्ममें कुविचार[1] मात्रको हिंसा कहा है। दंभ, पाखंड, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थ-बुद्धि, छल-कपट, प्रभृति समस्त भावनाएँ हिंसा हैं।

समाजको सुव्यवस्थित करनेके लिये अहिंसाका विस्तार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके रूपमें किया गया है।

सत्य (truthfullness)—अहिंसाकी भावना सच्चाईके सिद्धान्तसे पूरी तरह सम्बद्ध है। यह पहले कहा गया है कि सत्ता और धोखा ये दोनों ही समाजके अकल्याणकारक हैं, इन दोनोंका जन्म झूठसे होता है, झूठा व्यक्ति आत्मवञ्चना तो करता ही है किन्तु समाजकी नींवको घुनकी भाँति खा जाता है। प्रायः देखा जाता है कि मिथ्याभाषणका आरम्भ खुदगर्जीकी भावनासे होता है, सर्वात्महित-वादकी भावना असत्य भाषणमें बाधक हैं। स्व-च्छन्दता और उच्छृङ्खलता जैसी समाजको जर्जरित करने वाली कुभावनाएँ असत्य भाषणसे ही उत्पन्न होती है। क्योंकि मानव समाजका समस्त व्यवहार वचनोंसे ही चलता है वचनोंमें दोष आजानेसे समाज-की बड़ी भारी क्षति होती है। लोकमें भी प्रसिद्धि है कि इसी जिह्वामें विष और अमृत दोनों हैं अर्थात् समाजको उन्नत स्तरपर ले जाने वाले अहिंसक वचन अमृत और समाजको हानि पहुँचाने वाले हिंसक वचन विष हैं। अतएव मानव समाजके व्यवहारको यथार्थ रीतिसे सम्पादित करनेके लिये विश्वासघातक, परनिन्दा एवं परपीड़ाकारक, आत्मप्रशंसक एवं स्वार्थ-साधक वचनोंका त्याग करना चाहिये। सचाई ही समाजकी व्यवस्थाको मजबूत बना सकती है।

अस्तेय (अचौर्य) की भावना मानवके हृदयमें अन्य व्यक्तियोंके अधिकारोंके लिये स्वाभाविक सम्मान जागृत करती है। इसका वास्तविक रहस्य यह है कि किसीको दूसरेके अधिकारोंपर हस्तक्षेप करना उचित नहीं है, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें सामाजिक हितकी भावनाको ध्यानमें रखकर ही कार्य करना उचित है। यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि अधिकार वह सामाजिक वातावरण है जो व्यक्तित्वकी वृद्धिके लिये आवश्यक और सहायक होता है। यदि इसका दुरुपयोग किया जाय तो सामाजिक जीवनका विकास या ह्रास भी इसीपर अवलम्बित होजाता है। इसलिये जैनाचार्यों ने अधिकारको व्यक्तिगत न मानकर सामाजिक माना है और उनका कथन है कि समाजके प्रत्येक घटकको अपने अधिकारोंका प्रयोग ऐसा करना होगा जिससे अन्य किसीके अधिकारमें बाधा उपस्थित न हो। जो वैयक्तिक जीवनमें अधिकार है सामाजिक जीवन में वही कर्तव्य होजाता है, इसलिये अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरेके आश्रित है, ये एक ही वस्तुके दो रूप है। जब व्यक्ति अन्यकी सुविधाओंका खयाल कर अधिकारका प्रयोग करता है तो वह अधिकार समाजके लिये अनुशासनके रूपमें हितकारक बन जाता है।

यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकारोंपर जोर दे और अन्यके अधिकारोंकी अवहेलना करे तो उसे किसी भी अधिकारको प्राप्त करनेका हक नहीं है। अधिकार और कर्तव्यके उचित प्रयोगका ज्ञान प्राप्त करना ही सामाजिक जीवन-कलाका प्रथम पाठ है जिसे प्रत्येक व्यक्तिको अचौर्य भावनाके अभ्यास द्वारा स्मरण करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य—अधिकार और कर्त्तव्यके प्रति आदर ऐसी चीजें नहीं है जिन्हें किसीके ऊपर जबर्दस्ती

१ अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ४४

लादा जा सके। नैतिकता और बलप्रयोग ये दोनों परस्पर विरोधी है। अतएव जैनधर्मने ब्रह्मचर्यकी भावना-द्वारा स्वनिरीक्षणकी प्रवृत्तिपर जोर दिया है, क्योंकि इस प्रक्रिया-द्वारा नैतिक जीवनका श्रीगणेश होता है। अहिंसाका पालन भी ब्रह्मचर्यके पालनपर आश्रित है। सामाजिक जीवनमें संगठनकी शक्ति भी इसीके द्वारा जागृत होती है। बिना संयमके समाज-की व्यवस्था सुचारुरूपसे नहीं की जा सकती है, क्योंकि सामाजिक जीवनका आधार नैतिकता ही है। प्रायः देखा जाता है कि संसारमें छीना-झपटीकी दो ही वस्तुएँ है, कामिनी और कञ्चन। जबतक इन दोनोंके प्रति आन्तरिक संयमकी भावना उत्पन्न न होगी तबतक सामाजिक जीवन कण्टकाकीर्ण माना जायगा। साराश यह है कि जीवन-निर्वाह—शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये अपने उचित हिस्सेसे अधिक ऐन्द्रियिक सामग्रीका उपयोग न करना व्याव-हारिक ब्रह्म-भावना है।

अपरिग्रहकी भावना-द्वारा समाजमें सुख और शान्ति स्थापित की जाती है। इसके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है।

समाजमें ऊँच-नीच और छूआ-छूतकी भावनाको पुष्ट करनेवाली जन्मना वर्ण-व्यवस्थाको जैनधर्ममें नहीं माना है। जैनाचार्योंने स्पष्टरूपसे समाजके समस्त सदस्योंको मानवताकी दृष्टिसे एक स्तरपर लानेके लिये आचारको महत्ता दी है। जिस व्यक्तिका सदा-चार जितना ही समाजके अनुकूल होगा, वह व्यक्ति उतना ही समाजमें उन्नत माना जायगा, किन्तु स्थान उसका भी सामाजिक सदस्यके नाते वही होगा जो अन्य सदस्योंका है। दलितवर्गका शोषण और जातिवादके दुरभिमानको, जिसमें समाजको अहर्निश खतरोंका सामना करना पड़ता है, जैनधर्ममें स्थान नहीं दिया है। जैन तीर्थङ्करोंने एक मनुष्य जाति मानकर व्यवहार-मूलक वर्णव्यवस्था[१] बतलाई है—

कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होई खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होई सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

इस प्रकार सामाजिक भेद-भावकी खाईको जैनाचार्योंने दूरकर समाजको एक संगठनके भीतर आबद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

राजनैतिक दृष्टिकोण

यद्यपि धर्मका राजनीतिसे सम्बन्ध नहीं है, फिर भी समाज और व्यक्तिके साथ सम्बन्ध रहनेसे राज-नीतिके साथ भी सम्बन्ध मानना पड़ता है। जैनधर्म सदासे प्रजातन्त्र राज्यका समर्थक रहा है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि भगवान् महावीरके पिता महाराज सिद्धार्थ वैशालीकी जनता-द्वारा चुने गये शासक थे। जैसे प्राचीन राजनीतिके ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्रमें राजाको ईश्वरीय अंश मानकर उसकी सर्वोपरि शक्ति स्वीकार की है, वैसे जैनधर्ममें नहीं। जैन राजनीतिमें राजा शब्दका प्रयोग राज्यकी जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्तिके रूपमें ही हुआ है, इसीलिये राजाको जनताके धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गोंकी समानरूपसे उन्नति करनेवाला, संगठन-कर्ता माना है। राज्यके प्रत्येक व्यक्तिके वैयक्तिक आचरणका विश्लेषण करते हुए कहा गया है—

"सर्वसत्त्वेषु[१] हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम्"

अर्थात्—उस राष्ट्रके समस्त प्राणियोंमें समानता-का व्यवहार करना ही परमाचरण है। तात्पर्य यह है कि लौकिक दृष्टिसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको स्वीकार करते हुए भी समाजको उच्च स्थान प्रदान कर उसके प्रत्येक घटकके साथ भाई-भाईकासा व्यवहार अनु-शासित ढङ्गसे सम्पन्न करना परम कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है। इस कर्त्तव्यकी अवहेलना जनता द्वारा निर्वाचित राजा भी नहीं कर सकता है।

लोकतन्त्रके सिद्धान्तों-द्वारा समाजके सभी सदस्योंके हितकी बातोंमें सभीका मत लेना आवश्यक है। जैन राजनीतिकारोंने तो स्पष्टरूपसे कहा है कि मनुष्य और उसके विचार समयकी आर्थिक परि-

१ मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ आ. पु. ३८।४५
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते॥ —गुणभद्र

१ नीतिवाक्यामृत धर्मसमुद्देश। सूत्र ४

स्थितियोंसे निर्मित और परिवर्तित होते हैं। अतः समस्त समाजकी यदि भोजन-छादनकी सुव्यवस्था होजाय तो फिर सभी आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर अग्रसर हो सकें। अतएव शक्तिके अनुसार कार्य और आवश्यकतानुसार पुरस्कारवाले नुस्खेका प्रयोग समाज और व्यक्ति दोनोंके विकासमें अत्यन्त सहायक होगा।

उपर्युक्त जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी आजके समाजवादके सिद्धान्तोंके साथ तुलना करनेप ज्ञात होगा कि आजके समाजवादमें जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको विशेष महत्ता नहीं, वहाँ जैनधर्मके समाजवादमे व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको बड़ी भारी महत्ता दी गई है, और उसे समाजकी इकाई स्वीकार करते हुए भी समाजकी श्रीवृद्धिका उत्तरदायी माना है। यद्यपि आज भी समाजवादके कुछ आचार्य उसकी कमियोंको समझकर आध्यात्मिकवादका पुट देना उचित मानते है तथा उसे भारतीयताके रङ्गमें रङ्गकर उपयोगी बनानेका प्रयत्न कर रहे हैं। जैनधर्मके उपर्युक्त सिद्धान्त निम्न समाजवादके सिद्धान्तोंके साथ मेल खाते हैं—

१—समाजको अधिक महत्व देना, पर व्यक्तिके ऊपर जबरदस्ती किसी भी बातको न लादना। इकाईके समृद्ध होनेपर ही समाज भी समृद्ध हो सकेगाके सिद्धान्तको सदा ध्यानमें रखना।

२—एक मानव-जाति मानकर उन्नतिके अवसरोंमे समानताका होना।

३—विकासके साधनोंका कुछ ही लोगोंको उपभोग करनेसे रोकना और समस्त समाजको उन्नतिके रास्तेपर ले जाना।

४—पूंजीवादको प्रोत्साहन न देना, इसकी विदाईमें ही समाजकी भलाई समझना।

५—हानिकारक स्पर्धाको जड़से उखाड़ फेंकना।

६—शोषण, हीनाधिकताकी भावना, ऊँच-नीचका व्यवहार, स्वार्थ, दम्भ आदिको दूर करना।

७—समाजको प्रेम-द्वारा सङ्गठित करना।

जैनधर्मके समाजवादमे आजके समाजवादी सिद्धान्तोंसे मौलिक विशेषताएँ—

१—भौतिक और बौद्धिक उन्नतिके साथ नैतिक उन्नतिको चरम लक्ष्य स्वीकार करना।

२—आत्माको अमर मानकर उसके विकासके लिये वैयक्तिकरूपसे प्रयत्न करना। जहाँ भौतिक उन्नतिमे समाजको सर्वोपरि महत्ता प्राप्त है, वहाँ आत्मिक उन्नतिमे व्यक्तिको।

३—बलप्रयोग-द्वारा विरोधी शक्तियोंको नष्ट न करना, बल्कि विचार-सहिष्णु बनकर सुधार करना।

४—अधिनायकशाहीकी मनोवृत्ति—जो कि आजके समाजवादमे कदाचित् उत्पन्न हो जाती है और नेशनके नामपर व्यक्तिके विचार-स्वातन्त्र्यको कुचल दिया जाता है, जैनधर्ममें इसे उचित नहीं माना है।

५—हिंसापर विश्वास न कर अहिंसा द्वारा समाजका सङ्गठन करना तथा प्रेम-द्वारा समस्त समाजकी विपत्तियोंका अन्त कर कल्याण करना[1]।

६—व्यक्तिकी आवाजकी कीमत करना तथा बहुमत या सर्वमत-द्वारा समाजका निर्माण और विकास करना।

वर्तमान जैनधर्मानुयायी

आज जैनधर्मके अनुयायियोंके आचरणमे समाजवादकी गन्ध भी नहीं है। इसीलिये प्रायः लोग इसे साम्राज्यवादी धर्म समझते हैं। वास्तविक बात यह है कि देश और समाजके वातावरणका प्रभाव प्रत्येक धर्मके अनुयायियोंपर पड़ता है। अतः समय-दोषसे इस धर्मके अनुयायी भी बहुसंख्यकोंके प्रभावमे आकर अपने कर्त्तव्यको भूल बैठे, केवल बाह्य आचरण तक ही धर्मको सीमित रखा। अन्य संस्कृतियोंके प्रभावके कारण कुछ दोष भी समाजमे प्रविष्ट होगये हैं तथा अहिंसक समाजकी अहिंसा केवल बाह्य आडम्बर तक ही सीमित है। फिर भी इतना तो निष्पक्ष होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि भगवान महावीरकी देन जैन समाजमे इतनी अब

१ सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
—युक्त्यनुशासन श्लो० ६१

सन्मति-विद्या-विनोद

प्यारी पुत्रियो ! सन्मती और विद्यावती ! आज तुम मेरे सामने नहीं हो—तुम्हारा वियोग हुए युग बीत गये; परन्तु तुम्हारी कितनी ही स्मृति आज भी मेरे सामने स्थित है—हृदयपटलपर अङ्कित है। भले ही कालके प्रभावसे उसमें कुछ धुधलापन आगया है, फिर भी जब उधर उपयोग दिया जाता है तो वह कुछ चमक उठती है।

बेटी सन्मती,

तुम्हारा जन्म असोज सुदि ३ संवत् १९५६ शनिवार ता० ७ अक्तूबर सन् १८९९ को दिनके १२ बजे सरसावामें उसी सूरजमुखी चौबारेमें हुआ था जहाँ मेरा, मेरे सब भाइयोंका, पिता-पितामहका और न जाने कितने पूर्वजोंका जन्म हुआ था और जो इस समय भी मेरे अधिकारमें सुरक्षित है। भाई-बाँटके अवसरपर उसे मैंने अपनी ही तरफ लगा लिया था।

बालकोंके जन्म समय इधर ब्राह्मणियाँ जो बधाई गाती थीं वह मुझे नापसन्द थी तथा असङ्गत-सी जान पड़ती थी और इसलिये तुम्हारे जन्मसे दो एक मास पूर्व मैंने एक मङ्गलबधाई[1] स्वयं तैयार की थी और उसे ब्राह्मणियोंको सिखा दिया था। ब्राह्मणियोंको उस समय बधाई गानेपर कुछ पैसे-टके ही मिला करते थे, मैंने उन्हें जो मिलता था उससे दो रुपये अधिक अलगसे देनेके लिये कह दिया था और इससे उन्होंने खुशी-खुशी बधाईको याद कर लिया था। तुम्हारे जन्मसे कुछ दिन पूर्व ब्राह्मणियोंकी तरफ से यह सवाल उठाया गया कि यदि पुत्रका जन्म न होकर पुत्रीका जन्म हुआ तो इस बधाईका क्या बनेगा ? मैंने कह दिया था कि मैं पुत्र-जन्म और पुत्रीके जन्ममें कोई अन्तर नहीं देखता हूँ—मेरे लिये दोनों समान हैं—और इसलिये यदि पुत्रीका जन्म हुआ तब भी तुम इस बधाईको खुशीसे गासकती हो और गाना चाहिए। इसीसे इसमें पुत्र या सुत जैसे शब्दोंका प्रयोग न करके 'शिशु' शब्दका प्रयोग किया गया है और उसे ही 'दे आशिश् शिशु हो गुणधारी' जैसे वाक्य-द्वारा आशीर्वादके दिये जानेका उल्लेख किया गया है। परन्तु रूढिवश पिताजी और बूआजी आदिके विरोधपर ब्राह्मणियोंको तुम्हारे जन्मपर बधाई गानेकी हिम्मत नहीं हुई; फिर भी तुम्हारी माताने अलगसे ब्राह्मणियोंको अपने पास बुलाकर बिना गाजे-बाजेके ही बधाई गवाई थी और उन्हें गवाईके वे २) रु० भी दिये थे। साथ ही दूसरे सब नेग भी यथाशक्ति पूरे किये थे जो प्रायः पुत्र-जन्मके अवसरपर दूसरोंको कुछ देने तथा उपहारमें आये हुए

---

१ इस मंगल बधाईकी पहली कली इस प्रकार थी—

"गावो री बधाई सखि मंगलकारी।"

भी शेष है कि एक लगोटी लगाने वाला जिसके पास दो शाम खानेको हैं, वह भी अपना एक शामका भोजन दान कर सकता है। जहाँ जैनियोंके परिग्रह सचयके उदाहरण हैं वहाँ परिग्रह त्यागके भी सैकड़ों उदाहरण वर्तमान हैं। इसीलिये ये बिना सरकारी सहायताके शिक्षा-प्रचार एवं अन्य सामाजिक उन्नति-के कार्य जैनसमाज-द्वारा अनेक होरहे हैं।

आज स्वतन्त्र भारतमें भगवान महावीरके उपर्युक्त समाजवादके प्रचारकी नितान्त आवश्यकता है। इससे समाजको बड़ी भारी शान्ति मिलेगी। क्या प्रमुख नेता लोग इधर ध्यान देंगे ?

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको राष्ट्रपालः,
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥

जोड़े-झगों आदिपर रुपये रखने आदिके रूपमें किये जाते हैं।

तुम्हारा नाम मैंने केवल अपनी रुचिसे ही नहीं रक्खा था बल्कि श्रीआदिपुराण-वर्णित नामकरण-संस्कारके अनुसार १००८ शुभ नाम अलग-अलग कागजके टुकड़ोंपर लिखकर और उनकी गोलियाँ बनाकर उन्हें प्रसूतिगृहमें डाला था और एक बच्चेसे एक गोली उठवाकर मँगाई गई थी। उस गोलीको खोलने पर 'सन्मतिकुमारी' नाम निकला था और यही तुम्हारा पूरा नाम था। यों आम बोल-चालमें तुम्हें 'सन्मती' कहकर ही पुकारा जाता था।

तुम्हारी शिक्षा वैसे तो तीसरे वर्ष ही प्रारम्भ होगई थी परन्तु कन्यापाठशालामें तुम्हे पाँचवें वर्ष बिठलाया गया था। यह कन्यापाठशाला देवबन्दकी थी, जहाँ सहारनपुरके बाद सन् १९०५ में मैं मुख्तारकारीकी प्रैक्टिस करनेके लिये चला गया था और कानूगोयानके मुहल्लेमें ला० दूल्हाराय जैन साबिक पटवारीके मकानमें उसके सूरजमुखी चौबारेमें रहता था। निद्धी पण्डित, जो तुम्हे पढ़ाता था, तुम्हारी बुद्धि और होशयारीकी सदा प्रशंसा किया करता था। मुझे तुम्हारे गुणोंमें चार गुण बहुत पसन्द थे—१ सत्य-वादिता, २ प्रसन्नता, ३ निर्भयता और ४ कार्य-कुशलता। ये चारों गुण तुममें अच्छे विकसित होते जारहे थे। तुम सदा सच बोला करती थी और प्रसन्न-चित्त रहती थी। मैंने तुम्हे कभी रोते-रडाते अथवा जिद्द करते नहीं देखा। तुम्हारे व्यवहारसे अपने-पराये सब प्रसन्न रहते थे और तुम्हे प्यार किया करते थे। सहारनपुर मुहल्ले चौधरियानके ला० निहालचन्दजी और उनकी स्त्री तो, जो मेरे पासकी निजी हवेलीमे रहते थे, तुमपर बहुत मोहित थे, तुम्हे अक्सर अपने पास खिलाया-पिलाया और सुलाया करते थे, उसमे सुख मानते थे और तुम्हे लाड़में 'सबजी' कह कर पुकारा करते थे—तुम्हारे कानोंकी बालियोंमे उस वक्त सबजे पड़े हुये थे। जब कभी मैं रातको देरसे घर पहुँचता और इससे दहलीजके किवाड बन्द हो जाते तब पुकारनेपर अक्सर तुम्ही अँधेरेमे ही ऊपर से नीचे दौड़ी चली आकर किवाड खोला करती थी, तुम्हे अँधेरेमें भी डर नहीं लगता था, जब कि तुम्हारी माँ कहा करती थी कि मुझे तो डर लगता है, यह लड़की न मालूम कैसी निडर निर्भय प्रकृति-की है जो अँधेरेमें भी अकेली चली जाती है। तुम्हारी इस हिम्मतको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी।

एक दिन रातको मुझे स्वप्न हुआ कि एक अर्धनग्न श्यामवर्ण स्त्री अपने आगे पीछे और इधर उधर मरे हुये बच्चोंको लटकाए हुए एक उत्तरमुखी हवेलीमें प्रवेश कर रही है जो कि ला० जवाहरलालजी जैन की थी। इस बीभत्स दृश्यको देखकर मुझे कुछ भय-सा मालूम हुआ और मेरी आँख खुल गई। अगले ही दिन यह सुना गया कि ला० जवाहरलाल-जीके बड़े लड़के राजारामको प्लेग होगई, जिसकी हालमें ही शादी अथवा गौना हुआ था। यह लड़का बड़ा ही सुशील, होनहार और चतुर कारोबारी था तथा अपनेसे विशेष प्रेम रखता था। तीन-चार दिन मे ही यह कालके गालमे चला गया!! इस भारी जवान मौतसे सारे नगरमे शोक छागया और प्लेग भी जोर पकडती गई।

कुछ दिन बाद तुम्हारी माताने कोई चीज बना-कर तुम्हारे हाथ ला० जवाहरलालजीके यहाँ भेजी थी वह शायद शोकके मारे घरपर ली नहीं गई तब तुम किसी तरह ला० जवाहरलालजीको दुकानपर उसे दे आई थी। शामको या अगले दिन जब ला० जवाहरलालजी मिले तो कहने लगे कि—'तुम्हारी लड़की तो बड़ी होशयार होगई है, मेरे इन्कार करते हुए भी मुझे दुकानपर ऐसी युक्तिसे चीज दे गई कि मैं तो देखकर दङ्ग रह गया।' इस घटनासे एक या दो दिन बाद तुम्हे भी प्लेग होगई! और तुम उसीसे माघ सुदी १०मी सवत् १९६३ गुरुवार तारीख २४ जनवरी सन् १९०७को सन्ध्याके छह बजे चल बसी!! कोई भी उपचार अथवा प्रेम-बन्धन तुम्हारी इस विवशा गतिको रोक नहीं सका!!!

तुम्हारे इस वियोगसे मेरे चित्तको बड़ी चोट लगी थी और मेरी कितनी ही आशाओंपर पानी फिर

गया था। एक वृद्ध पुरुष श्मशानभूमिमे मुझे यह कह कर सान्त्वना दे रहे थे कि 'जाओ धान रहो क्यारी, अबके नहीं तो फिरके बारी'। फिर तुम्हारी माताके दुख-दर्द और शोककी तो बात ही क्या है ? उसने तो शोकसे विकल और वेदनासे विह्वल होकर तुम्हारे नये-नये वस्त्र भी बक्सोंमेंसे निकालकर फेंक दिये थे। वे भी तुम्हारे बिना अब उसकी आँखोंमे चुभने लगे थे। परन्तु मैंने तुम्हारी पुस्तकों आदिके उस बस्तेको जो काली किरमिचके बैगरूपमे था और जिसे तुम लेकर पाठशाला जाया करती थी तुम्हारी स्मृतिके रूपमे वर्षों तक ज्योंका त्यों कायम रक्खा है। अब भी वह कुछ जीर्ण-शीर्ण अवस्थानमे मौजूद है—अर्से बाद उसमेंसे एक दो लिपि-कापी तथा पुस्तक दूसरोंको दीगई है और सलेटको तो मैं स्वयं अपने मौन वाले दिन काममें लेने लगा हूँ।

नामकरणके बाद जब तुम्हारे जन्मकी तिथि और तारीखादिको एक नोटबुकमे नोट किया गया था तब उसके नीचे मैंने लिखा था 'शुभम्'। मरणके बाद जब उसी स्थानपर तुम्हारी मृत्युकी तिथी आदि लिखी जाने लगी तब मुझे यह सूझ नहीं पड़ा कि उस दैविक घटनाके नीचे क्या विशेषण लगाऊँ ! 'शुभम्' तो मैं उसे किसी तरह कह नहीं सकता था; क्योंकि वैसा कहना मेरे विचारोंके सर्वथा प्रतिकूल था। और 'अशुभम्' विशेषण लगानेको एकदम मन जरूर होता था परन्तु उसके लगानेमें मुझे इसलिये संकोच हुआ था कि मैं भावीके विधानको उस समय कुछ समझ नहीं रहा था- वह मेरे लिए एक पहेली बन गया था। इसीसे उसके नीचे कोई भी विशेषण देने मे मैं असमर्थ रहा था।

बेटी विद्यावती,

तुम्हारा जन्म ता० ७ दिसम्बर सन् १९१७ को सरसावामें मेरे छोटे भाई बा० रामप्रसाद सबओवर सियरकी उस पूर्वमुखी हवेलीके सूरजमुखी निचले मकानमे हुआ था जो अपनी पुरानी हवेलीके सामने अभी नई तैयार कीगई थी और जिसमे भाई रामप्रसाद के ज्येष्ठ पुत्र चि० ऋषभचन्दके विवाहकी तैयारियाँ होरही थीं। जन्मसे कुछ दिन बाद तुम्हारा नाम 'विद्यावती' रक्खा गया था; परन्तु आम बोल-चालमे तुम्हें 'विद्या' इस लघु नामसे ही पुकारा जाता था।

तुम्हारी अवस्था अभी कुल सवा तीन महीनेकी ही थी जब अचानक एक वज्रपात हुआ, तुम्हारे ऊपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा ! दुर्दैवने तुम्हारे सिरपरसे तुम्हारी माताको उठा लिया !! वह देवबन्द के उसी मकानमे एक सप्ताह निमोनियाकी बीमारीसे बीमार रहकर १६ मार्च सन १९१८ को इस असार संसारसे कूच कर गई !!! और इस तरह विधिके कठोर हाथों-द्वारा तुम अपने उस स्वाभाविक भोजन—अमृतपानसे वञ्चित करदी गई जिसे प्रकृतिने तुम्हारे लिये तुम्हारी माताके स्तनोंमे रक्खा था ! साथ ही मातृ-प्रेमसे भी सदाके लिये विहीन होगई !!

इस दुर्घटनासे इधर तो मैं अपने २५ वर्षके तपे तपाये विश्वस्त साथीके वियोगसे पीडित ! और उधर उसकी धरोहर-रूपमे तुम्हारे जीवनकी चिन्तासे आकुल !! अन्तको तुम्हारे जीवनकी चिन्ता मेरे लिये सर्वोपरि हो उठी। पासके कुछ सज्जनोंने परामर्श-रूपमें कहा कि तुम्हारी पालना गायके दूध, बकरीके दूध अथवा डब्बेके दूधसे होसकती है; परन्तु मेरे आत्माने उसे स्वीकार नहीं किया। एक मित्र बोले—'लड़कीको पहाड़पर किसी धायको दिला दिया जायगा, इससे खर्च भी कम पड़ेगा और तुम बहुत-सी चिन्ताओंसे मुक्त रहोगे। घरपर धाय रखनेसे तो बडा खर्च उठाना पड़ेगा और चिन्ताओंसे भी बराबर घिरे रहोगे।' मैंने कहा—'पहाड़ोंपर धाय द्वारा बच्चों की पालना पूर्ण तत्परताके साथ नहीं होता। धायको अपने घर तथा खेत-क्यारके काम भी करने होते है, वह बच्चेको यों ही छोड़कर अथवा टोकरे या मूढे आदिके नीचे बन्द करके उनमे लगती है और बच्चा रोता बिलखता पड़ा रहता है। धाय अपने घरपर जैसा-तैसा भोजन करती है, अपने बच्चेका भी पालती है और इसलिये दूसरेके बच्चेका समयपर यथेष्ट भोजन भी नहीं मिल पाता और उसे व्यर्थके अनेक कष्ट उठाने पड़ते है। इसके सिवाय, यह भी

सुना जाता है कि पहाड़ोंपर बच्चे बदले जाते हैं और लोभके वश दूसरोंको बेचकर मृत घोषित भी किये जाते है। परन्तु इन सबसे अधिक बड़ी समस्या जो मेरे सामने है वह सम्कारोंकी है। और सब कुछ ठीक होते हुए भी वहांके अन्यथा संस्कारोंको कौन रोक सकेगा ? मैं नहीं चाहता कि मेरी लड़की मेरे दोषसे अन्यथा संस्कारोंमें रहकर उन्हें ग्रहण करे।' और इसलिये अन्तको यही निश्चित हुआ कि घरपर धाय रखकर ही तुम्हारा पालन-पोषण कराया जाय। तदनुसार ही धायके लिये तार-पत्रादिक दौड़ाये गये।

भाई रामप्रसादजी आदिके प्रयत्नसे एककी जगह दो धाय आगराकी तरफसे आगई, जिनमेंसे रामकौर धायको तुहारे लिये नियुक्त किया गया, जो प्रौढावस्थाकी होनेके साथ-साथ श्यामवर्ण भी थी—उस समय मैंने कहीं यह पढ़ रक्खा था कि श्यामा गायके दूधकी तरह बच्चोंके लिये श्यामवर्णा धायका दूध ज्यादा गुणकारी होता है। अतः तुम्हारे हितकी दृष्टिसे अनुकूल योजना हो जानेपर मुझे प्रसन्नता हुई। धायके न आने तक गाय-बकरीका दूध पीकर तुमने जो कष्ट उठाया, तुम्हारी जानके जो लाले पड़े और उसके कारण दादीजी तथा बहनगुणमालाको जो कष्ट उठाना पड़ा उसे मैं ही जानता हूँ। धायके आजानेपर तुम्हे साता मिलते ही सबको साता मिली।

तुम धायके साथ अधिकतर ननौता दादाजीके पास, सरसावा मेरे पास और तीतरों अपने नाना मुन्शी होशयारसिंहजीके यहाँ रही हो। जब तुम कुछ टुकड़ा-टेरा लेने लगी, अपने पैरों चलने लगी, बोलने-बतलाने लगी और गायका दूध भी तुम्हे पचने लगा तब तुम्हारी धाय रामकौरको बिदा कर दिया गया और वह अपना वेतन तथा इनाम आदि लेकर ३० जून सन् १९१९ को चली गई। उसके चले जाने पर तुम्हारे पालन-पोषण और रक्षाका सब भार पूज्य दादीजी, बहन (बुआ) गुणमाला और चि० जयवन्तीने अपने ऊपर लिया और सबने बड़ी तत्परता एवं प्रेमके साथ तुम्हारी सेवा की है।

तुम अपनी अबोध-दशासे इतने अर्सेतक धायके पास रही, उसकी गोदी चढ़ी, उसका दूध पिया, उसके पास खेली-सोई और वह माताकी तरह दूसरी भी तुम्हारी सब सेवाएँ करती रही; फिर भी तुमने एक बार भी उसे 'माँ' कहकर नहीं दिया—दूसरोंके यह कहनेपर भी कि 'यह तो तेरी माँ है' तुम गर्दन हिला देती थी और पुकारनेके अवसरपर उसे 'ए-ए!' कहकर ही पुकारती थी। यह सब विवेक तुम्हारे अन्दर कहाँसे जागृत हुआ था वह किसीकी भी कुछ समझमें नहीं आता था और सबको तुम्हारी ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्तिपर आश्चर्य होता था।

दो-ढाई वर्षकी छोटी अवस्थामें ही तुम्हारी बड़े आदमियों जैसी समझकी बातें, सबके साथ 'जी'की बोली, दयापरिणति, तुम्हारा सन्तोष, तुम्हारा धैर्य और तुम्हारी अनेक दिव्य चेष्टाएँ किसीको भी अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रहती थीं। तुम साधारण बच्चोंकी तरह कभी व्यर्थकी जिद करती या रोती-रड़ाती हुई नहीं देखी गई। अन्तकी भारी बीमारीकी हालतमें भी कभी तुम्हारे कूल्हने या कराहने तककी आवाज़ नहीं सुनी गई; बल्कि जब तक तुम बोलती रही और तुमसे पूछा गया कि 'तेरा जी कैसा है' तो तुमने बड़े धैर्य और गाम्भीर्यसे यही उत्तर दिया कि 'चोखा है'। वितर्क करनेपर भी इसी आशयका उत्तर पाकर आश्चर्य होता था! स्वस्थावस्थामें जब कभी कोई तुम्हारी बातको ठीक नहीं समझता था या समझनेमें कुछ गलती करता था तो तुम बराबर उसे पुनः पुनः कहकर या कुछ अते-पते की बातें बतलाकर समझानेकी चेष्टा किया करती थी और जबतक वह यथार्थ बातको समझ लेनेका इजहार नहीं कर देता था तबतक बराबर तुम 'नहीं' शब्दके द्वारा उसकी गलत बातोंका निषेध करती रहती थी। परन्तु ज्यों ही उसके मुहसे ठीक बात निकलती थी तो तुम 'हाँ' शब्दको कुछ ऐसे लहजेमें लम्बा खींचकर कहती थी, जिससे ऐसा मालूम होता था कि तुम्हे उस व्यक्तिकी समझपर अब पूरा सन्तोष हुआ है।

तुम हमेशा सच बोलती थी और अपने अपराध-को खुशीसे स्वीकार कर लेती थी। बुद्धि विकासके साथ-साथ आत्मामें शुद्धिप्रियता, निर्भयता, निस्पृहता, हृदयोच्चता और स्पष्टवादिता जैसे गुणोंका विकास भी तेजीसे होरहा था। धायके चले जानेके बादसे तुम मैले-कुचैले वस्त्र पहने हुए किसी भी स्त्री या लड़की आदिकी गोद नहीं चढ़ती थी, जिसका अच्छा परिचय शामलीके उत्सवपर मिला, जबकि तुम्हें गोदीमें उठाये चलनेके लिये दादीजीने एक लड़कीकी योजना की थी; परन्तु तुमने उसकी गोदी चढ़कर नहीं दिया और कहा कि 'मैं अपने पैरों आप चलूँगी' और तुम हिम्मतके साथ बराबर अपने पैरों चलती रहीं जबतक कि तुम्हें थकी जानकर किसी स्वच्छ स्त्री या लड़कीने अपनी गोद नहीं उठाया। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी, जब मैं अपने यहाँके दुकानदारोंसे यह सुनता था कि 'तुम्हारी विद्या इधर आई थी, हम उसे कुछ चीज देनेके लिये बुलाते रहे परन्तु वह यह कहती हुई चली गई कि "हमारे घर बहुत चीज है।"' तुम्हारा खुदका यह उत्तर तुम्हारे सन्तोष, स्वाभिमान और तुम्हारी निस्पृहताका अच्छा परिचायक होता था।

एकबार बहन गुणमालाने चि. जयवतीकी पाछा-पाड़ धोतीमेंसे तुम्हारे लिये एक छोटी धोती सवादो गजके करीब लम्बी तैयार की, जिसके दोनों तरफ चौड़ी किनारी थी और जो अच्छी साफ सुथरी धुली हुई थी। वह धोती जब तुम्हें पहनाई जाने लगी तो तुमने उसके पहननेसे इनकार किया और मेरे इस कहनेपर कि 'धोती बड़ी साफ सुन्दर है पहन लो' तुमने उसके स्पर्शसे अपने शरीरको अलग करते हुए साफ कह दिया "यह तो कत्तर है।" तुम्हारे इस उत्तरको सुनकर सब दङ्ग रह गये! क्योंकि इनने बड़े कपड़ेको 'कत्तर' का नाम इससे पहले किसीने नहीं सुना था। बहन गुणमाला कहने लगी—'भाई जी! तुम तो विद्याको सादा जीवन व्यतीत कराना चाहते हो, इसके कान-नाक बिंधवानेकी भी तुम्हारी इच्छा नहीं है परन्तु इसके दिमागको तो देखो जो इतनी बड़ी धोतीको भी 'कत्तर' बतलाती है!'

एक दिन सुबहके वक्त तुम मेरे कमरेके सामनेकी बगड़ीमें दौड़ लगा रही थी और तुम्हारे शरीरकी छाया पीछेकी दीवारपर पड़ रही थी। पासमें खड़ी हुई भाई हीरालालजीकी बड़ी लड़कियाँ कह रही थीं 'देख, विद्या! तेरे पीछे भाई आरहा है!' पहले तो तुमने उनकी इस बातको अनसुनीसी कर दिया, जब वे बारबार कहती रहीं तब तुमने एकदम गम्भीर होकर डपटते हुए स्वरमें कहा "नहीं, यह तो छाँवला है।" तुम्हारे इस 'छाँवला' शब्दको सुनकर सबको हँसी आगई! क्योंकि छाया, छाँवली अथवा परछाई की जगह 'छाँवला' शब्द पहले कभी सुननेमें नहीं आया था। आमतौरपर बच्चे बतलाने वालोंके अनु-रूप अपनी छायाको भाई समझकर अपने पीछे भाईका आना कहने लगते हैं, यही बात भाईकी लड़कियाँ तुम्हारे मुखसे कहलाना चाहती थीं, जिससे तुम्हारी निर्दोष बोली कुछ फल जाय; परन्तु तुम्हारे विवेकने उसे स्वीकार नहीं किया और 'छाँवला' शब्दकी नई सृष्टि करके सबको चकित कर दिया।

एक रोज मैं अपने साथ तुम्हें लिची, खरबूजा आदि कुछ फल खिला रहा था, तय्यार फलोंको खाते खाते तुमने एकदम अपना हाथ सिकोड़ लिया और मेरे इस पूछनेपर कि 'और क्यों नहीं खाती ?' तुमने साफ कह दिया कि "मेरे पेटमें तो लिचीकी भूख है।" तुम्हारी इस स्पष्टवादितापर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैंने लिचीका भरा हुआ बोहिया तुम्हारे सामने रखकर कहा कि इसमेंसे जितनी इच्छा हो उतनी लिची खालो। तुमने फिर दो-चार लिची और खाकर ही अपनी तृप्ति व्यक्त कर दी। इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ; क्योंकि मैं सङ्कोचादिके वश अनिच्छापूर्वक किसी ऐसी चीजको खाते रहना स्वास्थ्यके लिये हितकर नहीं समझता जो रुचिकर न हो। और मेरी हमेशा यह इच्छा रहती थी कि तुम्हारी स्वाभाविक इच्छाओंका विघात न होने पावे और अपनी तरफसे कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिससे तुम्हारी शक्तियोंके विकासमें किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित हो या तुम्हारे आत्मापर कोई बुरा

असर अथवा संस्कार पड़े।

जब तुम नानौतासे मेरी तथा दादी आदिके साथ देहली होती हुई पिछली बार मेरी साथ ता० २२ मई सन् १९२०को सरसावा आई तब मैंने तुम्हें यों ही विनोदरूपमें अपनी लायब्रेरीकी कुछ अलमारियाँ खोलकर दिखलाई थीं, देखकर तुमने कहा था "तुम्हारी यह अलमारी बड़ी चोखी हैं।" इसपर मैंने जब यह कहा कि बेटी! ये सब चीजें तुम्हारी है, तुम इन सब पुस्तकोंको पढ़ना' तब तुमने तुरन्त ही उलट कर यहकह दिया था कि "नहीं, तुम्हारी ही हैं तुम्हीं पढ़ना।" तुम्हारे इन शब्दोंको सुनकर मेरे हृदयपर एकदम चोटसी लगी थी और मैं क्षणभरके लिये यह सोचने लगा था कि कहीं भावीका विधान ही तो ऐसा नहीं जो इस बच्चीके मुँहसे ऐसे शब्द निकल रहे है। और फिर यह खयाल करके ही सन्तोष धारण कर लिया था कि तुमने आदर तथा शिष्टाचारके रूपमें ही ऐसे शब्द कहे हैं। इस बातको अभी महीनाभर भी नहीं हुआ था कि नगरमे चेचकका कुछ प्रकोप हुआ, घरपर भाई हीगनलालजीकी लड़कियोंको एक-एक करके खसरा निकला तथा कठी नमूदार हुई और उन सबके अच्छा होनेपर तुम्हें भी उस रोगने आ घेरा—कण्ठी अथवा मोतीझारेका ज्वर हो आया! इधर दादीजीका पत्र आया कि वे बहन गुणमाला तथा चि० जयवन्तीको पं० चन्दाबाईके पास आरा छोड़कर वापिस नानौता आगई है और पत्रमे तुम्हें जल्दी ही लेकर आनेकी प्रेरणा की गई थी। मैंने भी सोचा कि इस बीमारीमें तुम्हारी अच्छी सेवा और चिकित्सा दादीजीके पास ही हो सकेगी, और इसलिये मै १७ जूनको तुम्हें लेकर नानौता आगया। दो-चार दिन बीमारीको कुछ शांति पड़ी और तुम्हारे अच्छा होनेकी आशा बँधी कि फिर एकदम बीमारी लौट गई। उपायान्तर न देखकर २६ जूनको तुम्हे सहारनपुर जैन शफ़ाखानेमे लाया गया, जहाँ २७की रातको तुमने दम तोड़ना शुरू किया और २८की सुबह होते होते तुम्हारा प्राण पखेरू एकदम उड़ गया!! किसीकी कुछ भी न चली!!! उसी वक्त तुम्हारे मृत शरीरको अन्तिम संस्कारके लिये शिक्रममें रखकर सरसावा लाया गया—साथमे दादीजी और एक दूसरे सज्जन भी थे। खबर पाते ही जनता जुड़ गई। कुटुम्ब तथा नगरके कितने ही सज्जनोंकी यह राय थी कि तुम्हारा दाह-संस्कार न करके पुरानी प्रथाके अनुसार तुम्हारे मृत-देहको जोहड़के पास गाड़ दिया जाय और उसके आस-पास कुछ पानी फेर दिया जाय; परन्तु मेरे आत्माको यह किसी तरह भी रुचिकर तथा उचित प्रतीत नहीं हुआ, और इसलिये अन्तको तुम्हारा दाह-संस्कार ही किया गया, जो सरसावामे तुम्हारे जैसे छोटी उम्रके बच्चोंका पहला ही दाह-संस्कार था।

इस तरह लगभग ढाई वर्षकी अवस्थामें ही तुम्हारा वियोग होजानेसे मेरे चित्तको बहुत बड़ा आघात पहुँचा था; क्योंकि मैंने तुम्हारे ऊपर बहुतसी आशाएँ बाँध रक्खी थीं और अनेक विचारोंको कार्यमें परिणत करनेका तुम्हे एक आधार अथवा साधन समझ रक्खा था। मै तुम्हे अपने पास ही रखकर एक आदर्श कन्या और स्त्री समाजका उद्धार करने वाली एक आदर्श स्त्रीके रूपमें देखना चाहता था और तुम्हारे गुणोंका तेजीसे विकास उस सबके अनुकूल जान पड़ता था। परन्तु मुझे नहीं मालूम था कि तुम इतनी थोड़ी आयु लेकर आई हो। तुम्हारे वियोगमें उस समय सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईने 'विद्यावती वियोग' नामका एक लेख जैन हितैषी (भाग १४ अक ९)मे प्रकट किया था। और उसमे मेरे तात्कालिक पत्रका कितना ही अश भी उद्धृत किया था।

ऋण चुकाना—

पुत्रियो! जहाँ तुम मुझे सुख-दुख दे गई हो वहाँ अपना कुछ ऋण भी मेरे ऊपर छोड़ गई हो, जिसको चुकानेका मुझे कुछ भी ध्यान नहीं रहा। गत ३१ दिसम्बर सन् १९४७को उसका एकाएक ध्यान आया है। वह ऋण तुम्हारे कुछ जेवरों तथा भेट आदिमे मिले हुए रुपये-पैसोंके रूपमे है जो मेरे पास अमानत थे, जिन्हें तुम मुझे स्वेच्छासे वे नहीं

गई बल्कि वे सब मेरे पास रह गये हैं और जिन्हें मैंने बिना अधिकारके अपने ही काममें ले लिया है—तुम्हारे निमित्त उनका कुछ भी खर्च नहीं किया है। जहाँ तक मुझे याद है सन्मतीके पास पैरोंमें चाँदीके लच्छे व झाँवर, हाथोंमें चाँदीके कड़े व पछेली, कानोंमें सोनेकी बाली-झूमके, सिरपर सोनेका चक और नाकमें एक सोनेकी लोङ्ग थी, जिन सबका मूल्य उस समय (१२५) रु०के लगभग था। और विद्याके पास हाथोंमें दो तोले सोनेकी कडूलियाँ चाँदीकी मरीदार, जिन्हें दादीजीने बनवाकर दिया था, तथा पैरोंमें तोखे थे, जिन सबकी मालियत ७५) रु०के करीब थी। दोनोंके पास ५०) रु०के करीब नक़द होंगे। इस तरह जेवर और नकदीका तखमीना २५०) रु०के करीबका होता है, जिसकी मालियत आज ७००) रु०के लगभग बैठती है। और इस लिये मुझे ७००) रु० देने चाहिये, न कि २५०) रु०। परन्तु मेरा अन्तरात्मा इतनेसे भी सन्तुष्ट नहीं होता है, वह भूलचूक आदिके रूपमें ३००) रुपये उसमें और भी मिलाकर पूरे एक हजार कर देना चाहता है। अतः पुत्रियो! आज मैं तुम्हारा ऋण चुकानेके लिये १०००) रु० 'सन्मति-विद्या-निधि'के रूपमें वीरसेवामन्दिरको इसलिये प्रदान कर रहा हूँ कि इस निधिसे उत्तम बाल-साहित्यका प्रकाशन किया जाय—'सन्मति-विद्या' अथवा 'सन्मति-विद्या-विनोद' नामकी एक ऐसी आकर्षक बाल-ग्रन्थमाला निकाली जाय जिसके द्वारा विनोदरूपमें अथवा बाल-सुलभ सरल और सुबोध-पद्धतिसे सन्मति-जिनेन्द्र (भगवान् महावीर)की विद्या-शिक्षाका समाज और देशके बालक-बालिकाओंमें यथेष्टरूपसे सञ्चार किया जाय—उसकी उनके हृदयोंमें ऐसी जड़ जमा दी जाय जो कभी हिल न सके अथवा ऐसी छाप लगा दी जाय जो कभी मिट न सके।

मेरी इच्छा—

मैं चाहता हूँ समाज इस छोटीसी निधिको अपनाए, इसे अपनी ही अथवा अपने ही बच्चोंकी पवित्र निधि समझकर इसके सदुपयोगका सतत प्रयत्न करे और अपने बालक-बालिकाओंको सन्तान-दर-सन्तान इस निधिसे लाभ उठानेका अवसर प्रदान करे। विद्वान् बन्धु अपने सुलेखों, सलाह-मशवरों और सुरुचिपूर्ण चित्रादिके आयोजनों-द्वारा इस ग्रन्थमाला को उसके निर्माण-कार्यमें अपना खुला सहयोग प्रदान करें और धनवान बन्धु अपने धन तथा साधन-सामग्रीकी सुलभ योजनाओं-द्वारा उसके प्रकाशन-कार्यमें अपना पूरा हाथ बटाएँ। और इस तरह दोनों ही वर्ग इसके संरक्षक और सवर्द्धक बनें। मैं स्वय भी अपने शेष जीवनमें कुछ बाल-साहित्यके निर्माणका विचार कर रहा हूँ। मेरी रायमें यह ग्रन्थमाला तीन विभागोंमें विभाजित की जाय—प्रथम विभागमें ५से १० वर्ष तकके बच्चोंके लिये, दूसरेमें ११से १५ बर्ष तककी आयु वाले बालक-बालिकाओंके लिये और तीसरेमें १६से २० वर्षकी उम्रके सभी विद्यार्थियोंके लिये उत्तम बाल-साहित्यका आयोजन रहे और वह साहित्य अनेक उपयोगी विषयोंमें विभक्त हो; जैसे बाल-शिक्षा, बाल-विकास, बालकथा, बालपूजा, बालस्तुति-प्रार्थना, बालनीति, बालधर्म, बालसेवा, बाल-व्यायाम, बाल-जिज्ञासा, बालतत्त्व-चर्चा, बालविनोद, बाल-विज्ञान, बाल-कविता, बालरक्षा और बाल-न्याय आदि। इस बालसाहित्यके आयोजन, चुनाव, और प्रकाशनादिका कार्य एक ऐसी समितिके सुपुर्द रहे, जिसमें प्रकृत विषयके साथ रुचि रखने वाले अनुभवी विद्वानों और कार्यकुशल श्रीमानोंका सक्रिय सहयोग हो। कार्यके कुछ प्रगति करते ही इसकी अलगसे रजिस्टरी और ट्रस्टकी कार्रवाई भी कराई जा सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि जैनसमाजमें बाल-साहित्य का एकदम अभाव है—जो कुछ थोड़ा बहुत उपलब्ध है वह नहींके बराबर है, उसका कोई विशेष मूल्य भी नहीं है। और इसलिये जैनदृष्टिकोणसे उत्तम बाल-साहित्यके निर्माण एवं प्रसारकी बहुत बड़ी जरूरत है। स्वतन्त्र भारतमें उसकी आवश्यकता और भी अधिक बढ गई है। कोई भी समाज अथवा

मुजफ्फरनगर-परिषद्-अधिवेशन

(बा० माईदयाल जैन बी० ए०, बी० टी०)

परिषद्के मुजफ्फरनगर अधिवेशनमें सम्मिलित होनेके प्रश्नने मेरे मनमें डाँवाडोलपन तथा दुविधा पैदा करदी। हृदय और मस्तिष्कमें एक द्वन्द्व उत्पन्न होगया। परिषदकी शिथिलताके कारण उसके प्रति उदासीनता होना स्वाभाविक है। परन्तु स्थापनाकाल से उससे सम्बन्ध होनेके कारण उसके प्रति एक मोह सा भी है, कुछ उससे आशाएँ हैं। समस्त बातें सोचकर, मैं १५ मईको प्रातः देहलीसे मुजफ्फरनगर के लिये रवाना होगया।

१२ बजे दिनकी सख्त गर्मीमें गाड़ी स्टेशनपर पहुँची। वहाँ स्वयसेवक और सवारियाँ तैयार थी। सनातनधर्म-कालेजके विशाल छात्रावासमें ठहरने और भोजनका प्रबन्ध था। सभाओंका प्रबन्ध स्थानीय जैन हाई स्कूलकी बिल्डिङ्ग और टाउन हाल के मैदानमें था।

मुजफ्फरनगरकी जैन बिरादरीके उत्साह,सुप्रबन्ध प्रेमपूर्ण आतिथ्य तथा सुव्यवस्थित पुर-तकुल्लुफ भोजन और नाश्तेकी जितनी प्रशंसा कीजाय कम है। सुबह ठंडाई-सहित नाश्ता, फिर कच्चा भोजन और शामको पक्का खाना। प्रबन्ध इतना अच्छा कि किसी को किसी बातका जरा भी शिकायत नहीं। भोजन-प्रबन्धके बारेमें मैं इतना ही कहूँगा कि हमें कुछ सादगीसे काम लेना चाहिए, जिससे हरएक स्थानकी बिरादरी परिषद-अधिवेशनको आसानीसे बुला सके, या कमसे कम मुनासिब खर्चमें ठीक प्रबन्ध होसके।

मुजफ्फरनगरकी बिरादरीमें श्रीबलवीरसिंहजी पुराने कार्यकर्ताके अतिरिक्त बा० श्रीजयप्रकाशजी तथा श्रीसुमतिप्रसादजी एडवोकेट, एम० एल० ए० कांग्रेसी कार्यकर्ता दो ऐसे रत्न हैं जिनका जैनसमाज-को अधिक उपयोग करना चाहिये। श्रीसुमतिप्रसाद-जीको तो प्रेरणा करके सामाजिक कार्योंमें भी आगे लाना चाहिए और उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सुपुर्द करना चाहिये। मुझे आश्चर्य यही है कि अब तक उनकी सेवाओंका लाभ क्यों नहीं उठाया गया। पर जैनसमाजमें पुराने कार्यकर्ताओंको उदासीन न होने देने और नये नेता तथा कार्यकर्ता खोजनेकी लग्न या गर्ज ही किसे है?

परिषदमें दूर-दूर स्थानोंसे डेढ़ सौ दो सौ के लगभग नए-पुराने नेता तथा कार्यकर्ता आए। उनके

देश जो उत्तम बाल-साहित्य न रखता हो कभी प्रगति नहीं कर सकता। बालकोंके अच्छे-बुरे संस्कारोंपर ही समाजका सारा भविष्य निर्भर रहता है और उन संस्कारोंका प्रधान आधार बाल-साहित्य ही होता है। यदि अपने समाजको उन्नत, जीवित एवं प्रगतिशील बनाना है, उसमें सच्चे जैनत्वकी भावना भरना है और अपनी धर्म-संस्कृतिको, जो विश्वके कल्याणमें सविशेषरूपसे सहायक है, अक्षुण्ण रखना है तो उत्तम बाल-साहित्यके निर्माण एवं प्रसारकी ओर ध्यान देना ही होगा। और उसके लिये यह 'सन्मति-विद्या-निधि' नींवकी एक ईंटका काम दे सकती है। यदि समाजने इस निधिको अपनाया, उसकी तरफसे अच्छा उत्साहवर्द्धक उत्तर मिला और फलतः उत्तम बाल-साहित्यके निर्माणादि की अच्छी सुन्दर योजनाएँ सम्पन्न और सफल होगईं तो इससे मैं अपनी उस इच्छाको बहुत अंशोंमें पूरी हुई समझूँगा जिसके अनुसार मैं अपनी दोनों पुत्रियोंका यथेष्टरूपमें शिक्षित करके उन्हें समाज-सेवाके लिये अर्पित कर देना चाहता था।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
३१ मई सन् १९४८ — जुगलकिशोर मुख्तार

हृदयों में बड़ा जोश तथा अरमान था, किन्तु वह समाजके किसी काम भी नहीं आया। कुछ इने-गिने महानुभावोंने ही इतना समय ले लिया कि औरोंको अपने हृदयकी बात कहनेका अवसर ही नहीं मिला। पास-पास ठहरे हुए होते हुए भी किसीका किसीसे कोई परिचय नहीं कराया गया, न पारस्परिक सम्पर्क ही स्थापित हुआ। महिला कार्यकर्ताओं तथा नेताओं में सिर्फ श्रीमती लेखवती जैन थी। यह दूसरी कमी है कि जैनसमाज स्त्री-शिक्षा-प्रचारके इस युगमें अभी तक दो-चार भी महिला लीडर पैदा नहीं कर सका। मैं यह माननेको तैयार नहीं कि जैनसमाजमें उच्च-शिक्षा-प्राप्त योग्य महिलाओंका अभाव है। दर्जनों नाम मैं गिनवा सकता हूं जिनमें श्रीमती रमारानी जैन धर्मपत्नी साहु शान्तिप्रसादजी, धर्मपत्नी ला० राजेन्द्रकुमारजी, पंडिता जयवन्तीदेवी, धर्मपत्नी श्रीऋषभसेन सहारनपुर, श्रीमती रामचन्द्र सिंगल सोनीपत आदि कुछ हस्तियाँ हैं जिनपर किसी भी समाजको गर्व हो सकता है। पर बात वास्तवमें यह है कि जैनसमाजमें योग्यसे योग्य व्यक्ति, कार्यकर्ता, विद्वान् होते हुए भी, एक प्रेरक, संयोजक, संग्राहक तथा संचालक शक्तिका अभाव है। और परिषदमें वह शक्ति पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी तथा बैरिस्टर श्रीचम्पतरायजीके स्वर्गवासके पश्चात् समाप्त होगई। अब दूसरी कमी है, पारस्परिक सम्पर्कका सर्वथा अभाव है। और सब शिथिलताका यही कारण है।

अधिवेशनकी समस्त कार्यवाही देखनेके बाद यह कहा जा सकता है कि परिषद वैधानिक तथा प्रतिनिधित्वकी दृष्टिसे (Constitutional and Representative points of views) में बहुत कमजोर है। ऐसा मालूम होता था कि जैसे परिषद किसी विधानके नीचे काम ही नहीं कर रही। विधानके किसी भी प्रश्नपर चैलेंज करनेपर परिषदके मुख्य संचालकोंके पास कोई उत्तर नहीं होता था। प्रतिनिधिकी दृष्टिसे तो यह कहा जासकता है कि हर एक उपस्थित महानुभाव अपना ही प्रतिनिधि था। जहाँ परिषदका केन्द्रीय ऑफिस अत्यन्त कमजोर तथा अव्यवस्थित है, वहाँ शाखा सभाएँ तो न होनेके बराबर है। यदि इस वर्षमें सभापति श्रीरतनलालजी और मन्त्री श्रीतनसुखरायजी इन त्रुटियोंको दूर कर सके तो बड़ा काम होगा।

विषय-निर्धारिणी सभामें चन्दा करते समय बताया गया कि पिछले पाँच वर्षोंमें श्रीसाहू शान्तिप्रसादजीने ९० हजार रुपया परिषदकी सहायताके लिए दिया। यह बहुत बड़ी रकम है और उसके लिये समाज तथा परिषद साहूजीका जितना उपकार माने कम है। इस बड़ी रकमके अतिरिक्त समाजसे भी पाँच वर्षमें चन्दे, सहायता आदिके रूपमें २०, २५ हजार रुपये आये होंगे। किन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि इतने रुपये खर्च करके भी परिषद इन वर्षोंमें कुछ काम कर सकी है, सिवाय इसके कि परिषद को इतने वर्ष सिर्फ जिन्दा रख दिया गया है, मरने नहीं दिया गया।

परिषदके अधिवेशनमें जो प्रस्ताव पास हुए हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव वह है जिसमें हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिलों और दानके ट्रस्टोंके कानून बनानेमें सरकारसे जैनोंको अपना दृष्टिकोण पेश करने का अवसर देनेकी माँग है। यह अत्यन्त दूरदर्शिता-पूर्ण, नीतिपूर्ण और व्यवहार-कुशलता-परिचायक प्रस्ताव है। इस प्रस्तावका अनुमोदन करते हुए श्रीसाहू शान्तिप्रसादजीने जिस योग्यता तथा सभा चातुर्यका परिचय दिया वह अत्यन्त सराहनीय था। श्रीसुमतिप्रसादजीका समर्थक भाषण तो ऐसा था जैसा किसी धारासभामें बहुत ही सुलझे हुए स्टेटसमैनका धारा-प्रवाही भाषण हो। प्रस्तावका विरोध इतना युक्तिहीन, असंयत-भाषापूर्ण, तथा जिद भरा था कि जनतापर उसका जरा भी असर नहीं हुआ। प्रस्ताव अत्यन्त बहुमतसे पास होगया। आने वाले वर्षोंमें जैन समाजको संगठित होकर अत्यन्त जागरूक तथा चौकन्ना रहकर निहायत होशियारी तथा प्रभावपूर्ण ढङ्गसे कार्य करना चाहिए ताकि भविष्यमें बनने वाले कानून अधिकसे अधिक

हमारे अनुकूल बन सकें। यदि हमने जरा-सी भूल की तो उसकी हानि जैन समाजको सैकड़ों वर्षों तक उठानी पड़ेगी। यदि यह कार्य जैनसमाजके तीनों सम्प्रदाय मिलकर करें, तो और भी अच्छा है।

प्रबन्धक कमेटीके चुनावके समय जो आलोचना हुई, उससे हमें काफी सीखना चाहिये। नामालूम हम नुमायशी, निकम्मी कमेटियोंके चक्करसे कब निकलेंगे और ठोस काम करने वाली कमेटियाँ बनाना कब सीखेंगे?

महामन्त्री-पदसे श्रीराजेन्द्रकुमारजीने त्यागपत्र दिया। वह स्वीकृत होगया। आपकी सेवाएँ जैन-समाज और परिषद्के लिए महान हैं। परिषद्के स्थापनाकालसे ही आपका परिषद्से सम्बन्ध रहा है। तन-मन-धनसे उसका कार्य आप २०, २१ वर्षसे कर रहे हैं। इतने वर्ष कार्य करने पर अवकाश चाहना सर्वथा उचित ही था। आपके स्थानपर श्री-तनसुखरायजी महामंत्री चुने गये। लाला तनसुखराय जी एक सिपाही ढंगके कार्यकर्ता हैं। आशा है कि वे परिषद्के संगठन-कार्यको ठीकरूपसे करेंगे और आपको समाजका पूरा सहयोग मिलेगा।

परिषद्के सभापति श्रीरतनलालजी है। आपकी योग्यता, कार्यकुशलता, त्याग, देशभक्ति आदि की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। समाज आपसे यही चाहती है कि समाजका नेतृत्व ठीक-ठीक करके समाजसे काम लें।

गाजियाबादके एक भाईने नवयुवकोंको कई बार इकट्ठा किया, किन्तु उसके परिणामस्वरूप किसी खास बात या कामका जिकर नहीं सुना।

समस्त बातोंको देखते हुए परिषद्का यह अधि-वेशन न विशेष उत्साहवर्धक ही था और न निराशा-पूर्ण। सब आलोचक काम देखते हैं, काम चाहते हैं, किन्तु काम करना कोई नहीं चाहता। और इसी लिए काम नहीं होता। काश, हम सब स्वयं कुछ काम करना सीखें!

बर्नार्डशाके पत्रका एक अंश

सुप्रसिद्ध अँग्रेज विद्वान विचारक जार्ज बर्नार्डशा अपने २१ अप्रैल सन् १९४८के एक पत्रमें, जो उन्होंने बाबू अजितप्रसादजी जैन एम० ए०, लखनऊको उनके पत्रके उत्तरमें भेजा है, लिखते हैं कि—

'बहुत वर्ष हुए जब उनसे पूछा गया था कि प्रचलित धर्मोंमेंसे कौनसा धर्म ऐसा है जो उनके अपने धार्मिक विश्वासके सर्वाधिक निकट पहुँचता है, तो उन्होंने उत्तर दिया था कि क्वेकर मित्रमण्डलका पन्थ और जैनधर्म।

किन्तु जब वे भारत आये और यहाँ एक जैन-मन्दिरको देखा तो उन्होंने इस मन्दिरको अत्यन्त भद्दी घोड़ेके मूँहवाली मूर्त्तियोंसे भरा पाया। तीर्थङ्कर-प्रतिमाएँ अवश्य ही जादू-असर, सुन्दर और शान्ति-दायक थीं, किन्तु वे भी भोले मूर्तिपूजकों-द्वारा सामान्य देवी-देवताओंकी भाँति पूजी जा रही थीं।

अज्ञ जनसाधारणको प्रभावित करनेके लिये सब ही धर्मोंको उन अनुयायियोंकी योग्यताके अनुसार मूर्त्तियों एवं अतिशय-चमत्कारादि-द्वारा निचले स्तरपर लाना पड़ता ही है।'

ज्योतिप्रसाद जैन,
लखनऊ, ता० १८-५-१९४८

पाकिस्तानी-पत्र

[हमारे कई मित्रोंके पास पाकिस्तानसे पत्र आते रहते हैं और कुछ उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं, जिनसे साम्प्रदायिक उपद्रवोंपर काफी प्रकाश पड़नेके अतिरिक्त लिखने वालोंकी स्वच्छ और वास्तविक मनोवृत्तिका पता लगता है। देशके बटवारेसे लोगोंको जो आघात पहुँचा है, उसका भी दिग्दर्शन होता है। हम ऐसे बहुमूल्य पत्र इस स्तम्भमें देनेका प्रयत्न करेंगे। नीचेका पत्र 'शायरके' सम्पादकको लिखा गया है और मार्चके शायरसे उसका आवश्यक अंश धन्यवाद-पूर्वक प्रकाशित किया जा रहा है। अनेकान्तकी अगली किरणोंमें और भी महत्वपूर्ण पत्र अपने मित्रोंसे मँगाकर देनेका विचार है।

—गोयलीय]

लाहौर, ८ अप्रेल १९४८

बिरादरे मुहतरिम, तस्लीम

...... पञ्जाबकी खानाजङ्गीकी खूँचकाँ दास्तानों-का कुछ हिस्सा आप तक पहुँचता रहा होगा। क्या बयान करूँ इस शादाब और मसरूर खित्तेको इसके अपने ही बेटोंने लाखों बेगुनाहोंके खूनसे किस क़दर दाग़दार बना दिया है। हजारों बरस पेश्तरके .. .. इन्सानोंके दिमाग़ और रूहपरसे तहज़ीब और तमद्दन का मुलम्मा काफ़ूर हो गया था और अपने पीछे इन्सानके भेसमें एक वहशी दरिन्दा छोड़ गया था, जिसने अपने भाइयोंको फाड़ खाया, अपने बेटोंका कलेजा नोच लिया, अपने बापदादाओंकी बूढ़ी हड्डियोंको पाँवसे कुचला और अपनी माँओं, बहनों और बेटियोंपर वोह सितम ढाये कि खुद जुल्म व दरिन्दगी भी अँगुश्तबदन्दाँ रह गए।

...... अल्लाह, अल्लाह, कैसा इन्क़लाब हो गया! अपनी क़िस्मका पहला अनोखा तबाहकुन इन्क़लाब! कितने अहबाब व अज़ीज़ इस खूनी सैलाबमें बह गये। कितने सब कुछ लुटाकर खाली हाथ मुर्दोंसेभी बदतर ज़िन्दगी बसर करनेके लिये बच रहे। पञ्जाब, अब वोह पहला-सा पञ्जाब नहीं, जहाँ हर वक्त फ़ारिगउलबाली और खुशीके सोते उबलते रहते थे। अब वह लाखों बेघर चलती-फिरती लाशोंका मदफ़न है।

इन आँखोंने महाजरीनकी तबाही और खस्तगीके बहुत जाँगुदाज सीन देखे हैं। दुनियासे जी बेज़ार हो गया था, कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। हरवक्त दिलपर गहरी उदासी छाई रहती थी। खुदाए पाकका शुक्र है कि अब लोगोंकी तकलीफ़ें कुछ कम हुई हैं। अच्छे-बुरे सब अपने-अपने ठिकाने लग गये है, खुदा उनपर अपना फ़ज़ल फ़रमाए।...... वतनकी यादकी तकलीफ़ यूँ मरते दमतक दिलको कचोके देती रहेगी, लेकिन अब इसकी शिद्दतमें कुछ कमी हो गई है। ....

आपकी बहन

शीरीं

सम्पादकीय

भारतीय स्थिति –

भारतके बेर और फूट दो प्रसिद्ध मेवे हैं, इन्हीं की बदौलत भारतको अनेक दुर्दिन देखने पड़े हैं। धार्मिक संकीर्णता, अनुदारता, प्रान्तीयता और जातिमदको परतन्त्रताका अभिशाप समझा जाता था। लोगोंका विचार था कि जिस रोज परतन्त्रता-राक्षसीका जनाज़ा निकलेगा, ये दूषित विचार स्वय उसके साथ दफ़न हो जाएँगे। परन्तु यह धारणा स्वप्नकी तरह क्षणभरको भी मधुर न हो सकी—

"वही रफ़्तार वेढगी जो पहले थी सो अब भी है।"

स्वतन्त्र होनेके बाद देश-विभाजनके फलस्वरूप जो नर-मेध-यज्ञ, सीता-हरण और लङ्का-दहन-काण्ड हुए हैं, उसपर वर्द्धमान-कालीन यज्ञोंके पराजित पुरोहित, रावण और दुर्योधन, राक्षस और हलाकू-चँगेज़, तैमूर-नादिरशाह, डायर-ओडायरके प्रेत ठहाका मारकर हँस रहे है। दरिन्दे जानवर अपनेको भुनगा समझने लगे हैं, गधे हमारी करतूतोंपर मुस्करा रहे है और चील-कौओं, शृगाल और गिधों-को इस बातका अभिमान है कि वे मनुष्य नहीं है।

भारतकी इस दयनीय स्थितिको संक्रमण (प्रसव) काल समझकर धैर्य रखे हुए थे कि सम्भवतया स्वतन्त्रताके बाद ऐसा होना आवश्यक था। किन्तु यह सक्रमणकाल तो भारतको सक्रामक-कीटाणुओं-की तरह नष्टप्राय किये दे रहा है। भारतकी यह नाजुक हालत देखकर देशके कर्णधारोंके मुंहसे बरबस निकल पड़ा है—"यदि भारतकी यही स्थिति रही तो वह अपनी स्वतन्त्रताको खो बैठेगा।"

जो कुसंस्कार और कुविचार परतन्त्रताकी विषैली वायुसे मान्दसे दीख पड़ने लगे थे, वे ही स्वच्छन्दताके झोंकेसे प्रज्वलित हो उठे है। प्रान्तीय स्वतन्त्रता मिल जानेसे प्रत्येक प्रान्तवाले स्वच्छन्द और उन्मत्त हो उठे हैं। मानो बन्दरोंके हाथमे डण्डे देकर उनके समक्ष गुड़की भेली डाल दीगई है, जो गुड़का उपभोग न करके एक-दूसरेको मार भगानेमे व्यस्त हैं।

प्रत्येक प्रान्तवाले अपने-अपने प्रान्तमे नौकरी, व्यापार, उद्योग-धन्धे और राजकीय सुविधाएँ सब अपने प्रान्तवालोंके लिये सुरक्षित रखना चाहते है। अभारतीयसे अधिक अब अन्य प्रान्तीय विदेशी समझा जाने लगा है। और तारीफ़ यह है कि इस प्रान्तीय रोगसे ग्रसित प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रान्तके अतिरिक्त अन्य प्रान्तोंमे भी अपने प्रान्तवालोंके लिये पूरी सुविधा चाहता है। भारतवासी होनेके नाते ये लोग भारतके हर कोनेमे व्यापार, उद्योग-धन्धे, नौकरियों आदिमे समान अधिकार चाहते है, किन्तु अपने प्रान्तमे अन्य प्रान्तवासीको फूटी आँखसे भी देखना नहीं चाहते। "जब तुम हमारे घर आओगे तो क्या लाओगे ? और जब हम तुम्हारे यहाँ आएँगे तो क्या दोगे ?" किसी कजूसका कहा हुआ यह वाक्य इस समय शतप्रतिशत चरितार्थ हो रहा है। "बङ्गाल बङ्गालियोंका है, ये मारवाड़ी यहूदी हैं, पञ्जाबी उद्दण्ड और झगड़ालू हैं" यह धारणा बङ्ग-वासियोंमे बैठाई जा रही है। बिहारमे बिहारी, बङ्गाली, उड़ियाको लेकर सङ्घर्ष चलने लगे है। महाराष्ट्रीय, गुजराती, पारसी, मद्रासी कभी प्रान्तीयता और जातीयताके कूपसे निकले ही नहीं। सी० पी०, यू० पी० और दिल्ली प्रान्त इस छूतकी बीमारीसे अछूते थे; किन्तु जबसे पाकिस्तानी हिन्दुओंका प्रवेश हुआ है, तबसे उनके सक्रामक-कीटाणु इनमे भी प्रवेश करते जारहे हैं। यदि शीघ्र इस बीमारीका उपचार न हुआ तो भारत जैसा विशाल देश यूरुप, इङ्गलेण्ड, फ्रान्स, बेलजियम, स्वीडन, डेनमार्क,

हालैण्ड, जर्मन आदिकी तरह छोटे-छोटे क्षेत्रोंमें विभाजित हो जायगा।

जाति-मदका अब यह हाल है कि अब यह चतुर्वर्णोंमें सीमित न रहकर हजारों शाखा-उपशाखाओंमें फूट निकला है। ये चतुर्वर्ण एक दूसरेसे लड़ते ही थे अब परस्परमें भी ताल ठोकने लगे हैं। म्यूनिस्पलकमेटियों, डिस्ट्रिक्टबोर्डोंके चुनावोंमें संघर्ष-समाचार हमारे सामने हैं। अब केवल चार वर्णोंमें ही संघर्ष नहीं रहा, अपितु चौबे-पाण्डे, मिश्र-द्विवेदी, गहलोत-राठौड़, चौहान-कछवाहे, जाट-अहीर, गूजर-माली, अग्रवाल-ओसवाल, माहेश्वरी-खण्डेलवाल, श्रीवास्तव-सक्सेना, सुनार-लुहार, धोबी-तेली, चमार भङ्गी आदि हजारों उपजातियोंको लेकर संघर्ष होने लगे हैं। भील-कोल, द्राविड़-आदिवासी और अछूत-समस्या अभी हल हो नहीं पा रही है कि यह जाति-मदका विषधर और फन फैलाकर खड़ा होगया है। मोहन (गान्धी) की अनुपस्थितिमें इस कालीदहमें कूदकर कौन कालिनागको विष रहित करे, यह सूझ नहीं पड़ रहा है। यदि शीघ्र इसका विषहरण नहीं किया गया तो सारे भारतमें यह विष फैलते देर नहीं लगेगी।

साम्प्रदायिक और धार्मिक उन्माद महात्माजीके बलिदानसे खुमारी लेते नजर आरहे हैं, पर बरसाती हवा पाते ही यह उन्माद यदि फिर उठ खड़ा हुआ तो फिर यह राक्षस रामके मारे भी नहीं मरेगा।

इसके अतिरिक्त भारतमें पाकिस्तानी अङ्कुर धीरे-धीरे बढ़ ही रहा है। काश्मीर और हैदराबादका समस्या भयावह बनी हुई हैं। कम्यूनिष्ट घुनके कीड़ों-की तरह भारतको जर्जरित कर ही रहे हैं। भ्रष्टाचार और घूमखोरीका यह हाल है कि मालूम होता है हम भारतमें न रहकर ठगों-चोरोंके मुल्कमें बस गये हैं।

अब देश-सेवा आत्मशुद्धिका साधन न रहकर स्वार्थ और व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षाओंकी साधक बन गई है। वे दिन हवा हुए जब देशके लिये त्याग करना और कष्ट सहना नैतिक कर्तव्य समझा जाता था और देशभक्त कहलाना आत्म-प्रतिष्ठाका द्योतक था। अब तो यह अपनी मनोभिलषित इच्छाओंकी पूर्तिका अमोघ उपाय बन गया है। स्वतन्त्रताके बाद तप-त्यागकी आवश्यकता नहीं रही, अतः बड़े-बड़े देश-द्रोही भी अब अपनेको देशभक्त बेझिझक कहते हैं। जो अधिकारी गान्धी कैपको देखकर भड़क उठते थे, वे अब गान्धीजीके चित्रकी पूजा करते हैं। जिन अधिकारियोंने देश-भक्तोंको फाँसीपर लटका दिया, गोलियोंसे भून दिया, जेलोंमें सड़ा-सड़ाकर मार डाला, वे भी आज देशभक्तिका जामा पहन कर बड़ी शानसे निकलते हैं।

देश-सेवक जूझते रहे, भूखे मरते रहे, उनके बच्चे बिलखते रहे, औरतें सिसकती रहीं और जो ठाटसे नौकरी करते रहे, क्लबोंमें पीते-नाचते रहे, खजाने भरते रहे, वे ही आज हमको कर्तव्यका बोध करानेमें गर्वका अनुभव कर रहे हैं। मालूम होता है सारी भूखी बिल्लियाँ भगतन बन गई हैं। हम उन सब सज्जनोंको भी जानते हैं जो युद्धमें अंग्रेजोंकी सहायता करते रहे। जर्मन-विजयकी खुशी भी बड़े ठाटसे मनानेमें पेशपेश रहे। वे ही हवाका रुख बदलते ही आजाद हिन्द फौजकी सहायताको झोली लेकर निकल पड़े और अपने दूधमुँहे बच्चोंको इंक़लाब भगतसिंह जिन्दाबाद और पूँजीवाद मुर्दाबाद-के नारे लगाते देख फूल उठते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि अब इसमें जानको जोखिममें डालनेका प्रभाव न रहकर जानको मुटियानेका अमर आगया है।

अब देशभक्ति राजनैतिक अधिकारियोंकी स्थली बन गई है। चर्खा-दङ्गली, काँग्रेसी, सोसलिष्ट, कम्यूनिष्ट आदि इस अखाड़ेमें लङ्गर बाँधकर उतरे हुए हैं। भारतका हित किसमें है, इतना सोचनेका इन्हें अवकाश कहाँ? अपनी पार्टीका हित किसमें है और विरोधी पक्ष किस दावपर पछाड़ा जाय, यही चिन्ता इन्हें हरवक्त बनी रहती है। गनीमत है कि १००-५० खरे देशरत्न अभी जीवित हैं और उनके हाथमें शासनकी बागडोर है, वे मन-वचन-कायसे भारतकी स्थिति सुधारनेमें अहर्निश प्रयत्न कर रहे हैं और प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदिकी अड़चनोंमें

भी मट्टा दे रहे हैं। फिर भी जबतक हम सभी भारत-पुत्र अपने कर्तव्यको न समझें और उस ओर प्रयत्नशील न हों तबतक कैसे हमारे देशकी उन्नति हो सकेगी?

जैनसमाजका कर्तव्य—

अतः अब जैनसमाजका कर्तव्य हो जाता हैं कि वह स्वार्थसाधन करने वाली देशभक्तिसे बचे, राजनैतिक दल-दलसे दूर रहे और सही अर्थोंमे भारतीय सपूत बने।

(१) किसी भी जैनको म्यूनिस्पलकमेटियों, डिस्ट्रिक्टबोर्डों, कोन्सिलों और व्यवस्थापक सभाके लिये स्वतंत्र उम्मीदवारके नाते कभी भी खड़ा नहीं होना चाहिये। स्वतन्त्र खड़े होनेमे साम्प्रदायिक उत्पातकी हर समय सम्भावना है। अतः किसी भी व्यक्तिको यह अधिकार नहीं है कि वह व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षाओंके लिये समूची समाजको खतरेमे डाल दे। यदि कोई स्वार्थी ऐसा करनेका दुःसाहस करे भी तो समाजका उसका साथ हर्गिज़ नहीं देना चाहिये। चुनाव-निर्वाचनकी उम्मीदवारीके लिये उसी व्यक्तिका खड़ा होना चाहिये और उसीका हमे समर्थन करना चाहिये जिसको उसके त्याग, बलिदान या योग्यताके बलपर देशके अधिकारी वर्गने खड़ा किया हो। जिस कार्यमे देशकी भलाई हो, बहुसंख्यक जनता जिस वर्गके कार्यको सराहे, उसे विश्वस्त समझे हमे उसी वर्गकी लोक-हितैषी योजनाओंमे भाग लेना चाहिये। व्यर्थके राजनैतिक दलदलमें नहीं फँसना चाहिये। यह वह दलदल है कि एक बार भी भूलसे फँस जानेपर फिर कभी उद्धार नहीं।

अतः हमारी समाजका कर्तव्य है कि अब वह अपनी संस्कृति और धार्मिक आचार-विचारका बड़ी योग्यतासे प्रसार करे। और यह प्रसार तभी हो सकता है जब हम जैनधर्मके मूल सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारे।

(२) हमारे देशमे अब मांस-मदिराका प्रसार उत्तरोत्तर बड़े वेगसे बढ़ता जारहा है। दिन-पर-दिन इस तरहके रेस्टोरेण्ट और होटल बड़ी संख्यासे खुलते जारहे हैं। दिल्लीके जिस चाँदनीचौकमें मुसलमानी सल्तनतमें भी कभी माँस नहीं बिका, वहाँ अब हर १० गजकी दूरीपर कबाब और गोश्त-रोटी बिकने लगे हैं। अण्डोंका प्रचार होता जारहा है। हमारी नई दिल्ली भी इस दूषित खान-पानसे प्रभावित हो रही है। क्लबोंमें सभ्य सोसायटीके नामपर शराब और जूआ जरूरी होगया है। सिनेमाओंके हुस्नो-इश्कके नामोंसे अश्लीलता-निर्लज्जताका जो पाठ हमारे बालक-बालिकाएँ जवानीकी चौखटपर पाँव रखनेसे पहले पढ़ लेते है, उससे हमारी नस्लोंमे घुन लगने लगा है। अब समय आगया है कि श्वेताम्बरजैन-साधु आश्रमोंसे निकल आएँ। गली-गली, कूँचे-कूँचेमे सभाएँ करके माँस-मदिराका आम जनतासे त्याग करायें। मद्य-माँस-निषेधिनी सभा स्थापित करके—सिनेमा और समाचारपत्रोंके विज्ञापनों-द्वारा, पोस्टरों-द्वारा, छोटे-छोटे ट्रेक्टों और व्याख्यानों-द्वारा इस बढ़ती प्रथाको रोके। हमारे जिन पूर्वजोंने यज्ञ-याज्ञादि और उच्च वर्णोंमे हिंसा सर्वथा त्याज्य करादी थी, निम्न श्रेणीके भी बहुत कम उसका प्रयोग करते थे। आज उनके हम वंशज उनकेकिये हुए अनथक कार्यपर पानी फिरते देख रहे हैं और हाथ-पर-हाथ बाँधे चुपचाप बैठे हैं। कहीं-कहीं वेश्यानृत्य भी चालू होगये हैं। हमे चाहिए तो यह था कि हम पूर्वजोंके कार्यको आगे बढ़ाते। इनका समूचे भारतमे विरोध करके हम यूरुप और इस्लामी देशोंमे पहुँचते और कहाँ हम अपनी आँखोंके समक्ष इस धर्मघाती भावनाको उत्तरोत्तर बढ़ती हुई देख रहे हैं।

भारतीय पूर्ण शक्तिशाली और बलवान हों, अहिंसक हों, उनके हृदयमे दूसरोंके प्रति दया-ममता हो। वह महावीरकी तरह पशु-पक्षियोंके पीड़ित होनेपर दयार्द्र हो उठें, पतित-से-पतितको भी ईसाकी तरह उबार सकें।

(३) हमारी वाणीमे जादू हो, हमारी वाणीसे जो भी वाक्य निकले उसका कुछ क़ीमती अर्थ हो। लोग हमारी बातको निरर्थक न समझकर मूल्यवान समझें। जनताको यह विश्वास हो कि प्रत्येक जैन

अपनी बातका धनी होता है। जो वायदा करता है उसे जानपर खेलकर भी पूरा करता है। सूर्य-चन्द्रकी गति बदल सकती है, परन्तु इनकी बात नहीं बदल सकती। जानसे क़ीमती वचनको समझते है।

(४) जैनोंसे कभी धोखेकी सम्भावना नही, जो वस्तु देंगे, खरी और पूरी देंगे। इनसे बिन गिने रुपये लेनेपर भी पाईका फ़र्क नही पड़ेगा। इनका टिकट चैक करना, चुङ्गीपर पूछना वर्जित है। जैन कह देनेका ही यह अर्थ होना चाहिए कि जैन राजकीय नियमके विरुद्ध कोई वस्तु नही रखते और न राजकीय या प्रजाहितके साधनोंका दुरुपयोग ही करते है। यह मिट्टी और पानी भी पूछकर लेते है।

(५) हमारा शील-स्वभाव ऐसा हो कि निर्जन स्थानमें भी किसी अबलाको हमारे प्रति सन्देह न हो। वह अपने निकट हमारी उपस्थिति रक्षककी भाँति समझे। जैन भी बलात्कारी या कुशील हो सकता है यह उसके मनमें कल्पना ही न आकर दे।

(६) परिग्रहवादको लेकर आज सारा संसार त्रस्त है। इस आपा-धापीके कारण ही युद्ध होते है, जीवनोपयोगी वस्तुओंपर कण्ट्रोल लगाते है। मज़दूर-पूंजीपति सघर्ष चलते है। अत: हमें अपने जीवनमें 'जीयो और जीनेदो'का सिद्धान्त उतारना होगा। पैसा इकट्ठा करना पाप नही, उसके बलपर शोषण करना— अत्याचार ढाना पाप है। परिग्रहके सम्बन्धमें भी हमें अपने पूर्वजोंकी त्यागवृत्ति, सन्तोष और परिमाणवृत्ति फिरसे अपनानी होगी।

जब हम इस तरहके आत्म-शुद्धिके कार्य अपने जीवनमें उतारेंगे तभी हमारा यह लोक और परलोक सुधरेगा। और तभी सच्चे अर्थोंमें जैनधर्मका प्रसार होगा और संसार इसकी ओर आकर्षित होगा।

उक्त विचार आज शायद कुछ नवीन और अटपटेसे प्रतीत होते हों, परन्तु हमारे धर्मकी भित्ति ही इन ईंटोंपर खड़ी की गई है। अगर जैनधर्मको जीवित रखना है तो उसकी इन नीवकी ईंटोंको हरगिज़ हरगिज़ नही हिलने देना होगा।

हम भारतके आदि-निवासी है। भारत हमारा है। हमारा हर प्रयत्न, हर श्वास इसके लिये उपयोगी हो। हमसे स्वप्नमें भी इसका अहित न हो। इसके लिये हमे सदैव जागरूक रहना होगा। आज स्वार्थके लिये धन-लोलुप पाकिस्तानी क्षेत्रोंमे अपने देश-भाइयोंका गला काटकर कपड़ा और अन्न भेज रहे हैं और अनेक षड्यन्त्रोंमे लिप्त होरहे है। ऐसे अधम कार्योंसे—मनुष्योंसे हमे दूर रहना होगा। हम अपने अच्छे कार्योंसे जैन-समाजकी कीर्ति यदि न बढा सके तो हमें पूर्वजोंके किये हुए सत्कार्योंपर पानी फेरनेका कोई अधिकार नहीं है।

डालमियानगर)
१४ मई १९४८) —गोयलीय

कथित स्वोपज्ञ भाष्य

(लेखक—बा० ज्योतिप्रसाद जैन एम. ए.)

आचार्य उमास्वामि-कृत तत्त्वार्थाधिगम सूत्र दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों मे समानरूपसे परम मान्य ग्रन्थ है, और दोनों ही सम्प्रदायोंके उद्भट विद्वानों-द्वारा, प्राचीन कालसे ही, जितने बहुसख्यक टीका-ग्रन्थ इस एक धर्मशास्त्रपर रचे गये उतने शायद किसी अन्य जैन, और सम्भवतया अजैन ग्रन्थपर भी नहीं रचे गये। उसकी सर्वप्रथम टीका दूसरी शताब्दी ई०मे आचार्य स्वामिसमन्तभद्रद्वारा रची गई बताई जाती है, किन्तु वह टीका वर्तमानमे अनुपलब्ध है। तत्त्वार्थसूत्रकी जो प्राचीनतम दिगम्बर टीका इस समय उपलब्ध है वह आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद (५वी शताब्दी ई०) द्वारा रचित 'सर्वार्थसिद्धि' है। तदुपरान्त, ७वी शताब्दी ई०मे भट्टाकलङ्कदेवने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक', ८वीं शताब्दी ई०मे विद्यानन्दस्वामीने 'श्लोकवार्तिक' तथा उनके पश्चात् अन्य अनेक टीकाएँ दिगबर विद्वानोंने रची हैं।

श्वेताम्बर विद्वानों-द्वारा इस ग्रन्थकी टीकाएँ प्राय: ९वी शताब्दी ई०के पश्चात् रची जानी प्रारम्भ हुई। किन्तु श्वेताम्बर आम्नायमे इस सूत्र ग्रन्थका एक प्राचीन भाष्य भी प्रचलित रहता आया है, जिसे

कि उक्त आम्नायके विद्वानों-द्वारा स्वोपज्ञ भाष्य अर्थात् स्वयं ग्रन्थकर्ता उमास्वातिकृत समझा और बताया जाता रहा है। कुछ वर्ष हुए, अनेकान्त आदि पत्रोंमे इस विषयको लेकर श्वेताम्बर तथा दिगम्बर विद्वानोंके बीच पर्याप्त वादविवाद चला था, और उसका परिणाम प्रायः यही निकला था कि कथित स्वोपज्ञ भाष्य आचार्य उमास्वामीके समयमे बहुत पीछेकी रचना है और वह उनके स्वयके द्वारा रची जानी सम्भव नहीं है। किन्तु दिगम्बर विद्वानों-द्वारा प्रस्तुत प्रबल एवं अकाट्य प्रमाणोंसे और युक्तियोंके बावजूद उदारसे उदार श्वेताम्बर विद्वान भी भाष्य-की स्वोपज्ञतापर अविश्वास करनेको तैयार नहीं होते।

इसी विषयपर, प्रसगवश, प्राचीन इतिहास-विशेषज्ञ प्रो सी. डी चटर्जी महोदय ने अपने एक लेखमे[1] सुन्दर प्रकाश डाला है। उक्त लेखके फुटनोट नं० ४१ मे आप कथन करते है कि—

"यह विश्वास करना अत्यन्त कठिन है कि उमास्वामी को 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' जैसा जैनसिद्धान्त (तत्त्वज्ञान एव आचार) का अपूर्व सार-सङ्कलन, जोकि जैनधर्ममे वही स्थान रखता है जैसा कि बौद्धधर्ममे 'विशुद्धिमग्ग' दिगम्बर आम्नाय-द्वारा अपने अङ्ग एवं अङ्गबाह्य श्रुत-द्वयका स्वरूप तथा आकार पूर्णतया सुनिश्चितकर लिये जानेके पूर्व ही लिखा जा सका हो[2]।

"यह कि, उमास्वाति अथवा उमास्वामी एक दिगम्बर आचार्य थे इस बातमे तनिक भी सन्देह नहीं है, किन्तु साथ ही यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उन्होंने अपने ग्रन्थमे दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंके बीच विवादास्पद विषयोंका समावेश न करनेमे प्रयत्नपूर्वक सावधानी बरती है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका मूलभाष्य (बिब्लियोथेका इडिका १९०३-५) जो कि बहुलताके साथ श्वेताम्बर मान्यताओं एव क्रियाओंका समर्थन करता है, उक्त आम्नायके अनुयायियों-द्वारा स्वयं उमास्वातिकी कृति माना जाता है। श्वेताम्बरोंका उक्त भाष्यको उमास्वामि कृत मानना कहाँ तक सङ्गत है, यह कहना तो जरा कठिन है, किन्तु हमे इस बातको खुले हृदय-मे स्वीकार करनेमे अवश्य ही कोई झिझक नहीं होनी चाहिये कि अपने ही ग्रन्थपर स्वोपज्ञ भाष्य लिखनेका श्रेय हम आधुनिक विद्वानोंने भी अनेक ग्रन्थकारोंको दे डाला है। अस्तु, 'अर्थशास्त्र'के स्वयंके एक श्लोकके सुस्पष्ट अभिधेयार्थके बावजूद 'अर्थशास्त्र' जिस रूपमे आज उपलब्ध है उसी रूपमे स्वय कौटिल्य द्वारा रचा कहा जा रहा है, जबकि वास्तव-मे वह मूलग्रन्थकी विष्णुगुप्त नामक एक विद्वान द्वारा रचित टीकामात्र है, जिसमे कि मूल अर्थशास्त्र-के पद्योंको अधिांशतः गद्यरूप दे दिया गया है, और शेष पद्योंमेसे कुछकी व्याख्या कर दी गई है तथा कुछ एकको उनके स्वरूपमे ही उद्धृत कर दिया गया है। इस प्रकारके उदाहरण एक दो नहीं, अनेक है। हम लोगोने धनञ्जयके 'दशरूपक'पर रचे गये 'अवलोक' का कर्तृत्व धनञ्जयको ही प्रदान किया, और यह माना कि उस 'अवलोक'को उसने 'धनिक' नामसे रचा, और यह नाम उसने अपने ग्रन्थपर स्वयं ही टीका रचनेके लिये उपनामके रूपमे धारण किया था! इसी प्रकार इतिहासकार महानामको अपने 'महावंश'पर स्वयं ही टीका रचनेका श्रेय दिया गया है, इस बातकी भी अवहेलना करते हुए कि स्वयं ग्रन्थका पाठ इस बातको असिद्ध कर रहा है।

हमारी इस प्रकारकी अन्ध-विश्वास-प्रियताके ये कतिपय ज्वलन्त उदाहरण है। और यदि हम (आधुनिक विद्वान्) तत्त्वार्थाधिगमके कथित मूलभाष्यका कर्तृत्व भी उसके स्वयंके रचयिता, उमास्वामिको ही प्रदान करते है, दिगम्बर विद्वानोंकी प्रबल पुष्ट आपत्तियोंकी भी अवहेलना करते हुए, तब भी हम कोई नई मिसाल पैदा नहीं कर रहे है, क्योंकि यह रिवाज तो हमने पहलेसे ही भली प्रकार स्थापित कर लिया है।"

१ Dr. B C. Law Volume, Part I मे प्रकाशित

२ और अपने लेखमे अन्यत्र आपने कथन किया है कि "पूर्ण सम्भावना यही है कि कुन्दकुन्द और उमास्वामी दोनों सन् ई० पूर्व ७५से सन् ई० ५०के बीचमे हुए थे।"

भारतीय ज्ञानपीठ काशीके प्रकाशन

१. महाबन्ध—(महधवल सिद्धान्त-शास्त्र) प्रथम भाग। हिन्दी टीका सहित मूल्य १२)।

२. करलक्खण—(सामुद्रिक-शास्त्र) हिन्दी अनुवाद सहित। हस्तरेखा विज्ञानका नवीन ग्रन्थ। सम्पादक—प्रो० प्रफुल्लचन्द्र मोदी एम० ए०, अमरावती। मूल्य १)।

३. मदनपराजय— कवि नागदेव विरचित (मूल संस्कृत) भाषानुवाद तथा विस्तृत प्रस्तावना सहित। जिनदेवके कामके पराजयका सरस रूपक। सम्पादक और अनुवादक पं० राजकुमारजी सा०। मू० ८)

४. जैनशासन—जैनधर्मका परिचय तथा विवेचन करने वाली सुन्दर रचना। हिन्दू विश्वविद्यालयके जैन रिलीजनके एफ० ए० के पाठ्यक्रममे निर्धारित। मुखपृष्ठपर महावीरस्वामीका तिरङ्गा चित्र। मूल्य ४1-)

५. हिंदी जैन-साहित्यका संक्षिप्त इतिहास—हिन्दी जैन-साहित्यका इतिहास तथा परिचय। मूल्य २॥)।

६. आधुनिक जैन-कवि—वर्तमान कवियोंका कलात्मक परिचय और सुन्दर रचनाएँ। मूल्य ३॥)।

७. मुक्ति-दूत—अञ्जना-पवनञ्जयका पुण्यचरित्र (पौराणिक रोमांस) मू० ४॥)

८. दो हजार वर्षकी पुरानी कहानियां—(६४ जैन कहानियाँ) व्याख्यान तथा प्रवचनोंमे उदाहरण देने योग्य। मूल्य ३)।

९. पथचिह्न—(हिन्दी साहित्यकी अनुपम पुस्तक) स्मृति रेखाएं और निबन्ध। मूल्य २)।

१०. पाश्चात्यतर्कशास्त्र—(पहला भाग) एफ० ए० के लॉजिकके पाठ्यक्रमकी पुस्तक। लेखक—भिक्षु जगदीशजी काश्यप, एम० ए०, पालि—अध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी। पृष्ठ ३८४। मूल्य ४॥)।

११. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न—मूल्य २)।

१२. कन्नडप्रान्तीय ताडपत्र ग्रन्थ-सूची—(हिन्दी) मूडबिद्रीके जैनमठ, जैन-भवन, सिद्धान्तवसदि तथा अन्य ग्रन्थ-भण्डार कारकल और अलिपूरके अलभ्य ताडपत्रीय ग्रन्थोंके सविवरण परिचय। प्रत्येक मन्दिरमे तथा शास्त्र-भण्डारमे विराजमान करने योग्य। मूल्य १०)।

वीरसेवामन्दिरके सब प्रकाशन भी यहाँपर मिलते हैं

प्रचारार्थ पुस्तक मँगाने वालोंको विशेष सुविधाएँ

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस।

Regd. No. A-731

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ **अनित्यभावना** - मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। इष्टवियोगादिके कारण कैसा ही शोकसन्तप्त हृदय क्यों न हो, इसको एक बार पढ़ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। सर्वत्र प्रचारके योग्य है। मूल्य ।)

२ **आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र**—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्रग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी सानुवाद व्याख्या सहित। मूल्य ।)

३ **सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ**—मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि-सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके, जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगल कामना, २ नित्यकी आत्म-प्रार्थना ३ साधुवेषनिदर्शन जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्य पाठ करने योग्य है। मू० ॥)

४ **अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड**—यह पञ्चाध्यायी तथा लाटी संहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य प० दरबारीलालजी कोठिया और पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १॥)

५ **उमास्वामि-श्रावकाचार-परीक्षा**— मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थ-परीक्षाओंके इतिहासको लिये हुये १४ पेजकी नई प्रस्तावना-सहित। मू० ।)

६ **न्याय-दीपिका** (महत्वका नया संस्करण) न्यायाचार्य प० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अबतक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, १०१ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, साथमें सम्पादक-द्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका एक संस्कृत टिप्पण भी लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंको खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस सजिल्द वृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है। कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियाँ छपी हैं और थोड़ी ही अवशिष्ट रह गई हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

७ **विवाह-समुद्देश्य**—लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार, हालमें प्रकाशित चतुर्थ संस्करण।

यह पुस्तक हिन्दी-साहित्यमें अपने ढंगकी एक ही चीज है। इसमें विवाह-जैसे महत्वपूर्ण विषयका बड़ा ही मार्मिक और तात्त्विक विवेचन किया गया है। अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियों से उत्पन्न हुई विवाहकी कठिन और जटिल समस्याओंको बड़ी युक्तिके साथ दृष्टिके स्पष्टीकरण-द्वारा सुलझाया गया है और इस तरह उनमें दृष्टिविरोधका परिहार किया गया है। विवाह क्यों किया जाता है? धर्मसे, समाजसे और गृहस्थाश्रमसे उसका क्या सम्बन्ध है? वह कब किया जाना चाहिये? उसके लिये वर्ण और जातिका क्या नियम होसकता है? विवाह न करनेसे क्या कुछ हानि-लाभ होता है? इत्यादि बातोंका इस पुस्तकमें बड़ा ही युक्ति पुरस्सर एवं हृदयग्राही वर्णन है। बढ़िया आर्ट पेपरपर छपी है। विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य है। मू० ॥)

प्रकाशन विभाग—

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

प्रकाशक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये आशाराम खत्री द्वारा रॉयल प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त

ज्येष्ठ, संवत् २००५ :: जून, सन १९४८

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

वर्ष ९ ★ किरण ६

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

सुखका उपाय

(आर्या)

जगके पदार्थ सारे वर्तें इच्छाऽनुकूल जो तेरी ।
तो तुझको सुख होवे, पर ऐसा हो नहीं सकता ॥ १ ॥
क्योंकि, परिणमन उनका शाश्वत उनके अधीन ही रहता ।
जो निज अधीन चाहे वह व्याकुल व्यर्थ होता है ॥ २ ॥
इससे उपाय सुखका, सच्चा, स्वाधीन-वृत्ति है अपनी ।
राग-द्वेष-विहीना, क्षणमें सब दुःख हरती जो ॥ ३ ॥

—युगवीर

विषय - सूची

वीर-शासन-जयन्तीका वार्षिकोत्सव-समारोह

मुरार [ग्वालियर] में

सम्पूर्ण जैन समाजको यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी इतिहास प्रसिद्ध पुण्य-तिथिसे सम्बद्ध भारतीय पावनपर्व 'वीर-शासन-जयन्ती' का—भगवान महावीरके सर्वोदय-तीर्थ-प्रवर्तन-दिवसका—वीरसेवामन्दिर द्वारा आयोजित वार्षिकोत्सव इस वर्ष मुरार (ग्वालियर) मे पूज्य क्षुल्लक श्रीगणेशप्रसादजी वर्णी (न्यायाचार्य) की अध्यक्षतामे श्रावण कृष्णा प्रतिपदा व द्वितीया तारीख २२-२३ जुलाई सन् १९४८ को बृहस्पतिवार तथा शुक्रवारके दिन विशेष समारोहके साथ मनाया जायगा। उत्सवकी तैयारियाँ बड़े उत्साहके साथ प्रारम्भ होगई हैं।

इस बार वर्णीजीकी इच्छानुसार विश्वकी शान्ति और समुन्नतिको लक्ष्यमें रखकर वीर-शासनके प्रचार और प्रसारादि सम्बन्धी अच्छा ठोस एवं स्थायी कार्य किया जानेको है।

समाजके लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों, श्रीमानों तथा शासन-सेवाके कार्योंमें रस लेने वाले सभी सज्जनोंके पधारनेकी पूर्ण आशा है। वर्णीजी जैसे सन्त पुरुषके नेतृत्वमे मनाया जाने वाला यह उत्सव अपनी खास विशेषता रखता है। अतः सर्वसज्जनोंसे सानुरोध निवेदन है कि आप इस शुभ अवसरपर अवश्य ही मित्रों सहित पधारनेकी कृपा करे और अपने इस सर्वातिशायी पावन पर्वको यथेष्ट रूपमे मनानेके लिये अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करते हुए इस संस्थाको आभारी बनाये। उत्सवमे अपने पधारनेके समयादिकी सूचना—'संयोजक स्वागतकारिणी कमेटी, ठि० सेठ गुलाबचन्द गणेशीलालजी जैनका बगीचा पोस्ट मुरार (ग्वालियर)' के पतेपर देनी चाहिए, जिससे समयपर ठहरने आदिकी सब योग्य व्यवस्था हो सके।

निवेदक—

सरसावा
५-७-४८

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता, वीरसेवामन्दिर

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ४)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	जून
किरण ६	ज्येष्ठ शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७४, विक्रम-संवत २००५	१९४८

बुढ़ापा

बालपनै बाल रह्यो पीछे गृहभार बह्यो, लोकलाज-काज बांध्यो पापनको ढेर है ।
अपनो अकाज कीनों लोकनमे जस लीनों, परभौ बिसार दीनों विषै वश जेर है ॥
ऐसे ही गई बिहाय अलप-सी रही आय, नर-परजाय यह आँधेकी बटेर है ।
आये सेत भैया ! अब काल है अवैया, अहो ! जानी रे सयाने तेरे अजों हूँ अंधेर है ॥१॥

बालपनै न सँभार सक्यो कछु, जानत नाहिं हिताऽहित ही को ।
यौवन वैस बसी वनिता उर, कै नित राग रह्यो लछमीको ॥
यों पन दोइ विगोइ दये नर, डारत क्यों नरकै निज-जीको ।
आये हैं सेत अजौं शठ ! चेत, "गई सुगई अब राख रहीको" ॥२॥

सार नर देह सब कारजको जोग येह, यह तो विख्यात बात वेदनमें बँचै है ।
तामें तरुनाई धर्म-सेवनको समै भाई, सेये तब विषै जैसे माखी मधु रचै है ॥
मोह-महामद-भोये धन-रामा-हित रोज रोये, यों ही दिन खोये खाय कोदों जिम मचै है ।
अरे सुन बौरे ! अब आये सीस धौरे, अजौं सावधान हो रे नर नरकसों बचै है ॥३॥

—कवि भूधरदास

षडावश्यक-विचार

[यह ग्रन्थ भी कैराना जिला मुजफ्फरनगरके बड़े मन्दिरकी उसी षट्पत्रात्मक ग्रन्थ-प्रतिपरसे उपलब्ध हुआ है जिसपरसे गत किरणमें प्रकाशित 'परमात्मराज-स्तोत्र' और उससे पहलेकी किरणोंमे प्रकाशित 'स्वरूप-भावना' और 'रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' उपलब्ध हुए थे और जिन सबको २० जनवरी सन् १९३३को नोट किया गया था। यह नव पद्योंका एक प्रकरण-ग्रन्थ है, जिनमेंसे पहले पद्यमें छह आवश्यकोंके १ सामायिक, २ स्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ प्रत्याख्यान और ६ कायोत्सर्ग नाम देकर लिखा है कि इन क्रियाओंमें जो जीव वर्तमान होता है उसके सवर होता है—कर्मोंका आत्मामें आना-बधना रुकता है। इसके बाद छह पद्योंमें छहों आवश्यकोंका आध्यात्मिक दृष्टिसे अच्छा सुन्दर स्वरूप दिया है, जो सहज-बोध-गम्य है। आठवें पद्यमें बतलाया है कि 'निजात्मतत्त्वमें अवस्थित हुआ जो योगी निरालस्य होकर (पूर्ण तत्परताके साथ) इस प्रकारसे षडावश्यक करता है उसके पापोंकी रोक होती है—पापास्रव रुकता है। अन्तके ९वें पद्यमें उन चिह्नोंका निर्देश किया है जो ठीक अर्थमें षडावश्यक करने वालोंमें प्रकट होते हैं और वे हैं १ कालक्रमसे उदासीनता, २ उपशान्तता और ३ सरलता। मालूम नहीं इस प्रकरणके रचयिता कौन महानुभाव हैं। जिन विद्वानोंको इस विषयमें कुछ मालूम हो उन्हें उसको प्रकट करना चाहिए।

—सम्पादक]

सामायिके[1] स्तवे[2] भक्त्या वन्दनायां[3] प्रतिक्रमे[4] ।
प्रत्याख्याने[5] तनूत्सर्गे[6] वर्तमानस्य संवरः ॥ १ ॥

यत्सर्व-द्रव्य-सन्दर्भ-रागद्वेष-व्यपोहनम् ।
आत्म-तत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥ २ ॥

रत्नत्रयमयं शुद्ध चेतन चेतनात्मकम् ।
विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवज्ञैः स्तूयते स्तवः ॥ ३ ॥

पवित्र-दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयमुत्तमम् ।
आत्मानं वन्दमानस्य वन्दनाऽकथि कोविदैः ॥ ४ ॥

कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषाम् ।
आत्मीयत्व-परित्यागः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ ५ ॥

अगम्यागो-निमित्तानां भावानां प्रतिषेधनम् ।
प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्ताऽऽत्माऽवलोकिभिः ॥ ६ ॥

ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्म-निर्मितम् ।
न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ॥ ७ ॥

यः षडावश्यकं योगी स्वात्म-तत्त्व-व्यवस्थितः ।
अनालस्यः करोत्येवं संवृतिस्तस्य रेफसाम् ॥ ८ ॥

कालक्रमव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम् ।
विज्ञेयानीति चिह्नानि षडावश्यककारिणाम् ॥ ९ ॥

नवपद्यानि षडावश्यक विचारस्य ।

समन्तभद्र भारतीके कुछ नमूने
युक्त्यनुशासन

सामान्य-निष्ठा विविधा विशेषाः पद विशेषान्तर-पक्षपाति ।
अन्तर्विशेषान्तर-वृत्तितोऽन्यत्समानभाव नयते विशेषम् ॥४०

'(७वीं कारिकामें 'अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्व' इस वाक्यके द्वारा यह बतलाया गया है कि वीरशासनमें वस्तुतत्त्वको सामान्य-विशेषात्मक माना गया है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि जो विशेष है वे सामान्यमें निष्ठ (परिसमाप्त) है या सामान्य विशेषोंमें निष्ठ है अथवा सामान्य और विशेष दोनों परस्परमें निष्ठ है ? इसका उत्तर इतना ही है कि) जो विविध विशेष है वे सब सामान्यनिष्ठ है—अर्थात् एक द्रव्यमें रहने वाले क्रमभावी और सहभावीके भेद-प्रभेदको लिये हुये जो परिस्पन्द और अपरिस्पन्दरूप नाना प्रकारके पर्याय[1] हैं वे सब एक द्रव्यनिष्ठ होनेसे ऊर्ध्वता-सामान्य[2]में परिसमाप्त हैं। और इस लिये विशेषोंमें निष्ठ सामान्य नहीं है; क्योंकि तब किसी विशेष (पर्याय) के अभाव होनेपर सामान्य (द्रव्य) के भी अभावका प्रसङ्ग आयेगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है—किसी भी विशेषके नष्ट होनेपर सामान्यका अभाव नहीं होना, उसकी दूसरे विशेषों—पर्यायोंमें उपलब्धि देखी जाती है और इससे सामान्यका सर्व विशेषोंमें निष्ठ होना भी बाधित पड़ता है। फलतः दोनोंका निरपेक्ष रूपसे परस्परनिष्ठ मानना भी बाधित है, उसमें दोनोंका ही अभाव ठहरता है और वस्तु आकाश-कुसुमके समान अवस्तु होजाती है।'

'(यदि विशेष सामान्यनिष्ठ हैं तो फिर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि वर्णसमूहरूप पद किसे प्राप्त करता है—विशेषको, सामान्यको, उभयको या अनुभयको अर्थात् इनमेंसे किसका बोधक या प्रकाशक होता है ? इसका समाधान यह है कि) पद जो कि विशेषान्तरका पक्षपाती होता है—द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन प्रकारके विशेषोंमेंसे किसी एकमें प्रवर्तमान हुआ दूसरे विशेषोंको भी स्वीकार करता है, अस्वीकार करनेपर किसी एक विशेषमें भी उसकी प्रवृत्ति नहीं बनती—वह विशेषको प्राप्त कराता है अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्ममेंसे एकको प्रधानरूपसे प्राप्त कराता है तो दूसरेको गौणरूपसे। साथ ही विशेषान्तरोंके अन्तर्गत उसकी वृत्ति होनेसे दूसरे (जात्यात्मक) विशेषको सामान्यरूपसे भी प्राप्त कराता है—यह सामान्य तिर्यक्सामान्य होता है। इस तरह पद सामान्य और विशेष दोनोंको प्राप्त कराता है—एकको प्रधानरूपसे प्रकाशित करता है तो दूसरेको गौण रूपसे। विशेषकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल सामान्य और सामान्यकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल विशेष दोनों अप्रतीयमान होनेसे अवस्तु हैं, उन्हें पद प्रकाशित नहीं करता। फलतः परस्पर निरपेक्ष उभयको और अवस्तुभूत अनुभयको भी पद प्रकाशित नहीं करता। किन्तु इन सर्वथा सामान्य, सर्वथा विशेष, सर्वथा उभय और सर्वथाअनुभयसे

[1] क्रमभावी पर्यायें परिस्पन्दरूप है जैसे उत्क्षेपणादिक। सहभावी पर्यायें अपरिस्पन्दात्मक हैं और वे साधारण, साधारणाऽसाधारण और असाधारणके भेदसे तीन प्रकार हैं। सत्व-प्रमेयत्वादिक साधारण धर्म हैं, द्रव्यत्व-जीवत्वादि साधारणाऽसाधारण धर्म हैं और वे अर्थ पर्यायें असाधारण हैं जो द्रव्य द्रव्यके प्रति प्रभिद्यमान और प्रतिनियत हैं।

[2] सामान्य दो प्रकारका होता है—एक ऊर्ध्वतासामान्य दूसरा तिर्यक्सामान्य। क्रमभावी पर्यायोंमें एकत्वान्वय-ज्ञानके द्वारा ग्राह्य जो द्रव्य है वह ऊर्ध्वतासामान्य है और नाना द्रव्यों तथा पर्यायोंमें सादृश्यज्ञानके द्वारा ग्राह्य जो सदृशपरिणाम है वह तिर्यक् सामान्य है।

विलक्षण सामान्य-विशेषरूप वस्तुको पद प्रधान और गौणभावसे प्रकाशित करता हुआ यथार्थताको प्राप्त होता है; क्योंकि ज्ञाताकी उस पदसे उसी प्रकारकी वस्तुमें प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी तरह।'

यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति।
पर्याय-सामान्य-विशेष-सर्वं पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१

'जो पद एवकारसे उपहित है—अवधारणार्थक 'एव' नामके निपातसे विशिष्ट है; जैसे 'जीव एव' (जीव ही)—वह अस्वार्थसे स्वार्थको (अजीवत्वसे जीवत्वको) [जैसे] अलग करता है— अस्वार्थ (अजीवत्व) का व्यवच्छेदक है—[वैसे] सब स्वार्थ-पर्यायों (सुख-ज्ञानादिक), सब स्वार्थसामान्यों (द्रव्यत्व चेतनत्वादि) और सब स्वार्थविशेषों (अभिधानाऽविषयभूत अनन्त अर्थपर्यायों) सभीको अलग करता है—उन सबका भी व्यच्छेदक है, अन्यथा उस एक पदसे ही उनका भी बोध होना चाहिये, उनके लिये अलग-अलग पदोंका प्रयोग (जैसे मैं सुखी हूं, ज्ञानी हूं, द्रव्य हूँ, चेतन हूँ, इत्यादि) व्यर्थ ठहरता है— और इससे (उन क्रमभावी धर्मों-पर्यायों, सहभावी धर्मों-सामान्यों तथा अनभिधेय धर्मों-अनन्त अर्थ-पर्यायोंका व्यवच्छेद—अभाव—होनेपर) पदार्थकी (जीव पदके अभिधेयरूप जीवत्वकी) भी हानि उसी प्रकार ठहरती है जिस प्रकार कि विरोधी (अजीवत्व) की हानि होती है—क्योंकि स्वपर्यायों आदिके अभावमें जीवादि कोई भी अलग वस्तु संभव नहीं हो सकती।

(यदि यह कहा जाय कि एवकारसे विशिष्ट जीव पद अपने प्रतियोगी अजीव पदका ही व्यवच्छेदक होता है—अप्रतियोगी (स्वपर्यायों, सामान्यों तथा विशेषोंका नहीं; क्योंकि वे अप्रस्तुत-अविवक्षित होते हैं, तो ऐसा कहना एकान्तवादियोंके लिये ठीक नहीं है; क्योंकि इससे स्याद्वाद (अनेकान्तवाद)के अनुप्रवेशका प्रसङ्ग आता है, और इससे इनके एकान्त सिद्धान्तकी हानि ठहरती है।)

अनुक्त-तुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्त्यभावान्नियम-द्वयेऽपि।
पर्यायभावेऽन्यतराप्रयोगस्तत्सर्वमन्यच्युतमात्म-हीनम् ॥४२॥

'जो पद एवकारसे रहित है वह अनुक्ततुल्य है— न कहे हुएके समान है—; क्योंकि उससे (कर्तृ-क्रिया विषयक) नियम-द्वयके इष्ट होनेपर भी व्यावृत्तिका अभाव होता है—निश्चयपूर्वक कोई एक बात न कहे जानेसे प्रतिपक्षकी निवृत्ति नहीं बन सकती—तथा (व्यावृत्तिका अभाव होने अथवा प्रतिपक्षकी निवृत्ति न हो सकनेसे) पदोंमें परस्पर पर्यायभाव ठहरता है, पर्यायभावके होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमे से भी चाहे जिस पदका कोई प्रयोग कर सकता है और चाहे जिस पदका प्रयोग होनेपर संपूर्ण अभि-धेयभूत वस्तुजात अन्यसे च्युत—प्रतियोगीसे रहित—होजाता है और जो प्रतियोगीसे रहित होता है वह आत्महीन होता है—अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता। इस तरह भी पदार्थकी हानि ठहरती है।'

व्याख्या—उदाहरणके तौरपर 'अस्ति जीवः' इस वाक्यमे 'अस्ति' और 'जीवः' ये दोनों पद एवकारसे रहित है। 'अस्ति' पदके साथ अवधारणार्थक 'एव' शब्दके न होनेसे नास्तित्वका व्यवच्छेद नहीं बनता और नास्तित्वका व्यवच्छेद न बन सकनेसे 'अस्ति' पदके द्वारा नास्तित्वका भी प्रतिपादन होता है, और इस लिये अस्ति पदके प्रयोगमे कोई विशेषता न रहनेसे वह अनुक्ततुल्य होजाता है। इसी तरह जीव पदके साथ 'एव' शब्दका प्रयोग न होनेसे अजीवत्व-का व्यवच्छेद नही बनता और अजीवत्वका व्यवच्छेद न बन सकनेसे जीव पदके द्वारा अजीवत्व-का भी प्रतिपादन होता है, और इस लिये 'जीव' पदके प्रयोगमें कोई विशेषता न रहनेसे वह अनुक्त-तुल्य होजाता है। और इस तरह अस्ति पदके द्वारा नास्तित्वका भी और नास्ति पदके द्वारा अस्तित्वका भी प्रतिपादन होनेसे तथा जीव पदके द्वारा अजीव अर्थका भी और अजीव पदके द्वारा जीव अर्थका भी प्रतिपादन होनेसे अस्ति-नास्ति पदोंमें तथा जीव-अजीव पदोंमें घट-कुट (कुम्भ) शब्दोंकी तरह परस्पर

पर्यायभाव ठहरता है। पर्यायभाव होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमें भी सभी मानवोंके द्वारा, घट-कुट शब्दोंकी तरह, चाहे जिसका प्रयोग किया जा सकता है। और चाहे जिसका प्रयोग होनेपर सपूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्य प्रतियोगीसे च्युत (रहित) होजाता है—अर्थात् अस्तित्व नास्तित्वसे सर्वथा रहित होजाता है और इसमें सत्ताऽद्वैतका प्रसङ्ग आता है। नास्तित्वका सर्वथा अभाव होनेपर सत्ताऽद्वैत आत्महीन ठहरता है; क्योंकि पररूपके त्यागके अभावमें स्वरूप-ग्रहणकी उपपत्ति नहीं बन सकती—घटके अघटरूपके त्याग बिना अपने स्वरूप-की प्रतिष्ठा नहीं बन सकती। इसी तरह नास्तित्वके सर्वथा अस्तित्वरहित होनेपर शून्यवादका प्रसङ्ग आता है और अभाव भावके बिना बन नहीं सकता, इससे शून्य भी आत्महीन ही होजाता है। शून्यका स्वरूपसे भी अभाव होनेपर उसके पररूपका त्याग असम्भव है—जैसे पटके स्वरूप ग्रहणके अभावमें शाश्वत अपटरूपके त्यागका असम्भव है। क्योंकि वस्तुका वस्तुत्व स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्याग-की व्यवस्थापर ही निर्भर है। वस्तु ही पर द्रव्य-क्षेत्र कालकी अपेक्षा अवस्तु होजाती है। सकल स्वरूपसे शून्य जुदी कोई अवस्तु संभव ही नहीं है। अतः कोई भी वस्तु जो अपनी प्रतिपक्षभूत अवस्तुसे वर्जित है वह अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं होती[1]।

'यदि (सत्ताद्वैतवादियों अथवा सर्वथा शून्य-वादियोंकी मान्यतानुसार सर्वथा अभेदका अवलम्बन लेकर) यह कहा जाय कि पद—अस्ति या नास्ति—(अपने प्रतियोगि पदके साथ सर्वथा) अभेदी है—और इसलिये एक पदका अभिधेय अपने प्रतियोगि पदके अभिधेयसे च्युत न होनेके कारण वह आत्म-हीन नहीं है—तो यह कथन विरोधी है अथवा इससे उस पदका अभिधेय आत्महीन ही नहीं किन्तु विरोधी भी होजाता है; क्योंकि किसी भी विशेषका-भेदका—तब अस्तित्व बनता ही नहीं।'

व्याख्या—उदाहरणके तौरपर—जो सत्ताऽद्वैत-(भावैकान्त)वादी यह कहता है कि 'अस्ति' पदका अभिधेय अस्तित्व 'नास्ति' पदके अभिधेय नास्तित्वसे सर्वथा अभेदी (अभिन्न) है उसके मतमें पदों तथा अभिधेयोंका परस्पर विरोध भेदका कर्ता है; क्योंकि सत्ताऽद्वैत मतमें सम्पूर्ण विशेषों-भेदोंका अभाव होने से अभिधान और अभिधेयका विरोध है—दोनों घटित नहीं होसकते, दोनोंको स्वीकार करनेपर अद्वैतता नष्ट होती है और उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'अनादि-अविद्याके वशसे भेदका सद्भाव है इससे दोष नहीं' तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विद्या-अविद्या भेद भी तब बनते नहीं। उन्हें यदि माना जायगा तो द्वैतताका प्रसङ्ग आएगा और उससे सत्ताऽद्वैत सिद्धान्तकी हानि होगी—वह नहीं बन सकेगा। अथवा अस्तित्वसे नास्तित्व अभेदी है यह कथन केवल आत्महीन ही नहीं किन्तु विरोधी भी है (ऐसा 'च' शब्दके प्रयोगसे जाना जाता है); क्योंकि जब भेदका सर्वथा अभाव है तब अस्तित्व और नास्तित्व भेदोंका भी अभाव है। जो मनुष्य कहता है कि 'यह इससे अभेदी है' उसने उन दोनोंका कथंचित् भेद मान लिया, अन्यथा वह वचन बन नहीं सकता; क्योंकि कथंचित् (किसी प्रकारसे) भी भेदीके न होनेपर भेदीका प्रतिषेध—अभेदी कहना—विरुद्ध पड़ता है—कोई भेदी ही नहीं तो अभेदी (न भेदी) का व्यवहार भी कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता।

यदि यह कहा जाय कि शब्दभेद तथा विकल्प-भेदके कारण भेदी होनेवालोंका जो प्रतिषेध है वह उनके स्वरूपभेदका प्रतिषेध है तब भी शब्दों और विकल्पोंके भेदको स्वयं न चाहते हुए भी संज्ञीके भेदको कैसे दूर किया जायगा, जिसमें द्वैतापत्ति होती है? क्योंकि संज्ञीका प्रतिषेध प्रतिषेध्य-संज्ञीके अस्तित्व बिना बन नहीं सकता। इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि 'दूसरे मानते हैं इसीसे शब्द और

---

१ "वस्त्वेवाऽवस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्।"
विरोधि चाऽभेद्यविशेषभावात्तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः।
विपाद्य सन्धिश्च तथाऽङ्गभावादवाच्यता श्रायस लोपहेतुः॥४३

विकल्पके भेदको इष्ट किया गया है, इसमें कोई दोष नहीं,' तो यह कथन भी नहीं बनता; क्योंकि अद्वैतावस्थामें स्व-परका (अपने और परायेका) भेद ही जब इष्ट नहीं तब दूसरे मानते हैं यह हेतु भी सिद्ध नहीं होता, और असिद्ध-हेतु-द्वारा साध्यकी सिद्धि बन नहीं सकती। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'विचारसे पूर्व तो स्व-परका भेद प्रसिद्ध ही है' तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि अद्वैतावस्थामे पूर्वकाल और अपरकालका भेद भी सिद्ध नहीं होता। अतः सत्ताद्वैतकी मान्यतानुसार सर्वथा भेदका अभाव माननेपर 'अभेदी' वचन विरोधी ठहरता है, यह सिद्ध हुआ। इसी तरह सर्वथा शून्यवादियोंका नास्तित्वसे अस्तित्वको सर्वथा अभेदी बतलाना भी विरोधदोषसे दूषित है, ऐसा जानना चाहिए।

(अब प्रश्न यह पैदा होता है कि अस्तित्वका विरोधी होनेसे नास्तित्व धर्म वस्तुमे स्याद्वादियों-द्वारा कैसे विहित किया जाता है? क्योंकि अस्ति पदके साथ 'एव' लगानेसे तो 'नास्तित्व'का व्यवच्छेद—अभाव होजाता है और 'एव'के साथमें न लगानेसे उसका कहना ही अशक्य होजाता है क्योंकि वह पद अनुक्ततुल्य होता है। इससे तो दूसरा कोई प्रकार न बन सकनेसे अवाच्यता—अवक्तव्यता ही फलित होती है। तब क्या वही युक्त है? इस सब शङ्काके समाधान-रूपमें ही आचार्य महोदयने कारिकाके अगले तीन चरणोंकी सृष्टि की है, जिनमें वे बतलाते है—)

'उस विरोधी धर्मका द्योतक 'स्यात्' नामका निपात (शब्द) है—जो स्याद्वादियोंके द्वारा संप्रयुक्त किया जाता है और गौणरूपसे उस धर्मका द्योतन करता है—इसीसे दोनों विरोधी-अविरोधी (नास्तित्व अस्तित्व जैसे) धर्मोंका प्रकाशन—प्रतिपादन होते हुए भी जो विध्यर्थी है उसकी प्रतिषेधमे प्रवृत्ति नहीं होती। साथ ही वह स्यात् पद विपक्षभूत धर्मकी सन्धि-संयोजनास्वरूप होता है—उसके रहते दोनों धर्मोंमें विरोध नहीं रहता; क्योंकि दोनोंमें अङ्गपना है और स्यात्पद उन दोनों अङ्गोंको जोड़ने वाला है।'

'सर्वथा अवक्तव्यता (युक्त नहीं है; क्योंकि वह) श्रायस-मोक्ष अथवा आत्महितके लोपकी कारण है—; क्योंकि उपेय और उपायके वचन बिना उनका उपदेश नहीं बनता, उपदेशके बिना श्रायसके उपायका—मोक्षमार्गका—अनुष्ठान नहीं बन सकता और उपाय (मार्ग)का अनुष्ठान न बन सकनेपर उपेय-श्रायस (मोक्ष)की उपलब्धि नहीं होती। इसतरह अवक्तव्यता श्रायसके लोपकी हेतु ठहरती है।—अतः स्यात्कार-लाञ्छित एवकार-युक्त पद ही अर्थवान् है ऐसा प्रतिपादन करना चाहिए, यही तात्पर्यात्मक अर्थ है।'

(इसतरह तो सर्वत्र 'स्यात्' नामक निपातके प्रयोगका प्रसङ्ग आता है, तब उसका पद-पदके प्रति अप्रयोग शास्त्रमे और लोकमे किस कारणसे प्रतीत होता है? इस शङ्काका निवारण करते हुए आचार्य महोदय कहते हैं—)

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोगः सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः।
इति त्वदीया जिननाग! दृष्टिः पराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥४४

'(शास्त्रमे और लोकमे 'स्यात्' निपातका) जो अप्रयोग है—हरएक पदके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता—उसका कारण उस प्रकारका—स्यात्पदात्मक - प्रयोग - प्रकारका—प्रतिज्ञाशय है—प्रतिज्ञामे प्रतिपादन करनेवालेका अभिप्राय सन्निहित है।—जैसे शास्त्रमे 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि वाक्योंमे कहींपर भी 'स्यात्' या 'एव' शब्दका प्रयोग नहीं है परन्तु शास्त्रकारोंके द्वारा अप्रयुक्त होते हुए भी वह जाना जाता है; क्योंकि उनके वैसे प्रतिज्ञाशयका सद्भाव है। अथवा (स्याद्वादियोंके) प्रतिषेधकी—सर्वथा एकान्तके व्यवच्छेदकी—युक्ति सामर्थ्यसे ही घटित होजाती है—क्योंकि 'स्यात्' पदका आश्रय लिये बिना कोई स्याद्वादी नहीं बनता और न स्यात्कारके प्रयोग बिना अनेकान्तकी सिद्धि ही घटित होती है; जैसे कि एवकारके प्रयोग बिना सम्यक् एकान्तकी सिद्धि नहीं होती। अतः स्याद्वादी होना ही इस बातको सूचित करता है कि उसका आशय प्रतिपदके साथ 'स्यात्' शब्दके प्रयोग-

अहिंसा-तत्त्व

(लेखक—क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य)

अहिंसा-तत्त्व ही एक इतना व्यापक है जो इसके उदरमें सर्व धर्म आजाते हैं, जैसे हिंसा पापमें सर्व पाप गर्भित होजाते है। सर्वसे तात्पर्य चोरी, मिथ्या, अब्रह्म और परिग्रहसे है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये सर्व आत्म-गुणके घातक है अत: ये सर्व पाप ही हैं। इन्हीं कषायोंके द्वारा आत्मा पापोंमे प्रवृत्ति करता है तथा जिनको लोकमें पुण्य कहते हैं वह भी कषायोंके सद्भावमें होते हैं। कषाय आत्माके गुणोंका घातक है अत: जहाँ पुण्य होता है वहाँ भी आत्माके चारित्र-गुणका घात है और इस लिये वहाँ भी हिंसा ही है। अत: जहाँपर आत्माकी परिणति कषायोंसे मलीन नहीं होती वहींपर आत्माका अहिंसा - परिणाम विकासरूप होता है उसीका नाम यथाख्यात चारित्र है। जहाँपर रागादि परिणामोंका अंश भी नहीं रहता उसी तत्त्वको आचार्योंने अहिंसा कहा है—

'अहिंसा परमो धर्मो यतो धर्मस्ततो जय: ।'

श्रीअमृतचन्द्रस्वामीने उसका लक्षण यों कहा है:—

अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप: ॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

'निश्चयकर जहाँपर रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं होती वहीं अहिंसाकी उत्पत्ति है और जहाँ रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति होती है वहींपर हिंसा होती है, ऐसा जिनागमका संक्षेपसे कथन जानना।' यहाँपर रागादिकोंसे तात्पर्य आत्माकी परिणतिविशेषसे है—परपदार्थमें प्रीतिरूप परिणाम-का होना राग तथा अप्रीतिरूप परिणामका नाम द्वेष, और तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप परिणामका होना मोह अर्थात् राग, द्वेष, मोह ये तीनों आत्माके विकार-भाव हैं। ये जहाँपर होते हैं वहीं आत्मा कलि (पाप)का संचय करता है, दुखी होता है, नाना प्रकार पापादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि कार्योंमें व्यग्र रहता है, तीव्र राग-द्वेष हुआ तब विषयोंमें प्रवृत्ति करता है या हिंसादि पापों-में मग्न होजाता है। कहीं भी इसे शान्ति नहीं मिलती। यह सर्व अनुभूत विषय है। और जब रागादि परिणाम नहीं होते तब शान्तिसे अपना जो ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है उसीमें लीन रहता है, जैसे जलमें पङ्क-के सम्बन्धसे मलिनता रहती है। यदि पङ्कका संबन्ध

का है,—भले ही उसके द्वारा प्रयुक्त हुए प्रतिपदके साथमें 'स्यात्' शब्द लगा हुआ न हो, यही उसके पद-प्रयोगकी सामर्थ्य है।'

(इसके सिवाय, 'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि-चतुष्टयात्' इसप्रकारके वाक्यमे स्यात् पदका अप्रयोग है ऐसा नहीं मानना चाहिए; क्योंकि 'स्वरूपादि-चतुष्टयात्' इस वचनसे स्यात्कारके अर्थकी उसी प्रकार प्रतिपत्ति होती है जिसप्रकार कि 'कथञ्चित्ते सदेवेष्ट' इस वाक्यमें 'कथञ्चित्' पदसे स्यात्पदका प्रयोग जाना जाता है। इसीप्रकार लोकमे 'घट आनय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्योंमे जो स्यात् शब्दका अप्रयोग है वह उसी प्रतिज्ञाशयको लेकर सिद्ध है।)

'इसतरह हे जिन-नाग!—जिनोंमे श्रेष्ठ श्रीवीर भगवन्!—आपकी (अनेकान्त) दृष्टि दूसरोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके—द्वारा अप्रधृष्या है—अबाधितविषया है—और साथ ही परधर्षिणी है—दूसरे भावैकान्तादिवादियोंकी दृष्टियोंकी धर्षणा करनेवाली है—उनके सर्वथा एकान्तरूपसे मान्य सिद्धान्तोंको बाधा पहुँचानेवाली है।'

उससे पृथक् होजावे तब जल स्वयं निर्मल होजाता है। तदुक्तं—'पंकापाये जलस्य निर्मलतावत्।' निर्मलताके लिये हमें पङ्कको पृथक् करनेकी आवश्यकता है। अथवा जैसे जलका स्वभाव शीत है। अग्निके सम्बन्धसे जलमें उष्णता पर्याय होजाती है उस समय जल, देखा जावे तो, उष्ण ही है। यदि कोई मनुष्य जलको शीत-स्वभाव मानकर पान कर लेवे तब वह नियमसे दाहभावको प्राप्त होजावेगा। अत: जलको शीत करनेके वास्ते आवश्यकता इस बातकी है जो उसको किसी बर्तनमें डालकर उसकी उष्णता पृथक् कर देना चाहिये। इसी प्रकार आत्मामें मोहोदयसे रागादि परिणाम होते हैं वे विकृतभाव है। इनसे आत्मा नाना प्रकारके क्लेशोंका पात्र रहता है। उनके न होनेका यही उपाय है जो वर्तमानमें रागादिक हों उनमे उपादेयताका भाव त्यागे, यही आगामी न होनेमे मुख्य उपाय है। जिनके यह अभ्यास होजाता है उनकी परिणति सन्तोषमयी होजाती है। उनका जीवन शान्तिमय बीतता है, उनके एक बार ही पर पदार्थोंसे निजत्व बुद्धि मिट जाती है। और जब परमे निजत्वकी कल्पना मिट जाती है तब सुतरां राग-द्वेष नहीं होते। जहाँ आत्मामे राग-द्वेष नहीं होते वहीं पूर्ण अहिंसाका उदय होता है। अहिंसा ही मोक्षमार्ग है। वह आत्मा फिर आगामी अनन्त काल, जिस रूप परिणम गया, उसी रूप रहता है। जिन भगवानने यही अहिंसाका तत्त्व बताया है-अर्थात् जो आत्माएं राग-द्वेष-मोहके अभावसे मुक्त होचुकी है उन्हींका नाम जिन है। वह कौन है? जिसके यह भाव होगये वही जिन है। उसने जो कुछ पदार्थका स्वरूप दर्शाया उस अर्थके प्रतिपादक जो शब्द है उसे जिनागम कहते है। परमार्थसे देखा जाय तो, जो आत्मा पूर्ण अहिंसक होजाती है उसके अभिप्रायमे न तो परके उपकारके भाव रहते है और न अनुपकारके भाव रहते हैं। अत: न उनके द्वारा किसीके हितकी चेष्टा होती है और न अहितकी चेष्टा होती है। किन्तु जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह उदयमे आकर अपना रस देता है। उस कालमें उनके शरीरसे जो शब्दवर्गणा निकलती हैं उनसे क्षयोपशमज्ञानी वस्तुस्वरूपके जाननेके अर्थ आगम-रचना करते हैं।

आज बहुतसे भाई जैनोंके नामसे यह समझते हैं जो वह एक जाति-विशेष है। यह समझना कहाँ तक तथ्य है, पाठकगण जाने। वास्तवमे जिसने आत्माके विभाव-भावोंपर विजय पा ली वही जैन। यदि नामका जैनी है और उसने मोहादि कलङ्कोंको नहीं जीता तब वह नाम 'नामका नैनसुख आँखोंका अन्धा'की तरह है। अत: मोह-विकल्पोंको छोड़ो और वास्तविक अहिंसक बनो।

वास्तवमे तो बात यह है कि पदार्थ अनिर्वचनीय है—कोई कह नही सकता। आप जब मिसरी खाते हो तब कहते हो मिसरी मीठी होती है—जिस पात्रमे रक्खा है वह नहीं कहता; क्योंकि जड है। ज्ञान ही चेतन है वह जानता है मिसरी मीठी है, परन्तु यह भी कथन नही बनता; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेयमे नही जाता और ज्ञेय ज्ञानमे नहीं जाता। फिर जब मिसरी ज्ञानमे गई नहीं तब मिसरी मीठी होती है, यह कैसे शब्द कहा जासकता है? अथवा जब ज्ञानमे ही पदार्थ नहीं आता तब शब्दसे उसका व्यवहार करना कहाँ तक न्यायसङ्गत है। इससे यह तात्पर्य निकला—मोह-परिणामोंसे यह व्यवहार है अर्थात् जब तक मोह है तब तक ज्ञानमे यह कल्पना है। मोहके अभावसे यह सर्व कल्पना विलीन हो जाती है—यह असङ्गत नहीं। जब तक प्राणीके मोह है तब तक ही यह कल्पना है जो ये मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ। और ये मेरी भार्या है मैं इसका पति हूँ। मोहके अभावमे यह सर्व व्यवहार विलीन होजाते है—जब यह आत्मा मोहके फन्दमे रहता है तब नाना कल्पनाओंकी सृष्टि करता है, किसीको हेय और किसीको उपादेय मानकर अपनी प्रवृत्ति बनाकर इतस्तत: भ्रमण करता है। मोहके अभावमे आपसे आप शान्त होजाता है। विशेष क्या लिखूं, इसका मर्म वे ही जाने जो निर्मोही हैं, अथवा वे ही क्या जाने, उन्हे विकल्प ही नहीं।

पूज्य वर्णी गणेशप्रसादजीके हृदयोद्गार

[हालमें पूज्य वर्णी गणेशप्रसादजीका एक मार्मिक पत्र मुझे मुरार (ग्वालियर)से प्राप्त हुआ है, जिसमे उन्होंने मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके कार्योंके प्रति अपना हार्दिक प्रेम प्रदर्शित करते हुए अपने कुछ हृदयोद्गार व्यक्त किये हैं, जो सारे जैन समाजके जानने योग्य हैं। अतः उनका वह पूरा पत्र यहाँ प्रकाशित किया जाता है। पाठक देखेंगे कि पूज्य वर्णीजीको मुख्तार सा०के अनुसन्धान-कार्य कितने अधिक प्रिय हैं और वे उन्हें कितना अधिक पसन्द करते हैं तथा उनके इस अनुसन्धान-विभागको स्थायित्व प्राप्त होनेका कितनी शुभ भावनाओंको अपने हृदयमे स्थान दिये हुए हैं। क्या ही अच्छा हो यदि जैन समाज वर्णीजीके इन हृदयोद्गारोंके मर्मको समझे, उनकी भावनाको 'भावनामात्र' न रहने दे और न उन्हें फिरसे यह कहनेका अवसर ही दे कि 'हमारे भाव तो मन ही मे विलय जाते हैं।' —दरबारीलाल कोठिया]

श्रीयुत कोठियाजी महोदय, दर्शनविशुद्धिः।

पत्र आया। समाचार जाने। बाबूजी (मुख्तार जुगलकिशोरजी) का कार्य तो मुझे इतना प्रिय है जो उसके अर्थ अब भावना-मात्र रह गई है। ऐसे कार्योंके लिये तो उनकी इच्छानुकूल पुष्कल द्रव्य होता और कमसे कम १० विद्वान रहते जिन्हें इच्छित द्रव्य दिया जाता। सालमें उनें २ बार छुट्टी दी जाती १ मास जाड़ामे १ मास गर्मीमे। जहाँपर यह तत्त्वानुसंधान होता वहीं पर १ स्थानपर उनका भोजन होता। वे सिवाय तत्त्वानुसंधानके अन्य कथा न करते। १ वृहत्स्थान होता जहाँपर सब ऋतुके अनुकूल स्थान होता। इस कार्यके लिये कमसे कम १० लाख रुपया होता उसके ब्याजसे यह कार्य चलता। यद्यपि यह होना कठिन नहीं परन्तु हमारी दृष्टि तो जड़वादके पुष्ट करनेमें लग रही है—अतः हमारे भाव तो मन ही मे विलय जाते है। थोथा सभापति बननेसे जलविलोचनके सदृश प्रयास है। कोई ऐसा व्यक्ति तलाशो जो इसकी पूर्तिकर सुयशका भागी हो। हाँ यह मेरेको भी इष्ट है जो १ बार मैं भी आपके उत्सवको देखलू। परन्तु यह इष्ट नहीं जो केवल नाटक हो, कुछ कार्य हो। इस विभागकी महती आवश्यकता है। परन्तु इसकी पूर्ति कैसे हो, यह समझमे नहीं आता—समझमे नहीं आता, इसका यह अर्थ है जो समाजने अभी इस विषयपर मीमांसा नहीं की। केवल ऊपरी-ऊपरी बातोंपर इसका समय जाता है। अन्तमे यही कहना पड़ता है—

त्वं चेन्नीचजनानुरागरभसादस्मासु मन्दादरः।
का नो मानद मानहानिरियती भूः किं त्वमेव प्रभुः॥
गुञ्जापुञ्जपरम्परापरिचयाद्भिल्लीजनैरुज्झितं।
मुक्तादाम न धारयन्ति किमहो कण्ठे कुरङ्गीदृशः॥

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

नोट—अतः हमारा कहना बाबूजी (मुख्तार जुगलकिशोरजी) से कह दो। आपके बड़े २ धनाढ्य मित्र है। वे कब आपकी इच्छाकी पूर्ति करेंगे? आपका जीवन ४ या ६ वर्ष ही तो रहेगा। यदि आपके समक्ष इन लोगोंने कुछ न किया तब पीछे क्या करेंगे?

(ज्येष्ठ सुदि)

रावणपार्श्वनाथकी अवस्थिति

(लेखक—श्रीअगरचन्द नाहटा)

'अनेकान्त'के गत अक्तूबरके अङ्कमें पद्मनन्दि-रचित रावणपार्श्वनाथस्तोत्र प्रकाशित हुआ है। उसका परिचय कराते हुए सम्पादक श्रीमुख्तार साहबने लिखा है कि "यह स्तोत्र श्रीपद्मनन्दि मुनिका रचा हुआ है और रावणपत्तनके अधिपति अर्थात वहाँ स्थित देवालयके मूलनायक श्रीपार्श्वजिनेन्द्रसे सम्बन्धित है; जैसा कि अन्तिम पद्यसे प्रकट है। मालूम नहीं यह "रावणपत्तन" कहाँ स्थित है और उसमें पार्श्वनाथका यह देवालय (जैनमन्दिर) अब भी मौजूद है या नहीं, इसकी खोज होनी चाहिये।"

तीन वर्ष हुए श्वे० साहित्यमे रावणपार्श्वनाथका उल्लेख अवलोकनमे आनेपर मेरे सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था और अपनी शोध-खोजके फल-स्वरूप इसकी अवस्थितिका पता लग जानेपर जैन सत्यप्रकाशके क्रमाङ्क ११४में "रावणतीर्थ कहाँ है ?" शीर्षक लेखद्वारा प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया था। मेरे उक्त लेखसे स्पष्ट है कि रावणपार्श्वनाथ वर्त्तमान अलवरमें स्थित है। इसके पोषक ९ उल्लेख—१६वीं शताब्दीसे वर्त्तमान तकके-उस लेखमें दिये गये थे एव रावणपार्श्वनाथकी नवीन चैत्यालय-स्थापना (जीर्णोद्धार)का सूचक सं० १६४५के शिला-लेखको भी प्रकाशित किया गया था। इसी समय अलवरसे प्रकाशित 'अरावली' नामक पत्रके वर्ष १ अङ्क १२मे "जैनसाहित्यमे अलवर" शीर्षक लेखमे भी इसके सम्बन्धमे प्रकाश डाला गया था। यहाँ उसके पश्चात् जो कतिपय और उल्लेख अवलोकनमे आये है वे दे दिये जाते है:—

१ क्षेमराज (१६वीं)के फलौधी-स्तवन (गा. २४)में—
"थभणपुरि महिमा निलो, गऊउडर गौडीपुर पास।
जेसलमेरहि परगडो रावणि अलवर पूरइ आस। २०

२ साधुकीर्ति रचित (सं० १६२४) मौन-एकादशी-स्तवन (गाथा १७)में:—
"गढ नयर अलवर सुखहमडप पास रावणमपुण्यउ।"

३ रत्नजय (१८वीं) कृत ११७ नाम गर्भित पार्श्व-स्तवन गा. १७)में:—
"अंतरीक बीजापुरै रे लाल अलवर रावणपास।"

४ रत्ननिधान (१७वी) कृत पार्श्वलघु-स्तवन (गा ९)मे—
"जीरावलि मोवन गिरइ, अलवरगढ़ रावण जागइ रे"

५ कल्याणसागरसूरि-रचित रावणपार्श्वाष्टकमे—
"अलवरपुररत्नं रावणं पार्श्वदेवं,
प्रणतशुभसमुद्रं कामदं देवदेवं।"

रावणपार्श्वनाथकी प्रसिद्धिका पता अभी तक श्वे० साहित्यसे ज्ञात था। पद्मनन्दिके स्तोत्रसे उसकी प्रसिद्धि दोनों सम्प्रदायोंमे समानरूपसे रही ज्ञात कर हर्ष होता है। वर्त्तमान मेल-जोलके युगमे ऐसी बातों एवं तीर्थों आदिपर विशेषरूपसे प्रकाश डालना अत्यन्त आवश्यक है, जो दोनों सम्प्रदायवालोंको समानरूपसे मान्य हों। अलवरके रावणपार्श्वनाथका इतिहास मनोरञ्जक एवं कौतूहलजनक होना चाहिये। नामके अनुसार इस पार्श्वनाथ-प्रतिमाका सम्बन्ध रावणसे या अलवरका प्राचीन नाम रावणपत्तन होना विदित होता है। अतः अलवर निवासी जैन भाईयों एव अन्य विद्वानोंको उसका वास्तविक इति-हास शीघ्र ही प्रकाशमे लानेका प्रयत्न करना चाहिये।

वीर-शासन-जयन्तीका पावन पर्व

इस युगके अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीवीर-वर्द्धमानने संसारके त्रस्त और पीड़ित जनसमूहके लिये अपने जिस अहिंसा और अनेकान्तमय शासन (उपदेश)का प्रथम प्रवर्त्तन किया था उस शासनकी जयन्तीका पावन पर्व इस वर्ष श्रावण कृष्णा प्रतिपदा ता० २२ जुलाई १९४८ बृहस्पतिवारको अवतरित होरहा है। भगवान वीरने इस पुण्य दिवसमें जिस परिस्थिति को लेकर अपना अहिंसादिका शासन (प्रथम उपदेश) प्रवृत्त किया था वह प्रायः आज जैसी ही थी। धर्मके नाम पर उस समय अनेक हिंसामयी यज्ञ-याग किये जाते थे, मूक पशुओंको निर्दयतापूर्वक उनमें होमा जाता था, स्त्री और शूद्र धर्माधिकारी नहीं समझे जाते थे, वे मनुष्योंकी कोटिसे भी गये बीते थे। भगवान वीरने अपने अहिंसा प्रधान 'सर्वोदय तीर्थ' के द्वारा उन हिंसामयी यज्ञोंको पूर्णतया बन्द करके स्त्रियों और शूद्रोंको भी उनकी योग्यतानुसार धर्माधिकार दिये थे और प्राणिमात्रके लिये कल्याणका द्वार खोला था।

अतएव उनकी इस शासनप्रवर्त्तन तिथि-श्रावण कृष्णा प्रतिपदा-का बड़ा महत्व है और उसका सीधा सम्बन्ध जनताके आत्म-कल्याणके साथ है।

आज सारा संसार त्रस्त और दुखी है। पशुओं की तो बात ही क्या, मनुष्य मनुष्योंके द्वारा मारे-काटे, अग्निमें होमे तथा अपमानित किये जारहे हैं। सभी एक दूसरेसे भयातुर और परेशान हैं। यदि उनका दुख और भय तथा परेशानी दूर होसकते हैं तो भगवान वीरके द्वारा प्रवर्तित अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रहके शासनसे ही दूर होसकते हैं। महात्मा गाँधीने इस दिशामें प्रयत्न किया था और संसारको सुखी और शान्तिमय जीवन व्यतीत करनेके लिये अहिंसक, उदार तथा अपरिग्रही बननेका अनुरोध किया था। यदि संसार गाँधीजीके मार्गपर चलता तो आज भय परेशानी और दुखोंका वह शिकार न होता।

वीर-शासनके अनुयायियोंका इस स्थितिको दूर करनेका सबसे अधिक और भारी उत्तरदायित्व है; क्योंकि उनके पास अहिंसाके अवतार भगवान महावीरके द्वारा दी हुई वह वस्तु है—वह विधि है जो जादूका-सा काम कर सकती है और दुनियामें अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, समभाव और मैत्रीकी व्यवस्था कर सकती है। यह निधि अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रहके मूल्यवान सिद्धान्त हैं, जिनका आज हमें भारीसे भारी प्रचार और प्रसार करनेकी सख्त जरूरत है।

सौभाग्यसे इस वर्ष वीर-शासन-जयन्तीका वार्षिक उत्सव जिस महान् सन्तके नेतृत्वमें मुरार (ग्वालियर)मे विशेष समारोहके साथ होने जारहा है वह जैन समाज और भारतका ही सन्त नहीं है अपितु सारे संसारका सन्त है। उसके हृदयमें विश्वभरके लिये अपार करुणा और मैत्री है। यह सन्त वर्णी गणेशप्रसाद के नामसे सर्वत्र विश्रुत हैं। सन्त के अतिरिक्त आप उच्चकोटिके विद्वान् (न्यायाचार्य) प्रभावक वक्ता और सफल नेता भी हैं।

आशा है ऐसे पुरुषोत्तमके नेतृत्वमें इस वर्ष वीरशासन जयन्तीके अवसरपर वीरशासनके प्रचार-प्रसार, पुरातत्त्व तथा साहित्यके अनुसन्धान और देश तथा समाजके उत्कर्ष-साधनादिका कोई विशिष्ट एवं ठोस कार्य किया जायगा।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० ६-७-१९४८

दरबारीलाल कोठिया

शृंगेरिकी पार्श्वनाथ-बस्तीका शिलालेख

(बा० कामताप्रसाद जैन, सम्पादक 'वीर')

["आर्केलॉजिकल सर्वे ऑफ मैसूर" सन् १९३३में शृंगेरि नामक स्थानके शिलालेख दिये हुये हैं। उनमेंसे एक शिलालेखको हम सधन्यवाद यहाँ उपस्थित करते हैं। —लेखक]

१. श्रीमत्परमगभीरस्याद्वादामोघलां—
२. च्छनं जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिनशासन।
३. स्वस्ति श्रीमत् शकवर्षम द १०८२
४. विक्रम संवत्सरद् कुम्भ शु—
५. द्ध दशमि बृहवारदन्दु श्रीमान्—निडुगोड
६. विजयनारायण शान्तिसेट्टिय पुत्र बा—
७. सि-सेट्टियर अक्क सिरियबे—सट्टितियर म—
८ गलु नागवे-सेट्टितियर मगलु सिरिय—
९. ले सेट्टितिगं हेम्माडि-सेट्टिगं सुपुत्रन—
१० प्प मारिसेट्टिगे परोक्षविनयक्कं मा—
११. डिसिद् बसदिगे बिट्ट दत्ति केरेय केलग—
१२ ग हिरिय गदेय वसदिय बडगण होस··
१३. यु भंडियु होलेयु नडुवण हुदुविन होरद
१४. मण्णु कण्डुग सुल्लिगोड अरुगण्डुग मण्णु
१५. ·········· बणजमुं नानदेसियु बिट्टय
१६. ·········· मलवेगे हाग हन्ज बोट्टिय मल
१७ ·········· ले मेलसिन मारके हागमु
१८. मत्तं पोत्तोब्बलुप्पु हेरिगू अग्वत्तेले अरिसिनद मलवेगे विसके बिट्ट तपिदडे तप्पिदवनु गंगेय-
१९ लु सैर कविलेय कोन्द पातक

इसके अंग्रेजी अनुवादका भावार्थ निम्न प्रकार है:—"जिनशासन जयवंता प्रवर्तो जो त्रिलोकीनाथका शासन है और श्रीमत् परमगभीर स्याद्वाद-लक्षण से युक्त है। स्वस्ति। शक संवत् १०८२ विक्रमवर्षके कुंभके शुक्लपक्षकी दशमीके बृहस्पतिवारको बसदि (जिनमन्दिर)के लिए दान दिया गया, जिसे हैम्माडिसेट्टिके पुत्र मारिसेट्टिकी एव नागवेसेट्टितियरकी पुत्री सिरियबेसेट्टितिकी स्मृतिमे निर्माण किया गया था। सिरियबेसेट्टिति निडुगोडु-निवासी बिजयनारायण शान्तिसेट्टिके पुत्र बासिसेट्टिकी बड़ी बहन थी। बणजमु और नानादेशी व्यापारियोंने भी बसदिके लिए कतिपय वस्तुओंपर कर देना स्वीकार किया। अन्तमें जो इस दानको नष्ट करेगा उसे गङ्गापर एक सहस्र गौबध करनेका पातक लगेगा, यह उल्लेख है। इस लेखसे स्पष्ट है कि पहले शृंगेरिमे जैनोंकी सख्या और मान्यता अधिक थी। (The inscription shows that Jainism had once a good following in Sringeri in former times —Arch. Sur. of Mysore, 1933, p 124)

आजकल शृंगेरि ब्राह्मण-सम्प्रदायका मुख्य केन्द्र और तीर्थ बना हुआ है। शङ्कराचार्यके समयसे ही शृंगेरिमे ब्राह्मणधर्मकी जड़ जम गई थी और उपरान्तकालमे ब्राह्मण सम्प्रदायमे शृंगेरिमठके श्री-शङ्कराचार्य प्रसिद्ध होते आये है। आज वहाँ जैनायतन हतप्रभ होरहे है। जैनोंको उनका जरा भी ध्यान नही है। इस प्रकारकी अनेक कीर्ति-कृतियाँ भारतमे बिखरी पड़ी हैं, पर हमारे जैनी भाई उनकी ओरसे बेसुध है।

इस शिलालेखमे व्यापारियोंके दो भेदों (१) बणजमु (२) और नानादेशीका उल्लेख उनकी वणिज-वृत्तिको ही सम्भवतः लक्ष्यमे लेकर किया गया है। अनुमानतः जो लोग दूर दूर देशोंमें न जाकर स्थानीय देहातमे व्यापार करते होंगे वे बणजमु कहलाते होंगे। और दूर दूर देशोंमे जाकर (से आकर?) व्यापार करनेवाले नानादेशी कहलाते होंगे। दक्षिणके विद्वानोंको इसपर प्रकाश डालना चाहिये। इससे इतना स्पष्ट है कि इन व्यापारियोंमें जातिगत भेदभाव तबतक नहीं था।

जैनपुरातन अवशेष

[विहङ्गावलोकन]

(लेखक—मुनि कान्तिसागर)

आर्यावर्तकी तक्षण कलाके संरक्षण और विकास में जैन समाजने बहुत बड़ा योगदान दिया है जिसकी स्वर्णिम गौरव गरिमाकी पताकास्वरूप आज भी अनेकों सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला-कौशलके उत्कृष्टतम प्रतीक-सम पुरातन मन्दिर, गृह-प्रतिमाएँ विशाल-स्तम्भादि बहुमूल्यावशेष बहुत ही दुरवस्थामें अवशिष्ट है। ये प्राचीन सस्कृति और सभ्यताके ज्वलत दीपक —प्रकाशस्तम्भ है। वर्षोंका अतीत इनमें अन्तर्निहित है। बहुत समय तक धूप-छाँहमे रहकर इन्होंने अनुभव प्राप्त किया है। वे न केवल तात्कालिक मानव-जीवन और समाजके विभिन्न पहलुओंको ही आलोकित करते है अपितु मानों वे जीर्ण-विशीर्ण खण्डहरों, वनों और गिरिकन्दराओंमे खड़े खड़े अपनी और तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक परिस्थितियोंकी वास्तविक कहानी, अतिगम्भीररूपसे पर मूकवाणीमे, उन सहृदय व्यक्तियोंको श्रवण करा रहे हैं जो पुरातन-प्रस्तरादि अवशेषोंमें अपने पूर्वपुरुषों-की अमरकीर्तिलताका सूक्ष्मावलोकन कर स्वर्णतुल्य नवीन प्रशस्त मार्गकी सृष्टि करते है। यदि हम थोड़ा भी विचार करके उनकी ओर दृष्टि केन्द्रित करे तो विदित हुए बिना नहीं रहेगा कि प्रत्येक समाज और जातिकी उन्नत दशाका वास्तविक परिचय इन्हीं खण्डित अवशेषोंके गम्भीर अध्ययन, मनन और अन्वेषणपर अवलम्बित है। मेरा तो मानना है कि हमारी सभ्यताकी रक्षा और अभिवृद्धिमे किसी प्राचीन साहित्यादिक ग्रन्थोंसे इनका स्थान किसी दृष्टिसे भी कम नहीं, स्थायित्व तो साहित्यादिसे इनमे अधिक है। साथ ही साथ यह भी कहना पड़ेगा कि साहित्यकार जिन उदात्त भावोंका व्यक्तीकरण बहुत स्थान रोककर करता है, जबकि कलाकार जड़ वस्तुओंपर अत्यन्त सीमित स्थानमें अपनी छैनी द्वारा उन भावनाओंको चित्रलिपिके रूपमें व्यक्त करता है। निरक्षर जनता भी इस चित्रलिपिसे ज्ञान प्राप्त कर लेती है! एक समय था जब इन कलाकारों-का समादर भारतमे सर्वत्र था, सांस्कृतिक अमर-तत्त्वोंके प्रचारण एवं संरक्षणमे वे सबसे अधिक दायित्व रखते थे। लौकिक जनोंकी रुचि और परिष्कृत विचारधाराके अनुरूप प्रवाहको वे जानते थे। उनका जीवन सात्विक और मनोवृत्तियाँ आज के कलाकारोंके लिये आदर्शकी वस्तु थीं। इन्हीं किन्हीं कारणोंसे प्राचीन भारतीय साहित्यमें इनको उच्च स्थान प्राप्त था। जैनाचार्य श्रीमान् हरिभद्रसूरिजी —जो अपने समयके बहुत बड़े दार्शनिक और प्रतिभासम्पन्न विद्वान् ग्रन्थकार थे—ने अपने षोडश प्रकरणोंमें कलाकारोंके सम्बन्धमे जो विचार व्यक्त किये हैं वे हमारे लिये बहुत ही मूल्यवान् हैं। वे लिखते हैं "कलाकारको यह न समझना चाहिये वह हमारा वेतन-भोगी भृत्य है पर अपना सखा और प्रारम्भीकृत कार्यमे परमसहयोगी मानकर उनको आवश्यक सभी सुविधाएँ प्रदान कर सदैव सन्तुष्ट रखना चाहिये, उनको किसी भी प्रकारसे ठगना नहीं चाहिये, वेतन ठीक देना चाहिये, उनके भाव दिन प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हों वैसा आचरण करनेसे ही वे उच्चकी रचनाका निर्माण कर समाजके आध्यात्मिक कल्याणमे आंशिक सहायक प्रमाणित हो सकते हैं।" और ग्रन्थोंमे भी इन्हीं भावोंको पुष्ट करने वाले अन्यान्य उद्धरण उपलब्ध हैं पर उनकी यहाँ विवक्षा नहीं।

यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होजाता है कि शिल्प है क्या ? क्योंकि सर्वसभ्यताओंके लिये शिल्प परम आवश्यक है। जिस प्रकार प्राणीमात्रकी संवेदनाका सर्वोच्च शिखर सङ्गीत है ठीक उसी प्रकार शिल्पका विस्तृत और व्यापक भवन निर्माण है। जनतामें आमतौरपर—अर्थात् लोकभाषामें शिल्पका सामान्य अर्थ ईंटपर ईंट या प्रस्तरपर प्रस्तर सजा देना ही शिल्प माना जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति देखनेसे यह परिभाषा भावसूचक नहीं मालूम देती—अपूर्ण है। शिल्पकी सर्वगम्य व्याख्या करना भी तो आसान नहीं।

परन्तु फिर भी प्रो० मुल्कराज आनन्दने निम्न पंक्तियोंमें जो परिभाषाकी है वह उपयुक्त है—"शिल्प वही है जो निर्माण-सामग्रियों-द्वारा कल्पनाके आधारपर बनाया जाय। उस शिल्पको हम कभी अद्वितीय कह सकते है जिसकी कला एवं कल्पनाका प्रभाव मनुष्यपर पड़ सके"। उपर्युक्त दार्शनिक पद्धति की परिभाषासे कलाकारोंका जो उत्तरदायित्व बढ़ जाता है वह किसीसे अब छिपा नहीं। "मनुष्यपर प्रभाव" और "प्राप्त सामग्रियों-द्वारा निर्माण" ये शब्द गम्भीर अर्थ रखते है। प्राप्त सामग्री यानि केवल कलाकारके औजार और एतद्विषयक साहित्यिक ग्रंथ ही नहीं है अपितु उनके वैयक्तिक विशुद्ध चरित्रकी ओर भी व्यंग्यात्मक संकेत है। कल्पनात्मक शिल्प निर्माणमें जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ती है वह कला-समीक्षकोंके लिये अनुभवका ही विषय है। कल्पना-द्वारा मानव जगतके आध्यात्मिक और भौतिक संस्कृतिके उच्चतम सिद्धान्तोंका समुचित अङ्कन ही प्रभावोत्पादक हो सकते हैं। तभी तो मानव उनके प्रभावसे प्रभावित होता है। आश्चर्य-जनक वायुमण्डलमें सभी आकर्षण रखते हैं। जिन को प्राचीन खंडहरोंको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है यदि उनके साथ कलाप्रेमी और कलाके तत्त्वोंको न जानने वाले व्यक्ति साथ रहे हों तब तो कहना ही क्या ?—उनको अनुभव होगा कि प्राचीन शिल्प-कलात्मककृतियोंका जो कोई भी अवलोकन करता है तल्लीन होजाता है भले ही वह उनके मर्मस्पर्शी इतिहाससे परिचित न हो। एव कलाविज्ञ तो इनमें महान् सत्यके दर्शन करते हैं; क्योंकि विषयको समझनेकी शक्ति उनमें है। कथनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि मानव-संस्कृतिके विकास और संरक्षणमें जिनका भी योग रहा है उनमे शिल्पकार सर्वप्रथम स्थानपर है। मानवके आभ्यंतरिक जीवनसे भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, चाहे वह अरण्यवासी ही क्यों न रहा हो।

भारतीय वास्तुकलाका इतिहास यों तो जबसे मानवका विकास हुआ तभीसे ही मानना होगा पर शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिसे कला-समीक्षकोंने मोहेंजोदड़ो एव हरप्पामें माना है। इस युगके पूर्व जहाँ तक हम समझते है जो युग बाँस, लकड़ी, पत्तोंकी झोपड़ियों का था वह अधिक महत्वपूर्ण था, सात्विक भावनाओंको भी लिये हुए था, प्रकृतिकी गोदमें मानवको जो विचारकी मौलिक सामग्री मिलती है उसे ही वह मानव-समाजकी भलाईके लिये कलाके द्वारा मूर्तरूप देता है। इस प्रकार दिन प्रतिदिन वास्तुकलाका विकास होता गया, अजंटा, जोगीमारा, बाग, इलोरा चाँदवड़, पदुदुकोटा, एलिफंटा आदि अनेकों ऐसी गुफाएँ है जो भारतीय तक्षण और गृह-निर्माणकला-को श्रेष्ठ प्रतीक है। वास्तुकलाका प्रवाह समयकी गति और शक्तिके अनुरूप बहता गया, समय समय पर कलाविज्ञोंने इसमें नवीन तत्त्वोंको प्रविष्ट कराया कि मानों वह यहाँकी ही स्वकीय सम्पत्ति हो, निर्माण पद्धति, औजार आदिमें भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। जब जिस विषयका सार्वभौमिक विकास होता है तब उसे विद्वान लोग लिपिबद्ध कर साहित्यका रूप दे देते हैं, जिससे अधिक समय तक मानवके संपर्कमें रह सकें, क्योंकि कल्पना-जगतके सिद्धान्तों की परम्परा तभी चल सकती है जब उत्तराधिकारी मिलता है। गत पाँच हजारसे अधिक वर्षोंका वास्तु-कलाका इतिहास महत्वपूर्ण, रोचक और ज्ञानवर्द्धक है। इसके नमूनेके स्वरूप प्राचीन गृह, मन्दिर, मूर्तियाँ, किले, शस्त्रादि मानव समाजोपयोगी अनेक उपकरण

वर्तमान हैं, जिनपर लाखों पृष्ठोंमें लिखा जाय तो कम है। मुझे तो प्रकृत निबन्धमें केवल जैनपुरातत्व के अंगीभूत जो अवशेष उपलब्ध होते हैं—नष्ट होने की प्रतीक्षामें हैं—उन्हींपर अपने त्रुटिपूर्ण विचार व्यक्त कर समाजके विद्वान और धनीमानी व्यक्तियोंका ध्यान अपनी सांस्कृतिक सम्पत्तिकी ओर आकृष्ट करना है और यही इस निबन्धका उद्देश्य है।

आर्यावर्तका सम्भवतः शायद ही कोई कोना ऐसा हो जहाँपर यत्किञ्चित्‌रूपेण जैन-पुरातत्त्वके अवशेष उपलब्ध न होते हों, प्रत्युत कई प्रान्त और जिले तो ऐसे हैं जो जैनपुरातत्त्वकी सभी शाखाओंके पुरातनावशेषोंको सुरक्षित रक्खे हुए हैं; क्योंकि सांस्कृतिक उच्चताके प्रतीक-सम इनके निर्माणमें आर्थिक सहायक जैनोंने अपने द्रव्यका अन्य समाजापेक्षया सर्वाधिक व्यय कर जैन संस्कृतिकी बहुत अच्छी सेवा की है। बङ्गाल, मेवाड़ और मध्यप्रान्त आदि कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँपर कालके महाचक्रके प्रभावसे आज जैनोंका निवास नहीं है पर जैनकला के मुखको समुज्ज्वल करने वाले मन्दिर, स्तम्भ, प्रतिमा या खण्डहर विद्यमान हैं। ये पूर्वकालीन जैनों के निवासके प्रतीक हैं। एक समय था जब बङ्गाल जैन संस्कृतिसे आप्लावित था, पूर्वी बङ्गालमें जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्रो० गोस्वामीने मुझे बताया था कि पहाड़पुर-दिनाजपुरमें दिगम्बर जैन प्रतिमाएँ निकली हैं वे प्राचीन कला-कौशलकी दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु हैं। (इन प्रतिमा-चित्रोंका प्रकाशन आ० स० इ० रि०में होचुका है)।

आज भी उस ओर जब कभी उत्खनन होता है तब जैनधर्मसे सम्बन्ध रखने वाली सामग्री निकलती ही रहती है; पुरातत्त्व-विभागवाले साधारण नोट कर इन्हें प्रकट कर देते हैं, वे बेचारे इन अवशेषोंकी विविधता और प्रसङ्गानुसार जो भव्यता है, किसके साथ क्या सम्बन्ध है आदि बातें ही आवश्यक साधनोंके अभावसे नहीं जान पाते हैं तो फिर करें भी तो क्या करें?

मेरे मित्र 'मोडर्नरिव्यु' के वर्तमान संपादक श्रीमान् केदारनाथ चट्टोपाध्याय, जो पुरातत्त्वके अच्छे विद्वान हैं, बता रहे थे कि उनके गाँव-बाँकुडाकी पहाड़ियोंमें बहुतसी जैन प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं जो रक्त पाषाणपर उत्कीर्णित हैं, इनके आगे वहाँकी जनता न जाने क्या-क्या करती है। पश्चिम बङ्गालमें सराकजातिके भाइयोंके जहाँ-जहाँपर केन्द्र हैं उनमें प्राचीन बहुतसी सुन्दर कलापूर्ण शिखरयुक्त मन्दिर-प्रतिमाएँ सैकड़ोंकी संख्यामें उपलब्ध हैं। इन अवशेषों को मैंने तो देखा नहीं परन्तु मुनि श्रीप्रभावविजयजी की कृपासे उनके फोटो अवश्य देखे, तबियत बड़ी प्रसन्न हुई। श्रीमान् ताजमलजी बोथरा—जो वर्तमान सराकजातिकी संस्थाके मन्त्री हैं—से मैं आशा करता हूँ कि वे सारे प्रान्तमें—जहाँ सराक बसते हैं—जहाँ कहीं भी जैन अवशेष हों उनके चित्र तो अवश्य ही लेलें। खोजकी दुनियासे यह स्थान कोसों दूर है। कई ऐसे भी हैं जो प्राचीन स्मारक रक्षा कानूनमें न होनेसे उनके नाशकी भी शीघ्र संभावना है।

मेदपाट-मेवाड़में भी कलाके अवतार-स्वरूप जैन मन्दिरोंकी संख्या बहुत बड़ी है, ये खासकर १४वीं शताब्दीकी बादकी तक्षणकलासे सम्बन्धित हैं। बड़े विशाल पहाड़ोंपर या तलहटीमें मन्दिर बने हैं जहाँ पर कहीं-कहीं तो जैनोंके घरकी तो बात ही क्या की जाय मानवमात्र वहाँ हैं ही नहीं। ऐसे मन्दिरोंमेंसे लोग मूर्ति तो अवश्य ही उठा लेगये परन्तु प्रत्येक कमरोंमें जो लेख हैं उनकी सुधि आज तक किसीने नहीं ली। कहनेको तो विजयधर्मसूरिजीने कुछ लेख अवश्य ही लिये थे पर उन्होंने लेखोंके लेनेमें तथा प्रकाशनमें भी पक्षपातसे काम लिया, साम्प्रदायिक व्यामोहके कारण सब लेखोंका संग्रह भी वे न कर सके, पुरातत्त्वके अभ्यासीके लिये यह बड़े कलङ्ककी बात है।

अत्यन्त खेदकी बात है कि उपर्युक्त साधनोंपर न तो वहाँकी जैन जनताका समुचित ध्यान है और न वहाँकी सरकार ही कभी सचेष्ट रही है। अस्तु, अब तो प्रजातन्त्रीय राज्य है, मैं आशा करता हूँ कि वहाँके लोकप्रिय मन्त्री इस ओर अवश्य ध्यान देंगे।

मध्यप्रान्त और बरार छह वर्ष तक मेरे विहार का क्षेत्र रहा है, यहाँके पुरातत्त्वपर मैंने विशाल भारत १९४७ जुलाई, अगस्त, सितम्बर, नवम्बर, दिसम्बर आदि अङ्कोंमें कुछ लेख लिखे है। इनके अतिरिक्त लखनादौन, धुनसौर, कांकेर, बस्तर, पद्मपुर, आरङ्ग, पौनार, भद्रावती आदि प्रचीन स्थानोंमें यदि खुदाई करवाई जाय तो बहुत बड़ी निधि निकलनेकी पूर्ण सम्भावना है। इन सभी स्थानोंपर जैन प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। यवतमालकी जैन रिसर्च सोसाइटीके कार्यकर्ताओंका ध्यान मैं इन क्षेत्रोंपर आकृष्ट करता हूं। वे कमसे कम मध्यप्रान्त और बरारके जैन पुरातत्त्वपर अन्वेषणात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत करें।

भारतीय जैन तीर्थ और मन्दिर आदिका केवल वास्तुकलाकी दृष्टिसे यदि अध्ययन किया जाय तो विदित हुए बिना न रहेगा कि तक्षणकलाके प्रवाहको जैनोंने कितना वेग दिया, पुरातन जैनोंका नैतिक जीवन कलाके उच्चातिउच्च सैद्धान्तिक रहस्योंसे ओत-प्रोत था, आज कलाकी उपासना स्वतन्त्ररूपसे करना तो रहा दूर परन्तु जो अवशेष निर्मित हैं उनको सँभालना तक असम्भव होरहा है। एक लेखकने ठीक ही लिखा है कि "इतिहास बनाने वाले व्यक्ति तो गये परन्तु उनकी कीर्ति-गाथाको एकत्रित करने वाले भी उत्पन्न नही होरहे हैं" जैन समाजपर उपर्युक्त पंक्ति सोलहों आना चरितार्थ होती है।

आजके गवेषणा-युगमें इनकी उपेक्षा करना अपनी जानबूझकर अवनति करना है। इनके प्रति अन्यथा भाव रखना ही हमारे पूर्वजोंका भयङ्कर अपमान है—उनकी कीर्तिलताकी अवहेलना है। सांस्कृतिक पतनसे बढ़कर संसारमे कोई पतन नहीं है। सुन्दर अतीत ही अनागतकालकी सुन्दर सृष्टि कर सकता है। गड़े मुर्दे उखाड़ना ही पड़ेगा, वे ही हमें आगामी युगके निर्माणमे मददगार होंगे। उनके मौनानुभवसे हमको जो उत्साह-प्रद प्रेरणाएँ मिलती है वे अन्यत्र कहाँ मिलेगी? आज सारा विश्व अपनी-अपनी सभ्यताके गहनतम अध्ययनमे व्यस्त है। वहाँके विद्वान् एक-एक प्रस्तर खण्डको विशिष्ट पद्धतिसे देखते हैं। वे नहीं चाहते हैं कि हमारी सभ्यतासे सम्बन्धित कोई भी साधन हमारी दृष्टिसे वञ्चित रहे। कैसी खोजकी लगन? जब हम तो बड़े आनन्दसे बैठे है, विशाल सम्पत्तिका स्वामी जैन समाज भी आज अकिञ्चिन बनकर जीवन यापन करे यह उचित नहीं। जैनोंका तो प्रथम कर्तव्य है कि वे अपने कलात्मक खण्डोंको एकत्र करें या उनपर अध्ययन करें। मैं मानता हूँ आज जैन समाज के सामने बहुत-सी ऐसी समस्याएँ हैं जिनको सुलझाना, समयकी गति और शक्तिको देखना अनिवार्य है, परन्तु जो प्राचीन संस्कृतिके रङ्गमें रङ्गे हुए है उनको तो पुरातन अवशेषोंकी रक्षाका प्रश्न ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण और शीघ्रातिशीघ्र ध्यान देने योग्य है। यह युग सांस्कृतिक उत्थानका है। स्वतन्त्र भारतका पुनर्निर्माण होने जारहा है। ऐसे अवसरपर चुप बैठना—जबकि आजका वायुमण्डल सर्वथा हमारे अनुकूल है—भारी अकर्मण्यता और पतनकी निशानी है। यों तो भारत सरकारने पुरातत्त्वकी खोजका एक स्वतन्त्र विभाग ही खोल रखा था, जिसके प्रथम अध्यक्ष जनरल कनिंघम ई० सन् १८६२में नियुक्त किये गये थे। इन्होंने और बादमे इसी पदपर आने वाले महानुभावोंने अपने गवेषणा—खुदाई—के समय जो जो जैन अवशेष उपलब्ध हुए और जिस रूपमें वे प्राप्त साधनोंके आधारपर उनका अध्ययन कर सके, उसी रूपमें यथासाध्य समझनेका प्रयास किया। इस विभागकी रिपोर्टमें जैन पुरातन अवशेषोंके चित्र और विवरण भरे पड़े हैं। कहीं विकृतियुक्त भी वर्णन है। डा० जैन्स बर्जेस, कर्नल टॉड, डा० बूलर, डा० भांडारकर (पिता-पुत्र) डा० गेरिनॉड, डा० गौ० हीरा० ओझा, मि० नरसिंहाचारियर, मुनि जिनविजयजी, और स्व० बाबू पूरणचन्दजी नाहर आदि अनेकों पुरातत्त्व के पण्डितोंने जैन पुरातन अवशेषोंकी जो गवेषणकर आदर्श उपस्थित किया है वह आज भी अनुकरणीय है। पूर्व गवेषित साधनोंके आधारपरसे स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने "प्राचीन जैन

स्मारक" नामक संग्रहात्मक ग्रन्थोंकी रचना की है। आज वह बिल्कुल अपूर्ण है। उसमें अनुकरणमात्र है, थोड़ासा भी यदि स्वकीय खोजसे काम लिया जाता तो काम अच्छा और पुष्ट होता। उन दिनों न तो जैनसमाजकी सार्वभौमिक रुचि थी और न एतद्विषयक प्रवृत्तिमें सहायता प्रदान करने वाले साधन ही सुलभ थे। आज सभी दृष्टिसे वायुमण्डल सर्वथा अनुकूल है। जो सामग्री नष्ट होचुकी है उनपर तो पश्चात्ताप व्यर्थ ही है, जो अवशिष्ट है उनका भी यदि समुचित उपयोग कर सके तो सौभाग्य! "जगे तबसे ही प्रातःकाल सही"।

पूर्व पंक्तियोंमें सूचित किया जाचुका है कि जैन अवशेषोंका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जहाँपर जङ्गलों मे जो प्रतिमाएँ है उनका कला या धार्मिक दृष्टिसे कौन मूल्याङ्कन करे? वहाँ तो सुरक्षित रहना ही असम्भव है। मैंने कई जगहपर (C. P. में) मूर्तियोंका पाषाण अच्छा होनेसे लोगोंको कुल्हाड़ी और छुरे घिसते हुए देखा, कई स्थानोंपर तो उनके सामने अमानुषिक कार्य भी होते है। परम वीतराग परमात्मा अहिसाके अवतार-सम प्रतिमाके सामने ग्रामीण लोग बलिदान तक करते देखे गये! जबलपुरवाला बहुरीबन्द इसका उदाहरण है। यदि स्वतन्त्ररूपसे गवेषणा करें तो ऐसे अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं।

शब्दकोशोंके और पुरातत्त्वकी सीमाका गम्भीर अध्ययन करनेके बाद अवभासित होता है कि पुरातत्त्व एक ऐसा शब्द है जो अत्यन्त व्यापक अर्थको लिये हुए है, इतिहास आदिके निर्माणमें जिन्हीं-किन्हीं वस्तुओंकी—साधनोंकी—आवश्यकता रहती है वे सभी इसके भीतर सन्निविष्ट है, उन सभी साधनोंपर न तो प्रकाश डालनेका यह स्थान है न कुछ पंक्तियोंमे उन सबका समुचित परिचय ही कराया जा सकता है। वर्षोंकी साधनाके बाद ही वैसा करना सम्भव है। मैंने इस निबन्धमें अपना कार्य-प्रदेश बहुत ही सङ्कुचित रखा है। मुझसे यदि कोई पुरातत्त्वपर अध्ययन करने-करानेके सम्बन्धमें प्रश्न करे तो मैं तो यही सम्मति दूँगा कि जैनसमाजको सर्वप्रथम पुरातत्त्व के उस भागको लेना चाहिये जो तक्षणकलासे सम्बन्ध रखता हो, वही उपेक्षित विषय रहा है। क्योंकि इनकी संख्या भी सर्वाधिक है। मुझे स्पष्ट कर देना चाहिये कि अरक्षित अवशेषोंकी ओर ही केवल मेरा संकेत नहीं है मैं तो चाहता हूँ जो प्राचीन मन्दिर-प्रतिमाएँ आज आमतौरसे पूजा-अर्चनाके काममें आते हैं और कलापूर्ण हैं उनके उद्धारके लिये भी सावधान रहना अनिवार्य है। उद्धारका अर्थ कोई यह न लगा बैठें कि उनको नये सिरेसे बनवावें, परन्तु उन कलापूर्ण सम्पत्तियोंके सुन्दर फोटू ले लिये जायें, जिस समयकी कला हो उस समयकी ऐतिहासिक सामग्रीका उपयोग कर उनका अध्ययन कर फल प्रकाशित करवाया जाय, नष्ट होनेसे बचाया जाय, अर्थात् पुरातनताको प्रत्येक उपायसे बचाया जाय। जहाँपर मालूम हो कि यहाँपर खुदाई करानेसे जैनमन्दिर या अवशेष निकलेगे वहाँपर भी भारत सरकारके पुरातत्त्व विभागसे खुदाई करवानी चाहिये, आर्थिक सहायता करनी चाहिये।

क्योंकि सरकार तो समस्त भारतके लिये सीमित अर्थ व्यय करती है। अतः इतने विशाल कार्यका उत्तरदायित्व केवल गवर्नमेण्टपर छोड़कर समाजको निश्चेष्ट न होना चाहिये। सरकार आपकी है। अपने कर्तव्यसे समाजको च्युत न होना चाहिये। सारे समाजमें जबतक पुरातत्त्वान्वेषणकी क्षुधा जागृत नहीं होती तबतक अच्छे भविष्यकी कल्पना कमसे कम मैं तो नहीं कर सकता। अतीतको जाननेकी प्रबल आकांक्षा ही को मैं अनागतकालका उन्नतरूप मानता हूँ। कलकत्ताके विहारमे मैंने केवल एक बाबू छोटेलालजी जैनको ही देखा जो जैन पुरातत्त्व विशेषतः राजगृही आदि जैन प्राचीन स्थानोंकी खुदाई और अन्वेषणके लिये तड़फते रहते हैं। वे स्वयं भी न केवल पुरातत्त्वके प्रेमी हैं अपितु विद्वान् भी हैं। वे वर्षोंसे स्वप्न देखते आये हैं कब जैन पुरातत्त्वका संक्षिप्त इतिहास तैयार हो, दौड़ते भी वे खूब हैं पर अकेला आदमी कर ही क्या सकता है?

प्रत्येक व्यक्तिको इस बातका सदैव स्मरण रखना चाहिये कि जिस विषयपर उसकी रुचि हो या जिसे वह अध्ययन करना चाहे उसे सबसे पहले तदनुकूल मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करनी होगी जो विषयके आन्तरिक तत्त्वोंको हृदयङ्गम करनेमें सहायक प्रमाणित हो सकें। पुरातत्त्वके अध्ययनको चलती भाषामे पत्थरोंसे सर फोड़ना या "गड़े मुर्दे उखाड़ना" कह सकते हैं। पर हृदय कोमल और भावुक चाहिये। यह जाल—चाहे आप रुचि कह लें—ही ऐसा विलक्षण है कि इसमें जो फँसता है वह इस जीवनमें तो नहीं निकल सकता, वह साधना ही बड़ी कठोर और भीषण श्रम साध्य है। पाषाण जगतके खण्डोंमें सदैव रत व्यक्तियोंका मानसिक अध्ययन करेंगे तो मालूम होगा मानो विश्वके बहुतसे तत्त्वोंका यहीं समीकरण हुआ है।

पुरातन शिल्प और कलाके आभ्यन्तरिक मर्मको जाननेके लिये वर्तमानमें निम्न बातोंपर ध्यान देना अनिवार्य है। मैं ऊपर ही कह आया हूँ मेरा क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है। भारतीय जैन शिल्पका अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा जबतक वास्तुकलाके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर विकासात्मक प्रकाश डालने वाले साहित्यकी विविध शाखाओंका यथावत् अध्ययन न किया जाय; क्योंकि तक्षणकला और उसकी विशेषता में परस्पर साम्य होते हुए भी प्रान्तीय भेद या तात्कालिक लोकसंस्कृतिके कारण जो वैभिन्न पाया जाता है एवं उस समयके लोक जीवनको शिल्प कहाँ तक समुचिततया व्यक्त कर सका है। उस समयपर जो वास्तुकला विषयक ग्रन्थ पाये जाते हैं उनमे जिन जिन शिल्पकलात्मक कृतियोंके निर्माणका शास्त्रीय विधान निर्दिष्ट है उनका प्रवाह कलाकारोंकी पैनी छैनी द्वारा प्रस्तरोंपर परिष्कृतरूपमें कहाँ तक उतरा है? यहाँ तक कि शिल्पकला जब तात्कालिक संस्कृतिका प्रतिबिम्ब है तब उन दिनोंका प्रतिनिधित्व क्या सचमुच ये शिल्प कृतियाँ कर सकती हैं? आदि अनेक महत्वपूर्ण तथ्योंका परिचय तलस्पर्शी अध्ययन और मननके बाद ही सम्भव है। जैन अवशेषोंको समझनेके लिये सारे भारतवर्षमें पाये जाने वाले सभी श्रेणीके अवशेषोंका अध्ययन भी अनिवार्य है क्योंकि जैन और अजैन शिल्पात्मक कृतियोंका सृजन जो कलाकार करते थे वे प्रत्येक शताब्दीमें आवश्यक परिवर्तन करते हुए एक धारामें बहते थे, जैसा कि वास्तुकलाके अध्ययनसे विदित हुआ है। प्रान्तीय कलात्मक अवशेषोंको ही लीजिये उनमें साम्प्रदायिक तत्त्वोंका बहुत ही कम प्रभाव पायेंगे, परन्तु शिल्पियोंकी परम्परा जो चलती थी वह अपनी कलामें दक्ष और विशेषरूपसे योग्य थी। मध्यकालके प्रारम्भिक जो अवशेष हैं उनको बारहवीं शतीकी कृतियोंसे तोलें तो विहार, मध्यप्रान्त और बङ्गालकी कलामे कम अन्तर पाएँगे। मैंने कलचूरी और पालकालीन जैन तथा अजैन प्रतिमाओंका इसी दृष्टिसे संक्षिप्तावलोकन किया है उसपरसे मैंने सोचा है १०-१२ तक जो धारा चली वही तीर्थ प्रान्तोंको लेकर चली थी अन्तर था तो केवल बाह्य आभूषणोंका ही—जो सर्वथा स्वाभाविक है। कथनका तात्पर्य यह है कि एक परम्परामें भी प्रान्तीयकला भेदसे कुछ पार्थक्य दीखता है। प्राचीन लिपि और उनके क्रमिक विकासका ज्ञान भी विशेषरूपसे अपेक्षित है। मूर्तिविधानके अनेक अङ्गोंका अध्ययन ठोस होना अत्यन्त आवश्यक है। इतिहास और विभिन्न राजवंशोंके कालोंमे प्रचलित कलात्मक शैली आदि अनेक विषयोंका गम्भीर अध्ययन पुरातत्त्वके विद्यार्थियों को रखना पड़ता है। क्योंकि ज्ञानका क्षेत्र विस्तृत है। यह तो सांकेतिक ज्ञान ठहरा। उपर्युक्त पंक्तियोंको छोड़कर अन्य व्यक्तियोंकी जानकारी भी अपेक्षित है।

शिल्पकी आत्मा वास्तुशास्त्रमें निवास करती है। परन्तु जैन शिल्पका यदि अध्ययन करना हो तो हमें बहुत कुछ अंशोंमे इतर साहित्यपर निर्भर रहना पड़ेगा, कारण कि जैनोंने जो शिल्पकलाको प्रस्तरों पर प्रवाहित करने-करानेमें जो योगदान दिया है उसका शतांश भी साहित्यिकरूप देनेमें दिया होता तो आज हमारा मार्ग स्पष्ट और स्थिर हो जाता,

प्रसङ्गानुसार कुछ उल्लेख आते हैं जिनका सम्बन्ध शिल्पके एक अङ्ग-प्रतिमाओंसे है। यक्ष-यक्षिणी आदि की मूर्तियोंके निर्माणपर उनके आयुधोंपर कुछ प्रकाश डालने वाले "निर्वाणकलिका" जैसे ग्रन्थ हैं पर वे अपूर्ण ही कहे जा सकते हैं, जो कुछ हैं वे उस समय के हैं जबकि जैनसमाज शिल्पकलाकी साधनासे विमुख होचुका था या उसमें रुचिका अभाव था। ठक्कुर[1] फेरूने "वास्तुसार प्रकरण" अवश्य ही निर्माण किया है। प्रतिष्ठादिके साहित्यमें उल्लेख आये हैं पर सार्वभौमिक उपयोगिता नहींके बराबर है। अतः जैनोंको अपने अवशेषोंका अध्ययनकर प्रकाश मे लानेमें जरा कष्टका सामना करना पड़ेगा, साहित्य के अभावमे अवशेषोंसे ही शिल्पकलाका प्रकाश लेकर इसी प्रकाशसे अन्याय अवशेषोंकी गवेषणा करनी होगी, काम कठिन अवश्य है पर उपेक्षणीय भी तो नहीं है। श्रमजीवी और बुद्धिजीवी मानव-विद्वान ही इन समस्याओंको सुलझा सकते हैं[2]।

१ ठाकुर जैनसमाजके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थकार इतिहास प्रेमी सज्जनोंके प्रथमश्रेणीमें आते हैं इनके जीवन और कार्यके लिये देखें "विशाल भारत," मई जून सन् १६४७।

२ परिस्थितियोंपर विचार करनेके बाद यह प्रश्न तीव्रता-से उठता है कि जैन शिल्पकलाका इतिहास क्यों नहीं? जब प्रतीक मोजूद हैं तो इतिवृत्त अवश्य चाहिये। जैन विद्वानोंको गम्भीरतासे सोचकर एक ऐसी समिति नियुक्त कर देनी चाहिये, जो इसका अनुशीलन प्रारम्भ कर दे। इलाहाबाद विश्वविद्यालयके अध्यापक डा० प्रसन्नकुमार आचार्य और पटना वाले डा० विद्यापद भट्टाचार्य भारतीय शिल्प स्थापत्यकला और एतद्विषयक साहित्यके गम्भीर विद्वान् हैं। इनसे भी लाभ उठाना चाहिये।

आज भी गुजरात-काठियावाड़में सोमपुरा नामक एक जाति है जिसका प्रधान कार्य ही शास्त्रोक्त शिल्प-विद्याके संरक्षण एव विकासपर ध्यान देना है। ये प्राचीन जैन शिल्प स्थापत्यके भी विद्वान् और क्रियात्मक अनुभवी हैं। इन लोगोंकी मददसे एक आदर्श जैन शिल्पकला-सम्बन्धी ग्रन्थ अविलम्ब तैयार हो ही जाना चाहिये। इसमें इन बातोंका ध्यान रखा जाना अनिवार्य है कि जिन जिन प्रकारके शिल्पोल्लेख साहित्यमें आए हैं वे पाषाणपर कहा कैसे और कब उतरे हैं, इनका प्रभाव विशेषतः किन किन प्रान्तोंके जैन अवशेषोंपर पड़ा है, बादमें विकास कैसे हुआ, अजैनसे जैनोंने और जैनसे अजैन कलाकारोंने क्या लिया दिया आदि बातों-का उल्लेख सप्रमाण, सचित्र होना चाहिये। काम निःसंदेह श्रमसाध्य है पर असम्भव नहीं है, जैसा कि अकर्मण्य मान बैठते हैं।

जैन तक्षण कलावशेषोंको अध्ययनकी सुविधाके लिये, निम्न भागोंमें बाँट दें तो अनुचित न होगा:—

१ मन्दिर, २ गुफाएँ, ३ प्रतिमाएँ—(प्रस्तर धातु और काष्ठकी), ४ मानस्तम्भ, ५ अभिलेख—(शिलालेख व प्रतिमालेख), ६ फुटकर।

१ मन्दिर—

किसी भी आस्तिक सम्प्रदायके लिये उसका अपना आराधना-स्थान होना बहुत आवश्यक है, जहाँपर आध्यात्मिक साधना की जासके।

जैनसमाजने पूर्वकालमें पर्याप्त मन्दिरोंका निर्माण बड़े उत्साह पूर्वक किया, जिनमेंसे कुछ तो भारतीय तक्षणकलाके उत्कृष्टतम नमूने हैं। इन मन्दिरोंकी रचना-पद्धति अन्य सम्प्रदायोंकी आराधना-स्थानोंकी अपेक्षासे बहुत ही उन्नत और आंशिकरूपमें स्वतन्त्र भी है। भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें मन्दिर पाये जाते हैं वे अपनी पृथक्-पृथक् विशेषता रखते हैं। इनके निर्माणका हेतु भी अत्यन्त व्यापक था, वास्तुशास्त्रमें आया है धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी साधनाके लिये मन्दिरोंकी सृष्टि होती है। यह सिद्धान्त इतर मन्दिरोंपर सोलहों आना चरितार्थ होता है, परन्तु हाँ, प्राचीन जैन मन्दिरोंके अवलोकनसे विदित होता है कि जैनोंने इनको लोकभोग्य—आकर्षक—बनानेका भरसक प्रयास किया था, मन्दिरोंके बाहरके भागमे जो पंक्तिबद्ध अलंकरण एव शिखरके निम्न भागमे जो भिन्न-भिन्न शिल्पके स्थान हैं उनमे तात्कालिक लोक जीवनके तत्त्व कहीं-कहीं खोदे गये हैं। शिखर निर्माणकलाको तो जैनोंकी मौलिक देन कहें तो कुछ

अंशोंमें अनुचित नहीं। पश्चिम भारतके प्राय: तमाम मन्दिरोंके शिखर एक ही पद्धतिके हैं। अन्य प्रान्तोंमें वहाँके प्रान्तीय तत्त्वोंका प्रभाव है। गर्भगृह, नवचौकी, सभामण्डप आदिमें अन्तर नहीं, परन्तु मन्दिरमें गर्भगृहके अग्रभागमें सुन्दर तोरण, स्तम्भ एवं तदुपरि विविधवाद्यादि सङ्गीतोपकरण धारक पुतलियाँ, उनका शारीरिक गठन, अभिनय, आभूषण तथा शिखरके ऊपरके भागमें जो अलङ्करण हैं उनमें प्रान्तीय कलाका प्रभाव पाया जाना सर्वथा स्वाभविक है। जैनमन्दिरोंके निर्माणका सब अधिकार सोमपुराओंको था, वे आज भी प्राचीन पद्धतिके प्रतीक हैं, जिनमें भाई शङ्कर भाई और प्रभाशङ्कर भाई, नर्मदाशङ्कर आदि प्रमुख हैं। पं० भगवानदास जैन भी शिल्पविद्याके दक्ष पुरुषोंमे हैं। आबू, जैसलमेर, राणकपुर, पालिताना, खजुराहा, देवगढ़ और श्रवणबेल्गोला, जैनकाञ्ची, पाटन आदि अनेक नगरोंके मन्दिर स्थापत्यकलाके मुखको उज्ज्वल करते है। आबूके तोरण-स्तम्भ और मधुच्छत्र भारतमे विख्यात है। मध्यकालीन जैन शिल्पकलाके विकासके जो उदाहरण मिले हैं उनमें अधिकांश जैनमन्दिर ही है। इनके क्रमिक इतिहासपर प्रकाश डालने वाला एक भी ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ, जिससे अजैनकलाप्रेमी भी जैनकलासे लाभान्वित होसकें। यह इतिहास तैयार होगा तब बहुतसे ऐसे तत्त्व प्रकाशमें आवेंगे जो आज तक वास्तुकलाके इतिहासमे आये ही नहीं। न जाने उस स्वर्ण दिनका कब उदय होगा?

कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी ओरसे हाल हीमें "हिन्दु टेम्पिल" नामक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ दो भागोंमें प्रकाशित हुआ है जिसे एक हंगेरियन स्त्री डॉ० स्टेलाक्रेमशीशने वर्षोंके परिश्रमसे तैयार किया है। इसमें भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंमे पाये जाने वाले प्रधानत: हिन्दूमान्य मन्दिर, उनका वास्तुशास्त्र की दृष्टिसे विवेचन, मन्दिरोंमें पाई जाने वाली अनेक शिल्पकृतियोंके जो चित्र प्रकाशित किये है वे ही उन की महत्ताके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मैंने अपनी परिचिता डॉ० स्टेलाक्रेमशीशसे यों ही बातचीतके सिलसिलेमे कहा कि आपका कार्य त्रुटिपूर्ण है क्योंकि इनमें जैन मन्दिरोंकी पूर्णत: उपेक्षा कीगई है जो कलाकौशलमें किसी दृष्टिसे प्रकाशित चित्रोंसे कम नहीं पर बढ़कर हैं। वह कहने लगी मैं करूँ क्या मुझे जो सामग्री मिली है उसके पीछे कितना श्रम करना पड़ा है आप जानते हैं।

मैं तो बहुत ही लज्जित हुआ कि आजके युगमें भी हमारा समाज संशोधकको न जाने क्यों घृणित दृष्टिसे देखता है। मेरे लिखनेका तात्पर्य इतना ही है कि हमारी सुस्ती हमे ही बुरी तरह खाये जारही है, इससे तो दु:ख होता है। न जाने आगामी सांस्कृतिक निर्माणमे जैनोंका जैसा योगदान रहेगा, वे तो अपने ही इतिहासके साधनोंपर उपेक्षित मनोवृत्ति रक्खे हुए है। जैन मन्दिरोंमेसे जो भरतीय शिल्प और वास्तुकलाकी दृष्टिसे अनुपम मन्दिर हैं उनका एक आल्बम तैयार होना चाहिए जिसमे मन्दिर और उनकी कला के क्रमिक विकासपर आलोक डालने वाला विस्तृत प्रास्ताविक भी हो।

२ गुफाएं—

जिस प्रकार मन्दिरोंकी संख्या पाई जाती है उतनी गुफाओंकी संख्या नहीं है गुफाओंको यदि कुछ अंशोंमे मन्दिरोंका अविकसितरूप मानें तो अनुचित नहीं, यह रामटेक, चाँदवड, एलोरा, ढङ्क आदि पर्वतोत्कीर्ण गुफाओंसे प्रमाणित होता है। इनका इतिहास तो पूर्णान्धकाराच्छन्न है, जो कुछ गजेटियर्स और आँग्ल पुरातत्त्ववेत्ताओंने लिखा है उसीपर आधार रखना पड़ता है। इनमे एक भूल यह होगई है कि बहुसंख्यक जैन गुफाएँ बौद्धस्थापत्यावशेषोंके रूपमें आज भी मानी जाती है। उदाहरणके लिये राजगृहस्थित रोहिणेयकी ही गुफा लीजिये, जो पाँचवें पहाड़पर अवस्थित है। जनता इसे "सप्तपर्णी गुफा" के रूपमें पहचानती है आश्चर्य तो इस बात का है कि पुरातत्त्व विभागकी ओरसे बोड भी वैसा ही लगा है। और भी ऐसे अनेक जैन सांस्कृतिक प्रतीक मैंने देखे हैं जो इतर सम्प्रदायोंके नाम

से सम्बद्ध हैं[1]।

गुफाओंका निर्माण जिन विशेष परिस्थितियोंमें किया गया था वे तत्त्व ही आज विलुप्तप्राय हैं। आध्यात्मिक साधनाके उन्नत पथपर अग्रसर होने वाली भव्यात्माएँ यहाँपर निवास कर, दर्शनार्थ आकर अपूर्व शान्तिका अनुभव कर आत्मिकतत्त्वके रहस्य तक पहुँचनेका शुभ प्रयास करती थीं, प्राकृतिक वायुमण्डल भी पूर्णतः उनके अनुकूल था, स्वाभाविक शान्ति ही चित्तवृत्तियोंको स्थिरकर एक निश्चित मार्ग की ओर जानेके लिये इंगित करती है। इनमें उत्कीर्णित विशालकाय ध्यानावस्थित जिन-प्रतिमाएँ प्रत्येक दर्शनार्थीको एक बहुत बड़ा अनुपम सौंदर्य देती है, राग, द्वेष, मद, प्रमाद तथा आत्मिक प्रवञ्चनाओंसे बचनेके लिये, शून्यध्यानमें विरत होनेमें जो माहात्म्य देती हैं वह अन्यत्र कहाँ? कुछ गुफाएँ तो अनेक जिनमूर्ति एवं तदङ्गीभूत समस्त उपकरणोंसे सुसज्जित दृष्टिगोचर होती है जिनको देखनेसे अवभासित होता है कि मानो यहाँ शिल्पकला उन कलाकारोंकी जीवित शैलीका तीव्र परिचय कराती है कथनका तात्पर्य यह कि मानवोंके दैनिक जीवन और उनके प्रति औदासीन्यभावोंकी प्रेरणात्मक जागृति कराने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोंका समीकरण दृष्टिगोचर होता है। मानवके उन्नत मस्तिष्कके चरम विकासका जीवन प्रतीक हमें वहाँ दीखता है।

इन गुफाओंके दो प्रकार किसी समय रहे होंगे या एक ही गुफामें दोनोंका समावेश हुआ होगा, कारण कि जैनोंका सांस्कृतिक इतिहास हमें बताता है कि पूर्वकालमें जैनमुनि अरण्यमें ही निवास करते थे केवल भिक्षार्थ—गोचरीके लिये—ही नगरमें पधारते थे। ऐसी स्थितिमें लोग व्याख्यानादि औपदेशिक वाणीका अमृतपान करनेके लिये जङ्गलोंमें जाया करते थे जैसाकि पौराणिक जैन आख्यानोंसे विदित होता है जिनमन्दिरकी आत्मा—प्रतिमाएँ भी नगरके बाहिर गुफाओंमें अवस्थित रहा करतीं थीं। ऐसी स्थितिमें सहजमें कल्पना जागृत हो उठती है कि या तो दोनोंके लिये स्वतन्त्र स्थान रहे होंगे या एक हीमें दोनोंके लिये पृथक् पृथक् स्थान रहे होंगे, मैंने कुछ गुफाएँ ऐसी देखी भी हैं। प्राचीन मन्दिरके नगर बाहर बनाए जानेका भी यही कारण है। मेवाड़ादि प्रदेशोंमें जो जैन मन्दिर जङ्गलोंमें बहुत बड़ी संख्यामें उपलब्ध होते हैं वे गुफाओंकी पद्धतिके अवशेषमात्र हैं। वहाँ ताला वगैरह लगानेकी आवश्यकता ही क्या थी? क्योंकि वहाँ न तो आभूषण थे और न वैसी संपत्ति के लूटे जानेका ही कोई भय था, यह प्रथा बड़ी सुन्दर और सर्व लोगोंके दर्शनके लिये उपयुक्त थी। आज दशा भिन्न है। यही कारण है कि आज निवृत्ति प्रधान जैन संस्कृतिका प्रवाह रुक-सा गया है।

प्राचीन गुफाओंमें उदयगिरी खण्डगिरी, अइहोल सित्तन्नवासल्ल ……… चाँदवाड़, रामटेक, एलूरा। इन गुफाओंसे मानना होगा कि दशम शती तक सात्विक प्रथाका परिपालन होता था) ढङ्कगिरी, जोगीमारा, गिरनार आदि विभिन्न प्रान्तोंमें पाई जाने वाली अति प्राचीन और भारतीय तक्षणकलाकी उत्कृष्ट मौलिक सामग्री है। गुफाओंके सौन्दर्य अभिवृद्धि करनेके ध्यानसे जोगीमारा, सित्तन्नवासल्ल आदि में चित्रोंका अङ्कन भी किया गया था, इन भित्तिचित्रोंकी परम्पराको मध्यकालमें बहुत बड़ा बल मिला, भारतीय चित्रकला विशारदोंका तो अनुभव है कि आज तक किसी न किसी रूपमें जैनोंने भित्तिचित्र परम्पराके विशुद्ध प्रवाहको आज तक कुछ अंशतक सुरक्षित रखा है।

ता० ८-३-४८को शान्तिनिकेतनमें कलाभवनके आचार्य और चित्रकलाके परम मर्मज्ञ श्रीमान् नन्दलालजी बोसको मैंने अपने पासकी हस्तलिखित जैन सचित्र कृतियाँ एवं बड़ौदा निवासी श्रीमान् डॉ०

---

१ राजगृहमें शालिभद्रका एक सुन्दर विशाल 'निर्माल्यकूप' है जिसे आजकल "मणिमारमठ" कहते हैं। मणिनाग नामक कोई बौद्ध महन्त थे, अतः उनके नामके साथ यह प्राचीन स्मारक जुड़ गया, सांस्कृतिक पतनका इससे बढ़ कर और क्या उदाहरण मिल सकता है। भारतमें ऐसे स्मारक बहुत हैं, विद्वान लोग प्रकाश डालें। मुगलकाल की मस्जिदें पूर्वमें जैन मन्दिर थे।

अंशोंमें अनुचित नहीं। पश्चिम भारतके प्रायः तमाम मन्दिरोंके शिखर एक ही पद्धतिके हैं। अन्य प्रान्तोंमें वहाँके प्रान्तीय तत्त्वोंका प्रभाव है। गर्भगृह, नवचौकी, सभामण्डप आदिमे अन्तर नहीं, परन्तु मन्दिरमे गर्भगृहके अग्रभागमे सुन्दर तोरण, स्तम्भ एवं तदुपरि विविधवाद्यादि सङ्गीतोपकरण धारक पुतलियाँ, उनका शारीरिक गठन, अभिनय, आभूषण तथा शिखरके ऊपरके भागमे जो अलङ्करण हैं उनमें प्रान्तीय कलाका प्रभाव पाया जाना सर्वथा स्वाभविक है। जैनमन्दिरोंके निर्माणका सब अधिकार सोमपुराओंको था, वे आज भी प्राचीन पद्धतिके प्रतीक हैं, जिनमे भाई शङ्कर भाई और प्रभाशङ्कर भाई, नर्मदाशङ्कर आदि प्रमुख है। प० भगवानदास जैन भी शिल्पविद्याके दक्ष पुरुषोंमे है। आबू, जैसलमेर, राणकपुर, पालिताना, खजुराहा, देवगढ़ और श्रवणबेल्गोला, जैनकाञ्ची, पाटन आदि अनेक नगरोंके मन्दिर स्थापत्यकलाके मुखको उज्ज्वल करते है। आबूके तोरण-स्तम्भ और मधुच्छत्र भारतमे विख्यात है। मध्यकालीन जैन शिल्पकलाके विकासके जो उदाहरण मिले हैं उनमे अधिकांश जैनमन्दिर ही है। इनके क्रमिक इतिहासपर प्रकाश डालने वाला एक भी ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ, जिससे अजैनकलाप्रेमी भी जैनकलासे लाभान्वित होसकें। यह इतिहास तैयार होगा तब बहुतसे ऐसे तत्त्व प्रकाशमे आवेंगे जो आज तक वास्तुकलाके इतिहासमे आये ही नहीं। न जाने उस स्वर्ण दिनका कब उदय होगा?

कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी ओरसे हाल हीमें "हिन्दु टेम्पिल" नामक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ दो भागोंमें प्रकाशित हुआ है जिसे एक हंगेरियन स्त्री डॉ० स्टेलाक्रेमशीशने वर्षोंके परिश्रमसे तैयार किया है। इसमे भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंमे पाये जाने वाले प्रधानतः हिन्दूमान्य मन्दिर, उनका वास्तुशास्त्र की दृष्टिसे विवेचन, मन्दिरोंमें पाई जाने वाली अनेक शिल्पकृतियोंके जो चित्र प्रकाशित किये है वे ही उन की महत्ताके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मैने अपनी परिचिता डॉ० स्टेलाक्रेमशीशसे यों ही बातचीतके सिलसिलेमे कहा कि आपका कार्य त्रुटिपूर्ण है क्योंकि इनमें जैन मन्दिरोंकी पूर्णतः उपेक्षा कीगई है जो कलाकौशलमें किसी दृष्टिसे प्रकाशित चित्रोंसे कम नहीं पर बढ़कर है। वह कहने लगी मैं करूँ क्या मुझे जो सामग्री मिली है उसके पीछे कितना श्रम करना पड़ा है आप जानते हैं।

मैं तो बहुत ही लज्जित हुआ कि आजके युगमें भी हमारा समाज सशोधकको न जाने क्यों घृणित दृष्टिसे देखता है। मेरे लिखनेका तात्पर्य इतना ही है कि हमारी सुस्ती हमे ही बुरी तरह खाये जारही है, इससे तो दुःख होता है। न जाने आगामी सांस्कृतिक निर्माणमे जैनोंका जैसा योगदान रहेगा, वे तो अपने ही इतिहासके साधनोंपर उपेक्षित मनोवृत्ति रक्खे हुए है। जैन मन्दिरोंमेंसे जो भरतीय शिल्प और वास्तुकलाकी दृष्टिसे अनुपम मन्दिर हैं उनका एक आल्बम तैयार होना चाहिए जिसमे मन्दिर और उनकी कला के क्रमिक विकासपर आलोक डालने वाला विस्तृत प्रास्ताविक भी हो।

२ गुफाएं—

जिस प्रकार मन्दिरोंकी संख्या पाई जाती है उतनी गुफाओंकी सख्या नहीं है गुफाओंको यदि कुछ अशोंमे मन्दिरोंका अविकसितरूप माने तो अनुचित नहीं, यह रामटेक, चाँदवड, एलोरा, ढङ्क आदि पर्वतोत्कीर्ण गुफाओंसे प्रमाणित होता है। इनका इतिहास तो पूर्णान्धकाराच्छन्न है, जो कुछ गजेटियर्स और आँग्ल पुरातत्त्ववेत्ताओंने लिखा है उसीपर आधार रखना पड़ता है। इनमे एक भूल यह होगई है कि बहुसंख्यक जैन गुफाएँ बौद्धस्थापत्यावशेषोंके रूपमे आज भी मानी जाती है। उदाहरणके लिये राजगृहस्थित रोहिणेयकी ही गुफा लीजिये, जो पाँचवें पहाड़पर अवस्थित है। जनता इसे "सप्तपर्णी गुफा" के रूपमें पहचानती है आश्चर्य तो इस बात का है कि पुरातत्त्व विभागकी ओरसे बोर्ड भी वसा ही लगा है। और भी ऐसे अनेक जैन सांस्कृतिक प्रतीक मैंने देखे है जो इतर सम्प्रदायोंके नाम

से सम्बद्ध है'।

गुफाओंका निर्माण जिन विशेष परिस्थितियोंमें किया गया था वे तत्त्व ही आज विलुप्तप्राय है। आध्यात्मिक साधनाके उन्नत पथपर अग्रसर होने वाली भव्यात्माएँ यहाँपर निवास कर, दर्शनार्थ आकर अपूर्व शान्तिका अनुभव कर आत्मिकतत्त्वके रहस्य तक पहुँचनेका शुभ प्रयास करती थीं, प्राकृतिक वायुमण्डल भी पूर्णत उनके अनुकूल था, स्वाभाविक शान्ति ही चित्तवृत्तियोंको स्थिरकर एक निश्चित मार्ग की ओर जानेके लिये इंगित करती है। इनमें उत्कीर्णित विशालकाय ध्यानावस्थित जिन-प्रतिमाएँ प्रत्येक दर्शनार्थीको एक बहुत बड़ा अनुपम सौंदर्य देती है, राग, द्वेष, मद, प्रमाद तथा आत्मिक प्रवञ्चनाओंसे बचनेके लिये, शून्यध्यानमें विरत होनेमें जो साहाय्य देती है वह अन्यत्र कहाँ? कुछ गुफाएँ तो अनेक जिनमूर्ति एवं तदङ्गीभूत समस्त उपकरणोंसे सुसज्जित दृष्टिगोचर होती हैं जिनको देखनेमें अवभासित होता है कि मानो यहाँ शिल्पकला उन कलाकारोंकी जीवित छैनीका तीव्र परिचय कराती है कथनका तात्पर्य यह कि मानवोंके दैनिक जीवन और उनके प्रति औदासीन्यभावोंकी प्रेरणात्मक जागृति कराने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वोंका समीकरण दृष्टिगोचर होता है। मानवके उन्नत मस्तिष्कके चरम विकासका जीवन प्रतीक हमें वहाँ दीखता है।

इन गुफाओंके दो प्रकार किसी समय रहे होंगे या एक ही गुफामें दोनोंका समावेश हुआ होगा, कारण कि जैनोंका सांस्कृतिक इतिहास हमें बताता है कि पूर्वकालमें जैनमुनि अरण्यमें ही निवास करते थे केवल भिक्षार्थ—गोचरीके लिये—ही नगरमें पधारते थे। ऐसी स्थितिमें लोग व्याख्यानादि औपदेशिक वाणीका अमृतपान करनेके लिये जङ्गलोंमें जाया करते थे जैसाकि पौराणिक जैन आख्यानोंसे विदित होता है जिनमन्दिरकी आत्मा—प्रतिमाएँ भी नगरके बाहिर गुफाओंमें अवस्थित रहा करतीं थी। ऐसी स्थितिमें सहजमें कल्पना जागृत हो उठती है कि या तो दोनोंके लिये स्वतन्त्र स्थान रहे होंगे या एक हीमें दोनोंके लिये पृथक् पृथक् स्थान रहे होंगे, मैंने कुछ गुफाएँ ऐसी देखी भी हैं। प्राचीन मन्दिरके नगर बाहर बनाए जानेका भी यही कारण है। मेवाड़ादि प्रदेशोंमें जो जैन मन्दिर जङ्गलोंमें बहुत बड़ी संख्यामें उपलब्ध होते हैं वे गुफाओंकी पद्धतिके अवशेषमात्र है। वहाँ ताला वगैरह लगानेकी आवश्यकता ही क्या थी? क्योंकि वहाँ न तो आभूषण थे और न वैसी सम्पत्ति के लूटे जानेका ही कोई भय था, यह प्रथा बड़ी सुन्दर और सर्व लोगोंके दर्शनके लिये उपयुक्त थी। आज दशा भिन्न है। यही कारण है कि आज निवृत्ति प्रधान जैन संस्कृतिका प्रवाह रुक-सा गया है।

प्राचीन गुफाओंमें उदयगिरी खण्डगिरी, अइहोल सित्तन्नवासल्ल ········ चाँदवाड़, रामटेक, एलूरा। इन गुफाओंसे मानना होगा कि दशम शती तक सात्त्विक प्रथाका परिपालन होता था) ढङ्कगिरी, जोगीमारा, गिरनार आदि विभिन्न प्रान्तोंमें पाई जाने वाली खानि प्राचीन और भारतीय तक्षणकलाकी उत्कृष्ट मौलिक सामग्री है। गुफाओंके सौन्दर्य अभिवृद्धि करनेके ध्यानमें जोगीमारा, सित्तन्नवासल्ल आदि में चित्रोंका अङ्कन भी किया गया था, इन भित्तिचित्रोंकी परम्पराको मध्यकालमें बहुत बड़ा बल मिला, भारतीय चित्रकला विशारदोंका तो अनुभव है कि आज तक किसी न किसी रूपमें जैनोंने भित्तिचित्र परम्पराके विशुद्ध प्रवाहको आज तक कुछ अंशतक सुरक्षित रखा है।

ता० ८-३-४८को शान्तिनिकेतनमें कलाभवनके आचार्य और चित्रकलाके परम मर्मज्ञ श्रीमान् नन्दलालजी बोसको मैंने अपने पासकी हस्तलिखित जैन सचित्र कृतियाँ एवं बड़ौदा निवासी श्रीमान् डॉ०

---

१ राजगृहमें शालिभद्रका एक सुन्दर विशाल 'निर्माल्यकूप' है जिसे आजकल "मणिमारमठ" कहते हैं। मणिनाग नामक कोई बौद्ध महन्त थे, अतः उनके नामके साथ यह प्राचीन स्मारक जुड़ गया, सांस्कृतिक पतनका इससे बढ़ कर और क्या उदाहरण मिल सकता है। भारतमें ऐसे स्मारक बहुत हैं, विद्वान लोग प्रकाश डालें। मुगलकाल की मस्जिदें पूर्वमें जैन मन्दिर थे।

मंजूलाल भाई मजूमदार-द्वारा प्रेषित दुर्गासप्रशनीके मध्यका लीन चित्र बतलाये, उन्होंने देखते ही इनकी कला और परम्परापर छोटासा व्याख्यान दे डाला जो आज भी मेरे मस्तिष्कमे गुञ्जायमान होरहा है। उसका सार यही था कि इन कलात्मक चित्रोंपर एलोराकी चित्र और शिल्पकलाका बहुत प्रभाव है। जैन-शैलीके विकासात्मक तत्त्वोंका मूल बहुत अशोंमें एलोरा ही रहा है। चेहरे और चक्षु तो सर्वथा उनकी देन है। रङ्ग और रेखाओंपर आपने कहा कि जिन-जिन रङ्गोंका व्यवहार एलोराके चित्रोंमे हुआ है वे ही रङ्ग और रेखाएँ आगे चलकर जैन-चित्रकलामे विकसित हुई। यह तो एक उदाहरण है इसीसे समझा जा सकता है कि जैन-चित्रकलाकी दृष्टिसे भी इन स्थापत्यावशेषोंका कितना बड़ा महत्व है जिनको हम भूलते चले जारहे है।

ज्यों-ज्यों सामाजिक और राजनैतिक समस्याएँ खड़ी होती गई या स्पष्ट कहा जाय तो विकसित होती गई त्यों-त्यों पर्वतोंमे गुफाओंका निर्माण कम होता गया और आध्यात्मिक शान्तिप्रद स्थानोंकी सृष्टि जनावास—नगरों—मे होने लगी। इतिहास इसका साक्षी है। मेरा तो वैयक्तिक मानना है कि इससे हमारी क्षति ही हुई, स्थानोंकी अभिवृद्धि अवश्य ही हुई परन्तु वह आत्मविहीन शरीरमात्र रह गई। प्रकृतिसे जो सम्बन्ध स्थापित था वह रुक गया, जो आनन्द कुटियामे—जहाँ आवश्यकताओंकी कमी पर ही ध्यान दिया जाता था—है वह महलोंमे कहाँ? स्व० महात्माजीका निवास इसका प्रतीक है। शान्ति-निकेतनमे मैंने महात्माजीका निवास स्थान देखा, दूर से विदित होता है मानो कोई गुफा बनी हुई है, भीतरी व्यवस्था भी पूर्व स्मृतिका स्मरण करा देती है।

उपर्युक्त पक्ति कथित (?) साधन हमारी संस्कृति के वास्तविक रूपको प्रकट करते है। भारतीय स्थापत्यकलाका चरम विकास उन्हींमे अन्तर्निहित है। परन्तु जैनोंने अपनी इस निधिको आजतक उपेक्षित वृत्तिसे देखा। मै तो चाहता हूँ अब समय आगया है इन गुफाओंका विस्तृत अध्ययन कर उनकी शिल्प-कलापर विस्तृत विवेचनात्मक प्रकाश डालनेवाला विवरण एवं महत्वपूर्ण भागोंके चित्र देकर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जाना चाहिए। यह इतिहास हमारी संस्कृतिके महत्वपूर्ण अङ्ग जो देवस्थान, मुनिस्थान हैं उनके विकासपर बहुत बड़ा प्रकाश डालेगा। भारतीय पुरातत्त्व-विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल श्रीमान् हरगोविन्दलाल श्रीवास्तव जैन-गुफाओंपर काम करनेवाले जैन विद्वानोंकी खोजमे है वे हर तरहसे सहायता प्रदान करनेको कटिबद्ध भी है, जैनोंको ऐसा सुअवसर हाथसे न जाने देना चाहिए। अस्तु।

३ प्रतिमाएं—निम्न उपविभागोंमे विभाजितकी जा सकती है:—

(अ) तीर्थंकरोंकी प्रस्तर प्रतिमाएँ
(आ) तीर्थंकरोंकी धातु प्रतिमाएँ
(इ) तीर्थंकरोंकी काष्ठ प्रतिमाएँ
(ई) यक्ष-यक्षिणीकी प्रतिमाएँ
(उ) फुटकर

(अ) प्रथम भागको हम अपनी अधिक सुविधा के लिये दो उपभागोंमे बाँटेंगे।

१ मथुराकी प्रतिमाओंसे लगाकर १०वीं शती तक की समस्त पाषाण प्रतिमाएं एव आयाग पट्ट मिले है उनका महत्व सर्वोपरि है। प्राप्त जैन प्रतिमाओंमे यहाँके कंकाली टीलेमे प्राप्त प्रतिमाएँ एव अन्य जैनावशेष सर्व प्राचीन है। मूर्तिका आकार-प्रकार भी अच्छा ही है। गुप्तोंके समयमे मूर्ति निर्माणकलाकी धारा तीव्रगतिसे प्रवाहित होरही थी। बौद्धोंने इससे खूब लाभ उठाया, क्योंकि उस समयका वायुमण्डल अनुरूप था। नालदाको अभी ही गत मास मुझे देखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था, यहाँपर जो जैन प्रतिमाएँ अवस्थित है वे मथुराके बाद बनने वाली प्रतिमाओंमे उच्च है, गुप्तकालीन कलाका प्रभाव उनपर बहुत अधिक पड़ा है। इनके सम्मुख घण्टों बैठे रहिए मन बड़ा प्रसन्न होकर आध्यात्मिक शक्तिका अनुभव करने लगता है। शुभ परिणामोंकी धारा बहने लगती है। अनेकों सात्विक विचार और परम वीतराग परमात्माके जीवनके रहस्यमय तत्त्व मस्तिष्कमे

चक्कर लगाते रहते है। विहार प्रान्त प्राचीन जैन प्रतिमाओंका विशाल केन्द्र रहा मालूम होता है। कुण्डलपुर, राजगृह, विहार, पटना, लछुवाड़ आदि कुछ नगरोंमें मैंने प्राचीन और प्रायः एक ही पद्धतिकी २५-३० प्रतिमाएँ (गुप्त और अन्तिम गुप्तकालीन) देखी है। इनपरसे मेरा तो मत और भी दृढ़ होगया है कि भारतमें जैन और बौद्ध दो ही ऐसे लोक कल्याणकारी सम्प्रदाय हैं जिनकी प्रतिमाओंके सामने बैठनेसे अत्यधिक आनन्दका अनुभव होता है। विशुद्ध भावोंकी सृष्टि होती है। अद्भुत प्रेरणा मिलती है।

उपर्युक्त कालकी जो देखनेमे प्रतिमाएँ आई उनपर लेख बहुत ही कम मिलते है, जो है वे बौद्धनोटो "ये धम्मा" है, कारण कि १०वीं शती पूर्व वैसी प्रथा ही कम थी। लान्छन भी सम्भवतः नहीं मिलते, केवल पार्श्वनाथ ऋषभदेव (केशावली और कभी-कभी वृषभका चिह्न कहीं मिल जाता है) इन तीर्थंकरोंके चिह्न तो मिलते है पर अन्य नहीं मिलते, परन्तु लॉछन स्थानपर दोनों मृगोंके बीच "धर्मचक्र" मिलता है जिसे बहुतसे लोग सुन्दर कमलाकृति समझ बैठते है।

पुरा. दृष्टिसे जैन प्रतिमाओंका यह मौलिक चिह्न है। यह जैन धर्मका प्रधान और परम पवित्र प्रतीक है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव स्वामीजीने इसकी प्रवर्तनाकी थी और बादमें ईस्वी पूर्व ३-४ शदीमे जैनोंसे बौद्धोंने इस चिह्नको अपना लिया, अशोकने इसे जिन शिल्प स्थापत्योंमे स्थान दे दिया वे प्रकाशमें आगये और जैन अवशेष दबे पडे रहे, अतः पुरातत्व विभाग और भारत सरकारके प्रधान कार्यकर्ताओंने इसे अशोककी मौलिक कृत्ति मानकर राष्ट्रध्वजपर भी स्थान दे दिया, निष्पक्षपात मनोभावोंसे यदि देखे तो मानना होगा कि धर्मचक्र जैन संस्कृतिकी मुख्य वस्तु है। इसका प्रधान कारण यह भी है कि गुप्त या अन्तिम गुप्तकालके अनन्तर भी प्रतिमाओंमे और विशेषकर धातुकी मूर्तियोंमे धर्मचक्रका बराबर स्थान रहा है। हजारों प्रतिमाएँ इसके उदाहरण स्वरूप उपस्थितकी जा सकती है। कहीं-कहीं तो आधा भाग ही है। जैनोंकी बेदरकारीके कारण न जाने संस्कृति को कितना नुकसान उठाना पड़ेगा, इस बातका अनुभव जैनोंको करना चाहिए।

मुझे यहाँपर बिना किसी अतिशयोक्तिके साथ कहना चाहिए कि उपर्युक्त वर्णित जैन-प्रतिमाएँ गुप्त-कालीन बौद्ध मूर्तियोंसे संतुलित की जा सकती हैं। इस युगमें प्रतिमाएँ एक पाषाणपर उत्कीर्णकर चारों ओर काफी रिक्त स्थान छोड दिया जाता था। इस युगकी जो प्रतिमाएँ प्राप्त होती है उनमे श्वेताम्बर दिगम्बरका कोई भेद भी पाया नहीं जाता, मालूम होता है ज्यों-ज्यों साम्प्रदायिकता बढी त्यों-त्यों शिल्पमें विकृति आने लगी।

२ इस विभागमें वे मूर्तियाँ रखी जा सकती हैं जो १०वीं शताब्दीकी है। उत्तरकालमे २०० वर्षोंतक तो कलाकारोंके हृदय, मस्तिष्क और हाथ बराबर कलात्मक सृजनमें लगे रहे, पर बादमे तो केवल हाथ ही काम करते रहे। न मस्तिष्कमें विविध उदात्तभाव रहे न हृदय ही सात्विक था और न उनके अङ्गोंमें वह शक्ति रह गई थी जो सजीव आकृति निर्मित कर सके। ऐसी स्थितिमें कला-कौशलकी धारा शुष्क हो गई, यही कारण है कि बादकी अधिकांश मूर्तियाँ कला-विहीन और भद्दी मालूम देती है। हाँ कलचुरी, पाल, गङ्ग और चालुक्यों आदिके शासन-कालके कुछ अवशेष ऐसे है जिनके दर्शनसे कला-मर्मीज्ञक सन्तुष्ट हो सकता है। १३वीं शतीके अनन्तर मूर्तियाँ प्रायः धार्मिक दृष्टिसे ही महत्वकी रहीं, कलाकी दृष्टिसे नहीं। मुझे इसके दो प्रधान कारण मालूम होते हैं। प्रत्येक राष्ट्रकी राजनीतिका प्रभाव भी उसकी सभ्यता और संस्कृतिके विकासमें महत्वका भाग रखता है। १३वीं शतीके बाद भारतकी राजनैतिक स्थिति और विशेष-कर जहाँ जैनोंका अधिकांश भाग रहता था वहाँकी तो स्थिति अत्यन्त भीषण थी। विदेशी आक्रमण प्रारम्भ होगये थे, जान-मालकी चिन्ता जहाँ सवार हो वहाँ कलात्मक सृजनपर कौन ध्यान देता है? ऐसी स्थितिमें पाषाणकी प्रतिमाकी अपेक्षा लघुतम

धातु-मूर्तियोंका निर्माण अधिक होने लगा जो गृहमे भी आसानीसे रखी जा सकती है। दसवीं शतीके बादकी प्रतिमाएँ आजतक बहुत ही कम प्रकाशमे आई हैं। मध्यप्रान्तमे जबलपुर, धुनसौर, सिवनी आदि नगरोंमे इस युगकी प्रतिमा-सामग्री है। १६वीं शताब्दीमे जीवराज पापडीवालने तो गजब ढा दिया, हजारों प्रतिमाएँ तो आजतक मै देख चुका हूँ। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तो दूरसे ही पहचानी जाती है। हाँ, इस युगकी प्रतिमाओंपर लेख खूब विस्तृतरूपसे मिलते हैं। जो मूर्तियाँ मिली हैं वे स्वतन्त्र फलकपर इसप्रकार बनाई है कि मानो आगे स्थान ही नहीं रहा। कहनेका तात्पर्य यह है कि परिकरवाली प्रतिमाएँ कम मिली है। जो है वे ११से १३वी शती तककी ही सुन्दर है। पूर्वकालमे परिकरके स्थानपर प्राय: प्रतिमाएँ या चामरादि लिये परिचायक, छत्र चामरादिसे विभूषित देव है—अष्ट प्रातिहारिज है।

३ (आ) इस श्रेणीमे वे मूर्तियाँ आजाती हैं जो सप्तधातुओंसे बनी है। इसप्रकारकी प्रतिमाएँ पाषाण की अपेक्षा सुरक्षा और कला-कौशलकी दृष्टिसे अधिक उपयोगी है। पाषाणकी प्राचीन प्रतिमाएँ देखते है तो कहीं पपड़ी खिर जाती है या जमीनमे खुदाईके समय खण्डित होजाती है। धातुमूर्तिको कोई स्वर्णके लोभ से गला भले ही दे .... पर खण्डित नहीं कर सकता। कलाकारको भी इनके निर्माणमे अपेक्षाकृत कम श्रम करना पड़ता है; क्योंकि ये ढाली जाती थीं। धातुमूर्तियोंका इतिहास तो बहुत ही अन्धकारमे है। यद्यपि कुछेक चित्र अवश्य ही प्रकट हुए है पर उनकी सार्वभौमिक व्याप्तिका पता उनसे नहीं चलता। पीडवाड़ा और महुडीमे जो जैन धातुप्रतिमाएँ प्राप्त हो चुकी है वे कला-कौशलके श्रेष्ठ प्रतीक है और गुप्त-कालकी बताई जाती है। इनके बादकी भी मूर्तियाँ मिली अवश्य है पर उनमे धातुकी सफाई अच्छी नही पाई जाती है और न उनका सौष्ठत्व ही आकर्षक है। ८वीं शती पूर्वकी प्रतिमाएँ एक साथ पाँच या तीन जुड़ी हुई मिली है। यों तो ११वी १२वीं शताब्दी मे नवग्रह युक्त, शासनदेव-देवी सहित अधिक मूर्तियाँ मिली है। चौबीसी भी प्राप्त है। उत्तर भारत और दक्षिण भारतकी कलामे जो पार्थक्य पाया जाता है वह स्पष्ट है। प्रभावलीसे ही दोनोंका पार्थक्य स्वयं होजाता है। इसमे लेख भले ही न हों पर दूरसे पता चल जाता है। घंटाकृति आमन और साँचीके तोरण की आकृतियाँ कहीं-कहीं है जो अन्तिम गुप्तकालीन बौद्धकलाकी देन हैं। १३वीं शताब्दी तक तो धातु मूर्तियोंके निर्माणपर जैनोंने खूब सावधान होकर ध्यान दिया, परन्तु बादको तो जो दशा हुई उसको आज देखते हैं तो बड़ा दुःख होता है। परिकर युक्त प्रतिमाएँ तो पाषाण और धातुकी और भी मिली है। इन दिनोंमे तो परिकरको इस प्रकार विस्तृत कर दिया कि मूर्तिके मूल भावोंकी रक्षाकी कोई चिन्ता नहीं रक्खी। जो स्वतन्त्र धातुविम्ब विशालकाय निर्मित हुये वे निःसन्देह अच्छे है।

१०वीं ११वीं शती पूर्वके जिनबिम्बोंको जिस प्रकार अग्रभागपर ध्यान देकर सुन्दर बनाया जाता है पर पश्चात् भाग खरखरा ही रहने दिया जाता था पर बादमे १३वी शती बाद तो वह भाग बहुत प्लैन दीखता है कारण कि लेख यहीं खोदे जाते है। कहीं-कहीं पीछे भी चित्रोत्कीर्णित है। १ स्वर्ण और २ रजत की प्रतिमाएँ भी देखनेमे आती हैं। १९वी शती तक यह प्रथा चली। साधारण जैन जनतामे मूर्ति विषयक ज्ञान कम होनेसे बड़ा नुक्सान होरहा है। बहुत ही सुन्दर हँसमुख मूर्तिको लोग तुरन्त कह डालते है यह तो बौद्ध प्रतिमा है। वर्धा जिलान्तर्गत आर्वीके जैन मन्दिरमे मैंने १२वी शताब्दीकी उत्तर भारतीय कला की अत्यन्त सुन्दर जैन प्रतिमा एक कोनेमे—जिसपर काफी धूल जमी हुई थी—पड़ी देखी थी, मैंने वहाँके खंडेलवाल भाइयोंसे कहा कि यह मामला क्या है? वे कहने लगे प्रथम तो हम इसे पूजामे रखते थे पर जबसे इसके बौद्ध होनेका हमे पता चला तभीसे हमने कोनेमे पटक रक्खी है। यह हालत है। बीकानेर के चिन्तामणि पार्श्वनाथमन्दिरके गर्भगृहमे १००० धातु प्रतिमाएँ है, जिनमे कलाकी दृष्टिसे बहुमूल्य भी है।

उनपर इस दृष्टिसे आजकल किसीने अध्ययन करनेका कष्ट नहीं उठाया, सुना है वहाँ जैनोंकी तदाद भी काफी है। तुर्रा यह कि बड़े-बड़े कलाकारों का वह आवास है।

"धातुप्रतिमाएँ—विकास और पतन" शीर्षक निबन्ध मैं लिख रहा हूँ। अतः यहाँ नहीं लिखा।

३ (इ) इस विभागकी सामग्री भारतमें बहुत ही कम मिलती है, इसका कारण मुझे तो यही प्रतीत होता है कि काष्ठका प्रयोग जिस समय भवननिर्माण आदि कलामें विशेष रूपसे होता था उन दिनों जैन प्रतिमाओंके निर्माणमें काष्ठका उपयोग इसलिये वर्जित कर दिया होगा, क्योंकि वह तो अल्पायु है—पाषाण अधिक समय टिक सकता है। फिर भी प्राचीनकालीन कुछ काष्ठ-प्रतिमाएँ मिली है। मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालयके आशुतोष-आश्चर्यगृहमें एक जैन प्रतिमा काष्ठपर खुदी हुई देखी है जो बङ्गालसे ही प्राप्त की गई थी, इसका काल मेरे मित्र डॉ० पी० घोषने २००० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। काष्ठको देखनेसे मालूम होता है कि वह बहुत वर्षों तक जलमग्न रहा होगा, क्योंकि उसमें सिकुड़न बहुत है। बीचके भागमें रेखाएँ ही रेखाएँ दीखती है। अमेरिकास्थित पेनीसिलवेनिया विश्वविद्यालयके संस्कृत विभागके और कलाके अध्यक्ष तथा जैन साहित्यके विशेषज्ञ सुप्रसिद्ध कला-मर्मात्तक श्रीयुत डा० विलियम नॉमन ब्रॉउनसे ता० १-१-४८ को मैंने कलकत्तामें काष्ठकी जैन प्रतिमाओंके सम्बन्धमें वार्तालाप किया था, आपने कहा कि हमारे देशमें भी चार जैन काष्ठप्रतिमाएँ आजतक उपलब्ध हुई है, जिनका समय १५०० वर्ष पूर्वका है। सम्भव है यदि गवेषणा की जाय तो और भी काष्ठ प्रतिमाएँ मिल सकती है। जैन वास्तुशास्त्रमें काष्ठ प्रतिमाका उल्लेख आया है। चन्दन आदि वृक्षोंका उसमें प्रयोग होता है।

३ (ई) जैन स्थापत्यकलामें तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओं के बाद उनके अधिष्ठायक यक्ष-यक्षिणीकी मूर्तियोंका स्थान आता है। प्राचीनकालकी कुछ तीर्थंकर प्रतिमाएँ ऐसी भी देखनेमें आती है जो प्रस्तर-धातुकी है और जिनके परिकर या पासमें एक ही चट्टानपर अधिष्ठायक खुदे हुए हैं। परन्तु कुछ कालके बाद स्वतन्त्र प्रतिमाएँ बनने लगीं, उपासकोंकी भक्ति ही इनके निर्माणका प्रधान कारण है। जैनमन्दिरके गर्भगृहके दाएँ-बाएँ और अक्सर छोटे-छोटे गवाक्षोंमें इनकी स्थापना रहती है। कुछ प्राचीन पद्मावती, सिद्धायिका देवी और अम्बिकाकी ऐसी भी मूर्तियाँ देखी है जिनमें प्रधानता तो इनकी रहती है, पर इनके मस्तक पर पार्श्वनाथ, महावीर और नेमनाथजीकी प्रतिमाएँ क्रमशः है। रोहणखेड़ आदि नगरोंमें स्वतन्त्र यक्ष-यक्षिणीकी खण्डित प्रतिमाएँ भी पाई जाती हैं। कहीं कहीं जिनवेदीके ठीक निम्नभागमें इनको देखते है। इसमें कोई सन्देह ही नहीं, प्राचीन जैन प्रतिमा-विधानमें इनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। धातु तथा पाषाण दोनोंपर ये खोदी जाती थीं। मैं तो इन कलात्मक प्रतिमाओंका महत्व केवल जैन होनेके नाते ही नहीं समझा, पर भारतीय कलाके सुन्दर सिद्धान्त और विविध उपकरणोंका जो क्रमिक विकास इनमें पाया जाता है वह प्रत्येक एतद्विषयक गवेषकको आकृष्ट किये बिना नहीं रहता; कारण कि वस्त्र और केश-विन्यास, शारीरिक गठन, आभूषण, विविध शस्त्रास्त्र, चेहरा, आँखोंका सुन्दर रजतकटाव, आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ इनमें है जिनका महत्व भारतीय कला और कौशलके इतना अधिक समीप हैं कि हम उनकी कदापि उपेक्षा नहीं ही कर सकते। जैनसमाजके बहुत ही कम व्यक्तियोंको उनके विविध रूपों और वाहनोंके शास्त्रीय ज्ञानका पता है। नासिक जैनमन्दिरमें एक स्फटिक रत्नकी जैन प्रतिमा है जिसका रजत परिकर सुन्दर और अलग है। इनके साथ गोमेदकी और नीलमकी प्रतिमाएँ है। एक तो मानो गणेश ही है। मुझसे कुछ लोगोंने कहा यह गणेशजीकी पूजा अपन कबसे करते आये है? यह गणेश नहीं पर पार्श्व-यक्ष है। इनके रूपमें शास्त्रीय सूक्ष्मान्तर है, जो सर्वगम्य नहीं। इससे आगे चल कर अनर्थ खड़े होसकते है। एक बात मुझे स्पष्ट कहनी चाहिए कि देवियोंकी प्रतिमाओंके कारण जैन

तन्त्रोंमे कुछ विकास अवश्य हुआ है। मूर्तिकला भी प्रत्येक समय नये तत्त्व अपनानेको तैयार थी; क्योंकि यहाँ उनको पर्याप्त स्थान था जो जिनमूर्तिमें न था, वहाँ नियमोंका पालन और मुद्राकी ओर ध्यान देना अनिवार्य था।

जैन सरस्वतीकी भी प्रस्तर-धातु प्रतिमाएँ पाई गई हैं। बीकानेरके राज-आश्चर्यगृहमे विशाल और अत्यन्त सुन्दर दो जैनसरस्वतीकी भव्य मूर्तियाँ है जो कला-कौशलमे १२वी १३वी शतीके मध्यकालीन शिल्प-स्थापत्य-कलाका प्रतिनिधित्व करती हैं। मैंने सरस्वती की मूर्तियाँ तो बहुत देखीं पर ये उन सबमे शिरोमणि हैं। मैंने स्टेलाक्रेमशीशाको जब इनके फोटो बताये वे मारे प्रसन्नताके नाच उठी, उनका मन आल्हादित हो उठा, तत्क्षण उनने अपने लिये इसकी प्रतिकृति लेली। धातुकी विद्यादेवीकी प्रतिमाएँ तिरुप्पति-कुनरममे सुरक्षित है। इनकी कलापर दक्षिणी भारत की शिल्पका बहुत बडा प्रभाव है।

३ (उ) उपर्युक्त पक्तियोंमे सूचित प्रतिमाओंसे भिन्न और जो-जो प्रतिमाएँ जैन-संस्कृतिमे सम्बन्धित पाई जाती है वे सभी इस विभागमे सम्मिलित की जाती है, जो इस प्रकार हैं:—

१—जैन-शासनकी महिमामे अभिवृद्धि करनेवाले परम तपस्वी त्यागी विद्वान आचार्य या मुनियोंकी मूर्तियाँ भी निर्मित हुई है। इनमेसे कुछ ऐतिहासिक भी हैं—गौतम स्वामी, धन्ना, शालीभद्र, (राजगृह) हेमचन्द्रसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिन-प्रभसूरि, जिनप्रबोधसूरि, जिनकुशलसूरि, अमरचन्द्र-सूरि, हीरविजयसूरि, देवसूरि आदि अनेक आचार्यों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ उनके भक्तों-द्वारा पूजी जाती है। कहीं-कहीं तो गुरु-मन्दिर स्वतन्त्र है। इन सभीमे "दादा साहब"—जो श्रीजिनदत्तसूरिजीका ही प्रचलित संक्षिप्त नाम है—की व्यापक प्रतिष्ठा है। इन प्रतिमाओंमे कोई खास कला-कौशल नही मिलता, केवल ऐतिहासिक महत्व है।

२—जैन राजा और मन्दिरादि निर्माण कराने वाले सद्गृहस्थ भी अपनी करबद्ध प्रतिमा बनवाकर जैन-मन्दिरमें जिनदेवके सम्मुख खड़ी कर देते थे—आज भी कहीं-कहीं इस प्रथाका परिपालन किया जाता है। कलाकी दृष्टिसे इनका खास महत्व नहीं है। धातु और कहीं पाषाण-प्रतिमाओंमे भी भक्तोंका प्रदर्शन अवश्य ही दृष्टि-गोचर होता है। बौद्ध-मूर्तियों मे तो सम्पूर्ण पूजनकी सामग्री तक बताई जाती है। ऐसी मूर्ति मेरे संग्रहमे है। आबू पादलिप्तपुरकी यात्रा करनेवाले उपर्युक्त प्रतिमाओंकी कल्पना कर सकते है। वस्तुपाल, तेजपाल, उनकी पत्नी, वनराज चावड़ा, मोतीशा आदिकी प्रतिमाएँ एक-सी है। मै स्पष्ट करदू कि इसप्रकारकी मूर्ति बनवानेमे उनका उद्देश्य खुदकी पूजा न होकर एकमात्र तीर्थङ्करकी भक्ति ही था, हाथ जोड़कर खड़ी हुई मुद्रा इसीलिये मिलती है।

३—वास्तुकलाके सम्बन्धमे जो उल्लेख जैन-साहित्यमे आये है, उनमे यह भी एक है कि जैन-मन्दिर या अन्य आध्यात्मिक साधनाके जो स्थान हों वहाँपर जैनधर्म और कथाओंसे सम्बद्ध भावोंका अङ्कन अवश्य ही होना चाहिए जिसको देखकरके आत्म-कर्तव्यकी ओर मानवका ध्यान जाय। इसप्रकार के अवशेष विपुलरूपमे उपलब्ध हुए भी है जो तीर्थङ्करोंका समोसरण, भरत-बाहुबलि युद्ध, श्रेणिक-की सवारी, भगवानका विहार, समलिविहार (भृगुकच्छ)की पूर्व कहानी आदि अनेकों भाव उत्कीर्ण पाये जाते हैं; परन्तु इन भावोंके विस्तृत इतिहास और परिचय प्राप्त करनेके आवश्यक साधनोंके अभावमे लोग तुरन्त उन्हें पहिचान नहीं पाते। अतः कहीं-कहीं तो इनकी उपेक्षा और अनावश्यकतापर भी कुछ कह डालते है। जीर्णोद्धार करनेवाले बुद्धिहीन धनी तो कभी-कभी इन भावोंको जान-बूझकर चूना-सीमेंटसे ढकवा देते हैं—राणक-पुरमे कोशाका नृत्य और स्थूलभद्रजीके जीवनपर प्रकाश डालनेवाले भाव प्रस्तरोंपर अङ्कित थे जो साफ तौरसे बन्द करवा दिये गये, जब वहाँ जैनकलाके विशेषज्ञ साराभाई पहुँचे तब उन्हें ठीक करवाया। धनिकोंको अपना धन कलाकी हिंसा-हत्यामे व्यय न करना चाहिए। विवेक न रखनेसे हमारे ही अर्थसे

हमारी कलाकी हिंसा हम ही कर रहे है।

दक्षिण-भारतमें दिगम्बर कथाओंपर ऐतिहासिक प्रकाश डालनेवाले भाव उत्कीर्णित मिले हैं—सबसे अधिक आवश्यक कार्य इन अवशेषोंका है जो सर्वथा ही उपेक्षित हैं।

३ (ऊ) अष्टमङ्गल, स्वस्तिक, नद्यावर्त और स्तूपाकृतिमें जो प्रतिमाएँ पाई जाती हैं उनका समावेश मैं इस विभागमें करता हूँ; क्योंकि ये भी हमारी संस्कृति के विशिष्ट अङ्ग है, ये अवशेष जङ्गलोंमें पड़े रहते है। इनकी सुधि कौन ले? नालन्दामें मैंने एक स्वस्तिक—जो ईटोंमें उठा हुआ है—देखा, वह इतना सुन्दर था कि देखते ही बनता है। उसकी रेखाएँ एवं मोड़ सुन्दर थे। जैन-मन्दिरोंमें जो स्तम्भ लगाये जाते हैं उनमेंसे किसी-किसीमें वीतरागकी प्रतिमाएँ अङ्कित रहती है। बौद्धोंके स्तूपोंकी जैसी आकृति बनती है वैसी ही आकृतिवाली जैन-प्रतिमाएँ स्तूपमें मैंने महादेव[1] सिमरिया (मुंगेर जिला) रोहणखेडमें देखी हैं। इन प्रतिमाओंमें अधिकांश नग्न ही रहा करती थीं।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे विदित होगया है कि जैनोंकी प्रतिमाकला-विषयक सम्पत्ति कितनी महान और स्पर्द्धा उत्पन्न करनेवाली है। इन सभी प्रकारोंपर आजतक किसी भी विद्वानके द्वारा सार्वभौमिक प्रकाश डाला जाना तो दूर रहा, किसी एक प्रधान अङ्ग पर भी नहींके बराबर काम हुआ है। जैन-समाजके लोग तो पूर्णतः इनपर उपेक्षित भावसे काम लेते आये हैं। मेरे परम मित्र डा० हँसमुखलाल सांकलिया, श्रीशान्तिलाल छगनलाल उपाध्याय, उमाकान्त प्रेमानन्दशाह, मि० रामचन्द्रम् आदि कुछ अजैन विद्वानोंने जैनमूर्ति-विधान, कला-कौशलके विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर बड़ा गम्भीर अन्वेषण कर जो कार्य किया है और आज भी वे इसी विषयमें पूर्णतः संलग्न हैं, वह हमारी समाजके विद्वानोंके लिये अनुकरणीय आदर्श है। कलकत्तामें प्रोफेसर अशोककुमार भट्टाचार्य है, जो जैनमूर्ति शास्त्रपर बृहत्तर ग्रन्थ प्रस्तुत करने जारहे है। मैंने उनके कामको देखा, स्तब्ध रह गया! अजैन होते हुए भी उनने जैनकलाके बहुसंख्यक सुन्दर और उपेक्षित तत्त्वोंको खोज निकाला है। परन्तु मुझे अत्यन्त परितापके साथ सूचित करना पड रहा है कि इन अजैन विद्वानोंकी रुचि तो बहुत है पर उनको अपने विषयमें सहाय करने वाले साधन प्राप्त नहीं होते, यही कारण है कि अजैन विद्वानोंसे भूलें होजाती है[1]। तब हमारा समाज चिल्ला उठता है कि उसने बड़ी गलती की। जब हम स्वयं न तो अध्ययन करते है और न करनेवालोंको सहायता ही पहुँचाते हैं। जैनसमाजको अब करना तो यह चाहिये कि उपर्युक्त प्रतिमाओंमेंसे जो सुन्दर, कलापूर्ण है उनका एक या अधिक भागोंमें अल्बम तैयार कराया जाय, जिससे अजैन विद्वानों तक वह वस्तु पहुँच सके। आज हम देखते हैं भारतमें और बाहरकी जनताको जितना ज्ञान बौद्धपुरातत्त्वका है उसका शतांश भी जैनोंका नहीं, जो है वह भी भ्रमपूर्ण है।

४ स्तम्भ—

मध्यकालीन भारतमें जैनमन्दिरके सम्मुख

---

१ यह स्थान गिद्धौर राज्यके अन्तर्गत है। यहाँ पर बड़ा प्रसिद्ध विशाल शैव-मन्दिर है, इसकी निर्माणकला शुद्ध जैन है और वहाँके जमींदारसे भी मालूम हुआ कि पूर्वमें यह जैन-मन्दिर ही था, पर प्रतापी नरेशने ५०-६० वर्ष पूर्व इसे परिवर्तित कर शिव-मन्दिरका रूप दे दिया! यहाँपर किसी कालमें जैनी अवश्य ही रहे होंगे, क्योंकि लछवाड़ भी समीप है तथा काकन्दाके पास ही है। यहाँके मन्दिरमें बौद्ध-मूर्तिएँ अच्छी-अच्छी सुरक्षित हैं, जिनपर लेख भी हैं। विचित्रता यहाँपर यह है कि कुम्भार पंडे हैं।

१ लाहोरसे प्रकाशित "जैन इकोनोग्राफी" मेरे अवलोकनमें आई है। यह जैन दृष्टिसे बहुत त्रुटिपूर्ण है। उदाहरणके तौरपर प्रथम ही जो चित्र दिया है वह स्पष्टरूपसे ऋषभदेवजीकी प्रतिमा है जब कि उसके निम्न भागमें महावीर लिखा है। ऐसी भूलें असह्य हैं।

देखें "जैन प्रतिमाएँ", शीर्षक मेरा निबन्ध।

विशाल स्तम्भ करनेकी प्रथा विशेषतः दिगम्बर जैन समाजमें ही रही है। चित्तौड़का कीर्तिस्तम्भ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैनधर्मकी दृष्टिसे इन स्तम्भोंका बड़ा महत्व भले ही हो। परन्तु शिल्पकलाके इतिहासपरसे मानना होगा कि यह अजैन वास्तुकी देन है जिसको जैनोंने अपना स्वरूप देकर अपना लिया। ये स्तम्भ भी दक्षिण भारतमें बहुत बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं। इनमें जो कलाकौशल पाया जाता है उसके महत्वसे जैनसमाज तक अनभिज्ञ है। सांची-के उपरिभागमें जिन प्रतिमाएँ रहती थीं, कहा जाता है कि ये शूद्रोंके दर्शनार्थ रखी जाती थीं। आज भी प्रत्येक दिगम्बर जैनमन्दिरके आगे एक स्तम्भ यदि खड़ा हो तो समझना चाहिये कि यहाँ मानस्तम्भ है। इनपर भी एक ग्रन्थ आसानीसे प्रस्तुत किया जासके इतनी सामग्री विद्यमान है।

५ लेख—

जैन पुरातत्त्वकी आत्मा है किसी भी राष्ट्रकी राजनैतिक स्थितिके वास्तविक ज्ञान वृद्ध्यर्थ उसके शिलालेखोंका परिशीलन आवश्यक है ठीक उसी प्रकार जैन संस्कृतिके तत्त्वोंका अनुशीलन अनिवार्य है। इसमें धार्मिक और सामाजिक इतिहासकी विशाल सामग्री भरी पड़ी है। राजनैतिक दृष्टिसे भी ये उपेक्षणीय नहीं। तत्कालीन मानव जीवनके सम्बन्धमें जो बहुमूल्य तत्त्वोंका समीकरण हुआ था उनका आभास भी इन प्रस्तरोत्कीर्ण शिलाखण्डोंसे मिलता है। पश्चिम भारतके लेख ब्राह्मी या अधिकांशतः देवनागरीमें मिले हैं जब दक्षिणभारतमें कनाडीमें। जैन लेखोंको यों तो कई भागोंमें बाँटा जा सकता है पर मैं यहाँ केवल दो भागोंमें विभाजित करूँगा।

(१) शिलाओंपर उत्कीर्ण लेख

(२) प्रतिमाओंपर उत्कीर्ण लेख

प्रथम श्रेणीके लेख बहुत ही कम मिलते हैं। खारवेलका लेख अत्यन्त मूल्यवान् है जो ईस्वी पूर्व दूसरी शतीका है। उदयगिरि खण्डगिरिमें और भी जो प्राकृत शिलालेख पाये जाते हैं उन सभीपर विस्तृत विवरणके साथ पुरातत्त्वाचार्य श्रीजिनविजयजीने श्रमपूर्वक प्रकाशित करवाये हैं। मथुराके लेख जैन-इतिहासमें बहुत बड़ा महत्व रखते हैं। डा० याकोबीने इनकी भाषाके आधारपर ही जैन आगमोंकी भाषा की तीक्ष्ण जाँचकर प्राचीन स्वीकार किया है। विन्सेण्टस्मिथने मथुराके पुरातत्त्वपर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही प्रकट किया है। डा० अग्रवाल आदि महानुभाव समय-समयपर यहाँकी जैन पुरातत्त्व-विषयक सामग्रीपर प्रकाश डालते रहे हैं।

कलकत्ता निवासी स्व० बाबू पूर्णचन्दजी नाहरने मथुराके तमाम शिलालेखोंकी जाँच दुबारा स्वयं जाकर की थी, डा० स्मिथने जो भूले की थी उनका संशोधन करके अनन्तर उन समस्त जैन लेखोंका मूल पाठ शुद्धकर, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओंमें उनका अनुवाद कर एक विशाल संग्रह तैयार कर रखा था, पर अकालमें ही उनकी मृत्युने इस महान कामको रोक दिया, वरना न जाने क्या क्या साधन प्रस्तुत करते। जैन साहित्यमें जहाँ जहाँ मथुराका उल्लेख भी आया है उन कई उल्लेखोंको नोट करके वहाँकी जैन संस्कृति विषयक प्रचण्ड सामग्री भी सञ्चित कर रखी थी। उनके सुयोग्य पुत्र राष्ट्रकर्मी श्रीविजयसिंह जी नाहर सहर्ष प्रकट करनेको भी तैयार हैं। मैं अपने सहयोगियोंकी खोजमें हूँ। यदि समय और शक्ति ने साथ दिया तो काम किञ्चित् तो हो ही जायेगा।

गुप्तकालीन भारतका उत्कर्ष चरम सीमापर था, इस कालके संवत् वाले जैनलेख अल्प मिले हैं। राजगृहीमें सोन भण्डारमें जो लेख लिखा है वह जैनधर्मसे सम्बन्धित होना चाहिये; क्योंकि वह स्मारक ही शुद्ध जैन-संस्कृतिसे सम्बद्ध है। जैन-प्रतिमाएं स्पष्टरूपसे उत्कीर्णित हैं। भारत सरकारके प्रधान लिपि वाचक श्रीयुत डा० बहादुरचन्द छाबड़ाने इसका इम्प्रेशन गत मासमें मँगवाया है इससे अंदाज है कि वे इसपर प्रकाश डालनेका कष्ट करेंगे। आचार्य मुनि वैरदेवके नामका एक लघु लेख श्रीयुत भंवरलालजी जैनने मुझे कलकत्तामें बताया था, लिपि अन्तिम गुप्तकालीन थी। नालन्दाकी तलहटीमें एक गुफा बनवानेका उल्लेख था। (अगली किरणमें समाप्त)

सम्पादकीय

निस्पृही कार्यकर्त्ता—

बीसवीं शताब्दीरूपी वधूका डोला अभी आया भी नहीं था कि उसके स्वागत-समारोहके लिये समूचे भारतमे इस छोरसे उस छोरतक उत्साहकी लहर दौड़ गई। जनतामे सेवा, तप, त्याग, बलिदानके भाव अङ्कुरित हो उठे, और बड़े ही लाड़-प्यार और चावसे जीवन-सन्देशनी नववधूका स्वागत हुआ। वह अपने साथ राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक-चेतना दहेजस्वरूप लाई। परिणाम यह हुआ कि मुसलमान, ईसाई, सनातनी, आर्य्य, सिक्ख सम्प्रदायोंसे निस्पृही कार्यकर्त्ताओंके जत्थे-के-जत्थे कार्य-क्षेत्रमे आने लगे।

जैन-समाजमे भी एक होड़-सी मच गई। राजा लक्ष्मणदास और डिप्टी चम्पतराय आदि महासभा की स्थापना कर ही चुके थे। प० गोपालदास वरैया भी मोरेनामे आसन मारकर बैठ गये और न्यायाचार्य गणेशप्रसादजी व बाबा भागीरथदासजी वर्णी बनारसमे धूनी रमा बैठे। श्रीअर्जुनलाल सेठी चौमूँ ठिकानेकी दीवानगिरीका मोह त्याग जयपुरमे करो या मरोका मन्त्र जपने लगे। महात्मा भगवानदीन हस्तिनागपुर-आश्रमको गुरुकुल-कांगड़ी बना देनेकी धुनमे स्टेशनमास्टरीको तिलाञ्जलि दे आये। बा० शीतलप्रसादजी लखनवी गृही-जीवनको धता बताकर जोगी बन गये, और सारे जैन-समाजमे अलख जगा दी। मगनबहन, ललिताबाई और चन्दा सुकुमारी पति-वियोगमे न झुलसकर जैन-बहनोंका सीता, अञ्जना, राजमती बनानेमे लग गई। जैनी ज्ञानचन्द और प० पन्नालाल बाकलीवालने साहित्यो-द्धारका बीड़ा उठाया तो देवबन्दके तीन सपूतो— बा० सूरजभानजी वकील, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, बा० ज्योतिप्रसादजी जैन—ने देवबन्दसे ही जिनवाणी-माताको बन्दी बनाकर रखने वालोंके गढ़ोंपर समीक्षाओं, परीक्षाओं और आलोचनाओंके वे गोले बरसाये कि कुम्भकरणी नींदको मात करने वाले भी हड़बड़ाकर उठ बैठे। सेठ माणिकचन्द जैन होस्टलोंकी दागबेल डालनेमे जुटे तो आरेके देवकुमार जैन भरी जवानीमे शास्त्रोद्धारकी कसम खा बैठे।

फिर नाथूराम प्रेमी, दयाचन्द गोयलीय, कुमार देवेन्द्रप्रसाद, रिषभदास वकील, माणिकचन्द खंडवा का युवक-हृदय कब चुप रह सकता था? ये कार्यक्षेत्रमे युवकोचित ही ढङ्गसे आये, जिन्हे देख जनता साधुवाद कह उठी। इन सब अलबेले कर्म-वीरोंको नजर न लग जाए, इस आशङ्कासे प्रेरित जैनी जियालालजी भी अपने ज्योतिष-पिटारेके बलपर दुनियाए बदनजरकी नजरसे बचानेको निकल पड़े।

इन निस्पृही कार्यकर्त्ताओंकी लगन और दीवानगी देखकर जुगमन्दरदास और चम्पतराय अपनी बैरिस्टरी भूलकर यकायक दीवाने होगये।

चारों ओर समाजमे जीवन-ज्योति प्रज्वलित हो उठी। गाँव-गाँवमे पाठशालाएँ खुल गईं। पचासों विद्यालय और हाईस्कूल स्थापित होगये। सैकड़ों पुस्तकालयोंका उद्‌घाटन हुआ। शहर-शहरमे सभा-समितियाँ बनीं। पत्र निकले, जैन-साहित्य प्रकाशमे आया, ट्रैक्टोंके ढेर लग गये। इन निस्पृही सेवकोंके सम्मानमे श्रीमन्तोंने रुपयोंकी थैलियाँ खोल दीं। लेनेवाले थक गये पर श्रीमन्त आज भी थैलियोंके मुंह खोले हुए अपने निस्पृही कार्यकर्त्ताओंकी बाटमे बैठे हुए हैं। क्या श्रेयांसको जैसे ऋषभनाथ और भिलनीको जैसे राम घर बैठे मिल गये थे, इनको भी अपनी समाजके अमिट, अडोल, निस्पृही कार्यकर्त्ताओंके फिर दर्शन होंगे? क्या इन्हे एक बार

भी सुपात्र-दान देकर जन्म सुफल करनेका अवसर मिलेगा ?

न जाने हमारी इस निस्पृहताको किस बदनजर की नजर लगी है कि एक-एक करके सब छीजते जारहे हैं। जो बचे है वे भी हमारी नालायक़ियोंसे तङ्ग आकर चलते बने, कुछ भरोसा नहीं, वे तो अब हमारे लिये वन्दनीय और दर्शनीय हैं, जितने दिन भी उनका साया बना रहे हमारा सौभाग्य है।

पर, जो कहते है—"ज्योतिसे ज्योति जलती आई है, वह कभी बुझती नहीं।" उनसे हम पूछते है कि हमारी इस दीपमालाको क्या हुआ ? जो दीप बुझा उससे नवीन क्यों नहीं जलता ! यह पंक्तिकी पंक्ति क्यों प्रकाशहीन होती जारही है ?

हमारी इस आकुलताका क्या कोई अनुभवी सज्जन निराकुल उपाय बतानेकी दया करेंगे ?

जैन-एकता—

जैन-एकताका नारा नया नहीं, बहुत पुराना है। परन्तु जिस प्रकार हिन्दु-मुस्लिम राज्यका नारा जितनी-जितनी ऊँची आवाज और तेजीसे बुलन्द किया, उतनी ही शीघ्रता और परिमाणमें अविश्वास और आशङ्काकी खाई चौड़ी होती चली गई। उसी तरह जैन समाजके तीनों सम्प्रदायके सङ्गठनका वृक्षारोपण जितनी बार किया गया है, घातक फल ही देता रहा है। तीनों सम्प्रदाय एक होने तो दूर, एक-एक सम्प्रदायमें अनेक शाखाएँ उपशाखाएँ बढ़ती जारही हैं।

हिन्दु-मुस्लिम इत्तहादमें जो कॉंग्रेस सदैव भूल करती रही है, उसीका अन्ध-अनुकरण हमारे यहाँ होता रहा है। कॉंग्रेसने इत्तहादका नारा तो बुलन्द किया पर अपनेसे भिन्न सम्प्रदायके हृदयमें घर नहीं बनाया। कॉंग्रेसी मञ्चसे व्याख्यान देते रहे, अपील निकालते रहे। परन्तु उनके साम्प्रदायिक गढ़ोंमे न कभी गये, न उनकी रीति-रिवाजका अध्ययन किया, न इत्तहादके मार्गकी कठिनाइयोंको समझा, न उनका हल हुआ। परिणाम इसका यह निकला कि मुस्लिम जनताको कॉंग्रेसी नेताका व्याख्यान तो शाज़ोनादिर कभी सुननेको मिलता, किन्तु रोज़ाना मस्जिदमें, सभा-सोसायटियोंमे और व्यावहारिक जीवनमें मज़हबी दीवानों और तास्सुबी लोगोंके ज़बानके चटखारे रोज़ सुननेको मिलते।

इधर कॉंग्रेसी-व्याख्यान भूले भटके किसीने सुना भी तो अभी वह पूरी तरह उसको समझ भी नहीं पाया है कि मुहल्लेमें होने वाले रोज़ाना लीगी लेक्चरोंने सब गुड़ गोबर कर दिया। उसपर यह आये दिन हलाल और झटका, गौ और सुअर, अज़ाँन और बाजा, ताज़िये और सड़कके पेड़, हिन्दी और उर्दूके झगड़े नित नया गुल खिलाते रहे। कॉंग्रेसी इत्तहाद और अहिंसाका बराबर उपदेश देते रहे, परन्तु यह आये दिन झगड़े क्यों होते है, न इसका कभी हल निकाला न कोई उपाय सोचा न उन उपद्रवी स्थलोंपर पहुँचकर सही परिस्थितिका निरीक्षण किया। जब घर फुक जाते, बहन-बेटी बेइज्ज़त होजातीं, सर्वस्व लुट जाता और प्रतिष्ठित व्यक्ति पिट जाते तब उन्हींको यह कहकर कि "आपस मे लड़ना ठीक नहीं", लानत मलामत देते। लुटेरे और शोहदे खिलखिलाते और ये कॉंग्रेसकी भेड़े गर्दन झुकाकर रह जातीं।

चूंकि ये भेड़े कॉंग्रेसका मरते दम तक साथ निभानेकी प्रतिज्ञा कर बैठी थी, इसलिये मार खाकर भी मिमयाती तो नहीं थीं, पर पिटना क्यों ठीक है, यह उनकी समझमें नहीं आ पाता था और वह भेड़ियों से मेल-मिलाप करते हुए शङ्कित ही रहती थीं। यदि उन भेड़ियोंको भी कॉंग्रेसने भेड़ बनाया होता तो बिना प्रयासके ही इत्तहाद होगया होता।

कॉंग्रेसने कभी मुसलमानोंके सामाजिक और धार्मिक जीवनमे आनेका प्रयत्न नहीं किया। परिणाम इसका यह हुआ कि हर मुसलमान कॉंग्रेसी नेताको केवल हिन्दु समझता रहा। अपनी क़ौमका नेता वह उन्हींको समझता रहा जो उनकी रोज़ाना ज़िन्दगीमे दिलचस्पी लेते रहे। और दुर्भाग्यसे कॉंग्रेसने भी उन्हीं मज़हबी दीवानोंको उनका नेता तस्लीम कर लिया जो मुसलमानोंको रोज़ाना कॉंग्रेसके विरुद्ध

भड़का रहे थे। परिणाम सबके सामने है।

इसी तरह जैनोंमें एकताकी बात उठती रही है। तीनों सम्प्रदायोंकी प्रतिनिधि सभाओंने अनेक बार जैन-एकताके प्रस्ताव पास किये हैं। परन्तु इनके कार्य ऐसे रहे हैं कि इतर पक्षको विश्वास बढ़नेके बजाय आशङ्का ही हुई है।

जैन महामण्डल जिसका निर्माण तीनों सम्प्रदाय की एकताके लिये किया गया था। वह पुद्गल शरीर बनकर रह गया। इंजेक्शनोंके जोरसे भी उसमे प्राण प्रतिष्ठा न हो पाई। हम हैरान हैं कि इस निर्जीव शरीरको अबतक कैसे ढोते रहे, जब कि उसके कार्य-कर्ता स्वयं जैन-एकतासे दूर भागते रहे। जीवनभर अपना-अपना सम्प्रदाय उनका कार्यक्षेत्र बना रहा, तीर्थक्षेत्रोंके मुकदमोंमे एक सम्प्रदायके विरुद्ध दूसरे की पैरवी करते रहे। और एकताका निर्जीव पुतला भी उठाते रहे।

महामण्डलकी ओरसे जैन-एकताका आन्दोलन लगभग आर्यसमाजकी तरह रहा है। आर्यसमाजके उत्सवोंमे दिनको तो हिन्दु-सङ्गठन पर प्रभावशाली व्याख्यान-भजन होते और रात्रिको जैन, सनातनी, सिक्ख आदिको शास्त्रार्थके लिये ललकारा जाता। उनके उनके धार्मिक विश्वासोंका मखौल उड़ाया जाता और महापुरुषोंको असभ्य शब्द कहे जाते। दिनमें वे कभी हिन्दु सङ्गठनपर व्याख्यान देनेसे न चूके और रातको शास्त्रार्थ करनेसे कभी बाज न आये। परिणाम इसका यह हुआ कि आर्यसमाजका हिन्दु-सङ्गठन आन्दोलन बाजीगरके तमाशेसे भी कम आकर्षक होगया है।

गत ३-४ वर्षोंमें इस निर्जीव बुतको विवाहआदि अवसरोंपर मिट्टीके गणेशकी जगह पुजवाकर देवत्व लानेका प्रयत्न किया है। परिणाम स्वरूप ब्याबरमे इसका स्वतन्त्र अधिवेशन भी हमने अपनी होशमे पहलीबार होते सुना है।

अभिनन्दनीय हैं वे लोग जो सचमुच जैनएकता के लिये प्रयत्नशील है। हम भी २३ वर्षोंसे इस साध को अपने सीनेमे छिपाये बैठे है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि बिल्लीके गलेमें घण्टी कौन बाँधे। व्यक्तिगत प्रभावसे अधिवेशन करा भी लिया १०-५ को किसी तरह एकत्र भी कर लिया, या जैन-एकता कार्यालय भी बना लिया। २-४ अच्छे खासे वेतन-भोजी क्लर्क भी मिल गये, पर इन सब कार्योंसे एकता कैसे होसकेगी ?

आये दिन जो यह तीर्थोंपर उपद्रव होते रहते है। यह क्यों होते है और क्योंकर रोके जा सकते है ? एक दूसरेके विरुद्ध पत्रों और ट्रेक्टों द्वारा विष-वमन होता रहता है। वह कैसे रोका जाय ? दिगम्बर कार्यकर्ता श्वेताम्बरोंमे और श्वेताम्बर कार्यकर्ता दिगम्बरोंमे निःस्वार्थ भावनासे किस प्रकार कार्य करे और कौन-कौन करे ? जब तक यह अमली कार्य-क्रम नहीं बनता है। और वे लोग जिनकी अपने यहाँ भी आवाजका कोई मूल्य नहीं है उनके प्रयत्नसे जैन-एकता तो नहीं हो सकेगी। हाँ वह भी हमारे अनगिनत नेताओंकी श्रेणीमें खड़े होकर भोली जनताको लानतमलामत देनेका अधिकार पा सकेंगे।

डालमियानगर
१४ ५-१९४८ —गोयलीय

युगके चरण अलख चिर-चंचल !

['तन्मय' बुखारिया]

१

रविकी गतिसे, शशिकी गतिसे,
भूत, भविष्यतसे, सम्प्रतिसे,
कभी यहाँ, फिर कभी वहाँ जो,
उस मतवाले मनकी मतिसे;
सम्भव कभी सभी रुँध जाएँ,
किन्तु न युगकी आँखोंमें जल!
युगके चरण अलख चिर-चञ्चल!!

२

आज परस्पर अविश्वास, सच,
निर्गति-सा नरका विकास, सच,
रक्त रक्तको भूल रहा-सा,
चेतन जड़का क्रीत दास, सच,
परिवर्तनके पग बढ़ते जब,
तब होता ही है कोलाहल!
युगके चरण अलख चिर-चञ्चल!!

३

पर, न सदा यह अन्धकार ही,
प्राणोंपर विजयी विकार ही;
मेरे जीवन! उठो, न असमय,
सचमुच, बनकर रहो भार ही!
क्योंकि कभी तो कविकी वाणी,
बिखराएगी ही निज प्रतिफल!!
(जब तब पद-नखकी कोरोंपर,
लोट-लोट जाएँगे जल-थल!!!)
युगके चरण अलख चिर-चञ्चल!

ललितपुर, १७—६—४८

वीरसेवामन्दिरको प्राप्ति

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद प्राप्त हुई रकमें

१०००) 'सन्मति-विद्या-निधि'के रूपमें बाल-साहित्यके प्रकाशनार्थ जुगलकिशोर मुख्तारने अपनी दोनों दिवगत पुत्रियों सन्मति और विद्यावती की ओरसे प्रदान किये।

२५) श्रीमती पतलीदेवी धर्मपत्नी ला० रोढामलजी जैन चिलकाना जि० सहारनपुरसे सधन्यवाद प्राप्त, मार्फत भाई महाराजप्रसाद जैन बजाज सरसावाके (बीमारीके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे)।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकान्तको सहायता

गत चौथी किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको निम्न सहायता और प्राप्त हुई है जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं—

५) ला० प्रतापसिंह प्रसादीलालजी बाँदीकुई चि० चित्रारानी पुत्रीके निधनपर निकाले गये दानमेंसे।

५) सेठ झूथालालजी बडजात्याके सुपौत्र और सेठ गेंदालालजी कासलीवालकी सुपौत्रीके विवाहोपलक्ष्यमें (मार्फत प० भँवरलालजी शास्त्री जयपुर)

१०)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

Regd. No. A-731

प्रकाशक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये अजितप्रसाद जैन खत्री द्वारा रॉयल प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त

आषाढ़, संवत् २००५ :: जुलाई, सन् १९४८

वर्ष ९ किरण ७

दो प्रश्न अन्तर्हित हल-सहित

पठन क्योंकर हो ?

प्रथम तो 'पठनं कठिनं' प्रभो !
सुलभ पाठक-पुस्तक जो न हो।
हृदय-चिन्तित, देह सरोग हो,
पठन क्योंकर हो तुम ही कहो ?

क्यों न निराश हो ?

प्रबल धैर्य नहीं जिस पास हो,
हृदयमें न विवेक-निवास हो।
न श्रम हो, नहिं शक्ति-विकास हो,
जगतमें वह क्यों न निराश हो ?

—युगवीर

★

प्रधान सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

सह सम्पादक
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय

★

★

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

★

विषय-सूची

वीरसेवामन्दिरको दस हजारका प्रशंसनीय दान

श्रीमान् बाबू नन्दलालजी सरावगी सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ताके शुभ नामसे अनेकान्तके पाठक भले प्रकार परिचित हैं। आप कलकत्ताके सुप्रसिद्ध बाबू छोटेलालजी जैनके छोटे भाई हैं और अच्छे दानशील हैं। आप चुपचाप अनेक मार्गोंमें अनेक प्रकारका दान किया करते हैं। वीरसेवामन्दिर और उसके कार्योंके प्रति आपका बडा प्रेम है और आप उसे कितनी ही सहायता भेजते तथा पुत्र-पत्नी आदिकी ओरसे भिजवाते रहे हैं। हालमें आप वीरशासन-जयन्तीके उत्सवपर अपनी पत्नी श्रीमती कमलाबाईजी और लघुपुत्र चिरञ्जीव निर्मल-कुमार-सहित मुरार (ग्वालियर) पधारे थे। वहाँसे मुझे साथ लेकर श्रीमहावीरजीकी यात्रा करते हुए ता० २८ जुलाई सन् १९४८ को आप वीरसेवामन्दिरके दर्शनार्थ सरसावा तशरीफ लाये थे—तीन दिन ठहरे थे। वीरसेवामन्दिर और उसकी लायब्रेरीको पहली ही बार देखकर आपने अपनी बडी प्रसन्नता व्यक्त की और जब आपके सामने वे ग्रन्थ आए जो वीर-सेवामन्दिर-द्वारा तय्यार किये गये हैं और प्रकाशनकी बाट जोह रहे हैं तब आपने बडी उदारताके साथ उनके शीघ्र प्रकाशनार्थ दस हजार रुपयेकी रकम प्रदान की। इस उदार और प्रशंसनीय दानके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोडा है। इसके लिये यह संस्था आपकी चिरऋणी रहेगी।

जुगलकिशोर मुख्तार

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	जौलाई
किरण ७	आषाढ शुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत् २४७४, विक्रम-संवत् २००५	१९४८

निष्ठुर कवि और विधाताकी भूल

(१)

राग-उदै जग अंध भयो, सहजैं सब लोगन लाज गमाई ।
सीख बिना नर सीखत हैं, विषयादिक-सेवनकी सुघराई ॥
तापर और रचैं रस-काव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई !
अंध-असूझनकी अंखियानमें, डारत हैं रज राम-दुहाई !!

(२)

हे विधि ! भूल भई तुमतैं, समुझे न कहां कस्तूरि बनाई !
दीन कुरङ्गके तनमें, तृन दंत धरैं करुना नहिं आई !!
क्यों न रची तिन जीभनि जे रस-काव्य करैं परको दुखदाई !
साधु-अनुग्रह दुर्जन-दंड, दुहूं सधते विसरी चतुराई !!

—कवि भूधरदास

जीरापल्ली-पार्श्वनाथ-स्तोत्र

[यह वही कानपुरके बड़े मन्दिरसे प्राप्त हुआ स्तोत्र है, जिसकी सूचना अक्तूबर सन् १९४७ की अनेकान्त किरण १२में, 'रावण-पार्श्वनाथ-स्तोत्र'को देते हुए, की गई थी और जो प्रभाचन्द्रके शिष्य पद्मनन्दीकी कृति होनेसे पूर्वानुमानके अनुसार आजसे कोई ५५० वर्ष पहलेका बना हुआ होना चाहिये। इस स्तोत्रका सम्बन्ध उन श्रीपार्श्वनाथसे है जो जीरापल्ली स्थित देवालयके मूलनायक थे और जिनके कारण वह स्थान सुशोभित था—अतिशय-क्षेत्र बना हुआ था। मालूम नहीं वह जीरापल्ली स्थान कहाँपर है और वहाँपर अब भी उक्त देवालय पूर्ववत् स्थित है या नहीं, इसकी खोज होनी चाहिये। —सम्पादक]

(रथोद्धता)

आनमत्त्रिदश-मौलि-मन्मणि-स्फार-रश्मि-विकचांह्रि-पङ्कजम् ।
पार्श्वनाथमखिलाऽर्थ-सिद्धये तोष्टुवीमि भव-ताप-शान्तये ॥१॥
वाग्मयेन महता महीयसा तावकेन जिननाथ जन्मिनाम् ।
आन्तरं यदि तमः प्रमूल्वरं नाशमेति तदिदं किमद्भुतम् ॥२॥
काम-चण्डिम-भिदेलिम-प्रभं कः क्षमोऽत्र तव रूपमीडितुम् ।
वासवोऽपि यदि सेवणेच्छया चक्षुषां किल सहस्रतामितः ॥३॥
दर्शनाददपहंसि कल्मषं कंयमीश भवतोऽधिका स्तुतिः ।
ध्वान्त[मस्त]मरुणोदयादिदं याचिचेदिह किमद्भुतं सताम् ॥४॥
नाथ तत्र भवतः प्रभावतो यो गुणौघ-गणनां चिकीर्षति ।
पूर्वसिन्धु-पयसोऽञ्जलि-व्रजैः स प्रमाणममतिस्तनोत्वलम् ॥५॥
दुस्तरेऽत्र भव-सागरे सतां कर्म-चण्डिम-भरान्निमज्जताम् ।
प्रास्फुरीति न कराऽवलम्बने त्वत्परो जिनवरोऽपि भूतले ॥६॥
त्वत्पदाम्बुज-युगाऽऽश्रयादिदं पुण्यमेति जगतोऽवतां सताम् ।
म्रश्यतामपि न चाऽन्यशीर्षगं तव(त्वत्)समोऽत्र तवको निगद्यते ॥७॥
नाशयन्ति करि-सिंह-शूकर-व्याघ्र-चौर-निकरोरगादयः ॥
तं कदाचिदपि नो मनोगृहे पार्श्वनाथजिन यस्य शुभमे ॥८॥

(शालिनी)

जीरापल्ली-मण्डनं पार्श्वनाथं नत्वा स्तौति भव्य-भावेन भव्यः ।
यस्तं नूनं ढौकते नो वियोगः कान्तोद्भूतश्चाऽप्यनिष्टश्च(स्य)योगः ॥९॥

(वसन्ततिलका)

श्रीमत्प्रभेन्दु-चरणाऽम्बुज-युग्म-भृङ्गश्चारित्र-निर्मल-मतिर्मुनिपद्मनन्दी ।
पार्श्वप्रभोर्विनय-निर्भर-चित्तवृत्तिर्भक्त्या स्तवं रचितवान्मुनिपद्मनन्दी ॥१०॥

इति श्रीपद्मनन्दि-विरचितं जीरापल्ली-पार्श्वनाथ-स्तोत्रं समाप्तम् ।

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने
युक्त्यनुशासन
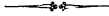
विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च
त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी
स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥४५॥

'विधि, निषेध और अनभिलाप्यता—स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव—ये एक-एक करके (पदके) तीन मूल विकल्प हैं। इनके विपक्षभूत धर्मकी संधि-संयोजनारूपसे द्विसंयोगज विकल्प तीन—स्यादस्ति-नास्त्येव स्यादस्त्यवक्तव्यमेव, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव—होते हैं और त्रिसंयोगज विकल्प एक—स्यादस्ति-नास्त्यवक्तव्यमेव—ही होता है। इस तरहसे सात विकल्प हे वीर जिन ! सम्पूर्ण अर्थभेदमें—अशेष जीवादितत्त्वार्थ-पर्यायोंमें, न कि किसी एक पर्यायमें—आपके यहाँ (आपके शासनमें) घटित होते हैं, दूसरों-के यहाँ नहीं—क्योंकि 'प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गी" यह आपके शासनका वचन है, दूसरे सर्वथा एकान्तवादियों-के शासनमें वह बनता ही नहीं। और ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्दके द्वारा नेय हैं—नेतृत्वको प्राप्त हैं—अर्थात् एक विकल्पके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग होने-से शेष छहों विकल्प उसके द्वारा गृहीत होते हैं, उनके पुनः प्रयोगकी जरूरत नहीं रहती, क्योंकि स्यात्पदके साथमें रहनेसे उनके अर्थविषयमें विवादका अभाव होता है। जहाँ कहीं विवाद हो वहाँ उनके क्रमशः प्रयोगमें भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक प्रतिपाद्यके भी सप्त प्रकारकी विप्रतिपत्तियोंका सद्भाव होता है—उतने ही संशय उत्पन्न होते हैं उतनी ही जिज्ञासाओं-की उत्पत्ति होती है और उतने ही प्रश्नवचनों (सवालों) की प्रवृत्ति होती है। और प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें अविरोधरूपसे विधि-निषेधकी जो कल्पना है उसीका नाम 'सप्तभङ्गी' है। अतः नाना प्रतिपाद्यजनोंकी तरह एक प्रतिपाद्यजनके लिये भी प्रतिपादन करने वालोंका सप्त विकल्पात्मक वचन विरुद्ध नहीं ठहरता है।'

स्यादित्यपि स्याद्गुण-मुख्य-कल्पै-
कान्तो यथोपाधि-विशेष-वीक्ष्यः ।
तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं
द्विधा भवार्थ-व्यवहारवत्त्वात् ॥४६॥

''स्यात्' (शब्द) भी गुण और मुख्य स्वभावोंके द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तोंको लिये हुए होता है—नयोंके आदेशसे। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतासे अस्तित्व-एकान्त मुख्य है। शेष नास्तित्वादि-एकान्त गौण है, क्योंकि प्रधानभावसे वे विवक्षित नहीं होते और न उनका निराकरण ही किया जाता है। इसके सिवाय, ऐसा अस्तित्व गधेके सींगकी तरह असम्भव है जो नास्तित्वादि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखता। स्यात्' शब्द प्रधान तथा गौणरूपसे ही उनका द्योतन करता है—जिस पद अथवा धर्मके साथ वह प्रयुक्त होता है उसे प्रधान और शेष पदान्तरों अथवा धर्मोंको गौण बतलाता है, यह उसकी शक्ति है। व्यवहारनयके आदेश(प्राधान्य)से नास्तित्वादि—एकान्त मुख्य है और अस्तित्व-एकान्त गौण है; क्योंकि प्रधानरूपसे वह तब विवक्षित नहीं होता और न उसका निराकरण ही किया जाता है, अस्तित्वका सर्वथा निराकरण करनेपर नास्तित्वादि धर्म बनते भी नहीं, जैसे कछुवेके रोम। नास्तित्वादि धर्मोंके द्वारा अपेक्षमान जो वस्तुका अस्तित्व धर्म है वह 'स्यात्' शब्दके द्वारा द्योतन किया जाता है। इस तरह 'स्यात्' नामका निपात प्रधान और गौणरूपसे जो कल्पना करता है वह शुद्ध (सापेक्ष) नय के आदेशरूप सम्यक्

एकान्तमे करता है, अन्यथा नहीं—क्योंकि वह यथोपाधि—विशेषणानुसार—विशेषका—धर्म-भेद अथवा धर्मान्तरका—द्योतक होता है, जिसका वस्तुमें सद्भाव पाया जाता है।'

'(यहाँपर किसीको यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि जीवादि तत्त्व भी तब प्रधान तथा गौणरूप एकान्त को प्राप्त होजाता है, क्योंकि) तत्त्व तो अनेकान्त है—अनेकान्तात्मक है—और वह अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है, एकान्तरूप नहीं, एकान्त तो उसे नयकी अपेक्षासे कहा जाता है—, प्रमाणकी अपेक्षासे नहीं, क्योंकि प्रमाण सकलरूप होता है—विकलरूप नहीं विकलरूप तत्त्वका एकदेश कहलाता है जो कि नयका विषय है और इसीसे सकलरूप तत्त्व प्रमाणका विषय है। कहा भी है— सकलादेशः प्रमाणाधीनः विकलादेशो नयाधीनः।'

'और वह तत्त्व दो प्रकारसे व्यवस्थित है—एक भवार्थवान होनेसे—द्रव्यरूप, जिसे सद्द्रव्य तथा विधि भी कहते हैं, और दूसरा व्यवहारवान होनेसे—पर्यायरूप, जिसे असद्द्रव्य गुण तथा प्रतिषेध भी कहते है। इनसे भिन्न उसका दूसरा कोई प्रकार नहीं है जो कुछ है वह सब इन्हीं दो भेदोंके अन्तर्भूत है।'

न द्रव्य-पर्याय-पृथग्-व्यवस्था
द्वैयात्म्यमेकाऽर्पणया विरुद्धम् ।
धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥४७॥

'सर्वथा द्रव्यकी (द्रव्यमेव' इस द्रव्यमात्रात्मक एकान्तकी) कोई व्यवस्था नहीं बनती—क्योंकि सम्पूर्ण पर्यायोंसे रहित द्रव्यमात्रतत्त्व प्रमाणका विषय नहीं है—प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे वह सिद्ध नहीं होता अथवा जाना नहीं जासकता; न सर्वथा पर्यायकी (पर्याय एव—एक मात्र पर्याय ही—इस एकान्त सिद्धान्तकी कोई व्यवस्था बनती है—क्योंकि द्रव्यकी एकान्तकी तरह द्रव्यसे रहित पर्यायमात्रतत्त्व भी किसी प्रमाणका विषय नहीं है, और न सर्वथा पृथग्भूत—परस्परनिरपेक्ष—द्रव्य-पर्याय (दोनों) की ही कोई व्यवस्था बनती है—क्योंकि उसमें भी प्रमाणाभावकी दृष्टिसे कोई विशेष नहीं है, वह भी सकलप्रमाणोंके अगोचर है।'

'(द्रव्यमात्रकी, पर्यायमात्रकी तथा पृथग्भूत द्रव्यपर्यायमात्रकी व्यवस्था न बन सकनेसे) यदि सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाय तो यह सर्वथा द्वैयात्म्य एककी अर्पणाके साथ विरुद्ध पड़ता है—सर्वथा एकत्वके साथ द्वयात्मकता बनती ही नहीं—क्योंकि जो द्रव्यकी प्रतीतिका हेतु है और जो पर्यायकी प्रतीतिका निमित्त है वे दोनों यदि परस्परमें भिन्नात्मा हैं तो कैसे तदात्मक एक तत्त्व व्यवस्थित होता है? नहीं होता, क्योंकि अभिन्नका भिन्नात्माओंके साथ एकत्वका विरोध है। जब वे दोनों आत्माएँ एकसे अभिन्न हैं तब भी एक ही अवस्थित होता है, क्योंकि सर्वथा एकसे अभिन्न उन दोनोंके एकत्वकी सिद्धि होती है, न कि द्वैयात्म्य (द्वयात्मकता) की, जो कि एकत्वके विरुद्ध है। कौन ऐसा अमूढ (समझदार) है जो प्रमाणको अङ्गीकार करता हुआ सर्वथा एक वस्तुके दो भिन्न आत्माओं की अर्पणा—विवक्षा करे?—मूढके सिवाय दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। अतः द्वयात्मक तत्त्व सर्वथा एकापणाके—एक तत्त्वकी मान्यताके—साथ विरुद्ध ही है, ऐसा मानना चाहिये।'

(तब अविरुद्ध तत्त्व कैसे सिद्ध होवे? इसका समाधान करते हुए आचार्य महोदय बतलाते हैं—)

(किन्तु हे वीर जिन!) आपके मतमें—स्याद्वादशासनमें—ये धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों असर्वथारूपसे तीन प्रकार—भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाऽभिन्न—माने गये हैं और (इसलिये सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं।—क्योंकि सर्वथारूपसे तीन प्रकार माने जानेपर भी ये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध ठहरते हैं और विरुद्धरूपमें आपको अभिमत नहीं हैं। अतः स्यात्पदात्मक वाक्य न तो धर्ममात्रका प्रतिपादन करता है न धर्मीमात्रका, न धर्म-धर्मी दोनोंको सर्वथा अभिन्न प्रतिपादन करता है, न सर्वथा भिन्न और न सर्वथा भिन्नाऽभिन्न। क्योंकि ये सब प्रतीतिके विरुद्ध हैं। और इससे द्रव्य-एकान्तकी, पर्याय-एकान्तकी तथा

परस्परनिरपेक्ष पृथग्भूत द्रव्य-पर्याय-एकान्तकी व्यवस्थाके न बन सकनेका समर्थन होता है। द्रव्यादिके सर्वथा एकान्तमें युक्त्यनुशासन घटित ही नहीं होता।'

(तब युक्त्यनुशासन क्या वस्तु है, उसे अगली कारिकामें स्पष्ट करके बतलाते हैं—)

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ-
प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्म-
तत्त्व-व्यवस्थं सदिहाऽर्थरूपम् ॥४८॥

'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप—अबाधित विषयस्वरूप—अर्थका जो अर्थसे प्ररूपण है—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण साधनरूप अर्थसे साध्यरूप अर्थका प्रतिपादन है—उसे युक्त्यनुशासन—युक्तिवचन—कहते हैं और वही (हे वीर भगवान्!) आपको अभिमत है।'

'(यहाँ आपके मतानुसार युक्त्यनुशासनका एक उदाहरण दिया जाता है और वह यह है कि) अर्थका रूप प्रतिक्षण (प्रत्येक समय) स्थिति(ध्रौव्य) उदय (उत्पाद) और व्यय(नाश)रूप तत्त्वव्यवस्थाको लिये हुए है, क्योंकि वह सत् है।'

(इस युक्त्यनुशासनमें जो पक्ष है वह प्रत्यक्ष-विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अर्थका ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूप जिस प्रकार बाह्य घटादिक पदार्थोंमें अनुभव किया जाता है उसी तरह आत्मादि आभ्यन्तर पदार्थों में भी उसका साक्षात् अनुभव होता है। उत्पादमात्र तथा व्ययमात्रकी तरह स्थितिमात्रका—सर्वथा ध्रौव्यका—सर्वत्र अथवा कहीं भी साक्षात्कार नहीं होता। और अर्थके इस ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूपका अनुभव बाधक प्रमाणका अभाव सुनिश्चित होनेसे अनुपपन्न नहीं है—उपपन्न है, क्योंकि कालान्तरमें ध्रौव्योत्पादव्ययका दर्शन होनेसे उसकी प्रतीति सिद्ध होती है, अन्यथा खर-विषाणादिकी तरह एकबार भी उसका योग नहीं बनता। अतः प्रत्यक्ष-विरोध नहीं है। आगम-विरोध भी इस युक्त्यनुशासनके साथ घटित नहीं हो सकता; क्योंकि 'उत्पादव्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' यह परमागमवचन प्रसिद्ध है—सर्वथा एकान्तरूप आगम दृष्ट (प्रत्यक्ष) तथा इष्ट (अनुमान)के विरुद्ध अर्थका अभिधायी होनेसे ठग-पुरुषके वचनकी तरह प्रसिद्ध अथवा प्रमाण नहीं है। और इसलिये पक्ष निर्दोष है। इसी तरह सत्‌रूप साधन भी असिद्धादि दोषोंसे रहित है। अतः 'अर्थका रूप प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक है सत् होनेसे,' यह युक्त्यनुशासनका उदाहरण समीचीन है।)

(इस तरह तो यह फलित हुआ कि एक ही वस्तु नाना-स्वभावको प्राप्त है जो कि विरुद्ध है। तब उसकी सिद्धि कैसे होती है उसे स्पष्ट करके बतलाते हैं—)

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-
मेकात्मतामप्रजहच्च नाना।
अङ्गाङ्गि-भावात्तव वस्तु तद्यत्
क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥४९॥

'(हे वीर जिन!) आपके शासनमें जो (जीवादि) वस्तु एक है (सत्‌रूप एकत्व-प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे वह (समीचीन नाना ज्ञानका विषय होनेसे) नानात्मता (अनेकरूपता)का त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्वको प्राप्त होती है—जो नानात्मताका त्याग करती है वह वस्तु ही नहीं, जैसे दूसरोंके द्वारा परिकल्पित ब्रह्माद्वैत आदि। (इसी तरह) जो वस्तु (अबाधित नानाज्ञानका विषय होनेसे) नानात्मक प्रसिद्ध है वह एकात्मताको न छोड़ती हुई ही आपके मतमें वस्तुत्वरूपसे अभिमत है—अन्यथा उसके वस्तुत्व नहीं बनता, जैसे कि दूसरोंके द्वारा अभिमत निरन्वय नानाक्षणरूप वस्तु। अतः-जीवादिपदार्थ समूह परस्पर एक-दूसरेका त्याग न करनेसे एक-अनेक स्वभावरूप है, क्योंकि वस्तुत्वकी अन्यथा उपपत्ति बनती ही नहीं' यह युक्त्यनुशासन है।

(इस प्रकारकी वस्तु वचनके द्वारा कैसे कही जा सकती है? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि) वस्तु जो अनन्तरूप है वह अङ्ग-अङ्गीभावके कारण—गुण-मुख्यकी विवक्षाको लेकर—क्रमसे वचनगोचर

है—युगपत् नहीं, युगपत् (एक साथ) एक रूपसे और अनेकरूपसे वस्तु वचनके द्वारा कही ही नहीं जाती, क्योंकि वैसी वाणीका असंभव है—वचनमें वैसी शक्ति ही नहीं है। और इस तरह क्रमसे प्रवर्तमान वचन वस्तुरूप—सत्य—होता है उसके असत्यत्वका प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि उसकी अपने नानात्व और एकत्वविषयमें अङ्ग-अङ्गीभावसे प्रवृत्ति होती है; जैसे 'स्यादेकमेव वस्तु' इस वचनके द्वारा प्रधानभावसे एकत्व वाच्य है और गौणरूपसे अनेकत्व, 'स्यादनेकमेव वस्तु' इस वचनके द्वारा प्रधानभावसे अनेकत्व और गौणरूपसे एकत्व वाच्य है, इस तरह एकत्व और अनेकत्वके वचनके कैसे असत्यता होसकती है? नहीं होसकती है। प्रत्युत इसके, सर्वथा एकत्वके वचनद्वारा अनेकत्वका निराकरण होता है और अनेकत्वका निराकरण होनेपर उसके अविनाभावी एकत्वके भी निराकरणका प्रसङ्ग उपस्थित होनेसे असत्यत्वकी परिप्राप्ति अभीष्ट ठहरती है; क्योंकि वैसी उपलब्धि नहीं है। और सर्वथा अनेकत्वके वचनद्वारा एकत्वका निराकरण होता है और एकत्वका निराकरण होनेपर उसके अविनाभावी अनेकत्वके भी निराकरणका प्रसङ्ग उपस्थित होनेसे सत्यत्वका विरोध होता है। और इसलिये अनन्त धर्मरूप जो वस्तु है उसे अङ्ग-अङ्गी (अप्रधान-प्रधान) भावके कारण क्रमसे वाग्वाच्य (वचनगोचर) समझना चाहिये।'

स्मरण-शक्ति बढ़ानेका एक अचूक उपाय

यदि तुम विचारके पक्षीको, वह जब और जहाँ प्रकट हो, पिंजड़ेमें बन्द न करोगे तो वह सम्भवतः सदाके लिये तुम्हारे पाससे चला जायगा। कुछ भी हो उसे लिख डालो, उसे फौरन लिखो, बादमें तुम उन दसमेंसे नौको खारिज कर सकते हो। लेकिन अगर तुम उन दसमेंसे एक भी बचाकर रख लोगे तो उससे तुम लाभ उठाओगे। इस लिये जब कभी तुम्हारे सामने नया विचार आये या नई बात दिमागमें पैदा हो, अथवा तुम कोई नई खोज करो तो उसे कागजपर लिख डालो।

* * *

मस्तिष्कके विषयमें यह न समझना चाहिये कि वह किसी बातको ढूँढनेमें पुस्तकालयका काम करेगा, अथवा अपने कामके लिये हमें जिन तथ्योंकी आवश्यकता पड़ती है उनका वह गोदाम है। मस्तिष्कका कार्यक्षेत्र बहुत ऊँचा है—रचना, समन्वय संघटन, प्रेरणा देना और निर्णय करना ये उसके श्रेष्ठ कार्योंमेंसे हैं। यह काम उससे लीजिए।

* * *

कागज और पेंसिल खरीद कर तथ्योंके लिख डालनेमें उनका इस्तेमाल करना, मनमें बेकार बातोंको इकट्ठा करनेकी अपेक्षा बहुत अधिक सस्ता है। यह एक विज्ञान-सम्मत दृष्टिकोण है जिसे गत कुछ वर्षोंसे मनोवैज्ञानिक एकमतसे स्वीकार करने लगे हैं।

—वसन्तलाल वर्मा

जीवका स्वभाव

(लेखक—श्रीजुगलकिशोर जैन, कागजी)

[पाठक, देहलीकी ला० धूमीमल धर्मदासजी कागजीकी प्रसिद्ध फर्मसे अवगत होंगे। श्रीजुगलकिशोरजी जैन इसी फर्मके मालिक हैं। कितने ही वर्षोंसे मुझे आपके निकट सम्पर्कमें आनेका अवसर मिला है। एकबार तो वीरसेवामन्दिरके अनेक प्रकाशनोंको छपानेके लिये कई महीने तक मुख्तारसाहब और मैं आपके घरपर ही ठहरे। हमने निकटसे देखा कि आप बहुत शान्त परिणामी, भद्र, धार्मिक और तत्त्वजिज्ञासु हैं। आप घण्टों तत्त्व-चर्चामें सब काम-काज छोड़कर रस लेते हैं। हालमें आप विदेशोंकी यात्रा करके लौटे हैं। वहाँ आपने अपनी संस्कृति, अपने चारित्र और ज्ञानका कितने ही लोगोंपर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। आपके हृदयमें यही बलवती भावना घर किये हुए है कि देश और विदेशमें जैनधर्मका प्रसार हो—उसके सिद्धान्तोंको दुनिया जाने और जानकर उनका आचरणकर सुख शान्ति प्राप्त करे। प्रस्तुत लेख आपकी पहली रचना है। पाठक, देखेंगे कि वे अपने प्रथम प्रयत्नमें कितने अधिक सफल हुए हैं और जैनधर्मके दृष्टिकोणसे जीवका स्वभाव समझानेमें समर्थ हो सके हैं। समाजको आपसे अच्छी आशाएँ हैं।

—कोठिया]

जैन धर्म प्रत्येक जीवको अनादिकालसे स्वतन्त्र, अनादि और अकृत्रिम बतलाता है। इसमें जीवका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—जो जीवे सो जीव। अर्थात् जो ज्ञान-दर्शन गुणसे सहित है। अनादिकालसे यह जीव इस संसारमें मौजूद है और अनन्तकाल तक रहेगा—न इसको किसीने पैदा किया है और न इसका कोई विनाश कर सकता है। द्रव्यकी अपेक्षासे समस्त जीव नित्य और समान हैं—समान गुणवाले हैं। अनादिकालसे क्रोध, मान माया, लोभ राग, द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय ग्लानि, वेद आदि पुद्गलविकारोंके वशीभूत हुए वे नाना प्रकारके शरीरोंको धारण कर संसारमें घूम रहे हैं। मिथ्यादर्शन (भ्रान्त दृष्टि)से संसारके पदार्थोंमें सुख समझकर वे उनको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते रहते हैं और उन पदार्थोंके मेलको ही सदा अपनाते रहते हैं। मिथ्यादर्शनके ही कारण हर एक प्राणी अपनी रुचिके अनुसार पदार्थोंमें राग व द्वेष करता है। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट मालूम होता है तो वही पदार्थ दूसरेको अनिष्ट। एक पदार्थ एकको लाभदायक ज्ञात होता है तो दूसरेको वह हानिकारक प्रतीत होता है। हर जीव अपने-अपने संकल्प-विकल्पमें पड़ा हुआ किसीसे राग और किसीसे द्वेष करता हुआ शारीरिक व मानसिक दुःखोंको भोगता रहता है। एक शरीरको प्राप्त करता हुआ उसको छोड़कर अन्य नवीन शरीरको ग्रहण करता है। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और सुख प्राप्त करनेका उपाय भी करता है। परन्तु प्रत्येक दिन व प्रत्येक समय उसे यही चिन्ता लगी रहती है कि मेरा कार्य पूर्ण कब और कैसे होगा? मुझे मेरी इच्छित वस्तु कब और कैसे मिलेगी? इस तरह विकल्प-जालोंमें पड़ा हुआ उसकी प्राप्तिके लिये अनुधावन करता है और कोशिश करता है।

यह हम सब देखते ही हैं कि मनुष्य इस संसारमें प्रति-दिन नई-नई खोजें करता जाता है और आराम सुख व शान्तिके उपाय उनमें पाता-सा प्रतीत होता है, परन्तु होता क्या है कि वह उन्हें प्राप्त करके भी

वास्तविक सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता—केवल क्षणिक-सी शान्तिको पाकर फिरसे उन्हीं उलझनोंमें फँस जाता है, पर सच्ची शान्तिका हल वहाँ नहीं पाता।

संसारमें असंख्य पदार्थ दिखाई देते हैं। प्रत्येकमें अनगिनत गुण हैं। प्रति-समय उनकी पर्याय पलटती जाती हैं—किसी पदार्थमें भी स्थिरता नहीं पाई जाती। कोई पैदा होता है तो कोई नाश होता है। यह सब परिवर्तन क्या है? क्या आपने कभी सोचा है? यह सब संसारचक्र है। जिस प्रकार २, ३, ४, ५ आदि शब्दोंके मेलसे नाना प्रकारके पदवाक्यादि बन जाते हैं उसी प्रकार २, ३, ४ आदि वस्तुओंके मेलसे नाना प्रकारके भौतिक पदार्थ नये-नये रूपमें सामने आते रहते हैं। यह संसारका चक्कर है और वह इसी प्रकार सदा चलता रहेगा। मनुष्य अपनी अपूर्ण अवस्थामें कभी भी किसी पदार्थके पूर्ण गुणोंको जान नहीं सकेगा—उसका पूरा ज्ञान कभी नहीं होसकेगा। और इस लिये उसे सदा असंतोष और दुख बना रहेगा। कोई भी प्राणी यह नहीं कहता कि "मैं अब संसारकी सम्पत्ति व प्रभुता प्राप्त कर चुका हूँ और यह सदा मेरे पास इसी तरहसे स्थिर बनी रहेगी और मैं सदा सुख भोगता रहूँगा।" प्रत्येक प्राणी अधिकसे अधिक धनादिककी इच्छा करता है। जो साधु भी होजाते हैं उनमें भी अधिकांश अपनी सेवा कराकर धन आदिका ही आशीर्वाद देते हैं। इससे पता चलता है कि वे साधु होकर भी धनादिकमें ही सुखकी स्थापना करते हैं—उन्हें वास्तविक विवेक-बुद्धि जाग्रत नहीं हुई। आत्माके स्वरूपको उन्होंने नहीं जाना। उनकी दृष्टि सांसारिक भोगोंमें ही लगी रही।

स्वर्गमें जाकर अनेक प्रकारके सांसारिक भोगोंमें रमण करने या नरकमें निवास करके नाना प्रकार की यातनाओंको सहने या मनुष्य-भव प्राप्त करके कला-कौशल तथा प्रभुताको पानेपर भी आत्माको अपने असली स्वरूपकी पहचान नहीं हुई—आत्मा बन्धनमें पड़ा ही रहा। परतन्त्र तो रहा ही।

कितने ही प्राणी यह समझते हैं कि धर्मस्थानोंमें जानेसे और देवोंकी भक्ति-उपासना करनेसे आत्माका असली स्वरूप मालूम होजायगा और इसके लिये वे वहाँ जाते हैं और रागी, द्वेषी नाना प्रकारके देवी-देवताओंकी मान्यताएँ करते हैं। परन्तु उनसे भी उन्हें आत्माका असली स्वरूप मालूम नहीं हो पाता।

वास्तवमें तथ्य यह है कि आत्मामें राग-द्वेषकी कल्पनाका अभाव होजाना ही आत्माकी असली शांति है और वही आत्माका वास्तविक निज स्वभाव है—राग और द्वेषका सर्वथा अभाव अर्थात् प्रशम-गुण-यथाख्यातचारित्रादि आत्मा (जीव) की असली सम्पत्ति है। संसारदशामें वह पुद्गलकर्मोंसे ढकी हुई है—अपने विवेक, संयम, तपःसाधना आदि निज प्रयत्नों से उन पुद्गलकर्मोंके अलग होजानेपर वह प्रकट होजाती है। यह आत्मस्वभाव ही हम सबके लिये उपादेय है और इस दिशामें ही संसारी जीवोंके प्रयत्न श्रेयस्कर एवं दुखमोचक हैं।

कर्म और उसका कार्य

(लेखक—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री)

कर्मकी मर्यादा

कर्मका मोटा काम जीवको संसारमें रोक रखना है। परावर्त्तन संसारका दूसरा नाम है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे वह पाँच प्रकारका है। कर्मके कारण ही जीव इन पाँच प्रकारके परावर्त्तनोंमें घूमता फिरता है। चौरासी लाख योनियाँ और उनमें रहते हुए जीवकी जो विविध अवस्थाएँ होती हैं उनका मुख्य कारण कर्म है। स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामें कर्मके कार्यका निर्देश करते हुए लिखते हैं—

'कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः'

'जीवकी काम-क्रोध-आदिरूप विविध अवस्थाएँ अपने अपने कर्मके अनुरूप होती हैं।'

बात यह है कि मुक्त दशामें जीवकी प्रतिसमय जो स्वाभाविक परिणति होती है उसका अलग अलग निमित्तकारण नहीं है, नहीं तो उसमें एकरूपता नहीं बन सकती। किन्तु संसारदशामें वह परिणति प्रतिसमय जुदी जुदी होती रहती है इसलिये उसके जुदे जुदे निमित्तकारण माने गये हैं। ये निमित्त संस्काररूपमें आत्मासे सम्बद्ध होते रहते हैं और तदनुकूल परिणतिके पैदा करनेमें सहायता प्रदान करते हैं। जीवकी अशुद्धता और शुद्धता इन निमित्तोंके सद्भाव और असद्भावपर आधारित है। जब तक इन निमित्तोंका एकक्षेत्रावगाहसंश्लेशरूप सम्बन्ध रहता है तब तक अशुद्धता बनी रहती है और इनका सम्बन्ध छूटते ही जीव शुद्ध दशाको प्राप्त होजाता है। जैन दर्शनमें इन्हीं निमित्तोंको 'कर्म' शब्दसे पुकारा गया है।

ऐसा भी होता है कि जिस समय जैसी बाह्य सामग्री मिलती है उस समय उसके अनुकूल अशुद्ध आत्माकी परिणति होती है। सुन्दर सुस्वरूप स्त्रीके मिलनेपर राग होता है। जुगुप्साकी सामग्री मिलनेपर ग्लानि होती है। धन-सम्पत्तिको देखकर लोभ होता है और लोभवश उसके अर्जन करने, छीन लेने या चुरा लेनेकी भावना होती है। ठोकर लगनेपर दुःख होता है और मालाका संयोग होनेपर सुख। इस लिये यह कहा जा सकता है कि केवल कर्म ही आत्माकी विविध परिणतिके होनेमें निमित्त नहीं है किन्तु अन्य सामग्री भी उसका निमित्त है अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्रीको मिलना चाहिये।

परन्तु विचार करनेपर यह युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अन्तरङ्गमें वैसी योग्यताके अभावमें बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस योगीके राग-भाव नष्ट होगया है उसके सामने प्रबल रागकी सामग्री उपस्थित होनेपर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरङ्गमें योग्यताके बिना बाह्य सामग्रीका कोई मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्मके विषयमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है।

कर्म वैसी योग्यताका सूचक है पर बाह्य सामग्रीका वैसी योग्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं। कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और कभी उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संयोग देखा जाता है। किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मासे रहता है जबतक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। फिर भी अन्तरङ्गमें योग्यताके रहते हुए बाह्य सामग्रीके मिलनेपर न्यूनाधिक प्रमाणमें कार्य तो होता ही है इस लिये निमित्तोंकी परिगणनामें बाह्य सामग्रीकी भी गिनती होजाती है। पर यह परम्परानिमित्त है इसलिये इसकी परिगणना नोकर्मके स्थानमें की गई है।

इतने विवेचनसे कर्मकी कार्य-मर्यादाका पता लग जाता है। कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है जिससे वह योगद्वारा यथायोग्य शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासके योग्य पुद्गलोंको ग्रहणकर उन्हें अपनी योग्यतानुसार परिणमाता है।

कर्मकी कार्य-मर्यादा यद्यपि उक्त प्रकारकी है तथापि अधिकतर विद्वानोंका विचार है कि बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति भी कर्मसे होती है। इन विचारोंकी पुष्टिमें वे मोक्षमार्गप्रकाशके निम्न उल्लेखोंको उपस्थित करते हैं—'तहां वेदनीय करि तौ शरीर विषै वा शरीर तै बाह्य नाना प्रकार सुख दुःखनिको कारण पर द्रव्य का संयोग जुरै है।'—पृष्ठ ३५।

उसीमें दूसरा प्रमाण वे यों देते हैं—

'बहुरि कर्मनि विषै वेदनीयके उदय करि शरीर विषै बाह्य सुख दुःखका कारण निपजै है। शरीर विषै आरोग्यपनौ, रोगीपनौ, शक्तिवानपनौ, दुर्बलपनौ अर क्षुधा तृषा रोग खेद पीडा इत्यादि सुख दुःखनिके कारण हो है। बहुरि बाह्य विषै सुहावना ऋतु पावनादिक वा इष्ट स्त्री पुत्रादिक वा मित्रधनादिक सुख दुःखके कारक हो हैं।'—पृष्ठ ५६।

इन विचारोंकी परम्परा यहीं तक नहीं जाती है किन्तु इससे पूर्ववर्ती बहुतसे लेखकोंने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। पुराणोंमें पुण्य और पापकी महिमा इसी आधारसे गाई गई है। अमितगतिके सुभाषितरत्नसन्दोहमें दैवनिरूपण नामका एक अधिकार है। उसमें भी ऐसा ही बतलाया है। वहाँ लिखा है कि पापी जीव समुद्रमें प्रवेश करनेपर भी रत्न नहीं पाता किन्तु पुण्यात्मा जीव तटपर बैठे ही उन्हें प्राप्त कर लेता है। यथा—

'जलधिगतोऽपि न कश्चित्कश्चित्तटगोऽपि रत्नमुपयाति।'

किन्तु विचार करनेपर उक्त कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। खुलासा इस प्रकार है—

कर्मके दो भेद है—जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी जो जीवकी विविध अवस्था और परिणामोंके होनेमें निमित्त होते हैं वे जीवविपाकी कर्म कहलाते हैं। और जिनसे विविध प्रकारके शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासकी प्राप्ति होती है वे पुद्गलविपाकी कर्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंमें ऐसा एक भी कर्म नहीं बतलाया है जिसका काम बाह्य सामग्रीका प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय ये स्वयं जीवविपाकी हैं। राजवार्त्तिकमें इनके कार्यका निर्देश करते हुए लिखा है—

'यस्योदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्, यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्।'

—पृ० ३०४।

इन वार्त्तिकोंकी व्याख्या करते हुए वहाँ लिखा है—'अनेक प्रकारकी देवादि गतियोंमें जिस कर्मके उदयसे जीवोंके प्राप्त हुए द्रव्यके सम्बन्धकी अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकारका सुखरूप परिणाम होता है वह साता वेदनीय है। तथा नाना प्रकारकी नरकादि गतियोंमें जिस कर्मके फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, व्याधि, वध और बन्धनादिसे उत्पन्न हुआ विविध प्रकारका मानसिक और कायिक दुःसह दुःख होता है वह असाता वेदनीय है।'

सर्वार्थसिद्धिमें जो सातावेदनीय और असातावेदनीयके स्वरूपका निर्देश किया है। उससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। श्वेताम्बर कार्मिक ग्रन्थोंमें भी इन कर्मोंका यही अर्थ किया है। ऐसी हालतमें इन कर्मोंको अनुकूल व प्रतिकूल बाह्य सामग्रीके संयोग-वियोगमें निमित्त मानना उचित नहीं है। वास्तवमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति अपने-अपने कारणोंसे होती है। इसकी प्राप्तिका कारण कोई कर्म नहीं है।

ऊपर मोक्षमार्ग प्रकाशकके जिस मतकी चर्चा की इसके सिवा दो मत और मिलते हैं। जिनमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश किया गया है। इनमेंसे पहला मत तो पूर्वोक्त मतसे ही मिलता जुलता है। दूसरा मत कुछ भिन्न है। आगे इन दोनोंके आधारसे चर्चा कर लेना इष्ट है—

(१) षट्खण्डागम चूलिका अनुयोगद्वारमें प्रकृतियोंका नाम-निर्देश करते हुए सूत्र १८ की टीकामें वीरसेन स्वामीने इन कर्मोंकी विस्तृत चर्चा की है।

वहाँ सर्व प्रथम उन्होंने साता और असाता वेदनीय का वही स्वरूप दिया है जो सर्वार्थसिद्धि आदिमें बतलाया गया है। किन्तु शङ्का-समाधानके प्रसङ्गसे उन्होंने सातावेदनीयको जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी उभयरूप सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

इस प्रकरणके वाचनेसे ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामीका यह मत था कि सातावेदनीय और असाता-वेदनीयका काम सुख-दुखको उत्पन्न करना तथा इनकी सामग्रीको जुटाना दोनों है।

(२) तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २, सूत्र ४ की सर्वार्थ-सिद्धि टीकामें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके कारणोंका निर्देश करते हुए लाभादिको उसका कारण बतलाया है। किन्तु सिद्धोंमें अतिप्रसङ्ग देनेपर लाभादिके साथ शरीरनामकर्म आदिकी अपेक्षा और लगा दी है। ये दो ऐसे मत हैं जिनमें बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका क्या कारण है इसका स्पष्ट निर्देश किया है। आधुनिक विद्वान भी इनके आधारसे दोनों प्रकारके उत्तर देते हुए पाये जाते हैं। कोई तो वेदनीयको बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिका निमित्त बतलाते हैं। और कोई लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमको। इन विद्वानोंके ये मत उक्त प्रमाणोंके बलसे भले ही बने हों किन्तु इतने मात्रसे इनकी पुष्टि नहीं की जासकती, क्योंकि उक्त कथन मूल कर्मव्यवस्थाके प्रतिकूल पड़ता है।

यदि थोड़ा बहुत इन मतोंको प्रश्रय दिया जा सकता है तो उपचारसे ही दिया जासकता है। वीरसेन स्वामीने तो स्वर्ग, भोग-भूमि और नरकमें सुख-दुखकी निमित्तभूत सामग्रीके साथ वहाँ उत्पन्न होनेवाले जीवोंके साता और असाताके उदयका सम्बन्ध देख कर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि बाह्य सामग्री साता और असाताका फल है। तथा पूज्य-पाद स्वामीने संसारी जीवमें बाह्य सामग्रीमें लाभादि-रूप परिणाम लाभान्तराय आदिके क्षयोपशमका फल जानकर उपचारसे इस नियमका निर्देश किया है कि लाभान्तराय आदिके क्षय व क्षयोपशमसे बाह्य सामग्री की प्राप्ति होती है। तत्त्वतः बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति न तो साता-असाताका ही फल है और न लाभान्तराय आदि कर्मके क्षय व क्षयोपशमका ही फल है।

बाह्य सामग्री इन कारणोंसे न प्राप्त होकर अपने-अपने कारणोंसे ही प्राप्त होती है। उद्योग करना, व्यवसाय करना, मजदूरी करना, व्यापारके साधन जुटाना, राजा महाराजा या सेठ साहुकारकी चाटु-कारी करना, उनसे दोस्ती जोड़ना, अर्जित धनकी रक्षा करना, उसे व्याजपर लगाना, प्राप्त धनको विविध व्यवसायोंमें लगाना, खेती-बाड़ी करना, झाँसा देकर ठगी करना, जेब काटना, चोरी करना, जुआ खेलना, भीख मांगना, धर्मादयको सचित कर पचा जाना आदि बाह्य सामग्रीकी प्राप्तिके साधन हैं। इन व अन्य कारणोंसे बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है उक्त कारणोंसे नहीं।

शङ्का—इन सब बातोंके या इनमेंसे किसी एकके करनेपर भी हानि देखी जाती है सो इसका क्या कारण है?

समाधान—प्रयत्नकी कमी या बाह्य परिस्थिति या दोनों।

शङ्का—कदाचित् व्यवसाय आदि नहीं करनेपर भी धनप्राप्ति देखी जाती है, सो इसका क्या कारण है?

समाधान—यहाँ यह देखना है कि वह प्राप्ति कैसे हुई है? क्या किसीके देनेसे हुई है या कहीं पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है? यदि किसीके देनेसे हुई है तो इसमें जिसे मिला है उसके विद्या आदि गुण कारण हैं या देनेवालेकी स्वार्थसिद्धि, प्रेम आदि गुण कारण हैं। यदि कहीं पड़ा हुआ धन मिलनेसे हुई है तो ऐसी धनप्राप्ति पुण्योदयका फल कैसे कही जा सकती है। यह तो चोरी है। अतः चोरीके भाव इस धनप्राप्तिमें कारण हुए न कि साताका उदय।

शङ्का—दो आदमी एक साथ एक-सा व्यवसाय करते हैं फिर क्या कारण है कि एकको लाभ होता है और दूसरेको हानि?

समाधान—व्यापार करनेमें अपनी अपनी योग्यता और उस समयकी परिस्थिति आदि इसका कारण है, पाप-पुण्य नहीं। संयुक्त व्यापारमें एकको हानि और दूसरेको लाभ हो तो कदाचित् हानि-लाभ

पाप-पुण्यका फल माना भी जाय, पर ऐसा होता नहीं; अतः हानि-लाभको पाप-पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शङ्का—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य-पाप कर्मका फल नहीं है तो फिर एक गरीब और दूसरा श्रीमान् क्यों है?

समाधान—एकका गरीब दूसरेका श्रीमान् होना यह व्यवस्थाका फल है पुण्य-पापका नहीं। जिन देशों में पूँजीवादी व्यवस्था है और व्यक्तिको सम्पत्ति जोड़ने की पूरी छूट है वहाँ अपनी अपनी योग्यता व साधनों के अनुसार लोग उसका संचय करते हैं और इसी व्यवस्थाके अनुसार गरीब और अमीर इन वर्गोंकी सृष्टि हुआ करती है। गरीबी और अमीरी इनको पाप-पुण्यका फल मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है। रूसने बहुत कुछ अंशोंमें इस व्यवस्थाको तोड़ दिया है इसलिये वहाँ इस प्रकारका भेद नहीं दिखाई देता है फिर भी वहाँ पुण्य और पाप तो है ही। सचमुचमें पुण्य और पाप तो वह है जो इन बाह्य व्यवस्थाओंसे परे है और वह है आध्यात्मिक। जैन कर्मशास्त्र ऐसे ही पुण्य-पापका निर्देश करता है।

शङ्का—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य-पापका फल नहीं है तो सिद्ध जीवोंको इसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती?

समाधान—बाह्य सामग्रीका सद्भाव जहाँ है वहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है। यो तो इसकी प्राप्ति जड चेतन दोनोंको होती है। क्योंकि तिजोरी मे भी धन रक्खा रहता है, इसलिये उसे भी धनकी प्राप्ति कही जासकती है। किन्तु जडके रागादि भाव नहीं होता और चेतनके होता है इसलिये वही उसमें ममकार और अहङ्कार भाव करता है।

शङ्का—यदि बाह्य सामग्रीका लाभालाभ पुण्य-पापका फल नहीं है तो न सही पर सरोगता और नीरोगता यह तो पाप-पुण्यका फल मानना ही पड़ता है?

समाधान—सरोगता और नीरोगता यह पाप-पुण्यके उदयका निमित्त भले ही होजाय पर स्वयं यह पाप-पुण्यका फल नहीं है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री अपने-अपने कारणोंसे प्राप्त होती है उसी प्रकार सरोगता और नीरोगता भी अपने-अपने कारणोंसे प्राप्त होती है। इसे पाप-पुण्यका फल मानना किसी भी हालतमें उचित नहीं है।

शङ्का—सरोगता और नीरोगताके क्या कारण हैं?

समाधान—अस्वास्थ्यकर आहार, विहार व सङ्गति करना आदि सरोगताके कारण हैं और स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार व सङ्गति करना आदि नीरोगताके कारण हैं।

इस प्रकार कर्मकी कार्य-मर्यादाका विचार करने पर यह स्पष्ट होजाता है कि कर्म बाह्य सम्पत्तिके संयोग वियोगका कारण नहीं है। उसकी तो मर्यादा उतनी ही है जिसका निर्देश हम पहले कर आये है। हाँ जीवके विविध भाव कर्मके निमित्तसे होते है। और वे कहीं-कहीं बाह्य सम्पत्तिके अर्जन आदिमें कारण पड़ते है, इतनी बात अवश्य है।

नैयायिक दर्शन

यद्यपि स्थिति ऐसी है तो भी नैयायिक कार्यमात्र के प्रति कर्मको कारण मानते है। वे कर्मको जीवनिष्ठ मानते हैं। उनका मत है कि चेतनगत जितनी विषमताएँ है उनका कारण कर्म तो है ही। साथ ही वह अचेतनगत सब प्रकारकी विषमताओंका और उनके न्यूनाधिक संयोगोंका भी जनक है। उनके मतसे जगतमें द्व्यणुक आदि जितने भ कार्य होते है वे किसी न किसीके उपभोगके योग्य होनेसे उनका कर्ता कर्म ही है।

नैयायिकोंने तीन प्रकारके कारण माने है—समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण। जिस द्रव्यमें कार्य पैदा होता है वह द्रव्य उस कार्यके प्रति समवायिकारण है। संयोग असमवायि कारण है। तथा अन्य सहकारी सामग्री निमित्त है। इनकी सहायताके बिना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

ईश्वर और कर्म कार्यमात्रके प्रति साधारण कारण क्यों हैं, इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है

कि जितने कार्य होते हैं वे सब चेतनाधिष्ठित ही होते हैं इस लिये ईश्वर सबका साधारण कारण है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि जब सबका कर्ता ईश्वर है तब फिर उसने सबको एक-सा क्यों नहीं बनाया? वह सबको एक-से सुख एक-से भोग और एक-सी बुद्धि दे सकता था। स्वर्ग-मोक्षका अधिकारी भी सबको एक-सा बना सकता था। दुखी, दरिद्र और निकृष्ट योनिवाले प्राणियोंकी उसे रचना ही नहीं करनी थी। उसने ऐसा क्यों नहीं किया? जगतमें तो विषमता ही विषमता दिखलाई देती है। इसका अनुभव सभीको होता है क्या जीवधारी और क्या जड जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी आकृति, स्वभाव और जाति जुदी-जुदी है। एकका मेल दूसरेसे नहीं खाता। मनुष्य को ही लीजिये। एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यमें बडा अन्तर है। एक सुखी है तो दूसरा दुखी। एकके पास सम्पत्तिका विपुल भण्डार है तो दूसरा दाने-दानेको भटकता फिरता है। एक सातिशय बुद्धिवाला है तो दूसरा निरा मूर्ख। मात्स्यन्यायका तो सर्वत्र ही बोल-बाला है। बड़ी मछली छोटी मछलीको निगल जाना चाहती है। यह भेद यहीं तक सीमित नहीं है, धर्म और धर्मायतनोंमें भी इस भेदने अड्डा जमा लिया है। यदि ईश्वरने मनुष्यको बनाया है और वह मन्दिरोंमें बैठा है तो उस तक उसके सब पुत्रोंको क्यों नहीं जाने दिया जाता है। क्या उन दलालोंको, जो दूसरेको मन्दिरमें जानेसे रोकते हैं, उसीने निर्माण किया है? ऐसा क्यों है? जब ईश्वरने ही इस जगतको बनाया है और वह करुणामय तथा सर्व शक्तिमान है तब फिर उसने जगतकी ऐसी विषम रचना क्यों की? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर नैयायिकोंने कर्मको स्वीकार करके दिया है। वे जगतकी इस विषमताका कारण कर्म मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर जगतका कर्ता है तो सही पर उसने इसकी रचना प्राणियोंके कर्मानुसार की है। इसमें उसका रत्तीभर भी दोष नहीं है। जीव जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार उसे योनि और भोग मिलते हैं। यदि अच्छे कर्म करता है तो अच्छी योनि और अच्छे भोग मिलते हैं और बुरे कर्म करता है तो बुरी योनि और बुरे भोग मिलते हैं। इसीसे कविवर तुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें कहा है—

> करम प्रधान विश्व करि राखा।
> जो जस करहि सो तस फल चाखा॥

इस छन्दके पूर्वार्ध द्वारा ईश्वरवादका समर्थन करनेपर जो प्रश्न उठ खड़ा होता है, तुलसीदासजीने उस प्रश्नका इस छन्दके उत्तरार्ध द्वारा समर्थन करनेका प्रयत्न किया है।

नैयायिक जन्यमात्रके प्रति कर्मको साधारण कारण मानते हैं। उनके मतमें जीवात्मा व्यापक है इस लिये जहाँ भी उसके उपभोगके योग्य कार्यकी सृष्टि होती है वहाँ उसके कर्मका संयोग होकर ही वैसा होता है। अमेरिकामें बनने वाली जिन मोटरों तथा अन्य पदार्थोंका भारतीयों द्वारा उपभोग होता है वे उनके उपभोक्ताओंके कर्मानुसार ही निर्मित होते हैं। इसीसे वे अपने उपभोक्ताओंके पास खिंचे चले आते हैं। उपभोग योग्य वस्तुओंका विभागीकरण इसी हिसाबसे होता है। जिसके पास विपुल सम्पत्ति है वह उसके कर्मानुसार है और जो निर्धन है वह भी अपने कर्मानुसार है। कर्म बटवारेमें कभी भी पक्षपात नहीं होने देता। गरीब और अमीरका भेद तथा स्वामी और सेवकका भेद मानवकृत नहीं है। अपने-अपने कर्मानुसार ही ये भेद होते हैं।

जो जन्मसे ब्राह्मण है वह ब्राह्मण ही बना रहता है और जो शूद्र है वह शूद्र ही बना रहता है। उसके कर्म ही ऐसे हैं जिससे जो जाति प्राप्त होती है जीवन भर वही बनी रहती है।

कर्मवादके स्वीकार करनेमें यह नैयायिकोंकी युक्ति है। वैशेषिकोंकी युक्ति भी इससे मिलती जुलती है। वे भी नैयायिकोंके समान चेतन और अचेतनगत सब प्रकारकी विषमताका साधारण कारण कर्म मानते हैं। यद्यपि इन्होंने प्रारम्भमें ईश्वरवादपर जोर नहीं दिया पर परवर्तीकालमें इन्होंने भी उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

जैन दर्शनका मन्तव्य

किन्तु जैन दर्शनमें बतलाये गये कर्मवादसे इस मतका समर्थन नहीं होता। वहाँ कर्मवादकी प्राण-प्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधारोंपर की गई है।

ईश्वरको तो जैनदर्शन मानता ही नहीं। वह निमित्तको स्वीकार करके भी कार्यके आध्यात्मिक विश्लेषणपर अधिक जोर देता है। नैयायिक-वैशेषिकोंने कार्यकारणभावकी जो रेखा खींची है वह उसे मान्य नहीं। उसका मत है कि पर्यायक्रमसे उत्पन्न होना नष्ट होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है। जितने प्रकारके पदार्थ हैं उन सबमें यह क्रम चालू है। किसी वस्तुमें भी इसका व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। अनादिकालसे यह क्रम चालू है और अनन्तकाल तक चालू रहेगा। इसके मतमें जिस कालमें वस्तुकी जैसी योग्यता होती है उसीके अनुसार कार्य होता है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जिस कार्यके अनुकूल होता है वह उसका निमित्त कहा जाता है। कार्य अपने उपादानसे होता है किन्तु कार्यनिष्पत्तिके समय अन्य वस्तुकी अनुकूलता ही निमित्तताकी प्रयोजक है। निमित्त उपकारी कहा जा सकता है कर्ता नहीं। इसलिये ईश्वरको स्वीकार करके कार्यमात्रके प्रति उसको निमित्त मानना उचित नहीं है। इसीसे जैनदर्शनने जगतको अकृत्रिम और अनादि बतलाया है। उक्त कारणसे वह यावत् कार्योंमें बुद्धिमान्की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता। घटादि कार्योंमें यदि बुद्धिमान निमित्त देखा भी जाता है तो इससे सर्वत्र बुद्धिमान्को निमित्त मानना उचित नहीं है ऐसा इसका मत है।

यद्यपि जैनदर्शन कर्मको मानता है तो भी वह यावत् कार्योंके प्रति उसे निमित्त नहीं मानता। वह जीवकी विविध अवस्थाएँ, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन इन्हींके प्रति कर्मको निमित्त कारण मानता है। उसके मतसे अन्य कार्य अपने अपने कारणोंसे होते हैं कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थ—पुत्रका प्राप्त होना, उसका मर जाना, रोजगारमें नफा-नुकसानका होना, दूसरोंद्वारा अपमान या सम्मानका किया जाना, अकस्मात् मकान का गिर पड़ना, फसलका नष्ट हो जाना, ऋतुका अनुकूल प्रतिकूल होना, अकाल या सुकालका पड़ना, रास्ता चलते-चलते अपघातका होना, किसीके ऊपर बिजलीका गिरना, अनुकूल प्रतिकूल विविध प्रकारके संयोगों व वियोगोंका होना आदि ऐसे कार्य हैं जिनका कारण कर्म नहीं है। भ्रमसे इन्हें कर्मोंका कार्य समझा जाता है। पुत्रकी प्राप्ति होनेपर भ्रमवश मनुष्य उसे अपने शुभ कर्मका कार्य समझता है और उसके मर जानेपर भ्रमवश उसे अपने अशुभ कर्मका कार्य समझता है। पर क्या पिताके शुभोदयसे पुत्रकी उत्पत्ति और पिताके अशुभोदयसे पुत्रकी मृत्यु सम्भव है? कभी नहीं। सच तो यह है कि ये इष्ट संयोग या इष्ट वियोग आदि जितने भी कार्य हैं वे अच्छे बुरे कर्मोंके कार्य नहीं। निमित्त और बात है और कार्य और बात। निमित्तको कार्य कहना उचित नहीं है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें एक नोकर्म प्रकरण आया है। उससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। वहाँ मूल और उत्तर कर्मोंके नोकर्म बतलाते हुए इष्ट अन्न-पान आदिको साता वेदनीयका, अनिष्ट अन्न-पान आदिको असाता वेदनीयका, विदूषक या बहुरूपियाको हास्य कर्मका, सुपुत्रको रतिकर्मका, इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगको अरति कर्मका, पुत्र-मरणको शोककर्मका, सिंह आदिको भयकर्मका और ग्लानिकर पदार्थोंको जुगुप्सा कर्मका नोकर्म द्रव्यकर्म बतलाया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डका यह कथन तभी बनता है जब धन-सम्पत्ति और दरिद्रता आदिको शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयमें निमित्त माना जाता है।

कर्मोंके अवान्तर भेद करके उनके जो नाम और जातियाँ गिनाई गई हैं उनको देखनेसे भी ज्ञात होता है कि बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता में कर्म कारण नहीं है। बाह्य सामग्रियोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलता या तो प्रयत्नपूर्वक होती है या सहज

ही होती है। पहले साता वेदनीयका उदय होता है और तब जाकर इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति होती है ऐसा नहीं है किन्तु इष्ट सामग्रीका निमित्त पाकर साता वेदनीयका उदय होता है ऐसा है।

रेलगाड़ीसे सफर करनेपर या किसी मेलामें हमें कितने ही प्रकारके आदमियोंका समागम होता है। कोई हँसता हुआ मिलता है तो कोई रोता हुआ। इनसे हमें सुख भी होता है और दुख भी। तो क्या ये हमारे शुभाशुभ कर्मोंके कारण रेलगाडीमें सफर करने या मेला ठेला देखने आये हैं? कभी नहीं। जैसे हम अपने कामसे सफर कर रहे हैं वसे वे भी अपने अपने कामसे सफर कर रहे हैं। हमारे और उनके संयोग-वियोगमें न हमारा कर्म कारण है और न उनका ही कर्म कारण है। यह संयोग या वियोग या तो प्रयत्नपूर्वक होता है या काकतालीयन्यायसे सहज होता है। इसमें किसीका कर्म कारण नहीं है। फिर भी यह अच्छे बुरे कर्मके उदयमें सहायक होता रहता है।

नैयायिक दर्शनकी आलोचना

इस व्यवस्थाको ध्यानमें रख कर नैयायिकोंके कर्मवादकी आलोचना करनेपर उसमें हमें अनेक दोष दिखाई देते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो आजकी सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और एकतन्त्रके प्रति नैयायिकोंका कर्मवाद और ईश्वरवाद ही उत्तरदायी है। इसीने भारतवर्षको चालू व्यवस्थाका गुलाम बनाना सिखाया। जातीयताका पहाड लाद दिया। परिग्रह-वादियोंको परिग्रहके अधिकाधिक संग्रह करनेमें मदद दी। गरीबोंको कर्मका दुर्विपाक बताकर सिर न उठाने दिया। छूत-अछूत और स्वामी-सेवक-भाव पैदा किया। ईश्वर और कर्मके नामपर यह सब हममे कराया गया। धर्मने भी इसमें मदद की। विचारा कर्म तो बदनाम हुआ ही धर्मको भी बदनाम होना पड़ा। यह रोग भारतवर्षमें ही न रहा। भारतवर्षके बाहर भी फैल गया।

इस बुराईको दूर करना है

यद्यपि जैन कर्मवादकी शिक्षाओं द्वारा जनताको यह बतलाया गया कि जन्मसे न कोई छूत होता है और न अछूत। यह भेद मनुष्यकृत है। एकके पास अधिक पूँजीका होना और दूसरेके पास एक दमड़ी का न होना, एकका मोटरोंमें घूमना और दूसरेका भीख माँगते हुए डोलना यह भी कर्मका फल नहीं है, क्योंकि यदि अधिक पूँजीको पुण्यका फल और पूँजी के न होनेको पापका फल माना जाता है तो अल्प-संतोषी और साधु दोनों ही पापी ठहरेंगे। किन्तु इन शिक्षाओंका जनता और साहित्यपर स्थायी असर नहीं हुआ।

अन्य लेखकोंने तो नैयायिकोंके कर्मवादका समर्थन किया ही, किन्तु उत्तरकालवर्ती जैन लेखकोंने जो कथासाहित्य लिखा है उससे भी प्रायः नैयायिक कर्मवादका ही समर्थन होता है। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको एक प्रकारसे भूलते ही गये और उनके ऊपर नैयायिक कर्मवादका गहरा रंग चढ़ता गया। अन्य लेखकों द्वारा लिखे गये कथा-साहित्यको पढ़ जाइये और जैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथा-साहित्यको पढ़ जाइये। पुण्य-पापके वर्णन करनेमें दोनोंने कमाल किया है। दोनों ही एक दृष्टि-कोणसे विचार करते हैं। अन्य लेखकोंके समान जैन लेखक भी बाह्य आधारको लेकर चलते हैं। वे जैन मान्यताके अनुसार कर्मोंके वर्गीकरण और उनके अवान्तर भेदोंको सर्वथा भूलते गये। जैन दर्शनमें यद्यपि कर्मोंके पुण्य-कर्म और पाप-कर्म ऐसे भेद मिलते हैं पर इसमें बाह्य सम्पत्तिका अभाव पाप कर्मका फल है और सम्पत्ति पुण्य कर्मका फल है यह नहीं सिद्ध होता। गरीब होकर भी मनुष्य सुखी देखा जाता है और सम्पत्तिवाला होकर भी वह दुखी देखा जाता है। पुण्य और पापकी व्याप्ति सुख और दुखसे की जा सकती है, अमीरी गरीबीसे नहीं। इसीसे जैन दर्शनमें सातावेदनीय और असाता वेदनीयका फल सुख दुख बतलाया है, अमीरी गरीबी नहीं। किन्तु

जैन साहित्यमें यह दोष बराबर चालू है। इसी दोषके कारण जैन जनताको कर्मकी अप्राकृतिक और अवास्तविक उलझनमें फँसना पड़ा है। जब वे कथा-ग्रन्थोंमे और सुभाषितोंमें यह पढ़ते हैं कि पुरुषका भाग्य जागनेपर घर बैठे ही रत्न मिल जाते हैं और भाग्यके अभावमें समुद्रमें पैठनेपर भी उनकी प्राप्ति नहीं होती। सर्वत्र भाग्य ही फलता है। विद्या और पौरुष कुछ काम नहीं आता। तब वे कर्मवादके सामने अपना मस्तक टेक देते हैं। वे जैन कर्मवादके आध्यात्मिक रहस्यको सदाके लिये भूल जाते हैं।

वर्तमान कालीन विद्वान भी इस दोषसे अछूते नहीं बचे हैं। वे भी धनसम्पत्तिके सद्भाव और असद्भावको पुण्य-पापका फल मानते है। उनके सामने आर्थिक व्यवस्थाका रसियाका सुन्दर उदाहरण है। रसियामें आज भी थोड़ी बहुत आर्थिक विषमता नहीं है, ऐसा नहीं है। प्रारम्भिक प्रयोग है। यदि उचित दिशामें काम होता गया और अन्य परिग्रह-वादी अतएव प्रकारान्तरसे भौतिकवादी राष्ट्रोंका अनुचित दबाव न पड़ा तो यह आर्थिक विषमता थोड़े ही दिनकी चीज है। जैन कर्मवादके अनुसार साता-असाता कर्मकी व्याप्ति सुख-दुखके साथ है, बाह्य पूँजी-के सद्भाव-असद्भावके साथ नहीं। किन्तु जैन लेखक और विद्वान आज इस सत्यको सर्वथा भूले हुए हैं।

सामाजिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें प्रारम्भमें यद्यपि जैन लेखकोंका उतना दोष नहीं है। इस सम्बन्धमें उन्होंने सदा ही उदारताकी नीति बरती है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी कि सब मनुष्य एक है। उनमें कोई जातिभेद नहीं है। बाह्य जो भी भेद है वह आजीविकाकृत ही है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य यह जैनधर्म का सार है। इसकी उसने सदा रक्षा की है। यद्यपि जैन लेखकोंने अपने इस मतका बड़े जोरोंसे समर्थन किया था, किन्तु व्यवहारमें वे इसे निभा न सके। धीरे-धीरे पड़ौसी धर्मके अनुसार उनमें भी जातीय भेद जोर पकड़ता गया। जैन कर्मवादके अनुसार उच्च और नीच यह भेद परिणामगत है और चारित्र उसका आधार है। फिर भी उत्तर लेखक इस सत्यको भूलकर आजीविकाके अनुसार उच्च-नीच भेदको मानने लगे।

यद्यपि वर्तमानमें हमारे साहित्य और विद्वानोंकी यह दशा है तब भी निराश होनेकी कोई बात नहीं है। हमें पुनः अपनी मूल शिक्षाओंकी ओर ध्यान देना है। हमें जैन कर्मवादके रहस्य और उसकी मर्यादाओं को समझना है और उनके अनुसार काम करना है। माना कि जिस बुराईका हमने ऊपर उल्लेख किया है वह जीवन और साहित्यमें घुल-मिल गई है पर यदि इस दिशामें हमारा दृढ़तर प्रयत्न चालू रहा तो वह दिन दूर नहीं जब हम जीवन और साहित्य दोनोंमें आई हुई इस बुराईको दूर करनेमें सफल होंगे।

समताधर्मकी जय। गरीबी और पूँजीको पाप-पुण्य कर्मका फल न बतलाने वाले कर्मवादकी जय। छूत और अछूतको जातिगत या जीवनगत न माननेवाले कर्मवादकी जय। परम अहिंसा धर्मकी जय।

जैनं जयतु शासनम्

जैन पुरातन अवशेष

[विहङ्गावलोकन]

(लेखक—मुनि कान्तिसागर)

[गत किरणसे आगे]

दक्षिणभारतमें श्रवणबेल्गोलामें अनेकों महत्वपूर्ण लेखोंकी उपलब्धि हुई है, जो दिगम्बर जैन समाजसे सम्बद्ध हैं। इन लेखोंका देवनागरी-लिप्यंतर एवं तदुपरि सुविस्तृत ऐतिहासिक प्रस्तावना-सहित बम्बईमें प्रकाशन भी होचुका है। काम अवश्य ही उस समयकी प्राप्त सामग्रीके आधारोंकी अपेक्षा सन्तोषप्रद ही कहा जासकता है। दशम शती पूर्वके बहुसंख्यक लेख और भी मिल सकते हैं यदि गवेषणा कीजाय तो।

मध्यकालीन जैन लेखोंकी संख्या अवश्य ही प्राचीनकालकी अपेक्षा कुछ अधिक है। क्योंकि मध्यकालमें जैनोंकी उन्नति भी खूब रही। राजवंशोंमें जैन गृहस्थ सभी उच्च स्थानपर प्रतिष्ठित थे। जैनाचार्य उनकी सभाके बुधजनोंमें आदर ही प्राप्त न करते थे, कहीं-कहीं तो विद्वानोंके अग्रज भी थे, ऐसी स्थितिमें साधनोंकी बाहुल्यताका होना सर्वथा स्वाभाविक है। जैसलमेर, राजगृह (महठियाण-प्रशस्ति), पावापुरी सम्पूर्ण गुजरात और राजपूताना आदि प्रान्तोंमें जो कुछ प्राचीन लेख प्राप्त किये गये हैं उनका बहुत ही कम भाग 'एपिग्राफिका इंडिया' या 'इंडियन एण्टीक्वेरी' में छपा है। स्वर्गीय बाबू पूरनचन्दजी नाहर मुनि श्रीजिनविजयजी, विजयधर्मसूरिजी, मुनिराज पुण्यविजयजी, नन्दलालजी लोढा डा० डी० आर० भांडारकर डा० सांकलिया आदि कुछ विद्वानोंने समय समयपर सामयिकोंमें प्रकाश डाला है। पर आज उनको कितना समय होगया, बहुतसे सामयिक भी सर्वत्र प्राप्त नहीं ऐसी स्थितिमें साधारण श्रेणीके लोग तो उन्हें पढ़नेसे ही वञ्चित रह जाते हैं। बहुत कम लोगोंको पता है कि हमारे लेखोंपर कौन कौन काम कर चुके हैं।

एक बातका उल्लेख मैं प्रसङ्गवशात् करदूं कि प्राचीन और मध्यकालीन लेखनिर्माण और खुदाईमें अंतर था इस विषयपर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा। अजैन विद्वानोंका बहुत बड़ा भाग यह मानता आया है कि ये जैन लेख केवल जैन इतिहास के लिये ही उपयोगी हैं सार्वजनिक इतिहाससे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु ऐसा उनका मानना सत्य से दूर है, कारण-कि जैन लेखोंका महत्व तो राजनैतिक दृष्टिसे किसी भी रूपमें कम नहीं। राजस्थान और गुजरातके जो लेख छपे हैं उनसे यही प्रमाणित हो चुका है कि उस समयकी बहुतसी महत्वपूर्ण राजनैतिक घटनाओंका पता इन्हींसे चलता है। कामराका जो बाकानेर स्टेटपर आक्रमण हुआ था वह घटना तत्रस्थ लेखमें है। गोमटेश्वरके लेखोंसे तो उस समय के दूधके भावों तकका पता चल जाता है। ये मैंने उदाहरण मात्र दिये हैं। समस्त लेखोंकी एक विस्तृत सूची (कौन लेख कहाँ है? विषय क्या है? मुख्य घटना क्या-क्या है? संवत किसका है? लिपि पंक्ति आदि बातोंका ख्याल रहने से सरलता रहेगी) तो बन ही जानी चाहिये। मैं तो यह चाहूँगा कि सम्पूर्ण लेखोंकी एक माला ही प्रकट होजाय तो बहुत बड़ा काम होजाय। प्रत्येक पत्र वाले इस कामको उठा लें—दो चार लेख प्रकाशनकी व्यवस्था करलें तो एक नया क्षेत्र तैयार होजायगा। शर्त यह कि साम्प्रदायिक

मनोभावोंसे काम न लिया जाय। सत्यको प्रकट कर देनेमें ही जैनधर्मकी ठोस सेवा है।

७ प्रतिमा लेखोंकी चर्चा यों तो प्रसङ्गानुसार उपर्युक्त पंक्तियोंमें होचुकी है कि दशम शतीके बाद इसका विकास हुआ। ज्यों-ज्यों प्रतिमाएँ बड़ी-बड़ी बनती गईं त्यों-त्यों उनके निर्माण-विधानमें भी कलाकारोंने परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया। १२वीं शती से लगातार आज तक जो-जो मूर्तियें बनीं उनकी बैठकके पश्चात् और अग्रभागमें स्थान काफी छूट जाता था वहीं पर लेख खुदवाए जाते थे। स्पष्ट कहा जाय तो इसीलिये स्थान छोड़ा जाता था। जब कि पूर्वमें इस स्थानपर धर्मचक्र या विशेष चिह्न या नवग्रह आदि बनाये जाते देखे गये हैं। लेखोंमें प्रतिस्पर्द्धा भी थी. धातुप्रतिमाओंपर भी संवत्, प्रतिष्ठापक आचार्य, निर्मापक, स्थान आदि सूचक लेख रहते थे. जब पूर्वकालीन प्रतिमाओंमें केवल संवत् और नामका ही निर्देश रहता था। हाँ, इतना कहना पड़ेगा कि जैनोंने चाहे पाषाण या धातुकी ही प्रतिमा क्यों न हो, पर उनमें लिपि-सौन्दर्य ज्योंका त्यों सुरक्षित रखा. मध्यकालीन लिपि-विकासके इतिहासमें वर्णित जैन लेखों का स्थान अनुपम है। दिगम्बर जैनसमाजकी अपेक्षा श्वेताम्बरोंने इसपर अधिक ध्यान दिया है। कभी-कभी प्रतिमाओंके पश्चात् भागोंमें चित्र भी खोदे जाते थे। ये लेख हजारोंकी संख्यामें प्रकट होचुके हैं पर अप्रकाशित भी कम नहीं[1]। २५०० बीकानेरके हैं ५०० मेरे संग्रहमें हैं, श्रीसाराभाई नवाबके पास सैकड़ों हैं और भी होंगे। इनकी उपयोगिता केवल जैनोंके लिये ही है इसे मैं स्वीकार न करूँगा।

उपर्युक्त पंक्तियोंसे जैनोंके कलात्मक विशिष्ट अवशेषोंका स्थूलाभास मिल जाता है एवं इस बातका भी पता चल जाता है कि हमारे पूर्व पुरुषोंने कितनी महान् अखूट सम्पत्ति रख छोड़ी है। सच कहा जाये तो किसी भी सभ्य समाजके लिये इनसे बढ़कर उचित और प्रगति-पथ-प्रेरक उत्तराधिकार हो ही क्या सकता है? सांस्कृतिक दृष्टिसे इन शिलाखण्डोंका बहुत बड़ा महत्त्व है मैं तो कहूँगा हमारी और सारे राष्ट्रकी उन्नतिके अमर तत्त्व इन्हींमें लुप्त है। बाहरी अनार्य-म्लेच्छोंके भीषण आक्रमणोंके बाद भी सत्य पारम्परिक दृष्टिसे अखण्डित है। अतः किन किन दृष्टियों से इनकी उपयोगिता है यह आजके युगमें बताना पूर्व कथित उक्तियोंका अनुसरण या पिष्टपेषण मात्र है समय निःस्वार्थभावसे काम करनेका है। समय अनुकूल है। वायुमण्डल साथ है। अनुशीलनके बाह्य साधनोंका और शक्तिका भी अभाव नहीं। अब यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इतने विशाल प्रदेशमें प्रसारित जैन अवशेषोंकी सुरक्षा कैसे की जाय और उनके सार्वजनिक महत्वसे हमारे अजैन विद्वन्-समाजको कैसे परिचय कराया जाय. दोनों प्रश्न गम्भीर तो हैं पर जैन जैसी धनी समाजके लिये असम्भव नहीं है। जो अवशेष भारत सरकार द्वारा स्थापित पुरातत्त्वके अधिकारमें और जैन मन्दिरोंमें विद्यमान हैं वे तो सुरक्षित हैं ही, परन्तु जो यत्र तत्र सर्वत्र खण्डहरोंमें पड़े हैं और जैन समाजके अधिकारमें भी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके महत्वको न तो समाज जानता है न उनकी ओर कोई लक्ष ही है। मैंने अवशेषोंके प्रत्येक भागमें सूचित किया है कि जैन पुरातत्त्व विषयक एक स्वतन्त्र ग्रन्थमाला ही स्थापित की जाय जिसमें निम्न भागोंका कार्य सञ्चालित हो:—

१—जैनमन्दिरोंका सचित्र ऐतिहासिक परिचय।

२—जैन गुफाएँ और उनका स्थापत्य, सचित्र।

३—जैन प्रतिमाओंकी कलाका क्रमिक विकास। इसे चार भागोंमें बाँटना होगा। तभी कार्य सुन्दर और व्यवस्थित हो सकता है।

जैनलेख। इसे भी चार भागोंमें विभाजित करना

---

१ आज भी अनेकों प्रतिमाएँ ऐसी हैं जिनके लेख नहीं लिये गये। दिगम्बर प्रतिमाओंकी संख्या इनमें अधिक है। जैन मुनि विहार करते हैं वे कम से कम आने वाले मन्दिरके लेख लेलें, तो काम हल्का होजायगा, दि० मुनियोंके साथ जो पडितादि परिवार रहता है वह भी कर सकता है; क्योंकि दि० मन्दिरोंमें श्वेताम्बरोंको स्वाभाविक सुविधा नहीं मिलती है, मुझे अनुभव है।

पड़ेगा—१ प्राचीन प्रस्तर लेख, २ सम्पूर्ण प्रतिमा लेख जो प्रस्तरपर है[1], ३ मध्यकालीन प्रस्तर लेख, ४ धातु प्रतिमाओंके लेख।

५—भिन्न भिन्न विविध भावदर्शक[2] जो शिल्प मिलते हैं, उनको सचित्ररूपमें जनताके सम्मुख रखा जाय, यह कार्य कुछ कठिन अवश्य है पर है महत्व-पूर्ण।

६—जैनकलासे सम्बद्ध मन्दिर, प्रतिमाएँ, मान-स्तम्भ, लेख, गुफाएँ आदि प्रस्तरोत्कीर्ण शिल्पोंकी ऐसी सूची तैयार की जानी चाहिये जिससे पता चल जाय कि कहाँपर क्या है? इसमें अजायबघरोंकी सामग्री भी आजानी चाहिये[1]।

जबतक उपर्युक्त कार्य नहीं होजाते है तबतक जैन पुरातत्त्वका विस्तृत या संक्षिप्त इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। कई बार मैंने अपने परम श्रद्धेय और पुरातत्त्व विषयक मेरी प्रवृत्तिके प्रोत्साहक पुरा-तत्त्वाचार्य श्रीमान् जिनविजयजी आदि कई मित्रोंसे कहा कि आप पुरातत्त्वपर जैन दृष्टिसे क्यों न कुछ लिखे, सर्व स्थानोंसे एक उत्तर मिलता है "साधना कहाँ है?" बात यथार्थ है। सामग्री है पर उपयुक्त प्रयोक्ताके अभावमें यों ही दिन प्रतिदिन नष्ट हो रही है। मेरा विश्वास है कि हमारी इस पीढ़ीका काम है साधनोंको एकत्रित करना विस्तृत अध्ययन, मनन और लेखन तो अगली परम्पराके विद्वान करेंगे। साधनोंको टटोलनेमें भी बहुत समय लग जायगा। जैन मन्दिरों, गुफाओं और प्रतिमाओं आदिके प्राचीन चित्र कुछ तो प्रकाशित हुए हैं फिर भी अप्रकट भी कम नहीं; जो प्रकट हुए हैं वे केवल प्राचीनताको प्रमाणित करनेके लिये ही उनपर कलाके विभिन्न अङ्गोंपर समीक्षात्मक प्रकाश डालनेका प्रयास नहीं किया गया है। रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन और बङ्गाल, 'आर्किलॉजिकलसर्वे आफ इण्डिया' के रिपोर्ट 'रूपम्' 'इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री', 'सोसा-इटी ऑफ दी इण्डियन ओरिएन्टल आर्ट बम्बई यूनिवर्सिटी', 'जनरल ऑफ दी अमेरिकन सोसाइटी ऑफ दी आर्ट', 'भांडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टि-टियूट' 'इण्डियन कलचर' आदि जनरल्स एवं भारतीय अभारतीय आश्चर्य गृहोंकी सूचियोंमें जैन पुरातत्त्व और कलाके मुखको उज्वल करने वाली सामग्री पर्याप्तमात्रामें भरी पड़ी है (जैन पुरातत्त्व विस्तृत ग्रंथ सूची और अवशेषोंकी एक सूची मैंने

१ इस विभागपर यद्यपि कार्य होचुका है पर जो अवशिष्ट है उसे पूर्ण किया जाय।

२ इस प्रकारके विविध भावोंके परिपूर्ण शिल्पोंकी समस्या तब ही सुलझाई जासकती है जब प्राचीन साहित्यका तलस्पर्शी अध्ययन हो, एक दिन मैं रॉयल एशियाटिक सोसाइटीके रीडिंगरूममें अपने टेबलपर बैठा था इतनेमें मित्रवर्य अर्द्धेन्दुकुमार गांगुलीने—जो भारतीय कलाके महान् समीक्षक और 'रूपम्' के भूतपूर्व सम्पादक थे—मुझे एक नवीन शिल्पकृतिका फोटू दिया, उनके पास बड़ोदा पुरातत्त्व विभागकी ओरसे आया था कि वे इस पर प्रकाश डालें, मैंने उसे बड़े ध्यानसे देखा, बात समझ में आई कि यह नेमिनाथजीकी बरात है पर यह तो तीन चार भागोंमें विभक्त था, प्रथम एक तृतियांशमें नेमिनाथ जी विवाहके लिये रथपर आरूढ होकर जारहे हैं, पथपर मानव समूह उमड़ा हुआ है, विशेषता तो यह थी सभीके मुखपर हर्षोल्लासके भाव झलक रहे थे, रथके पास पशु रुध था, आश्चर्यान्वितभावोंका व्यक्तिकरण पशुमुखोंपर बहुत अच्छे ढगसे व्यक्त किया गया था, ऊपरके भागमें रथ पर्वतकी ओर प्रस्थित बताया है। इस प्रकारके भावों की शिल्पोंकी स्थिति अन्यत्र भी मैंने देखी है पर इसमें तो और भी भाव थे जो अन्यत्र शायद आज तक उप-लब्ध नहीं हुए। यही इसकी विशेषता है। ऊपरके भाग मे भगवानका लोच बताया है, देशना भी है और निर्वाण महोत्सव भी है, दक्षिण कोनेपर राजिमतीकी दीक्षा और गुफामें कपड़े सुखानेका दृश्य सुन्दर है इतने भावोंका व्यक्तिकरण जैन कलाकी दृष्टिसे बहुत महत्व रखता है। मेरे इसका उदाहरण देनेका एक ही प्रयोजन है कि ऐसे साधन जहाँ कहीं प्राप्त हों तुरन्त फोटू तो उतरवा ही लेना चाहिये।

१ इन छहों विभागोंपर किस पद्धतिसे काम करना होगा इसकी विस्तृत रूपरेखामें अलग निबन्धमें व्यक्त करूंगा।

आरम्भ करदी है) कुछ अवशेष भी अभी कारखानेमे बन्द हैं। इन सभीकी सहायतासे काम प्रारम्भ कर देना चाहिये। परन्तु एक बातको ध्यानमे रखना आवश्यक है कि जहाँ तक होसके अपनी मौलिक खोज को ही महत्व देना चाहिए अपनी दृष्टिसे जितना अच्छा हम अपने शिल्पोंको देख सकेंगे उतना दूसरी दृष्टिसे संभव नहीं।

इन कामोंको कैसे किया जाय यह एक समस्या है मुझे तो दो रास्ते अभी सूझ रहे हैं:—

१ पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी, बाबू छोटेलालजी जैन डा० हीरालाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, मुनि पुण्यविजयजी, विजयेन्द्रसूरि, बाबू जुगलकिशोर मुख्तार, पं० नाथूरामजी प्रेमी, डा० बूलचन्द, डा० बनारसीदासजी जैन, श्री कामताप्रसाद जी जैन, डा० हँसमुख सांकलिया, मि० उपाध्याय, श्री उमाकान्त प्रे० शाह, डा० जितेन्द्र बैनरजी, प्रो० अशोक भट्टाचार्य, श्रीयुत अर्द्धेन्दुकुमार गांगुली, डा० कालीदास नाग, अंजुली मजूमदार, डा० स्टेला श्रीरणछोड़लाल ज्ञानी, डा० मोतीचन्द, डा० अग्रवाल, डा० पी० के० आचार्य, डा० विद्याधर भट्टाचार्य, अगरचन्द नाहटा साराभाई नवाब आदि जैन एवं जैन पुरातत्त्वके विद्वान एवं अनुशीलक व्यक्तियोंका एक "जैन पुरातत्त्व संरक्षक संघ" स्थापित करना चाहिये। इनमेंसे जो जिस विषयके योग्य विद्वान हो उनको वह कार्य सौंपा जाय। ऊपर मैने जो नाम दिये हैं उनमेंसे ११ व्यक्तियोंको मैंने अपनी यह योजना मौखिक कह सुनाई थी, जो सहर्ष योगदान देनेको तैयार है। हाँ कुछेक पारिश्रमिक चाहेंगे। इसकी कार्य पद्धतिपर विद्वान जैसे सुझाव दे वैसे ढङ्गसे विचार किया जासकता है। उनको सादर आमन्त्रण है। मान लीजिये संघ स्थापित होगया। परन्तु इसकी संकलना तभी संभव है जब प्रत्येक प्रान्त और जिलेके व्यक्तियों का हार्दिक और शारीरिक सहयोग प्राप्त हो, क्योंकि जिन-जिन प्रान्तोंमे जैन संस्थाएँ है उनके पुरातत्त्व प्रेमी कार्यकर्ताओं और प्रत्येक जिलेके शिक्षित जैनो का परम कर्तव्य होना चाहिए कि वे (यदि स्थापित होजानेके बाद स्थान निश्चित होजायें तब) अपने प्रांत जिले और तहसीलमें पाये जाने वाले जैन अवशेषो की सूचना, यदि संभव होसके तो वर्णनात्मक परिचय और चित्र भी, भेजकर सहायता प्रदान करें। क्योंकि बिना इस प्रकारके सहयोगके काम सुचारु रूपसे चल न सकेगा. यदि प्रान्तीय संस्थाएँ प्रान्तवार इस कामको प्रारम्भ करदे तो अधिक अच्छा होगा, कमसे कम उनकी सूची तो अवश्य ही 'अनेकान्त' कार्यालय मे भेजें, वैसे निबन्ध भी भेजें, उनको सादर सप्रेम आमन्त्रण है।

अब रही आर्थिक बात, जैनोंके लिये यह प्रश्न तो मेरी विनम्र सम्मतिके अनुसार उठना ही नहीं चाहिये क्योंकि देव द्रव्यकी सर्वाधिक सम्पत्ति जैनोंके पासमें है, इसमें मेरा तो निश्चित मत है कि समस्त भारतीय सम्प्रदायोंकी अपेक्षा जैनी चाहे तो अपने स्मारकोंको अच्छी तरह रख सकते है। इससे बढ़कर और क्या सदुपयोग उस सम्पत्तिका समयको देखते हुए हो सकता है। अपरिग्रह पूर्ण जीवन यापन करने वाले वीतराग परमात्माके नामपर अटूट सम्पत्ति एकत्र करना उनके सिद्धान्तकी एक प्रकारसे नैतिक हत्या करना है। यदि इस सम्पत्तिके रक्षक (?) इस कार्यके लिये कुछ रकम देदे तो उत्तम बात, न दे तो भी सारा भारतवर्ष पड़ा हुआ है माँगके काम करना है तब चिन्ता ही किस बातकी है। मेरी सम्यत्यनुसार यदि "भारतीय ज्ञान-पीठ" काशी इस कार्यको अपने नेतृत्वमें करावे तो क्या कहना, क्योंकि उन्हें श्रीमान पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, बा० लक्ष्मीचन्दजी एम० ए० और श्री-अयोध्याप्रसादजी गोयलीय जैसे उत्कृष्ट संस्कृति प्रेमी और परिश्रम करने वाले बुद्धि जीवी विद्वान प्राप्त हैं। पूर्वमें ग्राहक बनाना प्रारम्भ करदे तो भी कमी नहीं रह सकती। ये बाते केवल यो ही लिख रहा हूँ सो बात नहीं है आज यदि कार्य प्रारम्भ होता है तो ५०० ग्राहक आसानीसे तैयार किये जासकते है ऐसा मेरा दृढ़ अभिमत है।

२ दूसरा उपाय यह है कि जितने भी भारतमें जैन विद्यालय या कॉलेज हैं उनमें अनिवार्यरूपसे जैन

कलाविशेषोंका ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था होनी चाहिए, कमसे कम सप्ताहमें एक क्लास तो होना ही चाहिए। इससे विद्यार्थियोंके हृदयमें कला भावनाके अंकुर फूटने लगेंगे, होसकता है उनमेंसे कर्मठ कार्य-कर्ता भी तैयार होजाये। ग्रीष्मावकाशमें जो 'शिक्षण शिविर' होता है उसमें भी ३-४ भाषण इस विषयपर आयोजित हो तो क्या हर्ज है गत वर्ष कलकत्तासे मैंने विद्वत परिषद्के मन्त्रीजीका ध्यान शिल्पकलापर भाषण दिलानेकी ओर आकृष्ट किया था पर ३-३ पत्र देनेके बावजूद भी उनकी ओरसे कोई उत्तर आज तक मैं प्राप्त न कर सका। संस्कृतके विद्वानोंको इतनी इन-की उपेक्षा न करनी चाहिए। जिस युगमें हम जाते हैं और आगामी नवनिर्माणमें यदि हमें अपना सांस्कृतिक योगदान करना है तो पाषाणोंसे ही मस्तिष्कको टक-राना होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विषयका साहित्य सामूहिक रूपमें एक स्थानमें प्रकाशित नहीं हुआ, अतः वक्ताको परिश्रम तो करना होगा, उन्हें पर्याप्त अध्ययनके बाद वर्णित कृतियोंके साथ चक्षु-संयोग भी करना आवश्यक होगा। अस्तु, आगे ध्यान दिया जायगा तो अच्छा है। मैं विश्वासके साथ कहता हूँ कि वे यदि इस विषयपर ध्यान देंगे तो वक्ता की कमी नहीं रहेगी। वर्तमानमें मैं देखता हूँ कि लोग शीघ्र कह डालते हैं कि क्या करें, कोई विद्वान नहीं मिलता है इसका कारण यही प्रतीत होता है कि सभी विषयके विद्वानोंका सम्पर्क न होना।

जैन शिल्पकलाके विशाल ज्ञान प्राप्त करनेका यह भी मार्ग है कि या तो स्वतन्त्ररूपसे इसके गम्भीर साहित्यादिका अध्ययन किया जाय बादमें अवशेषों का विशिष्टदृष्टिसे खासकर तुलनात्मकदृष्टिसे समु-चित निरीक्षण किया जाय अथवा एतद्विषयक विशिष्ट विद्वानोंके पास रहकर कुछ प्राप्त किया जाय दूसरा तरीका सर्वश्रेष्ठ है बिना ऐसा किये हमारा अध्ययन-सूत्र विस्तृत और व्यापक मनोभावों तक पहुँचेगा नहीं। अस्तु।

जैन समाजके पास कोई भी ऐसा व्यापक अजा-यबघर भी नहीं जिसमें सांस्कृतिक सभी समस्याओं को प्रकाशित करने वाले मौलिक साधन सुरक्षित रखे जायें, अलग-अलग कुछ गृहस्थोंके पास सामग्रियाँ हैं पर उनका देखना सभीके लिये सम्भव नहीं जब तक उनकी वैयक्तिक कृपा न हो।

मैं जैनतीर्थों और प्राचीन मन्दिरोंके जीर्णोद्धार करानेवाले धनवानोंको कहूँगा कि जहाँ कहींका भी जीर्णोद्धार करावें भूलकर भी प्राचीन वस्तुको समूल नष्ट न करें, न जाने क्या बुरी हवा हमारे समाजपर अधिकार जमाए हुए है कि लोग पुरानी कलापूर्ण सामग्रीको हटाकर तुरन्त मकरानेके पत्थरसे रिक्त स्थानकी पूर्ति कर देते हैं और वे अपनेको धन्य भी मानते हैं। यही बड़ी भारी भूल है। न केवल जैन समाजको ही अपितु सभी भारतीयोंको संगमरमर पाषाणका बड़ा मोह लगा हुआ है जो सूक्ष्म कला-कौशलको पनपने नहीं देता। प्राचीन मन्दिर और कलापूर्ण जैनादि प्रतिमा एवं अन्य शिल्पोंके दर्शनका जिन्हें थोड़ा भी सौभाग्य प्राप्त है वे दृढ़ता पूर्वक कह सकते हैं कि पुरातन प्रबल कल्पनाधारी कलाकार और श्रीमन्तगण अपने ही प्रान्तमें प्राप्त होने वाले पाषाणोंपर ही विविध भावोत्पादक शिल्पका प्रवाह बड़ी ही योग्यता पूर्वक प्रवाहित करते-करवाते थे, वे इतनी शक्ति रखते थे कि कैसे भी पाषाणको वे अपने अनुकूल बना लेते थे, उनपर कीगई पॉलिश आज भी स्पर्द्धाकी वस्तु है। अल्प परिश्रमसे आज लोग सुन्दर शिल्पकी जो आशा करते हैं वह दुराशा मात्र है।

मेरी रुचि थी कि मैं जैन शिल्पकलाके जो जो फुटकर चित्र जहाँ कहीं भी प्रकाशित हुए हैं उनकी विस्तृत सूची एवं जिन महानुभावोंने उपयुक्त विषय-पर आजतक महान परिश्रम कर जो महद् प्रकाश डाला है उन प्रकाशित स्थान या पत्रादिका उल्लेख कर दूँ परन्तु यों भी नोटका निबन्ध तो बन ही गया है अतः अब कलेवर बढ़ाना उचित न जानकर केवल अति संक्षिप्तरूपसे इतना ही कहूँगा कि 'भारतीय जैन तीर्थ और उनका शिल्प स्थापत्य' नामक एक ग्रन्थ जैन शिल्प विद्वान श्री साराभाई नवाबने श्रम

पूर्वक प्रकट किया है, पर इस संग्रहमें केवल कलात्मक दृष्टिसे ही काम लिया जाता तो ग्रन्थका महत्व निःसंदेह बहुत बढ़ जाता, ऐसे मूल्यवान ग्रन्थोंमें विषयके सार्वभौमिक महत्वपर प्रकाश डालने वाली भूमिका न हो, सबसे बड़ी कमी है। श्वेताम्बर सम्प्रदायसे इन चित्रोंका सम्बन्ध है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्यमें जो भी भाग प्रकट होंगे उनमें इसकी पूर्तिपर समुचित ध्यान दिया जायगा, जब एक नवीन विषयको लेकर कोई भी व्यक्ति समाजमें उपस्थित हो और विषय स्फोटिनी भूमिका न हो तो जिनको शिल्प का सामान्य भी ज्ञान न हो तो वे उसे कैसे तो समझ सकते हैं और क्या ही उनके आन्तरिक मर्मको हृदयङ्गम कर कार्य आगे बढ़ा सकते हैं। "आबू" भी इसी प्रकार है। जैन संस्थाएँ या मुनिवर्ग इसकी उपेक्षा करते हैं। अबसे इसे ध्यानमें रखा जाय।

जैन पुरातत्त्वकी और भी जो शाखाएँ हैं वे मेरे ध्यानसे बाहर नहीं है पर मैं जानबूझ कर उनको यहाँ उल्लिखित नहीं कर रहा हूँ। सम्भव है यदि समय और शक्तिने साथ दिया तो अगले निबन्धमें लिखूं। इस निबन्धमें सबसे बड़ी कमी जो चित्रोंकी रह गई इसे मैं दुःख पूर्वक स्वीकार करता हूँ। क्योंकि समस्त प्रकृतियोंकी व्यवस्था न सका, एक कारण यह भी है कि निबन्ध लेखन कार्य विहारमें ही हुआ है। यदि किसी भी प्रकारकी स्खलनाएँ रह गई हो तो पाठक मुझे अवश्य ही सूचित करे। जैन संस्कृति प्रेमी भाई बहनोंको एवं गवेषकोंसे मेरा निवेदन है कि वे ऊपर सूचित कार्यमें अधिकसे अधिक सहायता प्रदान करें। यदि किसी भी अंशमें निबन्ध उपयोगी प्रमाणित हुआ हो तो मैं अपना अत्यन्त क्षुद्रप्रयास सफल समझूँगा।

गङ्गासदन, पटनासिटी

ता० १३-५-१९४८

वैशाली-(एक समस्या)

(लेखक—मुनि कान्तिसागर, पटना सिटी)

इसमें कोई संदेह नहीं कि आजके परिवर्तनशील युगमें अज्ञानता वश अपने ही पैरोंसे पूर्वजोंकी कीर्ति-लताकी जड़ कुचली जारही है। जहाँपर आध्यात्मिक ज्योतिको प्रज्वलित करने वाले प्रातः स्मरणीय महा-पुरुषोंने वर्षों तक सांसारिक वासनाओंका परित्याग कर भीषणातिभीषण अकथनीय कष्ट और यातनाओं को सहनकर, किसी भी प्रकारके विघ्नोंकी लेशमात्र भी चिन्ता न कर आत्मिक विकासके प्रशस्त मार्गपर अग्रसर होनेके लिये एवं भविष्यके मानवके कल्याणार्थ कठोरतम साधनाएँ की थीं, मानव संस्कृति और सभ्यताके उन्नतम विकसित तत्त्वोंकी जहाँपर गम्भीर गवेषणा हुई, मानव ही क्यों, जहाँपर जीवमात्रको सुखपूर्वक जीवन-यापन करनेका नैतिक अधिकार मिला, "वसुधैवकुटुम्बकम" जैसे आदर्श वाक्यको जीवनमें चरितार्थ करनेकी योजना जहाँपर सुयोजित हुई, जिस भूमिने अनेको ऐसे माईके लाल उत्पन्न किये जिन्होंने देश, समाज और सांस्कृतिक तत्त्वोंकी रक्षाके लिये अपनी प्यारी जान तककी हँसते-हँसते बाजी लगादी, अपने चिरंतन आदर्शसे पतित न हुए अपितु अनेकोंको वास्तविक मार्गपर लाये उन पवित्र आत्माओं के संस्मरण जिस भूमिके साथ व्यवहारिक रूपसे जुड़े हुए हों ऐसे स्थानको कोई भी विचारशील, सुसंस्कृत व्यक्ति कैसे भूल सकता है? उनसे आज भी हमें प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है। वहाँके रजःकरण सांस्कृतिक इतिहासके अमर तत्त्वोंसे ओत-प्रोत है। जहाँपर पैर रखनेसे हमारे मस्तिष्कमें उन्नतर विचारों की बाढ़ आने लगती है, अतीत फिल्मके अनुसार घूम जाता है, पूर्वकालीन स्वर्णिम स्मृतियाँ एकाएक जागृत हो उठती है, हृदयमें तूफान-सा वायुमण्डल थिरकता है, नसोंमें रक्तका दौड़ाव गति पार कर जाता है, रोम-रोम पुलकित हो उठते हैं, मानव खड़ा-खड़ा न जाने चित्रवत् क्या-क्या खींचता है, कहनेका तात्पर्य यह कि कुछ क्षणोंके जीवनमें आमूल परिवर्तन हो जाता है, हृदयमें उमँगोंकी तरँगें उठती रहती है और

संसार क्षणिक सुखका स्वप्न भासित होने लगता है। कभी आपने सोचा है ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन क्यों होजाता है? तीर्थस्थानोंकी महिमाका यही बहुत बड़ा प्रभाव है। बहुतोंके जीवनमें ऐसे अनुभव अवश्य ही हुए होंगे। मैं तो जब कभी प्राचीन तीर्थस्थान या खण्डहरोंमें पैर रखता हूं तब अवश्य ही ऐसे क्षणिक आनन्दकी घड़ियोंका अनुभव करता हूं। अतः हमारी संस्कृतिके जीवित प्रतीकसम प्राचीन तीर्थस्थानों की रक्षाका प्रश्न अविलम्ब हाथमें लेने योग्य है। ऐसे स्थानोंमें वैशालीकी भी परिगणना सरलतासे की जा सकती है। जैनसाहित्यमें इसका स्थान बहुत गौरव पूर्ण है। ई० स० पूर्व छठवीं शतीमें यह जैनसंस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र था, उन दिनों न जाने वहाँ की उन्नति कितनी रही होगी श्रमण भगवान महावीर स्वामीजीकी जन्मभूमि होनेका सौभाग्य भी अब इसे प्राप्त होने जारहा है। आचाराङ्ग और पवित्र कल्पसूत्रादि जैनसाहित्यके प्रधान ग्रन्थोंसे भी प्रमाणित हुआ है। गणतंत्रात्मक राज्यशासन पद्धतिका यहाँपर परिपूर्ण विकास हुआ था जिसकी दुहाई आजके युगमें भी दी जारही है। तात्कालिक भगवान महावीर दीक्षित होनेके बाद जिन-जिन नगरोंमें विचरण करते थे उनकी अवस्थिति आज भी नामोंके परिवर्तनके साथ विद्यमान है। कुमार ग्राम, मोराकसन्निवेश आदि-आदि। यों तो वर्तमानमें लछवाड और कुंडलपुर श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायोंके द्वारा क्रमशः जन्म स्थान माने जाते हैं पर वे मेरे ध्यानसे स्थापना तीर्थ रहे होंगे। क्योंकि गत ४ सौ वर्षोंमें ही या इससे कुछ अधिक कालके उल्लेख ही लछवाड़की पुष्टि करते हैं सम्भव है बादमें श्वेताम्बरोंने इसे जन्म स्थान मान लिया हो। इन उभय स्थानोंकी यात्रा करनेका सौभाग्य मुझे इसी वर्ष प्राप्त हुआ है। परन्तु उभय स्थानोंकी वर्तमान स्थितिको देखते हुए यह मानना कठिन-सा प्रतीत होरहा है कि वहाँपर भगवान महावीरका जन्म हुआ होगा, ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थिति इससे संगति नहीं रखती। इस विषयपर अधिक रुचि रखने वाले महानुभावोंसे मैं निवेदन कर देना चाहूँगा कि वे आचार्य श्रीविजयेन्द्रसूरिजी कृत "वैशाली" का अध्ययन करें। आपने इसमें गम्भीरताके साथ विश्लेषण किया है।

पुरातत्त्वाचार्य श्रीमान् जिनविजयजी, डॉ० याकोबी और डॉ० हॉर्नलेने बहुत समय पूर्व जैन समाजका ध्यान इस वैशाली की ओर आकृष्ट किया था पर तब बात संदिग्ध थी, किन्तु गत चार वर्षोंसे तो इस आन्दोलनको बड़ा महत्त्व दिया जारहा है। गत वर्ष स्टेटसमैनसे श्रीयुत जगदीशचन्द्र माथुर I. C. S. ने इस ओर जैनोंको फिर खींचा और बतलाया कि वैशाली भगवान् महावीरका जन्म स्थान होनेके कारण उनका एक विशाल स्तम्भ वा स्टेच्यु वहाँ प्रस्थापित किया जाना चाहिये जिससे स्मृति सदाके लिये बनी रहे। आप ही के प्रयत्नोंसे वहाँपर "वैशाली संघ" की स्थापना हुई जिसका प्रधान उद्देश्य पत्र विधान और चतुर्थ वार्षिकोत्सव का मेरे सम्मुख है। संघका प्रधान कार्य इस प्रकार बँटा हुआ है—"वैशालीके प्राचीन इतिहास और संस्कृति तथा इसके द्वारा उपस्थित किये गये प्रजा—सत्तात्मक आदर्शोंमें लोकरुचि जागृत करना, वैशालीके और उसके समीपके पुरातत्त्व सम्बन्धी स्थानोंकी खुदाईके लिये उद्योग करना और उनके संरक्षणमें सहायता देना" इनके अतिरिक्त वैशालीका प्रामाणिक इतिहास और वहाँपर पल्लवित पुष्पित संस्कृतिके गौरव पूर्ण अवशेषोंकी रक्षा एवं उन परसे जागृति प्राप्त कर हर उपायोंसे प्राचीन आदर्श, का—जो यहाँ पूर्वमें थे—पुनरुज्जीवन, पुस्तकालयों वाचनालय, प्रमाणोंकी सांस्कृतिक दृष्टिसे उन्नति आदि कार्य हैं। भारतवर्षमें योजनाएँ तो सर्वांगपूर्ण बनती है पर किसी एक आवश्यक अङ्गपर भी समुचित रूपेण कार्य नहीं होता। केवल प्रतिवर्ष एक शानदार जल्सा होजाता है, लोग लम्बे-लम्बे व्याख्यान दे डालते हैं। अप-टू-डेट निमन्त्रण पत्र छपते हैं। चार दिनकी चहल-पहलके बाद "वही रफ्तार बेढङ्गी" आश्चर्य इस बातका है कि कभी-कभी सभापति ही वार्षिक उत्सवसे गायब। किसी भी ठोस कार्य करने सांस्कृतिक संस्थाके लिये इस प्रकारकी कार्य पद्धति

उन्नति मूलक नहीं मानी जा सकती। कौंसिल भी इतनी लम्बी जैसा कोई लम्बा और मोटा अजगर हो:-

१ सभापति, ११ उपसभापति, ४ मन्त्री, १ कोषाध्यक्ष, ४१ सदस्य। इस चुनावकी परिपाटी भी बिल्कुल असन्तोषजनक है। अधिकांश व्यक्ति एक डिवीजनके हैं या प्रान्तके है। इनमेंसे बहुत ही कम ऐसे व्यक्ति हैं जो भारतीय संस्कृति, सभ्यता और तन्मूलक गवेषणासे अभिरुचि रखते हों या उनका इस दिशामें कुछ ठोस कार्य हो। इसके मन्त्रीजीसे मैंने सदस्योंकी लम्बी सूचीपर कुछ कहा वे कहने लगे कि क्या करें कुछ लोगोंको प्रथम इसने न रक्खा तो उनने संघके विरुद्ध प्रचारकर दिया, अतः उनको रख लिया ऐसी प्रणालिका रहेगी तो मैं तो कहूँगा कि वहाँपर कुछ भी कार्य होने की सम्भावना नहीं है, भले ही वर्तमान पत्रोंमें सुन्दरसे सुन्दर रिपोर्ट छप जाय। दर असल होना तो यह चाहिये था कि सदस्यताका एक हिस्सा उन लोगोंके लिये छोड़ दिया जाता, जो इतिहास पुरातत्त्व आदि संशोधनके विषयोंसे रात दिन सर पचाते रहते हैं भले ही वे इतर प्रान्तोंके ही क्यों न हों। डॉ० निहाररञ्जनराय, डॉ० कालीदास नाग, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० आर० सी० मजूमदार, डॉ० भॉडारकर, डॉ० ताराचन्द (पटना) भट्टाचार्य, डॉ० अल्तेकर, पी० के गोड M. A., डॉ० हँसमुख सांकलिया आदि महानुभावोंका रहना अनिवाय है जो खनन और पुरातत्त्व तथा इतिहासकी शाखाओंके विद्वान हैं। ११ जैनोंको भी शामिल कर लिया है, मुझे कहना होगा कि कुछ और जैन श्रीमन्तोंके साथ विद्वानोंको भी रखना चाहिये, यदि सांस्कृतिक विकास का प्रश्न है तो।

चतुर्थ अधिवेशनमें प्रस्ताव पास किये गये हैं उन में एक जैन मन्दिर बनवानेका भी है, मन्दिर जैनोंही अपने रुपयोंसे बनवाये। परन्तु संघके वर्तमान कोषाध्यक्ष श्रीमान् कमलासिहजी बदलियाने मुझे ता० ४-७-४८ को बताया कि हमें वहाँपर जैन मन्दिर निर्माण नहीं करवाना; परन्तु लायब्रेरी बनाना है। जब महावीरकी स्मृति कायम रखना है और मन्दिर नहीं बनाना यह बात कुछ स्वार्थ प्रेरित तत्त्वोंकी सूचना देती है। मन्दिर नहीं बनाना तो जैनोंको बार-बार प्रोत्साहित ही क्यों किया जाता है? मैं तो चाहूँगा कि वहाँ मन्दिर जरूर बने पर वह लम्बा चौडा न बनकर एक ऐसा सुन्दर और कलापूर्ण निर्मित हो जिसमें मागधीय शिल्प स्थापत्य कलाके प्रधान सभी तत्त्वों का मर्मीकरण हो, प्राचीन शिल्पकी ही अनुकृति हो, दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंका संयुक्त मन्दिर होना चाहिये। सङ्गठनका यही आदर्श है। अब तो समय आगया है दोनों मिलकर जैन संस्कृतिका अनुप्रान करें। दोनों समाजोंने झंझटें खड़ीकर संस्कृतिको विकृतिके रूपमें परिणितकर दिया है। अच्छा हो वैशालीसे ही इस सङ्गठन और असाम्प्रदायिक भावों का विकास-प्रचार हो। वाचनालय बनाना यह तो सर्वथा उपयुक्त है ही।

मेरे पास कुछ पत्र आये है कि वैशालीमें यदि मन्दिर निर्मित हो तो पैसे कहाँ भेजे जायें? मैं स्पष्ट राय तो यही दूंगा कि, जब तक एक समिति नियुक्त नहीं होजाती—जिसमें विश्वसनीय समाजसेवी कार्यकर्ता हों—तब तक रुपये कहींपर भी न भेजे। और सावधानीसे काम लें; एक० यक्तिके भरोसेपर विश्वास कर आर्थिक सहायता भेजना कभी-कभी बुरा नतीजा मोल ले लेना है। खेदकी बात तो यह है कि पटना, बिहार आदिके जैन गृहस्थों की भी इस काममें कोई खास सामूहिक रुचि नहीं है[1]। मैं पटनासे ही इन पंक्तियोंको लिख रहा हूँ।

अन्तमें मैं यह सूचित कर देना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ कि वैशाली संघके कार्यकर्ता अपनी कार्य प्रणाली और सदस्योंके चुनावमें बुद्धिमानीसे काम लें तो भविष्यमें बिहारका सांस्कृतिक महत्त्व बढ़ेगा और वैशाली भी विगत गौरवको प्राप्त कर आर्यसंस्कृतिका अभूतपूर्व विकास केन्द्रका स्थान ग्रहण कर सकेगी।

१ सर्वप्रथम सघवालोंका परम कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि जैनसमाजमे वेसा वायुमण्डल तैयार करें कमसे कम वैशालीके नजदीकके जैनोंको तो प्रोत्साहित करें ही।

दान-विचार

(लेखक—श्रीक्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी, न्यायाचार्य)

हमारी समाजमें दान करनेकी प्रथा है। किन्तु दान क्या पदार्थ है इसके करनेकी क्या विधि है प्रायः इसमें विषमता देखी जाती है। अतः मैं इसपर कुछ अपने विचार प्रकट करता हूं।

[चि. नरेन्द्र जैन काशी गत ग्रीष्मावकाशमें सागर गये थे। वहाँ पूज्य वर्णीजीके पुराने कागजोंके ढेरमे उन्हें वर्णीजीके ४, ६ महत्वपूर्ण लेख मिले हैं। यह बहुमूल्य लेख उन्हीं लेखोंमसे एक है। यद्यपि यह लेख २७ वर्ष पहले लिखा गया था और इसलिये प्राचीन है तथापि उसमें पाठकोंके लिये आधुनिक नये विचार मिलेंगे और दानके विषयमें कितनी समस्याओंका हल तथा समाजमे चल रही अन्धाधुन्ध दान-प्रवृत्तियोंका उचित मार्ग दर्शन मिलेगा। वास्तवमे 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'के अनुसार यह लेख प्राचीनतामें भी नवीनताको लिये हुए है और इस लिये अपूर्व एवं सुन्दर है। उसे चि. नरेन्द्रने अपने अनेकान्तमें प्रकाशनार्थ भेजा है। अतः सधन्यवाद यहाँ दिया जाता है। देखें, समाज आगामी पर्यूषणपर्वमें, जो बिल्कुल नजदीक है और जिसमें मुख्यतः दान किया जाता है, अपनी दान प्रवृत्तिको कहाँ तक बदलती है ?

—कोठिया

दानकी आवश्यकता

द्रव्यदृष्टिसे जब हम अन्तःकरणमे परामर्श करते है तब यही प्रतीत होता है कि सब जीव समान है। इस विचारसे समानतारूपमें तो दानकी आवश्यकता नहीं, किन्तु पर्यायदृष्टिसे सर्व आत्माएँ विभिन्न-विभिन्न पर्यायोंमें स्थित है। कितनी ही आत्माएँ तो कर्मकलङ्क-उन्मुक्त हो सर्व अनन्तसुखके पात्र होचुकी हैं। कितने ही प्राणी सुखी देखे जाते हैं। और कितने ही दुखी देखे जाते हैं। बहुतसे अनेक विद्याके पारगामी विद्वान हैं। और बहुतसे नितान्त मूर्ख दृष्टिगोचर होरहे है। बहुतसे सदाचारी और पापसे पराङ्मुख हैं, तब बहुत से असदाचारी और पापमें तन्मय है। कितने ही बलिष्ठताके मदमें उन्मत्त है, तब बहुतसे दुर्बलतासे खिन्न होकर दुखभार वहन कर रहे हैं। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि जिसको जिस वस्तुकी आवश्यकता हो उसकी पूर्ति कर परोपकार करना चाहिए। उमास्वामीने भी कहा है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (जीवोंका परस्पर उपकार हुआ करता है)। सर्वोत्तम पात्र तो मुनि हैं उनकी शरीरकी स्थितिके अर्थ भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए।

पात्र मनुष्योंकी तीन श्रेणियां

१—इस जगतमें अनेक प्रकारके मनुष्य देखे जाते हैं, कुछ मनुष्य तो ऐसे हैं जो जन्मसे ही नीतिशाली और धनाढ्य हैं।

२—कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुए हैं। उन्हें शिक्षा पानेका, नीतिके, सिद्धान्तोके समझनेका अवसर ही नहीं मिलता।

३—कुछ मानवगण ऐसे हैं जिनका जन्म तो उत्तम कुलमें हुआ है किन्तु कुत्सित आचरणोंके कारण अधम अवस्थामें काल-यापन कर रहे हैं।

इनके प्रति हमारा कर्तव्य

जो धनवान् तथा सदाचारी हैं अर्थात् प्रथमश्रेणी-के मनुष्य है उन्हें देखकर हमको प्रसन्न होना चाहिए। तदुक्तं—"गुणिषु प्रमोदम्" उनके प्रति ईर्ष्यादि नहीं करना चाहिए।

द्वितीय श्रेणीके जो दरिद्र मनुष्य हैं उनके कष्ट-अपहरणके अर्थ यथाशक्ति दान देना चाहिए। तदुक्तम्—"परानुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" तथा उनको सत्य सिद्धान्तोका अध्ययन कराके सन्मार्गपर स्थिर करना चाहिए। तृतीय श्रेणीके मनुष्योंको साम-

यिक सत्शिक्षा और सदुपदेशोंसे सुमार्गपर लाकर उन्हें उत्थान पथका पथिक बनाना चाहिए। शक्ति होते हुए भी यदि उसका विनियोग न किया जावे तो एक प्रकारका घातकीपन है। श्रेणीके पहले मुनि लोगोंकी भी भावना संसारके उद्धारकी रहती है। जो मनुष्य दयाके कार्योंको नहीं करते वे भयङ्कर पाप करनेवाले हैं। अतएव यथाशक्ति दुःखियोंके दुःख दूर करनेका यत्न प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिए। बहुतसे भाइयोंकी ऐसी धारणा होगई कि पात्रोंके बिना दान देना केवल पापबन्धका करने वाला है। उन्हें इन पं० राजमल्लके वाक्योंका स्मरण करना चाहिए:—

दानं चतुर्विधं देयं, पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥
सुपात्रायाप्यपात्राय, दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्या-न्निषिद्धनं कृपाधिया ॥
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्यो शभोदयात् ।
दीनेभ्योऽभयदानादि, दातव्यं करुणार्णवैः ॥
(पञ्चाध्यायी ... ...)

तृतीय श्रेणीके मनुष्य जो कुमार्गके पथिक होचुके हैं, तथा जिनकी अधम स्थिति होचुकी है वह भी दयाके पात्र हैं। उनको दुष्ट आदि शब्दोंसे व्यवहार कर छोड़ देनेसे कार्य्य नहीं चलेगा। किन्तु उन्हें भी सन्मार्गपर लगानेका प्रयत्न करना चाहिए। जैनधर्म तो प्राणिमात्रके हितका कर्ता है सूकर, सिंह, नकुल, बानर तक जीवोंको उपदेशका पात्र इसके द्वारा हुआ मनुष्योंकी कथा तो दूर रही। तथा श्री विद्यानन्दिने भी कहा है कि—जो दुष्ट और असदाचारी हैं वह सद्धर्मको न जानकर इस उदाहरणके जालमें फँस गये हैं। अतएव ऐसे जो प्राणी है वह धिक्कारके पात्र नहीं प्रत्युत आपके द्वारा दयाके पात्र हैं। उनके ऊपर अत्यन्त सोम्यभाव रखते हुए सम्यगुपदेशों द्वारा उन्हें सन्मार्गपर लगाना प्रत्येक दयाशील मनुष्यका कर्तव्य है।

दानके भेद

इस दानके आचार्योंने संक्षेपसे ४ भेद बतलाये हैं। (१) आहार (२) औषध (३) अभय (४) ज्ञान।

१—आहारदान और औषधिदान

जो मनुष्य क्षुधासे क्षामकुक्षि एवं जर्जर होरहा है तथा रोगसे पीडित है। सबसे प्रथम उसके क्षुधा आदि रोगोंको भोजन औषधि देकर निवृत्त करना चाहिए। आवश्यकता इसी बातकी है। क्योंकि "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" (भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं करता) इससे किसी कविने कहा है कि "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं" तथा शरीरके नीरोग रहने पर बुद्धिका विकाश होता है; तदुक्तं—'स्वस्थ-चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति" तथा ज्ञान और धर्मके अर्जन का यत्न होता है। शरीरके नीरोग न रहनेपर विद्या और धर्मकी रुचि मन्द पड़ जाती है अतएव अन्न-जल आदि औषधि द्वारा दुःखसे दुःखी प्राणियोंके दुःखका अपहरण करके उन्हें ज्ञानादिके अभ्यासमें लगानेका यत्न प्रत्येक प्राणीका मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। जिससे ज्ञान द्वारा वह यथार्थवस्तुका जान कर प्राणी इस संसारके जालमें न फँसे।

ज्ञानदान

[1]अन्नदानकी अपेक्षा विद्यादान अत्यन्त उत्तम है। क्योंकि अन्नसे प्राणिकी क्षणिक तृप्ति होती है किन्तु विद्यादानसे शास्वती तृप्ति होती है।

विद्याविलासियोंको एक अद्भुत मानसिक सुख होता है, इन्द्रियोंके विलासियोंको वह सुख अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि वह सुख स्व-स्वभावोत्थ है जब कि इन्द्रियजन्य सुख पर जन्य है।

अभयदान

इसी तरह अभयदान भी एक दान है, यह भी बड़ा महत्वशाली दान है। इसका कारण यह है कि मनुष्यमात्रको ही नहीं, अपितु प्राणीमात्रको अपने शरीरसे प्रेम होता है। बाल हो अथवा युवा हो, आहोस्वित्, वृद्ध हो, परन्तु मरना किसीको इष्ट नहीं। मरते हुए प्राणिकी अभयदानसे रक्षा करना बड़े ही महत्व और शुभबन्धका कारण है। ऐसी रक्षा करने

१ अन्नदान परं दानं विद्यादानमतः परम् ।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्याजीवं तु विद्यया ।

वाले मनुष्योंको शास्त्रमें परोपकारी, धर्मात्मा आदि शब्दोंसे सम्बोधित कर सम्मानित किया है।

धर्मदान

इस अभय दानसे भी उत्तम धर्मदान है। इस परमोत्कृष्ट दानके प्रमुख दानी तीर्थङ्कर महाराज तथा गणधरादि देव हैं। इसीलिये आप्तके विशेषणोंमें "मोक्षमार्गस्य नेत्तारम्" (मोक्षमार्गके नेता) यह प्रथम विशेषण दिया गया है। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, यहाँ तक कि चक्रवर्तियोंने भी बड़े-बड़े दान दिये किंतु संसारमें उनका आज कुछ भी अवशिष्ट नहीं है। तथा तीर्थङ्कर महाराजने जो उपदेश द्वारा दान दिया था उसके द्वारा बहुतसे जीव तो उसी भवसे मुक्तिलाभ कर चुके और अब तक भी अनेक प्राणी उनके बताये सन्मार्गपर चलकर लाभ उठा रहे हैं। भव-बन्धन परम्पराके पाशसे मुक्त होंगे, तथा आगामीकालमें भी उस सुपथपर चलनेवाले उस अनुपम सुखका लाभ उठावेंगे। कितने प्राणी उस पवित्र धर्मोपदेशसे लाभ उठावेंगे यह कोई अल्पज्ञानी नहीं कर सकता।

धर्मदानके वर्तमान दातार

वर्तमानमें गणधर, आचार्य आदि परम्परासे यह दान देनेकी योग्यता संसारसे भयभीत, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह विहीन, ज्ञान-ध्यान-तपमें आसक्त, वीतराग, दिगम्बर मुनिराजके ही हैं। क्योंकि जब हम स्वयं विषय कषायोंसे दग्ध हैं तब क्या इस दानको करेंगे। जो वस्तु अपने पास होती है वही दान दी जासकती है। हम लोगोंने तो उस धर्मको जो कि आत्माकी निज परणति है; कषायाग्निसे दग्ध कर रक्खा है। यदि वह वस्तु आज हमारे पास होती तब हम लोग दुःखोंके पात्र न होते। उसके विना ही आज संसारमें हमारी अवस्था कष्टप्रद होरही है। उस धर्मके धारक परम दिगम्बर निरपेक्ष परोपकारी; विश्वहितैषी वीतराग ही हैं अतएव वही इस दानको कर सकते हैं। इसीसे उसे गृहस्थदानके अन्तर्गत नहीं किया।

धर्मदानकी महत्ता

यह दान सभी दानोंमें श्रेष्ठतम है, क्योंकि इतर दानोंके द्वारा प्राणी कुछ कालके लिये दुःखसे विमुक्त-सा होजाता है परन्तु यह दान ऐसा अनुपम और महत्वशाली है कि एक बार भी यदि इसका सम्पर्क होजावे तो प्राणी जन्म-मरणके क्लेशोंसे विमुक्त होकर निर्वाणके नित्य आनन्द सुखोंका पात्र होजाता है। अतएव सभी दानोंकी अपेक्षा इस दानकी परमावश्यकता है। धर्मदान ही एक ऐसा दान है जो प्राणियोंको संसार दुःखसे सदाके लिये मुक्तकर सच्चे सुखका अनुभव कराता है।

अपनी आत्मताडनाकी परवाह न करके दूसरोंके लिये मीठे स्वर सुनाने वाले मृदङ्गकी तरह जो अपने अनेक कष्टोंकी परवाह न कर विश्वहितके लिये निरपेक्ष निस्वार्थ उपदेश देते है वे महात्मा भी इसी धर्मदानके कारण जगत पूज्य या विश्ववन्द्य हुए हैं।

जब तक प्राणीको धार्मिक शिक्षा नहीं मिलती तब तक उसके उच्चतम विचार नहीं होते, और उन विचारों के अभावमें वह प्राणी उस शुभाचरणसे दूर रहता है जिसके बिना वह लौकिक सुखसे भी वञ्चित रहकर धोबीके कुत्तेकी तरह "घरका न घाटका" कहींका भी नहीं रहता। क्योंकि यह सिद्धान्त है कि* "वही जीव सुखी रह सकते हैं जो या तो नितान्त मूर्ख हों, या पारङ्गत दिग्गज विद्वान हो।" अतः जो इस दानके करने वाले हैं वही संसारमें पूज्य और धर्म संस्थापक कहे जाते हैं।

इसी तरह धर्मदानकी महत्ता जानकर हमें उस दानको प्राप्त करनेका पात्र होना चाहिये। सिंहनीका दूध स्वर्णके पात्रमें रह सकता है, धर्मदान सम्यग्ज्ञानी पात्रमें रह सकता है।

लौकिक दान

उक्त दानोंके अतिरिक्त लौकिक दान भी महत्वपूर्ण दान है जगतमें जितने प्रकारके दुःख हैं उतने ही भेद लौकिक दानके हो सकते हैं परन्तु मुख्यतया जिनकी आज आवश्यकता है वे इस प्रकार हैं—

---

*यश्च मूढतमो लोके, यश्च बुद्धेः परांगतः।
तावुभौ सुख मेधेते, क्लिश्यन्तीतरे जनाः॥

१—बुभुक्षित प्राणीको भोजन देना।

२—तृषितको पानी पिलाना।

३—वस्त्रहीनको वस्त्र देना।

४—जो जातियाँ अनुचित पराधीनताके बन्धनमें पड़कर गुलाम बन रही हैं उनको उस दुःखसे मुक्त करना।

५—जो पापकर्मके तीव्र वेगसे अनुचित मार्गपर जारहे हैं उन्हें सन्मार्गपर लानेकी चेष्टा करना।

६—रोगीकी परिचर्या और चिकित्सा करना, कराना।

७—अतिथिकी सेवा करना।

८—मार्ग भूले हुए प्राणीको मार्गपर लाना।

९—निर्धन व्यापारहीनको व्यापारमें लगाना।

१०—जो कुटुम्ब-भारसे पीडित होकर ऋण देने में असमर्थ हैं उन्हें ऋणसे मुक्त करना।

११—अन्यायी मनुष्योंके द्वारा सताये जाने वाले मारे जाने वाले दीन, हीन, मूक प्राणियोंकी रक्षा करना।

आध्यात्मिक दान

जिस तरह लौकिक दान महत्वपूर्ण है उसी तरह एक आध्यात्मिक दान भी महत्वपूर्ण और श्रेयस्कर है। क्योंकि आध्यात्मिक दान स्वपर-कल्याण-महल की नींव है। वर्तमानमें जिन आध्यात्मिक दानोंकी आवश्यकता है वे यह हैं—

१—अज्ञानी मनुष्योंको ज्ञान दान देना।

२—धर्ममें उत्पन्न शङ्काओंका तत्वज्ञान द्वारा समाधान करना।

३—दुराचरणमें पतित मनुष्योंको हित-मित वचनों द्वारा सान्त्वना देकर सुमार्गपर लाना।

४—मानसिक पीडासे दुखी जीवोंको कर्मसिद्धांत-की प्रक्रियाका अवबोध कराकर शान्त करना।

५—अपराधियोंको उनके अज्ञानका दोष मानकर उन्हें क्षमा करना।

*६—सभीका कल्याण हो, सभी प्राणी सन्मार्ग-गामी हों, सभी सुखी समृद्ध और शान्तिके अधिकारी हों।

७—जो धर्ममें शिथिल होगये हों उनको शुद्ध उप-देश देकर दृढ़ करना।

८—जो धर्ममें दृढ़ हों उन्हें दृढ़तम करना।

९—किसीके ऊपर मिथ्या कलङ्कका आरोप न करना।

१०—अशुभ कर्मके प्रबल प्रकोपसे यदि किसी प्रकारका अपराध किसीसे बन गया हो तो उसे प्रकट न करना अपितु दोषी व्यक्तिको सन्मार्गपर लानेकी चेष्टा करना।

११—मनुष्यको निर्भय बनाना।

संक्षेपमें यह कहा जासकता है कि जितनी मनुष्य की आवश्यकताएँ हैं उतने ही प्रकारके दान होसकते हैं। अतः जिस समय जिस प्राणीको जिस बातकी आवश्यकता हो उसे धर्मशास्त्र विदित मार्गसे यथा शक्तिपूर्ण करना दान है।

दुःख अपहरण उच्चतम भावना प्राप्त करनेका सुलभ मार्ग यदि है तो वह दान ही है अतः जहाँ तक बने दुखियोंका दुख दूर करनेके लिये सतत प्रयत्नशील रहो। हित मित प्रिय वचनोंके साथ यथाशक्ति मुक्त हस्तसे दान दो।

दानके अपात्र

दान देते समय पात्र अपात्रका ध्यान अवश्य रखना चाहिये अन्यथा दान लेने वालेकी प्रवृत्तिपर दृष्टिपात न करनेसे दिया हुआ दान ऊसर भूमिमें बोये गये बीजकी तरह व्यर्थ ही जाता है। जो विषयी है, लम्पटी है, नशेबाज है, ज्वारी है, पर वञ्चक है, उन्हें द्रव्य देनेसे एक तो उनके कुकर्मकी पुष्टि होती है, दूसरे

*क्षेमं सर्वप्रजानां; प्रभवतु बलवान्, धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा, व्याधयो यान्तु नाशं।
दुर्भिक्षं चौर मारी, क्षणमपि जगतां, मास्मभूज्जीव लोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं, प्रभवतु सततं, सर्वसौख्यप्रदायि॥
(शान्तिपाठ)

दरिद्रोंकी वृद्धि और आलसी मनुष्योंकी संख्या बढ़ती है और तीसरे अनर्थ परम्पराका बीजारोपण होता है परन्तु यदि ऐसे मनुष्य बुभुक्षित या रोगी हों तो उन्हें (दान दृष्टिसे नहीं अपितु) कृपादृष्टिसे अन्न या औषधि दान देना वर्जित नहीं है। क्योंकि अनुकम्पा दान देना प्राणीमात्रके लिये है।

दान देनेमें हेतु

दान देनेमें प्राणियोंके भिन्न-भिन्न हेतु होते हैं। स्थूलदृष्टिसे परके दुःखको दूर करनेकी इच्छा सर्व साधारणकी कही जासकती है परन्तु पृथक्-पृथक् दाताओंके भिन्न-भिन्न पात्रोंमें दान देनेके हेतुओंपर यदि आप सूक्ष्मतम दृष्टिसे विचार करेंगे तब विभिन्न अनेक कारण दिखाई पड़ेंगे। उन हेतुओंमें जो सर्वोत्तम हेतु हो वही हमको ग्रहण करना चाहिये। १–कितने ही मनुष्य परका दुःख देख उन्हें अपनेसे जघन्य स्थिति में जानकर "दुखियोंकी सहायता करना हमारा कर्तव्य है" ऐसा विचारकर दान करते हैं। २–कितने ही मनुष्य दूसरोंके दुःख दूर करनेके लिये, परलोकमें सुख प्राप्ति और इस लोकमें प्रतिष्ठा (मान) के लिये दान करते हैं। ३–और कुछ लोग अपने नामके लिये कीर्ति पानेका लालच और जगतमें वाहवाहीके लिये अपने द्रव्यको परोपकारमें दान करते हैं।

दातारके भेद

मुख्यनया दातारके तीन भेद होते हैं १–उत्तम दातार २–मध्यम दातार और ३–जघन्य दातार।

उत्तम दातार

जो मनुष्य निःस्वार्थ दान देते हैं पराये दुःखको दूर करना ही जिनका कर्तव्य है वही उत्तम दातार हैं परोपकार करते हुए भी जिनके अहम्बुद्धिका लेश नहीं वही सम्यक्दानी है और वही संसार सागरसे पार होते हैं; क्योंकि निष्काम (निस्वार्थ) किया गया कार्य बन्धका कारण नहीं होता। जो मनुष्य इच्छापूर्वक कार्य करेगा उसे कार्य सिद्धान्तके अनुसार तज्जन्य बन्धका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। और जो निष्काम वृत्तिसे कार्य करेगा उसके इच्छाके बिना कायादिकृत व्यापार बन्धके उत्पादक नहीं होते। अथवा यों कहना चाहिये कि जो सर्वोत्तम मनुष्य हैं वे बिना स्वार्थ ही दूसरेका उपकार किया करते हैं। और उन्हीं विशुद्ध परिणामोंके बलसे सर्वोत्तम पदके भोक्ता होते हैं। जैसे प्रखर सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त जगतको शीतांशु (चन्द्रमा) अपनी किरणों द्वारा निरपेक्ष शीतल कर देता है, उसी प्रकार महान पुरुषोंका स्वभाव है कि वे संसार-तापसे सन्तापित प्राणियोंके तापको हरण कर लेते हैं।

मध्यम दातार

जो पराये दुःखको अपने स्वार्थके लिये दान करते हैं वह मध्यम दातार है। क्योंकि जहाँ इनके स्वार्थमें बाधा पहुँचती है वहींपर यह परोपकारके कार्यको त्याग देते हैं। अतः इनके भी वास्तविक दयाका विकास नहीं होता परन्तु धनकी ममता अत्यन्त प्रबल है, धनको त्यागना सरल नहीं है अतः इनके द्वारा यदि अपनी कीर्तिके लिये ही धनका व्यय किया जावे किन्तु जब उससे दूसरे प्राणियोंका दुःख दूर होता है तब परकी अपेक्षासे इनके दानको मध्यम कहनेमें कोई संकोच न करेगा। क्योंकि वह दान ऐसे दान करने वालेके आत्म-विकासमें प्रयोजक नहीं है।

जघन्य दातार

जो मनुष्य केवल प्रतिष्ठा और कीर्तिके लालचसे दान करते हैं वे जघन्य दातार हैं। दानका फल लोभ निरशनपूर्वक शान्ति प्राप्त होना है, वह इन दाताओंको नहीं मिलता। क्योंकि दान देनेसे शान्तिके प्रतिबन्धक आभ्यन्तर लोभादि कषायका अभाव होता है अतएव आत्मामें शान्ति मिलती है। जो कीर्तिप्रसारकी इच्छासे देते हैं उनके आत्म-सुख गुणके घातक कर्मकी हीनता तो दूर रही प्रत्युत बन्ध ही होता है। अतएव ऐसे दान देने वाले जो मानवगण हैं उनका चरित्र उत्तम नहीं। परन्तु जो मनुष्य लोभके वशीभूत होकर १ पाई भी व्यय करनेमें संकोच करते हैं उनसे यह उत्कृष्ट है।

पापका बाप लोभ

लोभके आवेगमें मनुष्य किन-किन नीच कृत्योंको नहीं करते ? और कौन-कौनसे दुःखोंको भोगकर दुर्गतिके पात्र नहीं होते यह उन एक दो ऐतिहासिक व्यक्तियोंके जीवनसे स्पष्ट होजाता है। जिनका नाम इतिहासके काले पृष्ठोंमें लिखा रह जाता है।

गजनीके शासक, लालची लुटेरे महमूद गजनवी-ने १००० और १०२६के बीच २६ वर्षमे भारतवर्षपर १७ बार आक्रमण किया. धन और धर्म लूटा ! मन्दिर और मूर्तियोंका ध्वंसकर अगणित रत्नराशि और अपरमित स्वर्ण चाँदी लूटी !! परन्तु जब इतने-पर भी लोभका संवरण नहीं हुआ तब सोमनाथ मन्दिरके काठके किवाड़ और पत्थरके खम्भे भी न छोड़े, ऊँटोंपर लादकर गजनी ले गया !!!

दूसरा लोभी था (ईशवी सनके ३२७ वर्ष पूर्व) ग्रीसका बादशाह सिकन्दर; जिसने अनेक देशोंको परास्तकर उनकी अतुल सम्पत्ति लूटी, फिर भी सारे संसारको विजित करके संसार भरकी सम्पत्ति हथयाने की लालसा बनी रही !

लोभके कारण दोनोंका अन्त समय दयनीय दशा-में व्यतीत हुआ। लालच और लोभमे हाय ! हाय !! करते मरे, पर इतने समर्थ शासक होते हुए भी एक फूटी कौड़ी भी साथ न ले जा सके।

दयाका क्षेत्र

१—प्रथम तो दयाका क्षेत्र अपनी आत्मा है, अतः उसे संसारवर्धक दुष्ट विकल्पोंसे बचाये रहना, सम्यग्दर्शनादि दान द्वारा सन्मार्गमें लानेका उद्योग करते रहना चाहिये। दूसरे दयाका क्षेत्र २ अपना निज घर है फिर ३ जाति ४ देश तथा ५ जगत है अन्तमें जाकर यही—"वसुधैव कुटुम्बकम्" होजाता है।

अनुरोध

इस पद्धतिके अनुकूल जो मनुष्य स्वपरहितके निमित्त दान देते हैं वही मनुष्य साक्षात् या परम्परामें अतीन्द्रिय अनुपम सुखके भोक्ता होते हैं। अतएव आत्म-हितैषी महाशयोंका कर्तव्य है कि समयानुकूल इस दानपद्धतिका प्रसार करें। भारतवर्षमे दानकी पद्धति बहुत है किन्तु विवेककी विकलताके कारण दानके उद्देश्यकी पूर्ति नहीं हो पाती।

ऊसर जर्मानमें, पानीसे भरे लबालब तालाबमें, सार और सुगन्धि हीन सेमर वृक्षोंके जङ्गलमे. दावा-नलमें व्यर्थ ही धधकने वाले बहुमूल्य चन्दनमे यदि मेघ समानरूपसे वर्षा करता है तो भले ही उसकी उदारता प्रशंसनीय कही जा सकती है परन्तु गुणरत्न पारखी वह नहीं कहला सकता। इसी तरह पात्र अपात्रकी. आवश्यकताकी पहिचान न कर दान देने वाला उदार कहा जा सकता है परन्तु गुणविज्ञ वह नहीं कहला सकता। आशा है हमारा धनिक वर्ग उक्त बातोंपर ध्यान देते हुए पद्धतिके अनुकूल ही दान देकर सुयशके भागी बनेंगे।

मुरारमें वीरशासन-जयन्तीका महत्वपूर्ण उत्सव

इस वर्ष वीरसेवामन्दिर, सरसावा द्वारा आयोजित वीर-शासन-जयन्तीका महत्वपूर्ण उत्सव श्री क्षुल्लक पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यकी अध्यक्षतामें श्रावण कृष्णा १, २ ता० २२, २३ जुलाई १९४८, बृहस्पतिवार, शुक्रवारको मुरार (ग्वालियर) में सेठ गुलाबचन्द गणेशीलालजी जैन रईस मुरारके विशाल उद्यानमें बड़े समारोहके साथ सानन्द सम्पन्न हुआ। उत्सवमें भाग लेनेके लिये वन्दनीय त्यागीवर्ग के अलावा विविध स्थानोंसे अनेक प्रमुख विद्वान् और श्रीमान् पधारे थे। विद्वानोंमें पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर सरसावा, पण्डित राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ मथुरा, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस, पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री बनारस, पं० दयाचन्द्रजी शास्त्री सागर, पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर, पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य सरसावा, प्रोफेसर पन्नालालजी बनारस, पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ ललितपुर, पं० परमानन्दजी शास्त्री सरसावा, बा० अयोध्याप्रसादजी गोयलीय डालमियानगर, बा० ज्ञानचन्द्रजी जैन कोटा, मास्टर शिवरामजी रोहतक, आदिके नाम उल्लेखनीय हैं और श्रीमानोंमें लाला महावीरप्रसादजी ठेकेदार देहली, ला० रतनलालजी मादीपुरिया देहली, ला० राजकृष्णजी देहली, रायबहादुर बा० उल्फतरायजी देहली, ला० मक्खनलालजी ठेकेदार देहली, बा० महतावसिंहजी सर्राफ देहली, बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहली, बा० नन्दलालजी कलकत्ता (बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ताके लघुभ्राता), ला० चतरसेनजी सरधना, ला० त्रिलोकचन्दजी खतौली, ला० हुकुमचन्दजी सलावा आदिके नाम उल्लेख योग्य हैं। ग्वालियर, लश्कर, भिंड, मोरेना, जबलपुर आदिके भी कितने ही सज्जन उत्सवमें सम्मिलित हुए थे। त्यागीवर्ग भी कम नहीं था, श्री क्षुल्लक पूर्णसागरजी, श्री क्षुल्लक विशालकीर्तिजी, ब्र० चिदानन्दजी, ब्र० सुमेरुचन्दजी भगत, ब्र० कस्तूरचन्दजी नायक, ब्र० मूलशङ्करजी आदि वन्दनीय त्यागी मण्डलसे उत्सव विशेष शोभनीय था। श्रीमती विदुषीरत्न पं० ब्र० सुमतिबाईजी न्याय-काव्यतीर्थ सोलापुर जैसी महिलाएँ भी अपनी समाजके प्रतिनिधित्वकी कमीको दूर करती हुई उत्सव में शामिल हुई थीं।

यद्यपि २१ और २२ जुलाईको लगातार वर्षा होती रही और वर्षा होते रहनेसे प्रभातफेरी नहीं होसकी, पर झण्डाभिवादन बड़े भारी जनसमूहके मध्यमें कुछ बूँदाबाँदीके होते हुए भी अपूर्व उत्साहके साथ सम्पन्न हुआ। पूज्य वर्णीजीने झण्डा फहराते हुए कहा कि इसी प्रकार वीरके शासनको ऊँचा रखें—अपने आचरण द्वारा उसे उच्च बनायें और वीर जैसे वीतरागी वीर —विश्वकल्याण कर्ता बनें।

दोपहरको श्रीक्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीकी अध्यक्षतामें जल्सा प्रारम्भ हुआ। पं०परमेष्ठीदासजीने मङ्गलाचरण किया। इसके बाद बा० हीरालालजी मुरारका स्वागतभाषण हुआ, जिसमें आपने आगन्तुक सज्जनोंका स्वागत करते हुए कष्टके लिए क्षमायाचना की। इसके अनन्तर अध्यक्षजीका महत्वका मुद्रित भाषण हुआ, जिसे लाउडस्पीकरके काम न देनेके कारण पं० चन्द्रमौलिजीने पढ़कर सुनाया और जो अनेकान्तमें अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है। पं० दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्यने बाहरसे आये सन्देशों और शुभकामनाओंको सुनाया। साथ ही वीरसेवामन्दिरके अब तकके अनुसंधान, साहित्य और इतिहास निर्माण सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्योंका संक्षेपमें परिचय दिया। सन्देश और शुभकामनाएँ भेजनेवालोंमें भारतके प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, सर सेठ हुकुमचन्दजी इन्दौर, सर सेठ भागचन्द

जी सोनी अजमेर, रायबहादुर सेठ हीरालालजी इन्दौर, बा० निर्मलकुमारजी जैन आरा, ला० कपूरचन्दजी कानपुर, साहु श्रेयांसप्रसादजी बम्बई, सेठ लालचन्दजी सेठी उज्जैन, सेठ गुलाबचन्दजी टोंग्या इन्दौर सेठ रतनचन्द चुन्नीलाल झवेरी बम्बई, वैद्यरत्न हकीम कन्हैयालालजी कानपुर बा० मानिकचन्दजी सरावगी कलकत्ता, बा० छोटेलालजी जैन कलकत्ता बा० नेमचन्द बालचन्दजी गाँधी सोलापुर, बा० लालचन्दजी एडवोकेट रोहतक, बा० नानकचन्द जी एडवोकेट रोहतक, बा० उग्रसेनजी वकील रोहतक बा० जयभगवानजी एडवोकेट पानीपत पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री जयपुर, पं० चैनसुखदासजी जयपुर पं० जगन्मोहनलालजी कटनी, ला० परसादीलालजी पाटनी देहली, ला० तनसुखरायजी देहली मि० गनपतलालजी गुरहा खुरई, बा० कामताप्रसादजी अलीगञ्ज, पं० तुलसीरामजी बड़ौत सेठ चिरञ्जीलाल जी बड़जात्या वर्धा, प० भुजबलीजी शास्त्री मूडबिद्री पं० बलभद्रजी सम्पादक 'जैन सन्देश' आगरा प्रभृति महानुभाव हैं। पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री और पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थके वीरशासनपर महत्वके भाषण हुए। पं० राजेन्द्रकुमारजीने जब वीरसेवामन्दिरके कार्योंका उल्लेख करते हुए मुख्तार सा०की जैन-साहित्य और इतिहासके लिये की गई सेवाओंपर गर्व प्रकट किया और वीरसेवामन्दिरको इतिहासनिर्माणकी ओर मुख्यतः गति करने पर जोर दिया तब मुख्तार सा० ने एक मार्मिक भाषण दिया जिसमें आपने वीरसेवामन्दिरकी आवश्यकताओं तथा अपनी इच्छाओं और प्रवृत्तियोंको व्यक्त करते हुए समाजको सच्चा सहयोग देने एवं वीरसेवामन्दिर को पूर्णतः अपनाकर उसे देहलीमें विशालरूप देनेके लिये प्रेरित किया। इसपर पूज्य अध्यक्षजीका बड़ा ही प्रभावपूर्ण भाषण हुआ, जिसके द्वारा समाजको उक्त सहयोग देनेकी विशेष प्रेरणा की गई। और देहलीके उपस्थित सभी श्रीमानोंकी ओरसे रायबहादुर बा० उल्फतरायजीने स्पष्ट शब्दोंमें आश्वासन दिया कि जब पूज्य वर्णीजी देहली पधारेंगे उस समय हम लोग वीरसेवामन्दिरको अपनी शक्ति से भी अधिक सहयोग देनेके लिये तैयार रहेंगे और मुख्तार सा०की इच्छानुसार वीरसेवामन्दिरके लिये स्थानादिका अपने यहाँ सुप्रबन्ध कर देंगे। इसका उपस्थित जनताने हर्षध्वनिके साथ अभिनन्दन किया और बड़ा ही आनन्द व्यक्त किया। उसके बाद विदुषीरत्न ब्र० पं० सुमतिबाईका सारगर्भित भाषण होकर उत्सवकी शेष कार्रवाई रात्रिके लिये स्थगित की गई।

रात्रिमें पं० मुन्नालालजी समगौरया, प० दयाचन्द्र जी शास्त्री, मा० शिवरामजी प० परमेष्ठीदासजी आदिके प्रकृत विषयपर ओजस्वी व्याख्यान हुए। दूसरे दिन पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, प्रो० पन्नालालजी धर्मालङ्कार, बा० सुकुमालचन्दजी देहली, मुख्तार सा० और पूज्य अध्यक्षजीके सामयिक भाषण हुए। इसके बाद धन्यवादादि सहित विसर्जनपूर्वक उत्सव निर्विघ्न समाप्त हुआ।

उत्सवमें तीन प्रस्ताव भी पास हुए दो प्रस्ताव महात्मा गाँधी और पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके अवसानपर शोक-विषयक है और तीसरा वीरशासन-जयन्तीपर्वको सर्वत्र व्यापकरूपमें मनाये जानेकी प्रेरणा विषयक है।

इसी अवसरपर भा० दि० जैन विद्वत्परिषदकी कार्यकारिणी और पाठ्य-निर्माणसमितिकी भी बैठकें हुई और जिनमें अनेक बातोंपर विचार-विमर्श हुआ। इन आयोजनोंमें सबसे ज्यादा व्यवस्थादिविषयक कष्ट और परिश्रम प० चन्द्रमौलिजी शास्त्री, श्री भैयालालजी स्वागतमन्त्री, बा० हीरालालजी स्वागताध्यक्ष और सेठ गणेशीलालजीको उठाना पड़ा है और इसके लिये वे अवश्य समाजके धन्यवादपात्र हैं। मुरारकी जैन-समाज भी धन्यवादकी पात्र है, जिसने अपने श्रद्धापूर्ण हृदयोंसे पूज्यवर्णीसंघका चतुर्मास कराया और उसके निमित्तसे वीरशासन-जयन्ती जैसे महत्वपूर्ण उत्सव तथा विद्वत्परिषदकी कार्यकारिणी की बैठकोंका आयोजन किया।

—दरबारीलाल

श्रीवीर-शासन-जयन्ती-महोत्सवके अध्यक्ष
पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यका

भाषण

महानुभाव! क्षुल्लकजी और ब्रह्मचारीगण, जैनधर्ममर्मज्ञ विद्वद्वर पण्डितगण, जैनधर्म-इतिहासवेत्ता मुख्तारसाहब, उपस्थित समस्त सज्जनवृन्द एवं महिला समाज.

आज मैं श्रीवीरशासनजयन्ती-महोत्सवका सभापति चुना गया हूँ यह सर्वथा अनुचित है क्योंकि वीर-शासन-जयन्ती उत्सवका भार वही वहन कर सकता है जो ज्ञानवान होकर वीतराग हो। जो वीतराग नहीं वह साक्षात् मोक्ष-मार्गका साधन नहीं दिखा सकता। जो आंशिक वीतराग हो और पदार्थके प्रदर्शन करनेमें अक्षम हो वह भी उनके शासनको दिखानेमें समर्थ नहीं हो सकता। अतः इस पदके योग्य यहां कौन है, मेरी बुद्धिमें नहीं आता। परन्तु एक बल हमें है और संभव है उससे इस भारका कुछ दिग्दर्शन करानेमें, मैं समर्थ हो सकूँ ऐसी संभावना है। प्रत्यक्ष देखता हूं जो वीरके नामसंस्कारसे संगमरमरकी मूर्तिकी अर्चा होरही है तथा वीरके नामसे राजग्रहका विपुलाचल पर्वत लाखों मनुष्यों द्वारा पूजा जारहा है। वीरप्रभुने वहांपर तपस्या ही तो की थी? वीरप्रभुका जिस स्थान पर निर्वाण हुआ वह क्षेत्र आजतक पूजित हो रहा है। वीर-चरित्र जिस पुस्तकमें लिखा जाता है वह पुस्तक भी उदक-चंदनादि अर्घसे अर्चित होती है। मैंने भी उस वीर-प्रभुको अपने हृदयारविन्दमें स्थापित कर रखा है। अतः मुझसे यदि आजका कार्य निर्वाह होजावे तब इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है? आजके दिन मुझे श्रीमहावीर भगवानके शासनको दिखाना है। जिसके द्वारा हितकी बात दिखाई जावे और अहित का निवारण किया जावे उसीका नाम शासन है। श्री गुणभद्रस्वामीने आत्मानुशासनमें लिखा है:—

दुःखाद्बिभेषि नितरामभिवांछसि सुखमतोऽप्यहमात्मन् ।
दुःखापहारि सुखकरमनुशास्मि तवानुमतमेव ॥

हे आत्मन्! तू दुखसे भय करता है और सुखकी आकांक्षा करता है, अतः मैं तुझे जो अभिमत है अर्थात् जो दुःखको हरण करने वाली और सुखको करने वाली शिक्षा है उसीको कहूँगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि शिक्षा वही है जो सुखको देवे और दुःखका विनाश करे। भाषामें कविवर श्रीदौलतरामजीने भी लिखा है—

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त सुख चाहें दुःख तें भयवन्त ।
तातें दुःखहारि सुखकार कहे सीख गुरु करुणा धार ॥

अर्थात् इस दुःखमय संसारमें जिस उपदेशके द्वारा यह आत्मा दुःखसे छूट जावे और निराकुलतारूप सुखको प्राप्त कर लेवे वही उपदेश जीवका हितकर है। श्रीवीरप्रभुने पहले तो आत्मीय प्रवृति द्वारा बिना ही शब्दोच्चारणके वह शिक्षा दी जिसे यदि यह जीव पालन करे तो अनायास अलौकिक सुखका पात्र हो सकता है। श्रीवीरप्रभुने बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्य-व्रतको स्वीकार किया था और दार-परिग्रहसे सर्वथा मुक्त रहे थे।

संसार-वृद्धिका मूल-कारण स्त्रीका समागम है। स्त्री-समागम होते ही पाँचों इन्द्रियोंके विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूपको देखकर निरन्तर देखनेकी अभिलाषा रहती है, वह सुन्दर रूपवाली निरन्तर बनी रहे इसके लिये अनेक प्रकार के उपटन, तैल आदि पदार्थोंके संग्रहमें व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदिसे दुर्गन्धित न होजाय, अतः निरन्तर चन्दन, तैल, इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओंका संग्रह कर उस पुतलीकी सम्हालमें संलग्न

रहता है। उसके केश निरन्तर लम्बायमान रहें, अतः उनके अर्थ नाना प्रकारके गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तैलोंका उपयोग करता है। तथा उसके सरल कोमल, मधुर शब्दोंका श्रवण कर अपनेको धन्य मानता है और उसके द्वारा सम्पन्न नाना प्रकारके रसास्वादको लेता हुआ फूला नहीं समाता। कोमलाङ्गी का स्पर्श करके तो आत्मीय ब्रह्मचर्यका और बाह्यमें शरीर-सौन्दर्यका कारण वीर्यका पात होते हुए भी अपनेको धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्री-समागममें ये मोही पंचेन्द्रियके विषयमें मकड़ीकी तरह जालमें फँस जाते हैं। श्रीवीरप्रभुने उसे दूरसे ही त्यागकर संसारके प्राणियोंको यह दिखला दिया कि यदि इस लोक और परलोकमें सुखी बनना चाहते हो तो इस ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करो। भर्तृहरि महाराजने जो कहा है वह तथ्य ही है:—

मत्तेभ-कुम्भ-दलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः॥

यद्यपि इसी व्रतके पालनसे सम्पूर्ण व्रतोंका समावेश इसीमें हो जाता है तथा सर्व प्रकारके पापोंका त्याग भी इसी व्रतके पालनसे हो जाता है। फिर भी लोकमें सर्व प्रकारके मनुष्य हैं, अनेक प्रकारकी रुचि है। रुचिकी विचित्रतासे अन्य अहिंसादि धर्मों (व्रतों) को भी श्रीवीरने स्वयं पालन कर साक्षात् कल्याणका मार्ग दिखा दिया। प्रथम तो यदि आप लोग विचार करेंगे तब इसीमें सर्व व्रत आजाते हैं। विचारो, जब स्त्रीसम्बन्धी राग घट गया तब अन्य परिग्रहसे सुतरां अनुराग घट गया। किसी कविने कहा है:—

'गृहिणी गृहमाहुः' अर्थात् स्त्री ही घर है। घास-फूस, मिट्टी-चूना आदिका बना हुआ गृह—गृह नहीं है। इसके अनुराग घटनेसे शरीरके शृङ्गारादि अनुराग स्वयं घट जाते हैं तथा माता-पिता आदिसे स्वयं स्नेह छूट जाता है। कुटुम्ब आदि सबसे विरक्त हो जाता है। द्रव्यादिकी ममता स्वयमेव छूट जाती है, जिसके कारण गृह-बन्धनसे छूटनेमें असमर्थ भी स्वयमेव विरक्त होकर दैगम्बरी-दीक्षाका अवलम्बन कर मोक्ष-मार्गका पथिक बन जाता है। श्रीवीरप्रभुने दारपरिग्रह तो किया ही नहीं उसके रागको बाल्यावस्था ही से त्याग दिया तब अन्य परिग्रह तो कुछ ही वस्तु न थी, दीक्षाका अवलम्बन कर साक्षात् मोक्ष-मार्ग प्राणियोंको दिखा दिया तथा लोकको अहिंसा-तत्वका साक्षात्कार करा दिया—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम्,
भवानेवात्याक्षीत च विकृतवेषोपधिरतः॥

संसारमें परिग्रह ही पञ्च पापोंके उत्पन्न होनेमें निमित्त होता है। जहाँ परिग्रह है वहाँ राग है, और जहाँ राग है वहाँ आत्माके आकुलता है तथा जहाँ आकुलता है वहीं दुःख है एवं जहाँ दुःख है वहाँ ही सुखगुणका घात है और सुखगुणके घातका ही नाम हिंसा है। संसारमें जितने पाप हैं उनकी जड परिग्रह है। आज जो भारतमें बहुसंख्यक मनुष्योंका घात होगया है तथा होरहा है उसका मूल-कारण परिग्रह ही है। यदि हम इससे ममत्व हटा देवें तो वह अगणित जीवोंका घात स्वयमेव न होगा। इस अपरिग्रहके पालनेसे हम हिंसा पापसे मुक्त हो सकते हैं और अहिंसक बन सकते हैं। परिग्रहके त्यागे बिना अहिंसा-तत्वको पालन करना असम्भव है। भारतवर्ष में जो यागादिकसे हिंसाका प्रचार होगया था, उसका कारण यही तो है कि हमको इस यागसे स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा अन्नादिक उत्पन्न होंगे। देवता प्रसन्न होंगे यह सब क्या था? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रहकी चाह न होती तो निरपराध जन्तुओंको कौन मारता? आज यदि इस परिग्रहमें मनुष्य आसक्त न होते तब ये समाजवाद कम्यूनिस्टवाद क्यों होते? आज यदि परिग्रहके धनी न होते तब ये हड़तालें क्यों होतीं? यदि परिग्रह-पिशाच न होता तब जमींदारी प्रथा, राजसत्ताका विध्वंस करनेका अवसर न आता? यदि यह परिग्रह-पिशाच न होता तब कॉंग्रेस जैसी स्वराज्य दिलानेवाली संस्था

विरोधियो द्वारा निन्दित न होती। और वे स्वयं इनके स्थानमें अधिकारी बननेकी चेष्टा न करते ? आज यह परिग्रह-पिशाच न होता तो हम उच्च हैं आप नीच हैं, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहाँ तक अपना प्रभाव प्राणियोंपर गालिब किये है जो सम्प्रदायवादों-ने धर्म तकको निजी मान लिया है। और उस धर्मकी सीमा बाँध दी है। तत्त्व-दृष्टिसे *धर्म तो आत्माकी परणतिविशेषका नाम है*, उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है ? जो धर्म चतुर्गतिके प्राणियोंमें विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्योंमें मानना क्या न्याय है ? परिग्रह-पिशाचकी यह महिमा है जो इस कूपका जल तीन वर्णोंके लिये है, इसमें यदि शूद्रोंके घड़े पड़ गये तब अपेय होगया ! टट्टीमें होकर नल आजानेसे जल पेय बना रहता है ! अस्तु, इस परिग्रह पापसे ही संसारके सर्व पाप होते हैं। श्रीवीर प्रभुने तिल-तुष-मात्र परिग्रह न रखके पूर्ण अहिंसा-व्रतकी रक्षा कर प्राणियोंको बता दिया कि यदि कल्याण करनेकी अभिलाषा है तब दैगम्बर-पदको अङ्गीकार करो। यही उपाय संसार-बन्धनसे छूटनेका है। यदि संसारमें सुख-शान्तिका साम्राज्य चाहते हो तब मेरे स्मरणसे सुख-शान्ति न होगी. और न स्वयं तुम सुखी होगे, किन्तु जैसे मैंने कार्य किये हैं वही करो। जैसे मैंने बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्य-व्रत पाला वैसे ही तुम भी पालन करो तुम लोगोंको उचित है कि यदि मेरे अन्तरङ्गसे भक्त और अनुरागी हो तो मेरा अनुकरण करो। यदि उस ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें असमर्थ हो तब बाल्यावस्था व्यतीत होनेपर जैसा गृहस्थधर्ममें इसका विधान है उस रीतिसे इसे पालन करो। अनन्तर जब युवावस्था व्यतीत होजावे तब परिग्रहको त्याग अपरिग्रही बननेकी चेष्टा करो, इसी कीचड़में मत फसे रहो। द्रव्यको न्यायपूर्वक अर्जन करो. अन्यायसे मत उपार्जन करो. मर्यादाका त्याग स्वेच्छाचारी मत बनो. दान करते समय विवेकको मत खो दो, मन्दिर बनाओ, पञ्चकल्याणक उत्सव करो. निषेध नहीं. परन्तु जहाँपर इनकी आवश्यकता है।

वीरशासनके प्रचारार्थ प्राचीन साहित्यके उद्धार की महती आवश्यकता है। उस ओर समाजकी दृष्टि नहीं। पूजन तो देव-शास्त्र-गुरु तीनोंकी करते हो परन्तु शास्त्रोंकी रक्षाका कोई उपाय नहीं। सहस्रों शास्त्र जीर्ण-शीर्ण होगये और होरहे हैं, इसकी ओर समाजका लक्ष्य नहीं। मेरी समझमें एक पुरानी संस्था (वीर-सेवा-मन्दिर) मुख्तार साहबकी है। परन्तु द्रव्यकी त्रुटिके कारण आज कोई महान ग्रन्थका प्रकाशन मुख्तार साहब न कर सके। न्यायदीपिका, अनित्यपञ्चाशत्, समाधिशतक आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ प्रकाशमें ला सके। समाजको उचित है जो इस संस्था को अजर-अमर करदे। होना तो असम्भव है क्योंकि हम लोगोंको उसका स्वाद नहीं आया। अगर स्वाद आया होता. तब, एक आदमी इसे पूर्ण कर देता। *कलकत्तामें सुनते हैं इसके उद्धारके लिये चार लाख रुपया हुआ था, परन्तु उसका कुछ भी सदुपयोग नहीं हुआ।* उस कमेटीके प्रमुख श्री बाबू छोटेलालजीको *इस ओर अवश्य ही ध्यान देना चाहिये और इस पुनीत कार्यको शीघ्र ही प्रारम्भ करना चाहिए।* मेरा तो स्वयं मुख्तार साहबसे यह कहना है जो आपके पास है उसे अपनी अवस्थामें व्यय कर अपने द्वारा सम्पादित लक्षणावली आदि जो ग्रन्थ है, प्रकाशित कर जाइये। परलोक बाद क्या आप देखने आवेंगे कि हमारी संस्थामें क्या होरहा है ? इस अवस्थासे मुक्ति तो होना नहीं, स्वर्गवासी देव होगे, सो वे इस कालमें आते नहीं। समाजमें गुणग्राही पुरुषोंकी विरलता है। सम्भव है वे इसपर दृष्टिपात करें। महावीर स्वामीका तो यही आदेश है कि प्रभावना करो।

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥

अथवा

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
निजशासनमहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥

केवल बैण्ड बाजे बजानेसे प्रभावना नहीं होती। दूसरे, समाजके सामने पुरातत्त्वकी खोज कर मनुष्योंके हृदयोंमें धर्मकी प्रभावना जमा देना उत्तम कार्य है।

तीसरे, प्राचीन संस्कृत विद्याके पारगामी पण्डित बनाकर जनताके समक्ष वास्तविक तत्त्वके स्वरूपको रख देना आवश्यकीय है। यद्यपि समयके अनुकूल कुछ विद्वान् जैन समाजमें गणनीय हैं पर उनके बाद भी यह परिपाटी चली जावे, इसकी महती आवश्यकता है। एक भी ऐसा विद्यालय नहीं जहां १०० छात्र भी संस्कृतका अध्ययन करते हों। जितने विद्वान हैं वे तो अपने बालकोंको अर्थकरी विद्या पढ़ानेमें लगा देते हैं। जो बालक सामान्य स्थितिके है उनके यह धारणा होगई है जो संस्कृत विद्या पढ़नेसे कुछ लौकिक वैभव तो मिलता नहीं। पारलौकिककी आशा की जावे, जब कुछ धर्मार्जन हो, सो जहाँ नोन-तेल-लकड़ीकी चिन्ता से मुक्ति नहीं वहाँ धर्मार्जन कैसा! अतः वे बालक भी उदास होगये। रहे धनाढ्योंके बालक, सो उन लोगोंके यह विचार है जो हमको पण्डित थोड़े ही बनाना है जो दर-दर जावे। हमें तो धनकी कृपा है तब अनायास बीसों पण्डित हमारे यहाँ आते ही रहेंगे। अतः मामूली विद्या पढ़ाकर बालकोंको दूकानदारीके धन्धेमें लगा देते है। आप ही बतावे, ऐसी अवस्थामें वीरशासनका प्रचार कैसे हो? रहा त्यागी-वर्ग, सो प्रथम तो जैनियोंमें त्यागी ही नहीं, जो है उनके पठन-पाठनकी कोई व्यवस्था नहीं। अथवा, समाजने उनके लिये एक या दो आश्रम जो खोले भी है किन्तु वहाँ यथेष्ट पठन-पाठनकी व्यवस्था नहीं। समाज रुपया भी देना चाहती है तब परिग्रह-पिशाचकी ऐसी कृपा होती है जो त्यागी महाराज भी उसीके बढ़ानेमें अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। क्या कहूँ मैं श्री वीरप्रभुको अन्तिम नमस्कार करके यह प्रार्थना करता हूँ जो हे नाथ! मैं आपके चरणोंका अन्तरङ्गसे अनुरागी हूँ, मेरी सामर्थ्य नहीं थी जो उत्कृष्ट श्रावकका आचार पाल सकूँ; परन्तु आपके शासनके मोहवश इस क्षुल्लक पदको अङ्गीकार किया है। इसी वर्ष तीव्र गरमी पड़ी, दो मास तृषा परीषहका अनुभव होगया और दैगम्बर धर्ममें दृढ श्रद्धा होगई। मेरे मनमें यह आता है कि जो यथागम इसे पालन करूँ, और इस संसार यातनासे बचूँ। आपके आगमसे मेरी तो दृढतम श्रद्धा होगई है जो आत्मा ही आत्माका गुरु है। जिस समय इन रागादि शत्रुओंपर विजय कर लूँगा उस समय स्वयं ही आप जैसा बन जाऊँगा।

हे वीर! आपने यही तो मार्ग बताया, परन्तु हे भगवन्! हम लोगोंने उस मार्गको नहीं अपनाया। आपकी मूर्ति पूजी, निर्वाण-भूमि पूजी, किन्तु आपके बताये मार्गपर न चले। आपने तो परिग्रह त्याग बताया, किन्तु हम लोग आपके नामपर लाखों रुपया एकत्रित कर मूर्छाके पात्र बने हैं। मान लो रुपया भी एकत्रित करे, तो उसे वीरप्रभुके शासन प्रचारमें लगा दें। परन्तु उस ओर हमारा लक्ष्य नहीं। हे प्रभो! अब बहुत कष्टमय काल है। एक बार फिर प्राचीन कालकी लहर आजाय जो हम लोग सुमार्ग पर आवें और आपके शासनका प्रचार करें। अन्तमें, क्रान्तिके इस युगमें वीरशासनके प्रचारके लिये समाजके विद्वानों और श्रीमानोंमें सङ्गठित कार्य करनेकी शक्ति जागृत हो इसकी भावना करते हुए हम अपने भाषणको समाप्त करते है।

वीरशासनकी जय।

सम्पादकीय

ये मनुष्य हैं या सांप ?

सुनते हैं डायन भी अपने-परायेका भेद जानती है। वह कितनी ही भूखी क्यों न हो, फिर भी अपने बच्चोंका भक्षण नहीं करती। सिंह-चीते, घड़ियाल-मगरमच्छ, बाज-गरुड आदि क्रूर हिंसक जानवर भी सजातीयोंको नहीं खाते। कहते हैं साँपन एकसौ एक अण्ड प्रसव करती है और प्रसव करते ही उनमेंसे अधिकांश खा लेती है या नष्ट कर देती है। हमारा अपना विश्वास है कि वह क्षुधा-शान्त करनेको सन्तान-भक्षण नहीं करती; अपितु लोक-रक्षाकी भावनासे प्रेरित होकर ही विषैली सन्तानके भक्षणको बाध्य होती है।

क्रूर-से-क्रूर पशु-पक्षी भी अपनी सीमाके अन्दर ही केवल क्षुधा-पूर्तिके लिये विजातियोंका शिकार करते है। किन्तु, हजरते इन्सानसे कुछ भी बईद नहीं। ये जल-थल-नभ सर्वत्र विश्व-सहारका पहुँते हैं। आवश्यक-अनावश्यक संसारको कष्ट देते है। शत्रुका तो संहार करते ही है, मित्रों और परोपकारियों को भी नहीं छोड़ते। जो काम शैतान करते हुए लजाये, उसे ये मुस्कराते हुए कर डालते है।

संसारमे शायद मछली और मनुष्य ही केवल दो ऐसे विचित्र प्राणी हैं जो सजातीयोंको भी नहीं छोड़ते। सम्भवतया जैनशास्त्रोंमें इसीलिये इन दोनोंके सातवें नरक तकके बन्ध होनेका उल्लेख मिलता है जबकि अन्य क्रूर-से-क्रूर पशु-पक्षियोंके प्रायः छठे नरक तक का ही बन्ध होता है। ईमानकी बात तो यह है कि मनुष्यकी करतूतोंकी तुलना किसी भी जानवरसे नहीं की जा सकती। यह अपनी यकता मिसाल है।

मनुष्य अपने सजातीय यानी मनुष्यका संहार करनेका आदी है। फिर भी भारतके हिन्दुओंके अतिरिक्त प्रायः सभी मनुष्योंने देश, धर्म, समाजकी रेखाएँ खींच ली है। और इन रेखाओंके अन्दर रहने वाले एक दूसरेका संहार करना तो दूर अनिष्ट करना भी नहीं सोचते। परन्तु भारतके हिन्दु और वह भी निरामिष भोजी, उच्चवर्णोत्पन्न उक्त मर्यादामें नहीं बन्धे हैं। मुक्तिके इच्छुक इस बन्धनसे मुक्त है। न इनसे अपने देशवासी बच पाते है, न सहधर्मी और न सजातीय।

चूँकि यह निरामिष भोजी है; रक्तमात्र देखनेसे इनका हृदय घबराने लगता है। इसलिये इन्होंने अपने कुटुम्बियों, इष्ट-मित्रों, सजातीय और सहधर्मी बन्धु-बान्धवोंके संहारका उपाय भी अहिंसक निकाल रक्खा है—

'होजाएँ खून लाखों लेकिन लहू न निकले'।

क्या किसी देशमे, समाजमे अपनी बहन-बेटियों-को, बन्धु-बान्धवोंको शत्रुओंके हाथोंमें सौंपते हुए किसीने देखा है ? न देखा, सुना हो तो भारतमें आकर यह पैशाचिक लीला अपने आँखोंके सामने होती देख लो। ये लोग गायका रस्सा तो क़साईसे छीनते है पर, बहन-बेटियोंका हाथ स्वयं उनके हाथों मे पकड़ा देते है। कुत्तों—बिल्लियोंको तो अपने साथ सुलाते और खिलाते है, पर अपने सजातियों-सहधर्मियोंसे घृणा करते है। साँपोंको दूध पिलाने और चिउंटियोंको शक्कर खिलानेके लिये तो ये लोग जङ्गल-जङ्गल घूमते है, पर अपहृत महिलाओंके उद्धारके बजाय उनकी छायासे भी दूर भागते है। चिड़ीमारके हाथोंसे तोते-चिड़ियाओंका तो रुपया देकर उद्धार करते है, पर आततायियोंके चंगुलमें फँसी रोती-बिलखती नारियोंको मुक्त करना पाप समझते है।

यूँ तो आये दिन इस तरहके काण्ड होते ही रहते है, परन्तु सीनेपर हाथ रखकर एक घटना और पढ़ लीजियेः—

'साम्प्रदायिक उपद्रवोंके परिणामस्वरूप अन्यत्र की तरह देहरादूनमें भी हिन्दू मुसलमानोंमें संघर्ष हुआ। उसी अवसरपर चार मुसलमान हाथोंमें तलवार लिये एक ब्राह्मणके घर पहुँचे। और ब्राह्मणसे जाकर बोले कि तुम सकुटुम्ब मुसलमान हो जाओ और अपनी जवान लड़कीको हममेसे एकके साथ शादी कर दो, वर्ना हम सबको जानसे मार डालेंगे।

ब्राह्मण यह दृश्य देखकर घबराया और लड़की देने तथा धर्म-परिवर्तन करनेको प्रस्तुत हो होगया। किन्तु जब वह अपनी युवती कन्याका हाथ उनमेसे एक मुसलमानके हाथमें देने लगा तो लड़कीने फुर्तीसे उस मुसलमानसे तलवार छीनकर पलक मारते ही दोको खुदागञ्ज भेज दिया; बाकी दो भाग गये। वीर लड़कीके साहसके कारण ब्राह्मण और उसका कुटुम्ब तो धर्म-परिवर्तनसे बच गये, लेकिन उस वीराङ्गनाको खूनके अपराधमें पुलिस पकड़ कर लेगई। भाग्यसे देहरादूनका कलक्टर सहृदय और गुणज्ञ अंग्रेज था। उसे जब वास्तविक घटनाका ज्ञान हुआ तो उसने वह मुक़दमा किसी तरह अपनी अदालतमें ले लिया और दो-चार पेशियोंके बाद लड़कीको निरपराध घोषित करके उसको लिवा जानेके लिये उस ब्राह्मणके पास इत्तला भेजी तो ब्राह्मणने कहलवा भेजा कि चार-पाँच रोजमें बिरादरीसे पूछ कर बतला सकूँगा कि लड़कीको घरपर वापिस ला सकता हूं या नहीं। चार-पाँच रोजके बाद ब्राह्मणने लिख दिया कि—'लड़कीको घरपर वापिस लानेकी बिरादरी इजाजत नहीं देती, इसलिये वह मजबूर है।' इस उत्तरको पढ़कर कलक्टर बहुत हैरान हुआ और ब्राह्मणकी इस निष्ठुरताका कारण उसकी समझमे नहीं आया। लाचार उसने वहाँके आर्य-समाजियोंको वह लड़की सौंपते हुए कहा—'यदि यह लड़की इङ्गलिस्तानमें उत्पन्न होकर ऐसा वीरतापूर्ण कार्य करती तो अंग्रेज इसकी मूर्ति बनवाकर स्मृति-स्वरूप किसी वाटिकामें स्थापित करते और जो स्त्री-पुरुष वहाँसे पास होते उसको आदर देते। किन्तु यह हिन्दुस्तान है, यहाँका हिन्दु पिता अपनी लड़कीको शाबासी देनेके बजाय उसे अपने साथ रखना भी पाप समझता है।'

मालूम होता है कलक्टर साहबको हिन्दुस्तान आये थोड़े ही दिन हुए होगे। अन्यथा देहरादूनके उस ब्राह्मणकी इस करतूतसे वे व्यथित नहीं हुए होते। उन्हें क्या मालूम कि यहाँ ऐसे ही सन्तान-घातक और समाज-भक्षियोंका प्राबल्य है। ऐसे ही पापियोंके कारण भारतके १४-१५ करोड़ हिन्दू ईसाई और मुसलमान बने हैं। फिर भी इनकी यह लिप्सा अभी शान्त नहीं हुई है और दिन-रात अपने समाज और वंशका घात करनेमें लगे हुए हैं।

यशोदाने मुस्लिम प्याऊसे पानी पी लिया, धर्नाराम सिंघाईके तांगेके नीचे चूहा मर गया, कनौजियोंकी पगंतपर यवनोंकी परछाई पड़ गई। छुट्टू पंडेका तिलक रमजानी भटियारेने चाट लिया, गुड़गांवेके गूजरोंने मेवोंके हाथ गाय बेच दी, श्रीमालीब्राह्मण मस्जिदके कुए पर स्नान कर आये। अतः ये सब विधर्मी होगये है। हिन्दुजातिसे बहिष्कृत, हुक्का-पानी, रोटी-बेटी व्यवहार इनके साथ बन्द! और तारीफ यह कि वे स्वयं भी अपनेको पतित समझकर विधर्मियोमे आंसू बहाते हुए मिल जाते हैं। न तो ये सोने-चाँदीसे मढ़े भगवान ही उनकी रक्षा कर पाते है न पतित-पावनी गङ्गा-यमुना, न भगवानका गन्धोदक। सब निकम्मे होजाते हैं और वे गायकी तरह डकराते हुए अपनोंसे बिछुड़नेको बाध्य होते हैं।

इन पोंगापन्थियोंके कारण भारतको अनेक दुर्दिन देखने पड़े है। भारतपर जब विदेशियोंके आक्रमण होने लगे तो ये तिलक लगाये, हाथमें माला लिये निश्चेष्ट गौ-मन्दिरोंका विध्वंस देखते रहे। सीता-हरण-की कथा पढ़-पढ़कर रोते रहे परन्तु आँखोंके सामने हजारों सीताओंका अपहरण देखते हुए भी इनका रोम न हिला। काश्मीरके ब्राह्मण बलात् मुसलमान बना लिये गये तो काश्मीरमहाराज काशी आकर गिड़गिड़ाये और इन धर्मके ठेकेदारोंसे उन्हे वापिस धर्ममे ले लेनेकी व्यवस्था चाही पर ये टस-से-मस न हुए। मूर्तिको पतित-पावन और गणिका तथा सदना

कसाईके उद्धारकी कथा कहते-सुनते स्वयं पत्थर बन गये।

बुत बनके वोह सुना किये वेदादका गिला।
सूझा न कुछ जवाब तो पत्थरके होगये॥

करोड़ों राजपूत—मेव, राँघड़, मलकाने मुसलमान बन गये, पर इन्होंने उनके रोने और घिघयानेपर भी उन्हें गले नहीं लगाया। लाखों महिलायें गत वर्ष अपहृत होगईं परन्तु ये वज्रहृदय न तो उनकी रक्षा ही करनेको उद्यत हुए और न अब उन्हें वापिस लेने को ही तैयार हैं।

जिन पापियोंके कारण १०-१५ करोड़ हिन्दू विधर्मी हुए उनके प्रायश्चित्तका असली उपाय यही है कि उनकी सन्तानको काश्मीर और हैदराबादके मोर्चों पर हिन्दु जातिकी रक्षार्थ भेज देना चाहिये। क्योंकि आक्रामक अधिकांश वही लोग है जो इनके कारण विधर्मी बने हैं। और जो अब भी इस तरहके अपवित्र मनुष्य हैं, उन्हें भङ्गियोंका कार्य सौंप देना चाहिए और भङ्गियोंको कोई दूसरा कार्य—ताकि उनके मिलानेमें भङ्गी अपना अपमान न समझें। समाजके ऐसे कोढ़ियोंको जिनसे समाज क्षीण होता हो, चाण्डालोंकी संज्ञा देकर उनसे चाण्डालों जैसा व्यवहार करना चाहिए।

वाहरे पोंगापन्थियो! मकुटुम्ब धर्म-परिवर्तनको तैयार! लुच्चे-लफंगोंको जवान लड़की देना मन्जूर! न इसमें बिरादरीकी नाक कटती और न जातीय-मर्यादा नष्ट होती। परन्तु आततायियोंको पाठ पढ़ाने वाली सीतासे भी बढ़कर सुशीला लड़कीको अपनानेमें बिरादरीकी इज्जत गोबर होती!

बेशक ऐसी हिजड़ी समाज उसे कैसे अपनाती और कैसे अपना कलुषित मुंह दिखलाती:—

परदेकी और कुछ वजह अहले जहाँ नहीं।
दुनियाको मुँह दिखानेके क़ाबिल नहीं रहे॥

आत्म-घातक नीति

'एक ही रास्ता' शीर्षकमें महात्मा गाँधीजीने लिखा था—"मेरी समझमें यह नहीं आता कि कैसे किसी आदमीका दीन-धर्म जबरन बदला जा सकता है। या कैसे किसी एक भी औरतको जबर्दस्ती भगाया या बेइज्जत किया जा सकता है? जब तक हम यह मानते रहेंगे कि हमारी ऐसी बेइज्जती करते ही रहेंगे[1]।"

वास्तवमें हिन्दुओंकी इस आत्म-घातक बुनियादी कमजोरीको जड़मूलसे उखाड़नेके लिये बहुत बड़े आन्दोलनकी आवश्यकता है। मनुष्य जब आत्म-ग्लानियोंसे भर उठता है और स्वयं अपनी नजरोंसे पतित होजाता है, तब उसका उद्धार त्रिलोकीनाथ भी नहीं कर सकते।

गिर जाते है हम खुद अपनी नजरोंसे सितम यह है।
बदल जाते तो कुछ रहते, मिटे जाते हैं ग़म यह है॥

—अकबर

जो धर्म पतितोंको उबारने, विधर्मियोंको अपना बनानेमें सञ्जीवनी शक्ति था। वही आज चौका-चूल्हे, तिलक-जनेऊमें फँसकर समाज-भक्षक बन रहा है।

हिन्दु जातिकी यह कितनी आत्म-घातक नीति रही है कि झूठ-मूठ दोष लगा देनेपर, या बलात् कोई अधर्म कार्य कराये जानेपर वह स्वयं अपनेको धर्म-भ्रष्ट समझ लेती है! और इस अपमानका बदला न लेकर स्वयं विधर्मियोंमें सम्मिलित हो जाती।

और नारी-सतीत्व जो उसके अमरत्वके लिये अमृत था, वही अब विषसे भी अधिक घातक सिद्ध हो रहा है। जब स्त्री-पुरुष समान है तब बलात्कारसे केवल स्त्रीका ही धर्मभ्रष्ट क्यों समझा जाता है? पुरुष का धर्मभ्रष्ट क्यों नहीं होता? नारी ही क्यों तिरस्कृत और घृणित होकर रह जाती है? वह क्यों भोग्य बनी हुई है?

नारीकी इसी दुर्बलतासे कामुक पुरुष लाभ उठाते हैं। नारी इस कृत्यको इतना बुरा समझती है कि पुरुषके बलात्कार करनेपर भी उसे गोपन रखनेकी स्वयं मिन्नतें करती है। और किसीपर प्रकट न कर दे इस आशङ्कासे उसके इशारोंपर नाचती है। उचित-अनुचित सभी बातें मानती है। स्वयं अपनेको भ्रष्ट समझती है। और भ्रष्ट करने वाले नर-पशुसे बदला न लेकर उसके हाथोंमें खेलती है।

१—हरिजन सेवक १ दि० १९४६ पृ० ४१२।

अतः अब इस प्रबल आन्दोलनकी आवश्यकता है कि नारीसे बलात्कार करनेपर भी उसका सतीत्व अखण्ड रहता है। कोई पापी कुछ ही खिलादे और और कुछ भी करले. पर धर्मभ्रष्ट नहीं होता। क्योंकि धर्म आत्माकी तरह अजर-अमर है। न इसे कोई नष्ट कर सकता है. न छीन सकता है, न अपवित्र कर सकता है। जो धर्म आत्माको परमात्मा बनानेकी अमोघ शक्ति रखता है. वह किसीसे भी छिन्न-भिन्न नहीं हो सकता।

डालमियानगर (विहार) —*गोयलीय*
१६ जौलाई १९४८

श्रीशान्तिनिकेतनमें जैनशिक्षापीठकी आवश्यकता

आज दुनियाके सामने जो जलती हुई समस्याएँ हैं उनमें शैक्षणिक समस्या बहुत ही अधिक महत्त्व रखती है; क्योंकि किसी भी राष्ट्रकी सांस्कृतिक स्थिति-की रक्षा शिक्षाकी मजबूत नींवपर ही अवलम्बित है। मानवके आधिभौतिक और आध्यात्मिक उन्नतिके मूल इसीमें सन्निविष्ट हैं। बात बिल्कुल दीपकवन स्पष्ट है। अतः शिक्षा-विषयक अधिक लिखना या विचार करना उपयुक्त नहीं; परन्तु यदि सचमुचमें हमें यह हमारी कमजोरी दीखती है तो उसे क्रियात्मक उपायोंसे अविलम्ब दूर करना चाहिये। कथन और मननका जमाना गया. जमाना है ठोस काम करनेका. वह भी मूकभावसे। वर्तमान जैनसमाजकी शिक्षण-प्रणालिकापर यदि दृष्टि कर उसपर गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे तो बड़ी भारी निराशा होगी। जिस पद्धतिके अनुसार जैन बालक और प्रौढोंकी शिक्षा होनी चाहिये उसका हमारे सर्वथा अभाव भले ही न हो पर वह दिशा अवश्य ही उपेक्षित है। इसके कटुफल हमारी सन्तानको चखना पड़ेंगे। आजका सांस्कृतिक वायुमण्डल जैनोंके अनुकूल होनेके बावजूद भी समाज इसपर समुचित ध्यान नहीं दे रहा है। कहनेको तो शिक्षालय-गुरुकुलोंकी हमारे यहाँ कोई कमी नहीं है परन्तु फिर भी जो सांस्कृतिक गौरव-गरिमाको बढ़ाने वाला अनुष्ठान होना चाहिये सो नहीं हो पाता। जबतक प्राचीन कीर्तिकलाकी जड़ें कुछ अंशोंमें हरी न होजायें तबतक कोई भी व्यक्ति हमारे समाजको शिक्षित कैसे मान सकता है? जैन विद्यालयोंमें जो बालकोंको शिक्षा दी जाती है वह उनके नैतिक विकासके लिये तो पर्याप्त है ही परन्तु यदि समाज अजैन शिक्षा-विषयक संस्थाओंमें जैन पीठ स्थापितकर सांस्कृतिक अनु-शीलनका काम करे-करवावे तो बौद्धिक जीवन यापन करनेवाले समाजका बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। और मैं तो मानता हूँ कि जैन संस्कृतिकी सच्ची सेवा किसी न किसी रूपमें हो सकती है। मैं समाजका ध्यान कविवर श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रस्थापित शान्तिनिकेतन आश्रमकी ओर खीचना चाहता हूँ. जहाँपर भारतीय संस्कृति और सभ्यताके सभी अङ्गों-का समुचित अध्ययन बड़े मनोयोग-पूर्वक कराया जाता है। शायद ही भारतका कोई शिक्षित व्यक्ति ऐसा होगा जो वहाँकी शिक्षण-प्रणालिकासे अपरिचित हो।

कलकत्तासे पटनाकी ओर विहार करते हुए मुझे कुछ यहां पर रहनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था. वहाँ पर मैंने चीनाभवन. हिन्दीभवन, प्राच्यविद्याभवन, कलाभवन आदि पृथक् पृथक् विद्याकी शाखाओंकी सुसाधना करनेवाले शिक्षा मन्दिरोंका अवलोकन किया एवं अध्यापकोंसे भी एतद्विषयक विचार विनिमय किया। चीनी फारसी अरबी. पाली. हिन्दी. संस्कृत, बंगला आदि भारतकी सभी प्रान्तीय भाषाओं और विविध साहित्योंका गंभीर अध्ययन तथा मनन यहाँपर होता है। यही कारण है कि विदेशोंमें इस आश्रमका जो स्थान है वह किसीको प्राप्त नहीं हुआ। विदेशी गवेषक और भारतीय संस्कृतिके प्रेमी विद्वान् यहाँपर आते ही रहते हैं। वे तो यही समझते हैं कि भारतीय सभी धर्मों और साहित्योंका प्रधान केन्द्र शांतिनिकेतन है और बात भी कुछ अंशोंमे सच है। परन्तु यहाँपर दो बातोंकी मैंने जो कमी देखी वह मुझे उसी समय बहुत ही अखरी—एक तो इतनी विशाल लायब्रेरीमें उच्च श्रेणीके जैन-साहित्यका सर्वथा अभाव जो अनु-

शीलनात्मक कार्योंमें सहायता करना हो वहाँके विद्वानोंमें पं० प्रवर हजारीप्रसादजी द्विवेदी, आचार्य क्षितिमोहनसेन, जैनसाहित्यके प्रेमी और अन्वेषक है। श्रीयुत् रामसिंहजी तोमर तो प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यके गंभीर अभ्यासी हैं। आपने अपभ्रंशभाषा और साहित्यका विवेचनात्मक इतिहास भी बड़े परिश्रमपूर्वक तैयार किया है जो शीघ्र ही हिन्दीभवनकी ओरसे प्रकाशित होगा। आगे भी उपर्युक्त विद्वान जैन संस्कृतिपर अध्ययन करनेकी सुरुचि रखते हैं; परन्तु आवश्यक साधनोंके अभावमें उनका कार्य बढ़ नहीं सकता, जब कभी कुछ जैनसाहित्य औरसंस्कृति-विषयक ग्रन्थोंकी आवश्यकता पड़जाती है तो उन्हें वैयक्तिक रूपसे कहींसे प्राप्त कर काम चलाना पड़ता है। जैन समाजके लिये यह अत्यन्त खेदका विषय होना चाहिये। स्वतंत्र अन्वेषण करना तो रहा दूर, पर जो एतद्विषयक कार्योंमें अपना बहुमूल्य समय दे रहे है उनको आवश्यक साहित्यिक साधनों की भी पूर्ति न करना और सांस्कृतिक प्रचारकी बड़ी बड़ी बातें करना इसका क्या अर्थ हो सकता है? खुशीकी बात है कि कलकत्ता-निवासी प्रसन्नचन्द बोथराने उपाध्याय सुखसागरजी महाराजके सदुपदेशसे ५०० रुपयोंका जैनसाहित्य यहाँके लिये मँगवाना ते किया है। पर इससे होगा क्या? सम्पूर्ण जैनसाहित्यिक संस्थाओं-को—जो प्रचार कर रही है—चाहिये कि प्रकाशित ग्रन्थोंकी एक-एक प्रति तो अवश्य ही यहाँ भिजवावे।

दूसरी अखरनेकी बात है वहाँपर जैन विद्यापीठका न होना, जब अधिक प्रसिद्ध धर्मों, साहित्योंकी अध्ययन-प्रवृत्तियाँ यहाँ चलें और जैन शिक्षाकी कोई भी समुचित व्यवस्था न हो, यह भी आश्चर्यका ही विषय है। १५ वर्ष पूर्व बाबू बहादुरसिंह सिंघीके प्रयाससे 'सिंघीविद्यापीठ' संस्थापित हुई थी, जिसके मुख्य अध्यापक पुरातत्त्वाचार्य जिनविजयजी थे परन्तु उनका जबसे वहाँसे प्रयाण हुआ तभीसे संस्था भी चली गई। अब जैनोंकी कोई खास व्यवस्था वहाँपर नहीं है। जबकि वहाँके कार्यकर्ता चाहते अवश्य हैं। अतः जैनसमाजके श्रीमन्त व्यक्तियोंको चाहिये कि प्राकृतभाषा और जैन-साहित्यादिकी शिक्षाके लिये या तो जैन संस्कृति-शिक्षापीठ जैसी कोई स्वतन्त्र संस्था या ऐसी जैन-चेयर वहाँपर अवश्य ही स्थापित कर देंवे जिसपर एक ऐसे विद्वानकी नियुक्ति की जाये जो जैन दर्शन, धर्म, साहित्यादि सभी विषयोंका विद्वान् और तुलनात्मक अभ्यास करनेमें रुचि रखता हो, साम्प्रदायिक व्यामोहसे दूर हो। यदि यह व्यवस्था जैनसमाज कर दें तो रहने-करनेकी सुविधा वे देनेको तैयार हैं। अधिक खर्च भी नहीं है केवल प्रतिवर्ष ५००० हजारका खर्च होगा, परन्तु वहाँके सांस्कृतिक वायुमण्डलमें जो तुलनात्मक अध्ययन जैन-अजैन व्यक्ति करेंगे वे आगे चलकर हमारी समाजके लिये बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होंगे। मैं तो चाहूँगा कि जैनी लोग इस बातको अतिशीघ्र विचार कर "जैनशिक्षापीठ" स्थापित कर दे। जहाँ जैन संस्कृतिके विविध अङ्गोंका तलस्पर्शी अध्ययन, मनन और अन्वेषण हो।

पटना सिटी, ता० २३-७-४८ —*मुनिकान्तिसागर*

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको निम्न सहायताकी प्राप्ति हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

९००) बाबू नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता (तैयार ग्रन्थोंके प्रकाशनार्थ स्वीकृत दस हजारकी सहायताके मध्ये)।
१००) निर्मलकुमारजी सुपुत्र उक्त बाबू नन्दलालजी कलकत्ता।
१००) बाबू शान्तिनाथजी सुपुत्र उक्त बाबू नन्दलालजी कलकत्ता।
१०) श्रीदिगम्बर जैनसमाज बाराबङ्की, मार्फत ला० कन्हैयालजी जैन बाराबङ्की।

—*अधिष्ठाता*

पाकिस्तानी पत्र

[पं० उग्रसेन गोस्वामी बी० ए०, एल-एल० बी० रावलपिंडी जिलेके अन्तर्गत सैय्यद कसरा गाँवके रहने वाले हैं। विभाजन होनेसे पूर्व कई लाखके आदमी थे। मकान-बगीचा था, सैकड़ों बीघे जमीन थी। गाँवमें अपनी भद्रता और वंश-प्रतिष्ठाके कारण आदर-सम्मानकी दृष्टिसे देखे जाते थे। आजकल डालमियानगरमें रहते हैं और मेरे पास उठते बैठते हैं। इनके बाल्य-सखा कसरा साहबके अक्सर पत्र पाकिस्तानसे आते रहते हैं। एक पत्र उनमेसे नीचे दिया जा रहा है। कसरा साहब उर्दूके ख्यातिप्राप्त शायर और लेखक हैं। बड़े नेक सहृदय मुसलमान हैं। डालमियानगरमें भारत-विभाजनसे पूर्व एक बार तशरीफ लाये थे; तब उनकी पत्नीका देहान्त हुए ४ रोज हुए थे। फिर भी मेरे यहाँ बच्चे की वर्षगाँठमें सम्मिलित हुए मुबारकबादी-ग़जल पढ़ी। रातके १२–१ बजे तक शेरोशायरीका दौर चला, परन्तु यह आभास तक न हो सका कि आपपर पत्नी-वियोगका पहाड़ टूट पड़ा है। उनके जानेके बाद ही उक्त घटनाका पता चला। ऐसा वज्र-हृदय मनुष्य भी पञ्जाबका रक्त-काण्ड देखकर रो उठा।

—गोयलीय]

मुहब्बिये दिलनवाज जनाब गोस्वामी साहब,

यह खत क्यों भेज रहा हूँ, कुछ न पूछिये। मैंने सैयदके हालात सुने है, अभी गया नहीं। लेकिन जो कुछ सुना है, वह इतना है कि मै और आप अपने हमवतनोंकी रजालत, मजहबी दीवानगी और दरिन्दगीकी वजहसे कभी किसी मौज्जिज शख़्शके सामने शर्मिन्दगीसे सर नही उठा सकेंगे। एक दीवानगीका सैलाब था, जो आया और रास्तेमें जो कुछ भी मिला उसे बहाकर ले गया। गाँवके एक-एक मकानको जलाया गया। स्कूलको खाकिस्तर कर दिया। यह नहीं सोचा कि आइन्दा बच्चो की तालीमका क्या होगा? चीज मिटाई तो आसानीसे जा सकती है, लेकिन बनाना मुश्किल होता है। फिर इस क़िस्मके अदारे जिसमें हर कौम और हर मजहबके बच्चे अपने मजाक और काबलियतके मुताबिक़ फायदा उठा सकते है। इनको मिटाना एक ऐसा गुनाह है जिसको कोई माफ़ नही कर सकता।

रावलपिंडी, जेहलम, कैमलपुर या जैसे अजला जहाँ अहले हनूद और सिक्ख भाइयोकी तादाद कम है। आह! इस अक़लियतको किस तरह बरबाद किया गया। ऐसा जुल्म तो किसी बड़े-से-बड़े जालिम बादशाहने भी मखलूक़े खुदापर नहीं किया। चंगेज और हलाकू फिसाने बनकर रह गये। इस तरक्कीके जमानेमे यह बरबरेयत? या अल्लाह! खुदाकी पनाह, दिल नही चाहता कि ऐसे मुल्कमें रहें। यह मुल्क दरिन्दोका मुल्क है। इन्सानियतकी क़ीमत यहाँ कुछ भी नही। जज़्बये शराफत नापेद और खिजफे रजालत अनगिनत। अब कैसा सलाम और कैसी दुआ? मिलें भी तो कैसे मिलें? वे सिल्सिले खत्म हो गये। वे दिन जाते रहे। इन्सानियत बदल गई। मेरे भाई, मै आपसे निहायत शर्मिन्दा हूँ कि मेरी क़ौमने दरिन्दगीका वह मजाहिरा किया जिसके लिये मेरा सर हमेशा नीचा रहेगा।

—गुलामहुसैन कसरा मिनहास

Regd. No. A-731

वीरसेवामन्दिर सरसावाके प्रकाशन

१ अनित्य-भावना—

आ० पद्मनन्दिकृत भावपूर्ण और हृदय-ग्राही महत्वकी कृति, साहित्य-तपस्वी पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारके हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। मूल्य।)

२ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—

सरल-संक्षिप्त नया सूत्र-ग्रन्थ, प० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी सुबोध हिन्दी-व्याख्या-सहित। मूल्य।)

३ न्याय-दीपिका—

(महत्वका नया संस्करण)—अभिनव धर्मभूषण-यति रचित न्याय-विषयकी सुबोध प्राथमिक रचना, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत (१०१ पृष्ठकी) प्रस्तावना, प्राक्कथन, परिशिष्टादिसे विशिष्ट, ४०० पृष्ठ प्रमाण, लागत मूल्य ५)। इसकी थोड़ी ही प्रतियाँ शेष रही हैं। विद्वानों और छात्रोंने इस संस्करणको खूब पसन्द किया है। शीघ्रता करें। फिर न मिलने पर पछताना पड़ेगा।

४ सत्साधु-स्मरणमंगलपाठ—

अभूतपूर्व सुन्दर और विशिष्ट संकलन, संकलयिता पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार, भगवान महावीरसे लेकर जिनसेनाचार्य पर्यन्त के २१ महान जैनाचार्योंके प्रभावक गुणस्मरणों से युक्त। मूल्य ॥)

५ अध्यात्म-कमल-मार्त्तण्ड—

पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थों के रचयिता पं० राजमल्ल-विरचित अपूर्व आध्यात्मिक कृति, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्दजी शास्त्रीके सरल हिन्दी अनुवादादि-सहित तथा मुख्तार पंडित जुगलकिशोरजी-द्वारा लिखित विस्तृत प्रस्तावनासे विशिष्ट। मूल्य १॥)

६ उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—

मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी-द्वारा लिखित ग्रन्थ-परीक्षाओंका इतिहास-सहित प्रथम अंश। मूल्य।)

७ विवाह-समुद्देश्य—

प० जुगलकिशोरजी मुख्तार-रचित विवाह के रहस्यको बतलाने वाली और विवाहोंके अवसरपर वितरण करने योग्य सुन्दर कृति। ॥)

वीरसेवामन्दिरमें जो साहित्य तैयार किया जाता है वह प्रचारकी दृष्टिसे तैयार होता है व्यवसायके लिये नहीं और इसीलिये

कागज, छपाई आदिके दाम बढ़ जानेपर भी पुस्तकोंका मूल्य वही पुराना (सन् १९४३का) रखा है। इतनेपर भी १०) से ज्यादाकी पुस्तकोंपर उचित कमीशन दिया जाता है।

प्रकाशन विभाग—वीरसेवामन्दिर, सरसावा ज़िला सहारनपुर

प्रकाशक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी के लिये [illegible] द्वारा [illegible] सहारनपुरमें मुद्रित

श्रावण, संवत् २००५ :: अगस्त, सन् १९४८

किरण ८

विश्ववन्द्य बापू

जन्म २ अक्तूबर १८६९ — महाप्रयाण ३० जनवरी १९४८

★

प्रधान सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

सह सम्पादक
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
डालमियानगर (बिहार)

★

★

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

★

विषय-सूची

श्रीबाबू नन्दलालजी कलकत्ताकी उदारता

श्रीमान् बाबू नन्दलालजी सरावगी कलकत्तने वीरसेवामन्दिर द्वारा तय्यार जैन ग्रन्थोंके प्रकाशनार्थ गत जुलाई मासके अन्तमें दस हजार रुपयेके प्रशंसनीय दानका जो वचन दिया था उस दान सम्बन्धी सब रकमको आपने बड़े ही विनम्र और प्रेममय शब्दोंके साथ भेज दिया है। साथ ही ८००) रु० अपने दोनों पुत्रों चि० शान्तिनाथ और चि० निर्मलकुमारकी ओरसे अगले चार वर्षोंकी वार्षिक सहायताके रूपमें पेशगी भेजे हैं—वर्तमान वर्षकी सहायतामें २००) रु० उनकी ओरसे आप दे गये थे—और १००) रु० अपनी पत्नी श्रीमती कमलाबाईजीकी ओरसे 'सन्मति-विद्या-निधि' को प्रदान कर गये हैं, जो बालसाहित्यके प्रकाशनार्थ स्थापित की गई है। इस तरह हालमें आपने ११९००) की रकम वीरसेवामन्दिरको नक़द प्रदान की है। इस महती उदारता और सरस्वती-सेवाकी उत्कट भावनाके लिये आप भारी धन्यवादके पात्र हैं।

जुगलकिशोर मुख्तार

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त अन्य सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको जो अन्य सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातारमहानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

५००) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर (दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें)

५१) ला० चन्दनलाल गोपीचन्दजी जैन, कानपुर (दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें)

१७६) दिगम्बर जैन सभा शिमला, (दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें) मार्फत पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्यके, जिसमें २५) सफर खर्चके शामिल हैं।

१०२) दि० जैन समाज शाहगढ़, जिला सागर (दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें) मार्फत पं० परमानन्द शास्त्रीके, जिसमें ४१) सफर खर्चके शामिल है।

१०१) श्रीमती पद्मावर्तादेवीजी धर्मपत्नी साहू सुमतप्रसादजी नजीबाबाद (चि० पुत्र जिनेन्द्रकुमारके विवाहोपलक्षमें निकाले हुए दानमेंसे)।

५) दिगम्बर जैन पञ्चायत किशनगढ़, जि. जयपुर (दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें)।

९३५)

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

गत किरण नं० ६में प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातारमहानुभाव धन्यवादके पात्र है

१०) ला० मुन्नीलालजी मुरादाबाद व ला० बबूलाल जी आगरा (विवाहोपलक्षमें) मा. पं. विष्णुकान्त

५) ला० दीपचन्दजी पांड्या, छिन्दवाडा (विवाहोपलक्षमें)

५) ला० बसन्तलालजी जैन जयपुर (दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें)।

५) दि० जैन पञ्चायत, गया (दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें) मार्फत मोहनलालजी जैन मन्त्री।

२५)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

अनेकान्तकी सहायताका सदुपयोग

अनेकान्तपत्रको जो सहायता विवाह-शादी आदिके शुभ अवसरोंपर भेजी जाती है उसका बड़ा ही अच्छा सदुपयोग किया जाता है। उस सहायतामें अजैन विद्वानो, लायब्रेरियों, गरीब जैन विद्यार्थियो तथा असमर्थ जैन संस्थाओंको अनेकान्त फ्री (बिना मूल्य) अथवा रियायती मूल्य ३) रु०में भेजा जाता है। इससे दातारोंको दोहरा लाभ होता है—इधर वे अनेकान्तके सहायक बनकर पुण्य तथा यशका अर्जन करते हैं और उधर उन दूसरे सज्जनोंके ज्ञानार्जनमें सहायक होते हैं, जिन्हें यह पत्र उनकी सहायतासे पढ़नेको मिलता है। अतः इस दृष्टिसे अनेकान्तको सहायता भेजने-भिजवानेकी ओर समाजका बराबर लक्ष्य रहना चाहिये और कोई भी शुभ अवसर इसके लिये चूकना नहीं चाहिये।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

ॐ अर्हम्

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	अगस्त
किरण ८	श्रावणशुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७४, विक्रम-संवत २००५	१९४८

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

युक्त्यनुशासन

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थ-हेतु-
र्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः ।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थ-हेतु-
र्दृष्टा नयास्तद्वदसि-क्रियायाम् ॥५०॥

'(वस्तुको अनन्तधर्मविशिष्ट मानकर यदि यह कहा जाय कि वे धर्म परस्पर-निरपेक्ष ही हैं और धर्मी उनसे पृथक् ही है तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि) जो अंश-धर्म अथवा वस्तुके अवयव परस्पर-निरपेक्ष हैं वे पुरुषार्थके हेतु नहीं हो सकते; क्योंकि उस रूपमें उपलभ्यमान नहीं हैं—जो जिस रूपमें उपलभ्यमान नहीं वह उस रूपमें व्यवस्थित भी नहीं होता, जैसे अग्नि शीतताके साथ उपलभ्यमान नहीं है तो वह शीततारूपमें व्यवस्थित भी नहीं होती। परस्परनिरपेक्ष सत्वादिक धर्म अथवा अवयव पुरुषार्थहेतुतारूपसे उपलभ्यमान नहीं हैं, अतः पुरुषार्थहेतुतारूपसे व्यवस्थित नहीं होते। यह युक्त्यनुशासन प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध है।'

'जो अंश-धर्म परस्पर-सापेक्ष हैं वे पुरुषार्थके हेतु हैं; क्योंकि उस रूपमें देखे जाते हैं—जो जिस रूपमें देखे जाते हैं वे उसी रूपमें व्यवस्थित होते हैं, जैसे दहन (अग्नि) दहनताके रूपमें देखी जाती है और इसलिये तद्रूपमें व्यवस्थित होती है; परस्पर-सापेक्ष अंश स्वभावतः पुरुषार्थहेतुतारूपसे देखे जाते हैं और इसलिये पुरुषार्थहेतुरूपसे व्यवस्थित हैं। यह स्वभावकी उपलब्धि है।'

'(इसी तरह) अंशी—धर्मी अथवा अवयवी—अंशोंसे—धर्मों अथवा अवयवोंसे—पृथक् नहीं है; क्योंकि उसरूपमें उपलभ्यमान नहीं है—जो जिस रूपमें उपलभ्यमान नहीं वह उसमें नास्तिरूप ही है, जैसे अग्नि शीततारूपसे उपलभ्यमान नहीं है अतः शीततारूपसे उसका अभाव है। अंशोंसे अंशीका पृथक् होना सर्वदा अनुपलभ्यमान है अतः अंशोंसे पृथक् अंशीका अभाव है। यह स्वभावकी अनुपलब्धि है। इसमें प्रत्यक्षतः कोई विरोध नहीं है, क्योंकि परस्पर विभिन्न पदार्थों सह्याचल-विन्ध्याचलादि जैसों-के अंश-अंशीभावका दर्शन नहीं होता। आगम-विरोध भी इसमें नहीं है; क्योंकि परस्पर विभिन्न अर्थोंके अंश-अंशीभावका प्रतिपादन करनेवाले आगमका अभाव है और जो आगम परस्पर विभिन्न पदार्थोंके अंश-अंशीभावका प्रतिपादक है वह युक्ति-विरुद्ध होनेसे आगमाभास सिद्ध है।'

'अंश-अंशीकी तरह परस्परसापेक्ष नय—नैगमादिक—भी (सत्तालक्षणा) अर्थक्रियामें पुरुषार्थके हेतु हैं; क्योंकि उस रूपमें देखे जाते हैं—उपलभ्यमान हैं। —इससे स्थितिग्राहक द्रव्यार्थिकनयके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार और प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययके ग्राहक पर्यायार्थिकनयके भेद ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवंभूत ये सब परस्परमें सापेक्ष होते हुए ही वस्तुका जो साध्य अर्थक्रिया-लक्षण-पुरुषार्थ है उसके निर्णय-के हेतु हैं—अन्यथा नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका प्ररूपण सतरूप है वह सब प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पाद-व्ययात्मक है; अन्यथा सतपना बनता ही नहीं। इस प्रकार युक्त्यनु-शासनको उदाहृत जानना चाहिये।'

एकान्त-धर्माऽभिनिवेश-मूला
रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।
एकान्त-हानाच्च स यत्तदेव
स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥५१॥

'(जिन लोगोंका ऐसा खयाल है कि जीवादिवस्तु-का अनेकान्तात्मकरूपसे निश्चय होनेपर स्वात्माकी तरह परात्मामें भी राग होता है—दोनोंमें कथंचित् अभेदके कारण, तथा परात्माकी तरह स्वात्मामें भी द्वेष होता है—दोनोंमें कथंचित् भेदके कारण, और राग-द्वेषके कार्य ईर्ष्या, असूया, मद, मायादिक दोष प्रवृत्त होते हैं, जो कि संसारके कारण है, सकल विक्षोभके निमित्तभूत हैं तथा स्वर्गाऽपवर्गके प्रतिबन्धक हैं। और वे दोष प्रवृत्त होकर मनके समत्वका निराकरण करते है—उसे अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित न रहने देकर विषम-स्थितिमें पटक देते हैं—, मनके समत्वका निराकरण समाधिको रोकता है, जिससे समाधि-हेतुक निर्वाण किसीके नहीं बन सकता। और इसलिये जिनका यह कहना है कि मोक्षके कारण समाधिरूप मनके समत्वकी इच्छा रखने वालेको चाहिये कि वह जीवादि वस्तुको अनेकान्तात्मक न माने' वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि) वे राग-द्वेषादिक —जो मनकी समताका निराकरण करते है—एकान्त-धर्माभिनिवेश-मूलक होते है—एकान्तरूपसे निश्चय किये हुए (नित्यत्वादि) धर्ममें अभिनिवेश—मिथ्या श्रद्धान[१] उनका मूलकारण होता है—और (मोही—मिथ्यादृष्टि) जीवोंकी अहंकृतिसे—अहंकार तथा उस-के साथी ममकारसे[२]—वे उत्पन्न होते हैं। अर्थात् उन अहंकार-ममकार भावोंसे ही उनकी उत्पत्ति है जो मिथ्यादर्शनरूप मोह-राजाके सहकारी हैं—मन्त्री हैं[३], अन्यसे नहीं—दूसरे अहंकार-ममकारके भाव उन्हें जन्म देनेमें असमर्थ हैं। और (सम्यग्दृष्टि-जीवोंके)

१ चूंकि प्रमाणसे अनेकान्तात्मक वस्तुका ही निश्चय होता है और सम्यक् नयसे प्रतिपक्षकी अपेक्षा रखनेवाले एकान्तका व्यवस्थापन होता है अतः एकान्ताभिनिवेशका नाम मिथ्यादर्शन या मिथ्याश्रद्धान है, यह प्रायः निर्णीत है।

२ 'मैं इसका स्वामी' ऐसा जो जीवका परिणाम है वह 'अहंकार' है और 'मेरा यह भोग्य' ऐसा जो जीवका परिणाम है वह 'ममकार' कहलाता है। अहंकारके साथ सामर्थ्यसे ममकार भी यहाँ प्रतिपादित है।

३ कहा भी है—"ममकाराऽहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य। रागादि-सकलपरिकर-परिपोषण-तत्परौ सततम् ॥१॥"
—युक्त्यनुशासनटीकामें उद्धृत।

एकान्तकी हानिसे—एकान्त धर्माभिनिवेशरूप मिथ्या-दर्शनके अभावसे—वह एकान्ताभिनिवेश उसी अनेकान्तके निश्चयरूप सम्यग्दर्शनत्वको धारण करता है जो आत्माका वास्तविक रूप है; क्योंकि एकान्ताभिनिवेशका जो अभाव है वही उसके विरोधी अनेकान्तके निश्चयरूप सम्यग्दर्शनका सद्भाव है। और चूँकि यह एकान्ताभिनिवेशका अभावरूप सम्यग्दर्शन आत्माका स्वाभाविक रूप है अतः (हे वीर भगवन्!) आपके यहाँ—आपके युक्त्यनुशासनमें—(सम्यग्दृष्टिके) मनका समत्व ठीक घटित होता है। वास्तवमें दर्शनमोहके उदयरूप मूलकारणके होते हुए चारित्रमोहके उदयमें जो रागादिक उत्पन्न होते है वे ही जीवोंके अस्वाभाविक परिणाम हैं; क्योंकि वे औदयिक भाव हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो परिणाम दर्शनमोहके नाश, चारित्रमोहकी उदय-हानि और रागादिके अभावमें होते है वे आत्मरूप होनेसे जीवोंके स्वाभाविक परिणाम है—किन्तु पारिणामिक नहीं, क्योंकि पारिणामिक भाव कर्मोंके उपशमादिकी अपेक्षा नहीं रखते। ऐसी स्थितिमें असंयत सम्यग्दृष्टिके भी स्वानुरूप मनःसाम्यकी अपेक्षा मनका सम होना बनता है, क्योंकि उसके संयमका सर्वथा अभाव नहीं होता। अतः अनेकान्तरूप युक्त्यनुशासन रागादिकका निमित्तकारण नहीं, वह तो मनकी समताका निमित्तभूत है।

> प्रमुच्यते च प्रतिपक्ष-दूषी
> जिन ! त्वदीयैः पटुसिंहनादैः।
> एकस्य नानात्मतया ज्ञ-वृत्ते-
> स्तौ बन्ध-मोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥५२॥

'(यदि यह कहा जाय कि अनेकान्तवादीका भी अनेकान्तमें राग और सर्वथा एकान्तमें द्वेष होनेसे उसका मन सम कैसे रह सकता है, जिससे मोक्ष बन सके? मोक्षके अभावमें बन्धकी कल्पना भी नहीं बनती। अथवा मनका सदा सम रहना माननेपर बन्ध नहीं बनता और बन्धके अभावमें मोक्ष घटित नहीं हो सकता, जो कि बन्धपूर्वक होता है। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों ही अनेकान्तवादीके स्वमतसे बाह्य ठहरते हैं—मनकी समता और असमता दोनों ही स्थितियोंमें उनकी उपपत्ति नहीं बन सकती—तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) जो *प्रतिपक्षदूषी है*—प्रतिद्वन्द्वीका सर्वथा निराकरण करनेवाला एकान्ताग्रही है—*वह तो हे वीर जिन ! आप* (अनेकान्तवादी)के *एकाऽनेकरूपता जैसे पटुसिंहनादोंसे*—निश्चयात्मक एवं सिंहगर्जनाकी तरह अबाध्य ऐसे युक्ति-शास्त्राविरोधी आगमवाक्योंके प्रयोगद्वारा—*प्रमुक्त ही किया जाता है*—वस्तुतत्त्वका विवेक कराकर अतत्त्वरूप एकान्ताग्रहसे उसे मुक्ति दिलाई जाती है—*क्योंकि प्रत्येक वस्तु नानात्मक है, उसका नानात्मकरूपसे निश्चय ही सर्वथा एकान्त प्रमोचन है।* ऐसी दशामें अनेकान्तवादीका एकान्तवादीके साथ कोई द्वेष नहीं हो सकता और चूँकि वह प्रतिपक्षका भी स्वीकार करनेवाला होता है इसलिये स्वपक्षमें उसका सर्वथा राग भी नहीं बन सकता। वास्तवमें तत्त्वका निश्चय ही राग नहीं होता। यदि तत्त्वका निश्चय ही राग होवे तो क्षीणमोहीके भी रागका प्रसङ्ग आएगा जोकि असम्भव है, और न अतत्त्वके व्यवच्छेदको ही द्वेष प्रतिपादित किया जा सकता है, जिसके कारण अनेकान्तवादीका मन सम न रहे। अतः अनेकान्तवादीके मनकी समताके निमित्तसे होनेवाले मोक्षका निषेध कैसे किया जा सकता है? और मनका समत्व सर्वत्र और सदाकाल नहीं बनता, जिससे राग-द्वेषके अभावसे बन्धके अभावका प्रसङ्ग आवे, क्योंकि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे किसी तरह, कहींपर और किसी समय कुछ पुण्य-बन्धकी उपपत्ति पाई जाती है। अतः *बन्ध और मोक्ष दोनों अपने (अनेकान्त) मतसे*—जोकि अनन्तात्मक तत्त्व-विषयको लिये हुए है—*बाह्य नहीं हैं*—उसीमें वस्तुतः उनका सद्भाव है—*क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों ज्ञवृत्ति हैं*—अनेकान्तवादियोंद्वारा स्वीकृत ज्ञाता आत्मामें ही उनकी प्रवृत्ति है। और इसलिये सांख्योंद्वारा स्वीकृत प्रधान(प्रकृति)के अनेकान्तात्मक होनेपर भी उसमें वे दोनो घटित नहीं हो सकते; क्योंकि प्रधान (प्रकृति)-के अज्ञता होती है—वह ज्ञाता नहीं माना गया है।'

आत्मान्तराऽभाव-समानता न
वागास्पदं स्वाऽऽश्रय-भेद-हीना ।
भावस्य सामान्य-विशेषवत्त्वा-
दैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥५३॥

'(यदि यह कहा जाय कि एकके नानात्मक अर्थके प्रतिपादक शब्द पटुसिंहनाद प्रसिद्ध नहीं है; क्योंकि बौद्धोंके अन्याऽपोहरूप जो सामान्य है उसके वागास्पदता—वचनगोचरता—है, और वचनोंके वस्तु-विषयत्वका असम्भव है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) आत्मान्तरके अभावरूप—आत्मस्वभावसे भिन्न अन्य-अन्य स्वभावके अपोहरूप—जो समानता (सामान्य) अपने आश्रयरूप भेदोंसे हीन (रहित) है वह वागास्पद—वचनगोचर—नहीं होती; क्योंकि वस्तु सामान्य और विशेष दोनों धर्मोंको लिये हुए है।'

(यदि यह कहा जाय कि पदार्थके सामान्य-विशेषवान होनेपर भी सामान्यके ही वागास्पदता युक्त है; क्योंकि विशेष उसीका आत्मा है, और इस तरह दोनोंकी एकरूपता मानी जाय, तो) सामान्य और विशेष दोनोंकी एकरूपता स्वीकार करनेपर एकके निरात्म (अभाव) होनेपर दूसरा भी (अविनाभावी होनेके कारण) निरात्म (अभावरूप) हो जाता है—और इसतरह किसीका भी अस्तित्व नहीं बन सकता, अतः दोनोंकी एकता नहीं मानी जानी चाहिए।'

अमेयमश्लिष्टममेयमेव
भेदेऽपि मद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।
वृत्तिश्च कृत्स्नांश-विकल्पतो न
मानं च नाऽनन्त-समाश्रयस्य ॥५४॥

'(यदि यह कहा जाय कि आत्मान्तराभावरूप—अन्यापोहरूप—सामान्य वागास्पद नहीं है, क्योंकि वह अवस्तु है; बल्कि वह सर्वगत सामान्य ही वागास्पद है जो विशेषोंसे अश्लिष्ट है—किसी भी प्रकारके भेदको साथमें लिये हुए नहीं है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) जो अमेय है—नियत देश, काल और आकारकी दृष्टिसे जिसका कोई अन्दाजा नहीं लगाया जासकता—और अश्लिष्ट है—किसी भी प्रकार के विशेष (भेद) को साथमें लिये हुए नहीं है—वह (सर्वव्यापी, नित्य, निराकाररूप सत्त्वादि) सामान्य अमेय-अप्रमेय ही है—किसी भी प्रमाणसे जाना नहीं जासकता। भेदके माननेपर भी—सामान्यको स्वाश्रयभूत द्रव्यादिकोंके साथ भेदरूप स्वीकार करने पर भी—सामान्य प्रमेय नहीं होता; क्योंकि उन द्रव्यादिकोंमें उसकी वृत्तिकी अपवृत्ति (व्यावृत्ति)का सद्भाव है—सामान्यकी वृत्ति उनमें मानी नहीं गई है, और जब तक सामान्यकी अपने आश्रयभूत द्रव्यादिकोंमें वृत्ति नहीं है तब तक दोनोंका संयोग कुण्डीमें बेरोंके समान ही होसकता है, क्योंकि सामान्यके अद्रव्यपना है तथा संयोगका अनाश्रयपना है और संयोगके द्रव्याश्रयपना है। ऐसी हालतमें सामान्यकी द्रव्यादिकमें वृत्ति नहीं बन सकती।'

'यदि सामान्यकी द्रव्यादिवस्तुके साथ वृत्ति मानी भी जाय तो वह वृत्ति भी न तो सामान्यको कृत्स्न (निरंश) विकल्परूप मानकर बनती है और न अंश विकल्परूप।—क्योंकि अंशकल्पनासे रहित कृत्स्न विकल्परूप सामान्यकी देश और कालसे भिन्न व्यक्तियोंमें युगपनवृत्ति सिद्ध नहीं की जासकती। उससे अनेक सामान्योंकी मान्यताका प्रसङ्ग आता है, जो उक्त सिद्धान्तमान्यताके साथ माने नहीं गये हैं; क्योंकि एक तथा अनशरूप सामान्यका उन सबके साथ युगपत् योग नहीं बनता। यदि यह कहा जाय कि सामान्य भिन्न देश और कालके व्यक्तियोंके साथ युगपत् सम्बन्धवान् है, क्योंकि वह सर्वगत, नित्य और अमूर्त है, जैसे कि आकाश, तो यह अनुमान भी ठीक नहीं है। इससे एक तो साधन इष्टका विघातक हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार वह भिन्न देश-कालके व्यक्तियोंके साथ सम्बन्धिपनको सिद्ध करता है उसी प्रकार वह सामान्यके आकाशकी तरह सांशपनको भी सिद्ध करता है जोकि इष्ट नहीं है; क्योंकि सामान्यको निरंश माना गया है। दूसरे, सामान्यके निरंश होनेपर उसका युगपत् सर्वगत

[शेषांश पृष्ठ ३२० पर]

वादीभसिंहसूरिकी एक अधूरी अपूर्व कृति

स्याद्वादसिद्धि

(लेखक—न्यायाचार्य प० दरबारीलालजी, कोठिया)

गत वर्ष श्रीयुत् पं० के० भुजबलीजी मूडबिद्रीकी कृपासे हमे वादीभसिंहसूरिकी एक कृति प्राप्त हुई थी, जिसका नाम है 'स्याद्वादसिद्धि' और जिसके लिये हम उनके आभारी हैं।

यह जैनदर्शनका एक महत्वपूर्ण एवं उच्चकोटिका अपूर्व ग्रन्थरत्न है। सुप्रसिद्ध जैनतार्किक भट्टाकलङ्क-देवके न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लघीयस्त्रय आदि-की तरह यह कारिकात्मक प्रकरण-ग्रन्थ है। दुःख है कि विद्यानन्दकी 'सत्यशासनपरीक्षा' और हेमचन्द्र-की 'प्रमाणमीमांसा' की तरह यह कृति भी अधूरी ही उपलब्ध है। मालूम नहीं, यह अपने पूरे रूपमें और किसी शास्त्रभण्डारमें मौजूद है या नहीं। अथवा, यह ग्रन्थकारकी अन्तिम रचना है, जिसे वे स्वर्गवास होजानेके कारण पूरी नहीं कर सके। फिर भी यह प्रसन्नताकी बात है कि उपलब्ध रचनामें १३ प्रकरण पूरे और १४वाँ प्रकरण अपूर्ण (बहुभाग), इस तरह लगभग १४ प्रकरण पाये जाते हैं और इन सब प्रकरणोंमे अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयसे, जिसकी कारिकाओंका प्रमाण ४८० है, २१ कारिकाएँ अधिक अर्थात् ५०१ जितनी कारिकाएँ सन्निबद्ध हैं। इससे इस ग्रन्थकी महत्ता और विशालता जानी जा सकती है। यदि यह अपने पूर्णरूपमें होता तो कितना विशाल होता, यह कल्पना ही बड़ी सुखद प्रतीत होती है। दुर्भाग्यसे यह अभी तक विद्वत्संसारके सामने नहीं आ सका और इसलिये अप्रकाशित एवं अपरिचित दशामें पड़ा चला आ रहा है।

ग्रन्थकी भाषा और रचना शैली

यद्यपि दार्शनिक ग्रन्थोंकी भाषा प्रायः दुरूह और गम्भीर होती है। पर इस कृतिकी भाषा अत्यन्त, प्रसन्न विशद और बिना किसी विशेष कठिनाईके अर्थबोध करानेवाली है। ग्रन्थको आप सहजभावसे पढ़ते जाइये, अर्थबोध होता जायगा। हाँ, कुछेक स्थल ऐसे जरूर है जहाँ पाठकको अपना दिमाग लगाना पड़ता है और जिससे ग्रन्थकी प्रौढता, विशिष्टता एवं अपूर्वताका भी कुछ परिचय मिल जाता है। भाषा-के सुन्दर और सरल पद-वाक्योंके प्रयोगोसे समूचे ग्रन्थकी रचना भी प्रशस्त एवं हृद्य है। चूंकि ग्रन्थकार उत्कृष्ट कोटिके दार्शनिक और वाग्मीके अतिरिक्त उच्च-कोटिके कवि भी थे और इस लिये उनकी यह रचना कवित्व-कलासे परिपूर्ण है। यह ग्रन्थकारकी स्वतन्त्र पद्यात्मक रचना है—किसी गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्यात्मक रचना नहीं है। इस प्रकारकी रचना रचनेकी प्रेरणा उन्हे अकलङ्कदेवके न्यायविनि-श्चयादि और शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहादिसे मिली जान पड़ती है। बौद्धदर्शनमें धर्मकीर्ति (ई० ६२५)की सन्तानान्तरसिद्धि, कल्याणरक्षित (ई० ७००)की बाह्यार्थसिद्धि, धर्मोत्तर (ई० ७२५)की परलोकसिद्धि तथा क्षणभङ्गसिद्धि, और शङ्करानन्द (ई० ८००) की अपोहसिद्धि, प्रतिबन्धसिद्धि जैसे सिद्ध्यन्त नामवाले ग्रन्थ रचे गये हैं। और इनसे भी पहले स्वामी समन्तभद्रकी जीवसिद्धि रची गई है। संभवतः ग्रन्थकारने अपनी 'स्याद्वादसिद्धि' भी उसी तरह सिद्ध्यन्त नामसे रची है।

ग्रन्थका मङ्गलाचरण और उद्देश्य

ग्रन्थको प्रारम्भ करनेके पहले ग्रन्थकारने अपनी पूर्वपरम्परानुसार एक कारिकाद्वारा ग्रन्थका मङ्गला-

चरण और दूसरी कारिकाद्वारा ग्रन्थका उद्देश्य निम्न प्रकार प्रदर्शित किया है—

" .. ... द्रनाय स्वामिने विश्ववेदिने ।
नित्यानन्द-स्वभावाय भक्त-सारूप्यदायिने ॥१॥
सर्वे सौख्यार्थितायां च तदुपाय-पराङ्मुखाः ।
तदुपायं ततो वक्ष्ये न हि कार्यमहेतुकम् ॥२॥"

यहाँ पहली मङ्गल-कारिकामें प्रथम पाद त्रुटित है और जो इस प्रकार होना चाहिए—'नमः श्रीवर्द्ध-मानाय'। अक्षर और मात्राओंकी दृष्टिसे यह पाठ ठीक बैठ जाता है। यदि यही शुद्ध पाठ हो तो इस कारिकाका अर्थ इस प्रकार होता है—

'श्री अन्तिम तीर्थङ्कर वर्द्धमानस्वामीके लिये नमस्कार है जो विश्ववेदी (सर्वज्ञ) हैं, नित्यानन्द स्वभाव (अनन्तसुखात्मक) हैं और अपने भक्तोंको समानता (बराबरी) देनेवाले हैं—जो उनकी उपासना करते हैं वे उन जैसे बन जाते हैं।'

दूसरी कारिकामें कहा गया है कि 'समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, परन्तु वे सुखका सच्चा उपाय नहीं जानते। अतः इस ग्रन्थद्वारा सुखके उपायका कथन करूँगा; क्योंकि बिना कारणके कार्य उत्पन्न नहीं होता।'

विषय-परिचय

जान पड़ता है कि ग्रन्थकार इस ग्रन्थकी रचना बौद्धविद्वान् शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहकी तरह विशाल रूपमें करना चाहते थे और उन्हींकी तरह इसके अनेक प्रकरण बनाना चाहते थे। यही कारण है कि जो उपलब्ध रचना है और जो समग्र ग्रन्थका संभवतः ¾ भाग है उसमें प्रायः १४ प्रकरण ही उपलब्ध हैं। जैसाकि इन प्रकरणोंके समाप्तिसूचक पुष्पिकावाक्योंसे प्रकट है और जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) 'इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः।'—पद्य १से २४।

(२) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ बौद्धवादिनं प्रति स्याद्वादानभ्युपगमे धर्म-कर्तुः फलभोक्तृत्वाभावसिद्धिः। —पद्य २५से ६८।

(३) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ क्षणिकवादिनं प्रति युगपदनेकान्तसिद्धिः।' —पद्य ६९–१४२।

(४) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ क्षणिकवादिनं प्रति क्रमानेकान्तसिद्धिः।' —कारिका १४३–२३१।

(५) 'इति नित्यवादिनं प्रति धर्मकर्तुर्भोक्तृत्वाभावसिद्धिः।' —का० २३२–२६३।

(६) 'इति नित्यैकान्तप्रमाणे सर्वज्ञाभावसिद्धिः।' —का० २६४–२८५।

(७) 'इति जगत्कर्तुरभावसिद्धिः।' —का० २८६–३०७।

(८) 'इति भगवदर्हन्नेव सर्वज्ञ इति सिद्धिः।' —का० ३०८–३२९।

(९) 'इत्यर्थापत्तेर प्रामाण्यसिद्धिः।' —का० ३३०–३५२।

(१०) 'इति वेदपौरुषेयत्वसिद्धिः।' का० ३५३-३९२

(११) 'इति परतःप्रामाण्यसिद्धिः।' का. ३९३-४१९

(१२) 'इत्यभावप्रमाणदूषणसिद्धिः।' का. ४२०-४२४

(१३) 'इति तर्कप्रामाण्यसिद्धिः।' का. ४२५-४४५

(१४) यह प्रकरण का० ४४६ से का० ५०१ तक उपलब्ध है और अधूरा है। जैसा कि उसकी निम्न अन्तिम कारिकासे स्पष्ट है—

न संबध्नात्यसंबद्धः परत्रैवमदर्शनात् ।
समवेतो हि संयोगो द्रव्यसंबन्धकृन्मतः ॥५०१॥

इन प्रकरणोंमें पहले 'जीवसिद्धि' प्रकरणमें चार्वाकको लक्ष्य करके सहेतुक जीव—आत्माकी सिद्धि की गई है और आत्माको भूतसंघातका कार्य माननेका निरसन किया गया है[१]।

दूसरे 'फलभोक्तृत्वाभासिद्धि' प्रकरणमें क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें दूषण दिया गया है कि क्षणिक चित्तसन्तानरूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता, क्योंकि धर्मादि करनेवाला चित्त क्षणध्वंसी है—वह उसी समय नष्ट हो जाता है

१ 'सत्येवाऽऽत्मनि धर्मे च सौख्योपाये सुखार्थिभिः ।
धर्म एव सदा कार्यो न हि कार्यमकारणे ॥२४॥'

और यह नियम है कि 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है।' अतः आत्माको कथञ्चित् नाशशील—सर्वथा नाशशील नहीं—स्वीकार करना चाहिए। और तब कर्तृत्व और फलभोक्तृत्व दोनो एक (आत्मा) के बन सकते हैं[१]।

तीसरे 'युगपदनेकान्तसिद्धि' और चौथे 'क्रमानेकान्तसिद्धि' नामके प्रकरणोंमे वस्तुको युगपत् और क्रमसे वास्तविक अनेकधर्मात्मक सिद्ध किया गया है और बौद्धाभिमत संतान तथा संवृतिकी युक्तिपूर्ण मीमांसा करते हुए चित्तक्षणोंको निरन्वय एवं निरंश स्वीकार करनेमे एक मार्केका दूषण यह दिया गया है कि जब चित्तक्षणोंमे अन्वय नहीं है—वे सर्वथा भिन्न है तो दाताको ही स्वर्ग हो और वधकको ही नरक हो यह नियम नहीं बन सकता। प्रत्युत इसके विपरीत भी सम्भव है—दाताको नरक और वधकको स्वर्ग क्यो न हो[२]?

पाँचवे भोक्तृत्वाभावसिद्धि, छठे सर्वज्ञाभावसिद्धि, सातवें जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि, आठवें अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि, नवें अर्थापत्तिप्रमाणसिद्धि, दशवें वेदपौरुषेयत्वसिद्धि, ग्यारहवें परतः प्रामाण्यसिद्धि, बारहवें अभावप्रमाणदूषणसिद्धि और तेरहवें तर्कप्रामाण्यसिद्धि नामक प्रकरणोंमें अपने-अपने नामानुसार विषय वर्णित है। चउदहवे प्रकरणमें वैशेषिकके गुण-गुणीभेदादि और समवायादि पदार्थोंका समालोचन किया गया है[३]। सम्भव है ग्रन्थका जो शेष भाग अनुपलब्ध है उसमें ग्रन्थकारने सांख्य, नैयायिक आदि दर्शनोंकी मीमांसा की हो अथवा करनेका विचार रखा हो। अस्तु

१ 'ततः कथञ्चिन्नाशित्वे कर्त्रा लब्धं फलं भवेत्।
तन्नाशो नेष्यते तस्माद्धर्मो कार्योऽस्तु सौगतैः ॥६८॥'

२ 'तथा च दातुः स्वर्गः स्यान्नरको हन्तुरित्ययम्।
नियमो न भवेत् किन्तु विपर्यासोऽपि सम्भवेत् ॥ ३-११६'

३ 'गुणाद्यभेदो गुण्यादेस्तथा निर्बाधबोधतः।
तद्वत्तस्यान्यथा हानेर्गुणादेरिव सख्यया ॥१४-४४६॥
समवायान्न तद्बुद्धिरिहेदंप्रत्ययो ह्यतः।
दृष्टान्ते तद्दृष्टेश्च तत्सम्बन्धेऽप्ययोगतः ॥ १४-४४७॥'

अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख

ग्रन्थकारने इस रचनामें अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका भी उल्लेख किया है। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके वेदवाक्यार्थका खण्डन किया है। यथा—

नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा।
भट्ट-प्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम् ॥६-२८२॥

इसी तरह अन्य तीन जगहोंपर कुमारिलभट्टके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे 'वार्त्तिक' नामसे अथवा बिना उसके नामसे निम्न तीन कारिकाएँ उद्धृत हुई हैं और उनकी आलोचना की गई है—

(क) *स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।*
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥
[मी० श्लो० सू० २, का० ४७]

इति *वार्तिकसद्भावात्* ...... । ११-३९३॥

(ख) *शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः।*
तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥
[मी० श्लो० सू० २, का० ६२]

इति *वार्तिकतः शब्द*...... .... । ११-४११॥

(ग) *यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्।*
तदध्ययनवाच्यत्वादमने भवेदिति(दधुनाध्यनं यथा)॥
[मी० श्लो० अ० ७ का० ३५५]

इत्यस्मादनुमानात्स्याद्वेदस्यापौरुषेयता ।१०-३७९॥

इसी तरह प्रशस्तकर, दिग्नाग, धर्मकीर्ति जैसे विद्वानोंके पद-वाक्यादिकोंके भी उल्लेख इसमें पाये जाते है।

ग्रन्थकर्ता और उनका समय

ग्रन्थकर्ता और उनके समयपर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। ये ग्रन्थकार वादीभसिंहसूरि कौनसे वादीभसिंहसूरि है और कब हुए हैं—उनका क्या समय है? नीचे इन्हीं दोनों बातोंपर विचार किया जाता है।

(१) आदिपुराणके कर्ता जिनसेनस्वामीने, जिनका समय ई० ८३८ है, अपने आदिपुराणमें एक 'वादिसिंह' नामके आचार्यका स्मरण किया है और उन्हें उत्कृष्ट

कोटिका कवि, उत्कृष्टकोटिका वाग्मी तथा उत्कृष्ट कोटिका गमक बतलाया है। यथा—

कवित्वस्य परा सीमा वाग्मितस्य परं पदम् ।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥

(२) पार्श्वनाथचरितकार वादिराजसूरि (ई. १०२५) ने भी पार्श्वनाथचरितमें 'वादिसिंह'का समुल्लेख किया है और उन्हें स्याद्वादवाणीकी गर्जना करनेवाला (स्याद्वादविजेता) तथा दिग्नाग और धर्मकीर्तिके अभिमानको चूर-चूर करनेवाला प्रकट किया है। यथा—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते ।
दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभङ्गो न दुर्घटः[1] ॥

(३) श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्ति (ई० ११२८) में एक वादीभसिंहसूरि अपरनाम गणभृत् (आचार्य) अजितसेनका गुणानुवाद किया गया है और उन्हें स्याद्वादविद्याके पारगामियोंका आदरपूर्वक सतत वन्दनीय और लोगोंके भारी आन्तर तमको नाश करनेके लिये पृथिवीपर आया दूसरा सूर्य बतलाया गया है। इसके अलावा, उन्हें अपनी गर्जनाद्वारा वादि-गजोंको शीघ्र चुप करके निग्रहरूपी जीर्ण गड्ढेमें पटकनेवाला तथा राजमान्य भी कहा गया है। यथा—

वन्दे वन्दितमादरादहरहस्स्याद्वादविद्या - विदां ।
स्वान्त-ध्वान्त-वितान-धूनन-विधौ भास्वन्तमन्यं भुवि ।
भक्त्या त्वाऽजितसेनमानतिकृतां यत्संवियोगान्मनः-
पद्मं सद्य भवेद्विकास-विभवस्योन्मुक्त-निद्रा-भरं ॥५४॥

मिथ्या - भाषण - भूषणं परिहरेतौद्धत्यमुन्मुञ्चत,
स्याद्वादं वदतानमेत विनयाद्वादीभकण्ठीरवं ।
नो चेत्तद्गुरुगर्जित-श्रुति-भय-भ्रान्ता स्थ यूयं यत-
स्तूर्णं निग्रहजीर्णकूप-कुहरे वादि-द्विपाः पातिनः॥५५
सकल-भुवनपालानम्रमूर्द्धावबद्ध-
स्फुरित-मुकुट-चूडालीढ-पादारविन्दः ।
मदवदखिल - वादीभेन्द्र - कुम्भप्रभेदी,
गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंह ॥५७॥

—शिलालेख नं० ५४ (६७)

(४) अष्टसहस्रीके टिप्पणकार लघुसमन्तभद्रने भी अपने टिप्पणके प्रारम्भमें एक वादीभसिंहका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'तदेवं महाभागैस्तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलंचिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यमाणिक्यमकरिकाघटमदेकटकाराः सूरयो विद्यानन्दस्वामिनस्तदादौ प्रतिज्ञाश्लोकमेकमाह—।'

—अष्टसहस्री टि० पृष्ठ १ ।

यहाँ लघुसमन्तभद्रने वादीभसिंहको समन्तभद्राचार्य रचित आप्तमीमांसाका उपलालन (परिपोषण) कर्ता बतलाया है। यदि लघुसमन्तभद्रका यह उल्लेख अभ्रान्त है तो कहना होगा कि वादीभसिंहने आप्तमीमांसापर कोई महत्वकी टीका लिखी है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाका उन्होंने परिपोषण किया है। श्री०पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने भी इसकी सम्भावनाकी है[1] और उसमें आचार्य विद्यानन्दके *'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते'* शब्दोंके साथ उद्धृत किये *'जयति जगति'* आदि पद्यको प्रस्तुत किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि विद्यानन्दके पूर्व आप्तमीमांसापर लघुसमन्तभद्रद्वारा उल्लिखित वादीभसिंहने ही टीका रची हो और जिससे ही लघुसमन्तभद्रने उन्हें आप्तमीमांसाका उपलालनकर्ता कहा है और विद्यानन्दने 'केचित्' शब्दोंके साथ उन्हींकी टीकाके उक्त 'जयति' आदि समाप्तिमङ्गलको अष्टसहस्रीके अन्तमें अपने तथा अकलङ्कदेवके समाप्तिमङ्गलके पहले उद्धृत किया है।

१ इस श्लोकपरसे प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीको कुछ भ्रम हुआ है। अतएव उन्होंने वादिसिंहको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका समकालीन समझते हुए लिखा है कि 'वादिराजने इस श्लोकमे बौद्धाचार्य दिङ्नाग और कीर्ति (धर्मकीर्ति) का ग्रहण करके वादिसिंहको उनका समकालीन बतलाया है।' (न्याय कु. प्र. प्र. पृ. ११२)। पर वास्तवमें वादिराजने वादिसिंहको उक्त बौद्धविद्वानोंका समकालीन नहीं बतलाया। उनके उक्त उल्लेखका इतना ही अभिप्राय है कि दिग्नाग और धर्मकीर्तिकी अपनी कृतियोंपर जो अभिमान रहा होगा वह वादिसिंहकी गर्जना—स्याद्वादविद्यासे भरपूर अपनी (स्याद्वादसिद्धि जैसी) कृतियोंसे नष्ट कर दिया गया।

१ न्यायकु० प्र० भा० प्र० पृ० १११ ।

(५) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्य-ग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंहसूरि विद्वत्समाजमें अति-विख्यात और सुप्रसिद्ध हैं।

(६) पं० के० भुजबलीजी शास्त्री[1] ई० १०९० और ई० ११४७ के नं० ३ तथा नं० ३७ के दो शिला-लेखोंके[2] आधारपर एक वादीभसिंह (अपर नाम अजितसेन) का उल्लेख करते हैं।

(७) श्रुतसागरसूरिने भी सोमदेवकृत यशस्तिलक (आश्वास २, १२६) की अपनी टीकामें एक वादीभ-सिंहका निम्न प्रकार उल्लेख किया है और उन्हें सोम-देवका शिष्य कहा है:—

'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः
श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः। इत्युक्तत्वाच्च।'

वादिसिंह और वादीभसिंहके ये सात उल्लेख हैं जो अबतककी खोजके परिणामस्वरूप विद्वानोंको जैनसाहित्यमें मिले हैं। अब देखना यह है कि ये सातों उल्लेख भिन्न भिन्न हैं अथवा एक?

अन्तिम उल्लेखको प्रेमीजी[3], पं० कैलाशचन्द्रजी[4] आदि विद्वान अभ्रान्त और विश्वसनीय नहीं मानते। इसमें उनका हेतु है कि न तो वादीभसिंहने ही अपने-को सोमदेवका कहीं शिष्य प्रकट किया और न वादि-राजने ही अपनेको उनका शिष्य बतलाया है। प्रत्युत वादीभसिंहने तो पुष्पसेन मुनिको और वादिराजने मतिसागरको अपना गुरु बतलाया है। दूसरे सोम-देवने उक्त वचन किस ग्रन्थ और किस प्रसङ्गमें कहा, यह सोमदेवके उपलब्ध ग्रन्थोंपरसे ज्ञात नहीं होता। अतः जबतक अन्य प्रमाणोंसे उसका समर्थन नहीं होता तबतक उसे प्रमाणकोटिमें नहीं रखा जा सकता।

अवशिष्ट छह उल्लेखोंमें, मेरा विचार है कि तीसरा और छठा ये दो उल्लेख अभिन्न हैं तथा उन्हें एक दूसरे वादीभसिंहके होना चाहिए, जिनका दूसरा नाम मल्लिषेणप्रशस्ति और निर्दिष्ट शिलालेखोंमें अजितसेन मुनि अथवा अजितसेन पंडितदेव भी पाया जाता है तथा जिनके उक्त प्रशस्तिमें शान्तिनाथ और पद्मनाभ अपरनाम श्रीकान्त और वादिकोलाहल नामके दो शिष्य भी बतलाये गये हैं। इन मल्लिषेणप्रशस्ति और शिलालेखोंका लेखनकाल ई० ११२८, ई० १०९० और ई० ११४७ है और इस लिये इन वादीभसिंहका समय लगभग ई० १०६५ से ई० ११५० तक हो सकता है। बाकीके चार उल्लेख—पहला, दूसरा, चौथा और पाँचवाँ—प्रथम वादीभसिंहके होना चाहिए, जिन्हें 'वादिसिंह' नामसे भी साहित्यमें उल्लेखित किया गया है। वादीभसिंह और वादिसिंह-के अर्थमें कोई भेद नहीं है—दोनोंका एक ही अर्थ है। चाहे वादीरूपी गजोंके लिये सिंह' यह कहो, चाहे 'वादियोंके लिये सिंह' यह कहो—एक ही बात है।

अब यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि क्षत्र-चूडामणि और गद्यचिन्तामणि इन प्रसिद्ध काव्यग्रंथो-के कर्ता वादीभसिंहसूरि ही स्याद्वादसिद्धिकार हैं और इन्हींने आप्तमीमांसापर विद्यानन्दसे पूर्व कोई टीका अथवा वृत्ति लिखी है जो लघुसमन्तभद्रके उल्लेख परसे जानी जाती है तथा इन्हीं वादीभसिंहका 'वादिसिंह' नामसे जिनसेन और वादिराजने बड़े सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। तथा *'स्याद्वादगिरा-माश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते'* वाक्यमें वादिराजने *'स्याद्वादगिर'* पदके द्वारा इन्हींकी प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धि जैसी स्याद्वादविद्यासे परिपूर्ण कृतियोंकी ओर इशारा किया है तो कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। इसके औचित्यको सिद्ध करनेके लिये नीचे कुछ प्रमाण भी उपस्थित किये जाते हैं।

(१) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके मङ्ग-लाचरणोंमें कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् भक्तोंके समीहित (जिनेश्वरपदप्राप्ति)को पुष्ट करें—देवें। यथा-

(क) श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद्भक्तानां वः समीहितम्।
यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे॥१॥
—क्षत्रचू० १-१।

---

१ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ६, कि० २, पृ० ७८।
२ देखो, ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा सङ्कलित तथा अनुवादित 'मद्रास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन स्मारक' नामक पुस्तक।
३ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४८०।
४ देखो, न्यायकुमुद प्र० भा० प्रस्ता० पृ० ११२।

दिया। यदि वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवके उत्तरकालीन होते तो वे, बहुत सम्भव था कि उनकी परम्पराको देते अथवा साथमें उन्हें भी देते। जैसा कि पं० आशाधरजी आदि विद्वानोंने किया है। इसके अलावा वादीभसिंहने गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंके सम्बन्धमें भी स्वामी समन्तभद्राचार्यकी रत्नकरण्डक-श्रावकाचार वर्णित परम्पराको ही अपनाया है। इन बातोंसे प्रतीत होता है कि वादीभसिंह, जिनसेन और सोमदेव, जिनका समय क्रमशः ईसाकी नवमी और दशमी शताब्दी है, पश्चाद्वर्ती नहीं हैं—पूर्ववर्ती हैं।

३. न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टने कुमारिलकी मीमांसाश्लोकवार्तिकगत *'वेदस्याध्ययनं सर्वं'* इस, वेदकी अपौरुषेयताको सिद्ध करनेके लिये उपस्थित की गई, अनुमान-कारिकाका न्यायमञ्जरीमें सम्भवतः सर्व प्रथम 'भारताध्यनं सर्वं' इस रूपसे खण्डन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र[1], अभयदेव[2], देवसूरि[3], प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य[4] प्रभृति तार्किकोंने किया है। न्यायमञ्जरीकारका वह खण्डन इस प्रकार है—

'भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात्',

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं ।
भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति ॥

—न्यायमं० पृ० २१४।

परन्तु वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिमें कुमारिलकी उक्त कारिकाके खण्डनके लिये अन्य विद्वानोंकी तरह न्यायमञ्जरीकारका अनुगमन नहीं किया। अपितु स्वरचित एक भिन्न कारिकाद्वारा उसका निरसन किया है जो निम्न प्रकार है:—

पिटकाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।
तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥

—स्या. १०-३८२।

इसके अतिरिक्त वादीभसिंहने कोई पाँच जगह और भी इसी स्याद्वादसिद्धिमें 'पिटक'का ही उल्लेख किया है; जो प्राचीन परम्पराका द्योतक है[1]—भारत-का एक भी जगह उल्लेख नहीं किया। इससे हम इस नतीजेपर पहुंचते हैं कि यदि वादीभसिंह न्याय-मञ्जरीकार जयन्तभट्टके उत्तरवर्ती होते तो वे उनका अन्य उत्तरकालीन विद्वानोंकी तरह जरूर अनुसरण करते—'भारताध्ययनं सर्वं' इत्यादिको अपनाते। और उस हालतमें *'पिटकाध्ययनं सर्वं'* इस नई कारिकाको जन्म न देते। इससे ज्ञात होता है कि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकारके उत्तरवर्ती विद्वान नहीं हैं। न्यायमञ्जरीकारका समय ई० ८४० माना जाता है[2]। अतः वादीभसिंह इससे पहलेके हैं।

४. आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षामें जगत्कर्तृत्व-का खण्डन करते हुए ईश्वरको शरीरी अथवा अशरीरी माननेमें दूषण दिये हैं और विस्तृत मीमांसा की है। उसका कुछ अंश टीका सहित नीचे दिया जाता है—

'महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः। तथा हि—

देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि ।
तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥१८॥
देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः ।
तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥१९॥

यथैव हि प्रकृतकार्यजननायापूर्वं शरीरमीश्वरो निष्पादयति तथैव तच्छरीरनिष्पादनायापूर्वं शरीरान्तरं निष्पादयेदिति कथमनवस्था विनिवार्येत ?

यथाऽनीशः स्वदेहस्य कर्ता देहान्तरान्मतः ।
पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था प्रसज्यते ॥२१॥
तथेशस्यापि पूर्वस्माद्देहाद्देहान्तरोद्भवात् ।
नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्याऽनीशत्वमीशितुः ॥२२॥
अनीशः कर्मदेहेनाऽनादिसन्तानवर्तिना ।
यथैव हि सकर्माणस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥२३॥

यही कथन वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिमें सिर्फ ढाई कारिकाओंमें किया है और जिसका पल्लवन एवं

१ देखो, न्यायकुमुद पृ. ७३१, प्रमेयक. पृ. ३६६।
२ देखो, सन्मति टी. पृ. ४१। ३ देखो, स्या. र. पृ. ६३४।
४ देखो, प्रमेयरत्न. पृ. १३७।

१ अष्टशती और अष्टसहस्री (पृ. २३७) में अकलङ्कदेव तथा उनके अनुगामी विद्यानन्दने भी इसी (पिटकत्रय) का उल्लेख किया है।
२ देखो, न्यायकु. द्वि भा. प्र. पृ १६।

विस्तार ही उपर्युक्त जान पड़ता है। वे ढाई कारिकाएँ ये हैं:—

देहारम्भोऽप्यदेहस्य वक्तृत्ववदयुक्तिमान् ।
देहान्तरेण देहस्य यद्यारम्भोऽनवस्थितिः ॥
अनादिस्तत्र बन्धश्च स्यक्तोपात्तशरीरता ।
अस्मदादिवदेवाऽस्य जातु नैवाऽशरीरता ॥
देहस्यानादिता न स्यादेतस्यां च प्रमात्ययात् ॥
—६-२७३, २७४½ ।

इन दोनों उद्धरणोंका सूक्ष्म समीक्षण करनेपर कोई भी सूक्ष्म-समीक्षक यह कहे बिना न रहेगा कि वादीभसिंहका कथन जहाँ मौलिक और संक्षिप्त है वहाँ विद्यानन्दका कथन विस्तारयुक्त है और जिसे वादीभसिंहके कथनका खुलासा कहना चाहिए। अतः विद्यानन्दका समय वादीभसिंहकी उत्तरावधि है। यदि ये दोनों विद्वान् समकालीन भी हों जैसा कि सम्भव है तो भी एक दूसरेका प्रभाव एक दूसरेपर पड़ सकता है और एक दूसरेके कथन एवं उल्लेखका आदर एक दूसरा कर सकता है। विद्यानन्दका समय हमने अन्यत्र ई० ७७५से ई० ८४० निर्द्धारित किया है। अतः इन प्रमाणोंसे वादीभसिंहसूरिका समय ईसाकी ८वीं और ९वीं शताब्दीका मध्यकाल (ई० ७७० से ई० ८६०) अनुमानित होता है।

बाधकोंका निराकरण

इस समयके स्वीकार करनेमें दो बाधक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं और वे ये हैं—

१. क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें जीवन्धर-स्वामीका चरित निबद्ध है जो गुणभद्राचार्यके उत्तर-पुराण[1] (शक सं० ७७०, ई० ८४८) गत जीवन्धर-चरितसे लिया गया है। इसका संकेत भी गद्यचिन्ता-मणिके निम्न पद्यमें मिलता है—

निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं,
मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुषङ्गात् ।
जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगा-
द्वाक्यं ममाऽप्युभयलोकहितप्रदायि ॥९॥

अतएव वादीभसिंह गुणभद्राचार्यसे पीछेके है।

२. सुप्रसिद्ध धारानरेश भोजकी झूठी मृत्युके शोकपर उनके समकालीन सभाकवि कालिदास, जिन्हे परिमल अथवा दूसरे कालिदास कहा जाता है, द्वारा कहा गया निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती ।
पण्डिता खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥

और इसी श्लोकके पूर्वार्धकी छाया सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई गद्यचिन्तामणि-की निम्न गद्यमें पाई जाती है—

'अद्य निराधारा धरा निरालम्बा सरस्वती ।'

अतः वादीभसिंह राजा भोज (वि० सं० १०७५से वि० ११११)के बादके विद्वान् है।

ये दो बाधक प्रमाण हैं जिनमें पहलेके उद्भावक पं० नाथूरामजी प्रेमी है और दूसरेके स्थापक श्रीकुप्पु-स्वामी शास्त्री तथा समर्थक प्रेमीजी हैं। इनका समाधान इस प्रकार है—

१. कवि परमेष्ठी अथवा परमेश्वरने जिनसेन और गुणभद्रके पहले 'वागर्थसंग्रह' नामका जगत्प्रसिद्ध पुराण रचा है[1] और जिसमें त्रेशठशलाका पुरुषों-का चरित वर्णित है तथा जिसे उत्तरवर्ती अनेकों पुराणकारोंने अपने पुराणोंका आधार बनाया है। खुद जिनसेन और गुणभद्रने भी अपने आदिपुराण तथा उत्तरपुराण उसीके आधारसे बनाये हैं—इनका मूलस्रोत कवि परमेष्ठी अथवा परमेश्वरका 'वागर्थ-संग्रह' पुराण है, यह प्रेमीजी स्वयं स्वीकार करते हैं[2]। तब वादीभसिंहने भी जीवन्धरचरित जो उक्त प्रमाण-में निबद्ध होगा, उसी (पुराण)से लिया है, यह कहनेमें कोई बाधा नहीं जान पड़ती। गद्यचिन्ता-

---

१ प्रेमीजीने जो इसे 'शक सं. ७०५ (वि सं. ८४०) की रचना' बतलाई है (देखो, जैनसा. और इति. पृ. ४८१) वह प्रेसादिकी गलती जान पड़ती है; क्योंकि उन्होंने उसे अन्यत्र शक सं. ७७०, ई. ८४८के लगभगकी रचना सिद्ध की है, देखो, वही पृ. ५१४।

१ देखो, डा. ए. एन. उपाध्येका 'कवि परमेश्वर या परमेष्ठी' शीर्षक लेख, जैन सि. भा. भाग १३, कि. २।
२ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ. ४२१।

मणिकारने यह कहीं नहीं लिखा कि उन्होंने गुणभद्रके उत्तरपुराणसे अपने ग्रन्थोंमें जीवन्धरचरित निबद्ध किया है। गद्यचिन्तामणिका जो पद्य प्रस्तुत किया गया है उसमें सिर्फ इतना ही कहा है कि 'इसमें जीवन्धरस्वामीके चरितके उद्भावक पुण्यपुराणका सम्बन्ध होने अथवा मोक्षगामी जीवन्धरके पुण्य-चरितका कथन होनेसे यह (मेरा गद्यचिन्तामणिरूप वाक्य-समूह) भी उभय लोकके लिये हितकारी है।' और वह पुण्यपुराण उपर्युक्त 'वागर्थसंग्रह' भी हो सकता है। वह गुणभद्रका उत्तरपुराण है, यह उससे सिद्ध नहीं होता। इसके सिवाय, गद्यचिन्तामणिकारने वस्तुतः उस जीवन्धरचरितको गद्यचिन्तामणिमें कहने की प्रतिज्ञा की है जिसे गणधरने कहा और अनेक सूरियों (आचार्यों) द्वारा—न कि केवल गुणभद्रद्वारा—जगतमें ग्रन्थरचनादिके रूपमें प्रख्यापित हुआ है। यथा—

इत्येवं गणनायकेन कथितं पुण्यास्रवं शृण्वता
तज्जीवन्धरवृत्तमत्र जगति प्रख्यापितं सूरिभिः ।
विद्यास्फूर्तिविधायि धर्मजननीवाणीगुणाभ्यर्थिनां
वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्मयसुधावर्षेण वाक्सिद्धये ॥१५॥

अतः वादीभसिंहको गुणभद्राचार्यका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेके लिये जो उक्त हेतु दिया जाता है वह युक्तियुक्त न होनेसे वादीभसिंहके उपरोक्त समयका बाधक नहीं है।

२. दूसरी बाधाको उपस्थित करते हुए उसके उपस्थापक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री और उनके समर्थक प्रेमीजी दोनों विद्वानोंको एक भ्रान्ति हुई है जिसका अनुसरण अन्य विद्वानों द्वारा आज भी होता जारहा है और इस लिये उसका परिमार्जन होजाना चाहिए। वह भ्रान्ति यह है कि गद्यचिन्तामणिकी उक्त जिस गद्यको सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई बतलाई है वह उनके शोकके प्रसङ्गमें नहीं कही गई। अपितु काष्ठाङ्गारके हाथीको जीवन्धरस्वामीने कहा मारा था, उससे क्रुद्ध हुए काष्ठाङ्गारके निकट जब जीवन्धरस्वामीको गन्धोत्कटने बाँधकर भेज दिया और काष्ठाङ्गारने उन्हें वधस्थानमें लेजाकर फाँसी देने-की सजाका हुकुम दे दिया तो सारे नगरमें सन्नाटा छा गया और समस्त नगरवासी सन्तापमें मग्न होगये तथा शोक करने लगे। इसी समयकी उक्त गद्य है और जो पाँचवे लम्बमें पाई जाती है जहाँ सत्यन्धर-का कोई सम्बन्ध नहीं है—उनका तो पहले लम्ब तक ही सम्बन्ध है। वह पूरी प्रकृतोपयोगी गद्य इस प्रकार है—

'अद्य निराश्रया श्रीः, निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम्, निःसारः संसारः, नीरसा रसिकता, निरास्पदा वीरता इति मिथः प्रवर्तयति प्रणयोद्गारिणी वाणीम् ।' —पृ० १३१।

इस गद्यके पद-वाक्योंके विन्यासको देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह गद्य मौलिक है और वादीभसिंहकी अपनी रचना है। हो सकता है कि उक्त परिमल कविने इसी गद्यके पदोंको अपने उक्त श्लोकमें समाविष्ट किया है। यदि उल्लिखित पद्यकी इसमें छाया होती तो 'अद्य' और 'निराधारा धरा' के बीचमें 'निराश्रया श्रीः' यह पद न आता। छायामें मूल ही तो आता है। यही कारण है कि इस पदको शास्त्रीजी और प्रेमीजी दोनों विद्वानोंने पूर्वोल्लिखित गद्यमें उद्धृत नहीं किया—उसे अलग करके और 'अद्य' को निरा-धारा धरा' के साथ जोड़कर उपस्थित किया है। अतः यह दूसरी बाधा भी निर्बल एवं अपने विषयकी असाधक है।

पुष्पसेन और ओडयदेव

वादीभसिंहके साथ पुष्पसेनमुनि और ओडयदेव-का सम्बन्ध बतलाया जाता है। पुष्पसेनको उनका गुरु और ओडयदेव उनका जन्म-नाम अथवा वास्तव-नाम कहा जाता है। इसमें निम्न पद्य प्रमाणरूपमें दिये जाते हैं—

पुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो,
दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात् ।
यच्छक्तितः प्रकृतमूढमतिर्जनोऽपि,
वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति ॥

* * *

श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः ।
स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः ॥

स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः ।
गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापरः ॥

इनमें पहला पद्य गद्यचिन्तामणिकी प्रारम्भिक पीठिकाका छठा पद्य है और जो स्वयं ग्रन्थकारका रचा हुआ है। इस पद्यमें कहा गया है कि 'वे प्रसिद्ध पुष्पसेन मुनीन्द्र दिव्य मनु—पूज्य गुरु—मेरे हृदयमें सदा आसन जमाये रहें—वर्तमान रहें जिनके प्रभावसे मुझ जैसा निपट मूर्ख साधारण आदमी भी 'वादीभसिंह-मुनिश्रेष्ठ' अथवा वादीभसिंहसूरि बन गया।' अतः यह तो सर्वथा असंदिग्ध है कि वादीभसिंहसूरिके गुरु पुष्पसेन मुनि थे—उन्होंने उन्हें मूर्खसे विद्वान् और साधारणजनसे मुनिश्रेष्ठ बनाया था और इस लिये वे वादीभसिंहके दीक्षा और विद्या दोनोंके गुरु थे[1]।

अन्तिम दोनों पद्य, जिनमें ओडयदेवका उल्लेख है, मुझे वादीभसिंहके स्वयंके रचे नहीं मालूम होते, क्योंकि प्रथम तो जिस प्रशस्तिके रूपमें वे पाये जाते हैं वह प्रशस्ति गद्यचिन्तामणिकी सभी प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है—सिर्फ तंजौरकी दो प्रतियोंमेंसे एक ही प्रतिमें वे मिलते हैं। इसी लिये मुद्रित गद्यचिन्तामणिके अन्तमें वे अलगसे दिये गये हैं और श्रीकुप्पूस्वामी शास्त्रीने फुटनोटमें उक्त प्रकारकी सूचना की है। दूसरे, प्रथम श्लोकका पहला पाद और दूसरे श्लोकका दूसरा पाद, पहले श्लोकका दूसरा पाद और दूसरे श्लोकका तीसरा पाद, तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका पहला पाद परस्पर अभिन्न हैं—पुनरुक्त हैं—उनसे कोई विशेषता जाहिर नहीं होती और इस लिये ये दोनों शिथिल पद्य वादीभसिंह जैसे उत्कृष्ट कविकी रचना ज्ञात नहीं होते। तीसरे वादीभसिंहसूरिकी प्रशस्ति देनेकी प्रकृति और परिणति भी प्रतीत नहीं होती। उनकी क्षत्रचूडामणिमें भी वह नहीं है और स्याद्वादसिद्धि अपूर्ण है, जिससे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः उपर्युक्त दोनों पद्य हमें अन्यद्वारा रचित प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं और इस लिये ओडयदेव वादीभसिंहका जन्म-नाम अथवा वास्तव नाम था, यह बिना निर्बाध प्रमाणोंके नहीं कहा जा सकता। हाँ, वादीभसिंहका जन्मनाम व असली नाम कोई रहा जरूर होगा। पर वह क्या होगा, इसके साधनका कोई दूसरा पुष्ट प्रमाण ढूँढना चाहिए।

[1] पं० के० भुजबलीजी शास्त्रीने जो यह लिखा है कि 'पुष्पसेन वादीभसिंहके विद्यागुरु नहीं थे, किन्तु दीक्षागुरु। अन्यथा इनकी कोई कृति मिलती और साहित्य-संसारमें इनकी भी ख्याति होती। मगर साहित्य-संसारमें ही नहीं यों भी वादीभसिंहकी जितनी ख्याति हुई है, उतनी इनके गुरु पुष्पसेनकी नहीं हुई अनुमित होती है।' (भा. भा. ६, किरण २, पृ. ८४)। वह ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि वैसी व्याप्ति नहीं है। रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्य, वर्द्धमान-मुनि-शिष्य अभिनव धर्मभूषण और मतिसागर-शिष्य वादिराजकी साहित्य-संसारमें कृतियाँ तथा ख्याति दोनों उपलब्ध हैं पर उनके इन गुरुओंकी न कोई साहित्य-संसारमें कृतियाँ उपलब्ध हैं और न ख्याति। वर्तमानमें भी ऐसा देखा जाता है जिसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

उपसंहार

संक्षेपतः 'स्याद्वादसिद्धि' जैनदर्शनकी एक प्रौढ और अपूर्व अभिनव रचना है। जिन कुछ कृतियोंसे जैनदर्शनका वाङ्मयाकाश देदीप्यमान है और मस्तक उन्नत है उन्हींमें यह कृति भी परिगणनीय है। यह अभीतक अप्रकाशित है और इसी लिये अनेक विद्वान् इससे अपरिचित हैं।

हम उस दिनकी प्रतीक्षामें हैं जब वादीभसिंहकी यह अमर कृति प्रकाशित होकर विद्वानोंमें अद्वितीय आदरको प्राप्त करेगी और जैनदर्शनकी गौरवमय प्रतिष्ठाको बढ़ावेगी। क्या कोई महान साहित्य-प्रेमी इसे प्रकाशित कर महत् श्रेयका भागी बनेगा और ग्रन्थ-ग्रन्थकारकी तरह अपनी उज्ज्वल कीर्तिको अमर बना जायगा?

पं० शिवचन्द्र देहलीवाले

देहलीमें पं. शिवचन्द्र नामके एक अच्छे साहित्य-प्रेमी विद्वान् होगये हैं जिन्होंने पञ्चायती मन्दिरके भण्डारमें ग्रन्थोंका बहुत अच्छा संग्रह किया है और स्वयं भी हिन्दी-साहित्यका कितना ही निर्माण किया है। इनका उल्लेख श्रद्धेय पंडित नाथूरामजी प्रेमीने अपनी 'हिन्दी जैनसाहित्यका इतिहास' नामक पुस्तकमें किया है। उक्त भण्डारकी सूचीका निरीक्षण करते हुए हमें उनके निम्न ग्रन्थोंका पता चला है। इनमें कौन अनुवादित और कौन स्वनिर्मित हैं, इसका निर्णय विज्ञ पाठक ही इन ग्रन्थोंका पूर्णतः अवलोकन-कर कर सकेंगे। यहाँ तो सिर्फ उनकी सूची दी जारही है। आशा है कोई विद्वान् इनपर पूरा प्रकाश डालेंगे।

(१) भक्तामरस्तोत्र — भाषा
(२) कल्याणमन्दिरस्तोत्र ,,
(३) एकीभावस्तोत्र ,, ५७ पत्र
(४) विषापहारस्तोत्र ,,
(५) भूपालचौबीसी ,,
(६) स्वयम्भूस्तोत्र ,, १० पत्र
(७) जिनसहस्रनाम ,, ३ पत्र
(८) तत्वार्थटीका १६ पत्र
(९) सर्वार्थसिद्धिटीका ९५ पत्र
(१०) नीतिवाक्यामृतटीका ९८ पत्र
(११) दशलक्षणधर्मटीका १७ पत्र
(१२) सोलहकारणधर्मटीका १९ पत्र
(१३) त्रिवर्णाचार-टीका २७४ पत्र
(१४) धर्मप्रश्नोत्तरश्रावकाचारटीका १३६ पत्र
(१५) देवशास्त्रगुरुपूजासार्थ (सं० १९६०) ६ पत्र
(१६) बीसमहाराज ,, ,, १० पत्र
(१७) सिद्धपूजा ,, ,, ४ पत्र
(१८) सोलहकारण ,, ,, ४ पत्र
(१९) दशलक्षणपूजा ४ पत्र
(२०) कलिकुण्डपूजा
(२१) पञ्चमेरुपूजा ५ पत्र
(२२) सप्तर्षिपूजा
(२३) इतिहासरत्नाकर २ भाग पूर्ण (सं.१९२०) ५५ पत्र
(२४) ,, तीसरा अपूर्ण ,,
(२५) ,, चौथा भाग ,, १०१ पत्र
(२६) लोकचर्चावचनिका ५६ पत्र
(२७) दायभागप्रकरण १९ पत्र
(२८) भक्तिपाठसप्तक स.टि. (सं. १९४८) ४६ पत्र
(२९) नीतिवाक्यामृतवचनिका
पटद्रव्यकथनादिधार्मिकचर्चा
(३०) ध्यानकी विधि १४ पत्र
(३१) जैनउद्योतपत्रिका (सं० १९२७)
(३२) अलौकिकगणित
(३३) शिक्षाचन्द्रिका
(३४) अन्यमतके ग्रन्थोंमे जैनधर्म सम्बन्धी श्लो. ४ पत्र
(३५) प्रश्नोत्तर ११ पत्र
(३६) पट्मतव्यवस्थावर्णन ७ पत्र
(३७) मतखण्डनविवाद ८ पत्र
(३८) गृहस्थचर्या
(३९) जैनमतप्रबोधिनी ७१ पत्र
(४०) गुणस्थानचर्चा ४ पत्र
(४१) विवाहपद्धति ९ पत्र
(४२) सत्यार्थप्रकाशकी समालोचना ३७ पत्र
(४३) पंचेन्द्रियविषयवर्णन ३ पत्र
(४४) आर्यसमाजियोंसे प्रश्न १३ पत्र
(४५) अनादि दिगम्बर ६ पत्र
(४६) जैनसभाव्याख्यान ८ पत्र
(४७) आरापैतीसी (निर्माण सं० १९२०) २५ पत्र
(४८) चैत्यवन्दना
(४९) शास्त्रपूजा सार्थ
(५०) गुरुपूजा सार्थ
(५१) यात्राप्रबन्ध (सं० १९२७) १४ पत्र
(५२) अष्टाह्निकापूजा

—पन्नालाल जैन अग्रवाल

धर्मका रहस्य

(लेखक—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री)

धर्मकी चर्चा करना जितना सरल है उसके रहस्य (सत्यरूप) को हृदयङ्गम करना उतना ही कठिन है। यों तो अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाणको सबने धर्म माना है। पर क्या इतने मात्रसे हम धर्मका निर्णय कर सकते हैं? यह एक सामान्य प्रश्न है जो प्रत्येक विचारशीलके हृदयमें उठा करता है। और जबकि इन सब बातोंके रहते हुए भी इनके माननेवाले परस्परमें घात-प्रत्याघात करते हैं, बात-बातमें झूठ बोलते हैं, नफा-नुकसानको न्यूनाधिक बताकर चोरी करते हैं, अब्रह्मके सहायक साधनोंके जुटानेमें लगे रहते हैं और जितना अधिक परिग्रह जुड़ता जाता है उतना ही अपना बड़प्पन समझते हैं तब उसका हृदय सन्तापसे जलने लगता है और वह क्रमशः धर्मकी निःसारताको जीवनमें अनुभव करने लगता है। वह यह मानने लगता है कि ईश्वरवादके समान यह भी एक वाद है जो व्यक्ति-की स्वतन्त्रताका शत्रु है और सब अनर्थोंकी जड़ है। परन्तु विचार करनेपर ज्ञात होता है कि यह सब धर्मका दोष नहीं है। किन्तु जिस अधर्मका त्याग करनेके लिये धर्मकी उत्पत्ति हुई है यह उसीका दोष है। इस लिये मानवमात्रका कर्तव्य है कि वह धर्मका अनुसन्धान कर उसके सत्यरूपको समझनेका प्रयत्न करे।

धर्म शब्द 'धृ' धातुमें 'मप' प्रत्यय जोड़नेसे बनता है जिसका अर्थ धारण करनेवाला होता है। इसके अनुसार धर्म जीवनकी वह परिणति है जिसके धारण करनेसे प्रत्येक प्राणी अपनी उन्नति करनेमें सफल होता है।

धर्म सब पदार्थोंमें व्याप रहा है। वह व्यापक सत्य है। जिसका जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। जीवका स्वभाव ज्ञान, दर्शन है। वह रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित है। राग, द्वेष, ईर्षा, मद, मात्सर्य, अज्ञान, अदर्शन आदि दोष भी उसमें नहीं है। घर, स्त्री, सन्तान, कुटुम्ब, धन, दौलत, शरीर, वचन, मन, इन्द्रियाँ, स्वदेश, विदेश, स्वराज्य, परराज्य आदि तो उसके हो ही कैसे सकते हैं। वह इनमें ममकार तथा अहङ्कार भी नहीं करता है। वह वर्णभेद तथा जातिभेदसे भी पर है। छूत, अछूतका भी भेद उसमें नहीं है। वह न किसीका आदर ही करता है और न अनादर ही। स्वयं भी वह किसीसे पूजा-सत्कार नहीं चाहता। इच्छा और वासना तो उसे छू तक नहीं गई है। उसे न भूख लगती है और न प्यास ही। जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि, आदि भी उसके नहीं होते। वह न तो शस्त्रसे काटा ही जा सकता है और न अग्निसे जलाया ही जा सकता है। वह किसी अन्य वस्तुका कर्ता भोक्ता भी नहीं है। यदि कर्ता भोक्ता है भी तो प्रति समय होनेवाले अपने परिणामोंका ही कर्ता भोक्ता है। विश्व अनादि और अविनश्वर है। उसका बनानेवाला भी वह नहीं है। ऐसा सर्व शक्तिमान् ईश्वर भी नहीं है जिसने इसे बनाया हो। यह हमारा बुद्धि-दोष है जिससे हम सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी कल्पना कर उसे विश्वका कर्ता मानते हैं। यद्यपि जीव ऐसा है किंतु अनादि कालसे मोह और अज्ञानवश वह अपने इस स्वभावसे च्युत हो रहा है। जैसे भोजनमें नमक मिला देनेपर उसका रस बदल जाता है या जैसे वर्षाका शुद्ध जल पात्रोंके भेदसे अनेक रसवाला हो जाता है वैसे ही जीवके साथ कर्मका बन्धन होनेसे उसमें अनेक विकारी भाव पैदा होगये हैं। जिसके धारण करनेसे जीवके ये विकारी भाव दूर होते हैं उसीका नाम धर्म है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

धर्मका विचार मुख्यतः दो दृष्टियोंसे किया जाता है। पहली आध्यात्मिक दृष्टि है और दूसरी व्याव-

हारिक। जिसमें आत्माकी विविध अवस्थाओंका कर्ता स्वयं आत्माको बतलाकर अपनी शुद्ध अवस्थाकी प्राप्तिके लिये आत्म-पुरुषार्थको जागृत किया जाता है वह अध्यात्म-दृष्टि है और जिसमें अशुद्धताका कारण निमित्तको बतलाकर उसके त्यागका उपदेश दिया जाता है वह व्यावहारिक दृष्टि है। इस हिसाबसे धर्म दो भागोंमें बँट जाता है—अध्यात्म धर्म और व्यवहार धर्म। अध्यात्म धर्मका दूसरा नाम निश्चय धर्म है और व्यवहार धर्मका दूसरा नाम उपचार धर्म है।

पुराणोंमें एक कथा आई है। उसमें बतलाया है कि श्रमण भगवान महावीरके समयमें वारिषेण और पुष्पडाल नामक दो मित्र थे। वारिषेण राजपुत्र था और पुष्पडाल वैश्यपुत्र। एक समय वारिषेण श्रमण भगवान महावीरका उपदेश सुनकर साधु हो गया। जब यह बात पुष्पडालको ज्ञात हुई तो मित्रस्नेहवश वह भी दीक्षित होगया। पुष्पडाल साधुधर्ममे तो दीक्षित होगया किन्तु वह अपनी एकमात्र कानी स्त्रीको न भुला सका।

जब वारिषेणने इस बातको जाना तो वह विचारमें पड़ गया और गृहस्थ अवस्थाकी अपनी बत्तीस स्त्रियोंको दिखाकर उसका मोह दूर किया।

यद्यपि इस कथानकमे पुष्पडालके सच्चे साधु न बन सकनेका कारण व्यवहारसे उसकी एकमात्र कानी स्त्रीको बतलाया गया है किन्तु आध्यात्मिक पहलू इससे भिन्न है। इस दृष्टिसे तो साधु बननेमें बाधक ममताको ही माना जा सकता है। स्त्रियाँ दोनोंके थीं फिर भी एक साधु बन जाता है और दूसरा नहीं बन पाता है, इसका मुख्य कारण उनकी आन्तरिक परिणति ही है। बाह्य निमित्त तो उपचारसे ही किसी कार्यके होने या न होनेमें साधक-बाधक माने जाते हैं। निश्चयसे जिस वस्तुकी जिस कालमे जैसी योग्यता होती है तदनुकूल कार्य होता है। निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म इसी अन्तरको बतलाते हैं। इसीसे निश्चय दृष्टि उपादेय मानी गई है और व्यवहार दृष्टि हेय।

इस प्रकार यद्यपि दृष्टि-भेदसे धर्म दो बतलाये गये हैं किन्तु धर्म दो नहीं हैं। यह तो एक ही वस्तुको दो पहलुओंसे समझनेका तरीका है। प्रकृतमें धर्म है जीवका स्वभाव और अधर्म है जीवमें विकारी भाव। जहाँ अधर्मका त्याग कर धर्मको धारण करना चाहिये, ऐसा उपदेश दिया जाता है वहाँ इसका यह अर्थ लिया जाता है कि काम, क्रोध, ईर्ष्या, मद, मात्सर्य आदि विकारी भावोंका त्याग कर क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि भावोंको धारण करना चाहिये।

अधिकतर लोकमें बाह्य क्रियाकाण्डपर अधिक जोर दिया है और उसे ही धर्म माना जाता है। आन्तरिक परिणतिके सुधारपर कदाचित भी ध्यान नहीं दिया जाता है। यह स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें इसका एकाधिकार है। जो अपनेको साधु, त्यागी या व्रती मानते है उनमें भी इस अवस्थाका बोलबाला है। हमने अपनेको साधु, त्यागी या व्रती माननेवाले ऐसे कई मनुष्य देखे हैं जो स्वभावसे क्रोधी है, मायावी है, दम्भी हैं या झूठ बोलते है और भोजनके समय आकाश-पातालको एक कर देते है। उनका दावा है कि पिण्ड-शुद्धि (शरीर-शुद्धि) के बिना आत्म-शुद्धि हो ही नहीं सकती। इसके लिये वे गायको नहला कर उसका दूध दुहाते हैं। चौकेमें धुले हुए कपड़े पहने ऐसे आदमीको, जिसे दूसरेने स्पर्श कर लिया हो घुसने नहीं देते। हर किसीको पानी नहीं भरने देते। सिजाए हुए भोजनको चौकेसे बाहर नहीं लाने देते। छूताछूतको मानकर जिन्हे वे छूत समझते है उन सबके हाथका भोजन नही लेते। गृहत्यागी होकर भी पैसे रखते हैं और इस बातको अच्छा समझते हैं कि हम किसीका न खाकर अपना ही खाते हैं। स्वयं अपने हाथसे दाल, चावल आदि सोधते हैं। दिनका बहुभाग इसीमें निकाल देते है। धर्मको स्वीकार करने-करानेमें भेद करते हैं। यह अवस्था केवल इन्हींकी नहीं हैं ऐसे कई गृहस्थ है जो इनका अन्धानुसरण करते है।

किन्तु जैनधर्म ऐसे क्रियाकाण्डको स्वीकार नहीं करता। भोजन शुद्धि एक बात है और भोजन शुद्धिके नामपर घृणा और अहङ्कारका प्रचार करना दूसरी

बात है। मनुष्य मनुष्यमें पर्यायगत ऐसी कोई अयोग्यता नहीं है जिससे एक बड़ा और दूसरा छोटा समझा जाय। आजीविकाके अनुसार कल्पित किये गये वर्णोंके आधारसे माने गये उच्च-नीच भेदको जीवनमें कोई स्थान नहीं। कदाचित् जीवन-शुद्धिके आधारभूत आचारके अनुसार स्थूल वर्गीकरण किया भी जा सकता है पर यह वर्गीकरण उन दोषोंसे रहित है जिनको जन्म देकर ब्राह्मणधर्म सर्वत्र उपहासका पात्र बना है। धर्मका जन्म आत्मशुद्धिके लिये हुआ था और इसका उपयोग इसी अर्थमें होना चाहिये। जो आत्मार्थी इस दृष्टिसे जीवन यापन करता है वह न तो स्वयं गलत रास्तेपर जाता है और न कभी दूसरोंको गलत रास्तेपर जानेके लिये उत्साहित ही करता है। यह एक विचित्र-सी बात है कि मनुष्य होनेपर एक धर्मका अधिकारी माना जाय और दूसरा न माना जाय। वह जन्मसे इस अधिकारसे वञ्चित कर दिया जाय। भला एक आत्मशुद्धि कर सके और दूसरा न कर सके यह कैसे सम्भव है। पर्यायगत अयोग्यता तो समझमें आती भी है पर पर्यायगत अयोग्यताके न रहते हुए ऐसी सीमा बाँधना उचित नहीं है। तीर्थङ्करोंने इस रहस्यको अच्छी तरहसे जान लिया था इसलिये उन्होंने आत्म-शुद्धिका दरवाजा सबके लिये समानरूपसे खोल दिया था। उनकी सभामें सब मनुष्योंको समानरूपसे आत्मधर्म-का उपदेश दिया जाता था और वे उसे विना रुकावट-के धारण भी कर सकते थे। जो श्रमण होना चाहता था वह श्रमण हो जाता था और जो गृहस्थ अवस्था में रहकर ही जीवन-शुद्धिका अभ्यास करना चाहता था उसे वैसा करने दिया जाता था। किन्तु जो इन अवस्थाओंको धारण करनेमें अपनेको असमर्थ पाता था उसे बाधित नहीं किया जाता था। वह अपने परि-णामोंके अनुसार जीवन यापन करनेके लिये स्वतन्त्र था।

धर्ममें अधिकार और सत्ता नामकी कोई वस्तु नहीं है। वह तो व्यक्तिके जीवनमेंसे आकर जीवनके निर्माणद्वारा इनका ध्वंस करता है। वह बाह्य वस्तुओंपर रंचमात्र—अवलम्बित नहीं है। मन्दिर, मूर्ति और धर्मपुस्तक आदि यद्यपि धर्मके साधन माने जाते हैं किन्तु इनसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। जो आत्मशुद्धिके सन्मुख होता है उसके लिये आत्मशुद्धिमें ये निमित्त हो जाते हैं इतना अवश्य है। धर्ममें प्रधानता आत्मशुद्धिकी है। आत्मशुद्धिको लक्ष्यमें रखकर जो भी क्रिया की जाती है वह सब धर्म है और आत्मशुद्धिके अभावमें राग, द्वेष या अहङ्कारवश की गई वही क्रिया अधर्म है। यह धर्म और अधर्मका विवेक है।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्टतः अनुभव-में आता है कि धर्मका अर्थ मत-मतान्तर नहीं। धर्म-का अर्थ धर्मशास्त्रके नामसे प्रचलित पुस्तकोंका पढ़ जाना या कण्ठस्थ कर लेना भी नहीं। धर्मका अर्थ मन्दिरमें जाकर वहाँ बतलाई गई विधिके अनुसार प्रभुकी उपासना करना भी नहीं। धर्मका अर्थ अपने अपने मतके अनुसार तिथि-त्यौहारोंका मानना या विविध प्रकारके क्रियाकाण्डोंका करना भी नहीं। धर्म-का अर्थ जनेऊ, दाढ़ी या चोटीका धारण करना भी नहीं। धर्मका अर्थ नदीमें स्नान करना, सूतक-पातकका मानना, अष्टमी और चतुर्दशीके दिन उपवास करना या अनध्याय रखना, एकान्तमें निवास करना, काय-क्लेश करना आदि भी नहीं। ये सब क्रियाएँ धर्म समझकर की तो जाती है पर आत्मशुद्धिके अभावमें ये धर्म नहीं हैं इतना उक्त कथनका सार है।

जैनधर्मने ऐसे पाखण्डका सदा ही निषेध किया है जिसका आत्म-शुद्धिमें रंचमात्र भी उपयोग नहीं होता या जिसे लौकिक लाभकी दृष्टिसे स्वीकार किया जाता है।

'जिन' शब्दका अर्थ ही 'जीतनेवाला' है। जिसने विषय और कषायपर विजय पाई है वह भला थोथे पाखण्डको प्रश्रय कैसे दे सकता है? यद्यपि जैनधर्मने बाह्य क्रियाकाण्डका निर्देश किया है अवश्य और उसका आत्मार्थी धर्म समझकर पालन भी करते हैं, पर उसने बाह्य क्रियाकाण्डको धर्मरूपसे स्वीकार करनेका कभी भी दावा नहीं किया है। वह मानता है

स्मृतिकी रेखाएँ—

(लेखक—श्रीअयोध्याप्रसाद गोयलीय)

मनुष्यके निजी व्यक्तित्त्वसे उसके देश, धर्म, वंश आदिका परिचय मिलता है। अमुक देश, धर्म, समाज और वंश कितना सभ्य, सुसंस्कृत, विनयशील, सेवाभावी और सच्चरित्र है, यह उस देशके मनुष्योंके व्यक्तित्त्वसे लोग अनुमान लगाते हैं। कहाँ कैसे-कैसे महापुरुष हुए हैं, किस धर्मके कितने उच्च सिद्धान्त हैं, इस पुरातत्त्वका ज्ञान सर्व-साधारणको नहीं होता। वह तो व्यक्तिके वर्तमान व्यक्तित्त्वसे खरे-खोटेका अनुमान लगाते हैं।

दक्षिण अफ्रीकामें शुरू-शुरूमें भारतसे बहुत ही निम्न कोटिके मनुष्योंको लेजाया गया और उनसे कुलीगीरीका काम लिया गया। उनकी घटिया मनोवृत्ति और महनत-मजदूरीके कार्योंसे भारतके सम्बन्धमें वहाँ वालोंकी बहुत ही भ्रामक धारणाएँ बन गईं। और वहाँ कुली शब्द ही भारतीयताका द्योतक होगया। हर भारतीयको अफ्रीकामें कुली सम्बोधित किया जाने लगा। यहाँ तक कि महात्मा गान्धी भी वहाँ इस अभिशापसे नहीं बच पाये।

कलकत्तेमें अक्सर मोटर-ड्राइवर सिक्ख हैं। एकबार वहाँ गुरु नानकके जुलूसको देखकर किसी अंग्रेजने बंगालीसे पूछा तो जवाब मिला—"यह ड्राइवरोंके मास्टरका जुलूस है। सुना है यह मोटर चलानेमें बहुत होशियार था।" जवाब देनेवालेका क्या कुसूर? वह सिक्ख मोटर-ड्राइवरोंकी बहुतायत और मौजूदा व्यवहारके परे कैसे जाने कि सिक्खोंमें बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी, शूरवीर, राजे-महाराजे हुए हैं और हैं।

यूरुपकी किसी लायब्रेरीमें एक भारतीय पहले-पहल गया और वहाँ किसी पुस्तकसे चित्र निकाल लाया। दूसरे दिन ही बोर्ड लगा दिया (भारतीयोंका प्रवेश निषिद्ध है)। सन १९१७में अपने रिश्तेदार महावीरजी होते हुए भरतपुर भी उतरे। मैं भी उनके साथ था। महाराज भरतपुरके रंगमहल मोतीमहल आदि देखने गये तो एक स्थानमें औरतोंको नहीं जाने दिया गया। पूछनेपर मालूम हुआ कि कोई औरत कुछ सामान चुराकर लेगई थी, तबसे औरतोंका प्रवेश वर्जित कर दिया गया है।

विदेशोंमे भारतियोंके लिये उनकी परतन्त्रता तो अभिशाप थी ही, कुछ कुपूतोंने भारतीयताके उच्च धरातलका परिचय न देकर जघन्य ही परिचय दिया।

कि जो आत्मधर्मसे विमुख है वह तो मिथ्यादृष्टि है ही किन्तु जो आत्मधर्म समझकर इस क्रियाकाण्डका पालन करता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। जैनधर्मने भावोंकी शुद्धिपर जितना अधिक जोर दिया है उतना क्रियाकाण्डपर नहीं। यह इसीसे स्पष्ट है कि परिपूर्ण धर्मकी प्राप्ति वह सब प्रकारकी क्रियाके अभावमें ही स्वीकार करता है।

यह धर्मका रहस्य है जो आत्मार्थी इस रहस्यको जानकर जीवनमें उसे उतारता है वास्तवमें उसीका जीवन सफल है। क्या वह दिन पुनः प्राप्त होगा जब हम आप सभी धर्मके इस रहस्यको हृदयङ्गम करनेमे सफल होंगे? जीवनका मुख्य आधार आशा है। हम आशा करते हैं कि हम आप सभीको वे दिन पुनः प्राप्त होंगे।

इससे समस्त यूरुपमें भारतके प्रति बड़ी भ्रामक धारणाएँ बन गईं।

अधिकांश यहाँके राजे-महाराजे वहाँ रङ्ग-रेलियाँ करने गये तो, आमलोगोंको विश्वास होगया कि भारतीय ऐय्याश और पैसेवाले होते हैं। और इसी विश्वासके नाते यूरुपियन महिलाएँ इण्डियन्सके पीछे मक्खियोंकी तरह भिनभिनाने लगीं।

अमेरिका-कनाडामें गरीब तबकेके सिक्ख महनत-मजदूरी करने पहुंचने लगे तो वहाँ समझा गया कि इण्डियन बहुत निर्धन होते हैं, अतः नियम बना दिया गया कि निर्द्धारित निधि दिखाये बिना कोई भी भारतीय अमरीकन-सीमामें प्रवेश नहीं कर सकेगा।

भारतमें जब इंग्रेजोंका प्रभुत्व जमने लगा तो उन्होंने नीति निश्चित कर ली कि भारतमें उच्च श्रेणी के इंग्रेज ही जाने पाएँ। ताकि शासित जातिपर शासकवर्गका अधिकाधिक प्रभाव जम सके। उक्त नीतिके अनुसार भारतमें जबतक इंग्रेज उच्चकोटि-के आते रहे उनके सम्बन्धमें भारतीयोंकी धारणा उच्चसे उच्चतर बनती गई। लोगोंका विश्वास दृढ़ होगया कि हिन्दुस्तानी न्यायाधीश, हाकिम व्यापारी और मित्रसे कहीं अधिक श्रेष्ठ इंग्रेज न्यायाधीश, हाकिम व्यापारी और मित्र होते हैं। ये बातके धनी, वक्तके पाबन्द, उदार हृदय और ईमानदार होते हैं।

परिणाम इस धारणाका यह हुआ कि इंग्रेज जज, हाकिम, डाक्टर वकील इञ्जीनियर व्यापारी आदि हिन्दुस्तानियोंकी नजरोंमें हिन्दुस्तानियोंसे अधिक निष्पक्ष, योग्य और चतुर बन गये। यहाँ तक कि विलायती वस्तुके सामने हम स्वदेशी वस्तुको हेच समझने लगे। हमारा अभीतक विश्वास भी है कि विलायती वस्तु खालिस और उत्तम होती है। स्वदेशी नकली, मिलावटी और घटिया होती है, लिखा कुछ होगा और माल कुछ और होगा। ऊपर कुछ और अन्दर कुछ और होगा। हिन्दुस्तानीके व्यापार-व्यवहारमें स्वयं हिन्दुस्तानीको नैतिकताकी आशङ्का बनी रहती है। इंग्रेजोंकी उदारता-नैतिकता-की यहाँ तक छाप पड़ी कि बड़ेसे बड़े भारतीय पूञ्जीपतिके सामानको छोड़कर कुली इंग्रेजका सामान उठायेगा, ताँगेवाले टैक्सीवाले भी पहले इंग्रेजको ही तरजीह देंगे। यहाँतक कि मँगते भी पहले उन्हींके आगे हाथ पसारेंगे।

इंग्रेजोंके उच्च व्यक्तित्वका जहाँ प्रभाव पड़ा, वहाँ उनके अवगुणोंसे भी लोग शङ्कित हुए। टामी लोगोंमें सच्चरित्र और विश्वस्त भी रहे होंगे; परन्तु इनका किसी ने विश्वास नहीं किया। ये हमेशा यूरुपके कलङ्क समझे गये। यूरुपियन महिलाओंकी स्वच्छन्दतासे भारतीय इतना घबराते थे कि कोई भी भला आदमी उनके सम्पर्कमें आनेका साहस नहीं करता था। लोगोंका विश्वास था:—

'काजरकी कोठरीमें कैसो हू सयानो जाय,
काजरकी एक रेख लागे पर लागे है।'

एक बार एक उद्योगपतिने मुझसे कहा था कि यदि मेरे बराबरके डिब्बेमें भी कोई यूरुपियन महिला सफ़र कर रही हो तो मैं तत्काल उस डिब्बेको छोड़ देता हूं। यह लोग कब क्या प्रपञ्च रच दें अनुमान नहीं लगाया जा सकता। एक ही आदमीके अच्छे-बुरे व्यक्तित्वसे लोग अच्छे-बुरे अनुमान लगाते रहते हैं।

२-४ आदमियोंकी तनिक-सी भूल उनके देश, धर्म, समाजवंशके मार्गमें पहाड़ बनकर खड़ी होजाती है। १०-५ ब्राह्मणोंने लोगोंको विष दे दिया तो लोग कह बैठते हैं ब्राह्मणोंका क्या विश्वास ? नाथूराम विनायक गोडसेके कारण—विदेशोंमें हिन्दुओंको और भारतमें ब्राह्मणों महाराष्ट्रों, विनायकों और गोडसोंको कितना कलङ्कित होना पड़ा है ?

ईसाइयोंने अपने सेवाभावी व्यक्तित्वकी ऐसी छाप मारी है कि उनके सायेसे भी घृणा करनेवाले बड़े-बड़े तिलकधारी अपनी बहू-बेटियोंको बच्चा प्रसव-के लिये मिशनरी हॉस्पिटल्समें निःशङ्क अकेली छोड़ आते हैं। सबका अटूट विश्वास है कि उतनी सेवा-परिचर्या घरवालोंसे हो ही नहीं सकती।

मुसलमानोंमें अनेक सदाचारी, तपस्वी, और मुन्सिफ हुए हैं। परन्तु यहाँ जो उन्होंने अपने

व्यक्तित्वका असर डाला है. उसको देखते हुए कोई हिन्दू स्त्री अकेली उनके मुहल्लेमें निकलनेका साहस नहीं कर सकती। जनता तो व्यक्तियोंके वर्तमान व्यक्तित्वसे अपनी धारणा बनाती हैं। उनके पूर्वज बादशाह थे या पैगम्बर. इससे उसे क्या सरोकार?

अलीगढ़के ताले और लुधियानेकी नकली सिल्क एजेण्टोंके धोखोंसे तङ्ग आकर, अलीगढ़ी और लुधियानवी लोगोंपरसे ही जनताका विश्वास उठ गया। कई धर्मशालाओंमें उनके ठहरनेपर भी आपत्ति होती देखी गई है।

कुछ मारवाड़ी फूहड़ और लीचड़ होते हैं। फर्स्ट क्लासमें सफर करें तो बाथरूमके बेसिनको मिट्टीसे भरदें. डिब्बेमें पानीकी बाल्टी छलका-छलका कर सिलबिल-सिलबिल कर दें। मारवाड़ी औरतें घूंघट मार रहेंगी. पर प्लेटफार्मपर बारीक धोती पहिन कर नहाएँगी और धोती जम्पर बदलते हुए नङ्गी भी जरूर होंगी। कलकत्तेसे बीकानेर जाते-जाते बाबुओं और कुलियोंको घूंसके पचासों रुपये देते जाएँगे परन्तु दो रुपये देकर लगेज रसीद नहीं लेंगे। इन १००-५० फूहड़ोंके कारण अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित नैतिक मारवाड़ियोंको भी कुली और बाबूसे तङ्ग होना पड़ता है। चुङ्गीका जमादार गैर कानूनी वस्तुओंके आयात-निर्यात करनेवाले बदमाशोंको तो नजरन्दाज कर देगा परन्तु सुसभ्य सुसंस्कृत मारवाड़ीका ट्रङ्क बिस्तर जरूर खुलवायेगा। क्योंकि उसकी धारणा बन गई है कि मारवाड़ीको तङ्ग करनेपर पैसा जरूर मिलता है।

एक सम्प्रदाय और प्रान्त विशेषके नौकरीके इच्छुकोंको कलकत्ते-बम्बईमें यह कहकर टाल दिया जाता है—"नौकरी तो है परन्तु छोकरी नहीं"। अर्थात जहाँ छोकरी नहीं. वहाँ तुम नौकरी करोगे नहीं और जहाँ छोकरी होगी तुम लेकर जरूर भागोगे।

भारतमें कई जातियाँ ऐसी हैं कि लोग राह चलते रात होनेपर जङ्गलोंमें पड़ रहना तो ठीक समझते हैं किन्तु उनके गाँवमेंसे गुजरना मंजूर नहीं करते।

दो-चारके खरे-खोटे आचरण और व्यक्तित्वके कारण समूचा देश, धर्म समाज, वंश कलङ्कित हो जाता है। और यह कलङ्क ऐसे हैं कि नानीके पाप धेवतोंको भुगतने पड़ते हैं।

एक बार एक सज्जन (सम्भवतया मुनि तिलकविजय) बर्मा गये। वहाँ दो बर्मियोंने उनका यथेष्ट सत्कार किया। प्रवासयोग्य उचित सहायता पहुँचाई। जब वे वर्मासे प्रस्थान करने लगे तो बर्मी मेजबानोंका आभार मानते हुए बार-बार अपने लिये कोई सेवा-कार्य बतलानेके आग्रह करनेपर बर्मियोंने सकुचाते हुए कहा—यदि बर्मा-प्रवासमें आपको बर्मियोंकी ओरसे कोई क्लेश पहुंचा हो या उनके स्वभाव-आचरण आदिके प्रति कोई आपने धारणा बना ली हो तो कृपाकर आप उसे समुद्रमें डालते जाएँ। अपने देशवासियोंको इसका आभास तक भी न होने दें।

क्यों? यही तनिक-तनिक-सी धारणाएँ देश-समाजके लिये पहाड़ जैसी कलङ्क बनकर उभर आती है। बनियेके यहाँ लोग बिना रसीद लिये रुपया दे आते हैं। जो देना-पावना उसकी बही बतलाती है ठीक मान लेते हैं परन्तु बैङ्कके बड़ेसे बड़े अफसरको बिना रसीद एक पाई भी कोई नहीं देता न पाई-टू-पाई हिसाब मिलाये बिना कोई विश्वास ही करता है।

इसका भी कारण यही है कि बनिया लेन-देनमें अधिक प्रामाणिक समझ लिया गया है। जितना-जितना अब वह पतनकी ओर जारहा है, उतना ही वह बदनाम भी होता जारहा है।

शिकारपुर भोगाँव. बलियाके निवासी मूर्ख और बिहारी बुद्धू क्यों कहलाते हैं? क्या इन जगहोंमे सारे भारतके मूर्ख इकट्ठे कर दिये गये हैं. अथवा यहाँ मूर्ख और बुद्धू पैदा ही होते हैं? नहीं. इन शहरोंके १०-५ गधोंने बाहर जाकर इस तरहकी हरकतें कीं कि लोगोंने उनसे उनके प्रान्त और शहरके सम्बन्धमें उपहासास्पद धारणाएँ बना लीं। वे गधे तो न जाने कबके मर गये होंगे, पर उनके गधेपनका प्रसाद वहाँ वालोंको बराबर मिल रहा है।

भूमिका तनिक लम्बी होगई। प्रत्येक व्यक्तिको यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके कारण उसके देश-समाज आदि प्रतिष्ठित न हो सके तो बदनाम भी न होने पाएँ। प्रसङ्गवश आपबीती कुछ घटनाएँ दी जारही है।

(१)

दिल्लीमे १९३०के नमक सत्याग्रहके पहले जत्थेमे ५ सत्याग्रहियोंमे हम दो जैन थे। बाक़ी तीनमेंसे १ मुसलमान और दो बाहरके मज़दूरवर्गसे थे। ७०-८० हजारकी भीड़, हमे देहलीसे सत्याग्रह स्थल (सलीमपुर-शाहदरा) की ओर पहुंचाने चली तो मार्गमे क़िलेके सामने जैन लालमन्दिर आया। प्रत्येक शुभ कार्य्योंमे जैनी मन्दिर जाते ही है। अतः हम दोनों भी मन्दिरको देखते ही भीड़को रोककर दर्शनार्थ गये। इस तनिक-सी बातसे देहलीमे यह बात फैल गई कि देहलीके दोनो सत्याग्रही जैन है। जैनोंने सबसे आगे बढ़कर अपनेको भेट चढ़ाया है। हॉ भेट ही, क्योंकि उस समय किसीको गवर्नमेण्टके इरादेका पता नहीं था। हमे जब जत्थेमे लिया गया तब कॉग्रेस-अधिकारियोंने स्पष्ट चेतावनी दे दी थी—"सम्भव है तुमपर घोड़े दौड़ाए जाएँ गोलियाँ चलाई जाएँ,लाठियाँ बरसाई जाएँ अङ्गहीन या अपाहिज बनाये जाये"। हर तरहके खतरोंको ध्यानमें रखकर ही साबुत कदम और पूर्ण अहिंसक बने रहनेकी हमने एक लाख जन-समूहमे प्रतिज्ञा की थी।

अतः लोगोंको जब मालूम हुआ कि दोनों जैन है तो लोग अश-अश करने लगे और जैन तो गले मिल मिलकर रोने लगे। "भाई तुम लोगोंने हमारी पत रखली"। नमक-सत्याग्रह हुआ। पुलिसने अण्डकोष पकडकर घसीटे, नमकका गरम पानी छीनाझपटीमे शरीरोंपर गिरा। परन्तु सदैव इसी 'पत'का ध्यान बना रहा। व्यक्ति तो हमारे जैसे अनगिनत पैदा होगे, पर 'पत' गई तो फिर हाथ न आयेगी। इसी भावनाने लहमेभरको विचलित नहीं होने दिया।

(२)

जेल पहुंचनेपर मालूम हुआ कि राजनैतिक बन्दियोंके लिये शामके भोजनकी व्यवस्था दिनमे न होकर रात्रिमे होती है। हालॉकि जेल-नियमानुसार सूर्यास्तसे पूर्व सब कैदी भोजन कर लेते हैं। परन्तु राजनैतिक बन्दी अपना भोजन रात्रिको ही बनवाते थे। रात्रिको भोजन न लेनेपर एक नेता बोले—"यहॉ दिन-विनका नियम नही चल पायेगा, इस पाखण्डबाजीको अब धता बताओ"। मैंने प्रकटमें तो कुछ नहीं कहा, पर मनमे संकल्प किया—यह नियम अब डङ्केकी चोट निभेगा। हायरे हम और हमारे नियम! किसीसे मैंने कुछ कहा नहीं, उन लोगोंके भोजन-समय चुपचाप टल गया। परन्तु फिर भी पाखण्डीका फतवा नाजिल हो ही गया। होना तो यह चाहिये था कि हमारे भूखे रहनेपर हमारे साथी भी रात्रिमे भोजन करते हुए कुछ सङ्कोच अनुभव करते और व्रतकी विशेषता और दृढ़ताकी प्रशंसा करते। इसके विपरीत हमारे मुँहपर ही इसे पाखण्ड बताया जारहा है। मालूम होता है कोई न कोई त्रुटि हममे दिखाई अवश्य देती है:—

नियाजे इश्क़मे खामी कोई मालूम होती है।
तुम्हारी बरहमी क्यो बरहमी मालूम होती है॥

भाई नन्हेमलका जेलमे साथ छूट गया। हम दोनो जुदा-जुदा गिरफ्तार किये गये थे। अतः मैं अकेला ही उस समय जेलमें जैन था। मैंने गोयलीय के बजाय अपनेको तब जैन लिखना प्रारम्भ कर दिया था। ३-४ रोज़ शामको भूखा रहना पड़ा होगा कि दिल्ली जेलवालोने हम सी-क्लास बन्दियोंके लिये भोजनका प्रबन्ध हमारे सुपुर्द कर दिया। और हमने ऐसा प्रबन्ध किया कि सब सूर्यास्तसे पूर्व भोजन कर लेते। हमारी भोजन-व्यवस्था स्वच्छता, प्रेम-व्यवहारको देखकर सभी प्रसन्न हुए। यहॉ तक कि उन नेता महोदयके मुंहसे भी अनायास निकल ही गया—

"भई जैनोकी भोजन-व्यवस्था और स्वच्छताको कोई नहीं पहुँच सकता। इन लोगोका दिनमें भोजन करना और पानी छानकर पीना तो अनुकरणीय है। रात्रिमें लाख प्रयत्न करो कुछ न कुछ जीव-जन्तु पेटमें चले ही जाते हैं और भोजन ठीक नहीं पचता"।

(३)

दिल्लीसे मिण्टगुमरी जेल भेज दिया गया। अण्डमानमें स्थान रिक्त न होनेके कारण पंजाबके जीवन-पर्यन्तके सजायाफ्ताक़ैदी यहीं रक्खे जाते थे। हमें भी यहाँ एक वर्ष रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। ४ बजेका समय था, मैं अपना बान बाँटकर बैठा ही था कि लाला बनारसीदास (जेलबाबू) आये और किताबोंका पार्सल दिखाकर बोले—

"यह पार्सल आपका है ?"

"जी।"

"क्या आप जैन हैं ?"

"जी।"

"आप लोग, सुना है गोश्त नहीं खाते" ?

(व्यंग्यात्मक हँसी)

"जी, हम लोग गोश्त नहीं खाते"।

"क्यो ?"

"जैनोंका विश्वास है कि जो किसीमें जान नहीं डाल सकता वह किसीकी जान नहीं ले सकता। हमें दूसरो के साथ वही व्यवहार करना चाहिये, जिस व्यवहार के लिये हम उनसे इच्छुक हैं। जैसी करनी वैसी भरनीके जैन क़ायल हैं। आज जो शक्तिके मदमें दूसरों को कष्ट पहुँचाते है, उन्हें एक न एक रोज़ अपराधियों-की श्रेणीमें खड़ा होना होगा।

दादख्वाहीके लिये हश्रका मैदाँ होगा।
हाथ मक़तूलका क़ातिलका गिरेबाँ होगा॥

"ओह, माफ करना, मैने आपसे ऐसी बात की जो आपके जमीरके ख़िलाफ थी।"

"नहीं, यह तो आपका सौजन्य है जो आपने एक कैदीसे बात की, वर्ना यहाँ कौन किसीसे बात करता है ?"

"सुना है, जैन झूठ नहीं बोलते ?"

"हाँ, बोलना तो नही चाहिये। पर, कलङ्क तो चन्द्रमामें भी होता है। क्या कहा जासकता है, पाँचों अङ्गुलियाँ यकसाँ नहीं होतीं।"

"इस पार्सलमें किताबें कैसी आई हैं ? राजनैतिक या सरकारविरोधी तो नहीं हैं ?"

"जी, मैं देखकर अभी बतलाये देता हूं। आप विश्वास रखें जेल-नियम-विरुद्ध किताब मैं एक भी नहीं रक्खूँगा।"

किताबें धर्मबन्धु लाला पन्नालालजी अग्रवालने दिल्लीसे सब धार्मिक भेजी थीं। किताबें लाला बनारसीदासको भी पढ़ने दी गईं तो उन्हें गोश्तसे घृणा होने लगी। उन्होंने कई बार कहा कि इन किताबोंके पढ़नेसे हम पति-पत्नीके दिलपर बड़ा असर हुआ है। वह अक्सर मुझसे तत्वचर्चा करने आता था।

(४)

जेलमें साग-दालमें प्याज-लहसन इतना पड़ता था कि खाना तो दरकिनार उसकी गन्धसे ही जी ऊपर-ऊपरको आने लगता था। अतः क़रीब ५-६ माह रूखी रोटी, पानी या गुड़के सहारे पेटमें उतरती। एक रोज़ भोजन करते समय लाला बनारसीदास आ पहुँचे। इस तरह रूखी रोटी खाते देखकर सबब पूछा तो साथियोंने बतला दिया कि यह प्याज लहसन नहीं खा सकते। सुना तो बेहद बिगड़े। तुम लोगोंने मुझे क्यों नहीं कहा ? ये रूखी रोटी खाते रहते हैं और तुम लोग मजेसे इनके सामने दाल-साग खाते रहते हो। यदि तुम लोग ५० आदमी तैयार होजाओ तो आजसे ही प्याज-लहसनरहित दाल-सागका प्रबन्ध किया जा सकता है। साथियोंको इसमें क्या ऐतराज होता, वह तो मजबूरन खाते थे। दूसरे दिन ६०-७० के लिये प्याज-लहसनरहित भोजन आने लगा। मिण्टगुमरीमें भोजन जेलका बना ही मिलता था। दिल्लीकी तरह हमारा प्रबन्ध नहीं था।

(शेष ९वीं किरणमें)

पाँच प्राचीन दि० जैन मूर्तियाँ ★ ★

(लेखक—मुनि कान्तिसागर)

ता० २५-७-४८ रविवारका दिन था. मैं कुछ लेटे हुए डॉ० भांडारकरका जैन मूर्तिशास्त्रका वह नोट पढ़ रहा था जो 'आर्क्योलोजिक सर्वे ऑफ इंडिया' इतिवृत्तमें प्रकट हुआ है। था भी निश्चिन्त, रविवारके दिन मैं भी अपनी लेखनीको कष्ट नहीं देता। यों तो "आराम" जैनमुनियोंकी जीवन-विषयक डिक्शनरीमें नहीं होता, भगवान् महावीरने स्पष्ट शब्दोंमें बारबार कहा है "समयं गोयम मा पमाए" हे गौतम क्षणमात्र भी प्रमाद न कर। उपर्युक्त नोट पूरा करके आँखें बन्द होना ही चाहती थीं, रोकना भी मैंने उचित नहीं समझा. इतनी देरमें मेरे सामने एक सज्जन आ पहुंचे जो पुरातत्वमें ही एम० ए० है, इसी विषयपर आचार्यत्वके लिये थीसिस—महानिबन्ध—भी लिखी है। मेरा मन तो था कि कह दूं कल आइये परन्तु आपने आते ही मेरे सम्मुख छह चित्र उपस्थित कर दिये। मुझे तो अत्यानन्द हुआ; क्योंकि पुरातत्त्व-संशोधनका रोग जिसे लगा हो वह तो अपनी गवेषणा-विषयक रुचिकी पूर्तिके लिये पहाड़ों और खण्डहरोंमें घूमता ही रहता है उसके लिये मार्गमें आनेवाली बाधाएँ कोई मूल्य नहीं रखती, जब मुझे तो घर बैठे ही ये चीजें प्राप्त होगईं और वह भी जैन पुरातत्त्वसे सम्बन्ध रखने वाली, फिर प्रसन्नता क्यों न हो? दिल उछलने लगा। मैंने बहुत चेष्टा की कि मैं इन्हें अभी अपने पास ही रखूं कल लौटा दूंगा, पर जो सज्जन ये चित्र लाये थे उनके स्वामीकी आज्ञा रखनेकी न थी, न वे मुझे अभी नोट्स लेने देना ही चाहते थे। मैंने इन्हें खूब गौरसे देखा कि इनकी कला वगैरहका ठीकसे अध्ययन करलूं और बादमें कुछ पंक्तियाँ लिख लूँगा जिससे और अपरिचित जन भी इनके परिचयसे लाभान्वित हों. परन्तु मेरा अनुभव है कि जब तक मूल वस्तु—अवशेष—सम्मुख उपस्थित न हो तब तक उनका वास्तविक परिचय उचितरूपेण लिपि नहीं किया जा सकता. क्योंकि कलाकार (पाठक भूलसे मुझे ही कलाकार न समझ बैठें) जब सामनेकी वस्तु देखता है और कलम हाथमें उठाता है तब उसकी मनोवृत्तियाँ केन्द्रित होकर उसके भीतर प्रवेश करनेकी चेष्टा करती हैं। वह सफल कहाँ तक होता है इसका निर्णय करना एतद्विषयक रुचि रखनेवाली जनताका काम है। सफल कलाकारका जीवन भी कई विलक्षणताओंका एक समन्वयात्मक केन्द्र है। उसके मस्तिष्ककी रेखाएँ ही इसका सूचनात्मक प्रतीक है। वह कभी तो शान्त-मुद्रामें रहता है, कभी गांभीर्य भावोंकी मूर्तिसम प्रतीत होने लगता है और सबसे बड़ी विशेषता है वह अप्रसन्न कभी नहीं होता, जैसे कोई शिकारी शिकार न मिलनेपर भी—निराश होना मानो उसके जीवनके बाहरकी ही वस्तु हो। यदि स्पष्ट कह दिया जाय तो कलाकारका हृदय एक समुद्रके समान गम्भीर होता है। नदी-नाले जैसे एकत्र होकर रत्नाकरमें विलीन होजाते हैं ठीक उसी प्रकार ज्ञान-विज्ञानकी समस्त धाराएँ उसके हृदयमें समा जाती हैं, बिना इनके संगमके वह सफल कलाकार माना ही नहीं जासकता; तभी तो वह प्रस्तर और धातुओंपर प्रवाहित भावोंको समझकर विवेचना करनेको उद्यत रहता है। भावनाशील हृदय प्रत्येक स्थानको अपने विशेष दृष्टिकोणसे देखता है। यही कारण है कि जहाँ कीचड़ भी न हो वहाँ वह उत्तम सरोवर देखता है। कहनेका तात्पर्य यह कि जहाँपर पाषाणोंका या कलात्मक अवशेषोंका ढेर हो वे है तो प्रस्तर पर कलाकारके लिये वे तात्कालिक सांस्कृतिक प्रवाहोंका प्रधान केन्द्र मालूम देते हैं। कलाकारकी दुनिया ही निराली है। इसमें जो कुछ क्षण विचरण करनेका सौभाग्य प्राप्त करता है वही उपर्युक्त पंक्तियोंका साक्षात् अनुभव करनेकी क्षमता रखता है।

हाँ तो अब मैं अपने मूल विषयपर आजाऊँ, मुझे नोट्स न लेने दिये तब कुछ रञ्ज-सा अवश्य हुआ इसलिये कि इतनी सुन्दर जैनकलात्मक कृतिएँ होते हुए भी आज जैनी इनसे क्यों अपरिचित रहें? क्या प्रतिमा-निर्माण करवानेवालोंका यही उद्देश्य था? बिल्कुल नहीं। परन्तु जब मैंने जाना कि उसके स्वामीके यहाँ दो दिन चित्र रह सकते हैं और मैं वहाँ जाकर नोट करलूँ तो उन्हें आपत्ति नहीं होगी, तब मैंने भी स्वीकार कर लिया। बादमें मैंने अपने दिलमें

यही अन्दाज लगाया कि चित्र उसने इस भयसे शायद न रखे होंगे कि मैं कहीं उनकी प्रतिकृति उतरवा लूँ या ब्लॉक बनवा लूँ, अस्तु।

चित्र चले गये पर मेरा मन उन्हींमें लगा रहा, सोच रहा था क्या ही अच्छा हो यदि रात छोटी होजाये और दिन निकलते ही मैं अभिलषित कार्यको कर डालूँ, पर अनहोनी बात थी।

तारीख २६-७-४८ को मैं बिहार प्रान्तके बहुत बड़े कलात्मक वस्तुसंरक्षकके यहाँपर सहयोगी बाबू पदमसिंह बललियाको लेकर पहुंचा ही। १२ बजनेका समय रहा होगा, मैं तो चाहता था कि वे श्रीमन्त मुझे चित्र अवलोकनार्थ देकर आरामकी नींद ले लें ताकि मैं शान्ति पूर्वक अपना काम निपटालूं, पर वे भी थे धुनके पक्के, बहुत धूप-छाँह देख चुके थे, मैं तो उनके सामने बच्चा था। चित्र मेरी टेबिलपर आ गये और पाँच-सात मिनटके बाद वापिस लेनेकी भी तैयारी करने लगे। मैंने कहा, देखिये, ये काम उतना आसान नहीं कि पाँच-दस मिनटमें इनको समुचित रूपसे समझ लिया जाय। वे फिर अपने कामपर गये और मैं अपना और सारा काम छोड़कर प्रतिमा-चित्रोंका परिचय लिखने लगा, बीच-बीचमे वे आये और उनके मस्तिष्ककी रेखाओंमें मैं पढ़ रहा था कि जो कुछ काम मैं कर रहा हूँ वह आपको मान्य नहीं है। पर मैं भी मुँह नीचे दबाये लिखता ही गया, जो कुछ भी लिखा वही आपके सामने समुपस्थित करते हुए मैं आनन्दका अनुभव करता हूं। हो सकता है इनके परिचयसे और संस्कृतिप्रेमी भी मेरे आनन्दमें भाग बटावें।

१—यह प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथजीकी है जैसा कि मस्तकोपरि सप्त फनोंसे सूचित होता है। निम्न भागमें सर्पाकृति नहीं है। यह प्रथा ही प्राचीन कालीन प्रतिमाओंमें नहीं थी या कम रही होगी। उपर्युक्त फने इतने सुन्दर बने हैं कि मध्य भागकी रेखाएँ भी सुस्पष्ट हैं। सर्पाकृति पृष्ठ भागीय चरणसे प्रारम्भ हुई है जैसा कि ढङ्कगिरिमें प्राप्त प्रतिमाओंमें पाई जाती है। प्रतिमा सर्वथा नग्न है। इसका शारीरिक गठन और तदुपरि जो पालिशकी स्निग्धता है उससे सौंदर्य स्वाभाविकतया खिल उठता है। हाथ घुटने तक लगते हैं और इस प्रकारसे अङ्गुलियाँ रखी हुई हैं मानो यह सजीव है। प्रतिमाका मुखमण्डल बहुत ही आकर्षक और शान्तभावोंको लिये हुए है। होठोंसे स्मितहास्य फरक उठता है। मस्तकपर घुँघरवाले केशोत्कीर्णित हैं। उष्णीश भी है। आँखें कायोत्सर्ग मुद्राकी स्मृति दिलाती हैं। वाम और दक्षिण भागमें यक्षिणी-यक्ष चामर लिये अवस्थित हैं। चामर जटिल हैं। दोनोंकी प्रभावलि और मुखमुद्रा शान्त है परन्तु यक्षिणीकी जो मुद्रा कलाकारने अङ्कित की है उसमें स्त्री-सुलभ स्वाभाविक चाञ्चल्य विद्यमान है। उभय प्रतिमाओंके उत्तरीय वस्त्र बहुत स्पष्ट है। गलेमें माला, कर्णमें केयूर और भुजदण्डमे बाजूबन्ध हैं। यक्षिणीकी जो प्रतिमा है उसके वाम चरणके पास एक स्त्री स्त्रियोचित समस्त आभूषणोंसे विभूषित होकर अंजली धारे भक्तिपूर्वक नमस्कार-वन्दना-करती हुई बनाई गई है। मुखमण्डलपर सूक्ष्म दृष्टि डालनेसे अवभासित होता है कि उनके हृदयमें प्रभुके प्रति कितनी उच्च और आदर्शमय भावनाएँ अन्तर्निहित हैं। ऐसी प्राकृतिक मुद्राएँ कम ही देखनेमें आती हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह स्त्री कौन होसकती है? मेरे मतानुसार तो यह मूर्तिनिर्माण करवानेवाली श्राविका ही होनी चाहिए; क्योंकि प्राचीन और मध्यकालीन कुछ प्रतिमाएँ मैंने ऐसी भी देखी हैं जिनमें निर्मापकयुगल रहते हैं। उभय प्रतिमाओंके उपरि भागमें पद्मासनस्थ दोनों ओर दो जिन-प्रतिमाएँ हैं। तदुपरि दोनों ओर आकाशकी आकृतिपर देवियाँ हस्तमें पुष्पमाला लिये खड़ी हैं, उनका मुखमण्डल कहता है कि वे अभी ही भगवानको मालाओंसे सुशोभित कर अपने भक्तिसिक्त हृदयका सुपरिचय देंगी। मालाओंके पुष्प भी बहुत स्पष्ट हैं। मस्तकपर छत्राकृति है। मूल प्रतिमाका निम्न भाग उतना आकर्षक और कलापूर्ण नहीं। मध्यमें धर्मचक्र और उभय तरफ विपरीतमुखवाले ग्रास हैं। परन्तु प्रतिमापर निर्माणकाल-सूचक खास संवत् या वैसा

कोई उल्लेख नहीं है। अतः प्रतिमाकी निर्माणकलापर-से ही इसकी शताब्दी निर्णीत करनी होगी। मैं और चित्रवाहक सजन इसे अन्तिम गुप्तकालीन कृतियोंमें समाविष्ट करते हैं। पूर्वीय कलाका प्रभाव है। इस टाइपकी और भी अनेक शिल्पकृतियाँ मगधमें उपलब्ध होचुकी हैं।

लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई इस प्रकार चित्रके पृष्ठ भागमें उल्लिखित थीं— २२॥. १६॥ ४ इंच है।

२—प्रस्तुत प्रतिमा उपर्युक्त प्रतिमाके अनुरूप है। विदित होता है कि एक ही कलाकारकी दो कृतियाँ हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि ऊपर वाली मूर्तिमें पद्मासनस्थ २ प्रतिमाएँ हैं जब इसमें चार हैं और निम्नभागमें भी धर्मचक्रके दोनों ओर पद्मासनस्थ २ प्रतिमाएँ है। ग्रास नहीं हैं। परन्तु भव्यतामें कुछ उतरती हुई है। समय वही प्रतीत होता है। नाप. १२. १२ ०॥}. ३॥ इंच है।

३—एक लघुतम प्रस्तर चट्टानपर उत्कीर्णित है। इसकी रचना दोनोंसे सर्वथा भिन्न है। उभय स्कंध-प्रदेशसे सटी हुई २ प्रतिमाएँ और निम्न भागमें यक्ष-यक्षिणिएँ हैं। ग्रास धर्मचक्र समान हैं। मूलका मुख बड़ा शान्त है, पर इसकी नासिका कुछ चपटी है जो बुद्ध धर्मकी आंशिक देन है क्योंकि बौद्ध कलावशेषों-में चपटी नाक आती है जैसाकि बुद्धदेवकी जातिका ही गुण है। नैपालका प्रभाव माना जाय तो आपत्ति नहीं। नाप १३।. ६. ३॥ इञ्च है। नग्न है। इसे मैं पाल कालीन प्रतिमा मानता हूँ।

४—यह प्रतिमा कलाकौशलकी दृष्टिसे उतनी महत्वपूर्ण भले ही न हो पर मूर्तिनिर्माणशास्त्रके उल्लेखोंके सर्वथा अनुरूप है। इसकी उठी हुई छाती एक सैनिकका स्मरण दिलाती है। मुझे तो कहते तनिक भी संकोच नहीं कि इसके निर्माणपर गोम्म-टेश्वर महाराजकी प्रतिमाका असर स्पष्ट है। मुख और शारीरिक रचनासे एवं हस्तोंपर बिखरी हुई लताएँ भी इसकी पुष्टि करती हैं। रचनाकाल १२ शती होगा।

५—यह प्रतिमा खड्गासनस्थ है। मोटी आकृति है। काल १३ शती है।

इस प्रकार पाँचों खड्गासनस्थ दिगम्बर मूर्तियाँ हैं।

इस प्रकार पाँच चित्र प्रतिमाओंके मेरे सम्मुख आये, जैसा मुझपर प्रभाव पड़ा और समझा वह आपके सामने है। छठवाँ चित्र एक ताम्र पत्रका था, फोटू इतना रद्दी और अस्पष्ट था कि उनको ठीकसे पढ़ना असम्भव था। कार्डसाइजमें ३४ पंक्तियोंकी कृतिको कैसे पढ़ा जासकता था, परन्तु इतना अवश्य प्रतीत हुआ कि समय १२३० आषाढ़ कृष्णा अमावस्या-का है। चन्द्रदेव नृप, गोविन्दचन्द, मदनपाल और नृपचन्ददेवके नाम पढ़े गये। उपर्युक्त सभी सामग्री विक्रयार्थ ही किसीके संग्रहमें रखी है। नामका मुझे स्वयं पता नहीं। सुना है ९०० रुपये मूल्य है। ताम्र-पत्र अलग ६०० रुपये[1]।

मेरे ही सदृश और भी पुरातत्त्वप्रेमियोंको ऐसे अनुपलब्ध प्रतिमाओं तथा संस्कृतिकी सभी शाखाओं-से सम्बन्ध रखनेवाले अवशेष या चित्र दृष्टिमें आते ही होंगे। मेरा उनसे अनुरोध है कि वे इस प्रकारके नोट्स ही—यदि होसके तो चित्र भी—'अनेकान्त'में प्रकाशनार्थ अवश्य ही भेजकर सांस्कृतिक उत्थानमें सहयोग दें। वरना सामग्री यों ही संसारसे विदा हो जायगी। यद्यपि इस प्रकारके शाब्दिक चित्रोंसे कला-कारोंको उसके रहस्योंका सूक्ष्म परिज्ञान भले ही न हो पर पुरातत्त्वके मुझ जैसे सामान्य व्यक्तियोंको अग्रिम अध्ययनमें बड़ी सहायता मिलती है। यों तो बिहार प्रान्तके खण्डहरोंमें और पटना म्यूजियममें भी अनेकों सुन्दर कलापूर्ण जैन प्रतिमाएँ पाई जाती हैं जिनका विस्तृत सचित्र परिचय मैं "बिहारकी तीर्थ भूमियें" शीर्षक निबन्धमें दूंगा।

पटना सिटी, ता० २७-७-४८

१ जैन समाजका एक भी सार्वजनिक पुरातत्वविषयक संग्रहालय नहीं है। यह अफसोसकी बात है। वरना ऐसी सामग्रियाँ भटकती न फिरतीं। परन्तु अब ४-५ लाख रुपयेका चन्दा करके क्यों न इस ओर कदम बढ़ाया जाता, थोड़ा-थोड़ा संग्रह भी आगे विशाल संग्रहका रूप धारण कर लेता है। 'भारतीयज्ञानपीठ' के कार्यकर्ताओं-का ध्यान मैं इन पंक्तियों द्वारा आकृष्ट करना चाहता हूँ।

'संजद' शब्दपर इतनी आपत्ति क्यों ?

(लेखक—श्री नेमचन्द बालचन्द गांधी, वकील)

प्रो० हीरालालजीने कोई ७ वर्ष पूर्व षट्खंडागम-के प्रथम भाग जीवट्ठाणकी प्रथम पुस्तक प्रसिद्ध की थी। इसके ३३२वें पृष्ठपर ९३वाँ सूत्र छपा है, जो नीचे उद्धृत किया जाता है—

"सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजमसम्माइट्ठि-
संजादासंजद'-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

इस सूत्रपर सम्पादकों द्वारा दीगई '१ अत्र "संजद" इति पाठशेषः प्रतिभाति' इस टिप्पणीको देखते ही दिगम्बर जैन समाजमें एक धूम मच गई। उसका यह खयाल हुआ कि प्रोफेसर साहबका इस सूत्रमें "संजद" शब्दको बढ़ानेमें कुछ हेतु है। क्योंकि इस शब्दके बढ़ानेसे दिगम्बर आम्नायके विरुद्ध द्रव्यस्त्रीको मुक्ति प्राप्त होना सिद्ध होगा। इस भयके कारण पं० मक्खनलालजी शास्त्री मोरेना और पं० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बईने लेख और ट्रैक्ट लिखे और 'संजद' शब्दको हटानेकी प्रेरणा की। यह धूम सिर्फ समाज तक ही महदूद (सीमित) नहीं रही किन्तु परमपूज्य आचार्य श्री १०८ शांतिसागर महाराजजी तक पहुँचा दी गई। और उनको यह सुझाया गया कि अगर सूत्रमें यह 'संजद' शब्द बढ़ाया जाय तो बड़ा अनर्थ होगा, और श्वेताम्बर आम्नाय-सम्मत स्त्री-मुक्तिकी पुष्टि होकर दिगम्बरा-म्नाय नेस्तनाबूद हो जायगा।

पं० मक्खनलालजीने जो ट्रैक्ट लिखा वह १७० पेजोंका है। उसका नाम है—'सिद्धांतसूत्रसमन्वय" इसे आपने बड़ी भक्तिसे श्रीशांतिसागरजी महाराजके करकमलोंमें समर्पित किया है।

प्रो० हीरालालजीने "संजद" पदकी आवश्यकता को अपनी टिप्पणीमें दिखाकर एक प्रकारसे प्रशस्त कार्य ही किया। लेकिन उसके बाद समाजकी ओरसे उसपर टीका होनेपर भी उसका जब मूलप्रतिसे मुक़ाबिला कराया गया और मूलप्रतिमें संजद' शब्द का होना निर्णीत होगया तब वस्तुस्थितिसे सब परि-चित होगये। इतना होनेपर भी श्री पं. मक्खनलालजी शास्त्री प० पू० आचार्य महाराजजीसे निवेदन करते हैं कि "ताम्रपत्र निर्मापक कमेटीको आदेश देकर 'संजद' पद जिस ताम्रपत्रपर खुदा हो उसको अलग करा देवें।"

मूल ताडपत्रकी प्रतिमें 'संजद' पद है और उसी के अनुसार ताम्रपत्रपर भी खोदा गया है। ऐसी हालतमें उस ताम्रपत्रको ही अलग करा देनेका अनु-रोध कुछ समझमें नहीं आता। ग़नीमत है कि मूल ताडपत्रके अलग करा देनेका अनुरोध नहीं किया गया।

सिद्धान्तसूत्रसमन्वयके खण्डनपर विद्वद्वर पं० पन्नालालजी सोनी न्यायसिद्धान्त-शास्त्रीने 'षट्-खण्डागम रहस्योद्घाटन" नामकी एक पुस्तिका २३२ पेजकी लिखकर प्रकाशित की है, जिसमें बहुत ही स्पष्टतासे यह साधार सिद्ध किया है कि सूत्र ९२-९३ का सम्बन्ध भावस्त्रीसे है, न कि द्रव्यस्त्रीसे। जो जीव द्रव्यपुरुष होकर भावस्त्री हो उसके चौदह गुणस्थान हो सकते हैं और जो जीव द्रव्यस्त्री हो वह पाँचवे गुणस्थानके आगे नहीं जासकता।

इसलिये सूत्र ९३में स्थित "संजद" पद किसी प्रकार द्रव्यस्त्रीकी मुक्ति नहीं सिद्ध कर सकता। अतएव उसे दूर करनेका आग्रह निष्प्रयोजन है। प्रत्युत उस पदके दूर होजानेपर ही दिगम्बर आम्नाय तथा षट्खण्डागममें विसङ्गति आदि अनेक दोष खड़े होजाते हैं, जोकि अनर्थकारी ही सिद्ध होते हैं।

ये सब बातें पण्डितप्रवर सोनीजीने अपने ट्रैक्टमें

इतनी विशद रीतिसे स्पष्ट की हैं कि उस विषयमें और कुछ लिखना पिष्टपेषण करना होगा।

पं० मक्खनलालजीने अपने "सिद्धान्तसूत्रसमन्वय" ट्रैक्टमे "निर्णय देनेके आचार्य महाराज ही अधिकारी हैं" इस शीर्षकका एक प्रकरण लिखकर यह सिद्ध करना चाहा है कि 'संजद' पदका विवाद सिद्धान्तशास्त्र-सम्बन्धी है। अतः इसके निर्णयका अधिकार प० पू० चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ शांतिसागरजी महाराजको ही है। कारण कि वे वर्तमानके समस्त साधुगण एवं आचार्य-पदधारियोंमें सर्वोपरि शिरोमणि हैं। इत्यादि।

लेकिन सुना जाता है कि प० पू० आचार्यश्रीने फर्माया है कि इसका निर्णय हम नहीं कर सकते। यह काम पंडित लोगोंका है। संस्कृत और प्राकृत भाषाके जानकार पंडित लोग ही होते है। अतः वे ही लोग इसका निर्णय करले।

मातृप्रतिसे मिलान करनेके बाद 'संजद' पदको ताम्रपत्रसे निकलवा देनेका पू० आचार्यजीसे अनुरोध करना व्यर्थ ही नहीं किन्तु अनर्थकारक होगा। मातृप्रतिके विरोधी ताम्रपत्रको कोई भी पसन्द नहीं करेगा। मैं तो पं० मक्खनलालजीसे सविनय अनुरोध करता हूँ कि अब आप एक पत्रक निकालकर यह प्रकट कर दीजिये कि "सिद्धान्तसूत्रसमन्वयमे हमने जो विचार प्रकट किये है वे 'षट्खण्डागम रहस्योद्घाटन' को विचारपूर्वक पढ़नेके बाद अब कायम नहीं रहे हैं। ९३वाँ सूत्र वस्तुतः भावस्त्रीसे सम्बन्ध रखता है, द्रव्यस्त्रीसे नहीं।"

प्रो० हीरालालजीसे भी सविनय विनती है कि भगवान् श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीसमन्तभद्राचार्य, श्री पूज्यपाद, भट्टाकलङ्कदेव, वीरसेनाचार्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आदिकोंको क्या आप आधुनिक आचार्य अतएव अप्रमाण समझते हैं। षट्खण्डागम की प्रस्तावनामें तो इन आचार्यप्रवरोंकी स्तुति करके आपने उनके ग्रन्थों और वचनोंको प्रमाण माना है। और अब भाववेद और द्रव्यवेदकी व्यवस्थाके विषयमें उनके वचनोंको प्रमाण माननेको आप तय्यार नहीं हैं, यह क्यो ?

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पायेण समा कहिं विसमा॥

गोम्मटसार-जीवकाण्डकी इस गाथासे वेद-वैषम्य स्पष्टतया सिद्ध होनेपर भी उसे न मानना अनुचित है।

गोम्मटसारग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जीकी अनुपम कृति है, जो षट्खण्डागमग्रन्थराजका पूर्णमन्थन करके ही उसके साररूपमें तय्यार की गई है। नेमिचन्द्राचार्यने भी इस बातको गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा ३९७में बड़े गौरवसे कहा है—

"जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं॥"

"जिस प्रकार चक्रवर्ती अपने चक्रके द्वारा षट्खण्ड पृथ्वीको सिद्ध कर लेता है। उसी प्रकार मतिरूपी चक्रके द्वारा मैंने छह खण्ड अर्थात् षट्खंडागम को सम्यक्रूपसे साध लिया है।"

श्रीनेमिचन्द्राचार्यको "सिद्धान्तचक्रवर्ती" यह उपाधि भी इसी हेतुसे प्राप्त हुई, जो उनके सिद्धान्त-विषयक पारगामित्वकी द्योतक है। अतएव उनके गोम्मटसारादि ग्रन्थोंके प्रति अविश्वास प्रकट करना उचित नहीं है।

प० पू० आचार्य श्री शान्तिसागर महाराजजीके चरणोंमें भी सविनय विनती है कि मातृप्रतिमें 'संजद' पदका होना सिद्ध हो चुका है और उक्त सूत्रमें उसका स्थिर रहना टीकादिपरसे सङ्गत और आवश्यक है। तथा विद्वत्परिषद्ने भी अपना यही निर्णय दिया है तो अब उस ताम्रपत्रको बदल देने या उसपर कुछ टिप्पणी देनेका आग्रह अथवा प्रयत्न अनुचित ही होगा।

पं० मक्खनलालजीने जो यह लिखा है कि ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदको कायम रखनेसे द्रव्यस्त्रीको मुक्ति सिद्ध होगी सो बिलकुल गलत है। पं० सोनीजीने इस आक्षेपका शास्त्राधार पूर्वक अच्छी तरहसे खंडन किया है। अतएव यह भ्रम दूर होजाना चाहिये। पं० मक्खनलालजी विद्वान् हैं और इस लिये उन्हें

अपहरणकी आगमें झुलसी नारियाँ

रावण और कंसकी कथाएँ जब हमने पढ़ीं तो हमारा मन सिहर उठा—ओह, ऐसे अत्याचारी थे ये दुष्ट ! पर आज हमारे चारों ओर जो कुछ होरहा है, उसे देखकर रावण और कंस दोनों झेंप गये हैं। मार-काट और फूँक-फॉक तो आम बातें हैं, पर सबसे मर्म-बेधी है हमारी बहू-बेटियोंका बलपूर्वक अपहरण। आज जाने कितनी हजार नारियाँ इन रावणोंके पंजेमें हैं। लज्जाकी बात है कि हम उन्हें बचा न सके और दुःख है कि जो बच रहीं हम उन्हें सच्चा पथ भी न बता सके। अङ्गारोंसे लिखा यह प्रश्न है कि जो स्त्रियाँ बलपूर्वक अपहृत होगईं या होजायें, क्या वे इसे 'कर्मोंका फल' मानकर चुपचाप उन्हीं राक्षसोंके पंजेमें फँसी रहें या उनके लिये भी कोई मार्ग है ?

हमारे नेता नारियोंको सीताका आदर्श उपस्थित करनेको कहते हैं। हमारी मूढ बुद्धिमें नहीं आया कि वह कौनसा आदर्श था, जो सीताने उपस्थित किया और जिसपर आजकी देवियाँ कार्य नहीं कर रही हैं। हमारी तुच्छ सम्मतिमे तो हिन्दू स्त्रियाँ सदैवसे भगवती सीताके पथपर चल रही हैं। बनोंमें जब पति ही नहीं जाते तब पत्नियाँ उनके साथ कैसे जायें ? हाँ जेलों, सभाओं, मेलों, सिनेमाओं, थियेटरों, नाच-घरों और क्लबोंमे वे पतिसे कन्धा भिड़ाये रहती ही हैं। पति कितनी ही दूर हो, बूढ़े सास-ससुरको छोड़ कर उसीके पास रहती हैं। पति-वियोग एक पलको वे पाप समझती हैं। जैसे सीता चुपचाप गर्दन लटकाये सुबकती हुई रावणके द्वारा हरण कर ली गई, उसी प्रकार आज भी हिन्दू नारियाँ आततायियों-के साथ मिमयाती हुई चली जाती हैं और वे उनके अत्याचारोंको बिलखती हुई, कराहती हुई सहन करती हैं। हाँ, यदि सीताने अहिंसात्मक सत्याग्रह (?) का अवलम्बन न लेकर रावणद्वारा हरण किये जानेपर छीना-झपटीमें देर लगाई होती, अंगुलियोंसे आँखे कुचा दी होती, दाँतोंसे नाक कुतर ली होती या लङ्का-में जाकर उसे धोखेमें फँसाकर सोते हुए बध कर दिया होता, या महलोंमे आग लगा दी होती, तो बादमे होने वाली ये नारियाँ भी इसी आदर्शका अनुकरण करती। कितने खेदकी बात है कि जिन नारियोंका बलात् हरण हो, उन्हीं नारियोंकी सन्तान विधर्मी होकर अपनी माताओंके अपमानका बदला न लेकर दुष्टों और आततायियोंको अपना पूर्वज समझकर उल्टा हिन्दू जातिके रक्तकी प्यासी बनी रहती है।

हिन्दुओंमे यह बड़ी आत्म-घातक प्रथा रही है कि बलात् हरण करने वाले आदरकी दृष्टिसे देखे गये हैं और स्त्रियोंने बिना हील-हुज्जत किये उन्हें पति स्वीकार कर लिया है। हम तो कहते हैं कि यह प्रथा ही हिन्दू जातिके लिये घातक है। हिन्दू जातिका यदि यह सिद्धान्त हुआ होता कि हरण करनेवाला या बलात्कार करनेवाला महान्से महान् व्यक्ति क्यों न हो, अपहृता या दूषित की गई नारीद्वारा बध होना ही चाहिये और यदि यह मार्ग सीता या अन्य पतिव्रता नारियोंने बना दिया होता तो आज किसी भी आत-तायीको यह साहस न होता कि वह एक भी नारीका अपहरण करे। अस्तु ! 'बीती ताहि बिसार दे, आगे-की सुधि लेय'. अब भी क्या बिगड़ा है ? हमारे नेता, व्याख्यानदाता, कथावाचक आज भी घर-घरमें संदेश पहुंचा सकते हैं—आततायी यदि तुम्हें बलात् भ्रष्ट करते हैं या घर लेजाते हैं तो अवसर पाकर बदला लो। खानेमें विष मिलाकर उनके परिवारको नष्ट

एकबार जो मत दिया उसको बदलना नागवार और अपमानास्पद मालूम होता होगा। पर अपने पहले मतमें प्रमादसे हुई कोई गलती या दोष पीछे मालूम होजाय तो उसको मान्य करना सम्मान्योंका काम है—उसमे उनकी प्रतिष्ठा और गौरव है। और अपमान समझना दुराग्रह या दुरभिनिवेशका द्योतक है।

यह सिद्ध हो जानेके बाद कि 'संजद' पद मूलप्रति-में विद्यमान है और ताम्रपत्रपर भी वह खोदा गया है। फिर भी ताम्रपत्रसे उसको निकाल देनेका अनुरोध और आग्रह प० पू० आचार्यजीसे हो रहा है, इसीलिये यह लेख प्रसिद्ध करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

कर दो. घरमें आग लगाकर उनका सर्वस्व भस्मीभूत कर डालो। भले ही इसके लिए महीना दो महीना या वर्ष दो वर्ष भी प्रतीक्षा करनी पड़े. पर अपहरण के अपमानको न भूलो। अवसरकी हर घड़ी ताकमें रहो और अवसर मिलते ही बदला लो। हिन्दू समाज के नेता नारियोंको बदलेका यह मन्त्र देकर ही चुप न हो जायें. अपनेको कर्तव्य-मुक्त न मान लें। वे यह भी ध्यानमें रक्खें कि यदि कोई नारी ऐसा करके लौटती है. तो उसे यही नहीं कि घरमें अपना स्थान मिले अपितु समाजमें सार्वजनिक रूपसे उस वीर-नारीको अभिनन्दन भी मिले। हमारे समाजमें ऐसे ७-८ भी अभिनन्दनोत्सव हो जायें तो वे अपहरणोंको असम्भव बना दें। तब विरोधियोंके लिए हमारी बहू-बेटियाँ गुड़की डली न रहेंगी. फास्फोरसकी टिकिया हो जायेगी. जो हवा लगते ही जल उठती है और जला डालती है। गाँधीजीने लिखा था—

> "अगर मरनेका सीधा रास्ता जहर ही हो तो मैं कहूँगा कि बेइज्जती करानेके बनिस्बत जहर खाकर मर जाना बेहतर है। ' ' जिन्हें खञ्जर रखना है वे भले ही खञ्जर रक्खें लेकिन खञ्जरसे एक-दोका मामना किया जा सकता है सैकड़ोंका नहीं खञ्जर तो कमजोरीका निशान है। आखिरकार जानपर खेल जानेकी तैयारी ही हर हालतमें औरतोंकी इज्जत बचा सकती है और कुछ न कर सकें तो वे अपनी जेबमें जहर ही रक्खें, जहर खाकर मरना नैतिक-पतनसे कहीं अच्छा है।"

महात्माजीका यह उपाय निःसन्देह अमोघ है और यह उत्सर्गकी उस भावनाका प्रतीक है जो अभी पिछले महायुद्धमें रूसके देशभक्त निवासियोंने बरती। वे जर्मनोंसे लड़े. जब उनके लिए जमे रहना असम्भव हो गया तो वे पीछे हटे. पर उस स्थानका कण-कण फूँककर पीछे हटे। इस प्रकार जर्मनोंको केवल जले हुए खण्डहर ही मिले।

हम इस भावनाका अभिनन्दन करते हैं. पर जड़ सम्पत्ति और जीवित सम्पत्तिमें कुछ भेद दिखाई देता है। जड़ पदार्थ जब शत्रुके हाथमें गया, तो फिर बस गया ही गया। पर जीवन. शत्रुके हाथोंमें पड़ने-पर भी उबर सकता है। यह भी निश्चित है कि जीवित स्त्रीको शत्रु या आततायी अपहरण कर ले जा सकता है और आजकी भाषामें उसका दुरुपयोग भी हो सकता है. पर इस दुरुपयोगको, उस नारीकी भ्रष्टता या नैतिक पतन माननेको. हम कदापि तैयार नहीं हैं। आततायीका शरीरपर अधिकार कर लेना नैतिक पतन नहीं होता है। ऐसा होता, तो जेलमें बन्द स्वयं श्रद्धेय महात्माजी, पं० जवाहरलाल नेहरू और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद नैतिक दृष्टिसे पतित माने जाते। हमारी रायमें नैतिक पतन है आततायीके सामने झुक जाना, उसे अपनी आत्मा सौंप देना, उसका हो जाना, उसे (विवशतामें ही सही) अपना मान लेना और उस अपमानको भूल जाना।

आज हमें नारीको यह बताना है कि अपहरण मोर्चेका अन्तिम अध्याय नहीं है। अपहृत होकर भी नारी अपनी लड़ाई जारी रख सकती है और उसे जारी रखनी चाहिये। आज हम नारीको जो सबसे बड़ा अस्त्र दे सकते हैं वह यही भावना है कि—

> *आक्रमणके समय उसे लड़ना है और अपहरण-से बचना है। पर यदि अपहरण हो ही जाये, तो उसे अपना युद्ध जारी रखना है, हार नहीं माननी है, थकना नहीं है, समयकी प्रतीक्षा करनी है और निश्चितरूपसे उसे एक दिन अपने घर लौटना है। लौटना भी है, तो लुटेरोंको लूटका दण्ड देकर और पीढ़ियों तक स्मरण रखने योग्य एक चुभता-सा पाठ पढ़ा कर।*

यह धोखा नहीं है, विश्वासघात नहीं है, नैतिक पतन नहीं है. यह शास्त्रोंमें वर्णित और प्रमाणित आपद्धर्म है, युद्धकी एक नीति है, रणका एक दाव है और निश्चय ही यह नारीका पवित्र गुरीला युद्ध है। जहाँ खुला युद्ध सम्भव नहीं होता, वहाँ यह गुरीला युद्ध लड़ा जाता है और भारतकी नारीको आज इसी गुरीला युद्धकी शिक्षा लेनी है।

इस युद्धमें उसे टैङ्क, मैशीनगन, राइफिल. बन्दूक और तलवार नहीं मिलें, तो कोई चिन्ता नहीं। शाक

बनानेका दराँत, सब्जी काटनेका चाकू, आग ठीक करनेका चिमटा, पतीली उतारनेकी सिण्डासी, तेज किनारेकी थाली या कटोरी, तेलसे भरी लालटैन और छतपरसे धक्का देनेको सधी हथेलियाँ उससे कौन छीन सकेगा ? यदि उसमें भावना हो तो उसके ये अस्त्र अमिवाण सिद्ध होंगे और देशके इतिहास-लेखक आनेवाले दिनोंमें इन अस्त्रोंके प्रयोगकी कला-का ऐसा गुणगान करेंगे कि सेनापति-रोमेल और मैकार्थरकी आत्माएँ ईर्ष्यासे उसे सुनेंगी। गाँधीजीने लिखा था—

> "भगाई गई लड़कियाँ बेगुनाह हैं। किसीको उनसे नफरत न करनी चाहिये। हर सही विचारनेवाले आदमीको उनपर तरस आना चाहिये और उनकी पूरी मदद करनी चाहिये। ऐसी लड़कियोंको अपने घरोंमे खुशी-खुशी और प्यारसे लौटा लेना चाहिये और उनके लायक लड़कोंसे उनकी शादी होनेमें कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिये।"

दिक्कत तो नहीं होनी चाहिये थी, किन्तु ऐसा कठिनाइयाँ हिन्दू नारियोंके उद्धारमें बाधक अवश्य रही हैं। हम सनातन पन्थियोंको एक सनातन भूल खाये जा रही है। रावणका वध होजानेपर सीता रामके शिविरमें आई। सीता सोचती थीं—राम मुझे देखकर विह्वल हो उठेंगे, वे मुझे हृदयसे लगानेको दौड़ेंगे और मैं चटसे उनके चरणोंमे गिर जाऊँगी, उठायेंगे तो भी न उठूँगी और रोकर भीख माँगूँगी कि नाथ, अब यह चरण-सेवा पलभरको भी न छूटने पावे। किन्तु सीताकी यह आशा हवामें तैर गई। रामने सीताकी ओर देखा भी नहीं। गुप्तरूपसे हनुमानसे सीताके पवित्र बने रहनेकी बात पाकर भी उनका हृदय अविश्वासी हो उठा।

कहा जाता है कि वे सीताके सतीत्वकी ओरसे निश्चित थे, किन्तु लोक-लाजके लिए अग्नि-परीक्षा आवश्यक थी। हम कहते हैं यही सबसे बड़ी भूल रामने की थी। रावणके यहाँसे असती लौटनेपर भी सीताका कोई अपराध नहीं बनता। बलवान आततायियोंके आगे शारीरिक सतीत्व रह ही नहीं सकता फिर सतीत्व तो आत्माकी वस्तु है, उसका कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अपवित्र पुद्गलको कोई दुष्ट बलात् अपवित्र करता है, तो इससे सतीका क्या बिगड़ता है ? सीताका सहर्ष स्वागत करके यदि राम यह परिपाटी डाल जाते कि हरण की हुई स्त्रियाँ हर दशामें पवित्र हैं और उन्होंने यदि सीताकी आलोचना करने वाले नीच धोबीकी यह कहकर जिह्वा काट ली होती कि जो निरपराध नारीको दोष लगाता है, उसको यही दण्ड मिलता है, तो आज स्त्रियोंकी जो यह दुरवस्था है, न हुई होती।

आज तो स्थिति यह है कि हमारी जो बहन-बेटी गईं, सो गईं; क्योंकि यदि उसे लौटनेका अवसर मिलता भी है और वह आना भी चाहती है, तो वह सोचती है कि जहाँ मैं जारही हूँ वहाँ मेरे लिये स्थान कहाँ है ? जूतेमें परसी रोटियाँ मिलेंगी और चारों ओर घृणा भरी आँखोंकी छाया। ऐसे अवसरोंपर पुरुष तो हैं ही, पर स्त्रियाँ भी अपनी उस बहनको सम्मान या प्यार नहीं दे पातीं। उनके व्यङ्गबाण तो उस समय इतने पैने होजाते हैं कि वे कलेजेको बींधनेमें चूकते ही नहीं।

अपहृत होजानेपर भी आज नारीको जहाँ यह सीखना है कि वह हताश न हो और अपना गुरीला युद्ध जारी रक्खे, वहाँ हमें भी तो अपनी मनोवृत्तिमें परिवर्तन करना है। यह परिवर्तन ही तो उस योद्धा नारीका असली बल है। प्यार और मानकी दुनिया उजाड़कर ठोकरोंके संसारमें कौन आना चाहेगा ? जो काम रामने नहीं किया, वह आजके समाजको करना है, उसे जीना है तो यह करना ही होगा। अपहरणसे लौटी हुई स्त्रियोंको भरपूर सम्मान मिलना चाहिये। उन्हें उनका स्थान मिलना चाहिये। उनके लिये सम्मान और स्थानकी गारण्टी करके ही हम इस युद्धमें विजय पा सकते हैं[१]। —गोयलीय

---

१ यह लेख मेरी एक लेखमालाका अंश है जो सन् ४७के 'नया जीवन'में प्रकाशित हुआ था तथा 'महारथी' 'सरिता' आदि कई पत्रोंने जिसे उद्धृत किया था।

सम्यग्दृष्टिका आत्म-सम्बोधन

(लेखक—श्रीजिनेश्वरप्रसाद जैन)

हे वीर आत्मन् !

तू कितना धीर कितना शक्तिशाली और अखंड ज्ञानचिद्रूप चिन्मूर्तिस्वरूप अनन्त-लक्ष्मीका धनी है और कहां तेरी इस हाड-मांसके अस्थिर गलनरूप शरीरमें मोह-ममकार-बुद्धि ! तेरी इस दशापर खेद होता है कि तू मोहमे कितना अन्ध होरहा है। सब कुछ जानते हुए भी कुछ नहीं जानता, सब कुछ देखते हुए भी कुछ नहीं देखता। अरे ! अब तो चेत और इस मोहकी शृंखलाको तोड। इस मोहके फन्देमे पड़े-पड़े ही तूने कितना कल्पकाल बिता दिया। कितनी शताब्दियाँ तूने संसारमें जन्मते और मरते बिता दीं। कितनी माताओंका दुग्धपान आज तक तूने किया और कितनी माताओंको तूने आज तक अपने वियोगमे रुलाया और कितनी पर्यायोंमें तूने जीवन बिताया तथा आज तक कितने संकल्पों और विकल्पोंमें फंसकर स्वको भूलकर—निजकी सुध-बुधको खोकर गडरियेकी भेड़ोंकी तरह हँकता रहा !

अरे महान् पुरुषार्थी !

अब पुरुपार्थ कर। पुरुष बन। जागरूप होकर जाग। चेतनस्वरूप होकर चेत और समझपूर्वक समझ। अपने निजकुटुम्बमें मिलनेका प्रयास कर। तुझे अवश्य सफलता प्राप्त होगी। वह सफलता बाहर नहीं तेरेमे ही है। मृगकस्तूरीकी तरह बाहर मत खोज। अन्दर निरख। शान्त हो। भववासना और पापवासनाओंका अन्त कर। शान्तचित्त और निराकुल दशा तेरा स्वरूप है उसे पहचान। अपनी मस्तीमें मस्त हो जा। खुदमें समा जा। 'दासोऽहं'का विकल्प काटकर 'सोऽहं'से भी आगे बढ़ कर 'अहं'मे गोता लगा। तब ही तू निजमें निजरूप होकर ठहरेगा।

संसारमें भटकते हुए किसी जीवको जब कभी कदाचित्–किसी सत् समागम या गुरुकी मुखारविन्दवाणीमे आत्म-ज्योतिकी झलक आजाती है तब वह जीव आध्यात्मिक कहे, विवेकबुद्धिवाला कहो अथवा स्वरूपमे तल्लीन कहो या सम्यग्दृष्टि कहो आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है।

जब यह जीव सम्यक्दर्शनसे विभूषित होता है तब इसकी दशा ही कुछ अपूर्व होजाती है। इसकी समस्त क्रियायें इसकी समस्त भावनायें ही कुछ अजीब (अद्भुत) होजाती हैं। यह बहिरंगमें सब कुछ करते हुए भी अन्तरंगमें किसीका स्वामित्व नहीं रखता। वह भोजन करता है परन्तु किसीको भी कष्ट न देकर। वह स्त्री-पुत्रादिके मध्यमे रहता है, उनसे स्नेह करता है, उनका सर्व प्रबन्ध एवं सर्व कार्य, करता है फिर भी उसकी मोहबुद्धि नहीं होती, वह अन्तरङ्गमें ज्ञाता-द्रष्टा रहता है। शरीरको शरीर, पर पदार्थोंको पर और अपनेचिन्मात्र चेतनको उनसे भिन्न तथा निज अनुभव करता है। वह संसारके समस्त कार्योंको करता है परन्तु निजउपयोगका ध्यान नहीं छोड़ता। उसका जीवन, उसका व्यवहार, उसकी कार्यकुशलता, उसका सांसारिक प्रेमकुछ विलक्षण ही है। वह खाते हुए भी नहीं खाता, शयन करते हुए भी शयन नहीं करता और विषय भोगते हुए भी विषय नहीं भोगता। वह तो प्रतिसमय आत्मतत्पर—सावधान रहता है। ऐसे ही जीवका आत्मीय कल्याण होता है, क्योंकि जो भी कार्य वह करता है उसका वह स्वामी नहीं बनता, क्योंकि जब भेद-विज्ञानका रसिक होगया, परसे निजको भिन्न जान लिया, फिर वह अन्य पदार्थोंका कर्ता या स्वामी कैसे होसकता है ? जैसे पत्ता जब तक हरा रहता तभी तक वह रस खींचता है—सूख जानेपर रस नहीं खींचता। इसी तरह वह जब तक अन्य कार्योंमें रचता है तभी तक बँधता है। स्वमें रचनेपर नहीं बँधता है।

उसका उपयोग अत्यन्त निर्मल है। हर समय जेलके बन्दीकी तरह विचारता रहता है कि कब मेरा यहाँ

से छुटकारा होगा। जैसे जेलका बन्दी जेलमें समस्त कार्य करता है, अपनी कोठरीको साफ भी करता है और भी अन्य कार्य करता है परन्तु उनमें रचता नहीं। हर समय छूटना ही चाहता है। उसी तरह वह सम्यग्दृष्टि जीव भी संसारमे रहते हुये भी समस्त कार्योंके करते हुए भी अपनी दृष्टि अपनी निज सम्पत्तिकी ओर लगाये हुए रहता है। वह प्रतिसमय जैसे समस्त मसालों सहित भोजन करते हुए भी नोनकी कुछ न्यूनता होनेपर दृष्टि नोनपर ही जाती है उसी तरहसे सब कुछ करते हुए भी अपने निज आत्मतेज-पुञ्जपर ही उपयुक्त रहता है। जैसे कि मिह होती है उसे कूटने-छेतनेपर भी वह अपनी हरियाईको नहीं तजती, परन्तु रचनेपर हरियाईको तजकर लाल हो जाती है उसी तरहसे यह आत्मविभोर प्राणी अपनी निजघटरूपी लालोंमें ही तल्लीन रहता है। यद्यपि बाहरकी हरियाईमें भी वह रहता है परन्तु निजकी लाली इसके घटमें प्रकट होचुकी है इसलिये इसका उपयोग किसी समय भी स्वरूपसे भिन्न नहीं होता।

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य आचार्य श्रीकुन्दकुन्द भगवानने श्रीसमयसारमें कहा है कि सम्यग्दृष्टि निरबन्ध होता है सोई ठीक है।

अरे भैय्या! जिसका अनन्त संसारका बन्ध कट गया क्या वह बन्धवाला कहलायेगा? जिसके सिर परसे अनन्त भार उतर गया—सिर्फ तिल बराबर भार रह गया वह क्या भारवाला कहलायेगा? अरे! जिसके मोहके जहरकी लहर उतर गई वह कहाँका मोही? जिसने भव-वासना और पाप-वासनाओंका अन्त कर दिया उससे ज्यादा सुखिया कौन? इससे जाना जाता है कि वही सम्यग्दृष्टि है, वही समस्त जीवोंको समान देखनेवाला है, वही परमक्षमावान् है, अत्यन्त दयालु है, कृपावान् है, ज्ञानी है, खुद जीता है और दूसरोंको जीने देता है, जिसने मोह-मद-मानादिको चकना-चूर कर दिया है। जो सदैव अलिप्त रहता है वही जीव धर्मी है, सदा संतोषी है, जीतलोभी है। जो समस्त बन्धुओंको बन्धनरहित देखना चाहता है और सदा जागरूप है। निज आत्माका दृढ विश्वासी है, शान्तचित्त है, मौनी है। जो वृथाकी कलहमें नहीं पडता वही सच्चा सुखिया आत्मार्थी आत्म-हितैषी, आत्मयोगी, परमसंयमी, जितेन्द्री और जिनेश्वरका लघु नन्दन है; क्योंकि उसके ज्ञान-ज्योतिका उदय होगया है। वह दुतियाका चन्द्रमा है।

हे आत्मन् अगर तुम संसारके आवागमनसे छूटना चाहते हो तो सच्चे सम्यग्दृष्टि बननेकी कोशिश करो

(पृष्ठ २६० का शेषांश)

होना उसी प्रकार विरुद्ध पडता है जिस प्रकार कि एक परमाणुका युगपत् सर्वगत होना विरुद्ध है, और इससे उक्त हेतु (साधन) असिद्ध है तथा असिद्ध हेतुके कारण कृत्स्नविकल्परूप (निरंश) सामान्यका सर्वगत होना प्रमाणसिद्ध नहीं ठहरता।

'(यदि यह कहा जाय कि सत्तारूप महासामान्य तो पूरा सर्वगत सिद्ध ही है, क्योंकि वह सर्वत्र सत्प्रत्ययका हेतु है, तो यह ठीक नहीं है; कारण?) जो अनन्त व्यक्तियोंके समाश्रयरूप है उस एक (सत्ता-महासामान्य)के ग्राहक प्रमाणका अभाव है—क्योंकि अनन्त सद्व्यक्तियोंके ग्रहण विना उसके विषयमें युगपत् सत् इस ज्ञानकी उत्पत्ति असर्वज्ञों(छद्मस्थों)-के नही बन सकती, जिससे सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वकी सिद्धि हो सके। सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वकी सिद्धि न होनेपर अनन्त समाश्रयी सामान्यका उक्त अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। और इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कृत्स्न-विकल्पी सामान्यकी द्रव्यादिकोंमें वृत्ति सामान्यबहुत्व-का प्रसङ्ग उपस्थित होनेके कारण नही बन सकती। यदि सामान्यकी अनन्त स्वाश्रयोंमें देशतः युगपत् वृत्ति मानी जाय तो वह भी इसीसे दूषित होजाता है; क्योंकि उसका ग्राहक भी कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही सामान्यके सप्रदेशत्वका प्रसङ्ग आता है, जिसे अपने उस सिद्धान्तका विरोध होनेसे जिसमें सामान्यको निरंश माना गया है, स्वीकार नहीं किया जासकता। और इसलिये अमेयरूप एक सामान्य किसी भी प्रमाणसे सिद्ध न होनेके कारण अप्रमेय ही है—अप्रामाणिक है।'

अतिशयक्षेत्र श्रीकुण्डलपुरजी

(लेखक—श्रीरूपचन्द बजाज)

जी० आई० पी० रेलवेके बीना और कटनी जंकशनके मध्य, दमोह स्टेशनसे २४ मील दूर, पटेरा रोडपर कुण्डलाकार उच्च पर्वतमालाओंमें मध्यके शिखरपर, पृथ्वीके गर्भमें, १४०० वर्षकी सभ्यता, संस्कृति और इतिहास छुपाए, समुद्र-सतहसे करीब ३००० फुट ऊँचाईपर, कुण्डलपुर नामक स्थानमें, ३ फुट ऊँचे सिंहासनपर, १२ फुट ऊँचाईके पद्मासन आकारमें ध्यान-मुद्रा लगाए, भगवान महावीर विराजमान हैं और सारे जगतको उपदेश दे रहे हैं कि—

"हे मनुष्य पृथ्वीके क्षणभङ्गुर सुखोंको छोड़। सुख आत्माकी वस्तु है जिसे आत्मध्यानद्वारा ही पाया जा सकता है। यदि सच्चा सुख चाहता है तो आजा मेरे पास और होजा मेरे समान।"

कुण्डलाकार पर्वतमालाओंके मध्य वर्द्धमानसागर नामक सुन्दर सरोवर है, जिसमें किनारे तथा पर्वतोंपर विद्यमान ५८ जिन-मन्दिर प्रतिबिम्बित होते हैं। सौन्दर्यकी श्रेणीमें अद्वितीय तथा विशालकाय पद्मासनप्रतिमाके रूपमें यह स्थान भारतवर्षमें प्रायः प्रथम श्रेणीका है।

दमोहसे श्रीकुण्डलपुरजी तक रास्ता कच्चा होनेके कारण फिलहाल यात्रा बैलगाड़ी, ताँगा और निजी मोटरद्वारा की जाती है, परन्तु शीघ्र ही जनपदसभा तथा राष्ट्रीय सरकारद्वारा पक्का रास्ता बनानेकी योजना कार्यरूपमें परिणत होनेवाली है। तब तो यह अछूता स्थान प्रकाशमें आकर इतिहासकारों तथा प्राकृतिक सौन्दर्य प्रेमियोंके लिये एक आश्चर्यजनक पहेली बन जावेगा।

यहाँपर कई ऐसे स्थान अभी भी विद्यमान हैं जहाँपर खुदाई तथा प्राचीनताकी खोज करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। छठवीं[1] शताब्दीके एक-दो मठ या मन्दिर जीर्णोद्धारके अभावमें मिट्टीके ढेर बन गये हैं तथा उनके निर्माणकाल आदिका पता लगाना बिलकुल ही असम्भव-सा होगया है।

यहाँका छठवीं शताब्दीसे ग्यारहवीं शताब्दी तकका इतिहास अन्धकारमें है। संवत् ११८३की प्रतिष्ठित सिंघई मनसुभाई रैपुरा निवासी द्वारा स्थापित प्रतिमासे फिर हमें कुछ प्रकाश मिलता है जिससे मालूम होता है कि उस समय तक यह स्थान जनसाधारणकी जानकारीमें पूर्णरूपेण था।

इसके पश्चात् ४५० वर्षके इतिहासका कुछ पता नहीं चल रहा है। एक शिलालेख संवत् १५०१का एक मठमें मिलता है तथा उसके बाद सं० १५३२का प्रतिमालेख। इसी सदीकी अनेक प्रतिमा अभी तक स्थित हैं।

बड़े बाबाकी पीछेकी दहलान बन्द है, जिसमें शायद कुछ इतिहास मिलता। बड़े बाबाके नीचे तहखाना भी बन्द है। बड़े बाबाकी बायीं जाँघके ऊपर एक छेद भी था जिसमें रुपया-पैसा डालनेपर वह आवाज करता हुआ अन्दर चला जाता था। इसे अपव्यय समझकर प्रबन्धकोंने बन्द तो कर दिया, परन्तु यह पता लगानेकी आजतक कोशिश नहीं की कि आखिर वह सिक्का जाता कहाँ था? मेरा अनुमान है कि उस छेदका सम्बन्ध तहखानेसे है, तथा

१ अच्छा होता यदि छठवी शताब्दीका साधक कोई आधार यहाँ प्रदर्शित किया जाता; क्योंकि जब 'मठ और मन्दिर मिट्टीके ढेर होगये और उनके निर्माणकाल आदिका पता लगाना बिल्कुल ही असम्भव-सा होगया है' तो यह निर्धारित कैसे किया गया कि वे छठवी शताब्दीके हैं? यदि ऐसा कोई शिलालेखादि प्रमाण उपलब्ध है तो लेखक महाशयको उसे प्रकाशमें लाना चाहिये। —कोठिया

कुण्डलपुरके बड़े बाबा श्रीमहावीरजी

तहखाना खुलवानेपर छठवीं शताब्दीसे आजतकके वे सब सिक्के प्राप्त हो सकते हैं जिनसे यह पता लगाना बिलकुल सरल हो जावेगा कि भारतवर्षमें कौन-कौन शासक यहाँ दर्शनार्थ आचुके हैं और उस समय इस स्थानकी प्रसिद्धि कहाँ-कहाँ तक फैली हुई थी।

श्रीकुण्डलपुरजीसे करीब आधा मील दूर फतेपुर नामक ग्राम है जहाँ रुक्मणीमठ नामक जैनमन्दिरके भग्नावशेष हैं। श्रीकुण्डलपुरजीके जिन-जिन मन्दिरोंमें छठवीं सदीकी जितनी प्रतिमाएँ पाई जाती हैं वे सब ही रुक्मणीमठसे ही लाकर प्रतिष्ठित की गई हैं। चिह्नस्वरूप रुक्मणीमठमें एक पाषाणपर यक्ष-यक्षिणी खजूरके वृक्षके नीचे खड़े हैं और उनके सिरपर पार्श्वनाथ भगवानकी प्रतिमा है। रुक्मणीमठके कुछ अवशेष सड़कके किनारे एक चबूतरेपर पीपलके वृक्षके

नीचे भी रखे हैं।

इतिहासकारोंके सम्मुख एक बड़ी पहेली यह है कि आखिर ऐसी कौनसी बात छठवीं शताब्दीमें या इसके पूर्व यहाँपर घटित हुई जिसके कारण यहाँ बड़े बाबाकी ऐसी विशाल प्रतिमाका निर्माण हुआ। ध्यान रहे कि इस कालमें इस स्थानपर गुप्तशासकोंका शासन था जो जैनधर्मानुयायी भी थे। कुछ इतिहासकार[1] मानते हैं कि यह वही कुण्डलपुर नामक स्थान है जहाँसे अन्तिम श्रुतकेवली श्रीधर स्वामी मोक्ष गये थे और इसलिये यह निर्वाणभूमि होनेके कारण प्राचीन कालसे ही इस तरह पूज्यनीय बना चला आरहा। खैर ! बात जो भी हो, परन्तु निर्णय या अधिकारपूर्वक तभी कुछ कहा जा सकता है जबकि जैन विद्वान भी इस विषयपर एकमत हों। इस क्षेत्रकी बुन्देल-शासकोंके कालमें अधिक उन्नति हुई, यह बात निर्विवाद सिद्ध है और इसके प्रमाणस्वरूप बड़े बाबाके प्रवेश-द्वारपर लगा शिलालेख अब भी विद्यमान है।

सैकडो वर्षोंकी धूप और वर्षाने बड़े बाबाके मन्दिर को न मालूम कब जीर्ण-शीर्ण बना दिया और वह ढहकर एक टीलेका रूप धारण कर चुका जिससे लोग उसे मन्दिर-टीला नामसे सम्बोधित करने लगे। परन्तु उस टीलेमे बड़े बाबा पूर्ण सुरक्षित और अखण्ड बने रहे। मन्दिर-टीला नाम शिलालेखमें मिलता है।

इस प्रकार बड़े बाबाकी वह कीर्ति और यश कुछ समयके लिये आलोप-सा हो गया। उस स्थानपर भीहड़ झाड़ियो वृक्षों और जङ्गली पशुओंका निवास होजानेसे मनुष्यका गमन ही बन्द-सा हो गया। हाँ, कुछ लोग यह जानते रहे कि अमुक ग्राममें मन्दिर-टीले नामक स्थानपर एक विशाल जैन प्रतिमा मौजूद है। इस प्रकार यह प्राचीन मन्दिर करीब २०० वर्ष तक समाधिस्थ बना रहा।

संवत् १७७० या इसके करीब श्रीमूलसंघ बलात्कार गण सरस्वती भक्तविद्याधीश आचार्य श्रीसुरेन्द्रकीर्तिजी कुन्दस्वामी कुन्दकुन्दाचार्यके वंशज अपने शिष्यों सहित इस स्थानपर दर्शन हेतु पधारे। बड़े बाबाके दर्शनसे वे बड़े प्रभावित हुए और उनके शिष्य श्री सुचन्द्रगणिजीने मन्दिरके जीर्णोद्धारके हेतु भिक्षा माँगनेकी आज्ञा गुरुसे ली। आप मन्दिरजीका कुछ हिस्सा ही बनवा पाये थे कि दैवदुर्विपाकसे आपकी आयु पूर्ण होगई तब उनके सच्चे मित्र नमिसागरजी ब्रह्मचारीने इस अधूरे कार्यको पूर्ण करनेका बीडा उठाया।

इसी समय बुन्देलखण्डगौरव शूर-वीर-सम्राट् छत्रसाल मुगल-आततायियों द्वारा सताए हुये अपनी राजधानी पन्ना छोड़कर मारे-मारे इधर-उधर सहायता और अपना राज्य वापिस लेनेके प्रयत्नमें फिर रहे थे। मनुष्यका जहाँ वश नहीं चलता वहाँ वह अपनेको भगवानके बलपर छोड़ देता है। यही हाल महाराजाधिराज छत्रसालका हुआ। वे बड़े बाबाके दरबारमें आए। नमिसागरजी ब्रह्मचारीसे उनकी भेंट हुई। ब्रह्मचारीजीने उनके सामने भी मन्दिरजीकी मरम्मतके लिये हाथ फैला दिये। परन्तु सम्राट् लाचार थे। वे खुद ही विपत्तिके मारे फिर रहे थे। तो भी सम्राट्ने साहस बटोर कर प्रतिज्ञा की कि यदि मैं पुनः अपना राज्य वापिस पाऊँ तो इस मन्दिरजीका जीर्णोद्धार कोषकी तरफसे करा दूँगा।

आप इसे अतिशय कहिये या सम्राट्का पुण्योदय कि उन्हें फिरसे अपना राज्य वापिस मिल गया। वे अपनी प्रतिज्ञा नहीं भूले और शाही-कोषसे मन्दिरजीका जीर्णोद्धार कार्य शुरू होगया। साथ ही मध्यस्थित तालाबके चारों ओर घाट बनवाए जाने लगे। संवत् १७५७ मघा नक्षत्र माघ सुदी १५ सोमवारको जीर्णोद्धार कार्य पूर्ण हुआ।

इस अवसरपर महाराजाधिराज छत्रसाल मन्दिरजीकी प्रतिष्ठा हेतु स्वयं श्रीकुण्डलपुरजी पधारे। उन्होंने बड़े बाबाकी पूजन की और द्रव्य, वर्तन तथा सोने-चाँदीके चमर-छत्र भी भेंट किये। उनका दिया पीतलका एक थाल (कोपर) अब भी श्रीकुण्डलपुरजी

---

१ जिनकी यह मान्यता है उनमेंसे एक दोके नाम यहाँ प्रकट कर दिये जाते तो अच्छा होता। —कोठिया

के भण्डारमें मौजूद है। उन्होंने उस स्थानका नाम परिवर्तनकर वहाँकी कुण्डलाकार पर्वत-श्रेणियोंके आधारपर श्रीकुण्डलपुरजी रखा और तालाबका नाम वर्द्धमानसागर। तबसे पुनः बाबाकी ख्याति बढ़ने लगी और धीरे-धीरे यह स्थान जनसाधारणकी जानकारीमें फिरसे आगया। श्रीकुण्डलपुरजीके आस-पासके ग्रामीणोंने भगवान महावीरकी इस विशाल-काय जैनप्रतिमाको बड़े बाबाके सुन्दर नामसे सम्बोधन करना शुरू कर दिया। इस जीर्णोद्धारकी तिथिकी स्मृतिस्वरूप सम्राट्की आज्ञासे माह सुदी ११से १५ तक प्रतिवर्ष यहाँ विशाल मेला भरने लगा जिसका प्रबन्ध राज्यकी तरफसे रहता था। आज भी मेलेमें जैन और अजैन आकर बड़े बाबाके दर्शनकर अपनी भक्ति प्रकट करते और पुण्य लाभ उठाते हैं।

बुन्देलखण्डको इस प्राकृतिक सौन्दर्यपूर्ण महान् क्षेत्रके अपनी गोदमें होनेका अभिमान है। मन्दिरजीके प्रवेशद्वारपर जिनशासनरक्षकदेवता क्षेत्रपाल भी वृहताकारमें उसीसमयसे स्थित हैं जबसे कि बड़े बाबा।

संवत् २०००से श्रीकुण्डलपुरजी क्षेत्रपर बड़े बाबा का एकाधिपत्य होगया है। इस क्षेत्रका प्रबन्ध जनतन्त्रीय कमेटीद्वारा होता है। क्षेत्रमें यात्रियोंकी सुविधा हेतु विशाल धर्मशालाएँ बन गई हैं। क्षेत्रका प्रबन्ध सुव्यवस्थित होनेपर भी अर्थाभावके कारण यहाँ जीर्णोद्धार कार्य इतना पड़ा हुआ है कि यदि लाखों रुपया भी खर्च किया जावे तो थोड़ा होगा फिर भी जीर्णोद्धार बारहमासी-चालू ही बना रहता है।

शिमलाका पर्यूषणपर्व

इस वर्ष शिमला-जैनसभाके मन्त्री लाला जिनेश्वरप्रसादजी जैनके निमंत्रण और प्रेमपूर्ण आग्रह पर मैं पर्यूषणपर्वमें शिमला गया था। ६ सितम्बरको चलकर ७ सितम्बरको सुबह ८-२० पर शिमला पहुंचा स्टेशनपर उतर कर रिम-झिम वर्षा, कुहर और महान् पर्वतीय दृश्योंका अवलोकन करता हुआ जैनधर्मशाला पहुंचा, जहाँ जैन-अजैन सभी यात्रियोंके ठहरनेकी बड़ी ही अच्छी सुख-सुविधा तथा व्यवस्था है।

शिमलामें रात्रिको ७½ बजेसे १० बजे तक शास्त्र-प्रवचन होता है। दिनमे प्रायः सभी धर्मबन्धुओंके ऑफिसोंमें कामपर जानेके कारण उक्त समय ही धर्म-चर्चाके लिये वहाँ उपयोगी होता है। पञ्चमीसे द्वादशी तक मेरेद्वारा शास्त्र-प्रवचनादि होता रहा। त्रयोदशीको अस्वस्थ हो जानेपर अन्तिम दोनों दिन शास्त्रप्रवचन ला० मिहरचन्दजी खजाञ्ची इम्पीरियलबैंकने किया।

चतुर्दशीको दिनमें ३ बजे एक आम सभा की गई जिसके अध्यक्ष बा० मन्नलालजी देहली थे। जैनधर्म की विशेषताओंपर मेरा करीब एक घण्टा भाषण हुआ। मेरे बाद सोनपतके एक धर्मबन्धु और उनकी धर्मपत्नीके भी भाषण हुए। अन्तमें ला० जिनेश्वर-प्रसादजीने सभाकी वार्षिक रिपोर्ट सुनाई।

पर्यूषणपर्वके प्रसङ्गसे शिमलाके कई अपरिचित उत्साही और लगनशील युवकबन्धुओंसे परिचय हुआ। इनमें बा० अयोध्याप्रसादजी, ला० जिनेश्वरप्रसादजी, निरञ्जनलालजी, पं० बालचन्दजी, डॉ० एस० सी० जैन आदिके नाम उल्लेखनीय है। इनकी शक्ति और उत्साहसे सभाको पूरा लाभ उठाना चाहिये।

शिमला अखिल भारतवर्षीय और पञ्जाब गवर्नमेण्टकी प्रवृत्तियोंका महत्वपूर्ण स्थान है। दूर-दूरसे सहस्रों व्यक्ति उसे देखनेके लिये जाते हैं जो प्रायः शिक्षित ही होते हैं, उनमें जैनधर्मके ज्ञानकी अभिरुचि पैदा कर जैन-साहित्य और जैन-धर्मका अच्छा प्रचार किया जा सकता है। अतः सभाका ध्यान निम्न तीन कार्योंकी ओर आकर्षित कर रहा हूँ—

१. जैन-लायब्रेरीकी स्थापना, जिसमें प्रचारयोग्य जैन-साहित्यके अलावा जैन-ग्रन्थोंका वृहत् संग्रह हो।

२. जैनकॉलोनी, जहाँ बाहरसे कामके लिये आये हुए जैन बन्धुओंको किरायेपर स्थान मिल सके।

३. जैन-पाठशालाकी स्थापना, इसके द्वारा स्थानीय बालक-बालिकाओंको जैनधर्म तथा अन्य विषयोंकी स्वच्छ वातावरणमें शिक्षा दी जा सकेगी।

४-१०-१९४८, —कोठिया।

सम्पादकीय

दि विहार रिलिजियस ट्रस्ट बिल और जैन—

स्वाधीन भारतकी प्रान्तीय सरकारोंका ध्यान अब धार्मिक सम्पत्तिकी ओर आकृष्ट हुआ है। बम्बई सरकारने टेंदुलकर कमेटी बैठाई है जो आज जनता का मत प्राप्तकर, उनकी सुविधाओंको ध्यानमें रखकर कानून बनाया जाय, परन्तु बिहार सरकारने तो जन-मत लेना आवश्यक न समझकर सीधा बिल ही तैयार करवा डाला जो कानूनका रूप धारण करने जारहा है प्रथम अधिकार स्वीकार करनेपर ही इसका निर्माण कॉंग्रेस सरकारने किया था पर जैनोंके तीव्र विरोधके कारण या तो राजनैतिक या भूमण्डल प्रतिकूल होनेसे यह उसे पास न करा सकी, १९४७ में पुनः यह समस्या खड़ी करदी गई है। इसकी प्रतिलिपि हमारे सम्मुख है। इसपर सूक्ष्मतासे दृष्टिपात करनेसे अवगत होता है कि सरकार "बिहार प्रान्तीय धार्मिक ट्रस्टों का एक मण्डल" स्थापित करना चाहती है। जो एक ओर बिहार सरकार और दूसरी ओर धार्मिक सम्पत्ति के व्यवस्थापकके बीच अधिकारी, उत्तरदायित्वपूर्ण एजेंटके रूपमें काम करेगा, इस प्रकार अधिकारी मण्डल बनेगा, जिसका प्रधान कार्य होगा धार्मिक ट्रस्टोंपर सरकारकी ओरसे निगरानी रखना और सरकारकी ओरसे उन्हे समय समयपर सलाह देते रहना, यहॉंपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सरकार को किन परिस्थितियोंने कानून बनानेको बाध्य किया ? क्योंकि पश्चात् भूमिकाको समझ लेनेसे कार्य आसान होजाता है और विरोधकी गुंजायश भी कम रहती है हमारी समझमें तो यही आता है कि आज हिन्दू मन्दिर मठ और तीर्थ स्थानोंमें महंतों, पंडो और तथाकथित व्यवस्थापको द्वारा जनता द्वारा प्रदत्त धार्मिक सम्पत्तिका जैसा दुरुपयोग होता है उसे देखकर कँपन हो आता है। अचिंतित अनिष्ट तक हुआ करते हैं, यदि इस सम्पत्तिकी समुचित व्यवस्था हो तो जानतिक सम्पत्तिका सदुपयोग हो और स्वतन्त्र भारत जो अपना सांस्कृतिक उत्थान अतिशीघ्र करने जारहा है उसमें भी कुछ मदद मिले, ऐसे ही कारणों के वशीभूत होकर शायद सरकारने कथित सम्पत्तिकी सद्व्यवस्थाके लिये ही कानून बनाया हो, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, ट्रस्टियोकी लापरवाहीने ही कानून बनानेका सरकारको एक प्रकारसे मौन निमन्त्रण दिया, कोई भी सुसंस्कृत हिन्दू इसका सहर्ष स्वागत करेगा।

बिल १६ प्रकरण ८० धाराएँ तथा सामान्य या विशेष कई धाराओंमें विभाजित है। प्रथम प्रकरणकी दूसरी धारामें हिन्दूकी जो व्याख्याएँ दी हैं उनमें जैन बौद्ध और सिखोंको भी सम्मिलित कर लिया है, जो सर्वथा अनुचित और न्याय सङ्गत नहीं है। जैनोके धार्मिक स्थानो और व्यवस्थापकोंमें हिन्दुओं जैसी अव्यवस्था नहीं है। जैनी धार्मिक सम्पत्ति—देवद्रव्यको अत्यन्त पवित्र मानकर उनका उपयोग फिर कभी सामाजिक कार्योंमें नहीं करते, ऐसी स्थितिमें गेहूंके साथ घुन पीसने जैसी कहावत चरितार्थ करना सरकारके लिये शोभास्पद नहीं। सांस्कृतिक और सैद्धान्तिक दृष्टियोंसे हिन्दुओंसे जैन सर्वथा प्रथक हैं— आकाश-पातालका अन्तर है। गत ८ अप्रैल को अखिल भारतवर्षीय जैन-प्रतिनिधि-मण्डल इसके विरोधमें बिहार सरकारके प्रधानमन्त्री श्री कृष्णसिंह और विकास मन्त्री श्री डॉ० सैयदमहमूदसे मिला था, आप लोगोंने आश्वासन दिया है। प्रतिनिधि मण्डलमें बाबू इन्द्रचन्दजी सुचन्ती (बिहारशरीफ) और बाबू मेघराज मोदीने अच्छा भाग लिया, सारा यश इन

दोनों तथा बाबू मङ्गलचन्दजी सा० झाबकको मिलना चाहिये। अब पुनः ६ सितम्बरको जब धारासभा खुलेगी तब यह बिल उपस्थित किये जानेकी संभावना है इस प्रसङ्गपर जैनोंको विरोध करना चाहिये। यदि बिल जैनोंपर लागू हुआ तो जैनोंकी जो धार्मिक स्वतन्त्रता है वह सदाके लिये नष्ट हो जायगी, कारण कि बोर्डको जो अधिकार दिये गये हैं वे जैनोंके लिये घातक हैं। उदाहरणके लिये बोर्डमें जैन तो एक सदस्य रहेगा और सरकारी ११ रहेंगे. काम बहुमतसे होंगे और जिस मन्दिरमें अधिक सम्पत्ति है उसका परिवर्तन भी संभव है। ऐसी परिस्थितिमें जैनोंको बड़ा नुकसान उठाना पड़ेगा. अतः क्यों नहीं सारे भेदभाव भुलाकर एक स्वरसे सरकारका विरोध करते। मुझे अपने धार्मिक और सामाजिक ट्रस्टोंके ट्रस्टियोंसे भी दो बातें कहनी हैं। मान लीजिये कि जैनी उपरि कथित कानूनसे पृथक् होगये तो इसका अर्थ यह न होना चाहिये कि आप अपनी दुर्व्यवस्थाकी परम्पराके प्रवाह-को आगे बढ़ाते जायें। यह बड़ी भूल होगी. तीर्थस्थानोंके रुपयोंका उपयोग यदि अन्य प्राचीन जैन मन्दिरोंके जीर्णोद्धारमें व्यय हो तो क्या बुरा है? बिहारकी ही मैं बात करूँगा, उदाहरण रूपमें मैंने यहाँकी कलापूर्ण प्रतिमाएँ देखीं। मेरा विचार था कि यदि पावापुरी भण्डारसे इनका एक सचित्र आल्बम निकल जाय तो कितना अच्छा हो। साथमें बिहार-प्रान्तीय जैन-संस्कृतिके इतिहासको आलोकित करनेवाली कुछ पंक्तियाँ भी रहें. पर मुझे दुःख है कि यह सांस्कृतिक विकासकी बात भी उनकी समझमें नहीं आई यदि आई है तो क्यों नहीं उसे क्रियान्वित करते? यह तो हुई धार्मिक ट्रस्टकी बात। दूसरी बात यह है कि पटना में स्व० सुराना किसनचन्द जौहरीने १९३४ मार्चमें एक 'जैन श्वेताम्बर सुकृत फण्ड' स्थापित किया था, उनके वसीयतनामामें लिखा है पाठशाला, अनाथालय और बहनोंको सहायता करना। ट्रस्टकी मूल सम्पत्ति १ लाख २५ हजारसे भी अधिक है। इसके ब्याजसे ही यदि काम किया जाय तो बिहार-प्रान्तमें जैनधर्म और संस्कृतिकी ज्योति जलाई जासकती है। स्व० जौहरीजीका तो यही ध्यान था, पर आज तक कुछ भी काम नहीं हुआ। न जाने कुछेक ट्रस्टी लोग अपने परिवारवालोंके साथ क्या-क्या कर रहे हैं। आज जैन जनता इसे सहायता कर उन्नत बनाना चाहती है तो वे सहायता इसलिये नहीं लेते कि उनको हिसाब पेश करना पड़ेगा। सामाजिक सम्पत्तिका मनमाना उप-योग करना मूर्खताकी पराकाष्ठा है। जनताको हिसाब न बताना, ऐसे ट्रस्टोंकी व्यवस्थासे जैन युवक स्वाभा-विक रूपसे क्षुब्ध रहते हैं। मैंने तो केवल दो उदाहरण ही दिये हैं। न जाने कितने जैनट्रस्टोंकी भी वैसी ही दुरवस्था होगी। समयका तकाजा है कि अधिकारीगण अब अपनेको वह सम्पत्तिका स्वामी न समझें, बल्कि जनताका सेवक समझें, वरना आगामी युगका वायु-मण्डल उनके सर्वथा प्रतिकूल होगा।

प्रान्तमें हम सूचित करते हैं कि बिलका विरोध किया जाय उसकी प्रति सेठ मङ्गलचन्द शिवचन्द चौक सिटीके पतेपर सूचना दें।

ता० २६ को मैं बिहारसरकारके अर्थसचिव श्रीअनुग्रहनारायणसे मिला था जैनसंस्कृतिकी दृष्टि से मैंने उनको समझाया कि जैन पृथक् ही रखे जायें। आपने कहा कैबिनेटमें मैं आपके विचार उपस्थित करूँगा, आप निश्चिन्त रहें मुझसे बनेगा उतना मैं करूँगा। मेरा तो विश्वास है कि वे अवश्य जैनोंको बिलसे पृथक् रखेंगे।

२९-९-४८ मुनि कान्तिसागर
पटना सिटी

Regd. No. A-731

प्रकाशक—प० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये आशाराम खत्री द्वारा गेंगल प्रेस महालक्ष्मीमें मुद्रित

अनेकान्त

भाद्रपद, संवत् २००५ :: सितम्बर, सन् १९४८

वर्ष ९

किरण ९

विधिका विधान

१

जीवनकी औ' धनकी,
आशा जिनके सदा लगी रहती ।
विधिका विधान सारा,
उनहीके अर्थ होता है ॥

२

विधि क्या कर सकता है,
उनका जिनकी निराशता आशा ?
भय-काम-वश न होकर,
जगमे स्वाधीन रहते जो ॥

'युगवीर'

★

प्रधान सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

सह सम्पादक
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
डालमियानगर (विहार)

★

★

सञ्चालक व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

★
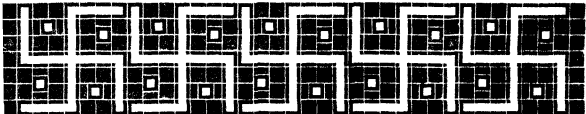
भारतके प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू

तेरी वर्षगाँठ पर गाँठें
लगें और गाँठें खुल जायें

बन्ध - मोक्षके सम्मिश्रणसे
जीवन-तन्तु नया बल पायें

१४ नवम्बरको आपकी देश-विदेशमे सर्वत्र ६०वीं वर्षगाँठ मनाई गई

विषय-सूची

ॐ अर्हम्

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	सितम्बर
किरण ९	भाद्रपदशुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७४, विक्रम-संवत २००५	१९४८

कामना

परमागमका बीज जो, जैनागमका प्राण ।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत्-कल्याण ॥१॥
'अनेकान्त'-रवि-किरणसे, तम-अज्ञान-विनाश ।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥२॥
कुनय-कदाग्रह ना रहे, रहे न मिथ्याचार ।
तेज देख भागें सभी, दम्भी-शठ-बटमार ॥३॥
सूख जायं दुर्गुण सकल, पोषण मिले अपार ।
सद्भावोंको लोकमें, हो विकसित संसार ॥४॥
शोधन-मथन विरोधका, हुआ करे अविराम ।
प्रेम-पगे रल-मिल सभी, करें कर्म निष्काम ॥५॥

युगवीर

मेरी द्रव्यपूजा

कृमि-कुल-कलित नीर है, जिसमें मच्छ-कच्छ-मेंडक फिरते,
है मरते औ' वहीं जनमते, प्रभो ! मलादिक भी करते ।
दूध निकालें लोग छुड़ाकर बच्चेको पीते पीते,
है उच्छिष्ट-अनीतिलब्ध, यो योग्य तुम्हारे नहिं दीखें ॥ १ ॥
दही-घृतादिक भी वैसे है कारण उनका दूध यथा;
फूलोंको भ्रमरादिक सूँघें, वे भी है उच्छिष्ट तथा ।
दीपक तो पतङ्ग-कालाऽनल जलते जिनपर कीट सदा,
त्रिभुवनसूर्य ! आपको अथवा दीप-दिखाना नहीं भला ॥ २ ॥
फल-मिष्टान्न अनेक यहाँ, पर उनमे ऐसा एक नहीं,
मल-प्रिया मक्खीने जिसको आकर, प्रभुवर ! छुआ नहीं ।
यों अपवित्र पदार्थ, अरुचिकर, तू पवित्र सब गुणघेरा;
किस विधि पूजूँ ? क्या हि चढ़ाऊँ ? चित्त डोलता है मेरा ॥ ३ ॥
औ' आता है ध्यान, 'तुम्हारे क्षुधा-तृषाका लेश नहीं,
नाना रस-युत अन्न-पानका, अतः प्रयोजन रहा नहीं ।
नहिं वाँछा, न विनोद-भाव, नहिं राग-अंशका पता कहीं,
इससे व्यर्थ चढ़ाना होगा, औषध-सम, जब रोग नहीं' ॥ ४ ॥
यदि तुम कहो 'रत्न-वस्त्रादिक-भूषण क्यों न चढ़ाते हो
अन्यसदृश, पावन है, अर्पण करते क्यों सकुचाते हो' ।
तो तुमने निःसार समझ जब खुशी खुशी उनको त्यागा,
हो वैराग्य-लीन-मति, स्वामिन ! इच्छाका तोड़ा तागा ॥ ५ ॥
तब क्या तुम्हे चढ़ाऊँ वे ही, करूँ प्रार्थना 'ग्रहण करो' ?
होगी यह तो प्रकट अज्ञता तव-स्वरूपकी, सोच करो ।
मुझे धृष्टता दीखे अपनी और अश्रद्धा बहुत बड़ी,
हेय तथा संत्यक्त वस्तु यदि तुम्हें चढ़ाऊँ घड़ी-घड़ी ॥ ६ ॥
इससे 'युगल' हस्त मस्तकपर रखकर नम्रीभूत हुआ,
भक्ति-सहित मैं प्रणमूँ तुमको, बारबार, गुण-लीन हुआ ।
संस्तुति शक्ति-समान करूँ औ' सावधान हो नित तेरी;
काय-वचनकी यह परिणति ही अहो ! द्रव्यपूजा मेरी ॥ ७ ॥
भाव-भरी इस पूजासे ही होगा आराधन तेरा,
होगा तव-सामीप्य प्राप्त औ' सभी मिटेगा जग-फेरा ॥
तुझमे मुझमें भेद रहेगा नहि स्वरूपसे तब कोई,
ज्ञानानन्द-कला प्रकटेगी, थी अनादिसे जो खोई ॥ ८ ॥

वीरसेवामन्दिर, सरसावा — जुगलकिशोर मुख्तार

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने
युक्त्यनुशासन

नाना-सदेकात्म-समाश्रयं चेद्-
अन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनोः क्व ।
विकल्प - शून्यत्वमवस्तुनश्चे त्-
तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥५५॥

'नाना सतों–सत्पदार्थोंका—विविध द्रव्य-गुण-कर्मोंका—एक आत्मा—एक स्वभावरूप व्यक्तित्व; जैसे सदात्मा, द्रव्यात्मा, गुणात्मा अथवा कर्मात्मा—ही जिसका समाश्रय है ऐसा सामान्य यदि (सामान्य वादियोंके द्वारा) माना जाय और उसे ही प्रमाणका विषय बतलाया जाय अर्थात् यह कहा जाय कि सत्ता-सामान्यका समाश्रय एक सदात्मा, द्रव्यत्वसामान्यका समाश्रय एक द्रव्यात्मा, गुणत्वसामान्यका समाश्रय एक गुणात्मा अथवा कर्मत्व सामान्यका समाश्रय एक कर्मात्मा जो अपनी एक सद्व्यक्ति, द्रव्य-व्यक्ति, गुणव्यक्ति अथवा कर्मव्यक्तिके प्रतिभास-कालमें प्रमाणसे प्रतीत होता है वहाँ उससे भिन्न द्वितीयादि व्यक्तियोंके प्रतिभास-कालमे भी अभि-व्यक्तताको प्राप्त होता है और जिससे उसके एक सत् अथवा द्रव्यादिस्वभावकी प्रतीति होती है, इतने मात्र आश्रयरूप सामान्यके ग्रहणका निमित्त मौजूद है अतः वह प्रमाण है, उसके अप्रमाणता नहीं है, क्योंकि अप्रमाणता अनन्तस्वभावके समाश्रयरूप सामान्यके घटित होती है, तो ऐसी मान्यतावाले सामान्यवादियोंसे यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य अपने व्यक्तियोंसे अन्य (भिन्न) है या अनन्य (अभिन्न) ? यदि वह एक स्वभावके आश्रय-रूप सामान्य अपने व्यक्तियोंसे सर्वथा अन्य (भिन्न) है तो उन व्यक्तियोंके प्रागभावकी तरह असदात्म-कत्व, अद्रव्यत्व, अगुणत्व अथवा अकर्मत्वका प्रसंग आएगा और व्यक्तियोंके असदात्मकत्व, अद्रव्यत्व, अगुणत्व अथवा अकर्मत्व-रूप होनेपर सत्सामान्य, द्रव्यत्वसामान्य, गुणत्वसामान्य अथवा कर्मत्वसामान्य भी व्यक्तित्वविहीन होनेसे अभाव-मात्रकी तरह असत् ठहरेगा, और इस तरह व्यक्ति तथा सामान्य दोनोंके ही अनात्मा—अस्तित्वविहीन—होनेपर वह अन्यत्वगुण किसमें रहेगा जिसे अद्विष्ठ—एकमें रहने वाला—माना गया है ? किसीमें भी उनका रहना नहीं बन सकता और इसलिए अपने व्यक्तियोंसे सर्वथा अन्यरूप सामान्य व्यवस्थित नहीं होता ।'

'यदि वह सामान्य व्यक्तियोंसे सर्वथा अनन्य (अभिन्न) है तो वह अनन्यत्व भी व्यवस्थित नहीं होता; क्योंकि सामान्यके व्यक्तिमें प्रवेश कर जानेपर व्यक्ति ही रह जाती है—सामान्यकी कोई अलग सत्ता नहीं रहती और सामान्यके अभावमें उस व्यक्तिकी संभावना नहीं बनती इसलिए वह अनात्मा ठहरती है, व्यक्तिका अनात्मत्व (अनस्तित्व) होनेपर सामान्यके भी अनात्मत्वका प्रसंग आता है और इस तरह व्यक्ति तथा सामान्य दोनों ही अनात्मा (अस्तित्व-विहीन) ठहरते है; तब अनन्यत्व-गुणकी योजना किसमें की जाय, जिसे द्विष्ठ (दोनोंमें रहने वाला) माना गया है ? किसीमें भी उसकी योजना नहीं बन सकती । और इसके द्वारा सर्वथा अन्य-अनन्य-रूप उभय-एकान्तका भी निरसन हो जाता है; क्योंकि उसकी मान्यतापर दोनों प्रकारके दोषोंका प्रसंग आता है ।'

'यदि सामान्यको (वस्तुभूत न मान कर) अवस्तु (अन्याऽपोहरूप) ही इष्ट किया जाय और उसे विकल्पोंसे शून्य माना जाय—यह कहा जाय कि उसमें

खरविषाणकी तरह अन्यत्व-अनन्यत्वादिके विकल्प ही नहीं बनते और इसलिए विकल्प उठाकर जो दोष दिये गये हैं उनके लिए अवकाश नहीं रहता—तो उस अवस्तुरूप सामान्यके अमेय होनेपर प्रमाणकी प्रवृत्ति कहाँ होती है? अमेय होनेसे वह सामान्य प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणका विषय नहीं रहता और इसलिए उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।'

(इस तरह दूसरोंके यहाँ प्रमाणाभावके कारण किसी भी सामान्यकी व्यवस्था नहीं बन सकती।)

व्यावृत्ति-हीनाऽन्वयतो न सिद्धयेद्
विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम्।
अतद्व्युदासाऽभिनिवेश-वादः
पराभ्युपेताऽर्थ-विरोध-वादः ॥५६॥

'यदि साध्यको—सत्तारूपपर सामान्य अथवा द्रव्यत्वादिरूप अपरसामान्यको—व्यावृत्तिहीन अन्वय से—असत्की अथवा अद्रव्यत्वादिकी व्यावृत्ति (जुदागी)के बिना केवल सत्तादिरूप अन्वय हेतुसे—सिद्ध माना जाय तो वह सिद्ध नहीं होता—क्योंकि विपक्ष-की व्यावृत्तिके बिना सत्-असत् अथवा द्रव्यत्व-अद्रव्यत्वादिरूप साधनोंके संकरसे सिद्धिका प्रसंग आता है और यह कहना नहीं बन सकता कि जो सदादिरूप अनुवृत्ति (अन्वय) है वही असदादिकी व्यावृत्ति है, क्योंकि अनुवृत्ति (अन्वय) भाव-स्वभाव-रूप और व्यावृत्ति अभाव-स्वभावरूप है और दोनोंमें भेद माना गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सदादिके अन्वय पर असदादिककी व्यावृत्ति सामर्थ्यसे ही हो जाती है, क्योंकि तब यह कहना नहीं बनता कि व्यावृत्तिहीन अन्वयसे उस साध्यकी सिद्धि होती है, सामर्थ्यसे असदादिककी व्यावृत्तिको सिद्ध माननेपर तो यही कहना होगा कि वह अन्वयरूप हेतु असदादिकी व्यावृत्तिसहित है, उसीसे सत्सा-मान्यकी अथवा द्रव्यत्वादि सामान्यकी सिद्धि होती है। और इसीलिए उस सामान्यके सामान्य विशेषा-त्मत्वकी व्यवस्थापना होती है।'

'यदि इसके विपरीत अन्वयहीन व्यावृत्तिसे साध्य जो सामान्य उसको सिद्ध माना जाय तो वह भी नहीं बनता—क्योंकि सर्वथा अन्वयरहित अतद्-व्यावृत्ति-प्रत्ययसे अन्यापोहकी सिद्धि होनेपर भी उसकी विधिकी असिद्धि होनेसे—उस अर्थक्रिया-रूप साध्यकी सिद्धिके अभावसे—उसमें प्रवृत्तिका विरोध होता है—वह नहीं बनती। और यह कहना भी नहीं बनता कि दृश्य और विकल्प्य दोनोंके एकत्वाऽध्यवसायसे प्रवृत्तिके होनेपर साध्यकी सिद्धि होती है; क्योंकि दृश्य और विकल्प्यका एकत्वा-ध्यवसाय असम्भव है। दर्शन उस एकत्वका अध्य-वसाय नहीं करता, क्योंकि विकल्प्य उसका विषय नहीं है। दर्शनकी पीठपर होनेवाला विकल्प भी उस एकत्वका अध्यवसाय नहीं करता, क्योंकि दृश्य विकल्पका विषय नहीं है और दोनोंको विषय करनेवाला कोई ज्ञानान्तर सम्भव नहीं है, जिससे एकत्वा-ध्यवसाय हो सके और एकत्वाध्यवसायके कारण अन्वयहीन व्यावृत्तिमात्रसे अन्यापोहरूप सामान्यकी सिद्धि बन सके। इस तरह स्वलक्षणरूप साध्यकी सिद्धि नहीं बनती।'

'यदि यह कहा जाय कि अन्वय और व्यावृत्ति दोनोंसे हीन जो अद्वितयरूप हेतु है उससे सन्मात्रका प्रतिभास न होनेसे सत्ताद्वैतरूप सामान्यकी सिद्धि होती है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वथा अद्वितयकी मान्यतापर साध्य-साधनकी भेदसिद्धि नहीं बनती और भेदकी सिद्धि न होनेपर साधनसे साध्यकी सिद्धि नहीं बनती और साधनसे साध्यकी सिद्धिके न होनेपर अद्वितय-हेतु विरुद्ध पड़ता है।'

'यदि अद्वितयको संवित्तिमात्रके रूपसे मानकर असाधनव्यावृत्तिसे साधनको और असाध्यव्यावृत्तिसे साध्यको अतद्व्युदासाभिनिवेशवादके रूपमें आश्रित किया जाय तब भी (बौद्धोंके मतमें) पराभ्युपेतार्थके विरोधवादका प्रसङ्ग आता है; अर्थात् बौद्धोंके द्वारा संवेदनाद्वैतरूप जो अर्थ पराभ्युपगत है वह अतद्-व्युदासाभिनिवेशवादसे—अतद्व्यावृत्तिमात्र आग्रह-वचनरूपसे—विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि किसी असाधन

तथा असाध्यके अर्थाभावमें उनकी अव्यावृत्तिसे साध्य-साधन-व्यवहारकी उपपत्ति नहीं बनती और उनको अर्थ माननेपर प्रतिक्षेपका योग्यपना न होनेसे द्वैतकी सिद्धि होती है। इस तरह बौद्धोंके पूर्वाभ्युपेत अर्थके विरोधवादका प्रसङ्ग आता है।'

अनात्मनाऽनात्मगतेरयुक्ति-
र्वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्ष-सिद्धिः।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्ष-सिद्धिः
न च स्वयं साधन-रिक्त-सिद्धिः ॥५७॥

'(यदि बौद्धोंके द्वारा यह कहा जाय कि वे साधनको अनात्मक मानते हैं, वास्तविक नहीं और साध्य भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह संवृतिके द्वारा कल्पिताकाररूप है अतः पराभ्युपेतार्थके विरोधवादका प्रसङ्ग नहीं आता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) अनात्मा—निःस्वभाव संवृतिरूप तथा असाधनकी व्यावृत्तिमात्ररूप—साधनके द्वारा उसी प्रकारके अनात्मसाध्यकी जो गति-प्रतिपत्ति (जानकारी) है उसकी सर्वथा अयुक्ति-अयोजना है—वह बनती ही नहीं।'

'यदि (संवेदनाद्वैतरूप) वस्तुमें अनात्मसाधनके द्वारा अनात्मसाध्यकी गतिकी अयुक्तिसे पक्षकी सिद्धि मानी जाय—अर्थात् संवेदनाद्वैतवादियोंके द्वारा यह कहा जाय कि साध्य-साधनभावसे शून्य संवेदनमात्रके पक्षपनेसे ही हमारे यहाँ तत्त्वसिद्धि है तो (विकल्पिताकार) अवस्तुमें साधन-साध्यकी अयुक्तिसे प्रतिपक्षकी—द्वैतकी—भी सिद्धि ठहरती है। अवस्तुरूप साधन अद्वैततत्त्वरूप साध्यको सिद्ध नहीं करता है, क्योंकि ऐसा होनेसे अतिप्रसङ्ग आता है—विपक्षकी भी सिद्धि ठहरती है।'

'और यदि साधनके विना स्वतः ही संवेदनाद्वैतरूप साध्यकी सिद्धि मानी जाय तो वह युक्त नहीं है—क्योंकि तब पुरुषाद्वैतकी भी स्वयं सिद्धिका प्रसङ्ग आता है, उसमें किसी भी बौद्धको विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।'

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः
स्वमूर्ध्नि निर्भेद-भयाऽनभिज्ञैः।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता
मुने! भवच्छासन-दृक्-प्रमूढैः ॥५८॥

'(इस तरह) हे वीर भगवन्! जिन वैतण्डिकोंने—परपक्षके दूषणकी प्रधानता अथवा एकमात्र धुनको लिये हुए संवेदनाद्वैतवादियोंने—कुसृतिका—कुत्सिता गति-प्रतीतिका—प्रणयन किया है उन आपके (स्याद्वाद) शासनकी दृष्टिसे प्रमूढ एवं निर्भेदके भयसे अनभिज्ञ जनोंने (दर्शनमोहके उदयसे आक्रान्त होनेके कारण) परघातक परशु-कुल्हाड़ेको अपने ही मस्तकपर मारा है!! अर्थात् जिस प्रकार दूसरेके घातके लिये उठाया हुआ कुल्हाड़ा यदि अपने ही मस्तकपर पड़ता है तो अपने मस्तकका विदारण करता है और उसको उठाकर चलानेवाले अपने घातके भयसे अनभिज्ञ कहलाते हैं उसी प्रकार परपक्षका निराकरण करने वाले वैतण्डिकोंके द्वारा दर्शनमोहके उदयसे आक्रान्त होनेके कारण जिस न्यायका प्रणयन किया गया है वह अपने पक्षका भी निराकरण करता है और इस लिये उन्हें भी स्वपक्षघातके भयसे अनभिज्ञ एवं दृक्प्रमूढ समझना चाहिये।'

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तु-व्यवस्थाऽङ्गममेयमन्यत् ॥५९॥

'(यदि यह कहा जाय कि 'साधनके विना साध्यकी स्वयं सिद्धि नहीं होती' इस वाक्यके अनुसार संवेदनाद्वैतकी भी सिद्धि नहीं होती तो मत हो, परन्तु शून्यतारूप सर्वका अभाव तो विचारबलसे प्राप्त हो जाता है, उसका परिहार नहीं किया जा सकता अतः उसे ही मानना चाहिये' तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) हे वीर अर्हन्! आपके मतमें अभाव भी वस्तुधर्म होता है—बाह्य तथा आभ्यन्तर वस्तुके असम्भव होनेपर सर्वशून्यतारूप

तदभाव सम्भव नहीं हो सकता; क्योंकि स्वधर्मीके असम्भव होनेपर किसी भी धर्मकी प्रतीति नहीं बन सकती। अभावधर्मकी जब प्रतीति है तो उसका कोई धर्मी (बाह्य-आभ्यन्तर पदार्थ) होना ही चाहिये, और इस लिये सर्वशून्यता घटित नहीं हो सकती। सर्व ही नहीं तो सर्व-शून्यता कैसी ? तत् ही नहीं तो तदभाव कैसा ? अथवा भाव ही नहीं तो अ-भाव किसका ? इसके सिवाय, यदि वह अभाव स्वरूपसे है तो उसके वस्तुधर्मत्वकी सिद्धि है; क्योंकि स्वरूपका नाम ही वस्तुधर्म है। अनेक धर्मोंमेंसे किसी धर्मके अभाव होनेपर वह अभाव धर्मान्तर ही होता है और जो धर्मान्तर होता है वह कैसे वस्तुधर्म सिद्ध नहीं होता ? होता ही है। यदि वह अभाव स्वरूपसे नहीं है तो वह अभाव ही नहीं है; क्योंकि अभावका अभाव होनेपर भावका विधान होता है। और यदि वह अभाव (धर्मका अभाव न होकर) धर्मीका अभाव है तो वह भावकी तरह भावान्तर होता है—जैसे कि कुम्भका जो अभाव है वह भूभाग है और वह भावान्तर (दूसरा पदार्थ) ही है, योगमतकी मान्यता-के अनुसार सकल शक्ति-विरहरूप तुच्छ नहीं है। सारांश यह कि अभाव यदि धर्मका है तो वह धर्मकी तरह धर्मान्तर होनेसे वस्तुधर्म है और यदि वह धर्मी-का है तो वह भावकी तरह भावान्तर (दूसरा धर्मी) होनेसे स्वयं दूसरी वस्तु है—उसे सकलशक्ति-शून्य तुच्छ नहीं कह सकते। और इस सबका कारण यह है कि अभावको प्रमाणसे जाना जाता है, व्यपदिष्ट किया जाता है और वस्तु-व्यवस्थाके अङ्गरूपमें निर्दिष्ट किया जाता है।'

(यदि धर्म अथवा धर्मीके अभावको किसी प्रमाणसे नहीं जाना जाता तो वह कैसे व्यवस्थित होता है ? नहीं होता। यदि किसी प्रमाणसे जाना जाता है तो वह धर्म-धर्मीके स्वभाव-भावकी तरह वस्तु-धर्म अथवा भावान्तर हुआ। और यदि वह अभाव व्यपदेशको प्राप्त नहीं होता तो कैसे उसका प्रतिपादन किया जाता है ? उसका प्रतिपादन नहीं बनता। यदि व्यपदेशको प्राप्त होता है तो वह वस्तुधर्म अथवा वस्त्वन्तर ठहरा, अन्यथा उसका व्यपदेश नहीं बन सकता। इसी तरह वह अभाव यदि वस्तु-व्यवस्था-का अङ्ग नहीं तो उसकी कल्पनासे क्या नतीजा ? 'घटमें पटादिका अभाव है' इस प्रकार पटादिके परिहार-द्वारा अभावको घट-व्यवस्थाका कारण परि-कल्पित किया जाता है, अन्यथा वस्तुमें सङ्कर दोषका प्रसङ्ग आता है—एक वस्तुको अन्य वस्तुरूप भी कहा जा सकता है, जिससे वस्तुकी कोई व्यवस्था नहीं रहती—अतः अभाव वस्तु-व्यवस्थाका अङ्ग है और इस लिये भावकी तरह वस्तुधर्म है।)

'जो अभाव-तत्त्व (सर्वशून्यता) वस्तु-व्यवस्थाका अङ्ग नहीं है वह (भाव-एकान्तकी तरह) अमेय (अप्रमेय) ही है—किसी भी प्रमाणके गोचर नहीं है।'

(इस तरह दूसरोंके द्वारा परिकल्पित वस्तुरूप या अवस्तुरूप सामान्य जिस प्रकार वाक्यका अर्थ नहीं बनता उसी प्रकार व्यक्तिमात्र परस्पर-निरपेक्ष उभयरूप सामान्य भी वाक्यका अर्थ नहीं बनता, क्योंकि वह सामान्य अमेय है—सम्पूर्ण प्रमाणोंके विषयसे अतीत है अर्थात् किसी प्रमाणसे उसे जाना नहीं जा सकता।)

मूर्ति-कला

(लेखक—'श्रीलोकपाल')

स्थापत्य या मूर्तिकलाने जैनमूर्तियोंमें अपने चरम उत्कर्षको पाया है। बौद्धमूर्तियोंको देखनेपर भी कुछ ऐसा ही भास होता है। पर जैन और बौद्धमूर्तियोंमें एक सूक्ष्म पर बड़ा भारी भेद है, जिसकी पूर्ण महत्ता तो वही बतला सकता है जो मूर्तिकलाका ज्ञाता होनेके साथ ही साथ मनोविज्ञानका भी ज्ञाता हो और यदि दर्शनमें भी दखल रखता हो तो फिर पूछना ही क्या है। मैं तो तीनोंमेंसे कोई भी नहीं जानता। यों ही बुद्धि-पर जोर देनेसे मैं जो कुछ समझ सका हूँ उसी बूतेपर वह सब कुछ है जो मैंने लिखा है या लिखता हूँ। बुद्धकी मूर्तियोंको देखनेसे यही ज्ञात होता है कि बुद्ध किसी बड़े ही गम्भीर, गम्भीरतर या गम्भीरतम विचारमें लीन हैं। कोई बात सोच रहे हैं—विचार रहे हैं। इस तरह इनका मानसिक स्तरपर होना जाहिर होता है। जबकि जैनमूर्तियोंमें जो मुद्रा या भाव अङ्कित है उनमें यही दीखता है कि जिनेन्द्र (तीर्थङ्कर) ध्यानमग्न या परम निर्विकार ध्यानमें लीन हैं। इससे जैनमूर्तियाँ मानसिक स्तरसे निकाल कर आध्यात्मिक या आत्मिक ऊँचे स्तरपर पहुँचा दी गई हैं। इस तरह बुद्धकी मूर्तियाँ जब विचार-मुद्रा प्रदर्शित करती हैं तब जैन मूर्तियाँ ध्यान-मुद्रा। इस ध्यान-में भी और ध्यानोंसे विशेषता है। ये मुद्राएँ ही अपूर्णता (अपूर्णज्ञान) और पूर्णता (पूर्णज्ञान एवं निर्विकारता)की द्योतक जान पड़ती है। इतना ही नहीं मूर्तिमें क्या बात होनेसे उसका दर्शकके ऊपर गम्भीर, स्थायी एवं गुरु (Serious) प्रभाव पड़ सकता है या पड़ेगा इसका भी हर तरहका खयाल या अचूक सूक्ष्म ध्यान रखा गया है। जैनमूर्तियोंके बारेमें सोचनेपर अकसर ही मैं उनपर अङ्कित कई बातोंका कुछ मतलब नहीं लगा पाया हूं। लोगोंसे पूछनेपर उन्होंने भी कुछ संतोष-जनक उत्तर नहीं दिया या कुछका कुछ दे दिया। शास्त्रोंका ज्ञान मेरा बहुत ही कम नहींके बराबर है। पर अब जबसे मैंने इधर दो चार सप्ताहोंसे चित्रों या मूर्तियोंपर लिखना आरम्भ कर दिया तब बातें अपने आप बहुत कुछ साफ होती जाती है। पूरा विवरण—Details तो मैं नहीं जानता, न उनका ब्योरेवार कारण ही जान पाया हूँ पर अपनी विचार-प्रणालीपर चलते हुए मैंने यह देखा है कि इन जैनमूर्तियोंपर अङ्कित एक-एक रेखा या बनावटका मतलब है—और यह सब कुछ संयोगवश नहीं बल्कि बहुत-बड़ी मनोवैज्ञानिक जानकारीके साथ ही की गई है—जैसे शिरोपरि, कान, वक्ष या हाथके ऊपरकी जो बनावटें है वे सब मूर्तिकी भव्यता, मजबूती वगैरहसे सम्बन्धित होते हुए भी गूढ मनोवैज्ञानिक महत्व रखती हैं।

सचमुच ही यथाविधिरूपसे बनी हुई जैनमूर्तियोंमे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सच्चा समन्वय एवं दिग्दर्शन होता है—Plain living and high thinking—अतिसरल स्वाभाविक सुन्दर मूर्ति और ऊँचेसे ऊँचे भाव उनपर अङ्कित होना ही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'को साबित कर दिखलाते है—जो और कहीं नहीं मिलता।

बनारसके भेलूपुराके बड़े मन्दिरमें मैंने एक मूर्तिको देखा जिसमें प्राचीन परिपाटीसे हटनेकी चेष्टा की गई है। मूर्ति विशेषरूपसे मानवाकृतिकी साधारण तौरसे बनाई गई है जिसमें साधारण मानवसे जहाँ तक हो सके सदृशता लानेकी कोशिश की गई है। सिर या मस्तकके ऊपरकी बनावट या और सब Extra—अधिक चीजोको निकाल दिया गया है। मैं जब भी उस मूर्तिके दर्शन करता तभी यह प्रश्न

मेरे मनमें बराबर उठता रहा कि क्यों इस मूर्तिका असर या प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ता जो पडना चाहिये। यह अब मैं सोचता हूं कि कोई मनोवैज्ञानिक कारण है—और उसी वजहसे हमारे पूर्वजोंने अपनी मूर्तियाँ बनवानेमें हर बातका हरएक रेखा-लाइनपर मुद्राको अङ्कित करनेमे इस मनोवैज्ञानिक जरूरत या आवश्यकताका बराबर ध्यान रखा है कि मूर्तिका प्रभाव जैसा पड़ना चाहिये या जिस कामको या मतलबको सम्पादन करनेके लिये मूर्तिका निर्माण हुआ है वह पूर्णरूपसे पूरा हो, जो केवल सीधा सादेरूपसे एक आदमीकी मूर्ति ज्योंका त्यों बना देनेसे नहीं होता था। बड़ी मूर्तियोंमें और छोटी मूर्तियोंमें एवं धातुकी मूर्तियोंमें और पत्थरकी मूर्तियोंमें फिर उनके रङ्गोंके कारण प्रभाव, असर तथा बनावटमें थोड़ा अन्तर हो सकता है—और पाया जाता है। पर उसमें भी खयाल रखा गया है कि स्वाभाविकतासे अलग जाना कमसे कम हो और मानसिक प्रभाव उसका ऐसा हो कि स्वाभाविकताका ही भान हम मूर्तिसे करें। बल्कि साधारण तौरसे मूर्ति बना देनेसे उसका असर जो पड़ता उसमें उतनी स्वाभाविकताका भाव नहीं होता। और भी जो बड़ा भारी महान् भाव हमारे भीतर पैदा करना तथा मूर्तिपर दिखलाना था वह तो उसी तरीकेसे हो सकता था जैसा कि हम अपनी मूर्तियोंपर देखते हैं—अन्यथा सम्भव नहीं हैं। हाँ, ये सब बातें दिगम्बर मूर्तियोंके सम्बन्धमे है। मालूम होता है कि जैनियोंने जब देखा कि लोग दिगम्बरका ठीक ठीक महत्व या मतलब नहीं समझते एवं उसका मखौल तक उड़ाते हैं तब उनमेंसे कुछ ऐसोंने ही जो जैनोंकी संख्या कम होना नहीं पसन्द करते थे श्वेताम्बर मूर्तियोंको प्रचलित किया। पर ध्यानके वास्ते और निर्विकार ध्यान या मुद्राके वास्ते दिगम्बर मूर्तियाँ ही सर्वश्रेष्ठ हैं। बुद्धकी मूर्तियोंमें विचार-मुद्रा होनेसे वे सांसारिक अवस्थामें मनके आधारपर रहते हैं, जबकि जिनेन्द्रकी मूर्तियोंमें ध्यानमुद्रा होनेसे वे सांसारिक और मनके आधारसे अलग ऊपर उठ जाते हैं। बुद्धकी मूर्तियोंमें सांसारिकता तो छूटी रहती है पर संसार अभी रहता है जबकि जैनमूर्तियोंमें सांसारिकता और संसार दोनोंसे अलग ऊपर भाव हो जाते हैं। चित्रकलाके ज्ञाता यदि निष्पक्ष (Unbiased) होकर जैनमूर्तियोंका मनन करें तो उन्हें बड़ी भारी जानकारीका लाभ होगा।

ब्राह्मणधर्मने तो मूर्तिकलाको दिनपर दिन नीचे ही उतारा है। वहां तो मूर्तिमें केवल सौष्ठव और आडम्बरको ही स्थान दिया है—ध्यानसे कोई सम्बंध ही नहीं—और 'निर्विकार' होना तो बड़ी दूरकी बात है। दिनपर दिन हमारी मूर्तिकलाका ह्रास होता गया है और जो कुछ भी हम देखते हैं वह विकृत, अन्यथा-मार्ग या गलत रास्तेपर चला हुआ हो गया है। इसे सुधारनेके लिये धार्मिक मनोभावनाओंको एवं धर्मान्धताको दूर करना होगा तभी वह सम्भव है। आज तो हमने बुद्धि और तर्कसे 'तर्कमवालात' कर रखा है या उन्हें धर्मका दुश्मन बना दिया है। जब तक इनमें आपसमें मेल, सहयोग एवं अतिनिकट सम्बन्ध या एकता नहीं स्थापित होती तब तक कुछ सुधार होना तथा भारतकी उन्नतिका होना स्थायी नहीं हो सकता। दो-चार नेता कर ही क्या सकते हैं ? वे आगे बढ़ेंगे—देशको आगे बढ़ावेंगे, पीछेसे धर्मान्धलोग उन्हें उनकी टाँगोंको पकड़कर खींच लेंगे—क्योंकि उन्हें बुद्धिसे तो कोई सरोकार (प्रयोजन) है ही नहीं। और संसारमें सक्रिय प्रभाव-शक्ति या स्थायी जो कुछ भी हो सकता है वह बुद्धिसे ही हो सकता है। बाकी तो सब कुछ भ्रमपूर्ण—विकृत—उल्टापलटा एवं गलत ही है—चाहे भले ही हम अपनी बहक या घमण्डमें या अज्ञानतामें उसे ही ठीक सीधा या सही मानते रहें। पर फल तो हमारे माननेके ऊपर निर्भर नहीं करता वह तो वस्तुस्वभावपर एवं तथ्य, तत्त्व या सत्यपर ही निर्भर करता है।

जैन अध्यात्म

[पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य]

पदार्थस्थिति–

'नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः' जगतमें जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता और सर्वथा नए किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नहीं हो सकता। जितने मौलिक द्रव्य इस जगतमें अनादिसे विद्यमान है वे अपनी अवस्थाओंमें परिवर्तित होते रहते हैं। अनन्तजीव, अनन्तानन्त पुद्गलअणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इनसे यह लोक व्याप्त है। ये छह जातिके द्रव्य मौलिक हैं, इनमेंसे न तो एक भी द्रव्य कम हो सकता और न कोई नया उत्पन्न होकर इनकी संख्यामें वृद्धि कर सकता है। कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्यरूपमें परिणमन नहीं कर सकता, जीव जीव ही रहेगा पुद्गल नहीं हो सकता। जिस तरह विजातीय द्रव्यरूपमें किसी भी द्रव्यका परिणमन नहीं होता उसी तरह एक जीव दूसरे सजातीयजीव-द्रव्यरूप या एक पुद्गल दूसरे सजातीय पुद्गलद्रव्यरूपमें सजातीय परिणमन भी नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों-अवस्थाओंकी धारामें प्रवाहित है किसी भी विजातीय या सजातीय द्रव्यान्तरकी धारामें उसका परिणमन नहीं हो सकता। यह सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तरमें असंक्रान्ति ही प्रत्येक द्रव्यकी मौलिकता है। इन द्रव्योंमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्योंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है, इनमें विकार नहीं होता, एक जैसा परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्धपरिणमन भी होता है तथा अशुद्ध परिणमन भी। इन दो द्रव्योंमें क्रियाशक्ति भी है जिससे इनमें हलन-चलन, आना-जाना आदि क्रियाएँ होती हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं वे जहाँ है वहीं रहते है। आकाश सर्वव्यापी है। धर्म और अधर्म लोकाकाशके बराबर है। पुद्गल और काल अणुरूप हैं। जीव असंख्यातप्रदेशी है और अपने शरीरप्रमाण विविध आकारोंमें मिलता है। एक पुद्गलद्रव्य ही ऐसा है जो सजातीय अन्य पुद्गलद्रव्योंसे मिलकर स्कन्ध बन जाता है और कभी कभी इतना रासायनिक मिश्रण हो जाता है कि उसके अणुओंकी पृथक् सत्ताका भान करना भी कठिन होता है। तात्पर्य यह कि जीवद्रव्य और पुद्गल-द्रव्यमें अशुद्ध परिणमन होता है और वह एक दूसरेके निमित्तसे। पुद्गलमें इतनी विशेषता है कि उसकी अन्य सजातीयपुद्गलोंसे मिलकर स्कन्ध-पर्याय भी होती है पर जीवकी दूसरे जीवमें मिलकर स्कन्ध पर्याय नहीं होती। दो विजातीय द्रव्य बँधकर एक पर्याय नहीं प्राप्त कर सकते। इन दो द्रव्योंके विविध परिणमनोंका स्थूलरूप यह दृश्यजगत् है।

द्रव्य-परिणमन–

प्रत्येक द्रव्य *परिणामीनित्य* है। पूर्वपर्याय नष्ट होती है उत्तर उत्पन्न होती है पर मूलद्रव्यकी धारा अविच्छिन्न चलती है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता प्रत्येक द्रव्यका निजी स्वरूप है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंका सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। जीवद्रव्यमें जो मुक्त जीव है उनका परिणमन शुद्ध ही होता है कभी भी अशुद्ध नहीं होता। संसारी जीव और अनन्त पुद्गलद्रव्यका शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकारका परिणमन होता है। इतनी विशेषता है कि जो संसारी जीव एकबार मुक्त होकर शुद्ध परिणमनका अधिकारी हुआ वह फिर कभी भी अशुद्ध नहीं होगा पर पुद्गलद्रव्यका कोई नियम नहीं है। वे कभी स्कन्ध बनकर अशुद्ध परिणमन करते हैं तो परमाणुरूप होकर अपनी शुद्ध

अवस्थामें आजाते हैं फिर स्कन्ध बन जाते हैं इस तरह उनका विविध परिणमन होता रहता है। जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति है जिसके कारण वे विभाव परिणमनको भी प्राप्त होते हैं।

द्रव्यगतशक्ति—

धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं। कालाणु असंख्यात हैं। प्रत्येक कालाणुमें एक-जैसी शक्तियाँ हैं। वर्तना करनेकी जितने अविभागप्रतिच्छेद-वाली शक्ति एक कालाणुमें है वैसी ही दूसरे कालाणुमें। इस तरह कालाणुओंमें परस्पर शक्ति-विभिन्नता या परिणमन-विभिन्नता नहीं है।

पुद्गलद्रव्यके एक अणुमें जितनी शक्तियाँ हैं उतनी ही और वैसी ही शक्तियाँ परिणमन-योग्यता अन्य पुद्गलाणुओंमें हैं। मूलतः पुद्गल-अणुद्रव्योंमे शक्तिभेद, योग्यताभेद या स्वभावभेद नहीं है। यह तो सम्भव है कि कुछ पुद्गलाणु मूलतः स्निग्ध स्पर्शवाले हो और दूसरे मूलतः रूक्ष, कुछ शीत और कुछ उष्ण, पर उनके ये गुण नियत नहीं, रूक्षगुणवाला भी स्निग्धगुणवाला बन सकता है तथा स्निग्धगुणवाला भी रूक्ष। शीत भी उष्ण बन सकता है उष्ण भी शीत। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओंमें ऐसा कोई जातिभेद नहीं है जिससे किसी भी पुद्गलाणुका पुद्गलसम्बन्धी कोई परिणमन न हो सकता हो। पुद्गलद्रव्यके जितने भी परिणमन हो सकते हैं उन सबकी योग्यता और शक्ति प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्वभावतः है, यही द्रव्यशक्ति कहलाती है। स्कन्ध-अवस्थामें पर्यायशक्तियाँ विभिन्न हो सकती है। जैसे किसी अग्निस्कन्धमें सम्मिलित परमाणुका उष्ण-स्पर्श और तेजोरूप था, पर यदि वह अग्निस्कन्धसे जुदा हो जाय तो उसका शीतस्पर्श तथा कृष्णरूप हो सकता है। और यदि वह स्कन्ध ही भस्म बन जाय तो सभी परमाणुओंका रूप और स्पर्श आदि बदल सकते हैं।

सभी जीवद्रव्योंकी मूल स्वभावशक्तियाँ एक जैसी हैं, ज्ञानादि अनन्तगुण और अनन्त चैतन्य-परिणमनकी प्रत्येक शक्ति मूलतः प्रत्येक जीवद्रव्यमें है। हाँ अनादिकालीन अशुद्धताके कारण उनका विकास विभिन्न प्रकारसे होता है। चाहे हो भव्य या अभव्य, दोनों ही प्रकारके प्रत्येक जीव एक-जैसी शक्तियोंके आधार हैं शुद्ध दशामें सभी मुक्त एक-जैसी शक्तियों-के स्वामी बन जाते हैं और प्रतिसमय अखण्ड शुद्ध परिणमनमें लीन रहते हैं। संसारी जीवोंमें भी मूलतः सभी शक्तियाँ हैं। इतना विशेष है कि अभव्य-जीवोंमें केवलज्ञानादिशक्तियोंके अविर्भावकी शक्ति नहीं मानी जाती। उपर्युक्त विवेचनसे एक बात निर्विवादरूपसे स्पष्ट हो जाती है कि चाहे द्रव्य चेतन हो या अचेतन, प्रत्येक मूलतः अपनी अपनी चेतन-अचेतन शक्तियोंका धनी है उनमें कहीं कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं है। अशुद्धदशामें अन्य पर्यायशक्तियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं और विलीन होती रहती हैं।

परिणमनके नियतत्वकी सीमा—

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि द्रव्योंमें परिणमन होनेपर भी कोई भी द्रव्य सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपमें परिणमन नहीं कर सकता। अपनी धारामें सदा उसका परिणमन होता रहता है। द्रव्यगत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत हैं। किसी भी पुद्गलाणुके वे सभी पुद्गलसम्बन्धीपरिणमन प्रतिसमय हो सकते हैं और किसी भी जीवके जीवसम्बन्धी अनन्त परिणमन। यह तो सम्भव है कि कुछ पर्यायशक्तियोंसे सीधा सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन कारणभूत पर्यायशक्तिके न होने पर न हों। जैसे प्रत्येक पुद्गलपरमाणु यद्यपि घट बन सकता है फिर भी जबतक अमुक परमाणु-स्कन्ध मिट्टीरूप पर्यायको प्राप्त न होंगे तबतक उनमें मिट्टीरूप पर्यायशक्तिके विकाससे होनेवाली घटपर्याय नहीं हो सकती। परन्तु मिट्टीपर्यायसे होनेवाली घट, सकोरा आदि जितनी पर्याय सम्भावित है वे निमित्त-के अनुसार कोई भी हो सकती हैं। जैसे जीवमें मनुष्यपर्यायमें आँखसे देखनेकी योग्यता विकसित है तो वह अमुक समयमें जो भी सामने आयेगा उसे देखेगा। यह कदापि नियत नहीं है कि अमुक समयमे

अमुक पदार्थको ही देखनेकी उसमे योग्यता है शेषकी नहीं या अमुक पदार्थमें उस समय उसके द्वारा ही देखे जानेकी योग्यता है अन्यके द्वारा नहीं। मतलब यह कि परिस्थितिवश जिस पर्यायशक्तिका द्रव्यमें विकास हुआ है उस शक्तिसे होनेवाले यावत्कार्योंमेंसे जिस कार्यकी सामग्री या बलवान् निमित्त मिल जायेंगे उसके अनुसार उसका वैसा परिणमन होता जायगा। एक मनुष्य गद्दीपर बैठा है उस समय उसमें हँसना-रोना, आश्चर्य करना, गम्भीरतासे सोचना आदि अनेक कार्योंकी योग्यता है। यदि बहुरूपिया सामने आजाय और उसकी उसमें दिलचस्पी हो तो हँसनेरूप पर्याय हो जायगी। कोई शोकका निमित्त मिल जाय तो रो भी सकता है। अकस्मात् बात सुनकर आश्चर्यमें डूब सकता है और तत्त्वचर्चा सुनकर गम्भीरतापूर्वक सोच भी सकता है। इसलिए यह समझना कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिसमयका परिणमन नियत है उसमें कुछ भी हेर-फेर नहीं हो सकता और न कोई हेर-फेर कर सकता है, द्रव्यके परिणमनस्वभावको गम्भीरतासे न सोचनेके कारण भ्रमात्मक है। द्रव्यगत परिणमन नियत है अमुक स्थूलपर्यायगत शक्तियोंके परिणमन भी नियत हो सकते हैं जो उस पर्यायशक्तिके अवश्यंभावी परिणमनोंमेंसे किसी एकरूपमें निमित्तानुसार सामने आते हैं। जैसे एक अंगुली अगले समय टेढ़ी हो सकती है सीधी रह सकती है, टूट सकती है, घूम सकती है, जैसी सामग्री और कारण-कलाप मिलेंगे उसमें विद्यमान इन सभी योग्यताओंमेंसे अनुकूल योग्यताका विकास हो जायगा। उस कारणशक्तिसे वह अमुक परिणमन भी नियत कराया जा सकता है जिसकी पूरी सामग्री अविकल हो प्रतिबन्धक कारणकी सम्भावना न हो ऐसी अन्तिमक्षणप्राप्त शक्तिसे वह कार्य नियत ही होगा पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिक्षणका परिणमन सुनिश्चित है उसमें जिसे जो निमित्त होना है नियतिचक्रके पेटमें पड़कर ही वह उसका निमित्त बना रहेगा। यह अतिसुनिश्चित है कि हरएक द्रव्यका प्रतिसमय कोई न कोई परिणमन होना ही चाहिए। पुराने संस्कारोंके परिणामस्वरूप कुछ ऐसे निश्चित कार्यकारणभाव बनाए जा सकते हैं जिनसे यह नियत किया जा सकता है कि अमुक समयमें इस द्रव्यका ऐसा परिणमन होगा ही पर इस कारणताकी अवश्यंभाविता सामग्रीकी अविकलता तथा प्रतिबन्धक-कारणकी शून्यता पर ही निर्भर है। जैसे हल्दी और चूना दोनों एक जलपात्रमे डाले गये तो यह अवश्यंभावी है कि उनका लालरङ्गका परिणमन हो। एक बात यहाँ यह खासतौरसे ध्यानमे रखनेकी है कि अचेतन परमाणुओंमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। उनमे अपने संयोगोंके आधारसे क्रिया तो होती रहती है। जैसे पृथिवीमे कोई बीज पड़ा हो तो सरदी गरमीका निमित्त पाकर उसमें अंकुर आजायगा और वह पल्लवित, पुष्पित होकर पुनः बीजको उत्पन्न कर देगा। गरमीका निमित्त पाकर जल भाप बन जायगा। पुनः भाप सरदीका निमित्त पाकर जलके रूपमे बरसकर पृथिवीको शस्यश्यामल बना देगा। कुछ ऐसे भी अचेतन द्रव्योंके परिणमन हैं जो चेतन निमित्तसे होते हैं जैसे मिट्टीका घड़ा बनना या रुईका कपड़ा बनना। तात्पर्य यह कि अतीतके संस्कारवश वर्तमान क्षणमे जितनी और जैसी योग्यताएँ विकसित होंगी और जिनके विकासके अनुकूल निमित्त मिलेंगे द्रव्योंका वैसा वैसा परिणमन होता जायगा। भविष्यका कोई निश्चित कार्यक्रम द्रव्योंका बना हुआ हो और उसी सुनिश्चित अनन्त क्रमपर यह जगत चल रहा हो यह धारणा ही भ्रमपूर्ण है।

नियताऽनियतत्ववाद–

जैन दृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनिवार्य हैं। एक द्रव्यकी उस समयकी योग्यतासे जितने प्रकारके परिणमन हो सकते हैं उनमेंसे कोई भी परिणमन जिसके कि निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी हो जायगा। तात्पर्य यह कि प्रत्येक द्रव्यकी शक्तियाँ तथा उनसे होनेवाले परिणमनोंकी जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गलके परिणमन जीवमे तथा जीवके परिणमन पुद्गल में नहीं हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा

यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अतः नियतत्व और अनियतत्व दोनों धर्म सापेक्ष हैं। अपेक्षाभेदसे सम्भव है।

नियतिवाद नहीं—

जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है, इस तरहके निष्क्रिय नियतिवादके विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल हैं। जो द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं, हमारा पुरुषार्थ तो कोयलेकी हीरापर्यायके विकास करानेमें है। यदि कोयलेके लिए उसकी हीरापर्यायके विकासके लिए आवश्यक सामग्री न मिले तो या तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानिमें ही पड़े पड़े समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसमे उपादान शक्ति नहीं है उसका परिणमन भी निमित्तसे हो सकता है या निमित्तमें यह शक्ति है जो निरुपादानको परिणमन करा सके।

उभय कारणोंसे कार्य—

कार्योत्पत्तिके लिए दोनों ही कारण चाहिएँ उपादान और निमित्त; जैसा कि स्वामीसमन्तभद्रने कहा है कि *"यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः"* अर्थात् कार्य बाह्य-आभ्यन्तर दोनों कारणोंसे होता है। यही अनाद्यनन्त वैज्ञानिक कारण-कार्यधारा ही द्रव्य है जिसमें पूर्वपर्याय अपनी सामग्रीके अनुसार सदृश, विसदृश, अर्धसदृश, अल्पसदृश आदिरूपसे अनेक पर्यायोंकी उत्पादक होती है। मान लीजिए एक जलबिन्दु है उसकी पर्याय बदल रही है, वह प्रतिक्षण जलबिन्दु रूपसे परिणमन कर रही है पर यदि गरमीका निमित्त मिलता है तो तुरन्त भाप बन जाती है। किसी मिट्टीमें यदि पड़ गई तो सम्भव है पृथिवी बन जाय। यदि साँपके मुँहमे चली गई जहर बन जायगी। तात्पर्य यह कि एकधारा पूर्व-उत्तर पर्यायोंकी बहती है उसमें जैसे जैसे संयोग होते जायेंगे उसका उस जातिमें परिणमन हो जायगा। गङ्गाकी धारा हरिद्वारमें जो है वह कानपुरमें नहीं, और कानपुरकी गटर आदिका संयोग पाकर इलाहाबादमें बदली और इलाहाबादकी गन्दगी आदिके कारण काशीकी गङ्गा जुदी ही हो जाती है। यहाँ यह कहना कि "गङ्गाके जलके प्रत्येक परमाणुका प्रतिसमयका सुनिश्चित कार्यक्रम बना हुआ है उसका जिस समय परिणमन होना है वह होकर ही रहेगा" द्रव्यकी विज्ञानसम्मत कार्यकारणपरम्पराके प्रतिकूल है।

'जं जस्स जम्मि' आदि भावनाएं हैं—

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामे सम्यग्दृष्टिके चिन्तनमें ये दो गाथाएँ लिखी हैं—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं व अहव मरणं वा ॥३२१॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को चालेदुं सक्को इंदो वा अह जिणि वा ॥३२२॥

अर्थात् जिसका जिस समय जहाँ जैसे जन्म या मरण होना है उसे इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी नहीं टाल सकता, वह होगा ही।

इन गाथाओंका भावनीयार्थ यही है कि जो जब होना है होगा उसमें कोई किसीका शरण नहीं है आत्मनिर्भर रहकर जो आवे वह सहना चाहिए। इस तरह चित्तसमाधानके लिए भाई जानेवाली भावनाओंसे वस्तुव्यवस्था नहीं हो सकती। अनित्यभावनामें ही कहते हैं कि जगत स्वप्नवत् है इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि शून्यवादियोंकी तरह जगत् पदार्थोंकी सत्तासे शून्य है बल्कि यही उसका तात्पर्य है कि स्वप्नकी तरह वह आत्महितके लिए वास्तविक कार्यकारी नहीं है। यहाँ सम्यग्दृष्टिके चिन्तन-भावनामें स्वावलम्बनका उपदेश है। उससे पदार्थव्यवस्था नहीं की जा सकती।

सबसे बड़ा अस्त्र सर्वज्ञत्व—

नियतिवादी या तथोक्त अध्यात्मवादियोंका सबसे बड़ा तर्क है कि सर्वज्ञ है या नहीं? यदि सर्वज्ञ है तो वह त्रिकालज्ञ होगा अर्थात् भविष्यज्ञ भी होगा। फलतः वह प्रत्येक पदार्थका अनन्तकाल तक प्रतिक्षण जो होना है उसे ठीकरूपमें जानता है। इस तरह प्रत्येक परमाणुकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है

उनका परस्पर जो निमित्तनैमित्तिकजाल है वह भी उसके ज्ञानके बाहिर नहीं है। सर्वज्ञ माननेका दूसरा अर्थ है नियतिवादी होना। पर, आज जो सर्वज्ञ नहीं मानते उनके सामने हम नियतिचक्रको कैसे सिद्ध कर सकते हैं? जिस अध्यात्मवादके मूलमें हम नियतिवादको पनपाते हैं उस अध्यात्मदृष्टिसे सर्वज्ञता व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे तो आत्मज्ञतामें ही उसका पर्यवसान होता है जैसाकि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार (गा. १५८)मे लिखा है—

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

अर्थात् केवली भगवान व्यवहारनयसे सब पदार्थोंको जानते देखते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी अपनी आत्माको जानता देखता है।

अध्यात्मशास्त्रमें निश्चयनयकी भूतार्थता और परमार्थता तथा व्यवहारनयकी अभूतार्थतापर विचार करनेसे तो अध्यात्मशास्त्रमे पूर्णज्ञानका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञानमें ही होता है। अतः सर्वज्ञत्वकी दलीलका अध्यात्मचिन्तनमूलक पदार्थव्यवस्थामे उपयोग करना उचित नहीं है।

नियतिवादमें एक ही प्रश्न एक ही उत्तर—

नियतिवादमे एक ही उत्तर है 'ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही' इसमे न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। वस्तुव्यवस्थामे इस प्रकारके मृत विचारोंका क्या उपयोग? जगतमें विज्ञानसम्मत कार्यकारणभाव है। जैसी उपादान-योग्यता और जो निमित्त होंगे तदनुसार चेतन-अचेतनका परिणमन होता है। पुरुषार्थ निमित्त और अनुकूल सामग्रीके जुटानेमे है। एक अग्नि है पुरुषार्थी यदि उसमें चन्दनका चूरा डाल देता है तो सुगन्धित धुआँ निकलेगा, यदि बाल आदि डालता है तो दुर्गन्धित धुआँ उत्पन्न होगा। यह कहना कि चूराको उसमे पड़ना था, पुरुषको उसमे डालना था, अग्निको उसे ग्रहण करना ही था। इसमे यदि कोई हेर-फेर करता है तो नियतिवादीका वही उत्तर कि 'ऐसा ही होना था'। मानो जगतके परिणमनोंको 'ऐसा ही होना था' इस नियति भगवतीने अपनी गोदमे लेरखा हो।

अध्यात्मकी अकर्तृत्व भावनाका उपयोग—

तब अध्यात्मशास्त्रकी अकर्तृत्वभावनाका क्या अर्थ है? अध्यात्ममे समस्त वर्णन उपादानयोग्यताके आधारसे किया गया है। निमित्त मिलनेपर यदि उपादानयोग्यता विकसित नहीं होती, कार्य नहीं हो सकेगा। एक ही निमित्त-अध्यापकसे एक छात्र प्रथम श्रेणीका विकास करता है जबकि दूसरा द्वितीय श्रेणीका और तीसरा अज्ञानीका अज्ञानी बना रहता है। अतः अन्ततः कार्य अन्तिमक्षणवर्ती उपादान-योग्यतासे ही होता है। हाँ, निमित्त उस योग्यताको विकासोन्मुख बनाते हैं, तब अध्यात्मशास्त्रका कहना है कि निमित्तको यह अहङ्कार नहीं होना चाहिए कि हमने उसे ऐसा बना दिया, निमित्तकारणको सोचना चाहिए कि इसकी उपादानयोग्यता न होती तो मैं क्या कर सकता था अतः अपनेमे कर्तृत्वजन्य अहङ्कारके निवृत्तिके लिए उपादानमें कर्तृत्वकी भावनाको दृढमूल करना चाहिए ताकि परपदार्थ-कर्तृत्वका अहङ्कार हमारे चित्तमे आकर रागद्वेषकी सृष्टि न करे। बड़ेसे बड़ा कार्य करके भी मनुष्यको यही सोचना चाहिए कि मैने क्या किया? यह तो उसकी उपादानयोग्यताका ही विकास है मै तो एक साधारण निमित्त हूं। 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यं' अर्थात् क्रिया योग्यमें परिणमन कराती है अयोग्यमें नहीं। इस तरह अध्यात्मकी अकर्तृत्व-भावना हमें वीतरागताकी ओर ले जानेके लिए है। न कि उसका उपयोग नियतिवादके पुरुषार्थ विहीन कुमार्गपर लेजानेको किया जाय।

समयसारमें निमित्ताधीनउपादान परिणमन—

समयसार (गा० ८६-८८)में जीव और कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बताते हुए लिखा है कि—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥

ण वि कुव्वदि कम्मगुणेजीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्ते ण दु कत्ता आदा सएण भावेण ॥
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥"

अर्थात् जीवके भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंकी कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्गलकर्मोके निमित्तसे जीव रागादिरूपमें परिणमन करता है। इतना समझ लेना चाहिए कि जीव उपादान बनकर पुद्गलके गुणरूपमे परिणमन नहीं कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीवके गुणरूपसे परिणति कर सकता है। हाँ, परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके अनुसार दोनोका परिणमन होता है। इस कारण उपादानदृष्टिसे आत्मा अपने भावोंका कर्त्ता है पुद्गलके ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मात्मक परिणमनका कर्त्ता नहीं है।

इस स्पष्ट कथनमें कुन्दकुन्दाचार्यकी कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी दृष्टि समझमें आ जाती है। इसका विशद अर्थ यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें उपादान है दूसरा उसका निमित्त हो सकता है उपादान नहीं। परस्पर निमित्तमें दोनों उपादानोंका अपने अपने भावरूपसे परिणमन होता है। इसमें निमित्त-नैमित्तिकभावका निषेध कहाँ है ? निश्चयदृष्टिसे पर-निरपेक्ष आत्मस्वरूपका विचार है उसमें कर्तृत्व अपने उपयोगरूपमें ही पर्यवसित होता है। अतः कुन्दकुन्दके मतमें द्रव्यस्वरूपका अध्यात्ममें वही निरूपण है जो आगे समन्तभद्रादि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमे बताया है।

मूलमें भूल कहां ?—

इसमें कहाँ मूलमें भूल है ? जो उपादान है वह उपादान है जो निमित्त है वह निमित्त ही है। कुम्हार घटका कर्त्ता है यह कथन व्यवहार हो सकता है। कारण, कुम्हार वस्तुतः अपनी हलन-चलनक्रिया तथा अपने घट बनानेके उपयोगका ही कर्त्ता है, उसके निमित्तसे मिट्टीके परमाणुमें वह आकार उत्पन्न हो जाता है। मिट्टीको घड़ा बनना ही था और कुम्हारके हाथको वैसा होना ही था और हमे उसकी व्याख्या ऐसी करनी ही थी, आपको ऐसा प्रश्न करना ही था और हमे यह उत्तर देना ही था। ये सब बातें न अनुभव सिद्ध कार्यकारणभावके अनुकूल ही हैं और न तर्कसिद्ध।

निश्चय और व्यवहार—

निश्चयनय वस्तुकी परनिरपेक्ष स्वभूत दशाका वर्णन करता है। वह यह बतायगा कि प्रत्येक जीव स्वभावसे अनन्तज्ञान-दर्शन या अखण्ड चैतन्यका पिण्ड है। आज यद्यपि वह कर्मनिमित्तसे विभाव परिणमन कर रहा है पर उसमें स्वभावभूत शक्ति अपने अखण्ड निर्विकार चैतन्य होनेकी है। व्यवहारनय परसापेक्ष अवस्थाओंका वर्णन करता है। वह जहाँ आत्माको पर-घटपटादि पदार्थोंके कर्तृत्वके वर्णनसम्बन्धी लम्बी उड़ान लेता है वहाँ निश्चयनय रागादि भावोंके कर्तृत्वको भी आत्मकोटिसे बाहर निकाल लेता है और आत्माको अपने शुद्ध भावोंका ही कर्त्ता बनाता है अशुद्ध भावोंका नहीं। निश्चयनयकी भूतार्थताका तात्पर्य यह है कि वही दशा आत्माके लिए वास्तविक उपादेय है, परमार्थ है, यह जो रागादिरूप विभावपरिणति है यह अभूतार्थ है अर्थात् आत्माके लिए उपादेय नहीं है इसके लिए वह अपरमार्थ है अग्राह्य है।

निश्चयनयका वर्णन हमारा लक्ष्य है—

निश्चयनय जो वर्णन करता है कि मै सिद्ध हूँ बुद्ध हूँ निर्विकार हूँ निष्कषाय हूँ यह सब हमारा लक्ष्य है। इसमें 'हूँ'के स्थानमें 'हो सकता हूँ' यह प्रयोग भ्रम उत्पन्न नहीं करेगा। वह एक भाषाका प्रकार है। जब साधक अपनी अन्तर्जल्प अवस्थामें अपने ही आत्माको सम्बोधन करता है कि हे आत्मन्, तू तो स्वभावसे सिद्ध है बुद्ध है, वीतराग है, आज फिर यह तेरी क्या दशा हो रही है तू कषायी और अज्ञानी बना है। यह पहला 'सिद्ध है बुद्ध है वाला' अंश दूसरे 'आज फिर तेरी क्या दशा हो रही है तू कषायी अज्ञानी बना है' इस अंशसे ही परिपूर्ण होता है।

इस लिए निश्चयनय हमारे लिए अपने द्रव्यगत-मूलस्वभावकी ओर संकेत कराता है जिसके बिना

हम कषायपङ्कसे नहीं निकल सकते। अतः निश्चय-नयका सम्पूर्ण वर्णन हमारे सामने कागजपर मोटे मोटे अक्षरोंमें लिखा हुआ टँगा रहे ताकि हम अपनी उस परमदशाको प्राप्त करनेकी दिशामें प्रयत्नशील रहें। न कि हम तो सिद्ध हैं कर्मोंसे अस्पृष्ट हैं यह मानकर मिथ्या अहङ्कारका पोषण करें और जीवन-चारित्र्यसे विमुख हो निश्चयैकान्तरूपी मिथ्यात्वको बढ़ावें।

ये कुन्दकुन्दके अवतार–

सोनगढ़में यह प्रवाद है कि श्रीकानजीस्वामी कुन्दकुन्दके जीव हैं और वे कुन्दकुन्दके समान ही सद्गुरुरूपसे पुजते हैं। उन्हें सद्गुरुभक्ति ही विशिष्ट आकर्षणका कार्यक्रम है। यहाँसे नियतिवाद-की आवाज अब फिरसे उठी है और वह भी कुन्द-कुन्दके नामपर। भावनीय पदार्थ जुदा हैं उनसे तत्त्वव्यवस्था नहीं होती यह मैं पहले लिख चुका हूँ। यों ही भारतवर्षने नियतिवाद और ईश्वरवादके कारण तथा कर्मवादके स्वरूपको ठीक नहीं समझनेके कारण अपनी यह नितान्त परतन्त्र स्थिति उत्पन्न कर ली थी। किसी तरह अब नव-स्वातन्त्र्योदय हुआ है। इस युगमें वस्तुतत्त्वका वह निरूपण हो जिससे सुन्दर समाजव्यवस्था-घटक व्यक्तिका निर्माण हो। धर्म और अध्यात्मके नामपर और कुन्दकुन्दाचार्य-के सुनामपर आलस्य-पोषक नियतिवादका प्रचार न हो। हम सम्यक् तत्त्वव्यवस्थाको समझे और समन्तभद्रादि आचार्योंके द्वारा परिशीलित उभयमुखी तत्त्वव्यवस्थाका मनन करें। —भारतीयज्ञानपीठ काशी।

तीन चित्र

(लेखक—श्रीजमनालाल जैन, साहित्यरत्न)

देखनेकी वस्तु दीखे बिना कैसे रहे? परन्तु यदि कोई उसे देख नहीं पाता तो वस्तुका क्या दोष? और जो नहीं देखना चाहता उसे भी कैसे दोष दिया जाय? ऐसे ही कई प्रश्नोंको लेकर मैं हैरतमें पड़ गया हूँ।...

एक कलाकार है। उसने अपनी मानसिक भूमिकापर गहराई तथा वेदनाको अनुभूतियोंका बल पाकर अपने पाँव स्थिर किये हैं और जगतको अपनी साधना द्वारा सत्य शिव तथा सुन्दरकी अभिव्यक्ति दी है। उसकी रेखा-रेखामें, शब्द-शब्दमें, कल्पनाके कण-कणमें कविताकी लहर-लहरमें जीवन बोल रहा है, गा रहा है, नाच रहा है। पढ़ते, सुनते तथा देखते समय ऐसा लगता है मानो प्रत्येक प्राणीकी आत्म-पुकार उसकी अपनी व्यथामें समाहित हो गई है। उसकी कला विश्वमानवताकी प्रतीक, प्रतिनिधि हो उठी है।

पर?

पर वह अपने आपमें अकेला है, अनन्त आकाश तथा विस्तृत वसुधाके बीच उसका अस्तित्व अधरताका प्रतीक है। उसका ऐसा कोई नहीं जो उसे अपना कह सके, कोई नहीं जो उसकी निन्दा करनेकी सामर्थ्य रख सके। प्रकृतिके जिन कुरूप-सुरूप उपादानोंको, ज्योतिर्मण्डलके प्रकाशमान नक्षत्रोंको, नद-नदी-निर्झरोंको उसने अविभाज्य प्यार किया, अपनेमें आत्म-सात् किया, क्या वे भी उससे दूर नहीं हैं? उसके एकाकी, निरीहपनको अनुभव कर शायद यह सब भी अपनी विवशताओंको, दुर्बलताओंको देख, आँखोंसे ओझल हो जाते रहते हैं। और वह है जो अपना कार्य अनवरत किये जा रहा है। विश्वकी मानवताको

प्रकाश देनेवाला वह, शायद अपने प्रति अंधकारके सिवा किसीकी कल्पना भी नहीं कर पा रहा है।

जिसे अपनी ही सुध नहीं है, अपने अस्तित्व तकसे बेखबर है, क्या ऐसा व्यक्ति दुनियादार हो सकता है ? और जो दुनियादार नहीं है, उस विश्व-वेदनासे व्यथित मानवको दुनियामें रहनेका क्या अधिकार है ?

एक दूसरा चित्र

एक लेखक है, जो वक्ता भी है। शरीरसे सुन्दर, वाणीमें माधुर्य। आँखोंमें चपलता, कार्यमें कुशलता। पाँवोंमें स्फूर्ति, अँगुलियोंमें चुटकी। कला और साधना ऋषियोंकी थाथी है, हमें तो चाहिए पैसा। पैसा मिले इसी लिए लिखते है। लिखा कि टोली तैयार है, अखबारवाले मित्र है। व्यवसायी है तो विज्ञापनका बाजार गर्म है। सभा-सोसाइटी, चाय-पार्टी, मीटिङ्ग-बीटिङ्ग, गप-शपमें उन्हें सबके आगे देखा जा सकता है। दिखानेवाले साथ ही जो रहते है।

यों तादात्म्य किसी वस्तुसे नहीं, पर जा बैठें सबके ऊपर। पत्रिकाओंने छापा, नेताओंका आशीर्वाद मिला, वाणीकी कुशलताने कानोंको आनन्द दिया, रूप और आँखोंकी मोहकताने विश्वास दिलाया और यों मान लिए गये चोटीके कलाकार। नाम बढ़ा, यश मिला और धन भी घरमें आने लगा।

लेकिन ?

लेकिन कौन जानता है भीतर क्या है! इतना नाम, यश और धन पल्ले पड़नेपर भी ऐसी कौन-सी शक्ति है जो भीतर ही भीतर चोट कर रही है, पीडित कर रही है। पर दूसरोंको इससे क्या। इसे अपनी सुध है, दूसरोंकी हो तो हो। हींग लगे न फिटकरी रङ्ग चोखा लानेमें कुशल तो वे हैं ही। ऐसे ही आदमी तो होते हैं दुनियादार। हाँ, साहब इन्हें ही होता है अधिकार कि वे दुनियामें रहें।

परन्तु एक और है तीसरा चित्र

यह ? यह कौन ?

हाँ, यह आदमी है आदमी। यह न कलाकार है न दुनियादार। यह तो वह है जो कलाके पीछे पड़कर न दुनियासे दूर हटना चाहता है, न कुशलताका आश्रय लेकर दुनियामें रहना चाहता है। यह यशसे भागता है, पर वह उसके पीछे दौड़ता है। दुनियाको वह छोड़ना चाहता है, वह उसे नहीं छोड़ना चाहती। इसने विश्वके लिए अपनेको निर्मोही बना लिया है, पर उसके प्रति मोह बढ़ता जाता है। दुनियादारने पूछा, उत्तर मिला मैं कलाकार हूँ। कलाकारको उत्तर मिला कि वह दुनियादार है। लेकिन वह स्वयं कहता और जानता नहीं कि वह क्या है। बड़ा अजीब मामला है। और साधना ?

साधना ? साधना क्या ? वह स्वयं नहीं जानता कि उसकी साधना क्या है। उसे अचरज है कि सब उसके पीछे हाथ धोकर क्यों पड़े है। कहता है कि मैं तो कुछ नहीं। किसीका उसे कुछ नहीं चाहिए सब तो छोड़ दे रहा है। लो यह फेंका, फेंक ही तो दिया।

लोगोंने कहा नहीं जी यह पक्का कलाकार है, पूरा साधक है। देखो न, कैसी सीधी पर चुभने वाली बातें करता है! क्या ऐसा-वैसा दुनियादार इतनी गहरी कह सकता है। यह जीवनका कलाकार है।

हाँ, है, होगा। पर ?

पर उसके भीतरको कौन जान पाया है ? उसने अब तक कहा, सुना तथा समझाया। माना किसीने नहीं। क्यों माने ?

× × ×

चित्र प्रथम ?—दुख, किन्तु स्वयंके लिए सुख।
चित्र द्वितीय ?—सुख, किन्तु अन्तमें दुख।
चित्र तृतीय ?—सुख-दुखकी आँख-मिचौनी।

हिन्दीके दो नवीन महाकाव्य

(मुनि कान्तिसागर)

"मुझे जैनोंके प्रति कोई विशेष प्रकारका पक्षपात नहीं है क्योंकि मानवमात्र मेरे लिए समान है। मैं जैनकुलमें पैदा हुआ हूँ इससे कुछ मोह अवश्य है। अतः कहनेमें आ जाता है। हमारा जैनसमाज अपनी साम्प्रदायिक सीमाओंकी रक्षाके लिए प्रतिवर्ष पर्याप्त धन व्यय करता है। यदि उसमेंसे दशांश भी साहित्यिक कार्यमें या कोई जनकल्याण कार्य, स्थायी कार्योंमें व्यय करे तो कितना अच्छा हो! भगवान महावीरकी सैद्धान्तिक प्रणालीके अनुसरण करने तक में हम पश्चात्पाद-से प्रतीत हो रहे हैं। हमारा प्राचीन साहित्य ऐसा है जिसपर न केवल हम भारतीय ही, अपितु सारा संसार गर्व कर सकता है। जब वर्तमान जैनसाहित्यको देखते हैं तो मनमें बड़ी व्यथा होती है।"

हिन्दीके सुप्रसिद्ध लेखक और कुछ अंशोंमें चिन्तक बाबू जैनेन्द्रकुमार जैन गत मास कलकत्ता जाते समय पटनामें ठहरे थे। उस समय आपने मेरे सम्मुख जैनसमाजकी दान-विषयक भीषण अव्यवस्थाका नग्न चित्र बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उपस्थित करते हुए उपर्युक्त शब्द कहे।

श्री जैनेन्द्रजीके शब्दोंमें कितनी वेदना भरी हुई है। अखण्ड सत्य चमक रहा है। हम प्राचीनतापर फूले नहीं समाते, परन्तु वर्तमानपर लेशमात्र भी विचार तक नहीं करते जो वह भी एक दिन प्राचीन होकर रहेगा। अतः वर्तमान जैनसमाजपर साहित्यिक दृष्टि-से विचार करना अत्यन्त वांछनीय है। समाजको उच्च स्तरपर सामयिक साहित्य ही ले जा सकता है। प्रत्येक युग अपनी-अपनी समस्याएँ रखते हैं। इनकी उपेक्षा करना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। युवक-वर्ग क्या चाहता है यह प्रश्न साहित्य-निर्माताके सम्मुख रहना ही चाहिये। एवं जिस भाषाका युग होगा उसीमें उसे अपनी भाव-धारा मिला देनी होगी। युगके साथ रहना है तो नूतन साहित्य सृजन करना ही होगा जो मानसिक पौष्टिक खाद्यकी पूर्ति कर सके।

जैन साहित्यका अन्वेषण करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि जैन विद्वानोंने सदैव अपने विचारोंको रखनेमें सामयिक भाषाओंका अपनी कृतियोंमें बड़ी उदारता-से उपयोग किया है। यही कारण है कि आज प्रान्तीय भाषाओंका साहित्य-भण्डार जैनकृतियोंसे चमक रहा है। जैन विद्वद्योग्य एवं लोकभोग्य साहित्यके सृष्टा थे। यदि स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया जाय कि "भारतीय भाषाओंके संरक्षण और विकासमें जैनोंने बहुत बड़ा योगदान किया है।" तो अत्युक्ति न होगी। परन्तु वर्तमानमें जैनसमाजका बहुत बड़ा भाग उपयुक्त परम्पराके परिपालनमें असमर्थ प्रमाणित हो रहा है अर्थात् वह राष्ट्रभाषा हिन्दीकी उपेक्षा कर रहा है। जिस समय जिस भाषाका प्राबल्य हो उसीमें प्रसारित सिद्धान्त ही सर्वग्राह्य हो सकते हैं। आज कहानी, उपन्यास और कविताकी चारों ओर धूम मची हुई है। गम्भीर साहित्यके पाठकोंकी संख्या अपेक्षाकृत अत्यल्प है। अतः क्यों नहीं उन्हींके द्वारा जैन-संस्कृतिके तत्वोंका प्रचार किया जाय। इससे दो लाभ होंगे—आम जनता जैनसंस्कृतिके हृदयको सरलतासे पहिचानेगी एवं हिन्दी साहित्यकी श्रीवृद्धि होगी। हमें प्रसन्नता है कि बनारससे श्रीयुत बाल-चन्द्र जैन आदि कुछेक उत्साही युवकोंने वैसा प्रयास चालू किया है। हम यहाँपर उन बन्धुओंका स्वागत करते हैं और भविष्यके लिए आशा करते हैं कि वे अपनी धाराको शुष्क न होने देंगे।

विहारके प्रथम पंक्तिके कवियोंमें कविसम्राट

श्रीरामधारीसिंह 'दिनकर'का स्थान अत्यन्त महत्व-पूर्ण और उच्च है। आपकी समस्त रचनाओंपर हमें आलोचना लिखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उसपर-से हम कह सकते है कि दिनकरजीमें कल्पनाशक्ति और सूक्ष्मतम प्रतिभाका अद्भुत सामंजस्य है। भाषा-में आवश्यक प्रवाह न होते हुए भी ओजको लिए है जो कविकी खास सम्पत्ति होती है। अभी आप विहार सरकारके डिप्टी डायरेक्टर ऑफ पब्लिसिटि हैं। अतः साहित्यिक साधना शिथिल गतिसे चलती है। बुद्धदेवपर आपने बहुत कुछ लिखा है। वह भी अधिकारपूर्ण! इन दिनों हमारा उनसे प्रायः मिलना होता ही रहता है। बातचीतके सिलसिलेमे यूहीं आपने एक दिन कहा—"भगवान बुद्धपर तो काव्य लिखे गये। गुप्तजीने बुद्ध, अल्ला—कल्लापर तो लिखा, परन्तु महावीरपर तो एक भी काव्य आज तक नहीं लिखा गया। यह भी एक आश्चर्य ही है। यदि कोई प्रयास करे तो क्या ही अच्छा हो ?" हमने कहा, "सबसे अच्छा तो यही होगा कि आप ही के द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो। जब बुद्धपर आपने लिखा तो महावीरपर क्यो नहीं। वे भी तो आप ही के प्रान्तकी महान् विभूति थे ? अतः आपका कर्तव्य हो जाता है कि भारतीय संस्कृतिके अद्भुत प्रकाशस्तम्भस्वरूप वर्धमानपर श्रद्धाञ्जलिस्वरूपमें ही कुछ लिखें।"

जैनसमाजका सौभाग्य है कि दिनकरजीने श्रमण भगवान महावीरपर एक महाकाव्य लिखना स्वीकार कर लिया है। शीघ्र ही कार्यारम्भ होगा। दिनकरजी महावीरके ही वंशज हैं। अतः उनका कर्तव्य है। हम उनका हार्दिक स्वागत करते है और उनसे भविष्यके लिये आशा करते हैं कि जैनसंस्कृतिके उन तत्वोंको वे अपनी कविताका माध्यम बनावेंगे जिनका सम्बन्ध विहारसे है या था।

विहारके उदीयमान कवियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं—'अरुण,' जिनपर प्रान्तवासी मुग्ध हैं। वे सर्वोच्च कवियो द्वारा प्रशंसित हैं। स्वर्ण-सीता, मीरा-दर्शन-(दीशशिखाके तौरपर) विद्यापति आदि रचनाओंने जनताके हृदयपर बड़ा गहरा स्थान प्राप्त कर लिया है। आप अब भगवान महावीर और स्थविर स्थूलभद्र एवं गणिका कोशापर दो महाकाव्य प्रस्तुत करने जा रहे हैं। कल्पनामें नाविन्य और आध्यात्मिकता आपकी खास विशेषता है। आप चित्रकार होनेके कारण कुछ चित्रका भी निर्माण करेंगे। अरिष्टनेमि-पर भी एक काव्य वे लिखना चाहते हैं, पर यह विचाराधीन है।

उपर्युक्त काव्य भले ही अजैन विद्वान् कवियो द्वारा निर्मित हो पर मेरा विश्वास है कि उनमें जैन-संस्कृतिके प्रति लेशमात्र भी अन्याय न होगा, तथा कथित कवियों द्वारा निर्माण करवानेका हमारा केवल इतना ही ध्येय है कि उनका विहारमे अपना स्वतन्त्र स्थान है और सार्वजनिकरूपमे इनकी रचनाएँ समादृत की जाती है अतः नवीन महाकाव्यो द्वारा,जितना अच्छा व्यापक प्रचार होगा उतना शायद जैन कविकी रचनाका न हो, इसका अर्थ यह नहीं कि जैन कवियोंमे वह क्षमता नहीं जो जानतिक अभिरुचिको अपनी ओर आकृष्ट न कर सकें। परन्तु प्रासङ्गिक रूपमें इतना तो मुझे निःसंकोच भावसे कहना पड़ेगा कि ऐसे जैन विद्वान् कम है जिनके नाममात्रसे जनता प्रभावित हो। वैसी पृष्ठभूमि तैयार करना जरूरी है। श्रावीरेन्द्र-कुमार उपर्युक्त पंक्तियोंके अपवाद हैं। मैंने देखा जनतामें उनकी रचनाकी बड़ी प्रतीक्षा रहती है। उनमे प्रतिभा है।

हम तो और प्रान्तीय जैन जनतासे अनुरोध करेंगे कि वे अपने प्रान्तके प्रसिद्ध कवि, औपन्यासिक और कहानीकारोंको जैन साहित्य अध्ययनके लिये देकर उनसे जैन संस्कृतिपर प्रकाश डालनेवाला साहित्य तैयार करवाया जाय तो बहुत बड़ा काम होगा।

पटना, ता० १०-१०-१९४८

मथुरा-संग्रहालयकी महत्त्वपूर्ण जैन पुरातत्त्व-सामग्री

(श्रीबालचन्द्र जैन एम० ए०, संग्रहाध्यक्ष 'जैनसंग्रहालय सोनागिर')

मथुराका महत्त्व

पुरातन कालमे मथुरा और उसके आसपास हिन्दू, जैन और बौद्ध तीनों धर्मोंकी त्रिवेणी बहती थी। जनतापर तीनों धर्मोंके विचारो और मान्यताओं-का अच्छा प्रभाव था और उनके केन्द्र-स्थानोकी स्थितिसे विदित होता है कि उस समय तीनो धर्मोंके माननेवाले पारस्परिक विद्वेषसे परे थे। वर्तमान खुदाईसे यह स्पष्ट ज्ञात हो गया है कि मथुरा केन्द्र आपसी द्वेष और कलहके कारण नष्ट नहीं हुआ था बल्कि किसी भयङ्कर विदेशी आक्रमणकी बर्बरता और उनकी तहसनहस नीतिका शिकार बनकर ही यह भूगतवासी बन गया। मथुराकी संस्कृति और वहाँके पुरातत्त्वको नष्ट करनेवाली जाति हूण थी जो अपनी बर्बरता और असंस्कृतपनेके लिए प्रसिद्ध है। उनमें भी जो कुछ बचा रहा वह मूर्तिपूजाके विरोधी मुसलमानोंकी आँखोंसे न बच सका और अन्ततोगत्वा मथुराकी वह कला सदाके लिए विलीन हो गई।

जैन इतिहासमें मथुराका एक ही स्थान है। दिगम्बर सम्प्रदायका तो यह गढ़ था. प्राचीन आगमो और सिद्धान्तग्रन्थोंकी भाषा मथुराकी शौरसेनी प्राकृत ही है. अनेक विहार और श्रमणसंघ मथुरा-क्षेत्रमें स्वपरकल्याणमें प्रवृत्त थे। प्राचीनतम जैन मूर्तियाँ मथुरासे ही प्राप्त हुई है। और जितनी अधिक संख्यामें सुन्दर और कलापूर्ण मूर्तियाँ और शिल्प यहाँके कङ्काली टीलेकी खुदाईमे प्राप्त हुए हैं उतने किसी भी अन्य स्थानसे प्राप्त नहीं हुए।

प्राप्त लेखों और आयागपट्टोपर बनी हुई प्रतिकृति-से यह प्रमाणित हो गया है कि ईसासे दूसरी शती पूर्व मथुरामें एक विशाल जैन स्तूप था जो बौद्ध स्तूपोंकी भाँति सुन्दर वेदिका. तोरण आदिसे सुसज्जित था। इस विशाल स्तूपके उल्लेखसे अब इसमें शङ्काको कोई स्थान नहीं रह जाता कि प्राचीनकालमें जैनोंमें भी स्तूपो और चैत्योंकी पूजाका प्रचलन था।

मथुरा-कला

मथुराकी जैनकला बौद्धकलाकी भाँति ही कुषाण और गुप्त राजाओंके समयमें क्रमशः विकसित होती गई। इन दोनों युगोंकी जैन और बौद्ध मूर्तियों एवं अन्य शिल्पके तक्षणमें कोई विशेष अन्तर न था। सही बात तो यह है कि कला कभी किसी सम्प्रदाय-विशेषके नामसे विकसित हुई ही नहीं। इस लिए जैनधर्म या सम्प्रदायके नामपर कलाका विभाजन करना उचित नहीं प्रतीत होता। कलाका विकास कालके अनुसार होता है। और जो मूर्ति या मन्दिर जिस कालमें निर्मित होते हैं उनपर उस कालका प्रभाव अवश्य रहता है चाहे वे जैन हो या बौद्ध या अन्य कोई। यही कारण है कि जैन और बौद्ध स्तूपोंके तोरण. वेदिका आदिमें समानता है।

डाकूर बूलरका मत है:—

"The early art of the Jains did not differ materially from that of the Buddhists. Indeed art was never communal. Both sects used the same ornaments, the same artistic motives and the same sacred symbols, differences occuring chiefly in minor points only. The cause of this agreement is in all probobility not that adherents of one sect immitated those of the others, but that both drew on the national art of India and employed the same artists."

Epigraphia Indica Vol.II Page 322.

कङ्काली टीलेसे प्राप्त वेदिकास्तम्भ आदिकी निर्माणकला बौद्धस्तूपोंके वेदिका-स्तम्भों आदिकी कलाके ही जोड़की है। प्राचीनतामें भी जैनकला बौद्धकलासे पिछड़ी नहीं है यह कङ्काली टीलासे प्राप्त लेखोंमें जैनस्तूपके उल्लेखसे प्रमाणित हो जाता है।

कुषाणोंके राज्यकालमें ही मथुराकी कलाका प्रभाव चारों कोनोंमें फैल गया था। सारनाथ, कौशाम्बी, सांची आदि स्थानोंसे मूर्तियोंकी मांग आती थी और मथुरा उसकी पूर्ति करता था। अन्य स्थानों-के तक्षक और मूर्तिनिर्माता इन्हीं मूर्तियोंके आधारपर स्थानीय शैलीकी मूर्तियोंका निर्माण करते थे। मथुरा-में गढ़ी गई मूर्तियाँ और शिल्प लाल चित्तेदार पत्थरकी होती थीं जो यहाँ बहुतायतसे मिलता है। यद्यपि यहाँकी कला सांची और भरहुतकी देशी कलाके साथ ही साथ कुछ अंशोंमें गांधारकी कलासे भी प्रभावित थी। तो भी मथुराकी कलामें पूर्ण मौलिकता है।

कुषाण-कालकी मूर्तियाँ चौड़े चेहरे, चिपटी नाक और स्थूल कायकी विशेषताओंसे गुप्तकालकी मूर्तियों-से सरलतासे पृथक् की जा सकती है जिनके गोल चेहरे और नुकीली नाकमे सौन्दर्य भर दिया गया है। गुप्त-कालकी मूर्तियाँ विशेष आकर्षक और प्रभावक हैं। इस कालमें मूर्तिनिर्माणकला अपनी चरम सीमापर पहुँच चुकी थी। कुषाण-कालमें जो प्रभामण्डल अत्यन्त सादे बनाए जाते थे, इस कालमें वे अत्यन्त अलकृत बनाए जाने लगे थे और उनमें हस्तिनख मणिबन्ध, तथा अनेक बेलबूटे भरे जाते थे। कुषाण-युगकी मूर्तियोंका सिर प्रायः मुण्डितमस्तक होता था पर गुप्त-युगमें छल्लेदार बालोंकी रचना और भी भली लगती है। यह अन्तर मथुरा संग्रहालयके कुषाणकालीन सिर नं० बी ७८ और गुप्तकालीन सिर नं० बी ६१में तथा कुषाणकालीन मूर्ति नं० बी २, बी ६३ और गुप्त-कालीन मूर्ति नं० बी १, बी ६ आदिमें स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है।

खुदाईका इतिहास

मथुराके कङ्काली टीलेकी खुदाई सर्वप्रथम सन् १८७१में श्रोकनिघमने की और इस खुदाईमें उन्हे अनेक तीर्थङ्कर मूर्तियाँ—जिनपर कुषाणवंशी प्रतापी सम्राट् कनिष्कके ५वें वर्षसे वासुदेवके ९८वें वर्ष तकके लेख खुदे थे—मिलीं। दूसरी खुदाई १८८८-९१में विस्तृतरूपसे डाक्टर फ्यूररने की और इसमे उन्होंने ७३७ मूर्तियाँ तथा अन्य शिल्प खोद निकाले। वे सब आज भी लखनऊ संग्रहालयमें सुरक्षित है। इसके पश्चात् पं० राधाकृष्णजीने भी कङ्काली टीलेकी खुदाई की और अनेक प्रकारकी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त की।

इस प्रकार कङ्काली टीला जैन सामग्रीके लिए खदान सिद्ध हुआ है। लखनऊ संग्रहालय इसी सामग्रीसे सजा हुआ है। पीछेकी सामग्री मथुरा संग्रहालयमें सुरक्षित है और वहाँ सैकड़ो मूर्तियाँ और लेख विद्यमान हैं। उन्हींमेसे कुछेकका संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जाएगा।

आयागपट्ट(क्यू २)

संग्रहालयकी दरीची नं० २ (Court B)के दक्षिणी भागमे एक वर्गाकार शिलापट्ट प्रदर्शित है, इसपर एक स्तूप तोरणद्वार और वेदिकाओं सहित बना हुआ है। पट्टपर खुदे हुए लेखसे विदित होता है कि इस प्रकारके शिलापट्टोंका आयागपट्ट कहा जाता था और ये पूजाके काममे लाए जाते थे। यह अनुमान किया जाता है कि उक्त आयागपट्टपर उत्कीर्ण तोरण और वेदिका-मण्डित स्तूप मथुराके विशाल जैनस्तूपकी प्रतिकृति है जो ईसासे दूसरी शती पूर्व स्थित था।

प्रस्तुत आयागपट्टपर एक लेख खुदा हुआ है जिसके अनुसार वृद्ध गणिका लवणशोभिकाकी पुत्री और श्रमणोंकी श्राविका वसु नामक एक वेश्याने इसे दानमे दिया था। लेखकी लिपि ई० पू० पहली शतीकी है और मूल लेख निम्न प्रकार है:—

१. *नमो अरहतो वर्धमानस आरामे गनिका*
२. *ये लोणशोभिकाये धितु शमणसाविकाये*
३. *नादाए गणिकाए वासु (यु) आरहातो देविक (उ) ल*
४. *आयामसभा प्रपा शिलाप (तो) पतिस्ठापिता निगथा*

५. *नो अरह (ता) यतने स (हा) मातरे भगिनीये धिताए पुत्रेण*

६. *सर्वेन च परिजनेन अरहतपूजाये*

इसी प्रकारके और भी अनेक आयागपट्ट मथुरा-की खुदाईमें प्राप्त हुए हैं। नं० २५६३ भी एक आयागपट्टिका है जो शक सं० २१में दान की गई थी। क्यू ३ भी आयागपट्ट ही है। इसके सिवाय अनेक आयागपट्ट लखनऊके प्रान्तीय संग्रहालयमें सुरक्षित हैं।

नैगमेष मूर्तियां

दरीची नं० ३ (Court C)के दक्षिणी भागमें नं० ई १, ई २ और २५४७ नं०की तीन मूर्तियाँ रखी हुई हैं। ये कुषाणकालीन हैं और इनके मुख बकरेके आकारके हैं। ये नैगमेष हैं और जैन मान्यताके अनुसार सन्तानोत्पत्तिके देवता हैं। इनके हाथोंमें या कन्धोंपर खेलते हुए बच्चे चित्रित किए गए हैं। प्रस्तुत मूर्तियोंमें नं० ई २ नैगमेषका स्त्रीरूप है और ई १ तथा २५४७ पुरुषरूप।

मध्यकालमें जैन लोग सन्तानोत्पत्तिके लिए एक नए प्रकारकी मूर्तियोंकी स्थापना और पूजा करने लगे थे। इनमें जैन यक्ष और यक्षिणी कल्पवृक्षके नीचे विराज-मान अङ्कित किए जाते थे। दरीची नं० ४ (Court D) दक्षिणी भागकी २७८ नं०की मूर्ति इस प्रकारकी मूर्तियोंका नमूना है।

देवियोंकी मूर्तियां

मथुरा संग्रहालयके षट्कोण गृह नं० ४में ब्राह्मण धर्मकी अनेक मूर्तियोंके साथ दो जैन देवियोंकी मूर्तियाँ भी प्रदर्शित हैं। इनमें डी ७ बाईसवें तीर्थङ्कर नेमि-नाथकी यक्षिणी अम्बिका है। इसके बाईं जंघापर गोदमें बालक है और नीचे इसका वाहन सिंह उत्कीर्ण है। ऊपर ध्यानस्थ नेमिनाथके दोनों ओर वैजयन्ती धारण किए वासुदेव कृष्ण और हलधारी बलरामकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। देवी लीलासनमें स्थित है और हार करधौनी आदि अनेक आभूषण धारण किए हुए है। बालकके गलेमें भी कण्ठी है।

नं० डी ६ ऋषभदेवकी यक्षिणी चक्रेश्वरीकी मूर्ति है। इसके आठ हाथ हैं और आठोंमें चक्र है। इसका वाहन गरुड है जो नीचे दिखाया गया है। ऊपर ऋषभनाथकी पद्मासन ध्यानस्थ मूर्ति है।

ये दोनों मूर्तियाँ मध्यकालकी हैं और कङ्काली टीलेसे प्राप्त हुई हैं।

सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं

मथुरा संग्रहालयमें अनेक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं हैं। इन प्रतिमाओंमें चारों ओर एक-एक तीर्थङ्करकी मूर्ति बनी है। चारों ओरसे दर्शन होने तथा चारों ओरसे कल्याणकारी होनेसे इन प्रतिमाओंको 'प्रतिमा सर्वतोभद्रिका' कहा जाता था। इनपर खुदे हुए लेखोंमें भी यही नाम मिला है। इस प्रकारकी कुषाण-कालीन प्रतिमाएँ अधिकतर खड़ी होती हैं। नं० बी ७० एक ऐसी ही मूर्ति है जो सं० ३५में दान की गई थी। अन्य मूर्तियोंमें भी लेख है। नं० बी ७१ संवत ५ (ई० ८३)की है। सर्वतोभद्रिकाओंके कुषाणकालीन अन्य नमूने बी ६७-६८ आदि हैं। पीछेकी सर्वतो-भद्रिकाओंके नमूने बी ६६ आदि हैं जो उत्तर गुप्त-कालकी हैं। नं० बी ६६में चारों ओर चार तीर्थङ्कर पद्मासन और ध्यानमुद्रामें स्थित हैं। इसका ऊपरी भाग खण्डित है।

तीर्थङ्करोंकी प्रतिमाएं

यद्यपि कङ्काली टीलेसे प्राप्त उत्तमोत्तम मूर्तियाँ लखनऊके प्रान्तीय संग्रहालयमें ले जाई गई हैं फिर भी मथुरा संग्रहालयमें अनेक सुन्दर और कलापूर्ण तथा विभिन्न शैलीकी तीर्थङ्कर मूर्तियाँ अभी भी सुरक्षित हैं। स्थानकी कमीसे उनमेंसे मुख्य मुख्य ही प्रदर्शन मन्दिरमें सजाई गई हैं, अन्य सब गोदामोंमें भरी पड़ी हैं।

मथुरासे प्राप्त तीर्थङ्कर मूर्तियाँ सबकी सब दिगम्बर सम्प्रदायकी हैं। नग्न होनेके कारण ये बुद्धमूर्तियोंसे सहज ही अलग पहचानी जा सकती हैं। पद्मासन मूर्तियाँ श्रीवत्स चिह्नसे पहचान ली जाती हैं। पहचाननेका एक और साधन है, वह यह कि

बुद्धके मस्तकपर उष्णीष होता है और जैन तीर्थङ्करोंकी मूर्तियोंमें इसका अभाव है।

मूर्ति-निर्माणकी दृष्टिसे हम मथुरा कलाको त्रिधा विभाजित कर सकते हैं:—

(१) *कुषाणकालीन कला*—कुषाणकालकी जैन मूर्तियोंमें समयके प्रभावकी वही सब विशेषताएँ हैं जो बुद्ध मूर्तियोंमें हैं। इस समयकी जैन मूर्तियाँ खड्गासन और पद्मासन दोनों आसनोंमें पाई जाती हैं और उनमेंसे अधिकांश अभिलिखित हैं। नं० बी २-३-४-६३ आदि पद्मासन और बी ३५-३६ आदि खड्गासनके नमूने हैं।

बी २ कुषाण राजा वासुदेवके राज्यकालमें शक सं० ८३में जिन-शर्मा द्वारा दान की गई थी। बी ४ तीर्थङ्कर ऋषभदेवकी अभिलिखित प्रतिमा है और उसपर लिखा गया मूल लेख इस प्रकार है:—

१. *सिद्धं महाराजस्य रजतिरजस्य देवपुत्रस्य (शाही) वासुदेवस्य राज्यसंवत्सरे ८० (+)४ ग्रीष्ममासे द्वि २*
२. *दि ५ एतस्य पूर्वाया भट्टदत्तस्य उगनिदकस्य वधुये स्य कुटुबिनीये गृत्त कुमार (द) त्तस्य निर्वर्तन*
३. *भगवतो अरहतो रिषभदेवस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापिता धरसहस्य कुटुविनीये ..*

इस लेखमें महाराज वासुदेवकी सभी राजकीय उपाधियों तथा संवत ८४में भगवान अर्हन ऋषभदेवकी प्रतिमा प्रतिष्ठित किए जानेका उल्लेख है।

नं० ४६० वर्धमान स्वामीकी प्रतिमा थी जिसकी चौकी मात्र अवशिष्ट रह गई है। इसे संवत ८४ (१६२ ई०)मे दमित्रकी पुत्री ओखरिका आदिने दानमें दिया था। मूल लेख इस प्रकार है:—

१. *सिद्धं स ८० (+) ४ व ३ दि २० (+) ५ एतस्य पूर्वाया दमित्रस्य धितु ओख*
२. *रिकाये कुटुबिनीये दत्ताये दीनं वर्धमान प्रतिमा*
३. *गणातो कोट्टियातो*

बी ६३ पद्मासन मूर्ति है और इसमें चौकीपर धर्मचक्रकी पूजाका दृश्य है। तीर्थङ्करके दोनों ओर दो पार्श्वचर हैं. पीछे छायामण्डल और छातीपर श्रीवत्साङ्क है। कुषाणकलाका यह सुन्दर उदाहरण है। बी १२ ऋषभदेवकी प्रतिमा है और इसपर उनका चिह्न बैल उत्कीर्ण है।

(२) *गुप्तकालीन कला*—भारतीय कलाके इतिहासमें गुप्तयुग स्वर्णयुग माना जाता है। इस युगमें आकर कला पूर्ण विकसित होचुकी थी और भाव-प्रदर्शन उसका मुख्य लक्ष्य हो गया था। इस कालमें बनी मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर सुडौल समानुपात और प्रभावकतापूर्ण हैं। सारनाथकी धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रामें स्थित बुद्धमूर्ति और मथुराकी भिक्षु यशदिन्न द्वारा दान की गई अभयमुद्रामें खड़ी बुद्धमूर्ति (नं० ए ५) इसी कालकी देन हैं।

जैन मूर्तियोंमेंसे मथुरा संग्रहालयकी नं० बी १की मूर्ति विशेष महत्त्वकी है जो दर्गीची नं० २ (Court B) दक्षिणी भागमें अनेक मूर्तियोंके साथ प्रदर्शित है। इसमें एक तीर्थङ्कर उत्थित पद्मासनमें समाधिमुद्रामें बैठे हैं। उनकी दृष्टि नासिकाके कोणपर जमी हुई है, जो जैन शास्त्रोंमें ध्यानका आवश्यक अङ्ग बताया गया है। पीछे हस्तिनख, मणिबन्ध और अनेक प्रकारके बेलबूटोंसे अलंकृत प्रभामण्डल है जो गुप्तकालकी विशेषता है। यह मूर्ति मथुरामें प्राप्त तीर्थङ्कर मूर्तियोंमें कला और प्रभावशीलतामें सर्वोत्कृष्ट है। उत्थित पद्मासन एक कठिन आसन माना गया है और यह उसका उदाहरण है।

मूर्ति संख्या बी ६-७-३३ गुप्तकालीन कलाके अन्य नमूने हैं। बी ३३ खड्गासन मूर्ति है जिसके नीचे और ऊपरका भाग टूट गया है, सिर्फ धड़ बाकी है। तीर्थङ्करके दोनों ओर दो पार्श्वचर (?) कमलपर खड़े हैं और पीछे अलकृत प्रभामण्डल है। नं० बी ६-७ पद्मासन और ध्यान मुद्राकी मूर्तियाँ हैं और ऋषभनाथकी हैं। इनके कन्धोंपर बाल लटक रहे हैं जो ऋषभनाथका विशेष चिह्न है। दोनों मूर्तियोंमें दोनों ओर पार्श्वचर हैं और पीछे पर्वतन बेलबूटोंसे अलंकृत प्रभामण्डल भी है।

वैसे तो इस कालकी और भी अनेकों मूर्तियाँ

संग्रहालयमें प्रदर्शित हैं पर उनमेंसे बी २० और सर्प-फणयुक्त पार्श्वनाथ (१५०५)के साथ ही साथ २६८. ४८८ नं०की भी द्रष्टव्य हैं।

(३) *उत्तरगुप्त और मध्यकालकी कला*—जहाँ गुप्तकाल अपनी सरल-भावव्यंजनाके लिये प्रसिद्ध है वहीं मध्यकाल कृत्रिम अलंकरण और सजावटके लिये ध्यान देने योग्य है। इस कालकी बनी मूर्तियों-में वह स्वाभाविकता नहीं रही जो गुप्त कालके तक्षकों की छैनीसे निसृत हुई थी।

मथुरा संग्रहालयकी १५०४ नं० की ऋषभनाथकी मूर्ति उत्तरगुप्त कालकी है। इसका आसन बहुत सुन्दर है और मस्तकपर तीन छत्र तथा पीछे प्रभा-मंडल है। ऊपर पंच जिन हैं। नं० बी ६६ उत्तरगुप्त कालकी सर्वतोभद्रिका प्रतिमा है जिसका उल्लेख पहिलेसे किया जा चुका है।

अन्य मूर्तियोंमें बी ७७ सुन्दर अलंकृत आसन पर ध्यानमुद्रामें स्थित तीर्थंकर नेमिनाथकी मूर्ति है। इसकी चौकीपर शंख चिन्ह, ऊपर छत्र तथा पीछे प्रभामंडल है। नं० बी ७५ कमलाकार प्रभामंडल और हरिण चिन्ह युक्त शान्तिनाथकी मूर्ति है। बरामदेमें रक्खी २७३८ नं० पद्मासन मूर्ति भी इसी कालकी है।

तीर्थङ्कर मूर्तियोंके सिर

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, जैन तीर्थं-करोंकी मूर्तियोंके सिर उष्णीषहीन होनेसे बुद्ध-सिरोंसे अलग किये जा सकते हैं। मथुरा संग्रहालय-में इस प्रकारके सिरोंकी संख्या कम नहीं है और वहाँ कुषाण और गुप्त दोनों कालोंके मूर्तिसिर प्रदर्शित हैं।

षटकोण गृह नं० १ सिरोंका प्रदर्शनगृह है। यहाँ अनेक बुद्ध, बोधिसत्व और हिन्दू देवताओंके सिरोंके साथ ही जैन तीर्थङ्करोंके सिर भी दीवारके सहारे एक कतारमें सजे हुये हैं। नं० बी ७८ किसी तीर्थङ्करका कुषाण कालीन सिर है, चौड़ा चेहरा चपटी नाक और मुंडित मस्तक इसके प्रमाण हैं। नं० बी ४५ गुप्तकालीन सिर है यह उसके घुंघराले बाल, गोल चेहरे आदिसे जाना जा सकता है। नं० बी ५१ में लहरिया केश हैं और भ्रूमध्यमें ऊर्णा चिन्ह बना हुआ है।

सबसे अधिक महत्वका है नं० बी ६१ जो षट्-कोण गृह नं० ३ के बीचोंबीच चबूतरेपर सजा हुआ है। यह किसी विशाल मूर्तिका सिर है और इसकी ऊँचाई २ फुट ४ इंच है। मूर्तिनिर्माणकलाका यह अद्वितीय नमूना है। यह गुप्तकालीन है और मथुरा-के चित्तीदार लाल पत्थरका बना हुआ है।

बाहर बरामदेमें भी सिर प्रदर्शित हैं जो कम महत्वके हैं। बी ४४ किसी तीर्थङ्करका कद्दावर सिर है और बी ६२ तीर्थङ्कर पार्श्वनाथका षट्फण युक्त सिर है जो द्रष्टव्य है। ये दोनों कुषाणकालीन हैं।

सिरोंकी बनावटके अन्य दो और प्रकार प्रतिमा नं० ४८८ और प्रतिमा नं० २६८ में भी लक्षित किये जा सकते हैं।

उपसंहार

इसके अतिरिक्त कंकाली टीलेसे प्राप्त अन्य शिल्प, मिट्टीके खिलौने, वेदीका स्तम्भ, तोरणोंके अंश आदि भी उक्त संग्रहालयमें प्रदर्शित हैं। और इस प्रकार मथुरा संग्रहालयने जैन कलाका संरक्षण और वैज्ञानिकरूपेण प्रदर्शन करके जैनसमाजपर भारी उपकार किया है।

संग्रहालयके क्यूरेटर श्रीकृष्णदत्तवाजपेयी सब क्यूरेटर श्रीचतुर्वेदी अत्यन्त सरलप्रकृति और मिलनसार व्यक्ति हैं। जैन पुरातत्त्वमें आप दोनों-की विशेष रुचि है और हमारे लिये प्रसन्नताकी बात है।

अंतमें मैं जैनसमाजके कलापारखियों और पुरा-तत्त्व प्रेमियोंसे अनुरोध करूंगा कि वे ऐसी योजना बनायें जिससे यहाँ वहाँ बिखरे पुरातत्त्वकी रक्षा हो सके।

अतिशयक्षेत्र श्रीकुण्डलपुरजीके जलमन्दिर
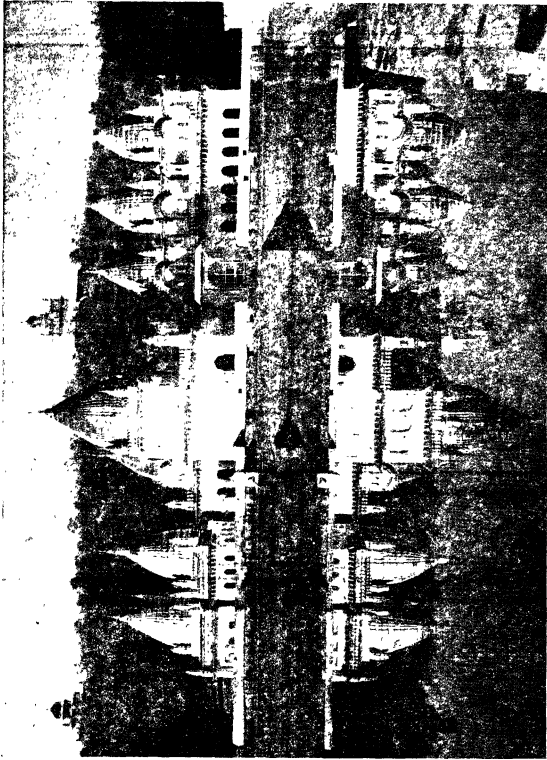
समाज - सेवकोंके पत्र—

जैनधर्मभूषण ब्र० सीतलप्रसादजीके पत्र

[हमारे यहाँ तीर्थङ्करोंका पूरा प्रामाणिक जीवन-चरित्र नहीं, आचार्योंके कार्य-कलापकी तालिका नहीं। जैन सङ्घके लोकोपयोगी कार्योंकी कोई सूची नहीं। जैन राजाओं, मन्त्रियों, सेनानायकोंके बलपराक्रम और शासन-प्रणालीका कोई लेखा नहीं, साहित्यिकोंका कोई परिचय नही। और तो और हमारी आँखोंके सामने कल-परसों गुज़रनेवाले—दयाचन्द गोयलीय, बाबू देवकुमार, जुगमन्दरदास जज, बैरिस्टर चम्पतराय, ब्र. सीतलप्रसाद, बाबू सूरजभान, अर्जुनलाल सेठी आदि विभूतियोंका ज़िक्र नहीं, और ये जो हमारे दो-चार बड़े-बूढे मौतकी चौखटपर खडे है, इनसे भी हमने इनकी विपदाओं और अनुभवोंको नही सुना है और शायद भविष्यमे एक पीढ़ीमें जन्म लेकर मरजानेवालों तकके लिये उल्लेख करनेका हमारे समाजको उत्साह नही होगा।

आचार्योंने इतने ग्रन्थ निर्माण किये, परन्तु अपने गुरुका जीवन-चरित्र न लिखा। खारवेल, अमोघ-वर्ष जैसे जैनसम्राटोंके सम्बन्धमे उनके समकालीन आचार्योंने एक भी पंक्ति नही लिखी। चार पॉच स्मारकग्रन्थ लिखने वाले ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीसे अपनी आत्म-कथा नहीं लिखी गई। स्वर्गीय आत्माओंकी इस उपेक्षाकी चर्चा करके हम धृष्टता जैसा पाप नही करना चाहते। परन्तु दुःख तो जब होता है जब कि जीवित महानुभावोसे निवेदन किया जाता है कि आपके उदर-गह्वरमे जो सामाजिक संस्मरण छुपे पड़े है उन्हें दया करके बाहर फेंक दें। परन्तु सुनवाई नही होती। कौन ग्रन्थ पुराना है, फलॉ श्लोक शुद्ध है या अशुद्ध, नित्य रोजाना कितना घिसता है, इनकी ओर तो सतत् प्रयत्न होता है, परन्तु समाजके इतिहासकी ओर ध्यान नही है।

अतः हमने सोचा है कि इतिहास सम्बन्धी जो भी बात हमारे हाथ आये, उसे हम तत्काल प्रकाशित कर दें। इतिहासके लिये पत्रोंका भी बडा महत्व है। उर्दू-साहित्यमें ऐसे पत्रोके कितने ही सङ्कलन पुस्तकाकार छप चुके है। हम भी 'अनेकान्त'में यह स्तम्भ जारी कर रहे है।

जैन साहित्योद्धारका मूककार्य करनेवाले दिल्लीके भाई पन्नालालजीके पास अनेक कार्यकर्ताओंके हजारों पत्र सुरक्षित है। मेरी अभिलाषानुसार उन्होंने ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीके पत्रोका सार लिखकर भेजा है।

यह सब पत्र भाई पन्नालालजीको लिखे हुए है। ब्रह्मचारीजीने अपने प्रत्येक पत्रमें उन्हें 'भाई साहब' और 'प्रतिदर्शन' लिखा है। हस्ताक्षरमें अपने नामके साथ 'हितैषी' लिखा है। अतः पत्रसे इतना अंश हमने अलग कर दिया है। पत्रमें ब्रह्मचारीजी तारीख और मास तो लिखते थे, परन्तु सन् नहीं लिखते थे। अतः पोष्ट आफिसकी मुहरमे जहॉ सन् पढा गया है साथमें लिख दिया गया है। ब्रह्मचारीजीके पत्र न साहित्यिक हैं न रोचक। फिर भी उनमे जैन समाजके लिये कितनी लगन और चाह थी यह ध्वनित प्रत्येक पत्रसे होता है।

—गोयलीय]

(१) दाहोद (पंचमहाल)
जैनपाठशाला १६-१०

भाई जौहरीमलजीको धर्मस्नेह कहें

(२) प्रभाचन्द्र शास्त्री सुना है—यहाँ नौकरी की है वह धर्मको न त्यागे इसपर ध्यान—

(३) देहलीमें एक जैनबोर्डिङ्गकी बड़ी जरूरत है इसका प्रयत्न करावें।

(४) कर्मानन्दजीका क्या हाल है।

सर्वसे धर्मस्नेह कहे।

(२) हिसार, महावीरप्रसाद वकील
६-११-३६

वैरिस्टर चम्पतराय क्या देहली आयेंगे, कब तक किस दिन किस समय आवेंगे, ठीक पता हो तो लिखें। व. वे देहलीमें कहाँ ठहरेंगे।

मैं १४ या १५ को यहाँसे चलूँगा यदि अवसर हो तो मिलता जाऊँगा।

(३) श्राविकाश्रम, तारदेव
बम्बई ३-११

मैं १५ दिनसे बीमार था। अब ठीक हूँ। जूता पाया। नाप ठीक हुई. आपका धर्मप्रेम सराहनीय है। क्या देहलीमें बो० की कोई तजवीज है।

सर्राफसे व सबसे धर्मप्रेम कहें।

(४) २४-१०

मेर पुस्तक मिली पढ़कर यदि कामताप्रसाद चाहेंगे तो भेज देंगे। लेख निकल गया होगा।

जैनगजट अङ्क ४३ अभी आया नहीं आप सूरत से मँगा लें व वहीं कहींसे देख लें।

उपजातिविवाह आन्दोलनको जोर देना चाहिये।

(५) वर्धा, २२-३-२७

यदि बैरिस्टर साहब तैयार है तो मंडलकी ओरसे उन्हींको गुरुकुलके उत्सवमें भेजिये। यदि मुझे भेजना हो तो नियत तिथि होनी चाहिये व एक जैनी रसोईके लिये साथ चाहिये तथा उनकी स्वीकारता आपके ही द्वारा आनी चाहिये।

(६) वर्धा C/o जमनालाल बजाज
१२-११-२७

ट्रैक्ट नं० ४८ किस विषयका—आप एक कोई इतिहास मुझे भेजिये जो वर्तमान पठनक्रममें चलता हो मैं देखकर उत्तर लिख भेजूँगा उसे आप मंजूर करावें फिर दूसरी पुस्तकको भेजें या प्रोफेसर हीरालालजी कर सकते हैं।

(७) वर्धा, सेठ जमनालाल बजाज
२-११-२७

कार्ड पाया मैं ता० १८ नवम्बर तक यहाँसे बाहर नहीं जा सकता हूं इसलिये आप पं० जुगलकिशोरजी-को बुला लेवें या बाबू न्यामतसिंहजी हिसारको।

जौहरीमलजीका पता क्या है धर्मस्नेह कहे।

(८) खंडवा, २५-१०-२७

मैं अस्वस्थ हूँ चिन्ता की बात नहीं है। जयन्ती पर आनेके सम्बन्धमें अभी कुछ नहीं कह सकता हूं। अबके वर्ष आप तीनों दिन भाई चम्पतरायजीको सभापति बनावें व उनका बढ़िया छपा हुआ भाषण करावें व बाँटें। चम्पतरायजीसे काम लेना चाहिये नहीं तो वे फिर वकालतमें फँस जावेंगे।

यदि लाला लाजपतरायसे कुछ जैनमतकी प्रशंसा पर कहला सकें तो बहुत प्रभाव हो।

(९) खंडवा, १५-१०-२७

पत्र पाया व पुस्तकें पाई। नागपुर भेजा बहुत अच्छा किया उर्दू पुस्तके पहले मिली थीं। आप खूब धर्मप्रचार करें। मेरा लिखा ट्रैक्ट यह अशुद्ध छपा है क्योंकि मेरे अक्षर सिवाय सूरतवालोंके और कोई पढ़ नहीं सका। यदि आप कोई हिन्दी ट्रैक्ट चाहते हों तो मैं लिख सकता हूं पर आप कमेटीसे पास करालें कि वह सूरत ही शीघ्र छपे तो मैं लिखूं पं० मथुरादासको समझाकर बोलपुर शान्तिनिकेतन भिजवावें वहाँ बहुत जरूरत है अधिक वेतनका लोभ न करें यहाँ उनकी भी योग्यता बढ़ेगी उनका जवाब लेकर लिखना।

(१०) खंडवा. १-१०-२७

जैनकलाके सुधारके लिये ब्रह्मचारी कुँवर दिग्विजयसिंह नागपुरमें उद्यम कर रहे हैं पता-परवार दि० जैनमन्दिर इतवारी बाजार। कुछ पुस्तकें हिन्दीकी बाँटनेको भेजें। सनातन जैन १० प्रति जिनेन्द्रमत-दर्पण १० प्रति अन्य हिन्दीके उपयोगी ट्रैक्ट ५-५ फिर जो वे मँगावें भेजते रहें। ५ सनातन जैन मुझे भेज दें।

(११) २९-३-२७

प्रूफ व कापी मामनचन्द प्रेमीके द्वारा भेजी है मिले होंगे। लेख मेरे पास है मैं लाहौर अहिच्छेत्र होकर जाता हूं। पता-बलवंतराय वैङ्कर पुरानी अनारकली लाहौर।

उर्दूके कुछ ट्रैक्ट भेंटरूप धर्मस्वरूप, कर्ताखंडन आदिके एक-एक मलके दो-दो ५ व ७ प्रकारके भेज दे लिख दे बाँट दे।

ला० प्रभुराम जैन मास्टर गवर्नमेंट स्कूल महाम जिला रोहतक पता पूछा है कुछ नहीं जानते जरूर भेजे।

(१२) ४-२-२७

ट्रैक्ट पाये लाला लाजपतरायकी पुस्तकपर नोट मैंने पहले उनको भेजे थे। अब वह पुस्तक मेरे पास नहीं है यदि वह बदलना स्वीकार करें, आप उनसे मिलें तो पुस्तक भिजवा दें। मैं फिर नोट लिखकर भेज दूंगा।

सनातनजैनमत सूरतमें ही छपवाना वह हमारे अक्षर पढ़ सकेंगे।

(१३) कटक. १९-३-२४

ला कमेटीका क्या काम होरहा है। अहिंसा धर्मके दो ट्रैक्ट भेज देना मेरे नाम C/o सेठ जोखीराम मूँगराज १७३ हरीसनरोड कलकत्ता जरूरत है।

(१४) बम्बई. श्राविकाश्रम जुबलीबाग तारदेव २७-११-२७

आपके पत्र ता० १६। १८-११ के पाए।

(१) प्राचीनस्मारककी प्रतियाँ लागतके मूल्यमें सूरतसे प्राप्त होंगी मुफ्त नहीं।

(२) माईदयाल वाला ट्रैक्ट नहीं मिला।

(३) सत्यार्थप्रकाशका खंडन लिखकर लाला देवीसहाय फीरोजपुरको भेजा है। वे पं० माणकचन्द न्यायाचार्यको दिखाकर सत्यार्थदर्पणमें बढ़ाकर छापेंगे पंडित माणकचन्दका देखना काफी होगा हर एकके दिखलानेसे पुस्तक बिगड़ जाती है। ऋषभदास का खंडन सूरजभानको दिखाकर छापें।

सनातनजैनपत्र मिला होगा प्रचार करें सत्यको प्रकट किये बिना काम नहीं चल सकता था इससे उद्यम किया है। नवयुवकोंको मदद देनी चाहिये।

(१५) सूरत. १-३-२५

कार्ड ता० २९ का पाया

मुझे श्रीमहावीरजी चौदसको सवेरे जाना है इसलिये मैं तेरसको ७ अप्रैलको रातको ९॥ बजेकी गाडीसे महावीरजी जाना चाहता हूं। बस यदि मेरा व्याख्यान उस समयके भीतर होसके तो मैं आनेको तैयार हूं इसी आशयका तार आपको किया है। निराकुलता रहे इससे सफरखर्चकी बात भी लिख दी है आप जवाब जरूर देना यदि उपयोग न हो तो भी जवाब देना जिससे मैं न आनेके लिये निश्चिंत होजाऊँ। अर्जुनलाल सेठीजीका भाषण बहुत मर्यादामें होना चाहिये वे ऐसी ऐसी बातें कह जाते हैं कि अस्पृश्यो-को मूर्ति स्पर्श कराई जावे सो कोई जैन सुननेको तैयार नहीं है। इससे उनका भाषण व भगवानदीनका भाषण विचारे हुए शब्दोंमें होना चाहिये जिससे शान्ति रहे क्षोभ न रहे जल्सा आप दिनमें शुरू करें वहीं चलता रहे।

पुराने लोगोंको साथ लेकर अपना काम बनाना ठीक होगा।

(१६) ७-७-२६

(१) इटलीकी कापी पढ़ी लौटाते हैं सब श्वेताम्बर ग्रन्थ हैं।

(२) हमारा एक बढ़िया लेक्चर जैनगजट मदरासमें निकल रहा है। दो अङ्कमें निकल चुका है शेष और निकलेगा उसे आप ट्रैक्टरूप छपवा लें बहुत ही उपयोगी पड़ेगा। मार्च व मईमें निकला है।

(३) चम्पतरायजीका वास्तवमें भले प्रकार सम्मान करना चाहिये। पदवी मेरी रायमें नीचे लिखेमेंसे हो।

(१) जैनसिद्धान्तरत्नाकर (२) जैनतीर्थोद्धारक
(३) जैनतत्त्वसागर (४) जैनधर्मकुमदेन्दु
(५) जैनबोधमार्तण्ड (६) जैनदर्शन सूर्य

ए० सी० बोसका लेक्चर भी छपवा लें ट्रैकमें

(४) आगामी जयन्तीमें ऐसे अजैन विद्वानोंको सभापति करें जो हरएक जल्सेमें हाजिर हो कार्यवाई करे यदि महर्षि शिवव्रतलाल रह सकें तो ठीक अन्यथा मि० बोस ही सभापति रहें।

लैक्चरर—

ऋषभदास वकील—मस्तराम एम० ए० लाहौर, प्रो० हीरालाल एम० ए० अमरावती, कस्तूरचन्द जैन वकील जबलपुर, पं० दरबारीलाल इन्दौर, पं० माणिकचन्दजी, पं० कुँवरलालजी न्यायतीर्थ, रतनलाल वकील बिजनौर, वर्णी गणेशप्रसादजी, फनीभूषण अधिकारी बनारस, विंध्यभूषण भट्टाचार्य शान्तिनिकेतन, बोलपुर बङ्गाल आदि विद्वानोंको बुलावे।

उत्साहपूर्वक ट्रैक्टोंको खूब बाँटें। धर्मका प्रचार करें। काममें शिथिलता न करें। पहाड़ी हाई स्कूल की रक्षा करावें। देहलीमें जैनबोर्डिङ्ग करावें।

(१८) ७-१२-२६

आपके सब ट्रैक्ट व सैंसस का उतारा पाया मैं यथाशक्ति आनेकी कोशिश करूँगा अजितप्रशादजीको १५-२० दिन पहले लिखना अभी वे हाँ नहीं करेंगे मैं एक ट्रैक्ट "हमारा सनातन जैनमत" लिखना चाहता हूँ इसीपर व्याख्यान दूंगा उसको आप छपवाकर बँटवा सकें तो मैं लिखनेका कष्ट उठाऊँ। ४० पृष्ठके करीब होगा उत्तर दीजियेगा।

चन्द्रकुमार शास्त्री, कुँवरलाल शास्त्री, दरबारीलालजी, जुगलकिशोरजी, बनवारीलाल मेरठ आदि को बुलावें तथा आप जितने बड़े-बड़े अजैन विद्वानों को जानते हैं उनसे message मँगावें। काम उत्साह से करें। धर्मकी महिमा प्रगटे सो उपाय करें।

(१९) लखनऊ, ४-१०-२६

१—जैनगजटकी खबरका खण्डन किसी बड़े आदमीके नामसे छपवावें।

२—रिलीजन ऑफ इम्पायर पुस्तकमें क्या जैनधर्मका कुछ विशेष हाल लिखा है यदि हो तो आप पढ़ने भेज दीजियेगा।

३—गोम्मटसार जीवकांड करीब आधा छप गया है। १ मासके अनुमानमें शायद पूर्ण होजायगा फिर कर्मकांड १ तिहाई तर्जुमा हुआ है सो छपेगा फिर और ग्रन्थ मि० जैनीका तर्जुमा उन्हींके खर्चसे छप रहा है।

४—सेठ हुकमचन्दके विरोधमें एक बड़ी सभा देहली आदि कहीं होकर विजातीय विवाहकी पुष्टिमें प्रस्ताव सब पञ्चायतमें जावे। सभापति प्यारेलाल वकीलके समान कोई व्यक्ति हो। आप ट्रैक्टका तो प्रचार करते रहें।

(२०) लखनऊ १-९-२६

१—सूचनायें सूरत भेजी जा चुकी हैं।

२—कविता पूजाकी करना बहुत कठिन काम है अजितप्रसाद वकील कर सकते हैं यदि परिश्रम करें।

३—पूजामें भूमिका ठीक करनेकी जरूरत है उसमें तेरह-पंथकी रीति दी है चाहिये दोनों रीति देना। हमने शब्द व शब्द बाँचा नहीं तथापि तर्जुमा ठीक होगा वारिस्टर साहबका काम है।

(२१) वर्धा, १५-३-२६

आज लेख मुक्ति व उसके साधनपर भेजा है सदुपयोग करें व सूरतमें ही छपावें बड़ी मेहनतसे लिखा है।

यदि मेरे बुलानेका विचार हो जयन्तीपर तो सम्मति करके बुलावें व पूर्ववत् सम्मानसे बिठालें व भाषण अपने विषयपर दिलावें यदि राय न पड़े तो कभी न बुलावें आपका जल्सा निर्विघ्न हो सो करें। एक दिन २ घण्टे विशेष पूजा सब मिलकर करें। उत्सवके साथ जिसे अजैन भी देखें। मंडपमें श्रीजीको विराजमान करके करें फिर पूजाके पीछे वहीं पहुँचा देवें। पहुँच देवें लेखकी।

स्मृतिकी रेखाएँ—

(लेखक— अयोध्याप्रसाद गोयलीय)

[८वीं किरणका शेष]

५

सन १९३१में गान्धी-अरविन समझौतेके अनुसार प्रायः सभी राजनैतिक बन्दी छोड दिये गये। परन्तु मेरे भाग्यमें इन खैराती होटलोंके स्वादिष्ट भोजनकी रेखाएँ शेष थीं. इसलिये एक वर्षके लिये और रोक लिया गया। लेकिन खाली बैठा तो दामाद भी भारी हो उठता है। इस तरह डण्ड पेल-पेलकर रोटियां तोड़ना अधिकारीवर्गको कबतक सुहाता? मजबूरन उन्होंने मियाँवाली जेलमें चालान कर दिया; क्योंकि यहाँ भी राजनैतिक बन्दी रोक लिये गये थे।

मियाँवाली जेलका तो जिक्र ही क्या मियाँवाली जिलेमें बदली होते सुनकर बड़े-बड़े ऑफिसर काँप उठते हैं। कोई भूल या अपराध किये जानेपर प्रायश्चित्तस्वरूप ही उनका यहाँ ट्रांसफर होता है। रेतीलाप्रदेश अधिकाधिक गर्मी-सर्दी अस्सी-अस्सी घण्टेकी लगातार आँधी पानीकी कमी मनोरञ्जनका अभाव क्रूर और मूर्ख जङ्गली लोगोंका इलाका हर-एकको रास नहीं आता। जरा-जरासी बातपर खून हो जाना यहाँ आम रिवाज है। बादशाही जमानेमें जिन हत्यारों और पापियोंको देश निकालेकी सजा दी जाती थी। वह इसी प्रदेशमें छोड दिये जाते थे। उन्हीं अपराधियोंके वंशज यहाँके मूल निवासी हैं। अब तो यह प्रदेश पाकिस्तानमें चला गया है और बिना पासपोर्टके देखना असम्भव होगया है। भाग्य ही अच्छे थे जो इस समयकी विलायतकी बिना हलद-फिटकरी लगे उस वक्त जियारत नसीब हो सकी।

मियाँवाली जेलमें तीन राजनैतिक बन्दी पहलेसे ही मौजूद थे चार हम पहुँच गये। सातों एक ही छोटेसे कमरेमें जमीनपर कम्बल बिछाकर सोते थे।

अभी हमें पहुँचे दो-तीन घण्टे ही हुए थे कि देखा कि दो सिक्ख पटापट ततैये मार रहे हैं। परस्पर होड़-सी लगी हुई थी। कमरेमें आने वाले ततैयोंको उछल-उछलकर कहकहे लगा लगाकर मार रहे थे। मैं उनकी इस हरकतसे हैरान था कि गान्धीजीके सैनिक यह कौन-सा अहिंसा-यज्ञ कर रहे हैं? अभी एक-दूसरेसे परिचित भी न हो पाये थे। उनकी इस संहार-लीलापर क्या कहा जाय? यह मैं सोच ही रहा था कि मेरे साथ आये पाण्डेय चन्द्रिकाप्रसादसे न रहा गया और वे आवेश भरे स्वरमें बोले—सरदारजी. यदि आपको दया-धर्म छू नहीं गया है तो अपने साथी जैन साहबकी मनोव्यथाका तो ध्यान रखना था! आप क्या नहीं समझते कि आपके इस काण्डसे इनको कितनी वेदना हो रही होगी? इतना सुनते ही एक सरदारजी तो तत्काल अपनी भूल समझ गये और ततैयेकी हत्या बन्द करके मुझसे क्षमा-याचना कर ली। यह सरदार साहब मास्टर काबुलसिंह थे! जो ७-८ वर्षसे जेल-जीवन बिता रहे थे और आजकल पञ्जाब असेम्बलीके सदस्य हैं। बड़े सहृदय. तपस्वी और उच्च विचारोंके राष्ट्रवादी

सिक्ख हैं। किन्तु दूसरे सरदारजी न माने और कड़ककर बोले—"तो क्या हम जैन साहबकी वजहसे शर्त हार जाएँ। ततैयोंने हमें काटा तो हमने भी प्रतिज्ञा कर ली कि १०० ततैये मार कर ही दम लेंगे। हममेंसे जो पहले १०० मार लेगा वही शर्त जीतेगा। अगर जैन साहबको काट ले तो क्या यह नहीं मारेंगे? अगर ये न मारें तो हम भी मारना छोड़ सकते हैं।"

अब मेरी बन आई! मैंने कहा—"जब मैं उनके सतानेकी भावना नहीं रखूँगा, तब वे मुझे हरगिज़ नहीं काटेंगे। और यदि वह आपके धोखेमें मुझे काट भी लें तब भी मैं उन्हें नहीं मारूँगा। अगर मारूँ तो तुम फिर ततैये मारनेमें स्वतन्त्र रहोगे। फिर तुम्हें कोई नहीं रोकेगा।" आश्चर्यकी बात यह हुई कि मक्खियोंकी तरह अधिक संख्यामें उड़ने वाले उन ततैयोंने मुझे नहीं काटा और मेरी पत रख ली, इस बातका उन सरदारजीपर बड़ा असर हुआ किन्तु दुख है कि अधिक गर्मी बर्दाश्त न होनेके कारण १०-१५ रोजमें ही उन्हें उन्माद हो गया और हमसे पृथक् कर दिये गये।

राजनैतिक बन्दियोंके विचारोंकी थाह लेनेके लिये जेलमें सी. आई. डी. के आदमी भी सत्याग्रह आन्दोलनमें मजा लेकर आजाते थे। यह लोग कितना गहरा काटते हैं यह तो किसी और प्रसङ्गमें लिखा जायगा। यहाँ तो केवल इतना लिखना है कि एक ऐसे छद्मवेषी सज्जन हमारे पास और भेज दिये गये। ये हजरत एक रोज़ सिविलसर्जनसे स्वास्थ्य-लाभके नामपर गोश्त और अण्डोंकी माँग कर बैठे। डाक्टरने कहा—आपका यह खान-पान जैन साहबको अखरेगा तो नहीं।

नहीं, "मैंने इनसे इजाज़त ले ली है।"

मैं यह सुनकर कि कर्तव्य विमूढ़ हो गया, यह कहूं कि मुझसे क़तई नहीं पूछा तो साथी झूठा बनता है, राजनैतिक बन्दियोंकी शानमें फर्क आता है और चुप रहता हूँ, तो यह सब देखा कैसे जायगा? मैं कुछ निश्चय कर भी न पाया था कि सिविलसर्जन क्षुब्ध हो उठे और बोले—"सरदारजी, झूठ बोलते शर्म आनी चाहिये, एक जैन मांस-अण्डे खानेकी इजाजत देगा यह नामुमकिन है। यह बात कहकर जैन साहबका तुमने दिल दुखाया है, इसके लिये उनसे माफ़ी माँगो।"

६

मियाँवाली जेलमें रहते हुए जब १५-२० रोज होगये। तब एक रोज़ तीसरा साथी मुहम्मद शरीफ बोला—

"लालाजी, क्या आप सचमुच जैन हैं?"

"जी, इसमें भी क्या शक है?"

"मुझे तो यकीन नहीं आता, कि आप जैन हैं, आप तो बहुत अच्छे इन्सान मालूम होते हैं।"

"तो क्या जैन इन्सान नहीं होते?"

"खुदा-कसम पाधाजी (एक बन्दी जो रिहा हो गये थे) अक्सर कहा करते थे, जैनियोंकी परछाँईसे बचना, यह इन्सानका खून चूस लेते हैं। मैं तो ख़याल करता था कि यह लोग बनमानुषकी किस्मके लोग होते होंगे और इन्हें किसी अजायबघरमें देखूँगा। मगर जब आप यहाँ तशरीफ़ लाये और मालूम हुआ कि आप जैन हैं, तो मैं फौरन घबरा कर कमरेसे बाहर आगया था। और आपने महसूस किया होगा कि ४-५ रोज मैं आपसे बचा-बचासा रहता था। आपके साथीसे आपकी तारीफ़ सुनकर यक़ीन नहीं आया था। जब आपको इतने नज़दीकसे देखा है तब भरम दूर हुआ है।"

मैंने कहा—"पाधाजीने ग़लत नहीं कहा, उनको किसी जैनने सताया होगा, तभी उनकी ऐसी धारणा बनी होगी। एक मछली सारे तालाबको गन्दा कर देती है।"

७

मियाँवाली जेलमें अमर शहीद यतीन्द्रनाथदास भगतसिंह और हरिसिंह रह चुके थे, सौभाग्यसे उन्हीं बैरिकों और कोठरियोंमें मुझे भी रहनेका अवसर मिला। ४-५ माह बाद ४ नजरबन्द बङ्गाली और आगये। जो हमसे सर्वथा दूर और गुप्त रखे

गये। किन्तु पता उनके आनेसे पहले ही हमें चल गया और हममेंसे एक साथीका जेलमें उनसे पत्र द्वारा विचारोंका आदान-प्रदान होने लगा। साथी सी० आई० डी०के संकेतपर एक पत्र जेलवालोंने पकड़ लिया और उससे बड़ी खलबली मच गई। उस वक्त मैं और एक वे पत्र व्यवहार करने वाले साथी दो ही जेलमें थे। पत्र पकड़े जाते ही उन्हें अन्यत्र भेज दिया और मुझे फाँसीकी १० नं० कोठरीमे इसलिये भेज दिया कि मै घबराकर सब भेद खोल दूं। इस १० नं० की कोठरीमें फाँसीकी सजा पाने वाला वही व्यक्ति एक रात रखा जाता था जिसे प्रातः फाँसी देनी होती थी। ९ कोठरियोंमें बन्द मृत्युकी सजा पाये हुए बन्दियोंका करुण क्रन्दन नींद हराम कर देता था ऐसा मालूम होता था कि श्मशानभूमिमे बैठे धू-धू जलती चिताओंको देख रहा हूँ। ३-४ रोज बन्द रहने पर जब अधिकारियोंको विश्वास होगया, मारे भयके अब सब उगल देगा तो कलकूर जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट के साथ मेरे पास आया। मैं उस वक्त कोठरीके बाहर बैठा चरखा कात रहा था। वे मुझसे बिना बोले मुआयनेके बहाने मेरी कोठरीमे गये और किसी काम लायक कागजकी खोजके लिये मेरी किताबोंको इस तरह देखने लगे जैसे लाइब्रेरीमे पुस्तकोंको यूँही उलट-पलटकर देखा जाता है। फिर बोलनेका बहाना ढूंढ कर कलकूर बोले—"अच्छा तो आप दीवाने ग़ालिब समझ लेते हैं।"

"जी समझा तो नहीं हूँ समझनेकी बेकार कोशिश करता रहता हूँ।"

"आप तो जैन हैं न ?"

"जी।"

"भई, सुना है जैन झूठ नहीं बोलते।"

मैं उनका मतलब ताड़ गया। यदि वास्तविक घटना बतलाता हूँ तो एक साथी मुसीबतमें फँसता है, मेरे दामनपर देशद्रोहका दाग लगता है। इसलिये बातको बचाकर बोला—"बेशक, जैन कोई ऐसी बात नहीं कहते जिससे किसीका दिल दुखे या कोई संकट में फँसे।"

"बेशक, जैनियोंकी ऐसी ही तारीफ सुनी है।" फिर वह इधर-उधर की बात करके बोले—"क्यों भई जैन साहब, वह बात आखिर क्या थी ?"

"जी, कौनसी ?"

"भई वही, तुम तो बिल्कुल अजान बनते हो ?" मेरे होंटसे सूख गये, मैं थूकको निगलता हुआ फिर बोला—"मैं आपकी बातोंको क़तई नहीं समझा।"

"जैनसाहब, सच-सच कह दो हम तुम्हे यकीन दिलाते हैं तुमपर ज़रा भी आँच न आयेगी। जैन होकर झूठ न बोलो।"

"मुझे अफसोस है कि मेरे कारण आपको हमारी जातिपरसे विश्वास उठ रहा है। मैं आपको क़सम खाकर यकीन दिलाता हूँ कि झूठ बोलना तो दर-किनार जिससे किसीका दिल दुखे हम ऐसा एक भी शब्द नहीं बोलते ?"

कलकूर खुद अपने जालमे फँस गया था वह क्या बात चलाये लाचार मुँह लटकाये चला गया। कोई भेद न मिलनेके कारण जब वे मेरे साथी रिहा कर दिये गये तब ४ माह बाद मेरी सजा पूरी होनेपर उन्हें मुझको भी छोड़ना पड़ा।

सी० आई० डी० सुपरिन्टेन्डेन्ट और जेल सुपरिन्टेन्डेन्टने काफी तरकीबें लड़ाई पर सफलता न मिली।

१७ नवम्बर सन १९४८

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ भारतीय संस्कृति और अहिंसा—मूल लेखक. स्व० धर्मानन्द कोसम्बी। अनुवादक. पं० विश्वनाथ दामोदर शोलापुरकर। प्रकाशक. हिन्दीग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई। मूल्य दो रुपया।

प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् स्व० कोसम्बीजीने यह पुस्तक मराठीमें 'हिन्दू संस्कृति आणि अहिंसा' नाम से लिखी थी। उसीका यह हिन्दी संस्करण है, जिसे हिन्दी भाषाभाषियोंके लाभार्थ हिन्दी-साहित्यके प्रसिद्ध सेवी और प्रकाशक पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने स्वर्गीय पुत्र हेमचन्द्रकी स्मृतिमें हिन्दीग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालयद्वारा प्रकाशित किया है और जो हेमचन्द्रमोदी-पुस्तकमालाका प्रथम पुष्प है।

प्रस्तुत पुस्तकमें भारतकी प्राचीन वैदिक, श्रमण और पौराणिक इन तीन संस्कृतियों, उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गों, विविध मतों अनेक मतप्रवर्तकों, राजनैतिक घटनाओं आदिपर ऐतिहासिक और स्वतन्त्र नई दृष्टि-से विचार किया गया है। साथ ही पाश्चात्य संस्कृति और उसकी सामाजिक व्यवस्थापर प्रकाश डालते हुए भारतीय सामाजिक क्रान्ति और महात्मा गांधीकी राजनीति, साम्राज्यके गुण-दोषोंपर विचार करके अहिंसाका प्राचीन और अर्वाचीन तुलनात्मक स्वरूप बतलाया है। अतएव पुस्तकको वैदिक-संस्कृति श्रमणसंस्कृति, पौराणिक-संस्कृति, पाश्चात्य-संस्कृति तथा संस्कृति और अहिंसा इन पॉच मुख्य विभागों—अध्यायोंमें रखा गया है। लेखकने अपने विशाल अध्ययन और कल्पनाके आधारपर जहाँ इसमें कितना ही स्पष्ट स्वतन्त्र विचार किया है वहाँ अनेक बातोंकी तीव्र आलोचना भी की है। जैनोंके ऋषभदेव आदि २२ तीर्थङ्करोंके चरित, उनके शरीरकी ऊँचाई और जैन साधुसंघोंकी बृहद्रूपता आदिपर भी संदेह व्यक्त किया है और उन्हें काल्पनिक बतलाया है। पुस्तकके 'अवलोकन' (प्रस्तावना) में उसके लेखक पं० सुखलालजीने उनके इस सन्देहका उचित समाधान कर दिया है। अतः उस सम्बन्धमें यहाँ लिखना अनावश्यक है। लेखकने जो एक खास बातका उल्लेख किया है वह यह है कि जैन-तीर्थङ्कर पार्श्वके पहले अहिंसासे भरा हुआ तत्त्वज्ञान नहीं था—उन्हींने उसका उपदेश सुसम्बद्धरूपमें दिया था। लिखा है—

"पार्श्वका धर्म बिल्कुल सीधा सादा था। हिंसा असत्य, स्तेय तथा परिग्रह इन चार बातोंके त्याग करनेका वह उपदेश देते थे। इतने प्राचीनकालमें अहिंसाको इतना सुसम्बद्धरूप देनेका यह पहला ही उदाहरण है।

× × तात्पर्य यह है कि पार्श्वके पहले पृथ्वीपर सच्ची अहिंसासे भरा हुआ धर्म या तत्त्वज्ञान था ही नहीं।

पार्श्व मुनिने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसाको सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन तीनों नियमोंके साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियोंके आचरण तक ही थी और जनताके व्यवहारमें जिसका कोई स्थान न था, वह अब इन नियमोंके सम्बन्धसे सामाजिक एवं व्यावहारिक होगई।

पार्श्वमुनिने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्मके प्रचारके लिये उन्होंने संघ बनाये। बौद्ध साहित्यसे इस बातका पता लगता है कि बुद्धके समय जो संघ विद्यमान थे उन सबोंमें जैन-साधु और साध्वियोंका संघ सबसे बड़ा था।"

पुस्तक नई दिशामें लिखी गई है और नये विचारोंको लिये हुए है। अतः कितने ही पाठकोंके क्षोभका कारण बन सकती है। पर संशोधक और गुणज्ञ तटस्थ विचारकोंके लिये नूतन और निर्भीक स्पष्ट विचार करनेकी एक नवीन दिशा प्रदर्शित करती

है। हिन्दी-साहित्यमें ऐसी पुस्तकको प्रस्तुत करनेके लिये लेखक और प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं। छपाई-सफाई सब सुन्दर है।

२. भाग्य-फल (भाग्य-प्रकाशक-मार्त्तण्ड)— लेखक, पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, न्याय-ज्योतिषतीर्थ साहित्यरत्न। प्रकाशक और प्राप्तिस्थान कान्तकुटीर, आरा। मूल्य सजिल्द १।॥=) और अजिल्द १।)।

हरेक व्यक्ति यह जाननेके लिये उत्सुक होता है कि मेरा भाग्यफल कैसा है? मुझे कब और क्या हानि-लाभ तथा सुख-दुख होगा? विद्वान् लेखकने इस पुस्तकद्वारा इन्हीं सब बातोंपर अपने प्रशंसनीय ज्योतिषज्ञानका प्रकाश डाला है। इसमें वैशाखसे प्रारम्भ करके चैत्र तक बारह महीनोंमें उत्पन्न हुए पुरुषों और स्त्रियोंका तिथि तथा दिनवार फलादेश (शुभाशुभ फलका प्रदर्शन) प्रस्तुत किया है। पुस्तक भारतीय और पाश्चात्य ज्योतिर्विदोंके विविध ग्रन्थों तथा प्राचीन और अर्वाचीन विचारोंके आधारसे लिखी गई है। भाषा सरल और चालू है। हिन्दी साहित्यके भण्डारमें ऐसी अच्छी भेंट उपस्थित करने के लिये लेखक अवश्य ही अभिनन्दनके योग्य है। हम उनकी इस सत्कृतिका समादर करते हुए पाठकोंसे अनुरोध करते हैं कि वे इस पुस्तकको जरूर मँगाकर पढ़ें और अपने फलाफलको ज्ञात करें।

३. सम्राट् खारवेल—लेखक, जयन्तीप्रसाद जैन साहित्यरत्न। प्रकाशक और प्राप्तिस्थान, नवयुग जैन साहित्य-मन्दिर खतौली। मूल्य १।)।

यह एक नाटक-ग्रन्थ है जिसमें जम्बूकुमार (अन्तिम केवली जम्बूस्वामी) अञ्जन मुक्तियज्ञ और सम्राट् खारवेल ये चार नाटक निबद्ध हैं। इनमें सम्राट् खारवेल अन्य नाटकोंसे बड़ा है और इस लिये उसकी प्रधानतासे पुस्तकका नाम भी सम्राट् खारवेल रखा गया जान पड़ता है। नाटक सभी भावपूर्ण और शिक्षाप्रद हैं। शब्द और भाव दोनोंका विन्यास अच्छा है। लेखकका यह प्रथम प्रयास सराहनीय है और पुस्तक प्रचारके योग्य है।

४. जैनधर्मपर लोकमत—संग्राहक और प्रकाशक, 'स्वतन्त्र' सूरत। मूल्य, जैनधर्म प्रचार।

इसमें महात्मा गान्धीसे लेकर राजगोपालाचार्य तक लगभग पचपन भारतीय और पाश्चात्य उच्च-कोटिके विद्वानोंके जैनधर्मपर प्रकट किये गये मतों-विचारोंका सङ्कलन किया गया है। पुस्तक संग्रहणीय तथा प्रचारके योग्य है।

५. विश्वविभूति-स्वर्गारोहः—(श्री गान्धी-गुणगीताञ्जलिः) लेखक, मुनि श्रीन्यायविजय। प्रकाशक, श्री केशवलाल मङ्गलचन्द शाह पाटण (गुजरात)। मूल्य कुछ नहीं।

प्रस्तुत छोटी-सी १९ पद्यात्मक रचना मुनि न्याय-विजयजीने गान्धीजीके स्वर्गारोहणपर संस्कृतमें रची है और गुजराती अनुवादको लिये हुए है। रचना ललित और सरल है।

६. वस्तुविज्ञानसार—प्रवक्ता, अध्यात्मयोगी श्रीकानजी स्वामी। हिन्दी-अनुवाक, पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ। प्रकाशक, श्रीजैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ (काठियावाड़)। मूल्य, कुछ नहीं।

यह श्रीकानजी स्वामीके गुजरातीमें दिये गये आध्यात्मिक प्रवचनोंका महत्वपूर्ण संग्रह है। इसमें अनन्त पुरुषार्थ, आत्मस्वरूपकी यथार्थ समझ, उपादान-निमित्त आदि मात विषयोंपर अच्छा विवेचन किया गया है। स्वाध्याय-प्रेमियोंके लिये पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है।

७. सत्य हरिश्चन्द्र—रचयिता, मुनि श्रीअमर-चन्द्र कविरत्न। प्रकाशक, सन्मतिज्ञानपीठ आगरा। मूल्य १।)।

सत्य हरिश्चन्द्र भारतीय इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। गाँव-गाँवमें और नगर-नगरमें उनकी गुण-गाथा गाई जाती है। उन्होंने सत्यके लिये स्त्री, पुत्र और अपना तन भी उत्सर्ग कर दिया था और भारतके पुरातन

उज्ज्वल आदर्शको उन्नत किया था। मुनिजीने हिन्दी पद्योंमे उन्हींकी बड़े सुन्दर ढङ्गसे गुण-गाथा गाई है। पुस्तक अच्छी बन पड़ी है और लोकरुचिके अनुकूल है। भाषा और भाव सरल तथा हृदयग्राही हैं।

८. सामायिकसूत्र—लेखक, उक्त उपाध्याय मुनि श्रीअमरचन्द कविरत्न, प्रकाशक, सन्मतिज्ञान-पीठ आगरा। मूल्य ३।।)।

मुनिजीने इसमें सामायिकके सम्बन्धमें विस्तृत विवेचन किया है और अपनी स्थानकवासी परम्परानुसार सामायिकसूत्रोंका सङ्कलन और सरल हिन्दी व्याख्यान दिया है। पुस्तकके मुख्य तीन विभाग हैं। पहले-प्रवचन विभागमें विश्व क्या है, चैतन्य मनुष्य और मनुष्यत्व, सामायिकका शब्दार्थ आदि सामायिकसे सम्बन्ध रखनेवाले कोई २७ विषयोंपर विवेचन है। दूसरे 'सामायिकसूत्र'में नमस्कारसूत्र आदि ११ सूत्रोंका अर्थ है और अन्तिम तीसरे विभागमे परिशिष्ट है, जिनकी संख्या पाँच है। ग्रन्थके प्रारम्भमें पं० वेचरदासजीका विद्वत्तापूर्ण 'अन्तर्दर्शन' (भूमिका) है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओंके सामायिकोंपर भी संक्षेपमें प्रकाश डाला है। दिगम्बर परम्पराके आचार्य अमितगतिका सामायिकपाठ भी अपने हिन्दी अर्थके साथ दिया है। पुस्तक योग्यतापूर्ण और सुन्दर निर्मित हुई है। भाषा और भाव दोनो और आकर्षक है। सफाई-छपाई अच्छी है। लेखक और प्रकाशक दोनो इसके लिये धन्यवादके पात्र है।

९. कल्याणमन्दिर-स्तोत्र—लेखक और प्रकाशक, उपर्युक्त मुनिजी तथा पीठ। मूल्य ।।)।

कल्याणमन्दिर-स्तोत्र जैनोंकी तीनो परम्पराओंमें मान्य है। यह स्तोत्र बड़ा ही भावपूर्ण और हृदयग्राही है। प्रस्तुत पुस्तक उसीका हिन्दी अनुवाद है। ग्रन्थके आरम्भमें मुनिजीने इसे सिद्धसेन दिवाकरकी कृति बतलाई है जो युक्तियुक्त नही है। यह दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्रकी रचना है, जैसा कि ग्रन्थके अन्तमें 'जननयनकुमुदचन्द्र' इत्यादि पदके द्वारा सूचित भी किया गया है। मुनिजीका यह अनुवाद भी प्रायः अच्छा और सरल हुआ है। पं० बनारसीदासजीका भाषा कल्याणमन्दिर-स्तोत्र भी इसके साथमें निबद्ध है।

१० श्रीचतुर्विंशति-जिनस्तुति(वृत्ति सहित)-लेखक, विद्यावारिधि श्रीसुन्दरगणि। प्रकाशक, श्री-हिन्दीजैनागम-प्रकाशक-सुमतिकार्यालय, जैन-प्रेस कोटा (राजपूताना)। मूल्य ।)।

इसमे ऋषभादि चौबीस जैन तीर्थङ्करोकी संस्कृत भाषामें गणीजीने स्तुति की है और स्वयं उसकी संस्कृत वृत्ति भी लिखी है। पुस्तक उपादेय है।

११. श्रीभावारिवारण-पादपूर्त्यादिस्तोत्र संग्रह-संग्राहक और संशोधक मुनिविनयसागर। प्रकाशक, उक्त जैनप्रेस कोटा। मूल्य भेंट।

इस संग्रहमें तीन छोटे-छोटे सवृत्ति स्तोत्रोंका संकलन है। पहला समसंस्कृत और अन्य दोनों संस्कृत भाषामे है। प्रथम भावारिवारणपादपूर्ति और दूसरे पार्श्वनाथलघुस्तोत्र तथा दोनोंकी वृत्तियोंके रचयिता वाचनाचार्य श्रीपद्मराजगणि है। और तीसरी 'सवृत्ति जिनस्तुति' रचनाके कर्ता श्रीजिनभुवनहिताचार्य है। तीनो रचनाएँ प्रायः अच्छी है।

१२. चतुर्विंशति-जिनेन्द्रस्तवन—रचयिता, वाचनाचार्य श्रीपुण्यशील गणी। प्रकाशक, उपर्युक्त प्रेस कोटा। मूल्य भेंट।

नाना रागो और रागनियोंमें रची गई यह एक संस्कृतप्रधान रचना है। इसके कुछ स्तवनोंमे देशियोंका भी उपयोग किया गया है। इस रचनामे कुल २५ स्तवन हैं। २४ तो चौबीस तीर्थङ्करोंके हैं और अन्तिम सामान्यतः जिनेन्द्रका स्तवन है। लेखकका उद्देश्य लोकरुचि-प्रदर्शनका रहा है। पुस्तक ग्राह्य है।

—कोठिया।

१३. कुन्दकुन्दाचार्यके तीनरत्न—लेखक, गोपालदास जीवाभाई पटेल। अनुवादक पंडित शोभाचन्द्र भारिल्ल। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। पृष्ठ संख्या १४२। मूल्य सजिल्द प्रतिका २)।

इस पुस्तकमें आचार्य कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार नामके तीन ग्रन्थोंके मुख्य विषयोंका अपने ढङ्गसे एकत्र संग्रह और सङ्कलन किया गया है। इससे संक्षेप-प्रिय पाठकोंको विषय-विभागसे तीनों ग्रन्थोंका रसास्वादन एक साथ होजाता है। लेखकका यह प्रयत्न और परिश्रम प्रशंसनीय है। पुस्तकके उपोद्घातमें ग्रन्थकर्ता, उनके ग्रन्थों तथा उनकी गुरुपरम्पराका भी संक्षेपमें परिचय दिया है। पुस्तक अच्छी उपयोगी एवं संग्रहणीय है। छपाई-सफाई सब ठीक है।

१४. करलक्खण (सामुद्रिकशास्त्र)—संपादक प्रफुल्लकुमार मोदी एम० ए०. प्रो० किङ्ग एडवर्ड कॉलेज अमरावती। प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ३८। मूल्य, सजिल्द प्रतिका १)

इस अज्ञात कर्तृक पुस्तकके नामसे ही उसके विषयका परिचय मिल जाता है। इसमें शारीरिक विज्ञानके अनुसार हाथकी रेखाओंकी आकृति, बनावट रूप, रङ्ग कोमलता कठोरता स्निग्धता और रूक्षता तथा सूक्ष्म-स्थूलतादिकी दृष्टिसे विभिन्न रेखाओंका विभिन्न फल बतलाया गया है। शरीर सम्बन्धी चिह्नों या रेखाओंके द्वारा मानवीय प्रवृत्तियोंके शुभाशुभ फलका निर्देश करना भारतीय सामुद्रिकग्रन्थों-की प्राचीन मान्यता है। इस विषयपर भारतीय साहित्य-में अनेक ग्रन्थोंकी रचना हुई है। प्राक्कथनद्वारा डाक्टर ए.एन.उपाध्ये एम.ए ने इसपर संक्षेपतः प्रकाश डाला है।

वीरसेवामन्दिरमें भी एक अज्ञात कर्तृक 'करेहा-लक्खण' नामका ४९ गाथाप्रमाण छोटा-सा सामुद्रिक ग्रन्थ है जो एक प्राचीन गुटकेपरसे उपलब्ध हुआ है। इन दोनों ग्रन्थोंका विषय परस्पर मिलता-जुलता है और कहीं-कहींपर गाथा तथा पदवाक्य भी मिलते हैं। परन्तु मङ्गलाचरण दोनोंका भिन्न-भिन्न है। दोनों ग्रंथों-को सामने रखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि उनपर एक दूसरेका प्रभाव स्पष्ट है। वे मङ्गल पद्य इस प्रकार हैः—

पणमिय जिणमिमअगुणं गयरायसिरोमणि महावीरं।
वुच्छं पुरिसत्थीणं करलक्खणमिह समासेणं ॥१॥

—मुद्रित प्रति

वंदित्ता अरिहंते सिद्धे आयरिय सव्वसाहूय ।
संखेवेण महत्थं कररेहालक्खणं वुच्छं ॥१॥

—लिखित प्रति

मुद्रित प्रतिमें मङ्गलाचरणके बाद निम्न गाथा दी हुई हैः—

पावइ लाहालाहं सुहदुक्खं जीविअं च मरणं च।
रेहाहि जीवलोए पुरिसोविजयं जयं च तहा ॥२॥

परन्तु लिखित प्रतिमें इस स्थानपर निम्न दो गाथाएँ दी हुई हैं जिनमेंसे प्रथम गाथाका चतुर्थ चरण भिन्न है शेष तीन चरण मिलते-जुलते हैं। किन्तु तीसरी गाथा मुद्रित प्रतिमें नहीं मिलती।

पावइ लाहाऽलाहं सुह-दुक्खं जीविय मरणं च।
रेहाए जीवलोए पुरिसो महिलाइ जाणिज्जइ ॥२॥
आउं पुत्तं च धणं कुलवंसं देह-संपत्ती।
पुव्वभव संचियाणि य पुन्नाणि कहंति रेहाओ ॥३॥

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि एक ग्रन्थपर दूसरेका प्रभाव अवश्य है।

१५. मदनपराजय—मूल लेखक, कवि नागदेव। अनुवादक-सम्पादक, पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य। प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर २४२। मू०, सजिल्द प्रतिका ८) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक रूपक-काव्य है, जिसमें कामदेव के पराजयकी कथाका भावपूर्ण चित्रण किया गया है। कविने अपनी कल्पना-कलाकी चतुराईसे कथावस्तुकी घटनाको अपूर्व ढङ्गसे रखनेका प्रयत्न किया है और वह इसमें सफल भी हुआ है। प्रस्तुत रचना बड़ी ही सुन्दर एवं मनोमोहक है और पढ़नेमें अच्छी रुचिकर जान पड़ती है। सम्पादकद्वारा प्रस्तुत ग्रंथका मूलानु-गामी हिन्दी अनुवाद भी साथमें दिया हुआ है। ग्रन्थके आदिमें महत्वपूर्ण प्रस्तावनाद्वारा भारतीय कथा-साहित्यका तुलनात्मक विवेचन करके उसपर कितना ही प्रकाश डाला गया है। पं० राजकुमारजी जैन-समाजके एक उदीयमान विद्वान और लेखक हैं। आशा है भविष्यमें आपके द्वारा जैन-साहित्य-सेवाका कितना ही कार्य सम्पन्न हो सकेगा। प्रस्तुत ग्रन्थ पठनीय व संग्रहणीय है। —परमानन्द शास्त्री

श्रद्धांजलि

[यह श्रद्धाञ्जलि पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीके मुरार (ग्वालियर)से प्रस्थान करनेके अवसरपर पढ़ी गई]

(रचयिता—श्रीब्रजलाल उर्फ मैयालाल जैन "विशारद" मुरार)

हे पूज्यवर्य गुरुवर तुम हो, विद्या निधान मानव महान !

शचि शान्ति-सुधा वर्षण करके, जन-मनमें प्रेम बढ़ाया है ।
मानव-कर्तव्य स्वयं करके, युगधर्म हमें दर्शाया है ॥
देकर ज्ञान-दान, जगका तुम करने चले आत्म कल्याण ॥ हे पूज्य०

अज्ञान मिटा करके तुमने लघु-जनको विद्या दान दिया ।
निजवरद-हस्त देकर हमको आत्मोन्नतिका सद्ज्ञान दिया ॥
तुम धर्मस्नेह लेकर आये करने मानवको दीप्तिमान ॥ हे पूज्य०

निज जीवन कर अर्पण तुमने मानव-संस्कृति-विस्तार किया ।
"स्याद्वाद" "सत्तर्क भवन" से जैन सिद्धान्त प्रसार किया ॥
तुम ज्ञान-कोष लेकर आये देने जीवोंको अमर दान ॥ हे पूज्य०

उपहार नहीं ऐसा कुछ है, उत्साह बढ़ाऊँ मै जिससे ।
श्रद्धाञ्जलि भक्तीकी "भैया" ले मात्र उपस्थित हूँ इससे ॥
गुरुदेव इसे स्वीकार करो कर अपराधोका क्षमा दान ॥ हे पूज्य०

चिरजीवो तुम युग-युग वर्णी शुभ यही भावना है प्रतिक्षण ।
गुरुवर तेरे उपकारोसे है ऋणी हुआ जगका कण-कण ॥
अभिनन्दन करने हम आये कर भावोंकी माला प्रदान ॥ हे पूज्य०

छैह मास हुए जबसे हमने प्रिय वाणीका आस्वाद लिया ॥
दिल्ली प्रस्थान दिवस सुनकर, है हमे मोहने घेर लिया ॥
हृद्गत सुभक्ति नयनोंमे अश्रु, हे देव ! सफल हो नव प्रस्थान ॥ हे पूज्य०

सम्पादकीय

जैन-साहित्यपर विहारके शिक्षामन्त्री

जबसे मैंने विहार प्रान्तमे प्रवेश किया है तभीसे मनमें एक बात बहुत ही खटक रही है कि इस प्रान्तका सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास क्यों न तैयार कराया जाय. क्योंकि नालन्दा राजगृह, पावापुरी. वैशाली. गया आदि दर्जनों प्राचीन ऐतिहासिक स्थान ऐसे हैं; जिनका मूल्य न केवल विहार प्रान्तीय दृष्टिसे ही है अपितु शिक्षा और संस्कृतिका जहाँ तक सम्बन्ध है, उनका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी अधिक है। मुझे कुछेक खण्डहरोंमे घूमनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है. उसपरसे मै कह सकता हूँ कि वहाँ विचारोंका प्रवाह इतने जोरोंसे बहता है कि दो-दो शार्ट हैण्ड रखें तो भी उसे गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। उनके कण-कणमें मानो विहारकी सांस्कृतिक आत्मा बोल रही है जहाँपर विहार और विभिन्न प्रान्तीय या देशीय विद्वानोंने बैठकर ज्ञान-विज्ञानको समस्त शाखाओंका गम्भीर बहुमुखी अध्ययन किया. जहाँके पण्डितोंने विदेशोंमे आर्यसंस्कृतिकी विजय-वैजयन्ती फहराई। परन्तु आज अतिखेदके साथ सूचित करना पड़ रहा है कि उपर्युक्त ऐतिहासिक विशाल-साधन सामग्रीकी उपेक्षा, जितना बाहर वाले नहीं करते उससे कहीं अधिक विहारके विद्वानों द्वारा हो रहा है। मै यहाँ देखता हूँ कि किसीको पुरातत्वके साधनोंके प्रति हमदर्दी ही नहीं है। मै यह भी स्वीकार करता हूँ कि यह विषय इतना सूखा है कि कहानी-कविताकी उपासना करने वाला वर्ग इनको नहीं समझ सकता। वर्षोंकी ज्ञान उपासना करनेके बाद ही उनकी सार्वभौमिक महत्ताको आत्मसात किया जासकता है। यह उपेक्षा अग्रिम निर्माणमे बड़ी घातक सिद्ध होगी।

गत दिसम्बर मासमें मैं इस सम्बन्धमें विहार सरकारके अर्थमन्त्री डाक्टर अनुग्रहनारायणसिंहसे मिला था उनके सम्मुख मैंने अपनी एक योजना रखी. जिसमें बताया गया था कि विहार प्रान्तके इतिहास, पुरातत्वकी तमाम शाखा. जैन. साहित्य, शिलालिपि. टेराकोटा, मुद्रा. प्रतिमाएँ आदि जितनी भी मौलिक साधन-सामग्री समुपलब्ध हो रही है उनका विस्तृत वैज्ञानिक रूपसे गम्भीर अध्ययन किया जाय. तदनन्तर संक्षिप्त रूपमे उपर्युक्त साधनोंकी उपयोगिता, महत्ता और उनके जन-जीवनसे सम्बन्ध ज्ञापक साहित्य तैयार करवाकर एक ग्रन्थ संग्रहीत कर प्रकाशितकर जनताके सम्मुख उपस्थित किया जाय यह काम कुछ श्रम और अर्थसाध्य तो अवश्य हो है पर सरकारका सर्वप्रथम कार्य भी यही होना चाहिये। यह विहारका सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास नहीं होगा पर आगामी लिखे जाने वाले इतिहासकी पूर्व भूमिकाका एक मार्गदर्शक अङ्ग होगा. हमारा कार्य साधनोंका संग्रह होना चाहिये, लेखन कार्य अगली पीढ़ी करेगी जो मानसिक स्वातन्त्र्यके युगमें शिक्षा पाकर अपनी दृष्टिसे अपने पूर्वजोंके कृत्योंकी समीक्षा करनेकी योग्यता रखती हो।

आज हम जो कुछ भी लिखते-सोचते हैं केवल अँग्रेजोंद्वारा प्रस्तुत किये तथ्योंके आधारपर ही। जो उनकी अपनी एक दृष्टिसे प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु अबतो समयने बहुत परिवर्तन ला दिया है। हमारे प्रान्त या सारे देशमे ऐसे कितने प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान हैं; जो खँडहरोंकी खाक छानकर ऐतिहासिक स्थानोंमें परिभ्रमणकर. जंगलोंमें यातना सहकर, वहाँकी पुरातन सामग्रीको अपनी दृष्टिसे देखकर लिखनेकी योग्यता रखते है. जिनमें अपनी स्वकीयता हो। किसी भी वस्तुके वास्तविक मर्मको बिना समझे उसे आत्मसात् करना असम्भव है और बिना आत्मसात् किये कुछ लिखना-पढ़ना कोई अर्थ नहीं रखता. जिनमें अनुभूति न हो। सच कहना यदि उलटा न माना जाय तो मैं जोरदार शब्दोंमें कहूँगा कि अभी तो विहारके विद्वानोंने विहारकी संस्कृति और इतिहासके विभिन्नतम साधनोंका समुचित

अध्ययन नहीं किया प्रत्युत उस ओर सर्वथा पक्षपात-पूर्ण वा उपेक्षित मनोवृत्तिसे काम लिया है। यही कारण है कि इतनी विशाल ऐतिहासिक सामग्रीके रहते हुए भी योग्य विद्वानके अभावमें आज वह सामग्री विधुरत्वका अनुभवकर रही है।

ता० ७-१०-४८ को विहारके कविसम्राट् श्रीयुत् रामधारीसिंह 'दिनकर'के साथ मैंने अपनी हार्दिक व्यथा विहार सरकारके शिक्षामन्त्री श्रीयुत् बद्रीनाथ वर्माके सन्मुख रखी। मुझे वहाँ मालूम हुआ कि वे भी इसी रोगसे पीड़ित हैं. वे स्वयं चाहते है कि हम अपनी दृष्टिसे ही अपने प्रान्तका सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास तैयार करवावें। आपने अपनी युद्धोतर योजनामे संशोधन सम्बन्धी भी एक योजना रखी है जिसपर भारत सरकारकी मंजूरी भी मिल गयी है. परन्तु उसे मूर्तरूप मिलनेमें पर्याप्त समयकी अपेक्षा है। आदर्श की सृष्टि करना उतना कठिन नहीं जितना उनको मूर्तरूप देना कठिन है। प्रसंगवश मैंने विहारकी संस्कृतिके बीज जैन-साहित्यमें पाये जानेकी चर्चाकी तो उनका हृदय भर आया। मुखाकृति खिल उठी। इस समय आपने सद्भावनाओसे उत्प्रेक्षित होकर जो शब्द जैन-साहित्यपर कहे उन्हें मैं सधन्यवाद उधृद्त किये देता हूं:—

> *"जैनसाहित्य बडा विशाल विविध विषयोंसे समृद्ध है। अभी तक हमारे विहार प्रान्तके विद्वानोंने इस महत्वपूर्ण साहित्यपर समुचित ध्यान नही दिया है। विहार प्रान्तके इतिहास और संस्कृतिकी अधिकतर मौलिक सामग्री जैनसाहित्य-मे ही सुरक्षित है। विशेषतः श्रमण भगवान महावीर कालीन हमारे प्रान्तका सांस्कृतिक चित्र जैसा जैनोंने अपने साहित्यमें अङ्कित कर रखा है वैसा अजैन-साहित्यमें हर्गिज नही पाया जाता। साहित्य-निर्माण और संरक्षणमें जैनोंने बड़ी उदा-रतासे काम लिया है। यदि हम जैनसाहित्यका केवल सांस्कृतिक दृष्टिसे ही अध्ययन करें तो बहुतसे ऐसे तत्व प्रकाशमें आवेंगे जिनका ज्ञान हमें आजतक न था। मैं तो स्पष्ट कहूँगा कि विहारका इतिहास भारतका इतिहास है। विहारका इतिहास बहुत कुछ अंशोंमें जैनसाहित्यके अध्ययनपर निर्भर है। अतः बिना जैनसाहित्यके अन्वेषणके हम अपने प्रान्तका इतिहास लिखनेकी कल्पना तक नही कर सकते।*
>
> *हमारे प्रान्तकी प्राचीनतम भाषाका स्वरूप भी जैनोंने अपने साहित्यमें सुरक्षित रखा है। अतः हम उन्हें कैसे भूल सकते है, बल्कि मै तो कहूँगा कि हमारा प्रान्त उन जैन विद्वानोंका सदैव ऋणी रहेगा जिन्होंने हमारे सांस्कृतिक तत्व सुरक्षित रखनेमें हमारी बड़ी मदद की। मैं यह चाहता हूँ और आपसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि आप स्वयं जैनसाहित्यमे विहार, नामक एक ग्रन्थ तैयार कर दें तो बड़ा अच्छा हो। हमारी सरकार इस कार्यमें हर तरहसे मदद करनेको तैयार है। सरकार ही इसे प्रकाशित भी करेगी। हमारी तो वर्षोंकी मनोकामना है कि प्रत्येक धर्म और साहित्यकी दृष्टियोंमें हमारे प्रान्तका स्थान क्या है? हम जाने और वर्तमानरूप देनेमें आवश्यक सहायता करें। यदि आप अभी लेखन कार्य चालू करें तो ४००) रुपये तक मासिक जो कुछ भी क्लर्क या सहायक विद्वानका खर्च होगा, हम देंगे।"*

उपर्युक्त शब्द बद्री बाबूके हृदयके शब्द हैं। इनमें पॉलिश नहीं है। उनके शब्दोंसे मेरा उत्साह और भी आगे बढ़ गया। मैंने उपर्युक्त शब्द इस लिए उद्धृत किये हैं कि हमारे समाजके विद्वान् जरा ठंडे दिमागसे सोचें कि हमारे साहित्यमे कितनी महान निधियाँ भरी पड़ी हैं जिनका हमें ज्ञान तक नहीं और अजैन लोग जैनसाहित्यको केवल विशुद्ध सांस्कृतिक दृष्टिसे देखते है तो उन्हें बड़ा उपादेय प्रतीत होता है। वे मुग्ध हो जाते हैं।

१०-१० १९४८ मुनि कान्तिसागर

प्रकाशक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशीके लिये आशाराम खत्री द्वारा गोयल प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त

आश्विन, संवत् २००५ :: अक्तूबर, सन् १९४८

वर्ष ९

★

प्रधान सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार

सह सम्पादक
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
डालमियानगर (बिहार)

★

विषय-सूची

किरण १०

★

सञ्चालक-व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

संस्थापक-प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

★

अनेकान्तका

'सन्मति-सिद्धसेनाङ्क'

अनेकान्तकी अगली (११वीं) किरण 'सन्मति-सिद्धसेनाङ्क'के रूपमें विशेषाङ्क होगी, जिसमें अनेकान्तके प्रधान सम्पादक मुख्तारश्री जुगलकिशोरजीका 'सन्मति-सूत्र और सिद्धसेन' नामका एक बड़ा ही महत्वपूर्ण एवं गवेषणापूर्ण खास लेख (निबन्ध) रहेगा, जो हाल ही में उनकी महीनोंकी अनमोल साधना और तपस्यासे सिद्ध हो पाया है। लेखमें सन्मतिसूत्रका परिचय देने और महत्व बतलानेके अनन्तर १ ग्रन्थकार सिद्धसेन और उनकी दूसरी कृतियाँ, २ सिद्धसेनका समयादिक, ३ सिद्धसेनका सम्प्रदाय और गुणकीर्तन नामके तीन विशेष प्रकरण है, जिनमें गहरी छान-बीन और खोजके साथ अपने-अपने विषयका प्रदर्शन एवं विशद विवेचन किया गया है और उसके द्वारा यह स्पष्ट करके बतलाया गया है कि सन्मतिसूत्र, न्यायावतार और उपलब्ध सभी द्वात्रिंशिकाओंको जो एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ माना जाता तथा प्रतिपादन किया जाता है वह सब भारी भूल, भ्रान्त धारणा अथवा ग़लत कल्पनादिका परिणाम है और उसके कारण आजतक सिद्धसेनके जो भी परिचय-लेख जैन तथा जैनेतर विद्वानोंके द्वारा लिखे गये हैं वे सब प्रायः खिचड़ी बने हुए हैं और कितनी ही ग़लतफ़हमियोंको जन्म दे रहे तथा प्रचारमें ला रहे है। इन सब ग्रन्थोंके कर्ता प्रायः तीन सिद्धसेन है, जिनमें कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता पहले, सन्मतिसूत्रके कर्ता दूसरे और न्यायावतारके कर्ता तीसरे सिद्धसेन है—तीनोंका समय भी एक दूसरेसे भिन्न है, जिसे लेखमें स्पष्ट किया गया है। शेष द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता इन्हींमेंसे कोई हो सकते हैं। साथ ही, यह भी स्पष्ट किया गया है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदायके एक महान आचार्य थे—श्वेताम्बर सम्प्रदायने उन्हें समन्तभद्रकी तरह अपनाया है। अनेक द्वात्रिंशिकाएँ भी दिगम्बर सिद्धसेनकी कृतियाँ हैं। मुख्तार साहबकी इस एक नई खोजसे शताब्दियोंकी भूलोंको दूर होनेका अवसर मिलेगा और कितनी ही यथार्थ वस्तुस्थिति सभीके सामने आएगी, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

लेख विस्तृत, गम्भीर तथा विचारपूर्ण होनेपर भी पढ़नेमें बड़ा रोचक है—एकबार पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़नेको मन नहीं होता—और उसमें दूसरी भी कितनी ही बातोंपर नया प्रकाश डाला गया है। पाठक इस विशेषाङ्कको देखकर प्रसन्न होंगे और विद्वज्जन उससे अपने-अपने ज्ञानमें कितनी ही वृद्धि करनेमें समर्थ हो सकेंगे, ऐसी दृढ़ आशा है।

परमानन्द जैन शास्त्री

प्रकाशक 'अनेकान्त'

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	अक्तूबर
किरण १०	आश्विनशुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत् २४७४, विक्रम-संवत् २००५	१९४८

मदीया द्रव्य-पूजा

(शार्दूलविक्रीडितम्)

(१)

नीरं कच्छप-मीन-भेक-कलितं, तज्जन्म-मृत्याकुलम्;
वत्सोच्छिष्टमयं पयश्च, कुसुमं घ्रातं सदा षट्पदैः ।
मिष्टान्नं च फलं च नाऽत्र घटितं यन्मक्षिकाऽस्पर्शितम्;
तत्किं देव ! समर्पयामि इति मच्चित्तं तु दोलायते ॥

(२)

एतच्चाऽऽहृदि वर्तते प्रभुवर ! क्षुत्तृड् विनाशाच्च ते
नार्थः कोऽपि हि विद्यते रसयुतै-रन्नादिपानैः सह ।
नो वांछा न विनोदभावजननं नष्टश्च रागोऽखिलः;
एवं तर्पण-व्यर्थता गतगदे सद्भेषजाऽऽनर्थ्यवन् ॥

(३)

निःसारं प्रतिबुध्य रत्ननिवहं, नानाविधं भूषणम्
हृद्यं कान्तिसमन्वितं च वसनं सर्वं त्वया श्रीपते !
संत्यक्तं प्रमुदा विरागमतिना तत्तम् त्वदग्रेऽधुना
यद्याऽऽराध्य ! समर्पयामि भगवन् ! तद् धृष्टता मेऽखिला

(४)

तस्मान्न्यस्त-शिरोग्र-हस्त-युगलो भूत्वा विनम्रस्त्वहं,
भक्त्या त्वां प्रणमामि नाथमसक-ल्लोकैक-दीपं परम् ।
शक्त्या स्तोत्रपरो भवामि च मुदा दत्ताऽवधानः सदा,
एतन्मे तव द्रव्य-पूजनमहो ! मोहारि-संहारये ॥

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

युक्त्यनुशासन

विशेष - सामान्य - विषक्त - भेद-
विधि-व्यवच्छेद-विधायि-वाक्यम् ।
अभेद-बुद्धेरविशिष्टता स्याद्
व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥६०॥

'वाक्य (वस्तुतः) विशेष (विसदृश परिणाम) और सामान्य (सदृश परिणाम) को लिये हुये जो (द्रव्य-पर्यायकी अथवा द्रव्य-गुण-कर्मकी व्यक्तिरूप) भेद हैं उनके विधि और प्रतिषेध दोनोंका विधायक होता है। जैसे 'घट लाओ' यह वाक्य जिस प्रकार घटके लानेरूप विधिका विधायक (प्रतिपादक) है उसी प्रकार अघटके न लानेरूप प्रतिषेधका भी विधायक है, अन्यथा उसके विधानार्थ वाक्यान्तरके प्रयोग-का प्रसंग आता है और उस वाक्यान्तरके भी तत्प्रतिषेधविधायी न होनेपर फिर दूसरे वाक्यके प्रयोगकी जरूरत उपस्थित होती है और इस तरह वाक्यान्तरके प्रयोगकी कहीं भी समाप्ति बन न सकनेसे अनवस्था दोषका प्रसंग आता है, जिससे कभी भी घट-के लानेरूप विधिकी प्रतिपत्ति नहीं बन सकती। अतः जो वाक्य प्रधानभावसे विधिका प्रतिपादक है वह गौणरूपसे प्रतिषेधका भी प्रतिपादक है और जो मुख्यरूपसे प्रतिषेधका प्रतिपादक है वह गौण-रूपसे विधिका भी प्रतिपादक है, ऐसा प्रतिपादन करना चाहिये।

(हे वीर जिन!) आपके यहाँ—आपके स्याद्वाद-शासनमें—(जिस प्रकार) अभेदबुद्धिसे (द्रव्यत्वादि व्यक्तिकी) अविशिष्टता (समानता) होती है (उसी प्रकार) व्यावृत्ति(भेद)बुद्धिसे विशिष्टताकी प्राप्ति होती है।'

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

'(हे वीर भगवन्!) आपका तीर्थ-प्रवचनरूप शासन—अर्थात् परमागमवाक्य जिसके द्वारा संसार महासमुद्रको तिरा जाता है—सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक, आदि अशेष धर्मोंको लिये हुये है—और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिये हुये है—एक धर्म मुख्य है तो दूसरा गौण है, इसीसे सुव्यवस्थित है, उसमें असंग-तता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रति-पादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है वह सर्व धर्मोंसे शून्य है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसकेद्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है—किसी भी मिथ्यादर्शनके द्वारा खंडनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदय-का कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक है ऐसा सर्वोदयतीर्थ है।'

भावार्थः—आपका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों (परस्परनिरपेक्ष नयों) अथवा मिथ्या-दर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवादरूप मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं, इसलिये इन दुर्नयरूप मिथ्यादर्शनोंका अन्त करनेवाला होनेसे आपका शासन समस्त आपदाओंका अन्त करनेवाला है, अर्थात् जो लोग आपके शासनतीर्थका आश्रय लेते हैं—उसे पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं। और वे अपना पूर्ण अभ्युदय—उत्कर्ष एवं विकास—सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डित-मान-शृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

(हे वीर जिन!) आपके इष्ट—शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी. यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ; उपपत्ति-चक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसङ्गत समाधानकी दृष्टिसे—आपके इष्टका—शासनका—अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृङ्ग खंडित होजाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यों कहिये कि आपके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है।'

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भव-पाश-च्छिदि मुनौ
न चाऽन्येषु द्वेषादपगुण-कथाऽभ्यास-खलता।
किमु न्यायाऽन्याय-प्रकृत-गुणदोषज्ञ-मनसां
हिताऽन्वेषोपायस्तव गुण-कथा-सङ्ग-गदितः ॥६३॥

'(हे वीर भगवन्!) हमारा यह स्तोत्र आप जैसे भव-पाश-छेदक मुनिके प्रति रागभावसे नहीं है, न हो सकता है;—। क्योंकि इधर तो हम परीक्षा-प्रधानी हैं और उधर आपने भव-पाशको छेदकर संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है; ऐसी हालतमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा राग-भाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्रका कोई सम्बन्ध नहीं है;—क्योंकि एकान्तवादियोंके साथ अर्थात् उनके व्यक्तित्वके प्रति हमारा कोई द्वेष नहीं है—हम तो दुर्गुणोंकी कथाके अभ्यासको 'खलता' समझते हैं और उस प्रकारका अभ्यास न होनेसे वह 'खलता' हममें नहीं है, और इसलिये दूसरोंके प्रति द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश? उद्देश यही है कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थके गुण-दोषों को जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' आपकी गुणकथाके साथ कहा गया है। इसके सिवाय जिस भव-पाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना—अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोड़ना—हमें भी इष्ट है और इस लिये यह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका एक हेतु है। इस तरह यह स्तोत्र श्रद्धा और गुणज्ञताकी अभिव्यक्तिके साथ लोक-हितकी दृष्टिको लिये हुये है।'

इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदश-मुनि-मुख्यैः प्रणिहितैः
स्तुतः शक्त्या श्रेयःपदमधिगतस्त्वं जिन! मया।
महावीरो वीरो दुरित-पर-सेनाऽभिविजये
विधेया मे भक्तिं पथि भवत एवाऽप्रतिनिधौ ॥६४॥

'हे वीर जिनेन्द्र! आप चूँकि दुरितपरकी—मोहादिरूप कर्मशत्रुकी—सेनाको पूर्णरूपसे पराजित करनेमें वीर हैं—वीर्यातिशयको प्राप्त हैं—निःश्रेयस पदको अधिगत (स्वाधीन) करनेसे महावीर हैं और देवेन्द्रों तथा मुनीन्द्रों (गणधर देवादिकों) जैसे स्वयं स्तुत्योंके द्वारा एकाग्रमनसे स्तुत्य हैं, इसीसे मेरे—मुझ परीक्षाप्रधानीके द्वारा—शक्तिके अनुरूप स्तुति किये गये हैं। अतः अपने ही मार्गमें—अपने द्वारा अनुष्ठित एवं प्रतिपादित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्गमें, जो प्रतिनिधिरहित है—अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे निर्णीत है अर्थात् दूसरा कोई भी मार्ग जिसके जोड़का अथवा जिसके स्थानपर प्रतिष्ठित होनेके योग्य नहीं है—मेरी भक्तिको सविशेष रूपसे चरितार्थ करो—आपके मार्गकी अमोघता और उससे अभिमत फलकी सिद्धिको देखकर मेरा अनुराग (भक्तिभाव) उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़े, जिससे मैं भी उसी मार्गकी आराधना-साधना करता हुआ कर्म शत्रुओंकी सेनाको जीतनेमें समर्थ होऊँ और निःश्रेयस (मोक्ष) पदको प्राप्त करके सफल मनोरथ हो सकूँ। क्योंकि सच्ची सविवेक-भक्ति ही मार्गका अनुसरण करनेमें परम सहायक होती है और जिसकी स्तुति की जाती है उसके मार्गका अनुसरण करना अथवा उसके अनुकूल चलना ही स्तुतिको सार्थक करता है, इसीसे स्तोत्रके अन्तमें ऐसी फलप्राप्तिकी प्रार्थना अथवा भावना की गई है।'

इति युक्त्यनुशासनम्।

जुगलकिशोर मुख्तार

महावीरकी मूर्ति और लङ्गोटी

(लेखक— श्री'लोकपाल')

एक दिन मैं बाबू रघुवीरकिशोरजीके साथ वृन्दावन गया। वहाँ उन्होंने रास्तेमें बिड़लामन्दिर दिखलाया और मन्दिरमें चारों तरफ देखते भालते तथा इधर उधर घूमते हुए एक जगह एक जैनमूर्ति श्रीवर्द्धमान महावीर स्वामीकी बनी हुई दिखलायी। और मेरा ध्यान विशेषतौरसे एक बातकी तरफ आकर्षित किया कि मूर्ति लङ्गोटी पहनी हुई बनाई गई है। मुझे दुःख हुआ। खेद है कि ये लोग दिगंबरत्वका महत्व नहीं समझ सके और यह इन लोगोंकी मानसिक कमजोरी तथा विकारका सूचक है जिसने उलटी बातें सुनते और वर्तते रहनेके कारण जड़ पकड़ ली है। सच्ची बात जाननेकी कोशिश कौन कहे उसे सुनना भी गवारा करने या बरदाश्त करनेको तैयार नहीं। ऐसा वातावरण आज भारतमें पैदा कर दिया गया है कि लोग बगैर सोचे-समझे-विचारे ही यों ही किसी बातपर निरे बेवकूफ़ और भौंदू-सा हँस देनेमें ही अपनी या अपने धर्मकी बहादुरी समझते हैं। इसे हम अज्ञान न कहें तो और क्या कहें? आज कॉलेजोंमें जाइए— जैन लड़के अधिकतर जैनमन्दिरोंमें जानेमें शर्माते हैं और नहीं जाते हैं, केवल इस लिए कि दस आदमी किसी लड़केको यह कहकर लजवा देते हैं कि वह "नङ्गे" देवताओंकी पूजा करता है। दस आदमी मिलकर किसी भी बड़ेसे बड़े विद्वान या व्यक्तिको हँसकर और ताली पीटकर बेवकूफ़ बना देते हैं या बना सकते हैं। यही तरीका अबतक खासतौरसे जैन-धर्म या जैनधर्मावलम्बियोंके साथ वर्ता जाता रहा है। जब तर्क और बुद्धिसे कोई हार जाता है तब इन्हीं ओछे तौर-तरीकोंको अपनाता है। खैर, ये सब तो पुरानी बातें हो गईं। अब तो मिलने-मिलानेका समय है और सभी एक दूसरेसे मिलना या एक दूसरेकी बातोंको समझनेकी चेष्टा करने लगे हैं। यह अच्छा लक्षण है। देखें, भारत कबतक मानसिक पतनके गड्ढेसे ऊपर उठता है।

जबतक एक पतली-सी भी लङ्गोटी किसीके लिए रखनी आवश्यक रहेगी तबतक वह पूर्णरूपसे निर्विकार हो ही नहीं सकता। और अधिक कपड़ोंकी कौन कहे केवल-मात्र एक लङ्गोटीका भी रखना ही यह साबित करता है कि लङ्गोटी पहननेवाला व्यक्ति पूर्णरूपसे निर्विकार नहीं है। इसके अतिरिक्त भी लङ्गोटी जबतक मौजूद है वह निर्विकार या एकदम परम निश्चिन्त हो ही कैसे सकता है? लङ्गोटी गन्दी होगी मैली होगी—बदबू करेगी—उसे साफ करना या साफ रखना एक फिकर या चिन्ता तो यही हुई। फट जाय तो दूसरीका प्रबन्ध करना—इत्यादि। यह तो हुई सांसारिक बात जो हर आदमी यदि समझना चाहे तो स्वयं समझ सकता है—यदि ठीक मानसिक स्थितिमें हो तो। आगे तत्वतः देखा जाय तो जिसने संसारका सब कुछ जान लिया उसके लिए क्या छिपा रह जाता है—वह तो सब कुछ एकदम खुला हुआ यों ही प्रत्यक्ष देखता या जानता है। जब किसीको समता प्राप्त हो जाय, सबमें वह एक ही शुद्ध आत्माका दर्शन करने लगे या उसको देखने लगे जो स्वयं उसके शरीरके अन्दर है—या वह सभीको अपने समान केवल आत्मारूप ही देखने लगे तो फिर वहाँ पर्देकी क्या जरूरत रह जाती है? परमवीतरागी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और पूर्णतः शक्ति-सम्पन्न महात्मा किसके लिये लङ्गोटी लगाए? उसे न अपने लिये जरूरत रहती है और न दूसरोंकी खातिर। वास्तवमें सविवेक दिगम्बरत्वका बड़ा महत्व है जो साधारणतः सभीके दिमागमें घुसना सम्भव नहीं। जिस समय इस विषयकी महत्ता लोगोंको ज्ञात होजाय उसी समय समझना चाहिएकि अब देश या संसारके उत्थानमें देर नहीं।

गाँधीजीकी जैन-धर्मको देन

(श्री पं० सुखलालजी)

धर्मके दो रूप होते हैं। सम्प्रदाय कोई भी हो उसका धर्म बाहरी और भीतरी दो रूपों में चलता रहता है। बाह्य रूपको हम 'धर्म कलेवर' कहे तो भीतरी रूप को 'धर्म चेतना' कहना चाहिये।

धर्म का प्रारम्भ, विकास और प्रचार मनुष्य जाति में ही हुआ है। मनुष्य खुद न केवल चेतन है और न केवल देह। वह जैसे सचेतन देहरूप है वैसे ही उसका धर्म भी चेतनायुक्त कलेवर रूप होता है। चेतना की गति प्रगति और अवगति कलेवर के सहारे के बिना असम्भव है। धर्म चेतना भी बाहरी आचार रीति-रस्म, रूढ़ि-प्रणाली आदि कलेवरके द्वारा ही गति, प्रगति और अवगति को प्राप्त होती रहती है।

धर्म जितना पुराना उतने ही उसके कलेवर नाना-रूपसे अधिकाधिक बदलते जाते हैं। अगर कोई धर्म जीवित हो तो उसका अर्थ यह भी है कि उसके कैसे भी भद्दे या अच्छे कलेवरमें थोड़ा-बहुत चेतनाका अंश किसी न किसी रूपमें मौजूद है। निष्प्राण देह सड़-गलकर अस्तित्व गँवा बैठती है। चेतनाहीन सम्प्रदाय कलेवरकी भी वही गति होती है।

जैन परम्पराका प्राचीन नाम-रूप कुछ भी क्यों न रहा हो; पर उस समयसे अभीतक जीवित है जब जब उसका कलेवर दिखावटी और रोगग्रस्त हुआ है तब तब उसकी धर्म चेतनाका किसी व्यक्तिमें विशेषरूपसे स्पन्दन प्रकट हुआ है। पार्श्वनाथके बाद महावीरमें स्पन्दन तीव्ररूपसे प्रकट हुआ है जिसका इतिहास साक्षी है।

धर्मचेतनाके मुख्य दो लक्षण हैं जो सभी धर्म-सम्प्रदायोंमें व्यक्त होते हैं। भले ही उस आविर्भावमें तारतम्य हो। पहला लक्षण है. *'अन्यका भला करना'* और दूसरा लक्षण है *'अन्यका बुरा न करना'*। ये विधि-निषेधरूप या हकार नकाररूप साथ ही साथ चलते हैं। एकके सिवाय दूसरेका सम्भव नहीं। जैसे-जैसे धर्मचेतनाका विशेष और उत्कट स्पन्दन वैसे-वैसे ये दोनों विधि-निषेधरूप भी अधिकाधिक सक्रिय होते हैं। जैन-परम्पराकी ऐतिहासिक भूमिका को हम देखते हैं तो मालूम पड़ता है कि उसके इति-हास कालसे ही धर्मचेतनाके उक्त दोनों लक्षण साधारणरूपमें न पाये जाकर असाधारण और व्यापकरूपमें ही पाये जाते हैं। जैन-परम्पराका ऐतिहासिक पुरावा कहता है कि सबका अर्थात् प्राणी-मात्रका. जिसमें मनुष्य, पशु-पक्षीके अलावा सूक्ष्म कीट जन्तु तकका समावेश हो जाता है—सब तरहसे भला करो। इसी तरह प्राणीमात्रको किसी भी प्रकार-से तकलीफ न दो। यह पुरावा कहता है कि जैन परम्परागत धर्मचेतनाकी वह भूमिका प्राथमिक नहीं है। मनुष्यजातिके द्वारा धर्मचेतनाका जो क्रमिक विकास हुआ है उसका परिपक्व विचारका श्रेय ऐति-हासिक दृष्टिसे भगवान् महावीरको तो अवश्य है ही।

कोई भी सत्पुरुषार्थी और सूक्ष्मदर्शी धर्मपुरुष अपने जीवनमें धर्मचेतनाका कितना ही स्पदन क्यों न करे पर वह प्रकट होता है सामयिक और देशका-लिक आवश्यकताओं की पूर्तिके द्वारा। हम इतिहास से जानते हैं कि महावीरने सबका भला करना और किसीको तकलीफ न देना इन दो धर्मचेतनाके रूपों को अपने जीवनमें ठीक-ठीक प्रकट किया। प्रकटी-करण सामयिक जरूरतोंके अनुसार मर्यादित रहा। मनुष्यजातिकी उस समय और उस देशकी निर्ब-लता. जातिभेदमें. छुआछूतमें. स्त्री की लाचारीमें

और यज्ञीयहिंसामें थी। महावीरने इन्हीं निर्बलताओं का सामना किया। क्योंकि उनकी धर्मचेतना अपने आसपास प्रवृत्त अन्यायको सह न सकती थी। इसी करुणावृत्तिने उन्हें अपरिग्रही बनाया। अपरिग्रह भी ऐसा कि जिसमें न घर-बार और न वस्त्र-पात्र। इसी करुणावृत्तिने उन्हें दलित-पतितका उद्धार करनेको प्रेरित किया। यह तो हुआ महावीर की धर्मचेतनाका स्पंदन।

पर उनके बाद यह स्पंदन जरूर मन्द हुआ और धर्मचेतनाका पोषक धर्म कलेवर बहुत बढ़ने लगा. बढ़ते-बढ़ते उस कलेवरका कद और वजन इतना बढ़ा कि कलेवर की पुष्टी और वृद्धिके साथ ही चेतना का स्पंदन मन्द होने लगा। जैसे पानी सूखते ही या कम होते ही नीचे की मिट्टीमें दरारें पड़ती हैं और मिट्टी एक रूप न रह कर विभक्त हो जाती है वैसे ही जैन परम्पराका धर्मकलेवर भी अनेक टुकडोंमें विभक्त हुआ और वे टुकड़े चेतनास्पंदनके मिथ्या अभिमानसे प्रेरित होकर आपसमें ही लड़ने-झगडने लगे। जो धर्मचेतनाके स्पंदनका मुख्य काम था वह गौण होगया और धर्मचेतना की रक्षाके नामपर वे मुख्यतया गुजारा करने लगे।

धर्म-कलेवरके फिरकोंमें धर्मचेतना कम होते ही आसपासके विरोधी बलोंने उनके ऊपर बुरा असर डाला। सभी फिरके मुख्य उद्देश्यके बारेमें इतने निर्बल साबित हुए कि कोई अपने पूज्य पुरुष महावीर की प्रवृत्तिको योग्य रूपमें आगे न बढ़ा सके। स्त्री-उद्धार की बात करते हुए भी वे स्त्रीके अबलापनके पोषक ही रहे। उच्च-नीच भाव और छूआछूतके दूर करने की बात करते हुए भी वे जातिवादी ब्राह्मण परम्पराके प्रभावसे बच न सके और व्यवहार तथा धर्मक्षेत्रमें उच्च-नीच भाव और छूआछूतपनेके शिकार बन गये। यज्ञीयहिंसाके प्रभावसे वे जरूर बच गये और पशु-पक्षी की रक्षामें उन्होंने हाथ ठीक ठीक बटाया; पर वे अपरिग्रहके प्राण मूर्छात्यागको गँवा बैठे। देखनेमे तो सभी फिरके अपरिग्रही मालूम होते रहे; पर अपरिग्रहका प्राण उनमें कमसे कम रहा। इसीलिये सभी फिरकोके त्यागी अपरिग्रह व्रत की दुहाई देकर नंगे पाँवसे चलते देखे जाते हैं लूँचन रूपसे बाल तक हाथसे खींच डालते हैं, निर्वसन भाव भी धारण करते देखे जाते हैं. सूक्ष्म-जन्तु की रक्षाके निमित्त मुँहपर कपड़ा तक रख लेते हैं. पर वे अपरिग्रहके पालनके लिये अनिवार्य रूपसे आवश्यक ऐसा स्वावलम्बी जीवन करीब-करीब गँवा बैठे हैं। उन्हें अपरिग्रहका पालन गृहस्थों की मदद के सिवाय सम्भव नहीं दीखता। फलतः वे अधिकाधिक पर-परिश्रमावलम्बी होगये है।

बेशक, पिछले ढाई हजार वर्षोंमें देशके विभिन्न भागोंमें ऐसे इने-गिने अनागार त्यागी और सागार गृहस्थ अवश्य हुए है जिन्होंने जैन परम्परा की मूर्छित-सी धर्मचेतनामें स्पंदनके प्राण फूंके। पर एक तो वह स्पंदन साम्प्रदायिक ढङ्गका था जैसा कि अन्य सभी सम्प्रदायोंमें हुआ है, और दूसरे वह स्पंदन ऐसी कोई दृढ़ नींवपर न था जिससे चिरकाल तक टिक सके। इसलिये बीच-बीचमें प्रकट हुए धर्मचेतनाके स्पंदन अर्थात् प्रभावनाकार्य सतत चालू रह न सके।

पिछली शताब्दीमे तो जैन समाजके त्यागी और गृहस्थ दोनोंकी मनोदशा विलक्षण-सी होगई थी वे परम्पराप्राप्त सत्य, अहिंसा और अपरिग्रहके आदर्श संस्कार की महिमाको छोड़ भी न सके थे और जीवनपर्यन्तमें वे हिंसा, असत्य और परिग्रहके संस्कारों का ही समर्थन करते जाते थे। ऐसा माना जाने लगा था कि कुटुम्ब, समाज, ग्राम, राष्ट्र आदिसे सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्तियाँ सांसारिक है, दुनियावी है, अव्यवहारिक है। इसलिये ऐसी आर्थिक औद्योगिक और राजकीय प्रवृत्तियोंमें न तो सत्य साथ दे सकता है, न अहिंसा काम कर सकती है और न अपरिग्रहव्रत ही कार्यसाधक बन सकता है। ये धर्म सिद्धान्त सच्चे हैं सही, पर इनका शुद्ध पालन दुनिया के बीच संभव नहीं। इसके लिये तो एकान्त बनवास

और संसार त्याग ही चाहिये। इस विचारने अनगार त्यागियोंके मनपर भी ऐसा प्रभाव जमाया था कि वे रात दिन सत्य, अहिंसा और अपरिग्रहका उपदेश करते हुए भी दुनियावी-जीवनमें उन उपदेशों के सच्चे पालनका कोई रास्ता दिखा न सकते थे। वे थक कर यही कहते थे कि अगर सच्चा धर्म पालन करना हो तो तुम लोग घर छोड़ो, कुटुम्ब समाज और राष्ट्रकी जबाबदेही छोड़ो ऐसी जवाबदेही और सत्य-अहिंसा अपरिग्रहका शुद्ध पालन दोनों एक साथ सम्भव नहीं। ऐसी मनोदशाके कारण त्यागी गण देखनेमें अवश्य अनगार था, पर उसका जीवन तत्त्वदृष्टिसे किसी भी प्रकार अगारी गृहस्थों की अपेक्षा विशेष उन्नत या विशेष शुद्ध बनने न पाया था। इसलिये जैन समाज की स्थिति ऐसी होगई थी कि हजारोंकी संख्यामें साधु-साध्वियोंके सतत होते रहनेपर भी समाजके उत्थानका कोई सच्चा काम होने न पाता था और अनुयायी गृहस्थवर्ग तो साधु-साध्वियोंके भरोसे रहनेका इतना आदि हो गया था कि वह हरएक बातमें निकम्मी प्रथाका त्याग सुधार, परिवर्तन वगैरह करनेमें अपनी बुद्धि और साहस ही गँवा बैठा था। त्यागीवर्ग कहता था कि हम क्या करें ? यह काम तो गृहस्थोंका है। गृहस्थ कहते थे कि हमारे सिरमौर गुरु है। वे महावीरके प्रतिनिधि हैं, शास्त्रज्ञ है, वे हमसे अधिक जान सकते है, उनके सुझाव और उनकी सम्मतिके बिना हम कर ही क्या सकते है ? गृहस्थोंका असर ही क्या पड़ेगा ? साधुओंके कथनको सब लोग मान सकते हैं इत्यादि। इस तरह अन्य धर्म समाजों की तरह जैन समाजकी नैया भी हर एक क्षेत्रमे उलझनोंकी भँवरमें फँसी थी।

सारे राष्ट्रपर पिछली सहस्राब्दीने जो आफतें ढाई थीं और पश्चिमके सम्पर्कके बाद विदेशी राज्य-ने पिछली दो शताब्दियोंमें गुलामी, शोषण और आपसी फूटकी जो आफत बढ़ाई थी उसका शिकार तो जैन समाज शत प्रतिशत था ही, पर उसके अलावा जैन समाजके अपने निजी भी प्रश्न थे। जो उलझनोंसे पूर्ण थे। आपसमें फिरकाबन्दी, धर्मके निमित्त अधर्म पोषक झगड़े, निवृत्तिके नामपर निष्क्रियता और ऐदीपन की बाढ़, नई पीढ़ीमें पुरानी चेतनाका विरोध और नई चेतनाका अवरोध, सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह जैसे शाश्वत मूल्य वाले सिद्धान्तोंके प्रति सबकी देखादेखी बढ़ती हुई अश्रद्धा ये जैन समाजकी समस्याएँ थीं।

इस अन्धकार प्रधान रात्रिमें अफ्रिकासे एक कर्मवीरकी हलचलने लोगोंकी आँखें खोली। वही कर्मवीर फिर अपनी जन्म-भूमि भारत भूमिमें पीछे लौटा। आते ही सत्य, अहिंसा और अपरिग्रहकी निर्भय और गगनभेदी वाणी शान्त-स्वरसे और जीवन-व्यवहारसे सुनाने लगा। पहले तो जैन समाज अपनी संस्कार-च्युतिके कारण चौंका। उसे भय मालूम हुआ कि दुनियाकी प्रवृत्ति या सांसारिक राजकीय प्रवृत्तिके साथ सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का मेल कैसे बैठ सकता है ? ऐसा हो तो फिर त्याग मार्ग अनगार धर्म जो हजारों वर्षसे चला आता है वह नष्ट ही हो जायगा। पर जैसे-जैसे कर्मवीर गाँधी एकके बाद एक नये-नये सामाजिक और राजकीय क्षेत्रको सर करते गये और देशके उच्चसे उच्च मस्तिष्क भी उनके सामने झुकने लगे। कवीन्द्र रवीन्द्र, लाला लाजपतराय, देशबन्धुदास, मोतीलाल नेहरू आदि मुख्य राष्ट्रीय पुरुषोंने गाँधीजीका नेतृत्व मान लिया। वैसे-वैसे जैन समाजकी भी सुषुप्त और मुर्च्छितसी धर्मचेतनामें स्पन्दन शुरू हुआ। स्पन्दनकी यह लहर क्रमशः ऐसी बढ़ती और फैलती गई कि जिसने ३५ वर्षके पहलेकी जैन समाजकी काया ही पलट दी। जिसने ३५ वर्षके पहलेकी जैन समाजकी बाहरी और भीतरी दशा आँखो देखी है और जिसने पिछले ३५ वर्षोंमें गाँधीजीके कारण जैन समाजमें सत्वर प्रकट होने वाले सात्विक धर्मस्पन्दनोंको देखा है वह यह बिना कहे नहीं रह सकता कि जैन समाजकी धर्म-चेतना—जो गाँधीजीकी देन है—वह इतिहास कालमें

अभूतपूर्व है। अब हम संक्षेपमें यह देखें कि गाँधीजी की यह देन किस रूपमें है।

जैन समाजमें जो सत्य और अहिंसाकी सार्वत्रिक कार्यक्षमताके बारेमें अविश्वासकी जड़ जमी थी, गाँधीजीने देशमें आते ही सबसे प्रथम उसपर कुठाराघात किया। जैन लोगोंके दिलमें सत्य और अहिंसाके प्रति जन्मसिद्ध आदर तो था ही। वे सिर्फ प्रयोग करना जानते न थे और न कोई उन्हें प्रयोगके द्वारा उन सिद्धान्तोंकी शक्ति दिखाने वाला था। गाँधीजीके अहिंसा और सत्यके सफल प्रयोगोंने और किसी समाजकी अपने सबसे पहले जैन समाजका ध्यान खींचा। अनेक बूढ़े तरुण और सभ्य शुरूमें कुतूहल-वश और पीछे लगनीसे गाँधीजीके आसपास इकट्ठे होने लगे। जैसे जैसे गाँधीजीके अहिंसा और सत्यके प्रयोग अधिकाधिक समाज और राष्ट्रव्यापी होते गये वैसे वैसे जैन समाजको विरासतमें मिली अहिंसा-वृत्तिपर अधिकाधिक भरोसा होने लगा और फिर तो वह उन्नत मस्तक और प्रसन्नवदनसे कहने लगा कि 'अहिंसा परमो धर्मः' यह जो जैन परम्पराका मुद्रालेख है उसीकी यह विजय है। जैन परम्परा स्त्रीकी समानता और मुक्तिका दावा[1] तो करती ही आरही थी; पर व्यवहारमें उसे उसके अबलापनके सिवाय कुछ नजर आता न था। उसने मान लिया था कि त्यक्ता, विधवा और लाचार कुमारीके लिये एकमात्र बलप्रद मुक्तिमार्ग साध्वी बननेका है। पर गाँधीजीके जादूने यह साबित कर दिया कि अगर स्त्री किसी अपेक्षासे अबला है तो पुरुष भी अबल ही है। अगर पुरुषको सबल मान लिया जाय तो स्त्रीके अबला रहते वह सबल बन नहीं सकता। कई अंशोंमे तो पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीका बल बहुत है। यह बात गाँधीजीने केवल दलीलोंसे समझाई न थी, पर उनके जादूसे स्त्री शक्ति इतनी अधिक प्रकट हुई कि अब तो पुरुष उसे अबला कहनेमें सकुचाने लगा। जैन स्त्रियोंके दिलमें भी ऐसा कुछ चमत्कारिक परिवर्तन हुआ कि वे अब अपनेको शक्तिशाली समझकर जबाबदेही के छोटे मोटे अनेक काम करने लगीं और आमतौरसे जैनसमाजमें यह माना जाने लगा कि जो स्त्री ऐहिक बन्धनोंसे मुक्ति पानेमें असमर्थ है वह साध्वी बनकर भी पारलौकिक मुक्ति पा नहीं सकती। इस मान्यासे जैन बहनोंके सूखे और पीले चेहरेपर सुर्खी आ गई और वह देशके कोने कोनेमे जवाबदेहीके अनेक काम सफलतापूर्वक करने लगीं। अब उन्हें त्यक्तापन, विधवापन या लाचार कुमारीपनका कोई दुःख नहीं सताता। यह स्त्रीशक्तिका कायापलट है। यों तो जैन लोग सिद्धान्तरूपसे जाति भेद और छुआछूतको बिल्कुल मानते न थे और इसीमें अपनी परम्पराका गौरव भी समझते थे; पर इस सिद्धान्तको व्यापकतौरसे वे अमलमें लानेमे असमर्थ थे। गाँधीजीकी प्रायोगिक अंजनशलाकाने जैन समझदारोंके नेत्र खोल दिये और उनमे साहस भर दिया फिर तो वे हरिजन या अन्य दलितवर्गको समान भावसे अपनाने लगे। अनेक बूढ़े और युवक स्त्री-पुरुषोंका खास एकवर्ग देशभरके जैन समाजमे ऐसा तैयार हो गया है कि वह अब रूढ़िचुस्त मानसकी बिल्कुल परवाह बिना किये हरिजन और दलितवर्गकी सेवामें या तो पड़ गया है, या उसके लिये अधिकाधिक सहानुभूति पूर्वक सहायता करता है।

जैनसमाजमें महिमा एकमात्र त्यागकी रही, पर कोई त्यागी निवृत्ति और प्रवृत्तिका सुमेल साध न सकता था। यह प्रवृत्तिमात्रको निवृत्ति विरोधी समझ कर अनिवार्यरूपसे आवश्यक ऐसी प्रवृत्तिका बोझ भी दूसरोंके कन्धे डालकर निवृत्तिका सन्तोष अनुभव करता था। गाँधीजीके जीवनने दिया कि निवृत्ति और प्रवृत्ति वस्तुतः परस्पर विरुद्ध नहीं है। जरूरत है तो दोनोंके रहस्य पानेकी। समय प्रवृत्तिकी माँग कर रहा था और निवृत्तिकी भी। सुमेलके बिना दोनो निरर्थक

---

[1] यह श्वेताम्बर परम्पराकी दृष्टिसे है। दिगम्बर-परम्परा स्त्री-मुक्ति नहीं मानती। —सम्पादक

ही नहीं बल्कि समाज और राष्ट्रघातक सिद्ध हो रहे थे। गाँधीजीके जीवनमें निवृत्ति और प्रवृत्तिका ऐसा सुमेल जैनसमाजने देखा जैसा गुलाबके फूल और सुवासमें। फिर तो मात्र गृहस्थोंकी ही नहीं, बल्कि त्यागी अनगारों तककी आँखें खुल गईं। उन्हें अब जैन शास्त्रोंका असली मर्म दिखाई दिया या वे शास्त्रोंको नये अर्थमें नये सिरसे देखने लगे। कई त्यागी अपना भिक्षुवेष रखकर भी या छोड़कर भी निवृत्ति-प्रवृत्तिके गङ्गा-यमुना संगममें स्नान करने आये और वे अब भिन्न-भिन्न सेवाक्षेत्रोंमें पड़कर अपना अनगारपना सच्चे अर्थमें साबित कर रहे हैं। जैन गृहस्थकी मनोदशामें भी निष्क्रिय निवृत्तिका जो घुन लगा था वह हटा और अनेक बूढ़े जवान निवृत्ति प्रिय जैन स्त्री-पुरुष निष्काम प्रवृत्तिका क्षेत्र पसन्द कर अपनी निवृत्ति-प्रियताको सफल कर रहे हैं। पहले भिक्षु-भिक्षुणियोंके लिये एक ही रास्ता था कि या तो वे वेष धारण करनेके बाद निष्क्रिय बनकर दूसरोंकी सेवा लेते रहें, या दूसरोंकी सेवा करना चाहें तो वे वेष छोड़कर अप्रष्ठित बनकर समाजबाह्य हो जायें। गाँधीजीके नये जीवनके नये अर्थने निष्प्राणसे त्यागी वर्गमें भी धर्मचेतनाका प्राण स्पन्दन किया। अब उसे न तो जरूरत ही रही भिक्षुवेष फेंक देनेकी और न डर रहा अप्रतिष्ठितरूपसे समाजबाह्य होनेका। अब निष्काम सेवाप्रिय जैन भिक्षुगणके लिए गाँधीजीके जीवनने ऐसा विशाल कार्य-प्रदेश चुन दिया है, जिसमें कोई भी त्यागी निर्दम्भ भावसे त्यागका आस्वाद लेता हुआ समाज और राष्ट्रके लिए आदर्श बन सकता है।

जैनपरम्पराको अपने तत्वज्ञानके अनेकान्त सिद्धान्तका बहुत बड़ा गर्व था। वह समझती थी कि ऐसा सिद्धान्त अन्य किसी धर्म परम्पराको नसीब नहीं है; पर खुद जैन परम्परा उस सिद्धान्तका सर्व लोक हितकारक रूपसे प्रयोग करना तो दूर रहा, पर अपने हितमें भी उसका प्रयोग करना जानती न थी। वह जानती थी इतना ही कि उस वादके नाम पर भङ्गजाल कैसे किया जा सकता है और विवादमें विजय कैसे पाया जा सकता है? अनेकान्तवादके हिमायती क्या गृहस्थ क्या त्यागी सभी फिरकेबन्दी और गच्छ-गणके ऐकान्तिक कदाग्रह और झगड़ेमें फँसे थे। उन्हें यह पता ही न था कि अनेकान्तका यथार्थ प्रयोग समाज और राष्ट्र की सब प्रवृत्तियोंमें कैसे सफलतापूर्वक किया जा सकता है? गाँधीजी तख्तेपर आये और कुटुम्ब, समाज, राष्ट्रकी सब प्रवृत्तियोंमें अनेकान्तदृष्टिका ऐसा सजीव और सफल प्रयोग करने लगे कि जिससे आकृष्ट होकर समझदार जैनवर्ग यह अन्तःकरणसे महसूस करने लगा कि भङ्गजाल और वादविजयमें तो अनेकान्तका कलेवर ही है। उसकी जान नहीं। जान तो व्यवहारके सब क्षेत्रोंमें अनेकान्तदृष्टिका प्रयोग करके विरोधी दिखाई देने वाले बलोंका संघर्ष मिटानेमें ही है।

जैन परम्परामें विजय सेठ और विजया सेठानी इस दम्पती युगलके ब्रह्मचर्यकी बात है। जिसमें दोनों का साहचर्य और सहजीवन होते हुए भी शुद्ध ब्रह्मचर्य पालनका भाव है। इसी तरह स्थूलिभद्र मुनिके ब्रह्मचर्य की भी कहानी है जिसमें एक मुनिने अपनी पूर्व परिचित वेश्याके सहवासमें रह कर भी विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन किया है। अभी तक ऐसी कहानियाँ लोकोत्तर समझी जाती रहीं। सामान्य जनता यही समझती रही कि कोई दम्पती या स्त्री-पुरुष साथ रह कर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करे तो वह दैवी चमत्कार जैसा है। पर गाँधीजीके ब्रह्मचर्यवासने इस अति कठिन और लोकोत्तर समझी जाने वाली बातको प्रयत्न साध्य पर इतनी लोकगम्य साबित कर दिया कि आज अनेक दम्पती और स्त्री-पुरुष साथ रह कर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करनेका निर्दम्भ प्रयत्न करते हैं। जैन समाजमें भी ऐसे अनेक युगल मौजूद हैं। अब उन्हें कोई स्थूलिभद्र की कोटिमें नहीं गिनता। हालाँकि उनका ब्रह्मचर्य-पुरुषार्थ वैसा ही है। रात्रि-भोजनत्याग और उपभोग-परिभोग परिमाण तथा उपवास, आयंबिल जैसे व्रत-नियम नये युगमें केवल उपहासकी दृष्टिसे देखे जाने लगे थे और श्रद्धालु लोग

इन व्रतोंका आचरण करते हुए भी कोई तेजस्विता प्रकट न कर सकते थे। उन लोगोंका व्रत-पालन केवल रूढ़िधर्म-सा दीखता था। मानों उनमें भावप्राण रहा ही न हो। गाँधीजीने इन्हीं व्रतोंमें ऐसा प्राण फूँका कि आज कोई इनके मखौलका साहस नहीं कर सकता। गाँधीजीके उपवासके प्रति दुनिया-भर का आदर है। उनके रात्रिभोजनत्याग और इने-गिने खाद्य पेयके नियमको आरोग्य और सुभीते की दृष्टि से भी लोग उपादेय समझते हैं। हम इस तरह की अनेक बातें देख सकते हैं जो परम्परासे जैन समाज में चिरकालसे चली आती रहनेपर भी तेजोहीन-सी दीखती थीं; पर अब गाँधीजीके जीवनने उन्हें आदरास्पद बना दिया है।

जैनपरम्पराके एक नहीं अनेक सुसंस्कार जो सुप्त या मूर्छित पड़े थे उनको गाँधीजी की धर्मचेतनाने स्पंदित किया, गतिशील किया और विकसित भी किया। यही कारण है कि अपेक्षाकृत इस छोटेसे समाजने भी अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक संख्यक सेवा-भावी स्त्री-पुरुषोंको राष्ट्रके चरणोंपर अर्पित किया है, जिसमें बूढ़े, जवान, स्त्री-पुरुष होनहार तरुण-तरुणी और त्यागी भिक्षु वर्गका भी समावेश होता है।

मानवताके विशाल अर्थमें तो जैन समाज अन्य समाजोंसे अलग नहीं। फिर भी उसके परम्परागत संस्कार अमुक अंशमें इतर समाजोंसे जुदे भी है। ये संस्कार मात्र धर्म कलेवर बन धर्मचेतनाकी भूमिकाको छोड़ बैठे थे। यों तो गाँधीजीने विश्वभरके समस्त सम्प्रदायों की धर्मचेतनाको उत्प्राणित किया है; पर साम्प्रदायिक दृष्टिसे देखें तो जैन समाजको मानना चाहिये कि उनके प्रति गाँधीजीकी बहुत बड़ी और अनेकविध देन है। क्योंकि गाँधीजीकी देनके कारण ही अब जैन समाज अहिंसा, स्त्री-समानता वर्ग-समानता, निवृत्ति और अनेकान्तदृष्टि इत्यादि अपने विरासतगत पुराने सिद्धान्तोंको क्रियाशील और सार्थक साबित कर सकता है।

जैन परम्परामें "ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै" जैसे सर्वधर्मसमन्वयकारी अनेक उद्गार मौजूद थे। पर आम तौरसे उसकी धर्मविधि और प्रार्थना बिल्कुल साम्प्रदायिक बन गई थी। उसका चौका इतना छोटा बन गया था कि उसमें उक्त उद्गारके अनुरूप सब सम्प्रदायोंका समावेश दुःसंभव होगया था। पर गाँधीजी की धर्मचेतना ऐसी जागरित हुई कि धर्मोंकी बाड़ाबन्दीका स्थान रहा ही नहीं। गाँधीजीकी प्रार्थना जिस जैनने देखी सुनी हो वह कृतज्ञता पूर्वक बिना कबूल किये रह नहीं सकता कि 'ब्रह्मा वा विष्णुर्वा' की उदात्त भावना या 'राम कहो रहिमान कहो' की अभेद भावना जो जैन परम्परामें मात्र साहित्यिक वस्तु बन गई थी; उसे गाँधीजीने और विकसित रूपमें सजीव और शाश्वत किया।

हम गाँधीजीकी देनको एक-एक करके न तो गिना सकते हैं और न ऐसा भी कर सकते है कि गाँधीजी की अमुक देन तो मात्र जैन-समाजके प्रति ही है और अन्य समाजके प्रति नहीं। वर्षा होती है तब क्षेत्रभेद नहीं देखती। सूर्य चन्द्र प्रकाश फेंकते है तब भी स्थान या व्यक्तिका भेद नहीं करते। तो भी जिसके घड़ेमें पानी आया और जिसने प्रकाशका सुख अनुभव किया, वह तो लौकिक भाषामें यही कहेगा, कि वर्षा या चन्द्र सूर्यने मेरेपर इतना उपकार किया। इसी न्यायसे इस जगह गाँधीजीकी देन का उल्लेख है, न कि उस देनकी मर्यादाका।

गाँधीजीके प्रति अपने ऋणको अंशसे भी तभी अदा कर सकते हैं जब हम उनके निर्दिष्ट मार्गपर चलनेका दृढ़ संकल्प करें और चलें।

भारतीय इतिहासमें अहिंसा

(लेखक—श्रीदेवेन्द्रकुमार)

सृष्टि और मनुष्यका विकास कैसे हुआ, यह प्रश्न अभी भी विवाद-ग्रस्त है। धार्मिक कल्पना और वैज्ञानिक अनुसन्धान भी इस विषयमे हमारी अधिक सहायता नहीं करते। इतिहासकारोंने सृष्टि विकासके जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं उनके अनुसार मानव जातिका इतिहास कुछ ही हजार वर्षोंका है। अंग्रेज इतिहासकार, एम० जी० वेल्सने विश्व इतिहासकी रूपरेखा खींचते हुए, ई० पू० छठवीं सदीको मानवीय सभ्यताकी विभाजक रेखा स्वीकार किया है। आपके अनुसार यह सदी ही वह समय है जब मानवजातिने दर्शन और चिन्तनके नये युगमें कदम रक्खा। और तभीसे आधुनिक विचारधाराकी नींव पड़ी। एच० जी० वेल्सका यह भी कहना है कि आरम्भिक युगोंमे मनुष्य निरा असभ्य था। बहुत युगोंके विकासके बाद उसमे विचारपूर्वक सोचनेकी चेतना आई और उसने रक्तिम बलिदान, पुरोहिती तथा आडम्बरके विरुद्ध नई क्रान्ति की, यह क्रान्ति भारत, बेबोलीन, चीन और एफेससमे एक साथ हुई। इस कालमें कई समाज नेता और सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने पुराने गुरुडमका विरोधकर नये आदर्शोंकी प्रतिष्ठा की। उनके मतसे सरल जीवन और आत्मसंयम ही जीवन सुखी बनानेका सच्चा उपाय था। जहाँ तक विश्व इतिहासकी दृष्टिसे विचार करनेका प्रश्न है, उक्त लेखकका कथन प्रायः ठीक है। परन्तु भारतीय इतिहासमें यह 'सामाजिक क्रान्ति' ई० पू० छठवीं सदीके कई सौ वर्ष पहिले हो चुकी थी; भगवान महावीर और बुद्धने जिस विचार धारापर जोर दिया वह बहुत प्राचीनकालसे भारतीय जीवनमे प्रवाहित होती चली आरही थी, उसका ठीक आकलन किये बिना हम अहिंसाका सही विकास नहीं समझ सकते।

'वेद-वाङ्मय' भारतका ही नहीं विश्वका प्राचीन वाङ्मय है। उसका तथा दूसरी सभ्यताओंके विकास का अध्ययन करनेसे एक बात विशेषरूपसे हमारा ध्यान आकर्षित करती है और वह यह कि सभी सभ्य मानव जातियाँ आरम्भमें शिकार और खेती-बाड़ीसे अपना कार्य चलाती रहीं। इस प्रथाके साथ 'पशुबलि' अनिवार्य रूपसे जुड़ी हुई थी। कहीं-कहीं मनुष्योंकी भी बलि दी जाती थी, वेदोंमें मनुष्यबलि-का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु पशुबलिका स्पष्ट विधान है। यज्ञ वैदिक आर्योंका प्रधान सामाजिक उत्सव था। उसमें सभी जातिके लोग भाग लेते। यज्ञोंका मुख्य लक्ष्य ऐहिक सुख-समृद्धि था, धन धान्यकी बढ़ती और शत्रुओंका संहार ही आरम्भिक आर्योंकी धार्मिकताका उद्देश्य था। पर ज्यों-ज्यों उनमें विचार चेतना बढ़ी त्यों-त्यों पशुबलिके विरुद्ध भीषण प्रतिक्रिया जोर पकड़ती गई। इस प्रतिक्रियाका स्पष्ट आभास हमें उत्तर वैदिककालमें होने लगता है। आगे चलकर 'सोलहमहाजनपद' युगमें वह आभास, कोरा आभास ही नहीं रह जाता किन्तु अहिंसा भारतीय संस्कृति की 'रीढ़' बन जाती है। महावीर और बुद्धके युगसन्देशोंके लिये पृष्ठभूमि बहुत पहिलेसे बनना शुरू होगई थी, और एक प्रकारसे उनके समय भारतीय राजनीति, समाजसंस्थान और दार्शनिक विचार स्पष्टरूपसे अपना आकार-प्रकार ग्रहण कर चुके थे, उन्होंने उसमें केवल 'अहिंसा और मनुष्यता' का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रतिष्ठित कर उसे नई दिशामें मोड़ा।

ऊपर कहा जा चुका है कि महावीर और बुद्ध-के पहले ही 'हिंसा और अहिंसा' का संघर्ष शुरू

होचुका था। 'यह संघर्ष' धार्मिक हिंसाके अनौचित्य-से प्रारम्भ हुआ। परन्तु धीरे-धीरे वह मानव-समाज के सभी अङ्गोंमें फैलता गया। इसका क्रमिक विकास समझनेके लिये दो एक घटनाओंका अङ्कन कर देना जरूरी है। वैदिक वाङ्मयमें ऐसी बहुत-सी कहानियों का उल्लेख मिलता है जिससे इतना ऐतिहासिक तथ्य स्पष्ट निकल आता है कि 'वसु' चैचोमयरके समय धार्मिक सुधारकी एक लहर चली जो यज्ञोंमें पशुके बजाय अन्नकी आहुति देनेके पक्षमे थी। तथा जो कर्मकाण्ड और तपकी जगह भक्ति और सदाचारपर बल देती थी। आगे चलकर यही विधि सात्वत-विधि कहलाई। इसके साथ वासुदेव कृष्ण संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनुरुद्धका नाम जुड़ा हुआ है। यह सात्वत विधि पूर्णरूपसे अहिंसक थी। पर इसमे अहिंसाका भाव एकाएक नहीं आया, विश्वमें कोई भी घटना बिना कारण नहीं घटती। सात्वत पूजा विधिके विषयमें भी यही समझना चाहिये। जैन पुराणोंमें यदुकुमार 'नेमिनाथ' के वैराग्यकी घटना इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि किस तरह आर्योंके जीवन और संस्कृतिमें परोपकारके लिये कुछ लोग अपने व्यक्तिगत सुखको लात मारकर साधनामय जीवन स्वीकार कर रहे थे। नेमिनाथ रथपर बैठे, राजुलको व्याहने जा रहे थे, रास्तेमे उन्होंने देखा बहुतसे पशु-पक्षी एक बेड़ेमें घिरे छटपटा रहे हैं। उन्होंने पूछा क्यों? उत्तर मिला, साथी क्षत्रिय कुमारोंको भोजन के लिये इनका शिकार होगा? युवकका हृदय करुणा और समानानुभूतिसे भर आया, उन्होंने 'मौर' उतार कर दीक्षा ले ली। जब राजुलने यह सुना तो वह साध्वी भी उमङ्गोंकी चिता जलाकर गिरनार पर्वत पर तपस्या करने लगी। उनके इस साधना और त्यागमय जीवनका जो असर गुजरात और आस-पासकी लोकसंस्कृतिपर पड़ा वह आज भी अमिट है। उसके बाद दूसरा उदाहरण पार्श्वनाथका है, कि उन्होंने किस प्रकार सहिष्णुता और धैर्यसे व्यक्तिगत विरोधका बदला चुकाया। एक नहीं कितने ही जन्मों तक वे विरोधी हिंसाका अहिंसक सामना करते रहे परन्तु कभी भी उनके भावोंमें विकृति नहीं आई। इन दो उदाहरणोंसे इस बातमे सन्देह नहीं रह जाता कि भारतीय इतिहासमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा व्यक्ति-साधना और त्यागके बलपर ही हुई। नेमिकुमार और पार्श्वनाथ किसी सम्प्रदायके नहीं थे, क्योंकि सम्प्रदाय उस समय नहीं थे। ये लोग चाहे जिस वर्गके रहे हों, परन्तु वे उन विचारकोंमे नहीं थे जो यज्ञमे पशुवलि आदिके समर्थक थे। मैं समझता हूँ हिंसा और अहिंसाका यह विचार तभीसे मनुष्यके साथ चला आरहा है जबसे उसमें सोचने और समझनेकी बुद्धि आई।

उपनिषद् और सोलह महाजन-पद-युगमें यह प्रतिक्रिया अधिक स्पष्टरूपसे दिखाई देने लगती है। आर्य अब 'जन' से जनपद और जनपदसे महाजन पद संस्कृतिमें पहुँच चुके थे। साथ ही उनमे महाजनपदसे 'साम्राज्यनिर्माण' की प्रतिक्रिया चल रही थी। हिंसा और अहिंसाका ठीक व्यक्तित्व इस समय हमारे सामने आया। यह दो रूपमे व्यक्त हुआ एक ओर तो वे लोग थे जो पिछली दार्शनिक परम्पराको छोड़नेके लिये प्रस्तुत न थे और उसमे उनकी पूरी आस्था थी, परन्तु उसके व्यावहारिक रूपमे उन्होंने अहिंसाको स्वीकार कर लिया। इस प्रकार पहले पहल उपनिषदोंमे सुनाई दिया "प्लवा एते प्रदृढ़ा-यज्ञरूपा" ये यज्ञ फूटी नावकी तरह हैं, सृष्टिके अन्दर एक चेतन शक्ति है जो उसका संचा-लन करती है, प्रायः उस शक्तिको ब्रह्म कहते हैं. इस प्रकार इन्द्र, वरुण आदि पुराने वैदिक देवताओंकी गद्दीपर उपनिषदोंके विचारकोंने ब्रह्मकी स्थापना कर दी! और यज्ञवाली पूजाविधिके बजाय, एक नये आचरण-मार्गका उपदेश दिया। यह आचरण-मार्ग था दुश्चरितसे विराम, इन्द्रियोंका वशीकरण, मनकी शुचिता और पवित्रता। कठ-उपनिषदमें मनुष्यकी जीवनकी यात्राका चरम लक्ष्य विष्णुपदकी प्राप्ति कहा गया है। इन विचारोंसे स्पष्ट है कि 'आत्मतत्त्व' की और आर्योंकी चिंताका विकास होरहा था, परन्तु इसके सिवा एक और वर्ग था जो आत्मतत्त्वको

मानते हुए भी अनीश्वरवादी था. भगवान बुद्ध संभवतः इसी वर्गके थे उन्होंने देखा कि मनुष्य 'अज्ञात ईश्वर' और आत्मतत्त्वके मोहमें पड़ कर विविध अन्धविश्वासों एवं संग्रहशील प्रवृत्तियोंमें उलझा है. फलतः ईश्वर और आत्माका निषेध करते हुए उन्होंने वर्तमान और दृश्यमान दुख-समूहके विरोधका उपाय बताया । भगवान बुद्ध पूर्वतः अहिंसावादी थे. महावीर और बुद्धमें तात्त्विक अन्तर यह था कि महावीर आत्माकी सत्ता स्वीकार करते हुए भी उसे ईश्वर होनेके योग्य समझते है. उपनिषद्में एक ही ब्रह्मको समूची चेतनाका प्रतिनिधि स्वीकार किया गया है । इस तरह ये तीनों विचार धाराएँ अपने ढङ्ग से भारतीय संस्कृतिमें अहिंसक भावना ढाल रही थी अहिंसाकी दार्शनिक पृष्टभूमिमे आगे चलकर इन विचारोंका बहुत गहरा असर दिखाई देगा। सबसे बड़ी बात यह है कि दार्शनिक चिंतनमें भेद होते हुए भी 'अहिंसा' की उपासनामें भारतीय विचारकोंकी समान-आस्था बढ़ी । महावीर और बुद्धकी धमदेशना का तो ऐसा प्रभाव पड़ा कि यज्ञोंकी प्रथा भारतीय सामाजिक जीवनसे एक दम उठ गई और उसके स्थानपर सात्विक जीवन. मित आहार-विहार एवं आत्म-चिन्तनकी प्रवृत्ति बढ़ी यज्ञकी जगह भक्ति, भारतीय लोक-जीवनमें स्फुरित हुई । वैदिकोंकी 'आश्रम-प्रणाली'मे अहिंसाका भाव ही सर्वोपरि दीख पड़ता है ब्रह्मचर्य. गृहस्थ. वानप्रस्थ और सन्यासी इन चारों आश्रमोंके क्रमिक अध्ययनसे यह भली भाँति स्पष्ट होजाता है कि वैदिक साधककी जीवन-साधना किस प्रकार आगेके आश्रमोंमे अहिंसक एकान्त अकिंचन और आत्म-निर्भर होती चली गई है। उच्चकोटिके सन्यासीको परमहंस' की संज्ञा दी गई है इसका अर्थ है आत्मा'। परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मविकासका यह उत्कृष्ट रूप बलिदान और बाह्य आडम्बरसे कथमपि प्राप्य नहीं. वह आत्मचिन्तन और साधना द्वारा ही सम्भव है। ऊपर इस बातका सकेत होचुका है कि भारतीय संस्कृतिमें 'पशुबलि' के औचित्य और अनौचित्यके सिलसिलेमें हिंसा और अहिंसाका प्रश्न उठा था. परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि उसका प्रभाव समाजके सामूहिक और व्यक्तिगत जीवन पर नहीं पड़ा।

दार्शनिक जागरणके साथ साथ हिंसा की परिभाषामें भी बहुतसा हेरफेर हुआ एक समय नारा था —'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"—इसका सीधा अर्थ था कि अहिंसा अच्छी वस्तु है परन्तु वैदिकी हिंसा भी हिंसा नहीं अपितु अहिंसा ही है। पर यह तर्क अधिक दिन नहीं ठहरा। आर्य जीवनके धार्मिक क्षेत्रोंमें रक्तपात तो नहीं हुआ किन्तु भोग विलास और सामाजिक उत्सवमें अभी भी क्रूर हिंसा होती थी। अशोककी धर्मनीति एवं सामाजिक सुधारोंसे इन बातों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। मनुष्यमें अपने विश्वास और विचारोंके प्रति बहुत ही कट्टर ममता होती है. एक बार जो विचार उसके मनमें जम जाता है उसे शीघ्र हटाना बहुत कठिन है। पिछली धार्मिक क्रान्ति में हिंसा अवश्य कम हुई थी परन्तु पुनः लोग उसकी ओर आकृष्ट होरहे थे। बुद्ध और महावीरके प्रयत्नों से धार्मिक अहिंसाका प्रसार तो हुआ परन्तु सामाजिक जीवनमें वह अभी पूरे तौरपर प्रतिष्ठित नहीं हुई थी। इतने विशाल देशमें सहसा युगोंके संस्कारों को बदलना भी आसान बात नहीं थी। अशोक जब शासनारूड हुआ तो उसने भारतीय इतिहासमें एक सर्वथा नई और उदात्त नीतिका प्रवर्तन किया। यह नीति कलिङ्ग युद्धको लेकर शुरू हुई। या तुरन्त राज्य स्थापनाका कार्य जारी करते हुए उसने कलिङ्ग (उड़ीसा) पर हमला बोला। कहते हैं उसमें २॥ लाख कलिङ्ग वासियोंने अपनी स्वाधीनताके लिये प्राणाहुति दे दी । इस भयङ्कर रक्तपातने विजेता अशोकके विचारोंपर गहरी छाप डाली। उसने तलवारकी अपेक्षा धर्मविजय द्वारा अपने राज्यका विस्तार किया उस समय सामाजिक उत्सव तथा खानपानमें बहुत ही भोंडी हिंसा होती थी. अशोकने उसे 'विहिसा' कहा है। 'समाज' और 'विहार-यात्रा' जिसमें कि अकारण पशुओंका वध होता था उसने बन्द करवा दी और उसके स्थानपर धर्मयात्राकी नींव डाली।

आधुनिक 'रथयात्रा' उसीका विकसित रूप है। अशोककी अहिंसा नीतिका उद्देश्य अकारण हिंसा एवं भोंड़ी क्रूरताको रोकना था प्रायः वह सबके प्रति समचर्याका पक्षपाती था, उसके सारे कार्य और नीति इसी भावनासे अनुप्राणित थे एक राजाके नाते वह जिस प्रकारकी अहिंसा बिना किसी साम्प्रदायिक आग्रहके प्रसारित कर सकता था उसमें अशोकने कोई कोर-कसर नहीं रखी. कुछ ऐतिहासिकोंने मौर्य साम्राज्यके पतनमें उसकी 'धर्मविजय' की नीतिको दोषी ठहराया है, पर जिन्होंने इतिहासका बारीकीसे मनन किया है. उनसे यह बात छिपी नहीं कि अशोक की नीतिके कारण ही भारत महत्तर बना और वह अपनी संस्कृति एशिया तथा अन्य राष्ट्रोंमें फैला सका यदि मौर्य साम्राज्यके पतनका कारण अशोककी नीति को माना जाय. तो शुङ्ग और गुप्त साम्राज्यके पतनका कारण क्या था ? अस्तु ! यहाँ इतिहासकी छानबीन करना हमारा लक्ष्य नहीं है। अशोकके बाद जिन लोगोंने अहिंसा और शान्तिकी नीतिको आगे बढ़ाया उनमे सम्प्रतिका नाम सर्वप्रथम लिया जायगा। सम्प्रतिने जैनधर्मके प्रसारके लिये अनेक जतन किये परन्तु यहाँ जैनधर्म या बौद्धधर्मका संकुचित अर्थ नहीं लेना चाहिये।

मौर्य साम्राज्यके पतनके बादसे ई० प्रथम सदी तक हम दो विचारोंका साथ-साथ विकास देखते है, पुष्यमित्र शुङ्गने न केवल शुङ्गराज्य स्थापित किया अपितु 'अश्वमेध-पुनरुद्धार' और धार्मिक रूढ़ियोंको पुनः स्थापित किया उसकी घोषणा थी—"यो मे श्रमणशिपे दास्यति तस्याहं दीनारं-शतं दास्यामि"—पिछले युगों में भारतीय संस्कृतिसे जो धार्मिक हिंसा उठती जारही थी; इस युगमें वह पुनः जीवित हो उठी ठीक इसी समय 'अहिंसाका वैज्ञानिक विवेचन लिखितरूप में हमें देखनेको मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि शुङ्ग शासकोंकी प्रतिक्रिया अधिक नहीं टिक सकी। आर्य विचारकोंके सामने प्रश्न आया कि अहिंसाका दार्शनिक आधार क्या हो ? इसका प्रथम विश्लेषण जहाँ तक इस लेखकका अनुमान है, 'ओघनिर्युक्ति' में मिलता है. यह ई० पू० का जैनग्रन्थ है। उसमें अहिंसाका यह लक्षण किया है।

'मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥'

'जीव मरे या न मरे, किन्तु जो अयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह हिंसक है पर जो प्रयत्नशील है हिंसा हो जानेपर भी वह निर्दोष है।'

आचार्योंने इसीलिये 'मूर्च्छा' और 'प्रमाद' को हिंसा कहा है। इसी सिद्धान्तको तत्त्वार्थसूत्रमें इस प्रकार ग्रथित किया गया है—'प्रमत्तयोगा-प्राणव्यपरोपणं हिंसा'—अर्थ है कि प्रमादके योगसे प्राणोंका वियोजन करना. ये प्राण परके भी हो सकते हैं और अपने भी। जैन अहिंसाकी मौलिक और दार्शनिक मीमांसा इससे बढ़ कर दूसरी नहीं हो सकती ? मनुष्य बुद्धि जो परे है और जबसे उसमें यह चेतना जाग्रत हुई वह 'किसी भी तत्त्व' को बिना दर्शनके स्वीकार नहीं करता। वेदयुगका क्रियाकांड भले ही जिज्ञासा और भयमूलक रहा हो परन्तु आगे आर्य विचारकोंने सृष्टि ईश्वर. लोक परलोक आदि पर खूब चिन्तन किया बिना दार्शनिक समाधानके उन्होंने किसी बातको स्वीकार नहीं किया।

मनुष्य 'अहिंसा' को क्यो अपनाए ? हिंसा क्या है ? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर खोजनेपर 'चेतन' 'तत्त्व' की अनुभूति हुई; इस चेतन या जीव तत्त्वकी सत्ता पृथक् है यह वह जड़से उत्पन्न है ? वह स्वतन्त्र एक इकाई है, या परमार्थसत्ताका एक अंश है. इन प्रश्नोंका बहुत समय विचार होता रहा और तरह तरहके मत खड़े हुए ? उनमें जो लोग 'ईश्वर'को कर्तारूप मानते थे उनके विचारोंका अन्त वेदान्त' विचार धारामें हुआ पर जो 'जीव'का स्वतन्त्र अस्तित्व समझते थे, या जिन्होंने आत्मवाद'के गहरे मोहका निरसन करनेके लिए—अनात्मवाद और अनीश्वरवादका समर्थन किया—उनकी विचाराधारा श्रमण कहलाई ! इस प्रकार—आत्मानुभूति द्वारा 'चेतन'की सत्ता हो जानेपर—भारतीय विचारकोकी दृष्टि बाह्य से हटकर अन्तरकी ओर उन्मुख हुई ! उन्होंने हिंसा

या बलिद्वारा नहीं, अपितु ध्यान, धारणा एवं समाधि-को अपनी साधनामे जगह दी ! शङ्करके वेदान्तमें 'ईश्वर'का चाहे जो रूप हो परन्तु यह स्पष्ट है कि उसमे हिंसाका लेशमात्र भी स्थान नहीं है ? इसी प्रकार वानप्रस्थ और सन्यास आश्रममे भी साधकोकी जो चर्या बतलाई गई है उसमें अपरिग्रह और अहिंसा-का सूक्ष्म विचार है ? 'ओघनिर्युक्ति'कारके अहिंसाका लक्षण और भारतीय साधनामें अहिंसाका प्रवेश, एकाएक नहीं हो गया, वह सदियोकी चिन्तना और साधनाका परिणाम है । विभिन्न धर्मोके शास्त्रोका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट आभास हो जायगा कि किस प्रकार भारतीय विचारक एक दूसरेसे प्रभावित होते रहे ? साम्प्रदायिकता भारतमें ७वी ८वी सदीके बाद आई ! इसके पहले खुलकर विचारोका आदान-प्रदान होता था।

'वेदान्त' की पृष्ठभूमि भागवतधर्म और बौद्ध-दर्शनके कुछ विचार है ? शुङ्गकालमे भागवत-धर्मको जन्म, उस विचारधाराने दिया था जो वेदयुगसे ही हिंसाके विरोधमे उठी थी। चिरकालके संघर्षके बाद उस समय इस विचारधाराकी इतनी प्रबलता थी—कि हिंसा पूजा विधानके प्रति जनता घृणा करने लगी थी। इसलिये भागवतधर्म और उसके उत्तरकालीनरूप वैष्णवधर्ममें 'अहिंसा' को प्रधान स्थान दिया गया ? गुप्तकालमे पुनः हिन्दूधर्मका उद्धार हुआ, परन्तु इतिहासकी धारा सदैव आगे बढ़ती है, उसे पीछे नहीं ढकेला जा सकता ? यह कहा जा चुका है कि आर्योंने धार्मिक उपासना प्रकृतिसे ग्रहण की थी। उन्होंने प्रकृति मे दो तत्त्व देखे, भद्र और भयङ्कर । इन्हींके आधार-पर शिव और रुद्र इन दो शक्तियोंकी कल्पना की गई; और उसीके अनुरूप उसकी उपासना प्रचलित हुई। भागवद्धर्ममें उसे 'ब्रह्म' कहा गया और उसके विष्णु आदि अवतार स्वीकार किए गए—पर इन अवतारों-की उपासनापद्धति पूर्ण अहिंसक रही ? आचार्य शङ्करने सगुणकी जगह ब्रह्मको निर्गुण माना । परन्तु अहिंसा वहाँ भी आवश्यक मानी गई। अहिंसाका व्यवहारमें जितना सूक्ष्मपालन जैन करते हैं—उतना ही वैष्णव भी करते हैं। इसके पीछे उनकी दार्शनिक विचारधारा अवश्य कुछ भिन्न है ?

अहिंसाके विषयमे जैनधर्मका दृष्टिकोण वस्तुतः मौलिक है, यह मौलिकता इसमें है कि जैनविचारकोंने अहिंसाकी व्याख्याका विचारबिन्दु आत्माको माना है। इसे दूसरे शब्दोंमें आध्यात्मिक भी कहा जा सकता है; 'अहिंसा' या हिंसा—पहले 'स्व' में होती है। बाहर तो उसकी प्रतिक्रिया ही देखनेमें आती है। अहिंसाका विचार करते हुए उन्होंने चार बातोंका विचार किया है। हिंस्य, हिंसक हिंसा और हिंसाका फल। सूक्ष्मदृष्टिसे विचारनेपर यह स्वतः अनुभवमें आता है कि व्यक्ति कषाय करके पहले स्वयं अपने भावोंका हनन करता है इस लिए वह स्वयं हिंस्र और हिंसक है। यह बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है ? वास्तवमें देखा जाय तो आत्मा न तो हिंस्य है और न हिंसक। गीताकारने कहा है:—

'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नाऽयं हन्ति न हन्यते ॥'

ऐसी स्थितिमें हिंसा और अहिंसाका प्रश्न ही नहीं उठता ? यह विवेचन वस्तु-स्वभावको देखनेकी दिखानेकी दृष्टिसे है । यदि व्यवहार-जगतमे उसे लगाया जाय तो हमारी सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाय ? इसलिए 'अहिंसा'का व्यवहारिक पक्ष भी है। प्रकृत विश्वमे 'सुखदुख' भय और आशङ्का का अनुभव सभीको होता है। प्रत्येक प्राणीमें जीनेका मोह है, चाहे वह कैसी परिस्थितिमें क्यों न हो; अतः यथाशक्ति उनमें प्राणोकी विराधनासे बचना ही व्यवहारिक अहिंसा है, जो साधक आलस्य रहित होकर, अपने लौकिक जीवनका निर्वाह करता है—वह अहिंसक है ? पर और अध्यात्मिक साधनामें लगा हुआ प्रमादी मनुष्य हिंसक है ? इस तरह अहिंसाका सारा तत्त्वज्ञान आत्माकी जागरूकतापर ही निर्भर रहता है ?

'अहिंसा' अनुभूतिगम्य है ? वह तर्क सिद्ध नहीं है ? इसलिये अहिंसाका जितना भी तत्त्वज्ञान है, वह 'आत्मानुभूति' पर अवलम्बित है ? मनुष्यने

जब अपनेमें स्थित चैतन्यका अनुभव किया होगा तभी उसके मनमें दूसरे प्राणियोंके प्रति ममताका भाव जमा होगा ? किन्तु मानव जातिके इतिहासमें अनुभूति भी बुद्धिका विषय बनती रही है ? भगवान् बुद्धके सामने जब दार्शनिक प्रश्न आए तो उन्होंने मौन रहना ही श्रेष्ठ समझा। उन्होंने विश्वमैत्री, ममता और सदाचारका जो भी उपदेश किया वह अनुभूतिसे ही उद्धृत था, परन्तु आगे चलकर—उस अनुभूतिकी जो छानबीन हुई—उसने उनके धर्मको दर्शनकी अनेक धाराओंमें बाँट दिया। 'अहिंसा' की भी यही गत हुई। पं० 'आशाधर' (१३वीं सदी)के समय 'मॉस भक्षण' करना चाहिए या नहीं, आदि तार्किक प्रश्न पूछे जाते थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सागार धर्मामृतमें ऐसे ही प्रश्नोंका बहुत ही कटु उत्तर दिया है। किसीने तर्क उपस्थित किया कि प्राणीका अङ्ग होनेसे माँस भी भक्षणीय है; जैसे गेहूँ आदि! इसपर आशाधरजीने उत्तर दिया है—'प्राणीका अङ्ग होनेसे ही प्रत्येक चीज भक्षणीय नहीं होजाती! क्योंकि स्त्रीत्व रहनेपर भी पत्नी ही भोग्य है न कि माता ? तो फिर इसका निर्णय कैसे हो; साफ़ है कि, विवेक-बुद्धि ? हमे स्वयं सोचना होगा कि व्यवहारमे कैसा आचरण—अहिंसा—हो सकता है ? सम्भवतः इसीके विवेचनके लिये—और व्यवहारमें अहिंसाको खण्ड करनेके लिये उसमे भेद कल्पित हुए! आखिर खण्डरूपमें ही कोई सिद्धान्त जनताके जीवनतक पहुँच सकता है ?

अहिंसाका सम्पूर्ण आचरण गृहस्थोंके लिये असम्भव है, इसलिये उन्हें संकल्पी-हिंसासे बचनेका प्रयत्न करना चाहिए! इसका आशय यह है कि वह संकल्प करके दूसरोंको हानि पहुंचानेकी चेष्टा न करेगा, परन्तु साथमे उसका जीवन इतना सरल और आडम्बर-शून्य होना चाहिए कि जिससे अप्रत्यक्षरूप से भी वह, अपने लिये दूसरोंके हित न छीनें ! यदि वह अपने भोग-विलासका अधिक विस्तार करता है तो निश्चित है कि उसके लिये अधिक विरोधी और आरम्भी-हिंसा करना पड़ेगी ? और ऐसे व्यक्तिके लिये—संकल्पी अहिंसाका कोई मूल्य नहीं रह जाता ? विरोधी और आरम्भ-सम्बन्धी हिंसा इसलिये अनिवार्य है; क्योंकि गृहस्थको सांसारिक उत्तरदायित्वके लिये वह आवश्यक है ? अहिंसाका यह संतुलितरूप ही एक ओर युद्धमे हत्याका विधान करता है और दूसरी ओर जलगालन का उपदेश करता है। वैदीययुगमें जैन-गृहस्थके आचार-विचारमें जो अहिंसक बारीकियाँ दीख पड़ती है, वे आज भी ज्योंकी त्यों है; उनके इस आचार-विचारको देखकर, सहस्रों लोग जैन-धर्मकी अहिंसाको अव्यवहार्य समझने लगते है ? इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रोंके रूढ़िवादी अध्ययनसे गृहस्थोंमें बहुत-सा मुनिधर्म प्रवेश पा गया है! व्यक्तिकी दृष्टिसे चाहे यह कितनी ही उच्चकोटिकी साधना हो, परन्तु समाजकी दृष्टिसे वह किसी कामकी नहीं। इसमें व्यर्थ अहङ्कारकी पुष्टि होती, पर व्यक्तिकी आलोचना सिद्धान्तकी आलोचना नहीं है।

सर्वभूत दयाका भाव सभी धर्मोंमें अच्छा कहा गया है। इसलिये वे हिंसा, झूठ, चोरी, दुःशील और परिग्रहसे बचनेका उपदेश करते है, या इस उपदेशमे भी अहिंसाका भाव दिया हुआ है और इसकी सङ्गति तभी ठीक बैठ सकती है जब अहिंसाका सम्बन्ध आत्मासे माना जाय। झूठ बोलना, चोरी करना और परस्त्रीगमन करना क्यो बुरा है ? जबकि देखा गया है कि उससे मनुष्यको एक प्रकारका सुख-सन्तोष मिलता है। इस सुख-सन्तोषसे आत्माको वञ्चित करना उसे दुख पहुँचाना है; और यह हिंसा ही है ? यदि हम आत्माको पकड़कर चले तो सहजमे इस प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। हम स्वयं अनुभव करते हैं कि झूठ, चोरीसे जो सुख मिलता है वह क्षणिक है। क्षणिक ही नहीं, दूसरे क्षणमे दुखदायी भी है। क्यो ? वह आत्माके व्यक्तित्वका हनन करता है। वह सुख नहीं, सुखाभास है। आत्मा स्वयं अच्छे-बुरे कार्योंका निर्णायक है, और यही वह आत्म-न्याय है जिससे पापी व्यक्ति, क़ानून और समाजसे बचकर भी आत्मग्लानिमें गलता रहता है। जैन-वाङ्मयमे पाँच पापोके मूलमें 'हिंसा'को ही बताया गया है, इसलिये

पाँच महाव्रतोके मूलमें अहिंसा ही निहित समझना चाहिए।

'अहिंसा' से न केवल भारतीयोंका जीवन ही संस्कृत हुआ अपितु—उसके स्थापत्य, ललितकला और वाङ्मयपर भी उसकी अमिट छाप पड़ी। मौर्य-कालसे गाँधीयुग तक जितना जो भी विकास, कलादिका हुआ उसमें भारतीयोंकी सहज सुकुमार वृत्तियों और भावोंकी ही अभिव्यक्ति हुई है। कुछ स्थल और देवस्थान अवश्य ऐसे है जहाँ अभी भी धार्मिक हत्याएँ होती हैं पर नगण्यरूपमे। भारतमे वस्तुतः आज अहिंसाका भाव इतना उग्र है कि कट्टरसे कट्टर सनातनी भी अश्वमेधकी बात भी नहीं कर सकता? क्यो, कारण स्पष्ट है? विश्वशान्तिके नामपर जो कुछ यज्ञ अभी हालमे हुए—उनका शाकल्य एकदम सात्विक था। आरम्भमे भारतीय जीवन कितना असंस्कृत था, इसकी कल्पना भी इस युगमें नहीं की जा सकती, कोई भी समाज धीरे २ संस्कृत होता है। आज गो-हत्या बहुत बड़ा पाप है, परन्तु पुराने—समयमें वह आम रिवाज था। 'उत्तररामचरित' में जब 'विश्वामित्र' आश्रममे पहुँचे तो उनके स्वागतमे एक बछियाका वध किया गया। 'भवभूति' ने इस क्रियाके लिए—'मिड़मिड़ायता' शब्दका प्रयोग किया है। कलकत्तेकी काली या इस प्रकारका अन्य प्राकृत देवियोंको छोड़कर, शेष हिन्दू देवता अब अहिंसक उपासनासे ही सन्तुष्ट होते है? हिन्दू सन्तों, वेदान्तियों और वैष्णवोंने इस बारेमें अकथनीय प्रयत्न किए। विभिन्न विचारधाराओंके रहते हुए भी अहिसा-के प्रति सभी धर्मोंकी आस्था है।

इस प्रकार इतिहासकी गतिके साथ जहाँ अहिसा भारतीय जीवनधारामें स्पन्दित हो रही थी, वहाँ उसमे कुछ रूढ़ियाँ भी आ चलीं। सिद्धान्त जब तक गतिशील रहते है तभी तक वे हमारे जीवनको सुसंस्कृत और स्वस्थ बना सकते है; पर जब उसमे जड़ता आ जाती है तो सहसा चट्टानकी तरह हमारे विकासको रोक देते हैं। मध्ययुगमे अहिंसामें इस प्रकारकी स्थिरता आई! एक ओर 'भाखा' में 'जीव-हत्या'पर घृणाके गीत लिखे जा रहे थे और दूसरी ओर—जीवनमें गहरी और विषाक्त आसक्ति बढ़ रही थी। जिस तरह राजपूतोंकी वीरता—प्रेम एवं भोग-विलासमे निखर रही थी उसी तरह—अहिं-सकोंकी अहिंसा जीवजन्तुओंको बचाती हुई—मनुष्यका शोषण कर रही थी। अंग्रेजोंकी शासन-छायामे दोनोंके लिए छूट थी। एक ओर—कालीके मन्दिरोमे बलिकी स्वतन्त्रता थी और दूसरी ओर जैनियोंके अहिंसा चरणमें किसी प्रकारकी बाधा न आए इसका भी सुप्रबन्ध था। जैनी चतुर्दशीको हरा शाक नही खा सकता परन्तु परोंकी टोपी और विदेशी चमड़ेके जूते पहन सकता है? फिर भी वह अनुव्रती है? एक मारवाड़ी वैष्णव, एक ओर पिंजरापोल खोलकर अपनी दयाका प्रदर्शन करता है और दूसरी ओर—कलकत्ता, बम्बई एवं अहमदाबादमें शोषितोंकी हड्डियों-पर बड़ी २ हवेलियाँ खड़ी करता है? प्रश्न उठता है कि जीवनमे यह असङ्गति क्यों? जिस देशमे मनुष्यों-की इतनी दुर्दशा हो, वहाँ 'अहिंसा'के इस प्रदर्शनका क्या मूल्य? क्या भारतीय अहिंसा मनुष्यके प्रति प्रेम करना नहीं सिखाती? जिस देशके पूर्वजोंने चीन और जापानकी क्रूर हिंसक जातियोंको भी अहिंसाका पाठ दिया जिस महादेशने बुद्ध जैसे अहिंसाके पुजारीको उत्पन्न किया जो आज आधेसे अधिक विश्वका पूज्य है, जिन्होंने अहिंसाके तत्त्वज्ञानको मुक्तिके चरमबिंदु तक पहुंचाया उस देशके मनुष्य दुनियामें सबसे अधिक दरिद्र दीन और पीड़ित हों, यह बात सहसा समझमें नहीं आती? अहिंसा और हिंसाका जो संघर्ष वैदिकयुगमें शुरू हुआ था इसमें संदेह नहीं उसमें अहिंसाकी विजय हुई? परन्तु अब हिंसा दूसरे रूपमे अपना प्रभाव बढ़ा रही है?

गाँधीजीने उस प्रभावको समझ लिया था और उसके उपचारका भी उन्होंने जतन किया था। अपने जीवनमे उन्होंने जो काम किया वह यह कि अहिसा को रूढ़ियोंसे मुक्तकर जीवनमे प्रतिष्ठित किया; गाँधीजीकी अहिंसाकी जितनी आलोचना हुई, उतनी शायद ही विश्व-इतिहासमें किसी सिद्धान्तकी हुई हो।

हिंसामें आस्था रखने वालोंने तो उनकी आलोचना की ही, किन्तु अहिंसावादियोंने भी कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी, पर वे विचलित नहीं हुए। आजसे कुछ सौ वर्ष पहले यदि गाँधी उत्पन्न हुए होते तो शायद ही आजकी दुनिया यह विश्वास करती कि धरतीपर ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है। प्रत्येक अहिंसावादीके सामने—यह प्रश्न साकार हो उठता है कि क्या उसमे वही आत्मा है जिसके बलपर गाँधीजी इस घोर हिंसक और विज्ञानवादी युगमें श्रद्धा और अहिंसापर जीते रहे। जिए ही नहीं, उन्होंने भौतिक शक्तियोंपर विजय प्राप्त की! और एक दिन दुनियाने दुख और आश्चर्यसे सुना कि उनकी विजयी आत्मा, एक विक्षिप्त व्यक्तिकी गोलीका शिकार होगयी। हम जीकर जीते हैं, पर गाँधीजी मरकर भी जिए। अहिंसा व्यापक तत्त्व है, उसे किसी शास्त्रीय मर्यादा में नहीं बाँधा जा सकता; उसपर भी गाँधीजी ऐसे समयमें जन्मे थे जब उन्हें विचित्र समस्याओंका सामना करना पड़ा उन्होंने अहिंसाका अभ्यास शास्त्र-से नहीं जीवनसे किया था। अपना यह जीवन गुजरातकी लोकसंस्कृतिसे बहुत अनुप्राणित है, वह ठीक उस प्रदेशके थे जहाँ आजसे कई हजार वर्ष पहले एक 'राजकुमार' पशुओंके आर्तनादसे विरक्त होकर वनमें तपस्या करने चला गया था; उसका नाम नेमिकुमार था, शुरूमें इसकी चर्चा आचुकी है। ऐसा लगता है कि उनके तपस्वी जीवनका प्रभाव अब भी गुजरातके वायुमण्डलमें व्याप्त है। महापुरुष जीवन-कालमें जनताको प्रभावित करते है पर मरनेपर उनके संस्कार—कणकणमें भर जाते हैं? और हजारों सदियों बाद, वे पुनः नये आदर्शोंकी प्रेरणा देते हैं? नेमिकुमारके समय क्षत्रिय-वर्गके आमोद-प्रमोदके लिए—पशुओंकी हत्या होती थी परन्तु गाँधीयुगमे मनुष्यकी दशा पशुओंसे भी अधिक दयनीय हो उठी थी? ब्रिटिश सङ्गीनोने समूचे देशके चैतन्यको कुचल रक्खा था? उससे उद्धार पाना आसान नहीं था। मै समझता हूं भारतीय इतिहासमे जितना काम गाँधीके सिरपर आया, उतना किसी दूसरे व्यक्तिपर नहीं। गाँधीजी अहिंसक परम्पराकी ही एक कड़ी थे? इसी दृष्टिसे उनकी अहिंसाकी परख करनी चाहिए?

उनकी मृत्युके बाद पुनः हिंसा और अहिंसाका प्रश्न हमारे सामने हैं। गाँधीवादियोंकी असफलताने इस प्रश्नको और भी उग्र बना दिया है? स्वतन्त्र होनेके बाद देशके सामने अनेक समस्याएँ हैं और यदि उनका हल नहीं हुआ तो निश्चय है कि देशमें पुनः नई व्यवस्थाओंको जारी करनेके लिए क्रान्तियाँ होंगी? गाँधीजी या अहिंसाके नामपर उन—क्रान्तियों को रोका नहीं जा सकता? धीरे धीरे ये शक्तियाँ जोर पकड़ रही हैं। शक्ति पानेके बाद जो शिथिलता और कुण्ठित विचारकता आती है, वर्तमान शासन उससे वञ्चित नहीं है? धार्मिक—अहिंसावादियोंको अहिंसा, मुक्तिपरक-सी हो गई है? वर्तमान जीवनकी समस्याओंसे उनका सम्बन्ध ही दिखाई नहीं देता; क्योंकि उनकी सारी चेष्टाएँ ऐसे प्रश्नोंके सुलझानेमें लगी हुई है—जो इस लोकसे परे है? नवयुवकोंके जीवनमें विदेशी विचारधारा घर करती जा रही है; एक बार फिर यह प्रश्न हमारे सामने है कि क्या भारतीय संस्कृति—अपनी सामाजिक व्यवस्थाके लिए —किसी विदेशी काकोको अपनाएगी? व्यापार क्षेत्र-में इस देशके पूँजीपतियोंने सदैव पश्चिमका अनुगमन किया है। उसके विरोधमें गाँधीजीने गृहोद्योग और ग्राम्य सुधारकी बाते रक्खी थी पर वे मानो उनके महाप्रयाणके बाद ही विदा हो लीं? और अब आर्थिक निर्माण एवं जनताके विकासका प्रश्न हमारे सामने हैं? यदि किसी विदेशी विचारधाराने एक बार इस देशपर आक्रमण कर दिया तो यह निश्चित है कि हमारा, पिछले इतिहासका गौरव नष्ट हो जायगा, उसके बाद भारतीय इतिहासमें अहिंसा कथाकी वस्तु रह जायगी? भावी इतिहास लेखक कहेंगे कि हमने —गाँधीजीकी पूजा, पर उनकी धरोहर नहीं बचा सके?

सन्मति निकेतन, नरिया लङ्का, बनारस

४ सितम्बर ४८

अहारक्षेत्रके प्राचीन मूर्ति-लेख

(संग्रहक—प० गोविन्ददास जैन, न्यायतीर्थ, शास्त्री)

प्रास्ताविक

सुदूरकालमें बुन्देलखण्डकी भव्य वसुन्धरा बुन्देलों की अमर गाथाओंसे तो गौरवान्वित होती रही, साथमें जैन संस्कृति और उसके अमर साहित्यकी संरक्षणी भी रही। यह मानते हैं कि बुन्देलखण्ड एक समय जैनियोंका अच्छा और प्रधान केन्द्र रहा है, इसका प्रमाण अनेक उस प्राचीन जैनतीर्थ, विशाल जैनमन्दिर, जिनविम्बोंके शिलालेख और उन शिलालेखोंमें उल्लिखित जैनोंकी विभिन्न अनेक उपजातियाँ आदि हैं।

बुन्देलखण्डमें खजुराहा, देवगढ़, सीरोंन, चन्देरी, थूबौन पपौरा पपौरा द्रोणगिरि रेशिंदीगिरि बाणपुर आदि अनेक प्राचीन पवित्र क्षेत्र हैं। इनमें कई क्षेत्र तो प्रकाशमें आचुके हैं और उनके शिलालेखादि भी प्रकाशित होचुके हैं परन्तु कई क्षेत्र अभी पूर्ण प्रकाशमें नहीं आये और न उनके शिलालेख वगैरह ही प्रकाशमें आये हैं। अहारक्षेत्र भी ऐसे ही क्षेत्रोंमेंसे एक है। जिस प्रकार अनेक प्राचीन मूर्तियाँ तथा मन्दिरोंके भग्नावशेष देवगढ़ आदि स्थानोंमें पाये जाते हैं—उसी तरह अहारमें भी वे यत्र तत्र पाये जाते हैं। इनपर उत्कीर्ण शिलालेखोंमें प्रतीत होता है कि श्रीअहारकी प्राचीन बस्तीका नाम 'मदनेशसागरपुर' था। इसके तत्कालीन शासक श्रीमदनवर्म्म थे—जो चन्देलोंमें प्रमुख और प्रभावशाली एवं यशस्वी चन्देल नरेश थे। विक्रमकी ग्यारवीं-तेरहवीं सदीके शिलालेखोंमें जो अहारजीमें विद्यमान हैं मदनेशसागरपुरका नाम स्पष्टतया आता है। श्रीअहारके पास जो विशाल सरोवर बना हुआ है वह आज भी 'मदनसागर' के नामसे विश्रुत है। इससे यह जान पड़ता है कि ग्यारहवीं सदीमें यहाँ चन्देलनरेश मदनवर्मका शासन (राज्य) था और अहारका उस समय 'मदनेशसागरपुर' नाम था।

यहाँकी मूर्तियोंके शिलालेखोंसे पता चलता है कि खण्डेलवाल, जैसवाल, मेडवाल, लमेचू, पौरपाट, गृहपति, गोलापूर्व, गोलाराड, अवधपुरिया, गर्गराट आदि अनेक जातियोंका अस्तित्व था। इन सभी जातियोंकी प्रतिष्ठित मूर्तियाँ यहाँ विद्यमान हैं।

यहाँ वि० सं० ११०३से लेकर वि० सं० १८६९ तककी प्राचीन मूर्तियाँ पाई जाती हैं। अतः ज्ञात होता है कि बीचकी एक-दो सदियोंको छोड़कर बराबर १०वीं सदीसे लेकर १९वीं सदी तक बिम्ब प्रतिष्ठाएँ यहाँ होती रहीं। मूल नायक भगवान् शान्तिनाथकी प्रतिबिम्बसे जो विक्रमकी तेरहवीं सदीमें प्रतिष्ठित हुई है, १०० वर्ष पहलेकी यहाँ प्रतिमाएँ पाई जाती हैं।

यहाँ भट्टारकोंकी शताब्दियों तक गद्दियाँ रही हैं ऐसा शिलालेखोंसे मालूम होता है। यहाँके तत्कालीन एक प्रभावपूर्ण अतिशयने तो अहारके नामको आज तक अमर रक्खा है। कहते हैं कि यहाँ एक धर्मात्मा व्यापारी (सम्भवतः जैनश्रेष्ठी पाणाशाह) का रांगा, जो बहुत तादादमें था, चाँदी हो गया था। उसने अपने उस तमाम द्रव्यको चैत्य-चैत्यालय तथा धर्मायतनोंके निर्माणमें ही लगा दिया। तभीसे यहाँ धार्मिक मान्यताओंके साथ अनेक स्तूपोंके रूपमें और भी अनेक मन्दिर निर्माण कराये गये जिनकी निश्चित संख्या बताना असंभव है।

खुदाई करनेपर यहाँपर उत्तरोत्तर बहुत तादादमें खण्डित मूर्तियाँ भूगर्भसे प्राप्त हो रही हैं। जिनमें अनेकोंकी आसनें शिलालेखोंसे अङ्कित हैं। अनेकोंके आङ्गोपाङ्ग खण्डित हो चुके हैं। मूर्तियाँ अनेक वर्षों

तक भूगर्भमें निहित रहीं फिर भी उनकी पॉलिश ज्योंकी त्यों चमत्कार है।

मूर्तियोंके प्रतिष्ठा लेखोंसे पता चलता है कि उस समय संस्कृतका अच्छा प्रचार था। प्रशस्तियाँ प्रायः संस्कृतमें ही लिखी जाती थीं। लिपि चाहे प्राचीन हो या अर्वाचीन।

श्री अहारक्षेत्रमें जो शिलालेखयुक्त मूर्तियाँ खण्डित और अखण्डित रूपमें उपलब्ध हैं उन्हींके शिलालेखोंका यह महत्वपूर्ण संग्रह पाठकोंके सामने प्रस्तुत है। कई लेख घिसने तथा आसनोंके टूटनेसे पूरे २ नहीं पढ़े जा सके हैं, उसके लिये लेखक क्षम्य है।

इसमें जहाँ संशोधन प्रतीत हो उसे विद्वज्जन मुझे सूचित करनेकी कृपा करेंगे। मैं उनका बड़ा आभारी होऊँगा। यदि इस संग्रहसे पाठकोंको थोड़ा भी लाभ पहुँचा तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

शिला-लेख (मूर्तिलेख)

मूर्ति देशी पाषाणसे निर्मित है। पॉलिश मटियाले रङ्गकी चमकदार है। करीब २२ फुटकी शिलापर १८ फुट ऊँची यह विशालकाय मूर्ति खड्गासन सुशोभित है। आसनके दोनों ओर दो यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण है। जिनके अङ्ग वगैरह खण्डित हो चुके हैं। दोनों ओर दो इन्द्र खड़े हैं। मूर्तिका दाँया हाथ टूट गया था वह दूसरे पाषाणसे पुनः बनाया गया है। उसपर पॉलिश भी किया गया है परन्तु पहले पॉलिशसे नहीं मिल सका है। नासिका पैरोंके अंगूठे आदि उपाङ्ग भी पुनः जोड़े गये है। आसनपर दोनों ओर दो हिरण खड़े है। उसके नीचे शिलालेख है जो करीब ४ इञ्च लम्बा और ९ इञ्च चौड़ा है। शिला-लेख इस प्रकार है—

लेख नम्बर १

ॐ नमो वीतरागाय ॥ गृहपतिवंशसरोरुह सहस्ररश्मिः सहस्रकूटं यः । बाणपुरे व्यधितासीत् श्रीमानिह देवपाल इति ॥१॥ श्रीरत्नपाल इति तत्तनयो वरेण्यः । पुण्यैक मूर्त्तिरभवद् वसुहाटिकायाम् । कीर्तिर्जगत्रयपरिभ्रमणश्रमार्त्ता यस्य स्थिराजनि जिनायतनाच्छलेन ॥२॥ एकस्तावदनूनबुद्धिनिधिना श्रीशान्तिचैत्यालयो-दृष्ट्यानन्दपुरे परः परनरानन्दप्रदः श्रीमता । येन श्रीमदनेशसागरपुरे तज्जन्मनो निर्म्मिमे । सोऽयं श्रेष्ठिवरिष्ठगल्हण इति श्रीरल्हणाख्यादभूत् ॥३॥ तस्मादजायत कुलाम्बर पूर्णचन्द्रः श्रीजाहडस्तदनुजोदयचन्द्रनामा । एकः परोपकृतिहेतुकृतावतारो धर्मात्मकैः पुनरमोघसुदानसारः ॥ ४ ॥ ताभ्यामशेषदुरितौघशमैकहेतुं-निर्म्मापितं भुवनभूषणभूतमेतत् श्रीशान्ति चैत्यमिति नित्यसुखप्रदात् । मुक्तिश्रियो वदनवीक्षणलोलुपाभ्याम् ॥५॥ सम्वत् १२३७ मार्गसुदी ३ शक्रे श्रीमत्परमर्द्धिदेवविजयराज्ये । चन्द्र-भास्करसमुद्रतारका यावदत्र जनचित्तहारकाः । धर्मकारि-कृतशुद्धकीर्त्तनं तावदेवजयतात् सुकीर्त्तनम् ॥ वल्हणस्य सुतः श्रीमान् रूपकारोमहामतिः । पापटोवास्तुशास्त्रज्ञस्तेन बिम्बंसुनिर्मितम् ।

भावार्थः—वीतरागके लिये नमस्कार (है) जिन्होंने बानपुरमें एक सहस्रकूट चैत्यालय बनवाया वे गृह-पतिवंशरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान श्रीमान देवपाल यहाँ (इस नगरमें) हुए।

श्लोक २—उनके रत्नपाल नामक एक श्रेष्ठ पुत्र हुए जो बसुहाटिकामें पवित्रताकी एक (प्रधान) मूर्त्ति थे। जिसकी कीर्त्ति तीनों लोकोमें परिभ्रमण करनेके श्रमसे थककर इस जिनायतनके बहाने ठहर गई।

श्लोक ३—श्रीरल्हणके श्रेष्ठियोंमें प्रमुख, श्रीमान् गल्हणका जन्म हुआ जो समप्रबुद्धिके निधान थे और जिन्होंने नन्दपुरमें श्रीशान्तिनाथ भगवानका एक चैत्यालय बनवाया था, और इतर सभी लोगोंको आनन्द देनेवाला दूसरा चैत्यालय अपने जन्मस्थान श्रीमदनेशसागरपुरमें बनवाया था।

श्लोक ४—उनसे कुलरूपी आकाशके लिये पूर्ण-चन्द्रके समान श्रीजाहड उत्पन्न हुए। उनके छोटे भाई उदयचन्द्र थे। उनका जन्म प्रधानतासे परोपकार के लिये हुआ था। वे धर्मात्मा और अमोघदानी थे।

श्लोक ५—मुक्तिरूपी लक्ष्मीके मुखावलोकनके लिये लोलुप उन दोनों भाइयोंने समस्त पापोंके क्षयका

कारण, पृथ्वीका भूषण-स्वरूप और शाश्वतिक महान् आनन्दको देनेवाला श्रीशान्तिनाथ भगवानका यह प्रतिबिम्ब निर्मापित किया।

संवत् १२३७ अगहन सुदी ३, शुक्रवार, श्रीमान् परमर्द्धिदेवके विजय राज्यमें—

श्लोक ६—इस लोकमें जब तक चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र और तारागण मनुष्योंके चित्तोंका हरण करते हैं तब तक धर्म्मकारीका रचा हुआ सुकीर्त्तिमय यह सुकीर्त्तन विजयी रहे।

श्लोक ७—वाल्हणके पुत्र महामतिशाली मूर्त्ति-निर्माता और वास्तु शास्त्रके ज्ञाता श्रीमान पापट हुए, उन्होंने इस प्रतिबिम्बकी सुन्दर रचना की।

नोट—इस लेखकी प्रथम पंक्तिमें बाणपुरके जिस सहस्रकूट चैत्यालयका उल्लेख आया है वह वहाँ अब भी विद्यमान है। यद्यपि उसकी भी अधिकांश मूर्त्तियाँ खण्डित हो चुकी हैं तथा वे सभी मूर्त्तियाँ और चैत्यालय उत्कृष्ट शिल्पकलाके उत्तम आदर्श हैं।

दूसरे श्लोकमें जो "वसुहाटिकायां" पद आया है इससे विदित होता है कि यह किसी प्रसिद्ध नगरीका नाम रहा होगा।

इस श्लोकमें वर्णित नन्दपुर भी इसी नगरके करीब होना चाहिये जो उस समय प्रसिद्ध था।

तथा "मदनेशसागरपुर" जो पद आया है उससे ज्ञात होता है कि वह सम्भवतः इसी स्थान—अहार—का नाम रहा होगा। यहाँके तालाबको आज भी 'मदनसागर' कहते हैं।

यह मूर्ति क़रीब १३ फुटकी शिलापर क़रीब ११ फुट ऊँची खड्गासन है। मूर्त्तिके कुछ उपाङ्ग छिल गये हैं। नासिका, उपस्थ इन्द्रिय तथा पैरोंके अँगूठे टूट गये हैं। बाँया हाथ पुनः जोड़ा गया है। शिला-लेखका बहुभाग टूट गया है। भावको लेकर पूर्त्ति की है। चिह्न बकरेका है। पालिश मटियाले रङ्गकी है।

लेख नम्बर २

ॐ नमो वीतरागाय। बभूव रामा नयनाभिरामा, श्रीरल्हणस्येह महेश्वरस्य। गंगेवगंगागत पंकसंगा, जड़ाशयानेव परं नवोढ़ा ॥१॥ गार्हस्थधर्मनितरां ग्रहणप्रवीणा, निरंतरप्रेमनिधानधात्री। पुत्रत्रयं मंगलकार्यसूता, येषां च कीर्त्तिरिव सत्वरधर्मवृत्तिः ॥२॥ तेषां गांगेयकल्पः प्रथमतनुभवः पुण्यमूर्त्तिः प्रसूतः। स्कन्दो भूतेशमेवागुणवतिरुदयादित्यनामापरस्य। ख्याता-धर्मे कुमुदशशिलघुभ्रातृयुग्मेवियुक्ते, संसारासारतां .... हितबुद्धिः ॥ ३ ॥ वित्तानि विद्युदिव सत्वर गत्वराणि, राजीविनी जलसामनि व जीवतानि। तुल्यानि .... गणस्यहियौवनानि ....॥४॥

भावार्थ:—वीतरागके लिये नमस्कार हो। श्रीरल्हणके महेश्वरकी तरह पापोंसे रहित नवविवाहित नयनोंको प्यारी गङ्गा नामकी स्त्री हुई।१॥ जो हमेशा गृहस्थ-धर्मको ग्रहण करनेमें चतुर तथा हमेशा प्रेमकी निधानभूत थी। उसने मङ्गलरूप तीन पुत्र पैदा किये। जिनकी कीर्त्तिके समान जल्दी धर्ममें प्रवृत्ति हुई।२॥ उन तीनों पुत्रोंमेंसे पुण्यकी मूर्तिके समान महादेवको कार्त्तिकेयके मानिन्द पहला पुत्र पैदा हुआ। उसने अपने छोटे दो भाइयोंके वियोग होनेसे तमाम संसार की असारताको जाना। तथा दान और धर्ममें है बुद्धि जिसकी ऐसे उसने धनको बिजलीके समान जल्दी नाशवान जाना। तथा जीवनको जल-बुदबुदेके समान माना। तथा बादलोंकी चञ्चलताके समान यौवनको माना। फिर तमाम धनको निज हितमें लगाकर ही धन्य माना।४॥

यह क़रीब ६ इञ्चका मटियाले पाषाणका एक भग्नावशेष मात्र है। इसकी पालिश बहुत कुछ शान्तिनाथकी मूर्त्तिसे मिलती है। चिह्नकी जगह कुछ अस्पष्ट निशान है जो अच्छी तरह नहीं देखा जा सकता। शिलालेखका बहुत भाग टूट गया है। कुछ शब्द पढ़े गये जो नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

लेख नम्बर ३

सं० १२३७ मार्ग सुदी ३ शुक्रे साहु श्रीपाल सुत साहु गेल्हण...... ...... । बाक़ी हिस्सा नहीं है।

यह मूर्त्ति मन्दिर नं० १ के प्रांगणकी दीवारमें खचित है। मूर्त्तिका शिर धड़से अलग है, परन्तु

चूनासे पुनः जोड़ा गया है। मूर्त्ति क़रीब १॥ फुट पद्मासन है। पाषाण काला है। चिह्नको देखकर पुष्पदन्तकी मालूम होती है। कुछ शिलालेखका हिस्सा दीवारमें बन्द है. अतः पूरा नहीं पढ़ा जा सका।

लेख नम्बर ४

सं० १२०९ वैशाख सुदी १३ श्रीमदनसागरपुरे मेडवालान्वये साहु कोकासुत साहु कारकम्प पडिमा कारपिता ॥

भावार्थः—मेडवाल जातिभूषण साहु कोका तथा पुत्र कारकम्पने सं० १२०९के वैशाख सुदी १३के दिन प्रतिमा बनवाई।

मूर्त्ति नं० ४की भाँति मन्दिर नं० १के प्रांगणमें है, शिर धड़से अलग है, पुनः जोड़ा गया है। मूर्त्तिकी हथेली मय अँगुलियोंके छिल गई है। चिह्न बन्दरका है। २ फुटकी अवगाहना है। पाषाण काला तथा चमकीला है। मूर्त्ति पद्मासन है।

लेख नम्बर ५

सं० १२१० वैशाख सुदी १३ पौरपाटान्वये साहु टूंदू भार्या यशकरी तत्सुत साहू भार्या दिल्हीनलक्ष्मी तत्सुत पोपति एते प्रणमन्ति नित्यम् ॥

भावार्थः—पौरपाटान्वयमें पैदा होने वाले साहु टूंदू उनकी धर्मपत्नी यशकरी उनका पुत्र साहू उसकी पत्नी दिल्हीलक्ष्मी उसके पुत्र पोपति ये सब इस बिम्बको सं० १२१०के वैशाख सुदी १३को प्रतिष्ठा कराकर सदा उसे नमस्कार करते हैं।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १के प्रांगणमें दीवारमें खचित है। शिर धडसे अलग है परन्तु पुनः चूनासे जोड़ दिया गया है। दाँयें हाथकी अँगुलियाँ नहीं हैं। चिह्न शङ्खका है। ३ फुट ऊँची. पद्मासन काले पाषाण की है। आसन विशाल है।

लेख नम्बर ६

सं० १२१६ माघसुदी १३ खडि[खंडे]लवालान्वये साहु सल्हण तस्य भार्या माम तेन कर्मक्षयार्थ प्रतिमा कारापिता। तस्य सुत महिपति प्रणमन्ति नित्यम् ॥

भावार्थः—सं० १२१६के माघ सुदी १३के दिन खण्डेलवाल वंशमें पैदा होनेवाले साहु सल्हण उनकी धर्मपत्नी मामने प्रतिमा बनवाई। उनका पुत्र महीपती और वे उसे प्रतिदिन नमस्कार करते हैं।

यह मूर्ति भी नं० १ मन्दिरके चौककी दीवारमें चिन दी गई है। शिर धड़से अलग है। चूनासे पुनः जोड़ दिया गया है। दोनों हाथोंकी अँगुलियाँ नहीं हैं। चिह्न बैलका है मूर्ति चमकदार काले पाषाणकी है। आसन विशाल है।

लेख नम्बर ७

सं० १२१३ श्रीमाधुन्वये साहुश्रीयशकरसुत साहुश्री-यशराय तस्य पुत्रैनः—कमल यशधरी दार्याराउ प्रण-मन्ति नित्यम् ॥

भावार्थः—सं० १२१३में (प्रतिष्ठित की गई इस मूर्तिको) माधुवंशमें पैदा होनेवाले शाह यशकर उनकी धर्मपत्नी उनके पुत्र यशराय उनके पुत्र तीन हुये—कमल यशधर-दार्याराउ. ये सब प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

यह मूर्ति भी मन्दिर नं० १ के चौकमें खचित है। शिर धड़से अलग होनेपर पुनः जोड़ा गया है। दोनों हाथोंके पहुँचा मय अँगुलियोंके नहीं हैं। दाएँ पैरके टकनोसे नीचेका हिस्सा नहीं है (छिल गया है) तथा बाएँ पैरकी जंघा छिल गई है। चिह्न चन्द्रका है। ३ फुट अवगाहना है। आसन पद्मासन है। काले पाषाण की है।

लेख नम्बर ८

सं० १२१० वैशाख सुदी १३ लामेचूकान्वये साहु छते तद्भार्या बप्रा तयोः सुत नायक कमलबिन्द तद्भार्या साल्ही सुत लघुदेव एते प्रणमन्ति नित्यम् ॥

भावार्थः—लमेचूकुलमें पैदा होनेवाले साहु छते उनकी पत्नी बप्रा उन दोनोंके पुत्र नायक कमलबिन्द उनकी पत्नी माल्ही पुत्र लघुदेव ये सं० १२१० वैशाखसुदी १३को बिम्बप्रतिष्ठा कराकर प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

यह मूर्ति भी मन्दिर नं० १ के चौकमें शिर जोड़ कर खचित है। हथेली छिल चुकी है। चिह्न कुछ नहीं ज्ञात होता है। करीब ३ फुट ऊँची है. पद्मासन है। काले पाषाणसे बनी है।

लेख नम्बर ९

सं० १२०९ वैशाख सुदी १३ गृहपत्यन्वये साहु अल्ह

तस्य पुत्र मातन तस्य भगिनी आल्ही एते नित्यं प्रणमन्ति।

भावार्थः—गृहपति (गहोई) वंशोत्पन्न साह अल्ह उसके पुत्र मातन उसकी बहिन आल्ही ये सं० १२०८ वैशाख सुदी १३को बिम्बप्रतिष्ठा कराकर प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

मूर्तिके दोनो तरफ इन्द्र खड़े हैं। कुछ हिस्से छिल गये हैं जैसे—दाढ़ी-नासिका-अंगुली। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर हैं। करीब ४ फुट अवगाहनाको लिये हुए खड्गासन है। पाषाण काला तथा चमकदार है। चिह्न वगैरह कुछ नहीं है। शिलालेख घिस गया है। कुछ हिस्सा पढ़ा जा सका जो इस प्रकार है—

लेख नम्बर १०

सं० १२०३ माघ सुदी १३ साहु जगचन्द्र पुत्र सखवंत .... ।

भावार्थः—सं० १२०३ माघसुदी १३को साह जगचन्द्र और उनके पुत्र सुखवंत आदिने बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १ के चौकमें चिनी है। शिर धड़से अलग होनेपर भी जोड़ा गया है। दोनों हाथोंके पहुँचे छिल गये हैं। बैलका चिह्न है। करीब १॥ फुटकी अवगाहना है. आसन पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर ११

सं० १२०३ माघसुदी १३ गोलापूर्वान्वये साहु भावदेव भार्या जसमती पुत्र लक्ष्मीवन प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—गोलापूर्ववंशमे पैदा होनेवाले शाह भावदेव उनकी धर्मपत्नी जसमती पुत्र लक्ष्मीवनने १२०३ माघ सुदी १३ को प्रतिष्ठा कराकर सब प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १ के चौकमें चिनी है। शिर धड़से अलग होनेपर पुनः जोड़ दिया गया है। चिह्न कुछ नहीं है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन काले पाषाणकी है।

लेख नम्बर १२

सं० १२३७ मार्गसुदी ३ शुक्रे गोलाराडान्वये साहु श्रीदेवचन्द्र सुत दामर भार्या अपिली प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—गोलाराड वंशोत्पन्न शाह श्रीदेवचन्द्र उनके पुत्र दामर उनकी पत्नी अपिली सं० १२३७के अगहन सुदी ३ शुक्रवारको प्रतिष्ठा कराकर प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १के चौकमें विराजमान है। दोनो ओर इन्द्र खड़े हैं। सिर्फ नासिका छिल गई है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। चिह्न हिरणका है। करीब ३। फुट ऊँची खड्गासन है। काले पाषाणसे निर्मित है।

लेख नम्बर १३

सं० १२१६ माघसुदी १३ शुक्रे जैसवालान्वये साहु श्रीघण तद्भार्या सलषा तस्य पुत्र साहु आमदेव —तथा कामदेव सुत लखमदेव तस्य ग्रहेदेवचन्द्र—वाल्हू सांति—हालू प्रभृतयः प्रणमन्ति नित्यम्। मंगलं। महाश्रीः॥

भावार्थः—जैसवाल वंशमें पैदा होनेवाले शाह घण उनकी पत्नी सलषा उसके पुत्र शाह आमदेव तथा कामदेव उसके पुत्र शाह लखमदेव उसके गृहमे पैदा होनेवाले देवचन्द्र-बालू-सांति-हालू प्रभृतिने सं० १२१६ माघ सुदी १३ शुक्रवारके दिन बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १के चौकमे शिर जोड़ कर चिन दी गई है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। चिह्न हाथीका है। ?। फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है। लेखका कुछ हिस्सा छिल गया है।

लेख नम्बर १४

. . ' ' साहु श्रीमल्हण तस्य सुत वाकु तस्य सुत लाल तस्य भार्या नाधर तयोः सुत वाल्हराउ-आमदेव अजितं जिनं प्रणमन्ति नित्यम्। सं० १२०३ माघ सुदी १३।

भावार्थः—शाह श्रीमल्हण उनके पुत्र वाकु उनके पुत्र लाल उसकी पत्नी नाधर उन दोनोंके पुत्र दो—वाल्हराय-आमदेव अजित जिनको प्रतिदिन प्रणाम करते हैं। सं० १२०३ माघ सुदी १३को प्रतिष्ठा हुई।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १के चौककी दीवारमें खचित है। मूर्त्तिका शिर धड़से अलग होनेपर पुनः जोड़ दिया है। चिह्नकी जगह एक कमल है। जो किसी कलाका द्योतक है। २। फुट पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर १५

सं० १२०९ आषाढ़ वदी ८ गुरौ जयसवालान्वये साहु श्रीवाहड़ तत्सतौ सोमपति मल्हणौ तथा साहु श्री नमिचन्द्र तत्सुतौ माहिल-पंडित देल्हणौ तथा साहु श्रीरत तत्सुताः-सीद-भावु-कल्हणाः एते नित्यं प्रणमन्ति।

भावार्थः—जैसवालवंशमें पैदा हुए शाह श्रीवाहड़ उनके पुत्र दो—सोमपति और मल्हण। तथा शाह श्रीनमिचन्द्र उनके पुत्र दो—माहिल पंडित तथा देल्हण। तथा शाह श्रीरत उनके पुत्र तीन—सीद, भावु और कल्हण इन्होंने सं० १२०९के आषाढ़ वदी ८ गुरुवारको प्रतिष्ठा कराई। ये सब सदा प्रणाम करते हैं।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १के चौकमे शिर जोड़ कर चिन दी गई है। चिह्न शेरका है। २। फुटकी ऊँची पद्मासन है। काला पाषाण है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है।

लेख नम्बर १६

सं० १२३७ मार्ग सुदी ३ शुक्रे।

श्रीवीरदेव इत्यासीत्, खण्डेलान्वयभास्करः।
प्रतिद्यावार्यैतेयोभूत्तत्पुत्रो उपशमक्षमः॥
कमलानिवास वसतिः, कमलदलाक्षः प्रसन्नमुखकमलः।
बुधकमल-कमलबन्धुः विकलंकः कमलदेव इति॥
श्रीवीरवर्द्धमानस्य विम्बं तत्पुण्यवृद्धये।
कारितं केशवेनेदं तत्पुत्रेण निर्मलम्॥
साहु श्रीमामटस्याऽपि पुत्रो देपहरानिघः।
तेनापि कारितं चैत्यं तर्वादेवात्र वेतसा।

भावार्थः—खण्डेलवाल वंशोत्पन्न तद्वंशके लिये सूर्यके समान वीरदेव हुए। जो बड़े बुद्धिमान थे। उन के पुत्र अनुपमेय था। जो लक्ष्मीका निवास था, जिसकी आँखें कमलपत्रके समान थीं। जिसका मुख-प्रसन्न था। और जो पंडितरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिये सूर्य था। और जो निर्मल था—ऐसे कमलदेव हुए। उनके पुत्र केशवने पुण्य-वृद्धिके लिये श्रीवीर बर्द्धमान भगवानकी प्रतिमा बनवाई।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १ के चौकमे चिनी है। शिर धड़से अलग है। पुनः जोड़ा गया है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। करीब २ फुट पद्मासन है। पाषाण काला है। चिह्न दण्डका है।

लेख नम्बर १७

सं० ११९९ चैत्र सुदी १३ गर्गराटान्वये साहु वाक तस्य सुत साह लालसाल्हण नाइव तस्य सुत साहु मालु-राज सामदेव एते नित्यं प्रणमन्ति।

भावार्थः—गर्गराट वंशमें पैदा होनेवाले शाह वाक उनके पुत्र शाह लालसाल्हण नाइव उसके पुत्र दो—मालुराज और सामदेवने ११९९ के चैत्र सुदी १३को विम्ब प्रतिष्ठा कराई। ये सब सदा प्रणाम करते हैं।

यह मूर्त्ति भी मन्दिर नं० १ के चौकमें शिर जोड़ कर चिन दी गई है। बाकी सर्वाङ्ग सुन्दर है। चिह्न शेर प्रतीत होता है। १॥ फुटकी ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर १८

कुटकान्वये पंडितस्रीलक्ष्मणदेवस्तस्य शिष्य स्रीमदार्यदेवः तथा आर्यिका ज्ञानस्री साहेल्लिकामामातिणी एतया जिनविम्बं प्रतिष्ठापितम्॥ सं १२१३।

भावार्थः—कुटकवंशमे पैदा होनेवाले पंडितश्री लक्ष्मणदेव उनके शिष्य श्रीमदार्यदेव तथा आर्यिका ज्ञानश्री-सहेल्लिका-मामातिणी इन्होंने सं० १२१३में जिनविम्बकी प्रतिष्ठा कराई।

यह मूर्त्ति मन्दिर नं० १के बाहरी जीनाके बाईं तरफ एक छोटी कुटीमें विराजमान है। दोनों तरफ इन्द्र खड़े हैं। आसनके नीचे देवियाँ बैठी हैं। दाईं तरफका आसन टूट जानेसे देवीकी मूर्ति भी टूट गई है। मूर्ति प्रायः अखण्डित है। सिर्फ घुटनोंपर तथा नासिका तथा दाढ़ीका हिस्सा छिल गया है। दाएँ हाथका अंगूठा तथा पासकी अंगुली टूट गई है।

बायें हाथके ऊपरका हिस्सा छिल गया है। करीब ६ फुटकी खड्गासन है। काला पाषाण है। चिह्न हिरणका है। लेख घिस गया है। इस लिये पूरा पढ़ा नहीं जाता।

लेख नम्बर १९

सं० १२१६ माघसुदी १३ शुक्रदिने कुटकान्वये पंडित स्रीमंगलदेव तस्य शिष्य भट्टारक पद्मदेव तत्पट्टे........

. . ..

....

भावार्थः—कुटकवंशोत्पन्न पंडित श्रीमंगलदेव उनके शिष्य भट्टारक पद्मदेव उनकी पट्टावलीमें हुए ... . ने सं० १२१६ के माघ सुदी १३ शुक्रवारके दिन बिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

मूर्तिके दोनों तरफ इन्द्र खड़े हैं। मूर्ति घुटनोंके पाससे बिल्कुल टूट गई है। दोनों हिस्से जोड़कर मन्दिर नं० १के चबूतरेपर लिटा दी गई है। चिह्न वगैरह कुछ नहीं है। दो व्यक्तियोंने मिलकर प्रतिष्ठा कराई है ऐसा लेखसे विदित होता है। इसी दिन इसी अवगाहनाकी ३ मूर्तियाँ और भी उक्त दोनों व्यक्तियोंने प्रतिष्ठित कराई हैं। करीब ६ फुटकी खड्-गासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर २०

सं० १२०३ माघसुदी १३ जैसवालान्वये साहु खोने भार्या यशकरी सुत नायक साहुपाल—वील्हे माल्हा परमे-महीपति सुत श्रीरा प्रणमन्ति नित्यम्।

सं० १२०३ माघसुदी १३ जैसवालान्वये साहु वाहड भार्या शिवदेवि सुतसोम जनपाहुड लाखू लोले प्रणमन्ति नित्यम् ॥

भावार्थः—जैसवालवंशोत्पन्न शाह खोने उनकी धर्मपत्नी यशकरी उनके पुत्र नायक साहुपाल्ह वील्हे-माल्हा-परमे-महीपति ये पाँच तथा महीपतिके पुत्र श्रीराने सं० १२०३ माघ सुदी १३ को बिम्ब-प्रतिष्ठा कराई।

सं० १२०३ माघ सुदी १३ को जैसवालवंशमें पैदा होनेवाले शाह वाहड उनकी धर्मपत्नी शिवदेवि उनके पुत्र चार—सोम, जनपाहुड, लाखू, लाले इन्होंने प्रतिबिम्ब प्रतिष्ठा कराई।

मूर्तिका शिर पूरा खण्डित है। करीब १॥ फुटकी पद्मासन है। काले पाषाणकी बनी हुई है। चिह्न शङ्ख का है। शिलालेख स्पष्ट दीखता है। मूर्तिकी पॉलिश चमकदार है।

लेख नम्बर २१

सं० १२०८ फागुनसुदी १० जैसवालान्वये साहु देन्द्र भ्रात ईल्ह सुत वाल्ह सुत कुल्हा वीकलोहट वाल्ह सुत आसवन प्रणमन्ति नित्यम् ॥

भावार्थः—जैसवाल वंशोत्पन्न साहु देन्द्र उनके भाई ईल्ह उनके पुत्र वाल्ह उनके पुत्र कुल्हा वीक-लोहट वालू उनके पुत्र आसवन इन्होंने वि० सं० १२०८के फागुन सुदी १०को बिम्ब-प्रतिष्ठा कराई।

मूर्तिका शिर नहीं है। तथा दोनों हाथ भी नहीं है। सिर्फ धड़मय आसनके रूपमें उपलब्ध है। चिह्न वगैरह कुछ नहीं है लेख स्पष्ट है। करीब १॥ फुटकी पद्मासन है। काला पाषाण है। पॉलिश चमकदार है।

लेख नम्बर २२

सं० १२३७ मार्गसुदी ३ शुक्रे गोलापूर्वान्वये साहु यशाहे पुत्र ऊदे तथा वील्हण एते श्रीनेमिनाथं नित्यं प्रणमन्ति। मंगलं महाश्री ॥

भावार्थः—गोलापूर्व-वंशोत्पन्न शाह यशाहे उनके पुत्र ऊदे तथा वील्हण ये श्रीनेमिनाथको सं० १२३७के अगहनसुदी ३ शुक्रवारको प्रतिष्ठा कराकर नित्य प्रणाम करते हैं।

मूर्तिका शिर और दोनों हाथ नहीं हैं। सिर्फ धड़ और आसन विद्यमान है। आसनपर लेखके अतिरिक्त कुछ नहीं है। चिह्न बैलका है। करीब डेड़ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर २३

संवत् १२१४ फागुन वदी ४ सोमे अवधपुरान्वये ठक्कुर श्रीनाल सुत ठक्कुर नीनेकस्य भार्या पाल्हणि नित्यं प्रणमन्ति कर्मक्षयाय।

भावार्थः—अवधपुरिया वंशोत्पन्न ठक्कुर नान्न

उनके पुत्र ठक्कुर नीनेक उनकी धर्मपत्नी पाल्हणिने सं० १२१४ के फागुन वदी,४ सोमवारको प्रतिष्ठा कराई। कर्मोंके क्षयके लिये प्रतिदिन नमस्कार करते हैं।

मूर्त्तिका शिर नहीं है। बाकी तमाम अङ्गोपाङ्ग विद्यमान है। चिह्न शेरका है। हथेली कुछ छिल गई है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर २४

संवत् १२०९ अषाड़ वदी ४ शुक्रे जैसवालान्वये नायक श्रीसाहुकसस प्रतिमा गोठिता।

भावार्थः—जैसवालवंशोत्पन्न नायक श्रीसाहु कससने सम्वत् १२०९ के अषाढ़ वदी ४ शुक्रवारको प्रतिमा प्रतिष्ठा कराई।

मूर्त्तिका शिर और दोनों हाथोंके पहुँचे नहीं हैं। बाकी हिस्सा ज्योंका त्यों उपलब्ध है। चिह्न शेरका है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर २५

संवत् १२१३ गोलापूर्वान्वये साहु साल्ह भार्या सलषा तयोः सुत पोखन एते प्रणमन्ति नित्यम्। आषाडसुदी २।

भावार्थः—गोलापूर्ववंशोत्पन्न शाह साल्ह उनकी धर्मपत्नी सलपा इन दोनोंके पुत्र पोखन इन्होंने सवत १२१३के अषाढ़ सुदी २को प्रतिविम्ब पधराई। ये नित्य प्रणाम करते हैं।

मूर्त्तिका शिर और दोनों हाथोंके अतिरिक्त बाकी धड़ उपलब्ध है। चिह्नकी जगह अष्टदल कमल है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर २६

संवत् १२१६ फागुन वदी ८ सोमदिने सिद्धान्तश्री सागरसेन आर्यिका जयश्री रिषिणी रतनरिषि प्रणमन्ति नित्यम्। जैसवालान्वये साहु बाहडभार्या सिवदे पुत्री सावनी मालती पदमा मदना प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—संवत १२१६के फागुन वदी ८ सोम-को सिद्धान्तश्री सागरसेन तथा आर्यिका जयश्री और श्रीरतनऋषिने विम्ब-प्रतिष्ठा कराई।

तथा जैसवाल वंशोत्पन्न बाहड़ उनकी धर्मपत्नी सिवदे उनकी पुत्री-सावनी-मालती-पदमा-मदनाने उक्त सम्वत्में उक्त महात्माओंके आदेशसे अपने द्रव्यका सदुपयोग किया।

मूर्त्तिके आसनके अतिरिक्त शिर और धड़ कुछ भी नहीं है। आसनसे पता चलता है कि प्रतिविम्ब मनोज्ञ थी। चिह्न शेरका है। करीब २ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर २७

सम्वत् १२१० मइडितवालान्वये साहु श्रीसेठो भार्या महिव तयोः पुत्राः श्रील्हा श्रीबर्द्धमान माल्हा, एते श्रेयसे प्रणमन्ति नित्यम्। वैशाख सुदी १३।

भावार्थः—वि० सं० १२१०के वैशाख सुदी १३को मइडितवालवंशोत्पन्न शाह सेठो उनकी धर्मपत्नी महिव उनके पुत्र-श्रील्हा-श्रीवर्द्धमान-माल्हा ये सब पुण्य वृद्धिके लिये प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

मूर्त्तिका शिर और दोनों हाथोंकी हथेली नहीं है। बाकी तमाम हिस्सा उपलब्ध है। चिह्न सेहीका प्रतीत होता है। करीब १॥ फुट ऊँची पद्मासन है। पाषाण काला है। पालिश चमकदार है।

लेख नम्बर २८

सम्वत् १२०२ चैत्रसुदी १२ लमेचुकान्वये साहु भाने भार्या पद्मा सुत हरसेन, नायक कदलसिह, देवपाल्ह एते प्रणमन्ति नित्यम्।

भावार्थः—वि० सं० १२०२के चैतसुदी १२को इस प्रतिविम्बकी प्रतिष्ठा हुई। लमेचूवंशोत्पन्न शाह-भाने उनकी पत्नी पद्मा, उनके पुत्र हरसेन, नायक कदलसिह देवपाल्ह ये प्रतिदिन प्रणाम करते हैं।

मूर्त्तिका शिर तथा बायाँ हाथ नहीं है। आसन-पर दोनों हथेली नहीं है। चिह्न वगैरह कुछ नहीं। करीब १॥ फुट ऊंची पद्मासन है। पाषाण काला है।

लेख नम्बर २९

संवत् १२०० अषाड़वदी ८ जैसवालान्वये साहु खोने भार्या जाउह सुत साढू तथा पाल्ह वील्हा—आल्हे—पदमा श्रेयसे प्रणमन्ति। (क्रमशः)

कहानी—

नर्स

(लेखक—श्रीबालचन्द्र जैन एम० ए० साहित्यशास्त्री)

रोगीके सिरहाने बैठी नर्स उसे एकटक देख रही थी। 'कितनी शान्ति और सौम्यता है इसके चेहरेपर. किन्तु हाय रे भाग्य ! ऐसा भोला और सरल व्यक्ति भी मानसिक वेदनाओंका शिकार हो गया।' उसे महानुभूति थी रोगीसे।

रोगीकी नींद टूटी। 'मुझे कोई नहीं रोक सकता'—वह बड़बड़ाया—दुनियाकी कोई शक्ति मुझे रोक नहीं सकती. मैं जाऊँगा दूर. इस पापभरी दुनियासे बहुत दूर. जहाँ मनुष्यका निशान भी न होगा. उसके पापोंकी छाया भी न होगी. मैं जाऊँगा ' रोगीने उठनेकी चेष्टा की।

"ईश्वरके लिए लेटे रहिए" नर्सने सहारा देकर उसे पुनः लिटाना चाहा।

"ईश्वर ! ईश्वरका नाम लेनेवाली तुम कौन ?" रोगीने कठोर प्रश्न किया।

'जी मैं नर्स' नर्सने मृदु उत्तर दिया।

"तुम यहाँ क्या करने आई ?" रोगीने फिर पूछा।

"आपकी सेवा" नर्सका जवाब था।

"सेवा ! हा-हा-हा !" रोगी ठहाका मारकर हँसा—'तुम सेवा करती हो. दूसरोंकी सेवा कितना सुन्दर शब्द है सेवा !" रोगीने पागलकी हँसी-हँसी।

'जी. दूसरोंकी सेवा करना ही हमारा धर्म है. नर्सका यही कर्तव्य है" नर्स डरते-डरते बोली।

'तुम इसे धर्म मानती हो नर्स ! लेकिन कभी तुमने अपनी भी सेवा की ? दुनियाने कभी तुम्हारी सेवाओंका मूल्य चुकाया ? थोड़ेसे चाँदीके टुकड़े देकर लोग समझ लेते हैं हम नर्सको रोटी देते हैं। पर तुम जो रातदिन अपनी सुध भूलकर. उन्हें जीवनदान देती हो, इसे क्या ये दुनियावाले कभी समझ पाते हैं ? नहीं। दूसरोंके श्रमको नहीं समझ सकते ये दुनियावाले और वे समझनेकी कोशिश भी तो नहीं करते नर्स !"—रोगीने गहरी साँस ली। 'दूसरोंकी इज्जत, विद्या, बुद्धि और सेवाको तराजूपर तौलनेवालोंकी सेवा तुम क्यों करती हो नर्स !" रोगी उद्विग्न हो रहा था—"उन्हे तड़प-तड़पकर मर क्यों नहीं जाने देती, अपने कर्मोंका फल क्यों नहीं भोगने देती" रोगीकी सदय आँखें नर्सकी आँखोंसे मिल गईं।

नर्स चुप थी।

'बोलो. बोलो सेवाकी देवी. दुनियाभरके पापियो-को मृत्युशय्यासे जगाकर उनमें जीवनी शक्ति भरकर दुनियाके पापोंकी संख्या क्यों बढ़ाती हो" कहनेके साथ ही रोगीने झटकेसे करवट बदली।

"जिलाना और मारना तो ईश्वरके हाथकी बात है चन्द्रबाबू. हम तो अपना कर्तव्य करते हैं" नर्सने धीरेसे कहा।

'ईश्वर'—चन्द्रको जैसे तीर लगा—"तुमने फिर ईश्वरका नाम लिया"—वह तड़प उठा—'जानती नहीं. मैं ईश्वरका दुश्मन हूँ। ईश्वर ! दुनियाभरके ठगोंका सरदार'" उसने मुँह फेर लिया।

"ऐसा न कहिए। उस दयालु परमात्माको बुरा-भला कहकर पापके भागी न बनिए।" नर्सने अनुरोध किया।

"तुम उसे दयालु कहती हो, परमात्मा कहती हो, जिसने थैली-पतियोंको गरीबोंका शोषण करनेका बल दिया, गरीबोंके मौलिक अधिकारोंकी माँगको अनैतिक और विद्रोह बताकर उन्हें चिर गुलामीमें बाँध दिया, जिसने दुनियाभरके अत्याचारों और अनाचारोंको धार्मिक प्रश्रय दिया, उसे तुम दयालु परमात्मा कहती हो नर्स ! पत्थरके भगवानको दयाका अवतार कहते तुम्हें अपनेपर हँसी नहीं आती देवी !" —चन्द्र खीझ रहा था—'भोली नारी सबको अपने जैसा ही समझती है' उसने करवट बदली।

नर्सने कोई उत्तर न दिया। कमरा नीरव हो गया, दोनो चुप थे।

"आपके दवा पीनेका समय हो गया, मैं अभी लाई" नर्सने नीरवता भङ्ग की।

"दवा ! क्यों ? मुझे हुआ क्या जो दवा पिलाती हो।" रोगीने आँखें खोलीं।

"जी, आप अस्वस्थ हैं, आपको दवा पीनी ही चाहिए, मैं अभी लाई" नर्स दवा बनानेको चल दी।

"नर्स ठहरो। मैं पूर्ण स्वस्थ हूं मुझे दवाकी आवश्यकता नहीं" रोगीने निषेध किया।

"नहीं, आपको दवा पीनी ही चाहिए चन्द्रबाबू, आपका स्वास्थ्य अभी ठीक नहीं हुआ।" नर्सने अनुनय की।

"किसने कहा तुमसे कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है" चन्द्रने मधुर हँसी हँसी।

"डाकृरने, वे आपको मेरी निगरानीमें छोड़ गए हैं। मुझे अपनी ड्यूटी करने दीजिए अन्यथा डाकृर नाराज होंगे।" नर्सने सरल प्रार्थना की।

"डाकृर !" चन्द्रने विस्मयसे आँखें फाड़ीं—"कौन डाकृर ?" उसने प्रश्न किया।

"डाकृर किशोर" नर्सने उत्तर दिया।

"डाकृर किशोर ! तो क्या मैं डाकृर किशोरके अस्पतालमें हूं" रोगीकी जिज्ञासा बढ़ी।

"जी हाँ, आप उन्हींके अस्पतालमें है। और वही आपका इलाज भी कर रहे हैं। आप अपने कमरेमें बेहोश पड़े थे—शायद आपने जहर खा लिया था—डाकृर आपको यहाँ ले आए और कल रातभर आपकी सेवामें लगे रहे। अब हालत कुछ ठीक देखकर सबेरे ही घर गए हैं और जाते समय मुझे आपकी पूरी फिकर करनेकी आज्ञा दे गए हैं" नर्सने सरलतासे यह बात कह दी, जिसे डाकृर किशोर छिपाना चाहता था।

"तो यों कहो कि मुझे इस घृणित दुनियामें फिरसे खींच लानेवाला डाकृर किशोर ही है। नीच ! धोखेबाज ! मेरा सर्वस्व छीनकर अब मेरी स्वतन्त्रता भी छीनना चाहता है। मेरे जीवनभरकी मित्रताकी कोई कदर न करनेवाला पापी है कहाँ ?" चन्द्रकी आँखें लाल हो गई।

"वे घर गए हैं चन्द्रबाबू, आप शान्त हो जाइए" नर्सने मीठे अनुनय भरे स्वरमें प्रार्थना की।

"ठीक, अच्छा ही हुआ कि वह यहाँ नहीं है। मैं उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहता, मुझे उससे नफरत है, उसकी सूरतसे नफरत है, उसके पेशेसे नफरत है। मैं जाऊँगा, अभी जाऊँगा" चन्द्रने उठने की चेष्टा की।

"नहीं-नहीं, लेटे रहिए चन्द्रबाबू" नर्सने कंधे पकड़कर उसे फिर लेटानेकी चेष्टा की। पर इस बार वह रोगीको मनानेमे असफल रही। चन्द्र उठ खड़ा हुआ और वेगसे दरवाजेकी ओर बढ़ा।

"मान लीजिए चन्द्रबाबू, मत जाइए आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, डाकृरके सारे प्रयत्नोंपर पानी फेरकर अपने जीवनको खतरेमे न डालिए।" नर्सकी आँखे डबडबा आईं।

"मै यहाँ क्षणभर भी नहीं ठहर सकता देवी, अपनी बहिनका खून करनेवाले दुष्ट डाकृरकी सूरत मैं नहीं देख सकता। मैं चला, अपनी बहिनके पास—देखो देखो वह मुझे बुला रही है"—चन्द्र वेगसे अस्पतालसे बाहर हो गया।

नर्स रोकती रह गई।

* * *

डाकृरने जब कमरेमें प्रवेश किया तो रोगीके पलङ्गको खाली पाया और नर्सको एक कोनेमें खड़े

आँसू बहाते देखा।

"नर्स, चन्द्र कहाँ है ?" उसके स्वरमें तीव्रता थी।

"जी, वह चले गए" नर्सने लड़खड़ाते स्वरमें उत्तर दिया।

"कहाँ ?" डाकूरके स्वरमें भयानक आशङ्काजन्य कम्पन था।

"अनजानी जगह। मैंने उन्हें बहुत रोका पर वे रुके नहीं," नर्सने काँपते हुए जबाब दिया—"आपका अस्पताल जानकर वे एकक्षण भी नहीं रुके" उसने आगे कहा।

"तो वही हुआ जिसका मुझे भय था। तुमने उसे बता ही दिया कि मैं उसका इलाज कर रहा हूं। वह मुझे अपनी बहिनका हत्यारा समझता है नर्स! मेरी सूरतसे नफरत करता है वह। पर मैं क्या करता, मैं किसीकी आयुसे तो लड़ नहीं सकता। मैंने लाख प्रयत्न किए पर क्षमाको कालके गालसे न निकाल सका। मैंने उसे जो झूठा आश्वासन दिया था कि क्षमा अच्छी हो जायगी, वह सिर्फ उसकी रक्षाके लिये। क्योंकि मैं जानता था कि क्षमा ही उसके जीवनका सहारा है और उसके जीवनका अन्त चन्द्रके जीवनका भी अन्त है। इसलिये बहिनकी मृत्यु निश्चित जानते हुए भी मैं उससे छिपाये रहा और उसने मेरे कथनपर विश्वास किया। पर उस अँधेरी रातमें जब दीपक बुझ ही गया तो मैं चन्द्रकी नजरोंमें धोखेबाज बन गया। उसने धारणा बना ली है कि मैं ही क्षमाका हत्यारा हूँ. मैं उसे बचा सकता था पर मैंने उसे बचाया नहीं। मेरा मित्र मुझसे नफरत करने लगा। दया और ममताकी देवीके उठनेके साथ ही सारी दुनिया उसके लिये दया और ममतासे शून्य हो गई—वह पागल हो गया। चन्द्र—मेरा चन्द्र—उसे वापस लाना होगा नर्स, उसे वापस लाना होगा...।" डाकूर विह्वल हो उठा।

"मैं आदमी भेजती हूँ।" नर्स बाहर हो गई।

* * *

चन्द्र अस्पतालसे भागा तो, पर उसे कुछ भी ज्ञान न था कि वह कहाँ जारहा है। वह सिर्फ इतना ही जानता था कि वह डाकूर किशोरकी सूरत भी नहीं देखना चाहता। विक्षिप्त मस्तिष्क और कमजोर शरीर आखिर टकरा गया सामनेसे आनेवाली मोटर कारसे। ड्राईवरके बहुत बचानेपर भी दुर्घटना हो ही गई और चन्द्र भूमिपर गिर पड़ा। उसका सिर फट गया।

भीड़ एकत्र हो गई। डाकूर किशोरका अस्पताल दूर न था। तत्परतासे उसे वहाँ ले जाया गया, जहाँ से कुछ समय पूर्व भागनेके कारण ही यह दुर्घटना हुई थी।

"चन्द्र!" डाकूर किशोरकी आँखोंमें आँसू भर आये उसकी यह हालत देखकर।

"तूने यह क्या किया चन्द्र!" डाकूरके इस प्रश्न का उत्तर देता कौन ? दुर्घटनाके बाद ही चन्द्र बेहोश होगया था। उसका सारा शरीर रक्तमें सन गया था।

"नर्स! ऑपरेशनकी तैयारी करो. चन्द्र वापस आगया।" किशोरने भर्राये स्वरमें कहा।

जी डाकूर!" आँसू पोंछती नर्स ऑपरेशन थिएटरकी ओर चल दी।

* * *

चन्द्रने आँख खोली।

"अब आप अच्छे हैं ?" नर्सने उसके सिरपर हाथ फेरते धीरेसे कहा।

"मैं, मैं अच्छा हूँ! मैं कहाँ हूँ, तुम कौन हो ?" चन्द्र समझ न पारहा था कि वह कहाँ है ?

"आप अस्पतालमें हैं चन्द्र भइया!" नर्सको चन्द्रसे भाई जैसा स्नेह होगया था। मोटर दुर्घटनामें पड़ जानेसे आपके दिमागको चोट पहुँची थी, लेकिन अब सब ठीक है. ऑपरेशन सफल हुआ। डाकूर अभी आते ही होंगे। आप उनसे मिलेंगे चन्द्र भइया!" नर्स अभी भी उसके सिरपर हाथ फेर रही थी।

"भइया. तुमने मुझे भइया कहा। पर तुम तो क्षमा नहीं हो। वह तो चली गई मुझे छोड़कर।" चन्द्रने आँखें फाड़कर नर्सको देखा।

"हाँ, मैं क्षमा नहीं, पर क्षमाकी भाँति ही मैं आपकी सेवा कर सकती हूँ। मुझे दे दीजिये क्षमाका

पवित्र स्थान चन्द्र भइया!" नर्सने आँसू भरकर कहा—"आप मुझे 'भइया' कहनेका अधिकार दे दीजिये।"

"तुम कहोगी मुझे भइया? मेरी बहिन बनोगी, मुझे जीवनका दान दोगी? मेरे निरुत्साह और निराश जीवनमें उत्साह और आशाकी ज्योति प्रदीप्त करोगी देवी!" चन्द्रने नर्समें वही देवीरूप देखा।

"हाँ भइया!" नर्सकी आँखोंसे झर-झर आँसू बह पड़े।

"तो आओ, मेरे गलेसे लग जाओ बहिन! तुम सचमुच मेरी बहिन हो, क्षमा जैसी ही ममतामयी हो तुम! क्षमा, मैंने तुम्हें पा लिया!" चन्द्रने नर्सको छातीसे लगानेके लिये हाथ पसार दिये।

भाई और बहिनके सम्मिलनका दृश्य सचमुच अपूर्व था। दोनोंकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी। डाक्टर किशोरने इसी समय कमरेमें प्रवेश किया।

"किशोर, डाक्टर किशोर! मेरी बहिन आ गई, क्षमा आ गई किशोर!" चन्द्रने किशोरका स्वागत किया।

"मैंने कहा न था चन्द्र, कि बहिनको तुमसे अलग न होने दूँगा!" किशोरकी आँखें गीली हो गईं।

"हाँ किशोर!" चन्द्रने आँखें बन्द कर लीं।

'अब तुम आराम करो, मैं जाता हूँ। फिर आऊँगा। पर अब भागना नहीं और न अपने किशोर से नफ़रत ही करना।" किशोरने व्यङ्ग किया।

"मुझे क्षमा कर दो किशोर!" चन्द्रने पश्चात्ताप किया।

"अच्छा यह सब पीछेकी बात है, हम निपट लेंगे। अभी मुझे कई आवश्यक कार्य है, मै जाता हूँ।" किशोर चल दिया। दरवाजेतक पहुँचकर वह एक क्षण रुका।

"अपने भाईको भागने मत देना नर्स!" वह मुस्कराया।

"जी, आप विश्वस्त रहें, भइया अब नहीं भागेंगे।" मुस्कराहटके साथ नर्सने चन्द्रको देखा।

"हाँ, अब मैं नहीं भागूँगा।" चन्द्र भी मुस्कराया।

अपभ्रंशका एक शृङ्गार-वीर काव्य

वीरकृत जंबूस्वामिचरित

(लेखक—श्रीरामसिंह तोमर)

विक्रम संवत् १०७६में वीर कवि-द्वारा निर्मित जम्बूस्वामिचरित अपभ्रंशकी एक महत्वपूर्ण रचना है। प्रस्तुत कृतिके ऐतिहासिक पक्षसे सम्बन्धित एक सुन्दर लेख प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थमें श्री पं. परमानन्द जी जैनने लिखा है। यहाँ कृतिके साहित्यिक पक्षपर विचार किया जावेगा। कविने अपनी कृतिको सन्धियोंके अन्तमें 'शृङ्गार-वीर-महाकाव्य' कहा है किन्तु कृतिकी प्रारम्भिक भूमिकामें उसने कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की है-

पारंभिय पच्छिमकेवलहिं जिहं कह जंबूसामिहि ॥

इसी भूनिका-प्रसङ्गमें आगे कविने रस, काव्यार्थ के उल्लेख किये हैं और स्वम्भू, त्रिभुवन जैसे कवियों तथा रामायण और सेतुबन्ध जैसी विख्यात कृतियों-का स्मरण किया है—

सुइ सुहयरु पढइ फुरंतु मणे ।
कव्वत्थु निवेसइ णियवयणे ।
रसभावहि रंजिय विउसयणु ।

सो मुयवि सयंभु अरणु कवणु ।
सो वेय-गव्वु जइ नउ करइ ।
तहो कज्जे पवणु तिहुयणधरइ ।
....

महकइ वि निबद्धउ न कव्वमेउ ।
रामायणम्मि पर सुणिउ सेउ । १-२-३

कृतिके प्रारम्भमें इस प्रकारके उल्लेख विना प्रयोजनके नहीं हो सकते हैं। प्रस्तुत कृति 'कथा' है अथवा शृङ्गार-वीररस प्रधान महाकाव्य इसकी परीक्षा करनेके पूर्व कृतिकी कथावस्तु संक्षेपमें देखना आवश्यक है।

मङ्गलाचरण तथा कथानिर्देशके अनन्तर कविने सज्जन-दुर्जनों, पूर्वके कवियों आदिका स्मरण किया है और नम्रतापूर्वक काव्य रचनामें अपनी असमर्थता प्रकट की है। फिर कविने अपना और अपने सहायकोका उल्लेख किया है। इस छोटीसी प्रस्तावनाके अनन्तर कविने मगधदेश, और उसमें स्थित राजगृहनगर उसके निवासियोंके सुन्दर काव्यशैलीमें वर्णन उपस्थित किये हैं। वहाँके श्रेणिक राजा तथा उनकी रानियोंका वर्णन किया है। नगरके समीपस्थ उपवनमें भगवान वर्द्धमानके समवसरण रचे जानेका समाचार पाकर पुरजनों सहित मगधेश्वर इन्द्र द्वारा निर्मित समवसरण-मण्डपमें पहुँचकर जिन भगवानकी स्तुति करके बैठते हैं। (सन्धि १)

प्रणाम करके विनय भावसे श्रेणिकराज जिनवरसे जीवतत्त्वके सम्बन्धमें जिज्ञासा करता है। गणधर राजासे जीवके सम्बन्धमें व्याख्या कर रहे थे उसी समय आकाश मार्गसे तेजपुञ्ज विद्युन्माली भासुर आया। और विमानसे उतरकर जिनदेवको प्रणाम करके बैठ गया। तेजवानदेवके सम्बन्धमें राजाके पूछनेपर गणधरने बताया कि वह (विद्युन्माली) अन्तिम केवली होगा। अभी उसकी आयुके केवल सात दिन है किन्तु उसे अभी तेजने नहीं छोड़ा। राजाने उस देवके ऐश्वर्यसे प्रभावित होकर उसके पूर्व जन्मोंकी कथा सुननेकी इच्छा प्रकट की। जिनदेवने उसकी कथाको इस प्रकार प्रारम्भ किया—

मगध मण्डलमें वर्धमान ग्राम था, जहाँ वेदघोष करनेवाले, यज्ञमें पशुओंकी वलि देनेवाले, सोमपान करनेवाले, परस्पर कटुवचन बोलनेवाले अनेक ब्राह्मण रहते थे। उस ग्राममें अत्यन्त गुणवान ब्राह्मण-दम्पति श्रुतकण्ठ-सोमशर्मा रहते थे। उनके दो पुत्र भवदत्त और भवदेव थे। जब उन दोनोंकी आयु क्रमशः १८, १२ वर्ष थी, श्रुतकण्ठ चिरजन्मोंमें अर्जित पाप कर्मोंके फलस्वरूप कुष्ठ रोगसे पीड़ित हुआ और जीवनसे निराश होकर चिता बनाकर अग्निमें जल गया। प्रियविरहसे सोमशर्मा भी अग्निमें में जल मरी। शोक संतप्त दोनों भाइयोंको स्वजनोंने शान्त किया। उन्होंने अपने माता-पिताकेसंस्कार किये।

भवदत्तका मन संसारमें नहीं रमता था अतः वह दीक्षा लेकर शुद्ध चरित्र दिगम्बर होगया—

दंसणु स लहंतउ विसयचयंतउ सुद्धचरित्तु दियंबरु ।
गुरु वयण सवण रइ दिढमइ विहरइ कम्मासयकयसंवरु ॥
२-७ ॥
उवयार बुद्धि समणीय परहो, तो हुय भवयत्त दियंबरहो ।
२-८ ॥

इस प्रकार बारह वर्षतक तपस्या करनेके पश्चात् भवदत्त एक बार संघके साथ अपने ग्रामके समीप पहुँचा। संघकी आज्ञासे वह भवदेवको संघमें दीक्षित करनेके लिये वर्धमान ग्राममें गया। इस समय भवदेवका दुर्मर्षण और नागदेवीकी पुत्री नागवसूसे परिणय होरहा था। भाईके आगमनका समाचार सुनकर वह उससे मिलने आया और स्नेहपूर्ण मिलन के पश्चात् उसे भोजनके लिये घरमें लेजाना चाहता था। भवदेवको इसके अनन्तर भवदत्त अपने संघमें लेगया और वहाँ मुनिवरने उससे तपश्चर्याव्रत लेनेको कहा। भवदेवको इधर शेष विवाह-कार्य सम्पन्न करके विषय-सुखोंका आकर्षण था, किन्तु भाईकी इच्छाका अपमान करनेका साहस उसे नहीं हुआ और प्रव्रज्या (दीक्षा) लेकर वह देश-विदेशोंमें संघके साथ बारह वर्षतक भ्रमता रहा। एक दिन अपने ग्रामके पाससे निकला। भवदेव घर जाकर विषयोंके सुखोंका

आस्वादन करना चाहता था, किन्तु भवदत्तने फिर उसे रोक दिया। भवदेव अन्तमें संसारको त्यागकर अन्तिम दीक्षा ले लेता है। दोनों भाई तप करते हुए अवसान-समयमें पंडितमरणसे मरते हैं. दोनों सनत्कुमार स्वर्गमें जाते हैं और वहाँ सप्तसागर आयु तक वास करते हैं, देवयोनिमें रहकर वे विमानोंमें चढ़कर रमण करते हैं। (सन्धि २)

भवदत्तका जन्म स्वर्गसे च्युत होनेपर पुंडरीकिनी नगरीमें वज्रदन्त राजाकी रानी यशोधनाके पुत्रके रूप में हुआ और भवदेव वीतशोका नगरीके राजा महापद्मकी रानी वनमालाके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुआ। भवदत्तका नाम सागरचन्द रक्खा गया और भवदेव का शिवकुमार। शिवकुमारका एकसौपाँच (सयपंच) राजकन्याओंसे परिणय होगया और कोड़ियों उनके अङ्गरक्षक थे। उन्हें बाहर नहीं जाने दिया जाता था। उधर पुंडरीकिनी नगरीके समीप उपवनमें चारण मुनियोंसे पूर्व जन्मका वृत्तान्त सुनकर सागरचन्दने संन्यास (साधुदीक्षा) व्रत ले लिया था और द्वादश-विधि तपश्चर्यामें रत था। एक बार वह वीतशोका नगरीमें पहुँचा। शिवकुमारने प्रासादोंके ऊपरसे मुनियोंको देखा। उसे पूर्व जन्मोंका स्मरण हो आया और वैराग्य-भावोंका उसके मनमें उदय हुआ। यह देखकर राजप्रासादमें कोलाहल मच गया। राजाने आकर कुमारको समझाया कि घरमे ही रहकर तप और व्रतोंका पालन हो सकता है, संन्यास लेनेकी आवश्यकता नहीं है। पिताके वचनोंको मानकर कुमारने नवविध श्रेष्ठ ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया, तरुणीजनोंके पास रहते हुए भी उनसे वह विरक्त रहता था। उपवास करता था। दूसरे घरोंसे भिक्षा लेकर पारणा करता था। इस प्रकार तप करके अन्तमें इस लोकको छोड़कर वह विद्युन्माली देव हुआ। दससागर उसकी आयु हुई और चार देवियोंके साथ सुख भोग करता था। उधर सागरचन्द भी मरकर सुरलोकमें इन्द्रके समान देव हुआ। वर्धमान जिनने राजाको बताया कि यही विद्युन्माली वहाँ आया था और सातवें दिन मनुष्यरूपमें अवतरित होगा। श्रेणिकराजने वर्धमान जिनसे फिर. विद्युन्माली जिन चार देवियोंके साथ रमण करता था, उनके पूर्व भवान्तरोंके विषयमें पूछा। जिनवरने बताया कि चंपा नगरीमें सूरसेन नामक धन-सम्पन्न श्रेष्ठी था. उसकी जयभद्रा, सुभद्रा. धारिणी. यशोमती नामक चार स्त्रियाँ थीं। वह श्रेष्ठी पूर्वसंचित पापकर्मोंके फलस्वरूप व्याधिग्रस्त होकर मर गया और उसकी चारों पत्नियाँ आर्जिकाएँ होगईं। तपःसाधन करनेके पश्चात् मरकर वे स्वर्गमें विद्युन्मालीकी पत्नियाँ हुईं। इसके पश्चात श्रेणिकराजने विद्युच्चरके विषयमें पूछा कि इतना तेजवान् होनेपर भी वह चोरत्वको क्यों प्राप्त हुआ? जिनवरने बताया कि मगधदेशमें हस्तिनापुर नगर था. वहाँ विसन्धर राजा था, उसकी प्रिया श्रीसेना थी. उसका पुत्र विद्युच्चर हुआ। वह सकल विद्याओंमें पारङ्गत था। विद्याबलसे वह चोरी करता था। औषधिसे स्तम्भ बनाकर रात्रिको अपने पिताके घरमें पहुँचकर चोरी कर लेता था, जगते हुए राजाको सुषुप्त कर देता था और कटि-हार आदि आभूषण उतार लेता था. वह राज्य छोड़कर राजगृह नगरी चला गया और चोरी करने लगा। इसीसे उसका नाम विद्युच्चर हुआ (सन्धि ३)।

चतुर्थ सन्धि वीरकविकी प्रशंसासे प्रारम्भ होती है। वर्धमान जिस समय कथा प्रारम्भ कर रहे थे कि एक यक्ष उठकर नाचने लगा। पश्चिम केवली मगधमें अरहदास वणिकके कुलमें जन्म होनेकी बात सुनकर वह आनन्दित होकर नाच रहा था। विस्मित होकर राजाने आनन्दसे नाचते हुए यक्षसे प्रश्न किया। जिनेन्द्रने इस प्रकार उत्तर दिया—सङ्क्तउ नगरी थी वहाँ सन्तप्रिय (संताप्पिउ) वणिक रहता था। उसकी गोत्रवती प्रिया थी। अरहदास उसका पुत्र था, दूसरा पुत्र जिनदास था। जिनदास तरुण अवस्थामें दुर्व्यसनोंमें फँस गया। मदिरा पीता था. द्यूतक्रीड़ामें रत रहता था। किन्तु उसने अन्तमें श्रावक व्रत लेकर पाप विसर्जित किए और वह मरकर यक्ष हुआ इसके

भाई अरहदासके यहाँ विद्युन्मालीका अन्तिम केवली-के रूपमें जन्म होगा यह सुनकर हर्षित होकर यह नाच रहा है। सातवी रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें अरहदास की प्रियाने जम्बूफल आदि वस्तुएँ स्वप्नमें देखीं। स्वप्नों का फल बताते हुए मुनि कहते हैं कि उसके एक पुत्र होगा जो सोलह बरस रहकर दीक्षा लेगा। समया-नुकूल जम्बू जन्म लेते हैं और शीघ्र विद्याध्ययन समाप्त करते हैं। जम्बूफल स्वप्नमें उनकी माताने देखा था इसलिये उनका नाम जम्बूस्वामी रखा गया। जम्बूस्वामी अत्यन्त सुन्दर थे नगरकी रमणियाँ उन्हें देखकर आसक्त होजाती थीं और विरहका अनुभव करने लगती थीं।

उसी नगरमें समुद्रदत्त श्रेष्ठि रहता था. उसके चार सुन्दर पुत्रियाँ थीं. समुद्रदत्तने उन कुमारियोंका विवाह जम्बूस्वामीसे करना निश्चित किया। विवाहकी तैयारियाँ हो रहीं थीं इतनेमें ही बसन्त-ऋतु आ पहुंची. सब लोग वसन्तोत्सवके लिए राजोद्यानमें जाते हैं। क्रीडाके उपरान्त सुरति खेदको दूर करनेके लिए सरोवरमें जलक्रीडा सब करते हैं सब लोग जब वस्त्र आभूषणोंको पहनकर नगरकी ओर जा रहे थे कि एक प्रमत्त गज आकर सबको त्रस्त कर देता है जब सब भयभीत होकर भाग रहे थे जम्बू उसे वीरता पूर्वक परास्त कर देते हैं (सन्धि ४)।

वीरताके इस कार्यसे प्रसन्न होकर राजाने जम्बू-कुमारको अपने बराबर आसन दिया। जब यह राजसभा चल रही थी उसी समय आकाशसे. एक विमान वहाँ पहुंचा और एक विद्याधर सम्मुख उप-स्थित हुआ। उसने अपना निवास 'सहस्रसिंग' नगरी मे बताया तथा उसका नाम गगनगति था। उसने बताया कि केरल नगरीके राजा मृगाङ्कने उसकी बहिन मालतीसे विवाह किया है और उसकी पुत्री विलास-वती अत्यन्त रमणीय है। हंसद्वीपमें निवास करने वाले विद्याधरसे रत्नसिहने मृगाङ्कसे उस कन्याको माँगा। राजाके न देनेपर उसने केरलनगरीपर कुमारी को लेनेके लिए धावा कर दिया। वह विद्याधर जम्बूसे वहाँ जाकर कन्याके साथ परिणय करनेकी प्रार्थना करता है। जम्बू अकेले जाकर विद्याधरसे युद्ध करते हैं। मृगाङ्कराजा कन्या जम्बूस्वामीको समर्पित कर देता है। पीछेसे श्रेणिकराजकी सेना भी देशान्तरोंमें भ्रमण करती हुई पहुँच जाती है। रत्नशेखर(-सिंह-चूल) विद्याधरकी हार होगी ऐसा प्रतीत होने लगता है (सन्धि ५)।

छठी सन्धिका प्रारम्भ कुछ प्राकृत पद्योंमें की गई कविवीरकी कवि-प्रतिभाकी प्रशंसासे होता है। उस सम्पूर्ण सन्धिमें जम्बूस्वामीके युद्ध कौशलका वर्णन किया गया है। अन्तमें रत्नशेखरको मृगाङ्क राजा परा-जित कर देता है और जम्बू सहस्रों भटोंको परास्त कर देते है। युद्धका वर्णन बड़ी क्षमतापूर्वक कविने किया है। युद्धके प्रसङ्गमें अद्भुत, बीभत्स व्यापारोंका चित्रण करते हुए कविने साङ्गोपाङ्ग युद्ध वर्णन किया है। आठ सहस्र विद्याधरोंको उसने परास्त कर दिया। अन्तमें पराजित रत्नसिहको वह क्षमा कर देता है। विद्याधर रत्नसिह पाँचसौ विमान लेकर जम्बूके साथ उसे मगध पहुंचाने चल-देता है। विमान नर्मादकुरुल (गुम्मायकुरुल) शिखरपर पहुंचता है जहाँ मगधेशकी सेनाका स्कधावार था जम्बूने उतरकर उनसे भेट की। गगनगति सबका राजासे परिचय कराता है मृगाङ्ककी पुत्रीसे शुभ मुहूर्तमें जम्बूका विवाह होता है। जम्बू जिस समय अपने नगरमें प्रवेश कर रहे थे उपवनमें महर्षि सुधर्मस्वामी पञ्च शिष्यों सहित आते हैं। महर्षिको जम्बूस्वामी भक्तिपूर्वक नमस्कार करते है (सन्धि ६-७)।

मुनिसे जम्बूस्वामी अपने पूर्व-भावोंका वृत्तान्त सुनते हैं और तदनन्तर घर आकर माता पिताको प्रणाम करके प्रव्रज्याव्रत लेनेका विचार करते हैं। पुत्रके ऐसे वचन सुनकर माता मूर्छित हो जाती है। जम्बूकी वह समझती है कि उसके वैराग्य लेनेसे कुल विलीन हो जावेगा। इसी समय सागरदत्तके द्वारा प्रेषित व्यक्ति आकर जम्बूका विवाह निश्चित करता है और सागरदत्तकी चार कन्याओंसे जम्बूका विवाह

हो जाता है। और कविने शृङ्गारके अनेक उपकरणों-के साथ जम्बू और नव परिणीतावधुओंके संभोग शृङ्गारका वर्णन किया है। कविने इस सन्धिको अत्यन्त उपयुक्त 'विवाहोत्सव' नाम दिया है (संधि ८)

महिलाओंके मोहसे उत्पन्न प्रेमसे जम्बूके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न होता है। महिलाओंकी वे निन्दा करते हैं. उनकी विरक्ति भावनाको दूर करनेके लिए जम्बू-की प्रियतमाएँ कमलश्री. कनकश्री. विनयश्री. रूपश्री प्राचीन कथानक कहती हैं; जम्बू इसके विपरीत वैराग्यके महत्वको प्रतिपादित करनेवाली कहानियाँ कहते है। बात करते-करते इस प्रकार आधी रात बीत गई किन्तु कुमारका मन सांसारिक प्रेममें नहीं लगा. इसी समय विद्युच्चर चोरी करता हुआ नगरमें आया—

गउ अद्धरत्तु वोल्लंतहो तो वि कुमार ण भवे रमइ ।
तहें काले चोर विज्जुचरु चोरेवइ पुरे परिभमइ ॥११॥

नगरमें घूमता हुआ जम्बूके गृहमें विद्युच्चर पहुंचता है। जम्बूकी माता सोई नहीं थी. चोरका समाचार जाननेपर उसने कहा कि वह जो चाहे सो ले ले। विद्युच्चरको जब जम्बूकी माता शिवदेवीसे जम्बू की वैराग्य-भावनाके विषयमें ज्ञात हुआ तो उसने प्रतिज्ञा की कि या तो वह जम्बूकुमारके हृदयमें विषयोंमें रति उत्पन्न कर देगा और नहीं तो स्वयं तपस्या-व्रत ले लेगा—

वहुवयण-कमल-रसलंपुड भमरु कुमारु ण जइ करमि ।
आएणसमाणु विहाणए तो तव चरणु हउं विसरमि ।१३।

'वधुओंके वदनकमलमें कुमारको रस-लम्पट भ्रमर यदि नहीं करूँ तो मैं भी इसीके समान प्रातः-काल तपश्चरण करूँगा।'

जम्बूकी माता रात्रिको उसी समय उस चोरको अपना छोटा भाई कहकर जम्बूके समीप लेजाती है। जम्बू वेष बदले हुए विद्युच्चरको देखकर उससे कुशल प्रश्न करके पूछते हैं कि उसने किन-किन देशोंमें भ्रमण किया। व्यापारके भ्रमण किये देशोंके नामोंको सुनकर जम्बू उसे बड़ा वीर समझते हैं—

विहुणवि सिरु विंभियचित्तें वुच्चई मामु ण वणियवरु ।
पच्चक्खु दइउ इय सत्तिए अवस होसि तुहं वीरणरु ।१९।

विस्मितचित्त होकर शिर हिलाकर कहता है—मामा वणिकमात्र ही नहीं है, प्रत्यक्ष दैवसे प्राप्त शक्ति से युक्त अवश्य तुम वीर पुरुष हो। (सन्धि ९)

दसवीं सन्धिमें कई मनोहर आख्यान जम्बू और विद्युच्चरद्वारा कहे गये हैं। जम्बू वैराग्यमें उपसंहार होनेवाले आख्यान कहकर विषय-भोगोंकी निस्सारता दिखाते हैं और विद्युच्चर वैराग्यको निरर्थक बतानेवाले आख्यान कहता है। अन्तमें जम्बूकी दृढ़तासे वह प्रभावित होजाता है। जम्बू सुधर्मस्वामीसे तपस्याकी दीक्षा ले लेते हैं, सभी उनकी पत्नियाँ आर्यिका होजाती हैं विद्युच्चर भी प्रव्रज्याका व्रत ले लेता है। सुधर्म-स्वामी निर्वाण प्राप्त करते हैं। जम्बूस्वामी केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और अन्तमें संल्लेखना करते हुए निर्वाण प्राप्त करते हैं। विद्युच्चर भ्रमण करता हुआ ताम्रलिप्त-पुरमें पहुंचता है जहाँ कात्यायनी भद्रमारीके प्राधान्य को नष्ट करता है।

ग्यारहवीं सन्धिमें विद्युच्चरके दशविधधर्म पालन-द्वारा और तपस्याद्वारा अन्तमें समाधिमरण पूर्वक सर्वार्थसिद्धि प्राप्तिका वर्णन है ग्रन्थकी समाप्ति करते हुए कविने कहा है कि उसकी कृतिका पाठ करनेसे मङ्गलकी प्राप्ति होती है।

जम्बूस्वामिचरितकी ग्यारह सन्धियोंमेंसे प्रायः प्रत्येकमें सद् काव्यकी प्रशसा की गई है[1]। कविने

---

१ सन्धि प्रथममें कई उल्लेखोंके साथ अन्तमें कहा है—
'कव्वेय पूर्वसिद्धयै वा भूयोपक्रियते मया'।
सन्धि ३के प्रारम्भमें निम्न प्राकृत पद्य है:—
- वालक्कीलासुवि वीर वयण पसरत कव्व-पीऊसं ।
कण्णपुडएहि पिजइ जणेहि रस मउलियच्छेहि ॥ १ ॥
भरहालकारसलक्खणाइ लक्खे पयाइ विरयती ।
वीरस्स वयणरंगे सरस्सई जयउ णच्चती ॥ २ ॥
सन्धि ५के प्रारम्भमें स्वयभू, पुष्पदन्त और देवदत्त कवियोंकी प्रशसाके साथ वीरकी प्रशसा की गई है:—
दिवसेहिं इह कवित्त णिलए णिलयम्मि दूरमायण्णं ।

'सुकविस्व' रचना करनेकी इच्छा प्रथम सन्धिमें प्रकट की है और अपनेको उसके अयोग्य कहा है।

'सुकवित्त करण मण वावडेण' । १-३

इस प्रकारके उल्लेखोंसे प्रस्तुत कृति केवल धार्मिक कथा-कृति नहीं ज्ञात होती और कविने स्वयं भी उसे महाकाव्य कहा है, जिसमें शृङ्गार और वीर रसोंकी प्रधानता है। कृतिकी ग्यारह सन्धियोंमें कथा-रसके अनुकूल इस प्रकार है।

प्रथम सन्धिमें भूमिकास्वरूप जिनकेवलीके समवसरणका वर्णन है और श्रेणिकके उस धर्मसभामें जानेकी कथा है। इस सन्धिमें कथा कही गई है और देश, नगर आदिके सुन्दर वर्णन भी है। किसी विशेष रस-परिपाकके लिये इस सन्धिमें स्थान नहीं मिल सका। श्रेणिकके भक्तिभावमें उत्साह है जिसे शान्त रसका स्थायी कहा जा सकता है। प्रस्तुत सन्धिमें वीर और शृङ्गार रसका कोई स्थान नहीं है।

दूसरी सन्धिमें श्रेणिकके प्रश्नका उत्तर गणधर देते हैं। इसी समय बड़े लटकीय कौशलसे कविने जम्बूके जन्मान्तरोंसे सम्बन्धित कथाका प्रारम्भ किया है। अतः जम्बूचरितका प्रारम्भ इसी सन्धिसे होता है। हम देखनेका प्रयत्न करेंगे कि प्रमुख चरित्रमें कहाँतक शृङ्गार और वीर रसोंका चित्रण हुआ है और कविका अपनी कृतिको शृङ्गार-वीर रससे युक्त रचना कहना कहाँतक संगत है।

जम्बूके पूर्व जन्मोंकी कथा कहते हुए ऋषि बताते हैं कि एक पूर्व जन्ममें ब्राह्मणपुत्र भवदेव थे। उनके बड़े भाई भवदत्त जैनधर्मकी दीक्षा ले चुके थे। भवदेव का जब विवाह होरहा था भवदत्त आता है, भवदेव विवाह-कार्य अधूरा छोड़कर भाईकी आज्ञा मानता हुआ दीक्षा लेकर चला जाता है। एक ओर उसे किंचित नवविवाहका भी ध्यान है किन्तु वैराग्यसे भी वह पीछे नहीं हटता। कविने भवदेवके भावद्वंद्वका इस प्रकार चित्रण किया है; जब उसका भाई मुनिसे कहता कि भवदेव 'तप चरणु लहेसइ' (तपश्चरण प्राप्त करेगा) वह सोचता है—

सुणंतु मणि डोल्लइ । निट्ठुर केम दियंवरु बोल्लइ ।
तुरिउ तुरिउ घरि जामि पवित्तमि ,
सेसु विवाह कज्जु निव्वत्तमि ।
दुल्लहु सुरयविलासु व भुंजमि ,
नववहुवाए समउ सुहु भुंजमि ॥२-१२॥

किन्तु भाईके वचनोंका उसे ध्यान आता है—

तो वरि न करमि एहु अपमाणउ,
जेट्ठ सहोयरु जणणु समाणउ ॥२-१३॥

'इसका अपमान कदापि नहीं करूँगा ज्येष्ठ सहोदर पिताके समान है।' और दीक्षित होनेके लिये स्वीकृति देता है। दीक्षाके समय वह मन्त्रोंका उच्चारण भी ठीक नहीं कर पारहा था; क्योंकि उसका मन नव-यौवना पत्नीमें लगा था—

पाढंतहं अक्खरु मउ आवइ ।
लडहंगउ कलत्तु परभायइ ॥२-१४॥

दीक्षित होकर बारह वर्षतक भ्रमण किया और वह भ्रमण करता हुआ अपने ग्राम बधमानके पास आया, ग्रामके सम्पर्कके स्मरणसे उसके हृदयमें विषय-वासना जागृत होजाती है। कविने उसकी इन उद्दाम भावनाओंको इस प्रकार चित्रित किया है:—

चिक्कसंतु चित्तु परिओसइ ,
एरिसु दिवसु न हुयउ न होसइ ।
तो वरि घरहो जामिपिय पेक्खमि ,
विसय सुक्ख मणवल्लहु चक्खमि ॥२-१५॥

'चिकने (स्नेहाभिषिक्त) चित्तको वह परितोषित करता है, इस प्रकारका दिन न हुआ है न होगा, तो अवश्य घर जाकर प्रियाका दर्शन करूँगा और मन-वल्लभ विषय-सुखोंका आस्वादन करूँगा।'

समयानुकूल भवदत्त आकर उसे संबोधित करता है और वह कुपथसे बच जाता है। इसी प्रसङ्गमें कविने जम्बूचरितके सबसे कोमल और रमणीय स्थलका चित्रण किया है। ग्रामसे लगे हुए चैत्यगृहमें

सपइ पुणो णियत्त जाए कइ वल्लहे वीरे ॥ २ ॥
सन्धि ६में इस प्रकार एक पद्य है:—
देंत दरिद्द पर वसण दुम्मणं सरस-कव्व-सव्वस्सं ।
कइ वीर सरिस-पुरिसं धरणि धरती कयत्थासि ॥१॥

भवदेव जाता है और वहाँ एक क्षीणकाय स्त्री तपस्या-में रत बैठी थी, उससे भवदेव अपने और भवदत्तके विषयमें पूछता है। वह स्त्री सब बताती है कि किस प्रकार वे दोनों ब्राह्मणपुत्र संसार तरङ्गोंको पारकर दिगम्बर होगए थे। और भवदेवने नागवसुसे विवाह किया था, वह भवदेवके यौवनावस्थामें तपव्रत लेनेकी प्रशंसा करती है; उसने भवदेवको पहिचान लिया था, वह उसकी पत्नी थी:—

तरुणत्तणेवि इंदियदवणु ।
दीसइं पइं मुयवि अरणुकवणु ॥
परिगलिए वयसिसव्वहुविजई,
विसयाहिलास हवि उवसमई ।
कच्चेंपल्लट्टइ को रयणु,
पित्तलइ हेमु विक्कइ कवणु । २.१८

'तरुणावस्थामें इन्द्रियोंका दमन करने वाला तुम्हारे अतिरिक्त और कौन है, अवस्थाके परिगलित होनेपर सभी यती हैं जब कि विषयाभिलाषाएँ उप-शमित हो जाती हैं काँचको रत्नसे कौन बदलेगा और पीतलसे सोनेको कौन बेचेगा।' नागवसु उससे कहती कि उसके जानेपर उसके एकत्रित धनसे उसने यह चैत्य बनवाया है। उसकी धर्मदृढ़ताको सुनकर भवदेव लज्जित होता है, मुनिके पास जाकर सब वृत्तान्त सुनाकर सविशेष दीक्षा लेता है। भवदत्तके साथ तप करता हुआ वह और भवदत्त अनशन करके पण्डित-मरणसे देह त्याग कर तृतीय स्वर्गको जाते हैं।

विषयोंकी ओर झुकनेकी मनुष्यकी शाश्वत दुर्ब-लताका सुन्दर विश्लेषण करते हुए कविने भवदेवको उसपर विजय पाते हुए चित्रित किया है। शृङ्गारके आलम्बन विभाव यहाँ भवदेव और नागवसु हैं। संचारीभावोंका सुन्दर चित्रण हुआ है, पुरानी स्मृतियाँ ग्रामकी सन्निकटता भवदेवके हृदयमें विषय-सुखको जागृत करते हैं अतः उद्दीपन कहे जा सकते हैं, शृङ्गारके पूर्ण चित्रणके लिए कथाकी परम्पराके कारण कवि विवश था और परिस्थितियोंके कारण नायक नायिका दोनों तपव्रत लेते हैं। दुर्बलताओंसे संघर्ष ही 'वीररस' का यहाँ प्रतीक है, उनपर कथाके पात्र विजय पाते हैं, तपके लिए उनमें 'वीर'का स्थायी 'उत्साह' पाठकोंको दीख सकता है। इस शृङ्गार भावना और 'उत्साह' भावनाका संघर्ष इस सन्धिमें पर्याप्त सुन्दर रूपमें वर्णित हुआ है और वह कविको शृङ्गार वीरकाव्य बनानेमें सहायक है।

भवदेवका जन्म वीतशोकानगरीके राजकुमार के रूपमें होता है। उसका विवाह एकसौ पाँच राज-कन्याओंसे कर दिया जाता है, राजप्रासादोंके बाहर जानेमें शिवकुमार (भवदेवका इस जन्मका नाम) पर देखरेख रखी जाती है। एक बार उस नगरीमें सागर-चन्द मुनिके आगमसे नगरीमें कोलाहल हुआ (भव-दत्तका जन्म सागरचन्द नामसे पुण्डरीकिनी नगरीमें हुआ था और वह मुनि हो गया था)। शिवकुमारने धवलगृहके ऊपरसे मुनिको देखा और उसे जाति स्मरण हो आया। वह मूर्छित होगया और तपव्रत लेना चाहता है, राजा उसे उस पथसे दूर करना चाहता है। राजा और राजकुमारके प्रसङ्गकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है, राजा उसे शृङ्गार और राज-वैभवमें रत रहनेके लिए कहता है किन्तु कुमारका मन वैराग्यके लिए दृढ़ है—

आहासइ चक्केसरु तणुरुहु,
कवणु कालु पावज्जते किर तुहु ।
अखयणिहाणु रयणरिद्धिल्ली,
रायलच्छि तुहु भुंजहि भल्ली ।
भणइ कुमारु ताय जय सुंदरु,
ता कहि चक्कवट्टि हरि हलहर ।
समलकाल णवणव वर इत्ती,
वसुमइं वेसव केण ण भुत्ती । १.८

फिर राजा कहता है कि रागद्वेषका त्याग करनेपर तपव्रतकी क्या आवश्यकता है घरवास करते हुए ही नियम व्रतोंको धारण करना चाहिये। कुमार पिताके वचनको मानकर मन वचन, कायसे नवविध ब्रह्मचर्य व्रत धारण करनेका व्रत लेता है। तरुणियोंके पास होनेपर भी वह उस ओरसे उदास रहता है। परगृहसे भिक्षा लाता है। बहुत वर्ष तप करनेके पश्चात समय आनेपर वह विरक्त होगया और देह त्यागकर

विद्युन्मालीदेव हुआ। शृङ्गारके समस्त साधन रहते हुए भी शिवकुमारका मन उससे विरक्त रहा उस भावद्वन्द्वको कविने यहाँ समस्त सद् उपदेशोंके साथ व्यक्त किया है। शृङ्गारका अर्थ इस प्रसङ्गमें 'विषया-भिलाषा' करना उचित होगा। विषयाभिलाषाओंपर वैराग्य भावनाकी विजय दिखाई गई है। इस सन्धिके अनुसार कृतिका नाम 'शृङ्गार-वैराग्य' कृति कहना उचित होगा, 'शृङ्गारवीर' कृति नहीं।

सन्धि चतुर्थसे जम्बूस्वामी कथा प्रारम्भ होती है। जम्बूकुमार अत्यन्त रूपवान् थे। उनको देखकर नगर की रमणियाँ उनके रूपपर आसक्त होजाती थीं। परकीया ऊढा नायिकाओंके विरहका कविने प्रसङ्गवश वर्णन किया है जिसमें ऊहात्मकता भी पर्याप्त मात्रामें मिलती है। शृङ्गारवर्णनके इस प्रसङ्गकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार उद्धृत की जासकती हैं:—

काहिवि विरहाएल संपलित्तु।
अंसुजलोह कवोलरिएत्तु।
पल्लट्टइ हत्थु करंतु सुएणु।
दंतिमु चूडुल्लउ चुएण चुएणु।
काहिनि हरियंदएा रसु रमेइ।
लग्गंतु अंगि छमछम छमेइ ॥४-११॥

इस कलात्मक परम्पराका निर्वाह करके कविने समुद्रदत्त नामक उसी नगरमें रहने वाले श्रेष्ठिकी पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नामक चार कन्याओंका शिखनख वर्णन प्रस्तुत किया है। वर्णनके अन्तमें कवि कहता है कि किसी अन्य प्रजापतिने इन कुमारियोंका निर्माण किया है:—

जाएमि एक्कु जे विहि घडइ सयलु विजगु सामएणु।
जि पुणु आयउ णिम्मविउ कोवि पयावइ अएणु ॥४-१४

जम्बू जैसे अतीव रूपवान वरके अनुरूप इन अनुपम रूपवती कुमारियोंका जम्बूसे विवाह होजाता है। बड़े कौशलसे कविने नायक-नायिकाओंको समान रूपसे युक्त चित्रित किया है। जीवनके ऐसे चित्रमय सुन्दर अवसरके अनुकूल कविने कोमल पदावलीका प्रयोग करते हुए वसन्तका वर्णन किया है। अपभ्रंशमें सङ्गीत, कोमलवृत्ति और शृङ्गारके अनुकूल माधुर्य-गुण-प्रधान ऐसे वर्णनोंको व्यक्त करनेकी क्षमता दिखानेके लिये ऐसे वर्णन अच्छे प्रमाण हैं। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार पढ़ी जासकती हैं:—

मंछ मंदार मयरंद एांदए वएां,
कुंद करवंद वयकुंद चंदए घएां।
तरल दल तरल चल चवलि कयलीसुहं,
दक्ख पउमक्ख रुद्दक्ख खोएीरुहं।
कुसुम रय पयर पिंजरिय धरएीयलं,
तिक्ख नहु चंचु कएयल्ल खंडियफलं।
रुक्ख रुक्खंमि कप्पयरु सियभासिरी,
रइवराएत्त अवयरएा माहवसिरी ॥४-१६॥

उद्दीपन सामग्रीके रूपमें उद्यान और वसन्तका वर्णन कविने बड़ी सफलता पूर्वक किया है। उपवनमें क्रीड़ा करनेके पश्चात् सभी मिथुन सुरति खेदका अनुभव करते हैं और उसे दूर करनेके लिये जलक्रीड़ा के लिये सब सरोवरमें जाते हैं। जलक्रीड़ाके पश्चात् सब निकलकर वस्त्रादि धारण करते हैं और निवासोंकी ओर जाते हैं। शृंगारके समस्त उपकरणोंसे पूर्ण इस चित्रके साथ जम्बूका शौर्य कविने संग्रामशूर नामक श्रेणिक राजाके भयङ्कर पट्टहस्तीको उनके द्वारा पराजित चित्रित करके दिखाया है। इस सन्धिमें शृंगारका सुन्दर और बहुत कुछ पूर्ण चित्र कविने प्रस्तुत किया है।

पाँचवीं सन्धिसे शृंगारमूलक वीररसका प्रारम्भ होता है। केरल राजाकी पुत्री विलासवतीको रत्नशेखर विद्याधरसे बचानेके लिये जम्बू अकेले ही उससे युद्ध करने जाते हैं। उनमे वीरके स्थायीभाव 'उत्साह'का अच्छा उद्रेक चित्रित किया है, पीछे श्रेणिकराजकी सेना भी बड़े उत्साहसे सजधजके साथ चलती है। असाधारण धैर्यके साथ जम्बू रत्नशेखरके साथ युद्ध करनेको प्रस्तुत होते हैं। युद्ध करते समय सैनिकोंके हृदयमें स्वामिभक्तिकी द्योतक वीरोक्तियाँ कहते हैं और अनेक उदात्त भावनाओंका उदय होता है। सैनिकोंकी रमणियाँ भी सैनिकोंको युद्धमें जानेकी प्रेरणा देती हुई

दिखती हैं। भयङ्कर युद्ध होता है और परिणामस्वरूप वीभत्स चित्रणकी भी ओर संक्षेपमें कविने ध्यान दिया है। विद्याधर विद्या-बलसे माया-युद्ध करता है। कभी झंझावात चलने लगती है. कभी प्रलयजल बरसने लगता है। अद्भुत रस यहाँ वीरको सहायता करता दिखता है। विद्याधरने राजा मृगाङ्कको बाँध लिया. जम्बूने युद्ध करते हुए राजाको छुडा लिया और पराजित करके उसे भगा दिया। जम्बूकी विजयपर नारद आनन्दसे नाचने लगते हैं, सर्वत्र आनन्द होने लगता है। विद्याधर गगनगति प्रकट होकर मृगाङ्क-राजसे जम्बूकुमारका परिचय देता है। वीररसके इस विस्तृत प्रसंगके पश्चात् ही कवि शृङ्गारकी भूमिका प्रारम्भ कर देता है।

मृगाङ्क राजा जम्बूको केरल नगरी दिखाते हैं। नगरकी रमणियाँ जम्बूको देखकर कहने लगती है कि विलासवती धन्य है जिसके हाथमे श्रेणिकराजका समस्त राज-वैभव रहेगा। जम्बू और विलासवतीका परिणय होता है। जम्बू मगध पहुँचते हैं और यहींसे शृङ्गार और वैराग्य (संसारमें अनुरक्ति-प्रवृत्ति तथा निवृत्ति) का प्रसङ्ग प्रारम्भ होता है। आठवीं सन्धिसे यह प्रसङ्ग प्रारम्भ होता है। मुनिसे अपने पूर्व भवोंकी कथा सुनकर जम्बूके हृदयमें वैराग्य-भावनाका उदय होता है। दीक्षा देनेके पूर्व गणधर जम्बूसे माता-पिता की आज्ञा लेनेको कहते हैं:—

इय सोऊण मलहरो वोल्लइ वयणं गणहरो।
तावच्चमु सुहणिहेलणं, पुच्छसु पिय माया जणं ॥८-५॥

जम्बूकी माता पुत्रकी वैराग्य-भावनाको देखकर मूर्छित होजाती है। कुमारकी वैराग्य-भावनासे सभी कुटुम्बी दुखी दिखते है किन्तु जम्बूका मन दृढ़ था:—

पिउ मायरिबंधवजणहिं दुक्खिय,
मणहिं बुज्झाविउ कहव न बुज्झइ।
सच्चउ अज्जु जे तव-चरणु वइ—
रायमणु लिटउ कुमारु किमरुज्झइ ॥८-८॥

जम्बूकी निर्वरपूर्ण मनस्थितिको देखकर भी पद्मश्री आदि चार कन्यायें उनसे परिणय करती हैं। यद्यपि सब लोग उन्हें ऐसा न करनेको समझाते हैं। विवाहके प्रसङ्गमें कविने वैराग्यकी स्थितिको छोड़कर सुन्दर विवाहका वर्णन प्रस्तुत किया है. विवाहके 'दाइजे', तथा भोजनके सरल वर्णन किए हैं, जम्बू नववधुओंके साथ वासगृहमें जाते हैं। इस प्रसङ्गमें कविने महिलाओंके हाव-भावों (चेष्टाओं)का अच्छा चित्रण किया है। जम्बूका मन इन सब व्यापारोंमें में नहीं रमता, उसकी पत्नियाँ अनेक कथाएँ कहती हैं किन्तु वह दृढ़ रहता है। विद्युच्चर भी जम्बूके हृदयमें संसारके प्रति आसक्ति उत्पन्न करानेमे असफल होता है। कथाकी समाप्ति वैराग्यमें होती है। ससारके मायामोहसे विरक्त होकर जम्बू उनकी पत्नियाँ, विद्युच्चर सभी तपस्या करते है और सद्गति प्राप्त करते हैं। कृतिमें कविने वीररस, शृङ्गार और शान्ति रसके सफल चित्र प्रस्तुत किए है।

चरित्र चित्रणमे भी कवि पूर्ण सफल हुआ है। पूर्वजन्मोंसे ही जम्बूकी प्रवृत्ति कर्त्तव्यमे दृढ़ और धार्मिक है. जम्बू अत्यन्त साहसी. वीर है, उनकी चारित्रिक दृढ़ताको बड़े ही सफल ढङ्गसे कविने व्यक्त किया है—तरुणियोंके पास रहते हुए भी वह उनमे विरक्तिभाव रखता है—

पासट्ठिओवि तरुणी णियरु,
मणइ इवहि पुंजिउव्व कयरु ॥ ३-६ ॥

अनेक प्रकारकी उक्तियोंका उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

गउ अद्धरत्त वोल्लंतहो तो, वि कुमारु ण भवे रमइ ॥६-११

साहसकी परीक्षाके दो प्रसङ्ग मिलते हैं—उन्मत्त हाथीको वह परास्त कर देता है (संधि ४) और अकेला ही विद्याधर रत्नशेखर और उसकी सेनापर विजय कर लेता है। उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली है इसी लिए विद्युच्चर भी उसका अनुसरण करता है। इन सब गुणोंके साथ उसमें महज्जनोचित शिष्टाचारोंके भी दर्शन होते हैं। माताकी आज्ञाका वह पालन करता है। विद्युच्चरका परिचय उसकी माता अपने भाईके रूपमें कराती है—वह देखते ही खड़ा होजाता

है, प्रणाम करता है और कुशल पूछता है:—

तं नियविकुमार समुट्ठियउ ,
दरपणमिय सिरु समहिट्ठियउ ।
अरणोरणालिंगण रसभरिया ,
विहि पीढहिं वेणऐवि वइसरिया ।
पुच्छिज्जइ कुसलु पंथ समिउ ,
बहुदिवस माम कहि कहि भमिउ ॥९-१८॥

जम्बूका चरित्र सब प्रकारसे एक धर्ममें दृढ़ आदर्श योद्धा, उदात्तचरित्र व्यक्ति, विरक्त त्यागी महापुरुषका है। अन्य पात्रोंके चरित्रमें सम्यक् विकास नहीं मिलता और न वह आवश्यक ही था। विद्युच्चरके दर्शन एक सब प्रकारसे भले किन्तु चोरके रूपमें होते हैं—अन्तमें वह भी तपस्वी हो जाता है। महिलाओं-के चरित्रोंमें जम्बूकी पत्नियाँ और उसकी माताके चित्र मिलते हैं। उनमें स्वाभाविक कोमलता और सरता है। वे सब अन्तमें आर्यिकाएँ होजाती हैं। प्रायः ऐसी धारणा है कि जैनसाहित्यमें स्त्रियोंकी निन्दा की गई है, वह गलत है। इन कृतियोंमें आदर्शोंके चित्र मिलते हैं। नारीके प्रति घृणाका भाव नहीं मिलता, मूल दुष्प्रवृत्तिका कहीं-कहीं उन्हें कारण मानकर उनकी भर्त्सना अवश्य की गई है यथा जब जम्बूकी पत्नियाँ हाव-भाव दिखाकर उसे आसक्त करना चाहती हैं तब वह कहता है:—

हा हा महिला-मोह णिबद्धउ ,
मयण काल-सप्पहि जगु खद्धउ ।
वुच्चइ अहरु अमिय महु वासउ ,
अवरु जो णाउ ठविउ वयणासउ ॥ ९-१ ॥

वर्णन:—अन्य अपभ्रंश जैन काव्योंके समान प्रस्तुत कृतिमें भी अनेक समृद्ध वर्णन मिलते हैं। नगर, ग्राम, अरण्य, ऋतु सूर्योदय, सूर्यास्त, नख-शिख, सेना युद्ध आदिके सरल और कहीं-कहीं अलंकृत वर्णन कविने प्रस्तुत किये हैं। बड़े-बड़े वर्णनोंके अतिरिक्त छोटे छोटे चित्र भी कविने सफलता पूर्वक चित्रित किए हैं:—श्रेणिकराजके उन्मत्त हाथी के चित्रणसे कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं; उसकी विकरालताका स्पष्टस्वरूप सामने आजाता है:—

उद्दंड - सुंडकय - सलिलविट्ठि ,
पयभार कडक्किय कुम्मपिट्ठि ।
दुद्धर-रिउ वलहरु णं णव जलहरु—
गरुय गज्जिर - रव - भरियदरि ।
जण-मारण-सीलउ वइवसलीलउ—
सो संपत्तउ तेत्थु करि ॥४-२०॥

इसी प्रकार थोड़ेसे शब्दोंमें विद्युच्चरका चित्रण किया है:—

पयडिय किराउ मयवेसपडु, आजाणु लंब परिहाण पडु ।
वंकुडिय कच्छकयढिल्ल कडि, करणंत लुलाविय केसलडि ।
पुट्ठीनिहित्त कयबद्ध भरु, उग्गंठिय वि सरिस कुंचधरु ।
आउत्तमंग पंगुरियतणु सिढिलाह रोट्ठदंतरु वयणु ।
डोल्लंत बाहुलय ललिय-करु वासहरि पयट्टउ विज्जुच्चरु ।
॥ ९-१८ ॥

अलङ्कारोंके प्रयोग कविने दो प्रकारके किये हैं, एक चमत्कार प्रदर्शनके लिये और दूसरे स्वाभाविक प्रयोग। प्रथम प्रकारके प्रयोगके उदाहरणरूपमें विध्याटवी वर्णनसे निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की जासकती हैं; जिनमें कोई रस नहीं है:—

भारह - रण - भूमिव स - रहभीए ,
हरि अज्जुण णउल सिहंडि दीए ।
गुरु आसत्थाम कलिंगचार ,
गयगज्जिर ससर महीस सार ।
लंकाणयरी व स - रावणीय ,
चंदणहि चार कलहावणीय ।
सपलास सकंचण अक्खघट्ट ,
सविहीसण कइकुल फलरसट्ट ॥ ५-८ ॥

उपर्युक्त पंक्तियोंमें श्लेषके प्रयोगसे दो अर्थ निकलते हैं, स-रह (रथ सहित और एक भयानक जन्तु, हरि—कृष्ण और सिंह, अर्जुन और वृक्ष, नहुल और नकुल जीव, शिखंडि और मयूर आदि)।

इस कवि-चमत्कारके अतिरिक्त सरसता वर्द्धक प्रयोग भी कविने किये हैं। यद्यपि वे हैं इसी प्रकारके; माला यमकका एक उदाहरण इस प्रकार है:—

तेउय संजायं महादंड जुज्भं, जुज्भंतपत्ति कोंतग्गखग्गि।
वावल्ल भल्ल सवल्ल, मुसुंढिएा णीहम्ममाएा अएणोएणं।
अएणोएणदंसणारुट्ठणिट्ठवियमिट्ठ —
सुएणासएानिलं, तमत्तमायंगं ।
मायंगदंत संघट्ट णिहसणुट्ठं तहुय ,
वहुफुलिंग पिंगलिय सुरवइविमाणं ॥
सुरवहूविमाएा संकुएएागयएा·······॥ ७-६ ॥

वीप्सा, विभावना और यमकके एक साथ प्रयोग निम्न पंक्तियोंमें पढ़ सकते हैं:—

दिणि-दिणि रयणिमाणु जहं खिज्जइ ,
दूरपियाएा णिद्दतिह खिज्जइ ।
दिवि-दिवि दिवस पहरु जिह वट्टइ ,
कामुयाएा तिह रह-रसु वट्टइ ।
दिवि-दिवि जिह चूयउ मउरिज्जइ ,
माणिणीमाणहो तिह मउरि(व)ज्जइ ।
सलिलु णिवाणहिं जिह परिहिज्जइ ,
तिंह भूसणु मिहुणहिं परिहिज्जइ ।
मालइ कुसमु भमरु जिह वज्जइ ,
घरे घरे गहेरु तूरु तहिं मज्जइ ॥३-१२॥

सादृश्य-मूलक अलङ्कारोंके प्रयोग कविने बड़े स्वाभाविक ढङ्गसे किये हैं। इस प्रकारके प्रसङ्गोंमें कविने बड़ी सरल कल्पनाके कहीं-कहीं प्रयोग किये हैं—एक-दो उदाहरण इस प्रकार हैं। सूर्यास्तके समय सूर्यका वर्णन कविने निम्न पंक्तियोंमें किया है:—

परिपक्कउ एाहरुमवहो णिवडिउ ।
फलुव दिवायर मंडलु विहडिउ ॥
रत्तंवर जुवलउ ऐसेविणु । कुंकुम पके पियले करेविणु॥
खणु अच्छेवि दुक्ख संभक्षिउ । अप्पउ घोरसमुद्दे घल्लिउ ॥ ॥ ८-१३ ॥

और भी इसी प्रसङ्गमें कुछ पंक्तियाँ हैं; चन्द्रोदय का वर्णन है:—

भमिए तमंधयार वर यच्छिए। दिएणउ दीवउ एां एाहलच्छिए
जोएहारसेएा भुअएाु किउ मुद्दउ। खीरमहएएावम्मि एां छुद्दउ
किं गयएाउ अमियलव विहडहि ।
किं कप्पूर पूर कएा णिवडहिं ॥८-१४॥

भ्रान्तिके दो-एक उदाहरण इस प्रकार हैं:—

जालगवक्खय पसरिय लालउ ।
गोरस भंतिए लिहए विडालउ ॥८-१४॥

'गवाक्षजालमेंसे प्रकाश आरहा था, उसे गोरस-भ्रान्तिसे विडाल चाट रहा था।'

गेरहइ समरिपडिउ वेरीहलु ।
मएणेविणु करि सिर मुत्ताहलु ॥८-१४॥

'शबरी पड़े हुए बेर फलको शिरका मुक्ताफल समझकर ग्रहण करती है।'

इस प्रकार अनेक अलङ्कारोंके सुन्दर प्रयोग कृति में हुए है, जिनसे सौन्दर्य-वृद्धि हुई है। सुभाषित और लोकोक्तियाँ भी व्यवहृत हुई हैं।

इसके अतिरिक्त कृतिमें आदिसे अन्त तक जम्बू-की वैराग्य-भावनासे पूर्ण धार्मिक वातावरण है, कापालिक, जोगी, सिद्धों आदिके कई स्थलोंपर उल्लेख मिलते हैं जो तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक परि-स्थितिपर प्रकाश डाल सकते हैं।

कृतिमें अपभ्रंशके प्रिय और प्रचलित छन्दोंके प्रयोग हुए हैं—जैसे घत्ता, पज्झटिका प्रमुख हैं किन्तु उनके अतिरिक्त स्रग्विणी, भुजङ्गप्रयात, द्विपदी दंडक, दोहाके प्रयोग किए हैं अन्त्यनुप्रास (यमक)का सर्वत्र छन्दोंमें प्रयोग किया है और कहीं-कहीं अन्तर्यमकका भी प्रयोग मिलता है। प्रतियोंका ठीक अध्ययन करने पर छन्दोंका सम्यक् अध्ययन किया जा सकता है। लय, सङ्गीत प्रसङ्गके अनुकूल बदलनेकी, अपूर्व क्षमता वीरकी इस कृतिमें मिलती है।

कृतिकी भाषा अन्य जैन अपभ्रंश चरित काव्यों-के समान ही सौरसेनी अपभ्रंश है। स्वयम्भू और पुष्पदन्तकी वर्णनशैलीका अनेक स्थलोंपर प्रभाव लक्षित होता है। कुछ गाथा प्राकृतमें भी मिलते हैं।

प्रस्तुत कृति परम्परागत प्राप्त वैराग्यपूर्ण जम्बूके चरित्रको काव्यात्मक ढङ्गसे प्रस्तुत करनेका एक अभिनव प्रयास* है। कवि बहुत दूर तक उसे महा-काव्यका रूप देनेमें सफल हुआ है। रस, अलङ्कार वर्णन वीरोदात्त नायक आदि अनेक महाकाव्यकी विशेषताएँ कृतिमें मिलती है। क्या ही अच्छा हो यदि यह कृति शीघ्र प्रकाशमें आ सके।

श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजीके पत्र

[गताङ्कसे आगे]

(२२) लखनऊ २३-१-२७

डा० हर्मन जैकोबीको महापुराण प्राकृत पुष्पदन्त कृत चाहिये सो यह लिखित देहली व जैपुरके भण्डारों में है। आप एक प्रति स्वाध्यायके लिये तुर्त भिजवा देवें जो शुद्ध होवे, अपभ्रंश भाषाके अभ्यासी हैं। भूलें नहीं। उनसे पहले पत्र व्यवहार करें।

(२३) वर्धा १६-१

पत्र पाया देहलीमें प्रो० ग्लैसनैपका व्याख्यान व स्वागत कैसा हुआ। भाई चम्पतरायजीके साथ वे कुछ दिन घूमें तो ठीक हो। आपकी जयन्तीमें हमारा आना शायद ठीक न होगा। लोग घृणा करेंगे बस बिना भले प्रकार विचार किये मुझे न बुलाना। परिषद्का जल्सा कहीं करावें।

(२४) लखनऊ २६-११

पत्र ता० २३-११ पाया।

१—पुस्तक कामताप्रसादको भेजी है

२—जीवकांड छप चुका, कर्मकांड चालू है

३—अभी १ माससे अधिक ठहरना होगा

४—अजितप्रसादजीको आप स्वयं लिखें, मेरे कहनेसे न आएंगे

५—आप पुस्तकका प्रचार कर रहे हैं धन्यवाद है खूब अजैनोंको बाँटनेका उद्यम करें।

६—तत्वार्थसूत्रका अनुवाद जुगमन्दरदास कृत आपने देखा होगा उसीको चम्पतरायजी से करवाया जावे

७—यहाँसे मेरे पास Lcensus of India 1921 नहीं है आप नकल भिजवा दें तो हम मित्रमें छाप दें।

मदरास स्मारक तैयार है ५००) लगेंगे कोई दानी हो तो लिखें। सबसे धर्मस्नेह कहें पं० फतहचन्द, महबूबसिंह, उमरावसिंह आदिसे

(२५) ४-१-२७

१—ट्रैक्टोंकी प्राप्ति छपने भेज दी है

२—लेख मैं जनवरीके अन्त तक भेजनेकी चेष्टा करूँगा

३—केवल चम्पतरायजीको कोई अच्छा पद देना चाहिये यह नाम पसन्द नहीं है

४—आपने अंग्रेजी पत्र बहुत अच्छा छपवाया है

५—आप हिन्दी साहित्यज्ञाताके नाम महेन्द्रकुमार सम्पादक 'वीर सन्देश' मोती कटरा आगरा जैन मन्दिरसे जाने

६—पंडित गिरिधर शर्मा झालरापाटन हिन्दीके अच्छे विद्वान हैं। डा० गङ्गानाथझा अलाहाबादको भी सन्देशके लिए लिखें। जो नाम आपने दिये हैं उनको बुला सकते हैं।

जुगमन्दरलाल वारिस्टरका पग अब अच्छा है उनको बुलावें या सभापति बनानेकी चेष्टा करें।

आप उत्साहसे काम करते रहें। सच्चे भावसे करें, नाम न चाहें प्रचार चाहें, यश स्वयं होगा।

लखनऊ परिषद्में आप मित्र-मण्डली सहित जरूर पधारें व उत्साह बढ़ावें, बाबू उमरावसिंह, जौहरीमल आदिको लावें। मेरा धर्मस्नेह सबसे कहें।

(२६) लखनऊ १९-१-२७

१—आप सत्यभावसे उद्योग करें सफलता होगी। पद चम्पतरायजीको 'जैनसिद्धान्तरत्न' देना ठीक होगा। अपनी कमेटीमें पास करा लेवे ड्राफ्ट फिर भेज देंगे।

२—सभापति मोतीसागरको १ दिन करें व १ दिन

प्रोफेसर हीरालालको करें, वे छपा हुआ व्याख्यान ऐतिहासिक अच्छा देंगे या जे. एल. जैनी आसकें तो अच्छा है। मोटो आप तजवीज करें। राय ले लेवें।

जैनमित्रके खास अङ्कके लिये आप प्रकाशक कापडियाजीसे पत्र व्यवहार करें।

जिनेन्द्रमतदर्पण २ प्रति व हिन्दीके दो ट्रैक्ट और जिनसे जैनधर्मका ज्ञान हो वी० पी० से

सिंघई कमलापत भगवानदास जैन वारासिवनी, जि० बालाघाट सी. पी., शीघ्र भेज दें।

(२७) लखनऊ २६-१-२७

आपकी इच्छानुसार सनातनजैनमत पुस्तक लिखकर बड़े परिश्रमसे आज रजिस्ट्रीसे भेजी है। यह बड़ी उपयोगी पुस्तक है। जल्सेमें जितने पढ़े-लिखे जैन, अजैन आवें सबको बाँटने लायक है सो आप २००० छपवालें, मूल्य भी रखें। अपनी कमेटीके मेम्बरोंको जमाकर सुना दें कोई बात बदलनेकी कहें तो मुझे पत्र द्वारा लिखें, कापीमें न बदलें जैसी मैंने लिखी है वैसी ही छापें सूरतवाले जल्दी छाप सकेंगे वे मेरे अक्षर पहचानते हैं वही अच्छे कागज टाईपमें छपवावें। मैंने सूरतको लिख दिया है। नत्थनलालजी व शम्भूदयालजीको जरूर बिठा लेना। पुस्तक सुना कर राय मेरेको लिखना, जिनेन्द्रमतदर्पण ५ प्रति अन्य कुछ हिन्दी-उर्दूके ट्रैक्ट परिषद्में बाँटनेको भेज देवें। आप भी मित्रों सहित पधारें अवश्य, यहाँ प्रचार भी कुछ होगा फिर वहाँसे गयाजी चले जावें। मेरा लेख सनातनजैनमतपर १॥ घण्टा होगा। यह प्रोग्राममें रखना, समय रातका रखना, पहले या मध्य में रखना मैं यथाशक्ति आनेकी कोशिश करूँगा। आप उत्साहसे काम करें। सर्व भाइयोंसे धर्मस्नेह कहें।

(२८) १९-३-२७

आपका जलसा ता० १३, १४, १५को है ठीक लिखें। फरीदकोट वाले ज़ोर दे रहे हैं। मैं ऐसा चाहता हूँ कि ता० १३की रातको देहलीसे जाऊँ या अगर ९॥ रातकी गाड़ीमें न जा सकूँ तो सबेरे ५ बजे जाकर ४ बजे फरीदकोट पहुँचूँ। वहाँ भाषण देकर ता० १४की रातको चलकर १५को सबेरे देहली आ-जाऊँ। वहाँसे १५की रातको अवश्य बनारस जाना होगा। ता० १७को वार्षिकोत्सव है। वहाँ जाना बहुत जरूरी है उससे धर्मकी जागृति होगी। पं० दरबारीलालके लिए सेठ ताराचन्दको बराबर लिखते रहें।

(२९) काशी ४-७-२७

लखनऊमें हमको एक जैनधर्मके ज्ञाता अजैन विद्वान्से भेंट हुई इनका पता यह है। आगामी जयन्तीपर इनसे भी लेख मँगाइये। पुस्तकों व ट्रैक्टों का प्रचार करनेको पत्रोंमें नोटिस आदि निकालने चाहिये। भाई चम्पतरायजीसे कोई धार्मिक सेवा लेनी योग्य है।

डा० प्राणनाथ डी. एस. सी. (लन्दन)
पी. एच. डी. (वायना) विद्यालङ्कार, एम. आर. ए. एस.
C/o इलाहाबाद बैङ्क, बनारस

(३०) वर्धा १६-३-२८

१—लेख भेज चुका हूँ पहुँच दें व सदुपयोग करें सूरतमें ही छपवावें।

२—काङ्गड़ीमें सार्वधर्म सम्मेलनमें मैं भाषण दे सकता हूँ। एक तो विषय मालूम हो व समय नियत होजावे। आप मण्डलकी ओरसे भिजवादें व उनका स्वीकारता पत्र मुझे भेज दें तो मैं तैयारी करूँ। वहाँ ठहरने आदिका प्रबन्ध योग्य होना उचित होगा।

३—दक्षिणमें पूनाके एक मराठी विद्वानने जैनधर्म धारण किया है वह भाषण भी दे सकता है उसका नाम जैनमित्र इस वर्षमें है उसका एक लेख छपा है मैं जैनी क्यों हुआ। आप फाइलमें देख लेवें वह आसकता है उसके लिए आप प्रोफेसर ए. बी लट्ठे दीवान कोल्हापुरको व संपादक प्रगति आणिजिन विजय साङ्गलीकेटको लिखें। जीवदया सभा आगरामें दयाके संपादक ब्राह्मण थे विद्वान् है जैनधर्म धारण किया है वह भी कुछ कह सकेंगे। (क्रमशः)

Regd. No. A-731

शेर-ओ-शायरी

[उर्दू के सर्वोत्तम १५०० शेर और १६० नज़्म]

प्राचीन और वर्तमान कवियोंमें [illegible]

लोक-प्रिय ३१ कलाकारोंके मर्मस्पर्शी पद्योंका सङ्कलन
और उर्दू-कविताकी गति-विधिका आलोचनात्मक परिचय

प्रस्तावना-लेखक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापति महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं—

'शेरोशायरी"के छ सौ पृष्ठोंमें गोयलीयजीने उर्दू-कविताके विकास और उसके चोटीके कवियोंका काव्य-परिचय दिया। यह एक कवि-हृदय, साहित्य-पारखीके आधे जीवनके परिश्रम और साधनाका फल है। हिन्दीको ऐसे ग्रन्थोंकी कितनी आवश्यकता है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं। उर्दू-कवितासे प्रथम परिचय प्राप्त करनेवालोंके लिये इन बातोंका जानना अत्यावश्यक है। गोयलीयजी जैसे उर्दू-कविताके मर्मज्ञका ही यह काम था, जो कि इतने संक्षेपमें उन्होंने उर्दू "छन्द और कविता"का चतुर्मुखीन परिचय कराया। गोयलीयजीके संग्रहकी पंक्ति-पंक्तिसे उनकी अन्तर्दृष्टि और गम्भीर अध्ययनका परिचय मिलता है। मैं तो समझता हूँ इस विषयपर ऐसा ग्रन्थ वही लिख सकते थे।"

कर्मयोगीके सम्पादक श्रीसहगल लिखते हैं—

"वर्षोंकी छानबीनके बाद जो दुर्लभ सामग्री श्रीगोयलीयजी भेंट कर रहे हैं इसका जवाब हिन्दी-संसारमें चिराग़ लेकर ढूँढनेसे भी न मिलेगा, यह हमारा दावा है।"

[illegible]

पृष्ठ संख्या [illegible] — मूल्य [illegible]

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, बनारस

प्रकाशक— [illegible]

कार्तिक, मार्गशीर्ष २००५ :: नवम्बर, दिसम्बर १९४९

वीरसेवामन्दिरका त्रयोदशवर्षीय महोत्सव

आज मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा ही आनन्द होता है कि भारतके महान् सन्त और आध्यात्मिक नेता पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य वैशाख वदि १ ता० १४ अप्रेल १९४९ को अपने सङ्घ-सहित वीरसेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)में पधार रहे हैं और वे यहाँ एक सप्ताह तक ठहरेंगे। इस स्वर्णावसरपर वैशाख वदी ५ व ६ ता० १७, १८ अप्रेल दिन रविवार तथा सोमवारको वीरसेवामन्दिरके त्रयोदशवर्षीय अधिवेशनका आयोजन किया गया है। अतः समाजके सब सज्जनोंसे सानुरोध निवेदन है कि वे इस अपूर्व समारोहके शुभावसर पर अपने परिवार तथा मित्रों-सहित अवश्य पधारनेकी कृपा करें और वीरसेवामन्दिरके अनेक उल्लेखनीय महत्वके साहित्यिक एवं ऐतिहासिक कार्योंका साक्षात्परिचय प्राप्त करनेके साथ ही पूज्य वर्णीजीके प्रवचनोंसे यथेष्ट लाभ उठावें। इस महोत्सवको सफल बनानेके लिये स्वागत-समितिका निर्माण होचुका है और उसने सोत्साह अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

अधिष्ठाता

वीरसेवामन्दिर सरसावा, जि० सहारनपुर

सम्पादकमण्डल
जुगलकिशोर 'मुख्तार'
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय

वर्ष ९
किरण ११-१२

संस्थापक प्रवर्तक
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

सञ्चालक व्यवस्थापक
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

विषय-सूची

ग्राहकोंसे ज़रूरी निवेदन

इस संयुक्त किरणके साथ अनेकान्तका जहाँ ९वाँ वर्ष समाप्त होरहा है वहाँ सब ग्राहकोंका चन्दा भी समाप्त होरहा है। अगले वर्ष अनेकान्तका मुद्रण और प्रकाशन 'भारतीय-ज्ञानपीठ' काशीके तत्त्वावधानमें बनारससे समयपर हुआ करेगा, उसकी प्रथम किरण एक विशेषाङ्कके रूपमें छपना शुरू होगई है और वह सभी ग्राहकोंको जिनका चन्दा नहीं आया है, अप्रैलके प्रायः प्रथम सप्ताहमें वी० पी०से भेजी जावेगी। अतः प्रेमी ग्राहकोंसे सानुरोध निवेदन है कि वे बनारससे वी० पी० आनेपर उसे अवश्य छुड़ानेकी कृपा करें और विशेषाङ्कके महत्वपूर्ण लेखोंसे यथेष्ट लाभ उठावें। —प्रकाशक

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

गत किरण नं० ८में प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

- ११) श्रीशिखरचन्द दीनानाथ जैन, गञ्जमुगर (ग्वालियर) सिद्धचक्रविधानके उपलक्षमें, मार्फत श्रीवृजलाल जैन।
- १०) श्रीदिगम्बर जैनसमाज बाराबङ्की, मार्फत कल्याणचन्दजी विशारद।
- ७) डा० पन्नालालजी जैन सम्भल, पुत्रविवाहोपलक्षमें, मार्फत विष्णुकान्तजी मुरादाबाद।
- २१) साहू रमेशचन्दजी नजीबाबाद, साहू मूलचन्दजीके स्वर्गवासपर निकाले दानमेंसे।
- १०) सेठ चम्पालालजी पाटनी मु० राजशाही, विवाहोपलक्षमें, मा० इन्द्रचन्दजी जैन।
- ५) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी कलकत्ता, पुत्रविवाहोपलक्षमें।
- ५) ला० नारायणदास रूड़ामलजी शामियानेवाले सहारनपुर, ला० रूड़ामलजीके स्वर्गवासपर।
- ५) श्रीभागचन्द दयाचन्दजी जैन, गोंदिया सी० पी०, पुत्रविवाहोपलक्षमें।

वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता

अनेकान्तकी गत ८वीं किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिरको जो सहायता प्राप्त हुई वह निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

- २०१) रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी नाईट, इन्दौर (पौत्रविवाहकी खुशीमें निकाले हुए दानमेंसे)।
- २५) श्रीमती कस्तूरीबाई जैन ठोरा नीमतूरवाली इन्दौर, मार्फत श्रीदौलतराम जी 'मित्र'।
- २५) ला० धूमीमल धर्मदासजी कागजी देहली और लाला मुंशीलालजी कागजी देहली (पुत्र-पुत्रीके विवाहोपलक्षमें निकाले हुए दानमेंसे)।
- १०) लाला शिब्बामलजी जैन अम्बाला छावनी (सिद्धचक्रविधानके उपलक्षमें) मार्फत पंडित दरबारीलालजी कोठिया।
- १०) ला० नारायणदास रूड़ामलजी जैन शामियानेवाले, सहारनपुर (ला० रूड़ामलजीके स्वर्गवाससे पूर्व निकाले हुए दानमेंसे)।
- ७) ला० सुरेन्द्रकुमार प्रकाशचन्दजी जैन, सुलतानपुर जि० सहारनपुर (विवाहोपलक्षमें)।

ॐ अर्हम्

'सन्मति-सिद्धसेनाङ्क'

मूल्य वार्षिक ४)

इस किरणका मूल्य ।)

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	नवम्बर
किरण ११	कार्तिकशुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत् २४७५, विक्रम-संवत् २००५	१९४८

सिद्धसेन—स्मरण

जगत्प्रसिद्ध-बोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

—हरिवंशपुराणे, श्रीजिनसेनः

प्रवादि-करि-यूथानां केशरी नय-केशरः ।
सिद्धसेन - कविर्जीयाद्विकल्प - नखराङ्कुरः ॥

—आदिपुराणे, भगवज्जिनसेनः

सदाऽवदातमहिमा सदा ध्यान-परायणः ।
सिद्धसेन - मुनिर्जीयाद्भट्टारक - पदेश्वरः ॥

—रत्नमालायां, शिवकोटिः

सदुक्ति-कल्पलतिकां सिञ्चन्तः करुणाऽमृतैः ।
कवयः सिद्धसेनाद्या वर्धयन्तु हृदिस्थिताः ॥

—यशोधरचरिते, कल्याणकीर्तिः

श्रीमन्मुनिमदनकीर्ति-विरचिता

शासन-चतुस्त्रिंशिका

---*---

[यह मुनि मदनकीर्ति विरचित एक सुन्दर एवं प्रौढ रचना है। इसमें दिगम्बर शासनका महत्व ख्यापित करते हुए उसका जयघोष किया गया है। जहाँ तक हमे ज्ञात है, इसकी मात्र एक ही प्रति उपलब्ध है और जो पिछले वर्ष श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईके पाससे पं० परमानन्दजीद्वारा वीरसेवामन्दिरको प्राप्त हुई थी। यह पाँच पत्रात्मक सटिप्पण प्रति बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है और लगभग चालीस-पैंतालीस स्थानोंपर इसके अक्षर अथवा पद-वाक्य, पत्रोंके परस्पर चिपक जाने आदिके कारण प्रायः मिट-से गये हैं और जिनके पढ़नेमें बड़ी कठिनाई महसूस होती है। प्रेमीजीने भी यह अनुभव किया है और अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' (पृ० १३६)में लिखा है—"इस प्रतिमें लिखनेका समय नहीं दिया है परन्तु वह दो-तीनसौ वर्षसे कम पुरानी नहीं मालूम होती। जगह जगह अक्षर उड़ गये हैं जिससे बहुतसे पद्य पूरे नहीं पढ़े जाते।" हमने सन्दर्भ, अर्थसंगति, अक्षरविस्तारक यंत्र आदि साधनोंद्वारा परिश्रमके साथ सब जगहके अक्षरोंको पढ़कर पद्योंको पूरा करनेका प्रयत्न किया है—सिर्फ दो जगहके अक्षर नहीं पढ़े गये और इसलिये उनके स्थानपर बिन्दु .. बना दिये गये हैं। अब तक इस कृतिके प्रकाशमें न आसकनेमें संभवतः यही कठिनाई बाधक रही जान पड़ती है। अस्तु।

इस कृतिमें कुल ३६ पद्य हैं। पहला पद्य अगले ३२ पद्योंके प्रथमाक्षरोंसे बनाया गया है जो अनुष्टुप् वृत्तमें है और अन्तिम पद्य प्रशस्ति-पद्य है जिसमें रचयिताने अपने नामोल्लेखके साथ अपनी कुछ आत्म-चर्याका संसूचन (निवेदन) किया है और जो मालिनी छन्दमें है। शेष ३४ पद्य ग्रन्थविषयसे सम्बद्ध हैं और शार्दूलविक्रीडित वृत्तमें हैं। इन चौंतीस पद्योंमे दिगम्बर शासनकी महिमा और विजय-कामना प्रकट की गई है। अतएव यह मदनकीर्तिकी रचना 'शासनचतुस्त्रिंशि (शति)का' अथवा 'शासन-चौंतीसी' जैसे सार्थक नामोंसे जैनसाहित्यमें प्रसिद्धिको प्राप्त है। इसमे विभिन्न स्थानों और वहाँके दिगम्बर जिनबिम्बोंके अतिशयों, प्रभावों और चमत्कारोंके प्रदर्शनद्वारा यह बतलाया गया है कि दिगम्बर शासन सब प्रकारसे जयकारकी क्षमता रखता है और उसके लोकमे बड़े ही प्रभाव तथा अतिशय रहे हैं। कैलाशके जिनबिम्ब, पोदनपुरके बाहुबली, श्रीपुरके पार्श्वनाथ, हुलगिरिके शंखजिन, धाराके पार्श्वनाथ, बृहत्पुरके बृहद्देव, जैनपुर (जैनबद्री)के दक्षिणगोम्मट, पूर्वदिशाके पार्श्व जिनेश्वर, वेत्रवती (नदी)के शान्तिजिन, उत्तरदिशाके जिनबिम्ब, सम्मेदशिखरके बीस तीर्थंकर, पुष्पपुरके श्रीपुष्पदन्त, नागद्रहतीर्थके नागह्रदेश्वरजिन, सम्मेदशिखरकी अमृतवापिका, पश्चिमसमुद्रतटके चन्द्रप्रभजिन, छायापार्श्व विभु, श्रीआदिजिनेश्वर, पावापुरके श्रीवीरजिन, गिरनारके श्रीनेमिनाथ, चम्पापुरीके श्रीवासुपूज्य, नर्मदाके जल-से अभिषिक्त श्रीशान्तिजिनेश्वर, अवरोधनगरके मुनिसुव्रतजिन, विपुलगिरिका जिनबिम्ब, विन्ध्यगिरिके जिनचैत्यालय, मेदपाट (मेवाड़) देशस्थ नागफणीग्रामके श्रीमल्लिजिनेश्वर और मालवदेशस्थ मगलपुर के श्रीअभिनन्दनजिन इन २६ के अतिशयो तथा चमत्कारोंका इसमें कथन है। साथ ही, यह भी प्रतिपादन किया गया है कि वैशेषिक (कणाद), मायावी, योग, साख्य, चार्वाक और बौद्धों द्वारा भी दिगम्बर शासन समाश्रित हुआ है। इस तरह यह रचना एक प्रकारसे दिगम्बर शासनके प्रभावकी प्रकाशिका है।

इसके कर्ता मुनिमदनकीर्ति प० आशाधरजीके, जिनका समय विक्रमकी १३वीं शताब्दी सुनिश्चित है, समकालीन थे और इसलिये इनका समय भी वि० की १३वीं शताब्दी है।

प्रस्तुत रचना हिन्दी अनुवादके साथ वीरसेवामन्दिरसे यथाशीघ्र प्रकाशित की जायेगी। और उसमें रचना तथा रचयिताके सम्बन्धमे विस्तृत प्रकाश डाला जायेगा। —दरबारीलाल कोठिया]

यस्यापवासाद्धालोयं ययौ सोपाश्रयं स्वयं ।
मुक्त्वसौ यतिर्जैनमुमुक्षुः श्रीपूज्यसिद्धयः[1] ॥ १ ॥

यद्दीपस्य शिखेव भाति भविनां नित्यं पुनः पर्वसु
भूभृन्मूर्द्धनि वासिनामुपचित-प्रीति-प्रसन्नात्मनाम् ।
कैलाशे जिनबिम्बमुत्तमधमत्सौवर्णवर्णं सुरा
वन्द्यन्तेऽद्य दिगम्बरं तदमलं दिग्वाससां शासनम् ॥ १ ॥

पादाङ्गुष्ट-नख-प्रभासु भविनामाऽऽभान्ति पश्चाद्भवा
यस्यात्मीयभवा जिनस्य पुरतः[2] स्वस्योपवास-प्रमाः ।
अद्याऽपि प्रतिभाति *पोदनपुरे* यो वन्द्य-वन्द्यः स वै
देवो *बाहुबली* करोतु बलवद्दिग्वाससां शासनम् ॥ २ ॥

पत्रं यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातुं क्षणं न क्षमं
तत्राऽऽस्ते[3] गुणरत्नरोहणगिरिर्यो देवदेवो महान् ।
चित्रं नाऽत्र करोति कस्य मनसो दृष्टः[4] पुरे *श्रीपुरे*
स *श्रीपार्श्वजिनेश्वरो* विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥ ३ ॥

वासं *सार्थपतेः*[5] पुरा कृतवतः शङ्खान् गृहीत्वा बहून्
सद्धर्मोद्यतचेतसो *हुलगिरौ* कस्याऽपि धन्यात्मनः ।
प्रातर्मार्गमुपेयुषो न चालिता शङ्खस्य गोणी पदं
यावच्छङ्ख*जिनो*[6] निरावृति[7]रभाद्दिग्वाससां शासनम् ॥ ४ ॥

सानन्दं निधयो[8] नवाऽपि नवधा यं[9] स्थापयाञ्चक्रिरे
वाप्यां पुण्यवतः स कस्यचिदहो स्वं[10] स्वादिदेश प्रभुः[11] ।
धारायां धरणोरगाधिप-शित-च्छत्र-श्रिया राजते
श्रीपार्श्वो नवखण्ड-मण्डित-तनुर्दिग्वाससां शासनम्[12] ॥ ५ ॥

द्वापञ्चाशदनूनपाणिपरमोन्मानं करैः[13] पञ्चभि-
र्यं चक्रे जिनमर्ककीर्तिनृपतिर्ग्रावाणमेकं महत्[14] ।
तत्राऽत्रा स[15] *बृहत्पुरे* *वरबृहद्देवाख्यया* गीयते
[16]*श्रीमत्यादिनिषिद्धिकेयमवताद्दिग्वाससां* शासनम् ॥ ६ ॥

लोकैः पञ्चशतीमितैरविरतं सहत्य निष्पादितं
यत्कल्पान्तरमेकमेव महिमा सोऽन्यस्य कस्याऽस्तु भो ! ।
यो देवैरतिपूज्यते प्रतिदिनं *जैने पुरे* साम्प्रतं
देवो *दक्षिणगोम(म्म)टः* स जयताद्दिग्वाससां शासनम् ॥ ७ ॥

यं दुष्टो न हि पश्यति क्षणमपि प्रत्यक्षमेवाऽखिलं
सम्पूर्णावयवं मरीचिनिचयं शिष्टः पुनः पश्यति ।

---

१ (अग्रेतन)वृत्तानामाद्यक्षरै(र्निर्मितः) श्लोकोऽयम् । २ अग्रतः अग्रे भवाः आत्मीयभवाः आभान्ति । ३ यः पार्श्वजिनेश्वरः तत्र विहायसि (नभसि) आस्ते । ४ दृष्टः सन् । ५ सागरदत्ताभिधानस्य । ६ तावत् शंखदेवः । ७ दिगम्बररूपः । ८ कर्त्तारः । ६ कमंतापन्नं । १० स्वकीय स्वरूपं । ११ यः प्रभुः श्रीपार्श्वनाथः । १२ प्रति । १३ पचभिः करैः सह द्वापञ्चाशत् सप्तपञ्चाशत् इत्यर्थः । १४ कथंभूतं शासनं महत् । १५ स जिनः । १६ इयं श्रीमती आदि निषिद्धिका इति च लोकैर्गीयते ।

पूर्वस्यां दिशि पूर्वमेव पुरुवैः सम्पूज्यते[1] सन्ततं
स *श्रीपार्श्वजिनेश्वरो* दृढयते दिग्वाससां शासनम् ॥ ८ ॥
यः पूर्वं भुवनैकमण्डनमणिः *श्रीविश्वसेनाऽऽदरात्*
निश्चकाम महोदधेरिव हृदात्सद्रत्नवत्याऽद्भुतम् ।
क्षुद्रोपद्रव - वर्जितोऽवनितले लोकं नरीनर्त्तयन्
स श्रीशान्तिजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम्[2] ॥९॥
यौगा यं परमेश्वरं हि कपिलं सांख्या निजं[3] *योगिनो*
बौद्धा बुद्धमजं[4] *हरिं द्विजवरा* जल्पन्त्युदीच्यां दिशि ।
निश्चीरं[5] वृषलाञ्छनं ऋजुतनुं देवं जटाधारिणं
निर्ग्रन्थं परमं तमाहुरमलं दिग्वाससां शासनम्[6] ॥१०॥
सोपानेषु सकष्टमिष्टसुकृतादारुह्य यान् वन्दति
सौधर्माधिपतिप्रतिष्ठितवपुष्काये जिना[7] विंशतिः ।
प्रख्याः स्वप्रमितिप्रभाभिरतुला *सम्मेदपृथ्वीरुहि*
भव्योऽन्यस्तु[8] न पश्यति ध्रुवमिदं दिग्वाससां शासनम् ॥११॥
पाताले परमादरेण परया भक्त्याऽर्चितो व्यन्तरै-
र्यो देवैरधिकं स तोषमगमत्कस्या[9]ऽपि पुंसः पुरा ।
भूभृन्मध्यतलादुपर्यनुगतः[10] *श्रीपुष्पदन्तः* प्रभुः
श्रीमत्पुष्पपुरे विभाति नगरे दिग्वाससां शासनम्[11] ॥१२॥
स्रष्टेति *द्विजनायकैर्हरि*रिति .... *वेश्रवै*
बौद्धैर्बुद्ध इति प्रमोदविवशैः *शूलीति माहेश्वरैः* ।
कुष्टानिष्ट-विनाशनो जनदृशां योऽलक्ष्यमूर्ति[12] विभुः
स *श्रीनागहृदेश्वरो* जिनपतिर्दिग्वाससां शासनम्[13] ॥१३॥
यस्याः पाथसि नामविंशतिभिदा पूजाऽष्टधा क्षिप्यते
मंत्रोच्चारण - बन्धुरेण युगपन्निर्ग्रन्थरूपात्मनाम् ।
श्रीमत्तीर्थकृतां यथायथमियं संसंपनीपद्यते
सम्मेदामृतवापिकेयमवताद्दिग्वाससां शासनम् ॥१४॥
स्मार्त्ताः[14] पाणिपुटोदनादनमिति ज्ञानाय मित्र - द्विषो-
रात्मन्यत्र च साम्यमाहुरसकृन्नैर्ग्रन्थ्यमेकाकितां ।
प्राणि - क्षान्तिमद्वेषतामुपशमं *वेदान्तिकाश्चापरे*[15]
तद्विद्धि प्रथमं पुराण-कलितं दिग्वाससां शासनम् ।।१५॥
यस्य स्नानपयोऽनुलिप्तमखिलं कुष्टं दनीध्वस्यते
सौवर्णस्तवकेशनिर्म्मितमिव क्षेमङ्करं विग्रहम् ।
शश्वद्भक्तिविधायिनां शुभतमं *चन्द्रप्रभः* स प्रभुः
तीरे पश्चिमसागरस्य जयताद्दिग्वाससां शासनम्[16] ॥१६॥
शुद्धे सिद्धशिलातले सुविमले पञ्चामृतस्नापिते
कर्पूरागुरु - कुंकुमादिकुसुमैरभ्यर्चिते सुन्दरैः ।

---

१ यः सम्पूज्यते । २ प्रति । ३ निजं परमेश्वरं । ४ ब्रह्माणं । ५ अवस्त्रं । ६ प्रति । ७ सन्तीति अध्याहारः । ८ तु पुनः । ९ कस्यचित् । १० सन् । ११ प्रति । १२ सन् । १३ प्रति । १४ स्मृतिपाठकाः । १५ आहुः इति क्रिया अत्रापि योज्या । १६ प्रति ।

फुल्लत्कार - फणापति - स्फुटफटा - रत्नावली - भासुरः
छायापार्श्वविभुः स भाति जयताद्दिग्वाससां शासनम्[1] ॥१७॥
क्षाराम्भोधिपयः सुधाद्रव इव प्रत्यक्षमाऽऽस्वाद्यते
.... रसकृत् यच्छायया संभरत् ।
पूतंपूततमः स पञ्चशतको दण्डप्रमाणः प्रभुः
श्रीमानादिजिनेश्वरो स्थिरयते दिग्वाससां शासनम् ॥१८॥
तिर्यञ्चोऽपि नमन्ति यं निज-गिरा गायन्ति भक्त्याशया
दृष्टे[2]यस्य पदद्वये शुभदृशो[3] गच्छन्ति नो दुर्गतिम् ।
देवेन्द्रार्चित - पाद - पङ्कज - युगः पावापुरे पापहा
श्रीमद्वीरजिनः स रक्षतु सदा दिग्वाससां शासनम् ॥१९॥
सौराष्ट्रे यदुवंश-भूषण-मणेः श्रीनेमिनाथस्य या
मूर्त्तिर्मुक्तिपथोपदेशन - परा शान्ताऽऽयुधाऽपोहनात् ।
वस्त्राभरणैर्विना गिरिवरे[4] देवेन्द्र - संस्थापिता
चित्त-भ्रान्तिमपाकरोतु जगतो दिग्वाससां शासनम्[5] ॥ २० ॥
यस्याऽद्याऽपि सुदुन्दुभि-स्वरमलं पूजां सुराः कुर्वते
भव्य[6]प्रेरित-पुष्प-गन्ध-निचयोऽध्यारोहति क्ष्मा (भू) तले ।
नित्यं नूतन - पूजयाऽर्चित - तनुः श्रीवासुपूज्योऽवभात्
चम्पायां परमेश्वरः सुखकरो दिग्वाससां शासनम् ॥ २१ ॥
तिर्यग्वेपमुपास्य पश्यत तपो वैशेषिकेना(णा)ऽऽदरात्
भव्योत्सृष्ट - कणैरवश्यमसम - ग्रासं सदा कुर्वता ।
चक्रे घोरमनन्यचीर्णमखिलं कर्म्माऽऽनिहन्तु त्वरा
तत्तेनाऽपि समाश्रितं सुविशदं दिग्वाससां शासनम् ॥ २२ ॥
जैनाभासमतं विधाय कुधिया यैरप्यदो मायया
ह्रस्वारम्भ-प्रहाश्रयां हि विविधग्रामः स वासा (सां) पतिः ।
भाण्डांदण्डकरोऽर्च्यते स च पुनः निर्ग्रन्थलेशस्ततो
युक्त्या तैरपि साधु भाषितमिदं दिग्वाससां शासनम ॥ २३ ॥
नाऽभुक्तं किल कर्म्मजालमसकृत संहन्यते जन्मिनां
योगा इत्यवबुध्य भस्म - कलितं देहं जटा - धारिणं ।
मूद्भ्रम स्थाचरणं च भैक्ष्यमशनं ये चक्रिरे तैरपि
प्रोक्तं हि प्रथमं प्रवन्द्यममलं दिग्वाससां शासनम ॥ २४ ॥
मूर्त्तिः कर्म्म शुभाऽशुभं हि भविनां भुंक्ते पुनश्चेतनः[7]
शुद्धो[8]निर्मल-निःक्रिया-गुण इहाऽकर्त्तेति सांख्योऽब्रवीन ।
संसर्गस्तदृष्टरूपजनितस्तेनाऽपि संमन्यते
वै तेनाऽपि समाश्रितं सुविशदं दिग्वाससां शासनम् ॥ २५ ॥
चार्वाकैश्चरितोज्झितैरभिमतो जन्मादि - नाशान्तको[9]
जीवः क्ष्मादिमयस्तथाऽस्य न पुनः स्वर्गापवर्गौ क्वचित् ।

---

१ प्रति । २ सति । ३ सम्यग्दृष्टयः । ४ गिरिनारपर्वते । ५ प्रति । ६ यस्येति अत्रापि सम्बन्धो (सम्बद्ध्यते इति) ज्ञेयः । ७ आत्मा । ८ शुद्धः सन् । ९ जन्म आदौ यस्य स जन्मादिः । नाशोऽन्ते यस्यासौ नाशान्तः । पश्चात् कर्मधारयः । स्वार्थे कः ।

न्यायाऽऽयातवचोऽनुसार - धिषणैरात्मान्तरं मन्यते
यैस्तैव(स्तैवं)चितमेव देवपरमं दिग्वाससां शासनम् ॥ २६ ॥
*श्रीदेवी*प्रमुखाभिरर्चितपदाम्भोजः सुरा (मुदा)पि कश्चिन्
कल्याणेऽत्र निवेशितः पुनरतो नो चालितुं शक्यते ।
यः पूज्यो *जलदेवताभिरतुल* - *सन्नर्मदा* - पाथसि
*श्रीशान्ति*र्विमलं स रक्षतु सदा दिग्वाससां शासनम् ॥ २७ ॥
पूर्वं या श्रममाजगाम सरितां नाथास्तु दिव्या शिला
तस्यां देवगणान् द्विजस्य दधतस्तस्थौ जिनेशः स्थिरम् ।
कोपाद्विप्रजनावरोधनगरे देवैः प्रपूज्याम्बरे
दध्रे यो *मुनिसुव्रतः* स जयताद्दिग्वाससां शासनम् ॥ २८ ॥
जा(ज्या)यानामपरिग्रहोऽपि भविनां भूयाद्यदि श्रेयसे
तत्कस्यास्ति न सोऽधमोऽपि विधिना ह्रस्वस्तदर्थं मतः ।
क्षीणारम्भपरिग्रहं शिवपदं को वा न वा मन्यते
इत्याऽऽलौकिकभाषितं विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥ २९ ॥
सिक्ते सत्सरितोऽम्बुभिः शिखरिणः सम्पूज्य देशे वरे
सानन्दं *विपुलस्य* शुद्धहृदयैरित्येव भव्यैः स्थितैः ।
निर्ग्रन्थं परमर्हतो यदमलं बिम्बं दरीदृश्यते
यावद्द्वादशयोजनानि तदिदं दिग्वाससां शासनम् ॥ ३० ॥
धर्माऽधर्म - शरीर - जन्य - जनक - स्वर्गापवर्गादिके
सर्वस्मिन् क्षणिके न कस्यचिदहो तद्बन्ध-मोक्ष-क्षणः ।
इत्याऽऽलोक्य सुनिर्मलेन मनसा तेनाऽपि यन्मन्यते
*बौद्धेना*ऽऽत्मनिबन्धनं हि तदिदं दिग्वाससां शासनम् ॥ ३१ ॥
यस्मिन् भूरिविधातुरेकमनसो भक्ति नरस्याऽधुना
तत्कालं जगतां त्रयेऽपि विदिता जैनेन्द्रबिम्बालयाः ।
प्रत्यक्षा इव भान्ति निर्मलदृशां देवेश्वराऽभ्यर्चिता
विन्ध्ये भूरुहि भासुरेऽतिमहिते दिग्वाससां शासनम् ॥३२॥
आस्ते सम्प्रति *मेदपाटविषये* ग्रामो गुणग्रामभू-
नाम्ना *नागफणी*ति तत्र कृषता लब्धा शिला केनचित् ।
स्वप्नं *वृद्धमहार्जिका*मिह ददौ स्वाकारनिर्मापणे
स *श्रीमल्लि*जिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥३३॥
श्रीमन्मालवदेश - मङ्गलपुरे म्लेच्छैः प्रतापागतैः
भग्ना मूर्त्तिरथोऽभियोजित-शिराः सम्पूर्णतामाऽऽययौ ।
यस्यापद्रवनाशिनः कलियुगेऽनेकप्रभावैर्युतः
स *श्रीमानभिनन्दनः* स्थिरयतु दिग्वाससां शासनम् ॥३४॥

इतिहि *मदनकीर्ति*श्चिन्तयन्नाऽऽत्मचित्ते
विगलति सति रात्रेस्तुर्यभागार्द्धभागे ।
कपट-शत-विलासान् दुष्टवागन्धकारान्
जयति विहरमाणः साधुराजीव-बन्धुः ॥३५॥

इति शासनचतुस्त्रिंशी (चतुस्त्रिंशिका) समाप्ता ।

सिद्धसेन-स्वयम्भूस्तुतिः

[प्रथमा द्वात्रिंशिका]

(उपजातिः)

स्वयम्भुवं भूत-सहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षर-भाव-लिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहत-विश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥ १ ॥
समन्त-सर्वाक्ष-गुणं निरक्षं स्वयम्प्रभं सर्वगताऽवभासम् ।
अतीत-संख्यानमनन्तकल्पमचिन्त्यमाहात्म्यमलोकलोकम् ॥ २ ॥
कुहेतु-तर्कोपरत-प्रपञ्च-सद्भाव-शुद्धाऽप्रतिवादवादम् ।
प्रणम्य सच्छासन-वर्धमानं स्तोष्ये यतीन्द्रं जिनवर्धमानम् ॥ ३ ॥
न काव्य-शक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न वीर-कीर्ति-प्रतिबोधनेच्छया ।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञ-पूज्योऽसि यतोऽयमादरः ॥ ४ ॥
परस्पराक्षेप-विलुप्त-चेतसः स्ववाद-पूर्वाऽपर-मूढ-निश्चयान् ।
समीक्ष्य तत्त्वोत्पथिकान् कुवादिनः कथं पुमान् स्याच्छिथिलादरस्त्वयि ॥५॥
वदन्ति यानेव गुणान्धचेतसः समेत्य दोषान् किल ते स्वविद्विषः ।
त एव विज्ञान-पथागताः सतां त्वदीय-सूक्त-प्रतिपत्ति-हेतवः ॥ ६ ॥
कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु स्वमांस-दानेष्वपि मुक्तचेतसः ।
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशलं स्वतः कृपां संजनयन्त्यमेधसः ॥ ७ ॥
जनोऽयमन्यः करुणात्मकैरपि स्वनिश्चित-क्लेश-विनाश-काहलैः ।
विकुत्सयंस्त्वद्वचनाऽमृतौषधं न शान्तिमाप्नोति भवार्ति-विक्लवः ॥ ८ ॥
प्रपञ्चित-क्षुल्लक-तर्क-शासनैः पर-प्रणेयाऽल्पमतिर्भवासनैः ।
त्वदीयसन्मार्गविलोमचेष्टितः कथं नु न स्यात्सुचिरं जनोऽजनः ॥ ९ ॥
परस्परं क्षुद्रजनः प्रतीपगानिहैव दण्डेन युनक्ति वा न वा ।
निरागमस्त्वत्प्रतिकूलवादिनो दहन्त्यमुत्रेह च जाल्मवादिनः ॥१०॥
अविद्यया चेद्युगपद्विलक्षणं क्षणादि कृत्स्नं न विलोक्यते जगत् ।
ध्रुवं भवद्वाक्यविलोमदुर्नयांश्चिरानुगांस्तानुपगूह्य शेरते ॥११॥
समृद्धपत्रा अपि सच्छिखण्डिनो यथा न गच्छन्ति गतं गरुत्मतः ।
सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्तथा न ते गतं यातुमलं प्रवादिनः ॥१२॥
य एष षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः ।
अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥१३॥
वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं पराऽनुकम्पासफलं च भाषितम् ।
न यस्य सर्वज्ञ-विनिश्चयस्त्वयि द्वयं करोत्येतदसौ न मानुषः ॥१४॥
अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः ।
न तावदप्येकसमूह-संहताः प्रकाशयेयुः परवादि-पार्थिवाः ॥१५॥

यदा न संसार-विकार-संस्थितिर्विगाह्यते त्वत्प्रतिघातनोन्मुखैः ।
शठैस्तदा सज्जनवल्लभोत्सवो न किञ्चिदस्तीत्यभयैः प्रबोधितः ॥१६॥
स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सरा यथाऽन्यशिष्याः स्वरुचि-प्रलापिनः ।
निरुक्तसूत्रस्य यथार्थवादिनो न तत्तथा यत्तव कोऽत्र विस्मयः ॥१७॥
नय-प्रभङ्गाऽपरिमेयविस्तरैरनेकभङ्गाऽभिगमार्थ-पेशलैः ।
अकृत्रिम-स्वादुपदैर्जनं जनं जिनेन्द्र साक्षादिव पासि भाषितैः ॥१८॥
विलक्षणानामविलक्षणा सतां त्वदीयमाहात्म्य-विशेष-सम्भली ।
मनांसि वाचामपि मोहपिच्छलान्युपेत्य तेऽत्यद्भुत भाति भारती ॥१९॥
असत्सदेवेति परस्पर-द्विषः प्रवादिनः कारण-कार्य-तार्किणः ।
तुदन्ति यान वाग्विषकण्टकान्त तैर्भवाननेकान्त शिवोक्तिरर्यत ॥२०॥
निसर्ग-नित्य-क्षणिकार्थ वादिनः तथा महत्सूक्ष्म-शरीर-दर्शिनः ।
यथा न सम्यङ्मतयस्तथा मुने भवाननेकान्त-विनीतमुक्तवान ॥२१॥
मुखं जगद्धर्मविविक्ततां परे वदन्ति तेष्वेव च यान्ति गौरवम ।
त्वया तु येनैव मुखेन भाषितं तथैव ते वीर गतं सुतैरपि ॥२२॥
तपोभिरेकान्त-शरीर-पीडनैर्व्रताऽनुबन्धैः श्रुत-सम्पदाऽपि वा ।
त्वदीय-वाक्य-प्रतिबोध-पेलवैरवाप्यते नैव शिवं चिरादपि ॥२३॥
न राग-निर्भर्त्सन-यन्त्रमीदृशं त्वदन्यदृग्भिश्शलितं विगाहितम् ।
यथेयमन्तःकरणोपयुक्तता बहिश्च चित्रं कलिलामनं तपः ॥२४॥
विराग-हेतु-प्रभवं न चेत्सुखं न नाम तत्किञ्चिदिति स्थिता वयम् ।
स चेन्निमित्तं स्फुटमेव नास्ति न त्वदन्यतः स त्वयि येन केवलः ॥२५॥
न कर्म कर्तारमतीत्य वर्तते य एव कर्ता स फलान्युपाश्नुते ।
तदष्टधा पुद्गल-मूर्ति-कर्मजं यथात्थ नैवं भुवि कश्चनाऽपरः ॥२६॥
न मानसं कर्म न देहवाङ्मयं शुभाऽशुभ-ज्येष्ठ-फलं विभागशः ।
यदात्थ तेनैव समीक्ष्य-कारिणः शरण्य सन्तस्त्वयि नाथ बुद्धयः ॥२७॥
यदा न कोपादि-वियुक्त लक्षणं न चाऽपि कोपादि-समस्त-लक्षणम ।
त्वमात्थ सत्त्वं परिणाम लक्षण तदेव ते वीर विबुद्धलक्षणम ॥२८॥
क्रियां च सज्ज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रिया विहीनां च विबोध-सम्पदम ।
निरस्यता क्लेश-समूह-शान्तये त्वया शिवायाऽऽलिखितेव पद्धतिः ॥२९॥
सुनिश्चितं नः परतन्त्र-युक्तिषु स्फुरन्ति याः काश्चनसूक्त सम्पदः ।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाणं जिन वाक्यविप्रुषः ॥३०॥
शताध्वराद्या लवसप्तमोत्तमाः सुरर्षभा दृष्टपरापरास्त्वया ।
त्वदीय योगाऽऽगम-मुग्ध शक्तयस्त्यजन्ति मानं सुरलोकजन्मजम ॥३१॥

(शिखरिणी)

जगन्नैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं
यदेतत्प्रत्यक्षं तव न च भवान कस्यचिदपि ।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृतिरस सिद्धेस्तु विदुषां
समीक्ष्यैतद्द्वारं तव गुणकथोत्का वयमपि ॥३२॥

इति श्रीसिद्धसेनाचार्य-प्रणीत-स्वयम्भूस्तुतिः ।

सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन

[श्रीजुगलकिशोर मुख्तार]

'सन्मतिसूत्र' जैनवाङ्मयमें एक महत्वका गौरवपूर्ण ग्रन्थरत्न है, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें समानरूपसे माना जाता है। श्वेताम्बरोंमें यह 'सम्मतितर्क', 'सम्मतितर्कप्रकरण' तथा 'सम्मतिप्रकरण' जैसे नामोंसे अधिक प्रसिद्ध है, जिनमें सन्मति'की जगह 'सम्मति' पद अशुद्ध है और वह प्राकृत 'सम्मइ' पदका गलत संस्कृत रूपान्तर है। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने, ग्रन्थका गुजराती अनुवाद प्रस्तुत करते हुए, प्रस्तावनामें इस गलतीपर यथेष्ट प्रकाश डाला है और यह बतलाया है कि 'सन्मति' भगवान् महावीरका नामान्तर है जो दिगम्बर-परम्परामें प्राचीनकालसे प्रसिद्ध तथा 'धनञ्जयनाममाला'में भी उल्लेखित है, ग्रन्थ-नामके साथ उसकी योजना होनेसे वह महावीरके सिद्धान्तोंके साथ जहाँ ग्रन्थके सम्बन्धको दर्शाता है वहाँ श्लेषरूपसे श्रेष्टमति अर्थका सूचन करता हुआ ग्रन्थकर्ताके योग्य स्थानको भी व्यक्त करता है और इसलिये औचित्यकी दृष्टिसे 'सम्मति'के स्थानपर 'सन्मति' नाम ही ठीक बैठता है। तदनुसार ही उन्होंने ग्रन्थका नाम 'सन्मति-प्रकरण' प्रकट किया है। दिगम्बर-परम्पराके धवलादिक प्राचीन ग्रन्थोंमें यह सन्मतिसूत्र (सम्मइसुत्त) नामसे ही उल्लेखित मिलता है[1] और यह नाम सन्मति-प्रकरण नामसे भी अधिक औचित्य रखता है; क्योंकि इसकी प्रायः प्रत्येक गाथा एक सूत्र है अथवा अनेक सूत्रवाक्योंको साथमें लिये हुए है। पं० सुखलालजी आदिने भी प्रस्तावना (पृ० ६३)में इस बातको स्वीकार किया है कि 'सम्पूर्ण सन्मति ग्रन्थ सूत्र कहा जाता है और इसकी प्रत्येक गाथाको भी सूत्र कहा गया है।' भावनगरकी श्वेताम्बर सभासे वि० सं० १९६५में प्रकाशित मूलप्रतिमें भी "श्रीसंमतिसूत्रं समाप्तमिति भद्रम्" वाक्यके द्वारा इसे सूत्र नामके साथ ही प्रकट किया है—तर्क अथवा प्रकरण नामके साथ नहीं।

इसकी गणना जैनशासनके दर्शन-प्रभावक ग्रन्थोंमें है। श्वेताम्बरोंके 'जीतकल्पचूर्णि' ग्रन्थकी श्रीचन्द्रसूरि-विरचित 'विषमपदव्याख्या' नामकी टीकामें श्रीअकलङ्कदेवके 'सिद्धि-विनिश्चय' ग्रन्थके साथ इस 'सन्मति' ग्रन्थका भी दर्शन-प्रभावक ग्रन्थोंमें नामोल्लेख किया गया है और लिखा है कि "ऐसे दर्शनप्रभावक शास्त्रोंका अध्ययन करते हुए साधुको अकल्पित प्रतिसेवनाका दोष भी लगे तो उसका कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है वह साधु शुद्ध है।' यथा—

"दंसण त्ति—दंसण-पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-सम्मत्यादि गिण्हंतोऽसंथरमाणो जं अकप्पियं पडिसेवइ जयणाए तत्थ सो सुद्धोऽप्रायश्चित्त इत्यर्थः[2]।"

इससे प्रथमोल्लेखित सिद्धिविनिश्चयकी तरह यह ग्रन्थ भी कितने असाधारण महत्वका है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। ऐसे ग्रन्थ जैनदर्शनकी प्रतिष्ठाको स्व-पर हृदयोंमें अङ्कित करनेवाले होते हैं। तदनुसार यह ग्रन्थ भी अपनी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये हुए है।

---

१ "अणेण सम्मइसुत्तेण सह कथमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे ? इदि ण, तत्थ पज्जायस्स लक्खणं खइणो भावब्भुवगमादो।" (धवला १)

"ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोहो उजुसुद-णय विसय-भावणिक्खेवमस्सिदूण तप्पउत्तीदो।" (जयधवला १)

२ श्वेताम्बरोंके निशीथ ग्रन्थकी चूर्णिमें भी ऐसा ही उल्लेख है:—

"दंसणगाही- दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-संमतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो [illegible]"

इस ग्रन्थके तीन विभाग हैं जिन्हें 'काण्ड' संज्ञा दी गई है। प्रथम काण्डको कुछ हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियोंमें 'नयकाण्ड' बतलाया है—लिखा है "नयकण्डं सम्मत्तं"—और यह ठीक ही है; क्योंकि सारा काण्ड नयके ही विषयको लिये हुए है और उसमें द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दो नयोंको मूलाधार बनाकर और यह बतलाकर कि 'तीर्थङ्कर वचनोंके सामान्य और विशेषरूप प्रस्तारके मूलप्रतिपादक ये ही दो नय हैं—शेष सब नय इन्हींके विकल्प हैं'[1], उन्हींके भेद-प्रभेदों तथा विषयका अच्छा सुन्दर विवेचन और संसूचन किया गया है। दूसरे काण्डको उन प्रतियोंमें 'जीवकाण्ड' बतलाया है—लिखा है "जीवकंडयं सम्मत्तं"। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीकी रायमें यह नामकरण ठीक नहीं है, इसके स्थानपर 'ज्ञानकाण्ड' या 'उपयोगकाण्ड' नाम होना चाहिये; क्योंकि इस काण्डमें, उनके कथनानुसार जीवतत्त्वकी चर्चा ही नहीं है—पूर्ण तथा मुख्य चर्चा ज्ञानकी है। यह ठीक है कि इस काण्डमें ज्ञानकी चर्चा एक प्रकारसे मुख्य है परन्तु वह दर्शनकी चर्चाको भी साथ लिये हुए है—उसीसे चर्चाका प्रारम्भ है—और ज्ञान-दर्शन दोनों जीवद्रव्यकी पर्याय हैं, जीवद्रव्यसे भिन्न उनकी कहीं कोई सत्ता नहीं, और इसलिये उनकी चर्चाको जीवद्रव्यकी ही चर्चा कहा जासकता है। फिर भी ऐसा नहीं है कि इसमें प्रकटरूपसे जीवतत्त्वकी कोई चर्चा ही न हो—दूसरी गाथामें 'दव्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होई' इत्यादिरूपसे जीवद्रव्यका कथन किया गया है, जिसे पं. सुखलालजी आदिने भी अपने अनुवादमें "आत्मा दर्शन वखते" इत्यादिरूपसे स्वीकार किया है। अनेक गाथाओंमें कथन-सम्बन्धको लिये हुए सर्वज्ञ, केवली, अर्हन्त तथा जिन जैसे अर्थपदोंका भी प्रयोग है जो जीवके ही विशेष हैं। और अन्तकी 'जीवो अणाइ-णिहणो'से प्रारम्भ होकर 'अण्णे वि य जीवपज्जाया' पर समाप्त होनेवाली सात गाथाओंमें तो जीवका स्पष्ट ही नामोल्लेखपूर्वक कथन है—वही चर्चाका विषय बना हुआ है। ऐसी स्थितिमें यह कहना समुचित प्रतीत नहीं होता कि 'इस काण्डमें जीवतत्त्वकी चर्चा ही नहीं है' और न 'जीवकाण्ड' इस नामकरणको सर्वथा अनुचित अथवा अयथार्थ ही कहा जा सकता है। कितने ही ग्रन्थोंमें ऐसी परिपाटी देखनेमें आती है कि पर्व तथा अधिकारादिके अन्तमें जो विषय चर्चित होता है उसीपरसे उस पर्वादिकका नामकरण किया जाता है[2], इस दृष्टिसे भी काण्डके अन्तमें चर्चित जीवद्रव्यकी चर्चाके कारण उसे 'जीवकाण्ड' कहना अनुचित नहीं कहा जा सकता। अब रही तीसरे काण्डकी बात, उसे कोई नाम दिया हुआ नहीं मिलता। जिस किसीने दो काण्डोंका नामकरण किया है उसने तीसरे काण्डका भी नामकरण जरूर किया होगा, सम्भव है खोज करते हुए किसी प्राचीन प्रतिपरसे वह उपलब्ध हो जाए। डा० पी० एल० वैद्य एम० ए०ने न्यायावतारकी प्रस्तावना (Introduction)में, इस काण्डका नाम असन्दिग्धरूपसे 'अनेकान्तवादकाण्ड' प्रकट किया है। मालूम नहीं यह नाम उन्हें किस प्रतिपरसे उपलब्ध हुआ है। काण्डके अन्तमें चर्चित विषयादिकका दृष्टिसे यह नाम भी ठीक हो सकता है। यह काण्ड अनेकान्तदृष्टिको लेकर अधिकांशमें सामान्य-विशेषरूपसे अर्थकी प्ररूपणा और विवेचनाको लिये हुए है, और इसलिये इसका नाम 'सामान्य-विशेषकाण्ड' अथवा 'द्रव्य-पर्याय-काण्ड' जैसा भी कोई हो सकता है। पं. सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने इसे 'ज्ञेय-काण्ड' सूचित किया है, जो पूर्व-काण्डको 'ज्ञानकाण्ड' नाम देने और दोनों काण्डोंके नामोंमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत प्रवचनसारके ज्ञान-ज्ञेयाधिकारनामोंके साथ समानता लानेकी दृष्टिसे सम्बद्ध जान पड़ता है।

---

१ तित्थयर-वयण-संगह-विसेस-पत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं ॥३॥

२ जैसे जिनसेनकृत हरिवंशपुराणके तृतीय सर्गका नाम 'श्रेणिकप्रश्नवर्णन', जब कि प्रश्नके पूर्वमें वीरके

इस ग्रन्थकी गाथा-संख्या ५४, ४३, ७०के क्रमसे कुल १६७ है। परन्तु पं० सुखलाल-जी और पं० बेचरदासजी उसे अब १६६ मानते हैं; क्योंकि तीसरे काण्डमें अन्तिम गाथाके पूर्व जो निम्न गाथा लिखित तथा मुद्रित मूलप्रतियोंमें पाई जाती है उसे वे इसलिये बादको प्रक्षिप्त हुई समझते हैं कि उसपर अभयदेवसूरिकी टीका नहीं है:—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥ ६९ ॥

इसमें बतलाया है कि 'जिसके बिना लोकका व्यवहार भी सर्वथा बन नहीं सकता उस लोकके अद्वितीय (असाधारण) गुरु अनेकान्तवादको नमस्कार हो।' इस तरह जो अनेकान्तवाद इस सारे ग्रन्थकी आधार-शिला है और जिसपर उसके कथनोंकी ही पूरी प्राण-प्रतिष्ठा अवलम्बित नहीं है बल्कि उस जिनवचन, जैनागम अथवा जैनशासनकी भी प्राण-प्रतिष्ठा अवलम्बित है जिसकी अगली (अन्तिम) गाथामें मङ्गल-कामना की गई है और ग्रन्थकी पहली (आदिम) गाथामें जिसे 'सिद्धशासन' घोषित किया गया है, उसीकी गौरव-गरिमाको इस गाथामें अच्छे युक्तिपुरस्सर ढङ्गसे प्रदर्शित किया गया है। और इसलिये यह गाथा अपनी कथनशैली और कुशल-साहित्य-योजनापरसे ग्रन्थका अङ्ग होनेके योग्य जान पड़ती है तथा ग्रन्थकी अन्त्य मङ्गल-कारिका मालूम होती है। इसपर एकमात्र अमुक टीकाके न होनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि वह मूलकारके द्वारा योजित न हुई होगी, क्योंकि दूसरे ग्रन्थोंकी कुछ टीकाएँ ऐसी भी पाई जाती हैं जिनमेंसे एक टीकामें कुछ पद्य मूलरूपमें टीका-सहित हैं तो दूसरीमें वे नहीं पाये जाते[1] और इसका कारण प्रायः टीकाकारको ऐसी मूलप्रतिका ही उपलब्ध होना कहा जा सकता है जिसमें वे पद्य न पाये जाते हो। दिगम्बराचार्य सुमति (सन्मति) देवकी टीका भी इस ग्रन्थपर बनी है, जिसका उल्लेख वादिराजने अपने पार्श्वनाथ-चरित (शक सं० ९४७) के निम्न पद्यमें किया है:—

नमः सन्मतये तस्मै भव-कूप-निपातिनाम्। सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम-प्रवेशिनी ॥

यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं है—खोजका कोई खास प्रयत्न भी नहीं हो सका। इसके सामने आनेपर उक्त गाथा तथा और भी अनेक बातोंपर प्रकाश पड़ सकता है; क्योंकि यह टीका सुमतिदेवकी कृति होनेसे ११वीं शताब्दीके श्वेताम्बरीय आचार्य अभयदेवकी टीकासे कोई तीन शताब्दी पहलेकी बनी हुई होनी चाहिये। श्वेताम्बराचार्य मल्लवादीकी भी एक टीका इस ग्रन्थपर पहले बनी है जो आज उपलब्ध नहीं है और जिसका उल्लेख हरिभद्र तथा उपाध्याय यशोविजयके ग्रन्थोंमें मिलता है[2]।

इस ग्रन्थमें विचारको दृष्टि प्रदान करनेके लिये, प्रारम्भसे ही द्रव्यार्थिक (द्रव्यास्तिक) और पर्यायार्थिक (पर्यायास्तिक) दो मूल नयोंको लेकर नयका जो विषय उठाया गया है वह प्रकारान्तरसे दूसरे तथा तीसरे काण्डमें भी चलता रहा है और उसके द्वारा नयवादपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। यहाँ नयका थोड़ा-सा कथन नमूनेके तौरपर प्रस्तुत किया जाता है, जिससे पाठकोंको इस विषयकी कुछ झाँकी मिल सके:—

---

१ जैसे समयसारादिग्रन्थोंकी अमृतचन्द्रसूरिकृत तथा जयसेनाचार्यकृत टीकाएँ, जिनमें कतिपय गाथाओंकी न्यूनाधिकता पाई जाती है।

२ "उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ" (अनेकान्तजयपताका)
"इहार्थे कोटिशो भगा निर्दिष्टा मल्लवादिना।

प्रथमकाण्डमें दोनों नयोंके सामान्य-विशेष-विषयको मिश्रित दिखलाकर उस मिश्रितपनाकी चर्चाका उपसंहार करते हुए लिखा है—

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा णत्थि णओ नियम सुद्धजाईओ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोई भयणाय उ विसेसो ॥ ९ ॥

'अतः कोई द्रव्यार्थिक नय ऐसा नहीं जो नियमसे शुद्धजातीय हो—अपने प्रतिपक्षी पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा न रखता हुआ उसके विषय-स्पर्शसे मुक्त हो। इसी तरह पर्यायार्थिक नय भी कोई ऐसा नहीं जो शुद्धजातीय हो—अपने विपक्षी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा न रखता हुआ उसके विषय-स्पर्शसे रहित हो। विवक्षाको लेकर ही दोनोंका भेद है—विवक्षा मुख्य-गौणके भावको लिये हुए होती है, द्रव्यार्थिकमें द्रव्य–सामान्य मुख्य और पर्याय-विशेष गौण होता है और पर्यायार्थिकमें विशेष मुख्य तथा सामान्य-गौण होता है।'

इसके बाद बतलाया है कि—पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य (सामान्य) नियमसे अवस्तु है। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिकनयका वक्तव्य (विशेष) अवस्तु है। पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें सर्व पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें न कोई पदार्थ उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता है। द्रव्य पर्याय(उत्पाद-व्यय)के विना और पर्याय द्रव्य(ध्रौव्य)के विना नहीं होते; क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों द्रव्य–सत्का अद्वितीय लक्षण है[1]। ये तीनों एक दूसरेके साथ मिलकर ही रहते हैं, अलग-अलगरूपमें ये द्रव्य (सत)के कोई लक्षण नहीं होते और इसलिये दोनों मूल नय अलग-अलगरूपमें—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए—मिथ्यादृष्टि हैं। तीसरा कोई मूलनय नहीं है[2] और ऐसा भी नहीं कि इन दोनों नयोंमें यथार्थ-पना न समाता हो—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको पूर्णतः प्रतिपादन करनेमें ये असमर्थ हों—; क्योंकि दोनों एकान्त (मिथ्यादृष्टियाँ) अपेक्षाविशेषको लेकर ग्रहण किये जाते ही अनेकान्त (सम्यग्दृष्टि) बन जाते हैं। अर्थात दोनों नयोंमेंसे जब कोई भी नय एक दूसरेकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही विषयको सतरूप प्रतिपादन करनेका आग्रह करता है तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशमें पूर्णताका माननेवाला होनेसे मिथ्या है और जब वह अपने प्रतिपक्षी नयकी अपेक्षा रखता हुआ प्रवर्तता है—उसके विषयका निरसन न करता हुआ तटस्थरूपसे अपने विषय (वक्तव्य)का प्रतिपादन करता है—तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशको अंशरूपमें ही (पूर्णरूपमें नहीं) माननेके कारण सम्यक् व्यपदेशको प्राप्त होता है। इस सब आशयकी पाँच गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

दव्वट्ठिय-वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जवत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥ १० ॥
उप्पज्जंति वियंति य भावा पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥११ ॥
दव्वं पज्जव-विउयं दव्व-विउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥

---

१ "पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जवा णत्थि। दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१-१२॥"
—पञ्चास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दः।

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥ —तत्त्वार्थसूत्र अ० ५।

२ तीसरे काण्डमें गुणार्थिक (गुणास्तिक) नयको कल्पनाको उठाकर स्वयं उसका निरसन किया गया है

एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि ।
तम्हा मिच्छादिट्ठी पत्तेयं दो वि मूल-णया ॥१३॥
ण य तइयो अत्थि णयो ण य सम्मत्तं तेसु पडिपुण्णं ।
जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगंता ॥१४॥

इन गाथाओंके अनन्तर उत्तर नयोंकी चर्चा करते हुए और उन्हें भी मूलनयोंके समान दुर्नय तथा सुनय प्रतिपादन करते हुए और यह बतलाते हुए कि किसी भी नयका एकमात्र पक्ष लेनेपर संसार, सुख, दुख, बन्ध और मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, सभी नयोंके मिथ्या तथा सम्यक् रूपको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥२१॥

'अतः सभी नय—चाहे वे मूल या उत्तरोत्तर कोइ भी नय क्यों न हों—जो एकमात्र अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हैं वे मिथ्यादृष्टि है—वस्तुको यथार्थरूपसे देखने—प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है। परन्तु जो नय परस्परमें अपेक्षाको लिये हुए प्रवर्तते हैं वे सब सम्यग्दृष्टि हैं—वस्तुको यथार्थरूपसे देखने-प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं।'

तीसरे काण्डमें नयवादकी चर्चाको एक दूसरे ही ढङ्गसे उठाते हुए, नयवादके परिशुद्ध और अपरिशुद्ध ऐसे दो भेद सूचित किये है. जिनमें परिशुद्ध नयवादको आगममात्र अर्थका—केवल श्रुतप्रमाणके विषयका—साधक बतलाया है और यह ठीक ही है; क्योंकि परिशुद्धनयवाद सापेक्षनयवाद होनेसे अपने पक्षका—अंशोंका—प्रतिपादन करता हुआ परपक्षका—दूसरे अंशों—का निराकरण नहीं करता और इसलिये दूसरे नयवादके साथ विरोध न रखनेके कारण अन्तको श्रुतप्रमाणके समग्र विषयका ही साधक बनता है। और अपरिशुद्ध नयवादको 'दुर्निक्षिप्त' विशेषणके द्वारा उल्लेखित करते हुए स्वपक्ष तथा परपक्ष दोनोंका विघातक लिखा है और यह भी ठीक ही है, क्योंकि वह निरपेक्षनयवाद होनेसे एकमात्र अपने ही पक्षका प्रतिपादन करता हुआ अपनेसे भिन्न पक्षका सर्वथा निराकरण करता है—विरोधवृत्ति होनेसे उसके द्वारा श्रुतप्रमाणका कोई भी विषय नहीं सधता और इस तरह वह अपना भी निराकरण कर बैठता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिए कि वस्तुका पूर्णरूप अनेक सापेक्ष अंशों धर्मोंसे निर्मित है जो परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए है, एकके अभावमें दूसरेका अस्तित्व नहीं बनता और इसलिये जो नयवाद परपक्षका सर्वथा निषेध करता है वह अपना भी निषेधक होता है—परके अभावमें अपने स्वरूपको किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

नयवादके इन भेदों और उनके स्वरूपनिर्देशके अनन्तर बतलाया है कि 'जितने वचनमार्ग है उतने ही नयवाद है और जितने (अपरिशुद्ध अथवा परस्परनिरपेक्ष एवं विरोधी) नयवाद हैं उतने परसमय—जैनेतरदर्शन—है। उन दर्शनोंमें कपिलका सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिक नयका वक्तव्य है। शुद्धोदनके पुत्र बुद्धका दर्शन परिशुद्ध पर्यायनयका विकल्प है। उलूक अर्थात् कणादने अपना शास्त्र (वैशेषिक दर्शन) यद्यपि दोनों नयोंके द्वारा प्ररूपित किया है फिर भी वह मिथ्यात्व है—अप्रमाण है, क्योंकि ये दोनों नयदृष्टियाँ उक्त दर्शनमें अपने अपने विषयकी प्रधानताके लिये परस्परमें एक दूसरेकी कोई अपेक्षा नहीं रखतीं।' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ निम्न प्रकार है—

परिसुद्धो णयवाओ आगममेत्तत्थ-साधको होइ ।
[illegible]

जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥४७॥
जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं ।
सुद्धोअण-तणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥४८॥
दोहि वि णएहि णीयं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं ।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥४९॥

इनके अनन्तर निम्न दो गाथाओंमें यह प्रतिपादन किया है कि 'सांख्योंके सद्वाद-पक्षमें बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशेषिकोंके असद्वादपक्षमें सांख्य जन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं— सर्वथा एकान्तवादमें वैसे दोष आते ही हैं। ये दोनों सद्वाद और असद्वाद दृष्टियाँ यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित हो जायँ— समन्वयपूर्वक अनेकान्तदृष्टिमें परिणत हो जायँ—तो सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनता है; क्योंकि ये सत्-असत्‌रूप दोनों दृष्टियाँ अलग अलग संसारके दुःखसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ नहीं हैं—दोनोंके सापेक्ष संयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर संसारके दुःखोंसे शान्ति मिल सकती है:—

जे संतवाय-दोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं ।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥५०॥
ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति ।
जं भव-दुक्ख-विमोक्खं दो वि ण पूरेंति पाडिक्कं ॥५१॥

इस सब कथनपरसे मिथ्यादर्शनों और सम्यग्दर्शनका तत्त्व सहज ही समझमें आजाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमें परिणत हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन अथवा जैनेतरदर्शन जब तक अपने अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें एकान्तताको अपनाकर परविरोधका लक्ष्य रखते हैं तब तक वे सम्यग्दर्शनमें परिणत नहीं होते, और जब विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वयकी दृष्टिको अपनाते हैं तभी सम्यग्दर्शनमें परिणत हो जाते हैं और जैनदर्शन कहलानेके योग्य होते हैं। जैनदर्शन अपने स्याद्वादन्याय-द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है, न कि विरोध—और इसलिये सभी मिथ्या-दर्शन अपने अपने विरोधको भुलाकर उसमें समा जाते हैं। इसीसे ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें जिनवचनरूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मङ्गलकामना करते हुए उसे 'मिथ्या-दर्शनोंका समूहमय' बतलाया है। वह गाथा इस प्रकार है:—

भद्दं मिच्छादंसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स ॥
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥७०॥

इसमें जैनदर्शन (शासन)के तीन खास विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण मिथ्यादर्शनसमूहमय दूसरा अमृतसार और तीसरा संविग्नसुखाधिगम्य है। मिथ्यादर्शनोंका समूह होते हुए भी वह मिथ्यात्वरूप नहीं है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्ष नयवादमें सन्निहित है—सापेक्ष नय मिथ्या नहीं होते, निरपेक्ष नय ही मिथ्या होते हैं[1]। जब सारी विरोधी दृष्टियाँ एकत्र स्थान पाती हैं तब फिर

१ मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः। निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८
—देवागमे स्वामिसमन्तभद्रः।

उनमें विरोध नहीं रहता और वह सहज ही कार्य-साधक बन जाती हैं। इसीपरसे दूसरा विशेषण ठीक घटित होता है, जिसमें उसे अमृतका अर्थात् भवदुःखके अभावरूप अविनाशी मोक्षका प्रदान करनेवाला बतलाया है; क्योंकि वह सुख अथवा भवदुःखविनाश मिथ्यादर्शनोंसे प्राप्त नहीं होता, इसे हम ५१वीं गाथासे जान चुके हैं। तीसरे विशेषणके द्वारा यह सुझाया गया है कि जो लोग संसारके दुःखों-क्लेशोंसे उद्विग्न होकर संवेगको प्राप्त हुए हैं—सच्चे मुमुक्षु बने हैं—उनके लिये जैनदर्शन अथवा जिनशासन सुखसे समझमें आने योग्य है—कोई कठिन नहीं है। इससे पहले ६४वीं गाथामें 'अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा' वाक्यके द्वारा सूत्रोंकी जिस अर्थगतिको नयवादके गहन-वनमें लीन और दुरभिगम्य बतलाया था उसीको ऐसे अधिकारियोंके लिये यहाँ सुगम घोषित किया गया है, यह सब अनेकान्तदृष्टिकी महिमा है। अपने ऐसे गुणोंके कारण ही जिनवचन भगवत्पदको प्राप्त है—पूज्य है।

ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें जिस प्रकार जिनशासनका स्मरण किया गया है उसी प्रकार वह आदिम गाथामें भी किया गया है। आदिम गाथामें किन विशेषणोंके साथ स्मरण किया गया है यह भी पाठकोंके जानने योग्य है और इसलिये उस गाथाको भी यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमय - विसासणं सासणं जिणाणं भव - जिणाणं ॥१॥

इसमें भवको जीतनेवाले जिनों-अर्हन्तोंके शासन-आगमके चार विशेषण दिये गये हैं—१ सिद्ध, २ सिद्धार्थोंका स्थान, ३ शरणागतोंके लिये अनुपम सुखस्वरूप, ४ कुसमयों-एकान्तवादरूप मिथ्यामतोंका निवारक। प्रथम विशेषणके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जैनशासन अपने ही गुणोंसे आप प्रतिष्ठित है। उसके द्वारा प्रतिपादित सब पदार्थ प्रमाणसिद्ध हैं—कल्पित नहीं हैं—यह दूसरे विशेषणका अभिप्राय है और वह प्रथम विशेषण सिद्धत्वका प्रधान कारण भी है। तीसरा विशेषण बहुत कुछ स्पष्ट है और उसके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जो लोग वास्तवमें जैनशासनका आश्रय लेते हैं उन्हें अनुपम मोक्ष-सुख तककी प्राप्ति होती है। चौथा विशेषण यह बतलाता है कि जैनशासन उन सब कुशासनों-मिथ्यादर्शनोंके गर्वको चूर-चूर करनेकी शक्तिसे सम्पन्न है जो सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेकर शासनारूढ बने हुए हैं और मिथ्यातत्त्वोंके प्ररूपण-द्वारा जगतमें दुःखोंका जाल फैलाये हुए हैं।

इस तरह आदि-अन्तकी दोनों गाथाओंमें जिनशासन अथवा जिनवचन (जैनागम) के लिये जिन विशेषणोंका प्रयोग किया गया है उनसे इस शासन(दर्शन)का असाधारण महत्त्व और माहात्म्य ख्यापित होता है। और यह केवल कहनेकी ही बात नहीं है बल्कि सारे ग्रन्थमें इसे प्रदर्शित करके बतलाया गया है। स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें 'अज्ञान-अन्धकारकी व्याप्ति(प्रसार)को जैसे भी बने दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको जो प्रकाशित करना है उसीका नाम प्रभावना है'। 'यह ग्रन्थ अपने विषय-वर्णन और विवेचनादिके द्वारा इस प्रभावनाका बहुत कुछ साधक है और इसीलिये उसकी भी गणना प्रभावक-ग्रन्थोंमें की गई है। यह ग्रन्थ जैनदर्शनका अध्ययन करनेवालों और जैनदर्शनसे जैनेतर दर्शनोंके भेदको ठीक अनुभव करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये बड़े कामकी चीज है और उनके द्वारा खास मनोयोगके साथ पढ़े जाने तथा मनन किये जानेके योग्य है। इसमें अनेकान्तके अङ्गस्वरूप जिस नयवादकी प्रमुख चर्चा है और जिसे एक प्रकारसे 'दुरभिगम्य गहन-वन'

बतलाया गया है—अमृतचन्द्रसूरिने भी जिसे 'गहन' और 'दुरासद' लिखा है[1]—उसपर जैन वाङ्मयमें कितने ही प्रकरण अथवा 'नयचक्र' जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ भी निर्मित हैं, उनका साथ-में अध्ययन अथवा पूर्व-परिचय भी इस ग्रन्थके समुचित अध्ययनमें सहायक है। वास्तवमें यह ग्रन्थ सभी तत्त्वजिज्ञासुओं एवं आत्महितैषियोंके लिये उपयोगी है। अभी तक इसका हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है। वीरसेवामन्दिरका विचार उसे प्रस्तुत करनेका है।

[क] ग्रन्थकार सिद्धसेन और उनकी दूसरी कृतियां—

इस 'सन्मति' ग्रन्थके कर्ता आचार्य सिद्धसेन है इसमें किसीको भी कोई विवाद नहीं है। अनेक ग्रन्थोंमें ग्रन्थनामके साथ सिद्धसेनका नाम उल्लेखित है और इस ग्रन्थके वाक्य भी सिद्धसेन-नामके साथ उद्धृत मिलते हैं, जैसे जयधवलामे आचार्य वीरसेनने 'णामट्ठवणा दवियं' नामकी छठी गाथाको 'उक्तं च सिद्धसेणेण" इस वाक्यके साथ उद्धृत किया है और पञ्चवस्तुमें आचार्य हरिभद्रने 'आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेणं" वाक्यके द्वारा 'सन्मति'को सिद्धसेनकी कृतिरूपमें निर्दिष्ट किया है, साथ ही 'कालो सहाव णियई' नामकी एक गाथा भी उसकी उद्धृत की है। परन्तु ये सिद्धसेन कौन हैं—किस विशेष परिचय-को लिये हुए हैं ? कौनसे सम्प्रदाय अथवा आम्नायसे सम्बन्ध रखते है ?, इनके गुरु कौन थे ? इनकी दूसरी कृतियाँ कौन-सी हैं ? और इनका समय क्या है ? ये सब बातें ऐसी है जो विवादका विषय जरूर हैं। क्योंकि जैनसमाजमे सिद्धसेन नामके अनेक आचार्य और प्रखर तार्किक विद्वान भी हो गये हैं और इस ग्रन्थमे ग्रन्थकारने अपना कोई परिचय दिया नही, न रचनाकाल ही दिया है—ग्रन्थकी आदिम गाथामे प्रयुक्त हुए 'सिद्धं' पदके द्वारा श्लेषरूपमे अपने नामका सूचनमात्र किया है, इतना ही समझा जा सकता है। कोई प्रशस्ति भी किसी दूसरे विद्वान्के द्वारा निर्मित होकर ग्रन्थके अन्तमें लगी हुई नही है। दूसरे जिन ग्रन्थों—खासकर द्वात्रिंशिकाओं तथा न्यायावतार—को इन्ही आचार्यकी कृति समझा जाता और प्रतिपादन किया जाता है उनमें भी कोई परिचय-पद्य तथा प्रशस्ति नहीं है और न कोई ऐसा स्पष्ट प्रमाण अथवा युक्तिवाद ही सामने लाया गया है जिससे उन सब ग्रन्थोंको एक ही सिद्धसेन-कृत माना जा सके। और इसलिये अधिकांशमे कल्पनाओं तथा कुछ भ्रान्त धारणाओंके आधारपर ही विद्वान लोग उक्त बातोंके निर्णय तथा प्रतिपादनमे प्रवृत्त होते रहे हैं, इसीसे कोई भी ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो पाया—वे विवादापन्न ही चली जाती हैं और सिद्धसेनके विषयमे जो भी परिचय-लेख लिखे गये है वे सब प्रायः खिचड़ी बने हुए हैं और कितनी ही ग़लतफहमियोंको जन्म दे रहे तथा प्रचारमें ला रहे हैं। अतः इस विषयमें गहरे अनुसन्धानके साथ गम्भीर विचारकी जरूरत है और उसीका यहाँपर प्रयत्न किया जाता है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें सिद्धसेनके नामपर जो ग्रन्थ चढ़े हुए हैं उनमेंसे कितने ही ग्रन्थ तो ऐसे है जो निश्चितरूपमें दूसरे उत्तरवर्ती सिद्धसेनोंकी कृतियाँ हैं; जैसे १ जीतकल्पचूर्णि २ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी टीका ३ प्रवचनसारोद्धारकी वृत्ति, ४ एकविंशतिस्थानप्रकरण (प्रा०) और ५ सिद्धिश्रेयसमुदय (शक्रस्तव) नामका मन्त्रगर्भित गद्यस्तोत्र। कुछ ग्रन्थ ऐसे है, जिनका सिद्धसेन-नामके साथ उल्लेख तो मिलता है परन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं, जैसे १ बृहत् षड्दर्शनसमुच्चय[2] (जैनग्रन्थावली पृ० ६४), २ विषोग्रग्रहशमन-

१ देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—"इति विविधभङ्ग-गहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्"। (५८) "अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्"। (५९)

२ हो सकता है कि यह ग्रन्थ हरिभद्रसूरिका 'षड्दर्शनसमुच्चय' ही हो और किसी गलतीसे सूरतके उन

विधि, जिसका उल्लेख उग्रादित्याचार्य (विक्रम ९वी शताब्दी)के 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थ (२०-८५)में पाया जाता है[1] और ३ नीतिसारपुराण. जिसका उल्लेख केशवसेनसूरि (वि० सं० १६८८) कृत कर्णामृतपुराणके निम्न पद्योंमें पाया जाता है और जिनमें उसकी श्लोकसंख्या भी १५६३०० दी हुई है—

> सिद्धोक्त-नीतिसारादिपुराणोद्भूत-सन्मतिं ।
> विधास्यामि प्रसन्नार्थं ग्रन्थं सन्दर्भगर्भितम् ॥१९॥
> खंखाग्निरसवाणेन्दु (१५६३००) श्लोकसंख्या प्रसूत्रिता ।
> नीतिसारपुराणस्य सिद्धसेनादिसूरिभिः ॥२०॥

उपलब्ध न होनेके कारण ये तीनों ग्रन्थ विचारोंमें कोई सहायक नहीं हो सकते। इन आठ ग्रन्थोंके अलावा चार ग्रन्थ और हैं—१ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २ प्रस्तुत सन्मतिसूत्र, ३ न्यायावतार और ४ कल्याणमन्दिर। 'कल्याणमन्दिर' नामका स्तोत्र ऐसा है जिसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमे सिद्धसेनदिवाकरकी कृति समझा और माना जाता है; जबकि दिगम्बर परम्परामें वह स्तोत्रके अन्तिम पद्यमें सूचित किये हुए 'कुमुदचन्द्र' नामके अनुसार कुमुदचन्द्राचार्यकी कृति माना जाता है। इस विषयमें श्वेताम्बर-सम्प्रदायका यह कहना है कि सिद्धसेनका नाम दीक्षाके समय 'कुमुदचन्द्र' रक्खा गया था, आचार्यपदके समय उनका पुराना नाम ही उन्हें दे दिया गया था, ऐसा प्रभाचन्द्रसूरिके प्रभावकचरित (सं० १३३४)से जाना जाता है और इसलिये कल्याणमन्दिरमें प्रयुक्त हुआ 'कुमुदचन्द्र' नाम सिद्धसेनका ही नामान्तर है।' दिगम्बर समाज इसे पीछेकी कल्पना और एक दिगम्बर कृतिको हथियानेकी योजनामात्र समझता है; क्योंकि प्रभावकचरितसे पहले सिद्धसेन-विषयक जो दो प्रबन्ध लिखे गये हैं उनमें कुमुदचन्द्र नामका कोई उल्लेख नहीं है—पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने अपनी प्रस्तावनामे भी इस बातको व्यक्त किया है। बादके बने हुए मेरुतुङ्गाचार्यके प्रबन्धचिन्तामणि (सं० १३६१)में और जिनप्रभसूरिके विविधतीर्थकल्प (सं० १३८९)मे भी उसे अपनाया नहीं गया है। राजशेखरके प्रबन्धकोश अपरनाम चतुर्विंशतिप्रबन्ध (सं० १४०५)मे कुमुदचन्द्र नामको अपनाया जरूर गया है परन्तु प्रभावकचरितके विरुद्ध कल्याणमन्दिरस्तोत्रको 'पार्श्वनाथद्वात्रिंशिका'के रूपमे व्यक्त किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि वीरकी द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका स्तुतिसे जब कोई चमत्कार देखनेमे नहीं आया तब यह पार्श्वनाथद्वात्रिंशिका रची गई है, जिसके ११वें से नहीं किन्तु प्रथम पद्यसे ही चमत्कार प्रारम्भ हो गया[2]। ऐसी स्थितिमे पार्श्वनाथद्वात्रिंशिकाके रूपमे जो कल्याणमन्दिरस्तोत्र रचा गया वह ३२ पद्योंका कोई दूसरा ही होना चाहिये न कि वर्तमान कल्याणमन्दिरस्तोत्र जिसकी रचना ४४ पद्योंमे हुई है, और इससे दोनों कुमुदचन्द्र भी भिन्न होने चाहियें। इसके सिवाय, वर्तमान कल्याणमन्दिरस्तोत्रमे 'प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषात्' इत्यादि तीन पद्य ऐसे हैं जो पार्श्वनाथको दैत्यकृत उपसर्गसे युक्त प्रकट करते हैं. जो दिगम्बर मान्यताके अनुकूल और श्वेताम्बर मान्यताके प्रतिकूल हैं. क्योंकि श्वेताम्बरीय

जिसपरसे जैनग्रन्थावलीमें लिया गया है; क्योंकि इसके साथमे जिस टीकाका उल्लेख है उसे 'गुणरत्न' की लिखा है और हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयपर भी गुणरत्नकी टीका है।

१ "शालाक्यं पूज्यपाद-प्रकटितमधिकं शल्यतत्र च पात्रस्वामि-प्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धः।"

२ "इत्यादिश्रीवीरद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका कृता । परं तस्मात्तादृशं चमत्कारमनालोक्य पश्चात् श्रीपार्श्वनाथद्वात्रिंशिकामभिकर्तुं कल्याणमन्दिरस्तवं चक्रे प्रथमश्लोके एव प्रासादस्थितात् शिखिशिखाग्रादिव

आचाराङ्ग-निर्युक्तिमें वर्द्धमानको छोड़कर शेष २३ तीर्थङ्करोंके तपःकर्मको निरुपसर्ग वर्णित किया है[1]। इससे भी प्रस्तुत कल्याणमन्दिर दिगम्बर कृति होनी चाहिये।

प्रमुख श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने ग्रन्थकी गुजराती प्रस्तावनामें[2] विविधतीर्थकल्पको छोड़कर शेष पाँच प्रबन्धोंका सिद्धसेन-विषयक सार बहुपरिश्रमके साथ दिया है और उसमें कितनी परस्पर विरोधी तथा मौलिक मतभेदकी बातोंका भी उल्लेख किया है और साथ ही यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सिद्धसेन दिवाकर-का नाम मूलमें कुमुदचन्द्र नहीं था, होता तो दिवाकर-विशेषणकी तरह यह श्रुतिप्रिय नाम भी किसी-न-किसी प्राचीन ग्रन्थमें सिद्धसेनकी निश्चित कृति अथवा उसके उद्धृत वाक्योंके साथ जरूर उल्लेखित मिलता—प्रभावकचरितसे पहलेके किसी भी ग्रन्थमें इसका उल्लेख नहीं है। और यह कि कल्याणमन्दिरको सिद्धसेनकी कृति सिद्ध करनेके लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है—वह सन्देहास्पद है।' ऐसी हालतमें कल्याणमन्दिरकी बातको यहाँ छोड़ ही दिया जाता है। प्रकृत-विषयके निर्णयमें वह कोई विशेष साधक-बाधक भी नहीं है।

अब रही द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, सन्मतिसूत्र और न्यायावतारकी बात। न्यायावतार एक ३२ श्लोकोंका प्रमाण-नय-विषयक लघुग्रन्थ है, जिसके आदि-अन्तमें कोई मङ्गलाचरण तथा प्रशस्ति नहीं है, जो आमतौरपर श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनदिवाकरकी कृति माना जाता है और जिसपर श्वे० सिद्धर्षि (सं० ९६२)की विवृति और उस विवृतिपर देवभद्रकी टिप्पणी उपलब्ध है और ये दोनों टीकाएँ डा० पी० एल० वैद्यके द्वारा सम्पादित होकर सन् १९२८में प्रकाशित हो चुकी हैं। सन्मतिसूत्रका परिचय ऊपर दिया ही जा चुका है। उसपर अभय-देवसूरिकी २५ हजार श्लोक-परिमाण जो संस्कृतटीका है वह उक्त दोनों विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर सं० १९८७में प्रकाशित हो चुकी है। द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका ३२-३२ पद्योंकी ३२ कृतियाँ बतलाई जाती हैं, जिनमेंसे २१ उपलब्ध हैं। उपलब्ध द्वात्रिंशिकाएँ भावनगरकी जैनधर्मप्रसारक सभाकी तरफसे विक्रम संवत् १९६५में प्रकाशित हो चुकी हैं। ये जिस क्रमसे प्रकाशित हुई हैं उसी क्रमसे निर्मित हुई हों ऐसा उन्हें देखनेसे मालूम नहीं होता—वे बादको किसी लेखक अथवा पाठक-द्वारा उस क्रमसे संग्रह की अथवा कराई गई जान पड़ती हैं। इस बातको पं० सुखलालजी आदिने भी प्रस्तावनामें व्यक्त किया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि 'ये सभी द्वात्रिंशिकाएँ सिद्धसेनने जैनदीक्षा स्वीकार करनेके पीछे ही रची हों ऐसा नहीं कहा जा सकता, इनमेंसे कितनी ही द्वात्रिंशिकाएँ (बत्तीसियाँ) उनके पूर्वाश्रममें भी रची हुई हो सकती हैं।' और यह ठीक है, परन्तु ये सभी द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेनकी रची हुई हों ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, चुनाँचे २१वीं द्वात्रिंशिकाके विषयमें पण्डित सुखलालजी आदिने प्रस्तावनामें यह स्पष्ट स्वीकार भी किया है कि 'उसकी भाषारचना और वर्णित वस्तुकी दूसरी बत्तीसियोंके साथ तुलना करनेपर ऐसा मालूम होता है कि वह बत्तीसी किसी जुदे ही सिद्धसेनकी कृति है और चाहे जिस कारणसे दिवाकर (सिद्धसेन)की मानी जानेवाली कृतियोंमें दाखिल होकर दिवाकरके नामपर चढ़ गई है।' इसे महावीर-द्वात्रिंशिका[3] लिखा है—महावीर नामका इसमें उल्लेख भी है, जब कि और किसी

१ "सव्वेसिं तवो कम्म निरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं। नवरं तु वड्ढमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्व ॥२७६॥"

२ यह प्रस्तावना ग्रन्थके गुजराती अनुवाद-भावार्थके साथ सन् १९३२मे प्रकाशित हुई है और ग्रन्थका यह गुजराती संस्करण बादको अंग्रेजीमें अनुवादित होकर 'सन्मतितर्क'के नामसे सन् १९३९में प्रकाशित हुआ है।

३ यह द्वात्रिंशिका अलग ही है ऐसा ताडपत्रीय प्रतिसे भी जाना जाता है, जिसमें २० ही द्वात्रिंशिकाएँ अङ्कित हैं और उनके अन्तमें "ग्रन्थाग्रं ८३० मंगलमस्तु" लिखा है, जो ग्रन्थकी समाप्तिके साथ उसकी

द्वात्रिंशिकामें 'महावीर' नामका उल्लेख नहीं है—प्रायः 'वीर' या 'वर्द्धमान' नामका ही उल्लेख पाया जाता है। इसकी पद्यसंख्या ३३ है और ३३वें पद्यमें स्तुतिका माहात्म्य दिया हुआ है; ये दोनों बातें दूसरी सभी द्वात्रिंशिकाओंसे विलक्षण है और उनसे इसके भिन्नकर्तृत्वकी द्योतक हैं। इसपर टीका भी उपलब्ध है जब कि और किसी द्वात्रिंशिकापर कोई टीका उपलब्ध नहीं है। चंद्रप्रभसूरिने प्रभावकचरितमें न्यायावतारकी, जिसपर टीका उपलब्ध है, गणना भी ३२ द्वात्रिंशिकाओंमें की है ऐसा कहा जाता है परन्तु प्रभावकचरितमें वैसा कोई उल्लेख नहीं मिलता और न उसका समर्थन पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अन्य किसी प्रबन्धसे ही होता है। टीकाकारोंने भी उसके द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाका अंग होनेकी कोई बात सूचित नहीं की, और इस लिये न्यायावतार एक स्वतंत्र ही ग्रन्थ होना चाहिये तथा उसी रूपमें प्रसिद्धिको भी प्राप्त है।

२१वीं द्वात्रिंशिकाके अन्तमें 'सिद्धसेन' नाम भी लगा हुआ है, जबकि ५वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर और किसी द्वात्रिंशिकामें वह नहीं पाया जाता। हो सकता है कि ये नामवाली दोनों द्वात्रिंशिकाएँ अपने स्वरूपपरसे एक नहीं किन्तु दो अलग अलग सिद्धसेनोंसे सम्बन्ध रखती हो और शेष विना नामवाली द्वात्रिंशिकाएँ इनसे भिन्न दूसरे ही सिद्धसेन अथवा सिद्धसेनोंकी कृतिस्वरूप हों। पण्डित सुखलालजी और पण्डित बेचरदासजीने पहली पाँच द्वात्रिंशिकाओंको, जो वीर भगवानकी स्तुतिपरक हैं, एक ग्रूप (समुदाय)में रक्खा है और उस ग्रूप (द्वात्रिंशिकापञ्चक)का स्वामी समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रके साथ साम्य घोषित करके तुलना करते हुए लिखा है कि स्वयम्भूस्तोत्रका प्रारम्भ जिस प्रकार स्वयम्भू शब्दसे होता है और अन्तिम पद्य (१४३)में ग्रन्थकारने श्लेषरूपसे अपना नाम समन्तभद्र सूचित किया है उसी प्रकार इस द्वात्रिंशिकापञ्चकका प्रारम्भ भी स्वयम्भू शब्दसे होता है और उसके अन्तिम पद्य (५, ३२)मे भी ग्रन्थकारने श्लेषरूपमे अपना नाम सिद्धसेन दिया है।' इससे शेष १५ द्वात्रिंशिकाएँ भिन्न ग्रूप अथवा ग्रूपोंसे सम्बन्ध रखती हैं और उनमें प्रथम ग्रूपकी पद्धतिको न अपनाये जाने अथवा अन्तमें ग्रन्थकारका नामोल्लेख तक न होनेके कारण वे दूसरे सिद्धसेन या सिद्धसेनोंकी कृतियाँ भी हो सकती हैं। उनमेंसे ११वीं किसी राजाकी स्तुतिको लिये हुए है, छठी तथा आठवी समीक्षात्मक हैं और शेष बारह दार्शनिक तथा वस्तुचर्चा वाली हैं।

इन सब द्वात्रिंशिकाओंके सम्बन्धमे यहाँ दो बातें और भी नोट किये जानेके योग्य हैं—एक यह कि द्वात्रिंशिका (बत्तीसी) होनेके कारण जब प्रत्येककी पद्यसंख्या ३२ होनी चाहिये थी तब वह घट-बढ़रूपमे पाई जाती है। १०वीमे दो पद्य तथा २१वींमें एक पद्य बढ़ती है, और ८वींमें छह पद्योंकी, ११वींमे चारकी तथा १५वींमे एक पद्यकी घटती है। यह घट-बढ़ भावनगरकी उक्त मुद्रित प्रतिमें ही नहीं पाई जाती बल्कि पूनाके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट और कलकत्ताकी एशियाटिक सोसाइटीकी हस्तलिखित प्रतियोंमे भी पाई जाती है। रचना-समयकी तो यह घट-बढ़ प्रतीतिका विषय नहीं—पं० सुखलालजी आदिने भी लिखा है कि 'बढ़-घटकी यह घालमेल रचनाके बाद ही किसी कारणसे होनी चाहिये।' इसका एक कारण लेखकोंकी असावधानी हो सकता है; जैसे १९वीं द्वात्रिंशिकामें एक पद्यकी कमी थी वह पूना और कलकत्ताकी प्रतियोंसे पूरी हो गई। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि किसीने अपने प्रयोजनके वश यह घालमेल की हो। कुछ भी हो, इससे उन द्वात्रिंशिकाओंके पूर्णरूपको समझने आदिमें बाधा पड़ रही है; जैसे ११वीं द्वात्रिंशिकासे यह मालूम ही नहीं होता कि वह कौनसे राजाकी स्तुति है, और इससे उसके रचयिता तथा रचना-कालको जाननेमें भारी बाधा उपस्थित है। यह नहीं हो सकता कि किसी विशिष्ट राजाकी स्तुति की

नाम बराबर दिया हुआ है, फिर यही उससे शून्य रही हो यह कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। अतः जरूरत इस बातकी है कि द्वात्रिंशिका-विषयक प्राचीन प्रतियों की पूरी खोज की जाय। इससे अनुपलब्ध द्वात्रिंशिकाएँ भी यदि कोई होंगी तो उपलब्ध हो सकेंगी और उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंसे वे अशुद्धियाँ भी दूर हो सकेंगी जिनके कारण उनका पठन-पाठन कठिन हो रहा है और जिसकी पं० सुखलालजी आदिको भी भारी शिकायत है।

दूसरी बात यह कि द्वात्रिंशिकाओंको स्तुतियाँ कहा गया है[1] और इनके अवतार-का प्रसङ्ग भी स्तुति-विषयका ही है; क्योंकि श्वेताम्बरीय प्रबन्धोंके अनुसार विक्रमादित्य राजा की ओरसे शिवलिङ्गको नमस्कार करनेका अनुरोध होनेपर जब सिद्धसेनाचार्यने कहा कि यह देवता मेरा नमस्कार सहन करनेमें समर्थ नहीं है—मेरा नमस्कार सहन करनेवाले दूसरे ही देवता हैं—तब राजाने कौतुकवश, परिणामकी कोई पर्वाह न करते हुए नमस्कारके लिये विशेष आग्रह किया[2]। इसपर सिद्धसेन शिवलिङ्गके सामने आसन जमाकर बैठ गये और इन्होंने अपने इष्टदेवकी स्तुति उच्चस्वर आदिके साथ प्रारम्भ कर दी; जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"श्रुत्वेति पुनरासीनः शिवलिङ्गस्य स प्रभुः ।
उदाजह्रे स्तुतिश्लोकान् तारस्वरकरस्तदा ॥१३८॥" —प्रभा० च०

"ततः पद्मासनेन भूत्वा द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाभिर्देवं स्तुतिमुपचक्रमे।"
—विविधतीर्थकल्प, प्रबन्धकोश।

परन्तु उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाओंमें स्तुतिपरक द्वात्रिंशिकाएँ केवल सात ही हैं, जिनमें भी एक राजाकी स्तुति होनेसे देवताविषयक स्तुतियोंकी कोटिसे निकल जाती है और इस तरह छह द्वात्रिंशिकाएँ ही ऐसी रह जाती हैं जिनका श्रीरवीरवर्द्धमानकी स्तुतिसे सम्बन्ध है और जो उस अवसरपर उच्चरित कही जा सकती हैं—शेष १४ द्वात्रिंशिकाएँ न तो स्तुति-विषयक हैं, न उक्त प्रसङ्गके योग्य हैं और इसलिये उनकी गणना उन द्वात्रिंशिकाओं में नहीं की जा सकती जिनकी रचना अथवा उच्चारणा सिद्धसेनने शिवलिङ्गके सामने बैठ कर की थी।

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि प्रभावकचरितके अनुसार स्तुतिका प्रारम्भ "प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग्जगत्त्रयं।" इत्यादि श्लोकोंसे हुआ है, जिनमेंसे "तथा हि" शब्दके साथ चार श्लोकोंको[3] उद्धृत करके उनके आगे "इत्यादि" लिखा गया

---

१ "सिद्धसेणेण पारद्धा बत्तीसियाहि जिणथुई" × × —(गद्यप्रबन्ध-कथावली)
"तस्सागयस्स तेणं पारद्धा जिणथुई समत्ताहिं। बत्तीसाहिं बत्तीसियाहिं उद्दामसद्देण॥"
—(पद्यप्रबन्ध; स० प्र० पृ० ५६)
"न्यायावतारसूत्रं च श्रीवीरस्तुतिमप्यथ। द्वात्रिंशच्छ्लोकमानाश्च त्रिंशदन्याः स्तुतीरपि॥ १४३॥"
—प्रभावकचरित

२ ये मत्प्रणामसोढारस्ते देवा अपरे ननु। किं भावि प्रणम त्वं द्राक् प्राह राजेति कौतुकी॥ १३५॥
देवान्निजप्रणम्यांश्च दर्शय त्वं वदन्निति। भूपतिर्जल्पितस्तेनोत्पाते दोषो न मे नृप॥ १३६॥

३ चारों श्लोक इस प्रकार हैं:—
प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग्जगत्त्रयम्। समस्तैरपि नो नाथ! परतीर्थाधिपैस्तथा॥ १३९॥
विद्योतयति वा लोकं यथैकोऽपि निशाकरः। समुद्गतः समग्रोऽपि तथा किं तारकागणः॥ १४०॥

है। और फिर 'न्यायावतारसूत्रं च' इत्यादि श्लोकद्वारा ३२ कृतियोंकी और सूचना की गई है, जिनमेंसे एक न्यायावतारसूत्र, दूसरी श्रीवीरस्तुति और ३० बत्तीस बत्तीस श्लोकोंवाली दूसरी स्तुतियाँ हैं। प्रबन्धचिन्तामणिके अनुसार स्तुतिका प्रारम्भ—

"प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।
मांगल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥"

इस श्लोकसे होता है, जिसके अनन्तर "इति द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका कृता" लिखकर यह सूचित किया गया है कि वह द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका स्तुतिका प्रथम श्लोक है। इस श्लोक तथा उक्त चारों श्लोकोंमेंसे किसीसे भी प्रस्तुत द्वात्रिंशिकाओंका प्रारम्भ नहीं होता है, न ये श्लोक किसी द्वात्रिंशिकामें पाये जाते हैं और न इनके साहित्यका उपलब्ध प्रथम २० द्वात्रिंशिकाओंके साहित्यके साथ कोई मेल ही खाता है। ऐसी हालतमें इन दोनों प्रबन्धों तथा लिखित पद्यप्रबन्धमें उल्लखित द्वात्रिंशिका स्तुतियाँ उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंसे भिन्न कोई दूसरी ही होनी चाहियें। प्रभावकचरितके उल्लेखपरसे इसका और भी समर्थन होता है; क्योंकि उसमें 'श्रीवीरस्तुति'के बाद जिन ३० द्वात्रिंशिकाओंको "अन्याः स्तुतिः" लिखा है वे श्रीवीरसे भिन्न दूसरे ही तीर्थङ्करादिकी स्तुतियाँ जान पड़ती है और इसलिये उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके प्रथम ग्रुप द्वात्रिंशिकापञ्चकमें उनका समावेश नहीं किया जा सकता, जिस मेंकी प्रत्येक द्वात्रिंशिका श्रीवीरभगवानसे ही सम्बन्ध रखती है। उक्त तीनों प्रबन्धोंके बाद बने हुए विविधतीर्थकल्प और प्रबन्धकोश (चतुर्विंशतिप्रबन्ध)में स्तुतिका प्रारम्भ 'स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रं' इत्यादि पद्यसे होता है, जो उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके प्रथम ग्रुपका प्रथम पद्य है, इसे देकर "इत्यादि श्रीवीरद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका कृता" ऐसा लिखा है। यह पद्य प्रबन्धवर्णित द्वात्रिंशिकाओंका सम्बन्ध उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके साथ जोड़नेके लिये बादको अपनाया गया मालूम होता है, क्योंकि एक तो पूर्वरचित प्रबन्धोंसे इसका कोई समर्थन नहीं होता, और उक्त तीनों प्रबन्धोंसे इसका स्पष्ट विरोध पाया जाता है। दूसरे, इन दोनों ग्रन्थोंमें द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाको एकमात्र श्रीवीरसे सम्बन्धित किया गया है और उसका विषय भी "देवं स्तोतुमुपचक्रमे" शब्दोंके द्वारा 'स्तुति' ही बतलाया गया है; परन्तु उस स्तुतिको पढ़नेसे शिवलिङ्गका विस्फोट होकर उसमेंसे वीरभगवानकी प्रतिमाका प्रादुर्भूत होना किसी ग्रन्थमें भी प्रकट नहीं किया गया—विविधतीर्थकल्पका कर्ता आदिनाथकी और प्रबन्धकोशका कर्ता पार्श्वनाथकी प्रतिमा प्रकट होना बतलाता है। और यह एक असङ्गत-सी बात जान पड़ती है कि स्तुति तो किसी तीर्थङ्करकी की जाय और उसे करते हुए प्रतिमा किसी दूसरे ही तीर्थङ्करकी प्रकट होवे।

इस तरह भी उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंमें उक्त १४ द्वात्रिंशिकाएँ, जो स्तुतिविषय तथा वीरकी स्तुतिसे सम्बन्ध नहीं रखतीं, प्रबन्धवर्णित द्वात्रिंशिकाओंमें परिगणित नहीं की जा सकतीं। और इसलिये पं० सुखलालजी तथा पं० बेचरदासजीका प्रस्तावनामें यह लिखना कि 'शुरुआतमें दिवाकर (सिद्धसेन)के जीवनवृत्तान्तमें स्तुत्यात्मक बत्तीसियों (द्वात्रिंशिकाओं)को ही स्थान देनेकी जरूरत मालूम हुई और इनके साथमें संस्कृत भाषा तथा पद्यसंख्यामें समानता रखनेवाली परन्तु स्तुत्यात्मक नहीं ऐसी दूसरी घनी बत्तीसियाँ इनके जीवनवृत्तान्तमें स्तुत्यात्मक कृतिरूपमें ही दाखिल होगईं और पीछे किसीने इस हकीकतको देखा तथा खोजा ही नहीं कि कही जानेवाली बत्तीस अथवा उपलब्ध इक्कीस बत्तीसियोंमें

नो वाद्भुतमुलूकस्य प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः। स्वच्छा अपि तमस्त्वेन भासन्ते भास्वतः कराः ॥ १४२ ॥

लिखित पद्यप्रबन्धमें भी ये ही चारों श्लोक 'तस्सागयस्स तेणं पारद्धा जिणथुइ' इत्यादि पद्यके

[illegible]

कितनी और कौन स्तुतिरूप हैं और कौन कौन स्तुतिरूप नहीं हैं' और इस तरह सभी प्रबन्ध-रचयिता आचार्योंको ऐसी मोटी भूलके शिकार बतलाना कुछ भी जीको लगने वाली बात मालूम नहीं होती। उसे उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंकी सङ्गति बिठलानेका प्रयत्नमात्र ही कहा जा सकता है, जो निराधार होनेसे समुचित प्रतीत नहीं होता।

द्वात्रिंशिकाओंकी इस सारी छान-बीनपरसे निम्न बातें फलित होती हैं—

१. द्वात्रिंशिकाएँ जिस क्रमसे छपी हैं उसी क्रमसे निर्मित नहीं हुई हैं।

२. उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेनके द्वारा निर्मित हुई मालूम नहीं होतीं।

३. न्यायावतारकी गणना प्रबन्धोल्लिखित द्वात्रिंशिकाओंमें नहीं की जा सकती।

४. द्वात्रिंशिकाओंकी संख्यामें जो घट-बढ़ पाई जाती है वह रचनाके बाद हुई है और उसमें कुछ ऐसी घट-बढ़ भी शामिल है जो कि किसीके द्वारा जान-बूझकर अपने किसी प्रयोजनके लिये की गई हो। ऐसी द्वात्रिंशिकाओंका पूर्ण रूप अभी अनिश्चित है।

५. उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंका प्रबन्धोंमें वर्णित द्वात्रिंशिकाओंके साथ, जो सब स्तुत्यात्मक हैं और प्रायः एक ही स्तुतिग्रन्थ 'द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका' की अङ्ग जान पड़ती है, सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। दोनों एक दूसरेसे भिन्न तथा भिन्नकर्तृक प्रतीत होती है।

ऐसी हालतमें किसी द्वात्रिंशिकाका कोई वाक्य यदि कहीं उद्धृत मिलता है तो उसे उसी द्वात्रिंशिका तथा उसके कर्ता तक ही सीमित समझना चाहिये, शेष द्वात्रिंशिकाओंमेंसे किसी दूसरी द्वात्रिंशिकाके विषयके साथ उसे जोड़कर उसपरसे कोई दूसरी बात उस वक्त तक फलित नहीं की जानी चाहिये जब तक कि यह साबित न कर दिया जाय कि वह दूसरी द्वात्रिंशिका भी उसी द्वात्रिंशिकाकारकी कृति है। अस्तु।

अब देखना यह है कि इन द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतारमेंसे कौन-सी रचना सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन आचार्यकी कृति है अथवा हो सकती है? इस विषयमें पण्डित सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने अपनी प्रस्तावनामें यह प्रतिपादन किया है कि २१वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर शेष २० द्वात्रिंशिकाएँ, न्यायावतार और सन्मति ये सब एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हैं और ये सिद्धसेन वे हैं जो उक्त श्वेताम्बरीय प्रबन्धोंके अनुसार वृद्धवादीके शिष्य थे और 'दिवाकर' नामके साथ प्रसिद्धिको प्राप्त हैं। दूसरे श्वेताम्बर विद्वानोंका विना किसी जाँच-पड़तालके अनुसरण करनेवाले कितने ही जैनेतर विद्वानो की भी ऐसी ही मान्यता है और यह मान्यता ही उस सारी भूल-भ्रान्तिका मूल है जिसके कारण सिद्धसेन-विषयक जो भी परिचय-लेख अब तक लिखे गये वे सब प्रायः खिचड़ी बने हुए हैं, कितनी ही गलतफ़हमियोंको फैला रहे हैं और उनके द्वारा सिद्धसेनके समयादिकका ठीक निर्णय नहीं हो पाता। इसी मान्यताको लेकर विद्वद्वर पण्डित सुखलाल-जीकी स्थिति सिद्धसेनके समय-सम्बन्धमें बराबर डाँवाडोल चली जाती है। आप प्रस्तुत सिद्धसेनका समय कभी विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्व ५वीं शताब्दी[1] बतलाते हैं, कभी छठी शताब्दीका भी उत्तरवर्ती समय[2] कह डालते हैं, कभी सन्दिग्धरूपमें छठी या सातवी शताब्दी[3] निर्दिष्ट करते हैं और कभी ५वीं तथा छठी शताब्दीका मध्यवर्तीकाल[4] प्रतिपादन करते हैं। और बड़ी मजेकी बात यह है कि जिन प्रबन्धोंके आधारपर सिद्धसेनदिवाकर का परिचय दिया जाता है उनमें 'न्यायावतार'का नाम तो किसी तरह एक प्रबन्धमें पाया भी जाता है परन्तु सिद्धसेनकी कृतिरूपमें सन्मतिसूत्रका कोई उल्लेख कहीं भी उप-

१ सन्मतिप्रकरण-प्रस्तावना पृ० ३६, ४३, ६४, ६४। २ ज्ञानबिन्दु-परिचय पृ० ६।

३ सन्मतिप्रकरणके अंग्रेजी संस्करणका फोरवर्ड (Foreword) और भारतीयविद्यामें प्रकाशित 'श्रीसिद्ध-सेनदिवाकरना समयनो प्रश्न' नामक लेख—भा० वि० तृतीय भाग पृ० १५२।

लब्ध नहीं होता। इतनेपर भी प्रबन्ध-वर्णित सिद्धसेनकी कृतियोंमें उसे भी शामिल किया जाता है! यह कितने आश्चर्यकी बात है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

ग्रन्थकी प्रस्तावनामें पं० सुखलालजी आदिने, यह प्रतिपादन करते हुए कि 'उक्त प्रबन्धोंमें वे द्वात्रिंशिकाएँ भी जिनमें किसीकी स्तुति नहीं है और जो अन्य दर्शनों तथा स्वदर्शनके मन्तव्योंके निरूपण तथा समालोचनको लिये हुए हैं स्तुतिरूपमें परिगणित हैं और उन्हें दिवाकर(सिद्धसेन)के जीवनमें उनकी कृतिरूपसे स्थान मिला है,' इसे एक 'पहेली' ही बतलाया है जो स्वदर्शनका निरूपण करनेवाले और द्वात्रिंशिकाओंसे न उतरनेवाले (नीचा दर्जा न रखनेवाले) 'सन्मतिप्रकरण'को दिवाकरके जीवनवृत्तान्त और उनकी कृतियोंमें स्थान क्यों नहीं मिला। परन्तु इस पहेलीका कोई समुचित हल प्रस्तुत नहीं किया गया, प्रायः इतना कहकर ही सन्तोष धारण किया गया है कि 'सन्मतिप्रकरण यदि बत्तीस श्लोकपरिमाण होता तो वह प्राकृतभाषामें होते हुए भी दिवाकरके जीवनवृत्तान्तमें स्थान पाई हुई संस्कृत बत्तीसियो-के साथमें परिगणित हुए विना शायद ही रहता।' पहेलीका यह हल कुछ भी महत्व नहीं रखता। प्रबन्धोंसे इसका कोई समर्थन नहीं होता और न इस बातका कोई पता ही चलता है कि उपलब्ध जो द्वात्रिंशिकाएँ स्तुत्यात्मक नहीं हैं वे सब दिवाकर सिद्धसेनके जीवनवृत्तान्तमें दाखिल हो गई हैं और उन्हें भी उन्हीं सिद्धसेनकी कृतिरूपसे उनमें स्थान मिला है, जिससे उक्त प्रतिपादनका ही समर्थन होता—प्रबन्धवर्णित जीवनवृत्तान्तमें उनका कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है। एकमात्र प्रभावकचरितमें 'न्यायावतार'का जो असम्बद्ध, असमर्थित और असमञ्जस उल्लेख मिलता है उसपरसे उसकी गणना उस द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाके अङ्गरूपमें नहीं की जा सकती जो सब जिन-स्तुतिपरक थी, वह एक जुदा ही स्वतन्त्र ग्रन्थ है जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है। और सन्मतिप्रकरणका बत्तीस श्लोकपरिमाण न होना भी सिद्धसेनके जीवनवृत्तान्तसे सम्बद्ध कृतियोंमें उसके परिगणित होनेके लिये कोई बाधक नहीं कहा जा सकता—खासकर उस हालतमें जब कि चवालीस पद्यसंख्यावाले कल्याणमन्दिरस्तोत्र-को उनकी कृतियोंमें परिगणित किया गया है और प्रभावकचरितमें इस पद्यसंख्याका स्पष्ट उल्लेख भी साथमें मौजूद है[1]। वास्तवमें प्रबन्धोंपरसे यह ग्रन्थ उन सिद्धसेनदिवाकरकी कृति मालूम ही नहीं होता, जो वृद्धवादीके शिष्य थे और जिन्हें आगमग्रन्थोंको संस्कृतमें अनुवादित करनेका अभिप्रायमात्र व्यक्त करनेपर पाराञ्चिकप्रायश्चित्तके रूपमें बारह वर्ष तक श्वेताम्बर संघसे बाहर रहनेका कठोर दण्ड दिया जाना बतलाया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थको उन्हीं सिद्धसेनकी कृति बतलाना, यह सब बादकी कल्पना और योजना ही जान पड़ती है।

पं० सुखलालजीने प्रस्तावनामें तथा अन्यत्र भी द्वात्रिंशिकाओं, न्यायावतार और सन्मतिसूत्रका एककर्तृत्व प्रतिपादन करनेके लिये कोई खास हेतु प्रस्तुत नहीं किया, जिससे इन सब कृतियोंको एक ही आचार्यकृत माना जा सके, प्रस्तावनामें केवल इतना ही लिख दिया है कि 'इन सबके पीछे रहा हुआ प्रतिभाका समान तत्त्व ऐसा माननेके लिये ललचाता है कि ये सब कृतियाँ किसी एक ही प्रतिभाके फल हैं।' यह सब कोई समर्थ युक्तिवाद न होकर एक प्रकारसे अपनी मान्यताका प्रकाशनमात्र है; क्योंकि इन सभी ग्रन्थोंपरसे प्रतिभाका ऐसा कोई असाधारण समान तत्त्व उपलब्ध नहीं होता जिसका अन्यत्र कहीं भी दर्शन न होता हो। स्वामी समन्तभद्रके मात्र स्वयम्भूस्तोत्र और आप्तमीमांसा ग्रन्थोंके साथ इन ग्रन्थो-की तुलना करते हुए स्वयं प्रस्तावनालेखकोंने दोनोंमें 'पुष्कल साम्य'का होना स्वीकार किया

१ ततश्चतुश्चत्वारिंशद्वृत्तां स्तुतिमसौ जगौ। कल्याणमन्दिरेत्यादिविख्यातां जिनशासने ॥१४४॥

—वृद्धवादिप्रबन्ध पृ० १०१।

है और दोनों आचार्योंकी ग्रन्थनिर्माणादि-विषयक प्रतिभाका कितना ही चित्रण किया है। और भी अकलङ्क-विद्यानन्दादि कितने ही आचार्य ऐसे हैं जिनकी प्रतिभा इन ग्रन्थोंके पीछे रहनेवाली प्रतिभासे कम नहीं है, तब प्रतिभाकी समानता ऐसी कोई बात नहीं रह जाती जिसकी अन्यत्र उपलब्धि न हो सके और इसलिये एकमात्र उसके आधारपर इन सब ग्रन्थों-को, जिनके प्रतिपादनमें परस्पर कितनी ही विभिन्नताएँ पाई जाती हैं, एक ही आचार्यकृत नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है समानप्रतिभाके उक्त लालचमें पड़कर ही बिना किसी गहरी जाँच-पड़तालके इन सब ग्रन्थोंको एक ही आचार्यकृत मान लिया गया है; अथवा किसी साम्प्रदायिक मान्यताको प्रश्रय दिया गया है जबकि वस्तुस्थिति वैसी मालूम नहीं होती। गम्भीर गवेषणा और इन ग्रन्थोंकी अन्तःपरीक्षादिपरसे मुझे इस बातका पता चला है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन अनेक द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनसे भिन्न हैं। यदि २१वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर शेष २० द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हों तो वे उनमेंसे किसी भी द्वात्रिंशिकाके कर्ता नहीं हैं, अन्यथा कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हो सकते हैं। न्याया-वतारके कर्ता सिद्धसेनकी भी ऐसी ही स्थिति है वे सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनसे जहाँ भिन्न हैं वहाँ कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनसे भी भिन्न है और उक्त २० द्वात्रिंशिकाएँ यदि एकसे अधिक सिद्धसेनोंकी कृतियाँ हों तो वे उनमेंसे कुछके कर्ता हो सकते हैं, अन्यथा किसीके भी कर्ता नहीं बन सकते। इस तरह सन्मतिसूत्रके कर्ता, न्यायावतारके कर्ता और कतिपय द्वात्रिं-शिकाओंके कर्ता तीन सिद्धसेन अलग अलग है—शेष द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता इन्हींमेंसे कोई एक या दो अथवा तीनो हो सकते हैं और यह भी हो सकता है कि किसी द्वात्रिंशिकाके कर्ता इन तीनोंसे भिन्न कोई अन्य ही हों। इन तीनों सिद्धसेनोका अस्तित्वकाल एक दूसरेसे भिन्न अथवा कुछ अन्तरालको लिये हुए है और उनमें प्रथम सिद्धसेन कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता, द्वितीय सिद्धसेन सन्मतिसूत्रके कर्ता और तृतीय सिद्धसेन न्यायावतारके कर्ता है। नीचे अपने अनुसन्धान-विषयक इन्हीं सब बातोंको संक्षेपमें स्पष्ट करके बतलाया जाता है:—

(१) सन्मतिसूत्रके द्वितीय काण्डमें केवलीके ज्ञान-दर्शन-उपयोगोंकी क्रमवादिता और युगपद्वादितामें दोष दिखाते हुए अभेदवादिता अथवा एकोपयोगवादिताका स्थापन किया है। साथ ही ज्ञानावरण और दर्शनावरणका युगपत् क्षय मानते हुए भी यह बतलाया है कि दो उपयोग एक साथ कहीं नहीं होते और केवलीमें वे क्रमशः भी नहीं होते। इन ज्ञान और दर्शन उपयोगोंका भेद मनःपर्ययज्ञान पर्यन्त अथवा छद्मस्थावस्था तक ही चलता है, केवल-ज्ञान होजानेपर दोनोंमें कोई भेद नहीं रहता—तब ज्ञान कहो अथवा दर्शन एक ही बात है, दोनोमें कोई विषय-भेद चरितार्थ नहीं होता। इसके लिये अथवा आगमग्रन्थोंसे अपने इस कथनकी सङ्गति बिठलानेके लिये दर्शनकी 'अर्थविशेषरहित निराकार सामान्यग्रहणरूप' जो परिभाषा है उसे भी बदल कर रक्खा है अर्थात् यह प्रतिपादन किया है कि 'अस्पृष्ट तथा अविषयरूप पदार्थमें अनुमानज्ञानको छोड़कर जो ज्ञान होता है वह दर्शन है।' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली कुछ गाथाएँ नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं:—

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं ॥ ३ ॥
केई भणंति 'जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो' त्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयरासायणाभीरू ॥ ४ ॥

केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं ।
तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते ॥ ५ ॥
सुत्तम्मि चेव 'साई अपज्जवसियं' ति केवलं वुत्तं ।
सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होइ ॥ ७ ॥
संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि ।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं ॥ ८ ॥
दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वअरं ।
होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुवे णत्थि उवओगा ॥ ९ ॥
अण्णायं पासंतो अदिट्ठं च अरहा वियाणंतो ।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्णू त्ति वा होइ ॥१३॥
णाणं अप्पुट्ठे अविसए य अत्थम्मि दंसणं होइ ।
मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईयविसएसु ॥२५॥
जं अप्पुट्ठे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा ।
तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥३०॥

इसीसे सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन अभेदवादके पुरस्कर्ता माने जाते हैं। टीकाकार अभयदेवसूरि और ज्ञानबिन्दुके कर्ता उपाध्याय यशोविजयने भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है। ज्ञानबिन्दुमें तो एतद्विषयक सन्मति-गाथाओंकी व्याख्या करते हुए उनके इस वादको "श्रीसिद्धसेनोपज्ञनव्यमतं" (सिद्धसेनकी अपनी ही सूझ-बूझ अथवा उपजरूप नया मत) तक लिखा है। ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावनाके आदिमें पं० सुखलालजीने भी ऐसी ही घोषणा की है।

(२) पहली, दूसरी और पाँचवीं द्वात्रिंशिकाएँ युगपद्वादकी मान्यताको लिये हुए हैं; जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

क—"जगन्नैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं
यदेतत्प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि ।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृति-रस-सिद्धेस्तु विदुषां
समीक्ष्यैतद्द्वारं तव गुण-कथोत्का वयमपि ॥१-३२॥"

ख—"नाऽर्थान् विवित्ससि न वेत्स्यसि नाऽप्यवेत्सी-
र्न ज्ञातवानसि न तेऽच्युत ! वेद्यमस्ति ।
त्रैकाल्य-नित्य-विषमं युगपच्च विश्वं
पश्यस्यचिन्त्य-चरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥२-३०॥"

ग—"अनन्तमेकं युगपत् त्रिकालं शब्दादिभिर्निप्रतिघातवृत्ति ॥५-२१॥"
दुरापमाप्तं यदचिन्त्य-भूति-ज्ञानं त्वया जन्म-जराऽन्तकर्तृ
तेनाऽसि लोकानभिभूय सर्वान्सर्वज्ञ ! लोकोत्तमतामुपेतः ॥५-२२॥"

इन पद्योंमें ज्ञान और दर्शनके जो भी त्रिकालवर्ती अनन्त विषय हैं उन सबको युगपत् जानने-देखनेकी बात कही गई है अर्थात् त्रिकालगत विश्वके सभी साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सूक्ष्म-स्थूल, दृष्ट-अदृष्ट, ज्ञात-अज्ञात, व्यवहित-अव्यवहित आदि पदार्थ अपनी-अपनी अनेक-अनन्त अवस्थाओं अथवा पर्यायों-सहित वीरभगवान्‌के युगपत् प्रत्यक्ष हैं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। यहाँ प्रयुक्त हुआ 'युगपत्' शब्द अपनी खास विशेषता रखता है और वह ज्ञान-दर्शनके यौगपद्यका उसी प्रकार द्योतक है जिसप्रकार स्वामी समन्तभद्रप्रणीत आप्तमीमांसा (देवागम)के "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्" (का० १०१) इस वाक्यमें प्रयुक्त हुआ 'युगपत्' शब्द, जिसे ध्यानमें लेकर और पादटिप्पणीमे पूरी कारिकाको उद्धृत करते हुए पं० सुखलालजीने ज्ञानबिन्दुके परिचयमें लिखा है—"दिगम्बराचार्य समन्तभद्रने भी अपनी 'आप्तमीमांसा'में एकमात्र यौगपद्यपक्षका उल्लेख किया है।" साथ ही, यह भी बतलाया है कि 'भट्ट अकलङ्क'ने इस कारिकागत अपनी 'अष्टशती' व्याख्यामें यौगपद्य पक्षका स्थापन करते हुए क्रमिक पक्षका, संक्षेपमें पर स्पष्टरूपमें, खण्डन किया है, जिसे पादटिप्पणीमे निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है:—

"तज्ज्ञान-दर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्। कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत् सामान्य-विशेष-विषययोर्विगतावरणयोरयुगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराऽभावात्।"

ऐसी हालतमें इन तीन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता वे सिद्धसेन प्रतीत नहीं होते जो सन्मतिसूत्रके कर्ता और अभेदवादके प्रस्थापक अथवा पुरस्कर्ता हैं, बल्कि वे सिद्धसेन जान पड़ते हैं जो केवलीके ज्ञान और दर्शनका युगपत् होना मानते थे। ऐसे एक युगपद्वादी सिद्धसेनका उल्लेख विक्रमकी ८वीं–९वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हरिभद्रने अपनी 'नन्दीवृत्ति'में किया है। नन्दीवृत्तिमें 'केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली नियमा' इत्यादि दो गाथाओंको उद्धृत करके, जो कि जिनभद्रक्षमाश्रमणके 'विशेषणवती' ग्रन्थकी हैं, उनकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"केचन सिद्धसेनाचार्यादयः भणंति, किं ? 'युगपद्' एकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति च, कः ? केवली, न त्वन्यः, नियमात् नियमेन।"

नन्दीसूत्रके ऊपर मलयगिरिसूरिने जो टीका लिखी है उसमे उन्होंने भी युगपद्वादका पुरस्कर्ता सिद्धसेनाचार्यको बतलाया है। परन्तु उपाध्याय यशोविजयने, जिन्होंने सिद्धसेनको अभेदवादका पुरस्कर्ता बतलाया है, ज्ञानबिन्दुमे यह प्रकट किया है कि 'नन्दीवृत्तिमें सिद्धसेनाचार्यका जो युगपत् उपयोगवादित्व कहा गया है वह अभ्युपगमवादके अभिप्रायसे है, न कि स्वतन्त्रसिद्धान्तके अभिप्रायसे; क्योंकि क्रमोपयोग और अक्रम (युगपत्) उपयोगके पर्यनुयोगाऽनन्तर ही उन्होंने सन्मतिमे अपने पक्षका उद्भावन किया है'[1] जो कि ठीक नहीं है। मालूम होता है उपाध्यायजीकी दृष्टिमे सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन ही एकमात्र सिद्धसेनाचार्यके रूपमे रहे हैं और इसीसे उन्होंने सिद्धसेन-विषयक दो विभिन्न वादोंके कथनोंसे उत्पन्न हुई असङ्गतिको दूर करनेका यह प्रयत्न किया है, जो ठीक नहीं है। चुनाँचे पं० सुखलालजीने उपाध्यायजीके इस कथनको कोई महत्व न देते हुए और हरिभद्र जैसे बहुश्रुत आचार्यके इस प्राचीनतम उल्लेखकी महत्ताका अनुभव करते हुए ज्ञानबिन्दुके परिचय (पृ० ६०)में अन्तको यह लिखा है कि "समान नामवाले अनेक आचार्य होते आए हैं। इसलिये असम्भव नहीं कि

१ "यत्तु युगपदुपयोगवादित्वं सिद्धसेनाचार्याणां नन्दिवृत्तावुक्तं तदभ्युपगमवादाभिप्रायेण, न तु स्वतन्त्रसिद्धान्ताभिप्रायेण, क्रमाऽक्रमोपयोगद्वयपर्यनुयोगानन्तरमेव स्वपक्षस्य सम्मतौ उद्भावितत्वादिति द्रष्टव्यम्।" —ज्ञानबिन्दु पृ० ३३।

सिद्धसेनदिवाकरसे भिन्न कोई दूसरे भी सिद्धसेन हुए हों जो कि युगपद्वादके समर्थक हुए हों या माने जाते हों।" वे दूसरे सिद्धसेन अन्य कोई नहीं, उक्त तीनों द्वात्रिंशिकाओंमेंसे किसीके भी कर्ता होने चाहियें। अतः इन तीनों द्वात्रिंशिकाओंको सन्मतिसूत्रके कर्ता आचार्य सिद्धसेनकी जो कृति माना जाता है वह ठीक और सङ्गत प्रतीत नहीं होता। इनके कर्ता दूसरे ही सिद्धसेन हैं जो केवलीके विषयमें युगपद्-उपयोगवादी थे और जिनकी युगपद्-उपयोग-वादिताका समर्थन हरिभद्राचार्यके उक्त प्राचीन उल्लेखसे भी होता है।

(३) १९वीं निश्चयद्वात्रिंशिकामें "सर्वोपयोग-द्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम्" इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'सब जीवोंके उपयोगका द्वैविध्य अविनश्वर है।' अर्थात् कोई भी जीव संसारी हो अथवा मुक्त, छद्मस्थज्ञानी हो या केवली सभीके ज्ञान और दर्शन दोनों प्रकारके उपयोगोंका सत्व होता है—यह दूसरी बात है कि एकमें वे क्रमसे प्रवृत्त (चरितार्थ) होते हैं और दूसरेमें आवरणाभावके कारण युगपत्। इससे उस एकोपयोगवादका विरोध आता है जिसका प्रतिपादन सन्मतिसूत्रमें केवलीको लक्ष्यमें लेकर किया गया है और जिसे अभेदवाद भी कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें यह १९वीं द्वात्रिंशिका भी सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनकी कृति मालूम नहीं होती।

(४) उक्त निश्चयद्वात्रिंशिका १९में श्रुतज्ञानको मतिज्ञानसे अलग नहीं माना है—लिखा है कि 'मतिज्ञानसे अधिक अथवा भिन्न श्रुतज्ञान कुछ नहीं है, श्रुतज्ञानको अलग मानना व्यर्थ तथा अतिप्रसङ्ग दोषको लिये हुए है।' और इस तरह मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानका अभेद प्रतिपादन किया है। इसी तरह अवधिज्ञानसे भिन्न मनःपर्ययज्ञानकी मान्यताका भी निषेध किया है—लिखा है कि 'या तो द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भी, जो कि प्रार्थना और प्रतिघातके कारण चेष्टा करते हुए देखे जाते हैं, मनःपर्ययविज्ञानका मानना युक्त होगा अन्यथा मनः-पर्ययज्ञान कोई जुदा वस्तु नहीं है। इन दोनों मन्तव्योंके प्रतिपादक वाक्य इस प्रकार हैं:—

"वैयर्थ्याऽतिप्रसंगाभ्यां न मत्यधिकं श्रुतम्। सर्वेभ्यः केवलं चक्षुस्तमः-क्रम-विवेककृत् ॥१३॥"
"प्रार्थना-प्रतिघाताभ्यां चेष्टन्ते द्वीन्द्रियादयः। मनःपर्यायविज्ञानं युक्तं तेषु न वाऽन्यथा ॥१७॥"

यह सब कथन सन्मतिसूत्रके विरुद्ध है, क्योंकि उसमें श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान दोनोंको अलग ज्ञानोंके रूपमें स्पष्टरूपसे स्वीकार किया गया है—जैसा कि उसके द्वितीय[१] काण्डगत निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो ॥३॥"
"जेण मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजायाणं।
तो मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं ॥१९॥"
"मणपज्जवणाणं दंसणं ति तेणेह होइ ण य जुत्तं।
भण्णइ णाणं णोइंदियम्मि ण घडादयो जम्हा ॥२६॥"
"मइ-सुय-णाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो।
एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं दंसणं कत्तो? ॥२७॥
जं पच्चक्खग्गहणं णं इंति सुयणाण-सम्मिया अत्था।
तम्हा दंसणसद्दो ण होइ सयले वि सुयणाणे ॥२८॥"

१ तृतीयकाण्डमें भी आगमश्रुतज्ञानको प्रमाणरूपमें स्वीकार किया है।

ऐसी हालतमें यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयद्वात्रिंशिका (१९) उन्हीं सिद्धसेनाचार्यकी कृति नहीं है जो कि सन्मतिसूत्रके कर्ता हैं— दोनोंके कर्ता सिद्धसेननामकी समानताको धारण करते हुए भी एक दूसरेसे एकदम भिन्न हैं। साथ ही, यह कहनेमें भी कोई सङ्कोच नहीं होता कि न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन भी निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्तासे भिन्न हैं; क्योंकि उन्होंने श्रुतज्ञानके भेदको स्पष्टरूपसे माना है और उसे अपने ग्रन्थमें शब्दप्रमाण अथवा आगम(श्रुत-शास्त्र)प्रमाणके रूपमे रक्खा है, जैसा कि न्यायावतारके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"*दृष्टेष्टाऽव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाऽभिधायिनः । तत्त्व-ग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥८॥*
'*आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥९॥*"
"*नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि । सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥३०॥*"

इस सम्बन्धमें पं० सुखलालजीने, ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावनामे, यह बतलाते हुए कि 'निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेनने मति और श्रुतमे ही नहीं किन्तु अवधि और मनःपर्यायमें भी आगमसिद्ध भेद-रेखाके विरुद्ध तर्क करके उसे अमान्य किया है' एक फुटनोट-द्वारा जो कुछ कहा है वह इस प्रकार है:—

"यद्यपि दिवाकरश्री(सिद्धसेन)ने अपनी बत्तीसी (निश्चय० १९)में मति और श्रुतके अभेदको स्थापित किया है फिर भी उन्होने चिरप्रचलित मति-श्रुतके भेदकी सर्वथा अवगणना नहीं की है। उन्होंने न्यायावतारमें आगमप्रमाणको स्वतन्त्ररूपसे निर्दिष्ट किया है। जान पड़ता है इस जगह दिवाकरश्रीने प्राचीन परम्पराका अनुसरण किया और उक्त बत्तीसीमें अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। इस तरह दिवाकरश्रीके ग्रन्थोंमें आगमप्रमाणको स्वतन्त्र अतिरिक्त मानने और न माननेवाली दोनों दर्शनान्तरीय धाराएँ देखी जाती है जिनका स्वीकार ज्ञान-बिन्दुमें उपाध्यायजीने भी किया है।" (पृ० २४)

इस फुटनोटमें जो बात निश्चयद्वात्रिंशिका और न्यायावतारके मति-श्रुत-विषयक विरोधके समन्वयमें कही गई है वही उनकी तरफसे निश्चयद्वात्रिंशिका और सन्मतिके अवधि-मनःपर्यय-विषयक विरोधके समन्वयमें भी कही जा सकती है और समझनी चाहिये। परन्तु यह सब कथन एकमात्र तीनों ग्रन्थोंकी एककर्तृत्व-मान्यतापर अवलम्बित है, जिसका साम्प्रदायिक मान्यताको छोड़कर दूसरा कोई भी प्रबल आधार नहीं है और इसलिये जब तक द्वात्रिंशिका, न्यायावतार और सन्मतिसूत्र तीनोंको एक ही सिद्धसेनकृत सिद्ध न कर दिया जाय तब तक इस कथनका कुछ भी मूल्य नहीं है। तीनो ग्रन्थोंका एक-कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं है; प्रत्युत इसके द्वात्रिंशिका और अन्य ग्रन्थोंके परस्पर विरोधी कथनोंके कारण उनका विभिन्नकर्तृक होना पाया जाता है। जान पड़ता है पं० सुखलालजीके हृदयमे यहाँ विभिन्न सिद्धसेनोंकी कल्पना ही उत्पन्न नहीं हुई और इसी लिये वे उक्त समन्वयकी कल्पना करनेमे प्रवृत्त हुए हैं, जो ठीक नही है, क्योंकि सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन-जैसे स्वतन्त्र विचारक यदि निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्ता होते तो उनके लिये कोई वजह नहीं थी कि वे एक ग्रन्थमें प्रदर्शित अपने स्वतन्त्र विचारोंको दबाकर दूसरे ग्रन्थमें अपने विरुद्ध परम्पराके विचारोंका अनुसरण करते, खासकर उस हालतमें जब कि वे सन्मतिमें उपयोग-सम्बन्धी युगपद्वादादिकी प्राचीन परम्पराका खण्डन करके अपने अभेदवाद-विषयक नये स्वतन्त्र विचारोंको प्रकट करते हुए देखे जाते हैं—वहींपर वे श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान-विषयक अपने उन स्वतन्त्र

१ यह पद्य मूलमें स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकका है, वहींसे उद्धृत किया गया है।

विचारोंको भी प्रकट कर सकते थे, जिनके लिये ज्ञानोपयोगका प्रकरण होनेके कारण वह स्थल (सन्मतिका द्वितीय काण्ड) उपयुक्त भी था; परन्तु वैसा न करके उन्होंने वहाँ उक्त द्वात्रिंशिकाके विरुद्ध अपने विचारोंको रक्खा है और इसलिये उसपरसे यही फलित होता है कि वे उक्त द्वात्रिंशिकाके कर्ता नहीं हैं—उसके कर्ता कोई दूसरे ही सिद्धसेन होने चाहियें। उपाध्याय यशोविजयजीने द्वात्रिंशिकाका न्यायावतार और सन्मतिके साथ जो उक्त विरोध बैठता है उसके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा।

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि श्रुतकी अमान्यतारूप इस द्वात्रिंशिकाके कथनका विरोध न्यायावतार और सन्मतिके साथ ही नहीं है बल्कि प्रथम द्वात्रिंशिकाके साथ भी है, जिसके 'सुनिश्चितं नः' इत्यादि ३०वें पद्यमें 'जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः' जैसे शब्दों-द्वारा अर्हत्प्रवचनरूप श्रुतको प्रमाण माना गया है।

(५) निश्चयद्वात्रिंशिकाकी दो बातें और भी यहाँ प्रकट कर देनेकी हैं, जो सन्मतिके साथ स्पष्ट विरोध रखती है और वे निम्न प्रकार हैं:—

"ज्ञान-दर्शन-चारित्राण्युपायाः शिवहेतवः। अन्योऽन्य-प्रतिपक्षत्वाच्छुद्धावगम-शक्तयः ॥१॥"

इस पद्यमें ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रको मोक्ष-हेतुओंके रूपमें तीन उपाय(मार्ग) बतलाया है—तीनोंको मिलाकर मोक्षका एक उपाय निर्दिष्ट नहीं किया; जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रके प्रथमसूत्रमें 'मोक्षमार्गः' इस एकवचनात्मक पदके प्रयोग-द्वारा किया गया है। अतः ये तीनों यहाँ समस्तरूपमें नहीं किन्तु व्यस्त (अलग अलग) रूपमें मोक्षके मार्ग निर्दिष्ट हुए हैं और उन्हें एक दूसरेके प्रतिपक्षी लिखा है। साथ ही तीनों सम्यक् विशेषणसे शून्य हैं और दर्शनको ज्ञानके पूर्व न रखकर उसके अनन्तर रक्खा गया है जो कि समूची द्वात्रिंशिकापरसे श्रद्धान अर्थका वाचक भी प्रतीत नहीं होता। यह सब कथन सन्मतिसूत्रके निम्न वाक्योंके विरुद्ध जाता है, जिनमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रतिपत्तिसे सम्पन्न भव्यजीवको संसारके दुःखोंका अन्तकर्तारूपमें उल्लेखित किया है और कथनको हेतुवाद सम्मत बतलाया है (३-४४) तथा दर्शन शब्दका अर्थ जिनप्रणीत पदार्थोंका श्रद्धान ग्रहण किया है। साथ ही सम्यग्दर्शनके उत्तरवर्ती सम्यग्ज्ञानको सम्यग्दर्शनसे युक्त बतलाते हुए वह इस तरह सम्यग्दर्शनरूप भी है, ऐसा प्रतिपादन किया है (२-३२, ३३):—

'एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे।
पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥२-३२॥
सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं दंसणे उ भयणिज्जं।
सम्मण्णाणं च इमं ति अत्थओ होइ उववण्णं ॥२-३३॥
भविओ सम्मद्दंसण-णाण-चरित्त-पडिवत्ति-संपण्णो।
णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥३-४४॥

निश्चयद्वात्रिंशिकाका यह कथन दूसरी कुछ द्वात्रिंशिकाओंके भी विरुद्ध पड़ता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं:—

"क्रियां च संज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रिया-विहीनां च विबोधसंपदम्।
निरस्यता क्लेश समूह-शान्तये त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥१-२९॥"

"यथाऽगद-परिज्ञानं नालमाऽऽमय-शान्तये।
अचारित्रं तथा ज्ञानं न बुद्धयध्य(व्य)वसायतः ॥१७-२७॥"

इनमेंसे पहली द्वात्रिंशिकाके उद्धरणमें यह सूचित किया है कि 'वीरजिनेन्द्रने सम्यग्ज्ञानसे रहित क्रिया (चारित्र)को और क्रियासे विहीन सम्यग्ज्ञानकी सम्पदाको क्लेश-समूहकी शान्ति अथवा शिवप्राप्तिके लिये निष्फल एवं असमर्थ बतलाया है और इसलिये ऐसी क्रिया तथा ज्ञानसम्पदाका निषेध करते हुए ही उन्होंने मोक्षपद्धतिका निर्माण किया है।' और १७वीं द्वात्रिंशिकाके उद्धरणमें बतलाया है कि 'जिस प्रकार रोगनाशक औषधका परिज्ञान-मात्र रोगकी शान्तिके लिये समर्थ नहीं होता उसी प्रकार चारित्ररहित ज्ञानको समझना चाहिए—वह भी अकेला भवरोगको शान्त करनेमें समर्थ नहीं है।' ऐसी हालतमें ज्ञान दर्शन और चारित्रको अलग-अलग मोक्षकी प्राप्तिका उपाय बतलाना इन द्वात्रिंशिकाओंके भी विरुद्ध ठहरता है।

"प्रयोग-विस्रसाकर्म तदभावस्थितिस्तथा। लोकानुभाववृत्तान्तः किं धर्माऽधर्मयोः फलम् ॥१९-२४॥
आकाशमवगाहाय तदनन्या दिगन्यथा। तावप्येवमनुच्छेदात्ताभ्यां वाऽन्यमुदाहृतम् ॥१९-२५॥
प्रकाशवदनिष्टं स्यात्साध्ये नार्थस्तु न श्रमः। जीव पुद्गलयोरेव परिशुद्धः परिग्रहः ॥१९-२६॥"

इन पद्योंमें द्रव्योंकी चर्चा करते हुए धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योंकी मान्यताको निरर्थक ठहराया है तथा जीव और पुद्गलका ही परिशुद्ध परिग्रह करना चाहिए अर्थात् इन्हीं दो द्रव्योंको मानना चाहिए, ऐसी प्रेरणा की है। यह सब कथन भी सन्मतिसूत्रके विरुद्ध है, क्योंकि उसके तृतीय काण्डमें द्रव्यगत उत्पाद तथा व्यय (नाश)के प्रकारोंको बतलाते हुए उत्पादके जो प्रयोगजनित (प्रयत्नजन्य) तथा वैस्रसिक (स्वाभाविक) ऐसे दो भेद किये हैं उनमें वैस्रसिक उत्पादके भी समुदायकृत तथा ऐकत्विक ऐसे दो भेद निर्दिष्ट किये हैं और फिर यह बतलाया है कि ऐकत्विक उत्पाद आकाशादिक तीन द्रव्यों (आकाश, धर्म अधर्म)में परनिमित्त-से होता है और इसलिये अनियमित होता है। नाशकी भी ऐसी ही विधि बतलाई है। इससे सन्मतिकार सिद्धसेनकी इन तीन अमूर्तिक द्रव्योंके, जो कि एक एक है, अस्तित्व-विषयमें मान्यता स्पष्ट है। यथाः—

"उप्पाओ दुवियप्पो पओगजणिओ य विस्ससा चेव।
तत्थ उ पओगजणिओ समुदयवायो अपरिसुद्धो ॥३२॥
साभाविओ वि समुदयकओ व्व एगत्तिओ व्व होज्जाहि।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥३३॥
विगमस्स वि एस विही समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो।
समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च ॥३४॥"

इस तरह यह निश्चयद्वात्रिंशिका कतिपय द्वात्रिंशिकाओं, न्यायावतार और सन्मतिके विरुद्ध प्रतिपादनोंको लिये हुए है। सन्मतिके विरुद्ध तो वह सबसे अधिक जान पड़ती है और इसलिये किसी तरह भी सन्मतिकार सिद्धसेनकी कृति नहीं कही जा सकती। यही एक द्वात्रिंशिका ऐसी है जिसके अन्तमें उसके कर्ता सिद्धसेनाचार्यको अनेक प्रतियोंमें श्वेतपट (श्वेताम्बर) विशेषणके साथ 'द्वेष्य' विशेषणसे भी उल्लेखित किया गया है, जिसका अर्थ द्वेषयोग्य, विरोधी अथवा शत्रुका होता है और यह विशेषण सम्भवतः प्रसिद्ध जैन सैद्धान्तिक मान्यताओंके विरोधके कारण ही उन्हें अपनी ही सम्प्रदायके किसी असहिष्णु विद्वान्-द्वारा दिया गया जान पड़ता है। जिस पुष्पिकावाक्यके साथ इस विशेषण पदका प्रयोग किया गया है वह भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट पूना और एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल (कलकत्ता)की प्रतियोंमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

"द्वेष्य-श्वेतपटसिद्धसेनाचार्यस्य कृतिः निश्चयद्वात्रिंशिकैकोनविंशतिः।"

दूसरी किसी द्वात्रिंशिकाके अन्तमें ऐसा कोई पुष्पिकावाक्य नहीं है। पूर्वकी १८ और उत्तरवर्ती १ ऐसे १९ द्वात्रिंशिकाओंके अन्तमें तो कर्ताका नाम तक भी नहीं दिया है—द्वात्रिंशिकाकी संख्यासूचक एक पंक्ति 'इति' शब्दसे युक्त अथवा वियुक्त और कहीं कहीं द्वात्रिंशिकाके नामके साथ भी दी हुई है।

(६) द्वात्रिंशिकाओंकी उपर्युक्त स्थितिमें यह कहना किसी तरह भी ठीक प्रतीत नहीं होता कि उपलब्ध सभी द्वात्रिंशिकाएँ अथवा २१वीको छोड़कर बीस द्वात्रिंशिकाएँ सन्मतिकार सिद्धसेनकी ही कृतियाँ हैं; क्योंकि पहली, दूसरी, पाँचवीं और उन्नीसवीं ऐसी चार द्वात्रिंशिकाओंकी बाबत हम ऊपर देख चुके हैं कि वे सन्मतिके विरुद्ध जानेके कारण सन्मतिकारकी कृतियाँ नहीं बनतीं। शेष द्वात्रिंशिकाएँ यदि इन्हीं चार द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनोंमेसे किसी एक या एकसे अधिक सिद्धसेनोंकी रचनाएँ हैं तो भिन्न व्यक्तित्वके कारण उनमेंसे कोई भी सन्मतिकार सिद्धसेनकी कृति नहीं हो सकती। और यदि ऐसा नहीं है तो उनमेंसे अनेक द्वात्रिंशिकाएँ सन्मतिकार सिद्धसेनकी भी कृति हो सकती हैं; परन्तु हैं और अमुक अमुक है यह निश्चितरूपमें उस वक्त तक नहीं कहा जा सकता जब तक इस विषयका कोई स्पष्ट प्रमाण सामने न आजाए।

(७) अब रही न्यायावतारकी बात, यह ग्रन्थ सन्मतिसूत्रसे कोई एक शताब्दीसे भी अधिक बादका बना हुआ है, क्योंकि इसपर समन्तभद्रस्वामीके उत्तरकालीन पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) जैसे जैनाचार्योंका ही नहीं किन्तु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्योंका भी स्पष्ट प्रभाव है। डा० हर्मन जैकोबीके मतानुसार[1] धर्मकीर्तिने दिग्नागके प्रत्यक्षलक्षण[2]में 'कल्पनापोढ' विशेषणके साथ 'अभ्रान्त' विशेषणकी वृद्धिकर उसे अपने अनुरूप सुधारा था अथवा प्रशस्तरूप दिया था और इसलिये "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" यह प्रत्यक्षका धर्मकीर्ति-प्रतिपादित प्रसिद्ध लक्षण है जो उनके न्यायबिन्दु ग्रन्थमें पाया जाता है और जिसमें 'अभ्रान्त' पद अपनी खास विशेषता रखता है। न्यायावतारके चौथे पद्यमे प्रत्यक्षका लक्षण, अकलङ्कदेवकी तरह 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं' न देकर, जो "अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षम्" दिया है और अगले पद्यमे, अनुमानका लक्षण देते हुए, 'तदभ्रान्त प्रमाणत्वात्समक्षवत्' वाक्यके द्वारा उसे (प्रत्यक्षको) 'अभ्रान्त' विशेषणसे विशेषित भी सूचित किया है उससे यह साफ ध्वनित होता है कि सिद्धसेनके सामने—उनके लक्ष्यमे—धर्मकीर्तिका उक्त लक्षण भी स्थित था और उन्होंने अपने लक्षणमें 'ग्राहक' पदके प्रयोग-द्वारा जहाँ प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक ज्ञान बतलाकर धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढ' विशेषणका निरसन अथवा वेधन किया है वहाँ उनके 'अभ्रान्त' विशेषणको प्रकारान्तरसे स्वीकार भी किया है। न्यायावतारके टीकाकार सिद्धर्षि भी 'ग्राहकं' पदके द्वारा बौद्धों (धर्मकीर्ति)के उक्त लक्षणका निरसन होना बतलाते हैं। यथा—

"ग्राहकमिति च निर्णायकं दृष्टव्यं, निर्णयाभावेऽर्थग्रहणायोगात्। तेन यत् ताथागतैः प्रत्यपादि 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्' [न्या. बि. ४] इति, तदपास्तं भवति। तस्य युक्तिरिक्तत्वात्।"

इसी तरह 'त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानं' यह धर्मकीर्तिके अनुमानका लक्षण है। इसमें 'त्रिरूपात्' पदके द्वारा लिङ्गको त्रिरूपात्मक बतलाकर अनुमानके साधारण

१ देखो, 'समराइच्चकहा'की जैकोबीकृत प्रस्तावना तथा न्यायावतारकी डा. पी. एल. वैद्यकृत प्रस्तावना।

२ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।" (प्रमाणसमुच्चय)।

लक्षणको एक विशेषरूप दिया गया है। यहाँ इस अनुमानज्ञानको अभ्रान्त या भ्रान्त ऐसा कोई विशेषण नहीं दिया गया; परन्तु न्यायबिन्दुकी टीकामें धर्मोत्तरने प्रत्यक्ष-लक्षणकी व्याख्या करते और उसमें प्रयुक्त हुए 'अभ्रान्त' विशेषणकी उपयोगिता बतलाते हुए *"भ्रान्तं ह्यनुमानम्"* इस वाक्यके द्वारा अनुमानको भ्रान्त प्रतिपादित किया है। जान पड़ता है इस सबको भी लक्ष्यमें रखते हुए ही सिद्धसेनने अनुमानके "साध्याविनाभुनो(वो) लिङ्गात्साध्यनिश्चायकमनुमानं" इस लक्षणका विधान किया है और इसमें लिङ्गका 'साध्या-विनाभावी' ऐसा एकरूप देकर धर्मकीर्तिके 'त्रिरूप'का—पक्षधर्मत्व, सपक्षेसत्व तथा विपक्षा-सत्वरूपका निरसन किया है। साथ ही, 'तदभ्रान्तं समक्षवत्' इस वाक्यकी योजनाद्वारा अनुमानको प्रत्यक्षकी तरह अभ्रान्त बतलाकर बौद्धोंकी उसे भ्रान्त प्रतिपादन करनेवाली उक्त मान्यताका खण्डन भी किया है। इसी तरह 'न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात्" इत्यादि छठे पद्यमें उन दूसरे बौद्धोंकी मान्यताका खण्डन किया है जो प्रत्यक्षको अभ्रान्त नहीं मानते। यहाँ लिङ्गके इस एकरूपका और फलतः अनुमानके उक्त लक्षणका आभारी पात्र स्वामीका वह हेतुलक्षण है जिसे न्यायावतारकी २२वीं कारिकामें *"अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षण-मीरितम्"* इस वाक्यके द्वारा उद्धृत भी किया गया है और जिसके आधारपर पात्रस्वामीने बौद्धोंके त्रिलक्षणहेतुका कदर्थन किया था तथा 'त्रिलक्षणकदर्थन'[1] नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रच डाला था, जो आज अनुपलब्ध है परन्तु उसके प्राचीन उल्लेख मिल रहे हैं। विक्रमकी ८वीं–९वीं शताब्दीके बौद्ध विद्वान शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें त्रिलक्षणकदर्थन-सम्बन्धी कुछ श्लोकोंको उद्धृत किया है और उनके शिष्य कमलशीलने टीकामें उन्हें 'अन्य-थेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते" इत्यादि वाक्योंके साथ दिया है। उनमेंसे तीन श्लोक नमूनेके तौरपर इस प्रकार है—

अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता। नाऽसति त्र्यंशकस्याऽपि तस्मात् क्लीबास्त्रिलक्षणाः॥ १३६४॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यस्य तस्यैव हेतुता। दृष्टान्तौ द्वावपि स्तां वा मा वा तौ हि न कारणम्॥१३६८॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्? । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रियेण किम्?॥ १३६९॥

इनमेंसे तीसरे पद्यको विक्रमकी ७वीं–८वीं शताब्दीके[2] विद्वान अकलङ्कदेवने अपने 'न्यायविनिश्चय' (कारिका ३२३)में अपनाया है और सिद्धिविनिश्चय (प्र० ६)में इसे स्वामीका 'अमलालीढ पद' प्रकट किया है तथा वादिराजने न्यायविनिश्चय-विवरणमें इस पद्यको पात्रकेसरीसे सम्बद्ध 'अन्यथानुपपत्तिवार्तिक' बतलाया है।

धर्मकीर्तिका समय ई० सन् ६२५से ६५० अर्थात् विक्रमकी ७वी शताब्दीका प्रायः चतुर्थ चरण, धर्मोत्तरका समय ई० सन् ७२५से ७५० अर्थात् विक्रमकी ८वीं शताब्दीका प्रायः चतुर्थ चरण और पात्रस्वामीका समय विक्रमकी ७वीं शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण पाया जाता है, क्योंकि वे अकलङ्कदेवसे कुछ पहले हुए है। तब सन्मतिकार सिद्धसेनका समय वि० संवत् ६६६से पूर्वका सुनिश्चित है जैसा कि अगले प्रकरणमें स्पष्ट करके बतलाया

---

१ महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्। पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्त्तुम्॥
—मल्लिषेणप्रशस्ति (श्र० शि० ५४)

२ विक्रमसंवत् ७०० में अकलङ्कदेवका बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ है, जैसा कि अकलङ्कचरितके निम्न पद्यसे प्रकट है—
विक्रमार्क-शकाब्दीय शतसप्त-प्रमाजषि। कालेऽकलङ्क-यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

जायगा। ऐसी हालतमें जो सिद्धसेन सन्मतिके कर्ता हैं वे ही न्यायावतारके कर्ता नहीं हो सकते—समयकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थोंके कर्ता एक-दूसरेसे भिन्न होने चाहियें।

इस विषयमें पं० सुखलालजी आदिका यह कहना है[१] कि 'प्रो० टुची (Tousi) ने दिग्नागसे पूर्ववर्ती बौद्धन्यायके ऊपर जो एक निबन्ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटीके जुलाई सन् १९२९के जर्नलमें प्रकाशित कराया है उसमें बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थोंके चीनी तथा तिब्बती अनुवादके आधारपर यह प्रकट किया है कि 'योगाचार्य भूमिशास्त्र और प्रकरणार्य-वाचा नामके ग्रन्थोंमें प्रत्यक्षकी जो व्याख्या दी है उसके अनुसार प्रत्यक्षको अपरोक्ष, कल्पनापोढ, निर्विकल्प और भूल-विनाका अभ्रान्त अथवा अव्यभिचारी होना चाहिये। साथ ही अभ्रान्त तथा अव्यभिचारी शब्दोंपर नोट देते हुए बतलाया है कि ये दोनों पर्यायशब्द है, और चीनी तथा तिब्बती भाषाके जो शब्द अनुवादोंमें प्रयुक्त हैं उनका अनुवाद अभ्रान्त तथा अव्यभिचारी दोनो प्रकारसे हो सकता है। और फिर स्वयं 'अभ्रान्त' शब्दको ही स्वीकार करते हुए यह अनुमान लगाया है कि धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षकी व्याख्यामें 'अभ्रान्त' शब्दकी जो वृद्धि की है वह उनके द्वारा की गई कोई नई वृद्धि नहीं है बल्कि सौत्रान्तिकोंकी पुरानी व्याख्याको स्वीकार करके उन्होंने दिग्नागकी व्याख्यामें इस प्रकारसे सुधार किया है। योगाचार्य-भूमिशास्त्र असङ्गके गुरु मैत्रेयकी कृति है, असङ्ग (मैत्रेय ?)का समय ईसाकी चौथी शताब्दीका मध्यकाल है, इससे प्रत्यक्षके लक्षणमें 'अभ्रान्त' शब्दका प्रयोग तथा अभ्रान्तपनाका विचार विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके पहले भले प्रकार ज्ञात था अर्थात् यह (अभ्रान्त) शब्द सुप्रसिद्ध था। अतः सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारमें प्रयुक्त हुए मात्र 'अभ्रान्त' पदपरसे उस धर्मकीर्तिके बादका बतलाना जरूरी नहीं। उसके कर्ता सिद्धसेनको असङ्गके बाद और धर्मकीर्तिके पहले माननेमें कोई प्रकारका अन्तराय (विघ्न-बाधा) नहीं है।'

इस कथनमें प्रो० टुचीके कथनको लेकर जो कुछ फलित किया गया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो प्रोफेसर महाशय अपने कथनमें स्वयं भ्रान्त हैं—वे निश्चयपूर्वक यह नहीं कह रहे हैं कि उक्त दोनों मूल संस्कृत ग्रन्थोंमें प्रत्यक्षकी जो व्याख्या दी अथवा उसके लक्षणका जो निर्देश किया है उसमें 'अभ्रान्त' पदका प्रयोग पाया ही जाता है बल्कि साफ तौरपर यह सूचित कर रहे हैं कि मूलग्रन्थ उनके सामने नहीं, चीनी तथा तिब्बती अनुवाद ही सामने हैं और उनमें जिन शब्दोंका प्रयोग हुआ है उनका अर्थ अभ्रान्त तथा अव्यभिचारि दोनों रूपसे हो सकता है। तीसरा भी कोई अर्थ अथवा संस्कृत शब्द उनका वाच्य हो सकता हो तो उसका निषेध भी नहीं किया। दूसरे, उक्त स्थितिमें उन्होंने अपने प्रयोजनके लिये जो अभ्रान्त पद स्वीकार किया है वह उनकी रुचिकी बात है न कि मूलमें अभ्रान्त-पदके प्रयोगकी कोई गारंटी है और इसलिये उसपरसे निश्चितरूपमें यह फलित कर लेना कि 'विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके पहले प्रत्यक्षके लक्षणमें 'अभ्रान्त' पदका प्रयोग भले प्रकार ज्ञात तथा सुप्रसिद्ध था' फलितार्थ तथा कथनका अतिरेक है और किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। तीसरे, उन मूल संस्कृत ग्रन्थोंमें यदि 'अव्यभिचारि' पदका ही प्रयोग हो तब भी उसके स्थानपर धर्मकीर्तिने 'अभ्रान्त' पदकी जो नई योजना की है वह उसीकी योजना कहलाएगी और न्यायावतारमें उसका अनुसरण होनेसे उसके कर्ता सिद्धसेन धर्मकीर्तिके बादके ही विद्वान् ठहरेंगे। चौथे, पात्रकेसरीस्वामीके हेतु लक्षणका जो उद्धरण न्यायावतारमें पाया जाता है और जिसका परिहार नहीं किया जा सकता उससे सिद्धसेनका धर्मकीर्तिके

१ देखो, सन्मतिके गुजराती संस्करणकी प्रस्तावना पृ० ४१, ४२, और अंग्रेजी संस्करणकी प्रस्तावना पृ० १२-१४।

बाद होना और भी पुष्ट होता है। ऐसी हालतमें न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनको असङ्गके बादका और धर्मकीर्तिके पूर्वका बतलाना निरापद् नहीं है—उसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। फलतः न्यायावतार धर्मकीर्ति और पात्रस्वामीके बादकी रचना होनेसे उन सिद्धसेनाचार्यकी कृति नहीं हो सकता जो सन्मतिसूत्रके कर्ता हैं। जिन अन्य विद्वानोंने उसे अधिक प्राचीनरूपमें उल्लेखित किया है वह मात्र द्वात्रिंशिकाओं, सन्मति और न्यायावतार-को एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ मानकर चलनेका फल है।

इस तरह यहाँ तकके इस सब विवेचनपरसे स्पष्ट है कि सिद्धसेनके नामपर जो भी ग्रन्थ चढ़े हुए हैं उनमेंसे सन्मतिसूत्रको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ सुनिश्चितरूपमें सन्मतिकारकी कृति नहीं कहा जा सकता—अकेला सन्मतिसूत्र ही असपत्नभावसे अभीतक उनकी कृतिरूपमें स्थित है। कलको अविरोधिनी द्वात्रिंशिकाओंमेंसे यदि किसी द्वात्रिंशिकाका उनकी कृतिरूपमें सुनिश्चय हो गया तो वह भी सन्मतिके साथ शामिल हो सकेगी।

(ख) सिद्धसेनका समयादिक—

अब देखना यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ 'सन्मति'के कर्ता सिद्धसेनाचार्य कब हुए हैं और किस समय अथवा समयके लगभग उन्होंने इस ग्रन्थकी रचना की है। ग्रन्थमें निर्माणकालका कोई उल्लेख और किसी प्रशस्तिका आयोजन न होनेके कारण दूसरे साधनोंपरसे ही इस विषय-को जाना जा सकता है और वे दूसरे साधन हैं ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण—उसके सन्दर्भ-साहित्य-की जांच-द्वारा बाह्य प्रभाव एवं उल्लेखादिका विश्लेषण—, उसके वाक्यों तथा उसमें चर्चित खास विषयोंका अन्यत्र उल्लेख, आलोचन-प्रत्यालोचन, स्वीकार-अस्वीकार अथवा खण्डन-मण्डनादिक और साथ ही सिद्धसेनके व्यक्तित्व-विषयक महत्वके प्राचीन उद्गार। इन्हीं सब साधनों तथा दूसरे विद्वानोंके इस दिशामें किये गये प्रयत्नोंको लेकर मैंने इस विषयमें जो कुछ अनुसंधान एवं निर्णय किया है उसे ही यहाँपर प्रकट किया जाता है:—

(१) सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन केवलीके ज्ञान दर्शनोपयोग-विषयमें अभेदवादके पुरस्कर्ता हैं यह बात पहले (पिछले प्रकरणमें) बतलाई जा चुकी है। उनके इस अभेदवादका खण्डन इधर दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वप्रथम अकलंकदेवके राजवार्त्तिकभाष्यमें[१] और उधर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सर्वप्रथम जिनभद्रक्षमाश्रमणके विशेषावश्यकभाष्य तथा विशेषणवती नामके ग्रन्थोंमें[२] मिलता है। साथ ही तृतीय काण्डकी 'णत्थि पुढवीविसिट्ठो' और 'दोहिं वि णएहिं णीयं' नामकी दो गाथाएँ (५२,४९) विशेषावश्यकभाष्यमें क्रमशः गा० न० २१०४,२१९५ पर उद्धृत पाई जाती हैं[३]। इसके सिवाय, विशेषावश्यकभाष्यकी स्वोपज्ञटीकामें[४] 'णामाइतियं दव्वट्ठियस्स' इत्यादि गाथा ७५की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकारने स्वयं "द्रव्यास्तिकनयावलम्बिनौ संग्रह-व्यवहारौ ऋजुसूत्रादयस्तु पर्यायनयमतानुसारिणः आचार्यसिद्धसेनाऽभिप्रायात्" इस वाक्यके द्वारा सिद्धसेनाचार्यका नामोल्लेखपूर्वक उनके सन्मतिसूत्र-गत मतका उल्लेख किया है, ऐसा मुनि पुण्यविजयजीके मंगसिर सुदि १०मी सं० २००५के एक पत्रसे मालूम हुआ है। दोनों

---

१ राजवा० भ० अ० ६ सू० १० वा० १४-१६।

२ विशेषा० भा० गा० ३०८९ से (कोट्याचार्यकी वृत्तिमें गा० ३७२९से) तथा विशेषणवती गा० १८४ से २८०; सन्मति-प्रस्तावना पृ० ७५।

३ उद्धरण-विषयक विशेष ऊहापोहके लिये देखो, सन्मति-प्रस्तावना पृ० ६८, ६९।

४ इस टीकाके अस्तित्वका पता हालमें मुनि पुण्यविजयजीको चला है। देखो, श्री आत्मानन्दप्रकाश

ग्रन्थकार विक्रमकी ७वीं शताब्दीके प्रायः उत्तरार्धके विद्वान् हैं। अकलंकदेवका विक्रम सं० ७०० में बौद्धोंके साथ महान वाद हुआ है जिसका उल्लेख पिछले एक फुटनोटमें अकलंकचरितके आधारपर किया जा चुका है, और जिनभद्रक्षमाश्रमणने अपना विशेषावश्यकभाष्य शक सं० ५३१ अर्थात् वि० सं० ६६६ में बनाकर समाप्त किया है। ग्रन्थका यह रचनाकाल उन्होंने स्वयं ही ग्रन्थके अन्तमें दिया है, जिसका पता श्री जिनविजयजीको जैसलमेर भण्डारकी एक अतिप्राचीन प्रतिको देखते हुए चला है। ऐसी हालतमें सन्मतिकार सिद्धसेनका समय विक्रम सं० ६६६से पूर्वका सुनिश्चित है परन्तु वह पूर्वका समय कौन-सा है?—कहाँ तक उसकी कमसे कम सीमा है ?—यही आगे विचारणीय है।

(२) सन्मतिसूत्रमें उपयोग-द्वयके क्रमवादका जोरोंके साथ खण्डन किया गया है, यह बात भी पहले बतलाई जा चुकी तथा मूल ग्रन्थके कुछ वाक्योंको उद्धृत करके दर्शाई जा-चुकी है। उस क्रमवादका पुरस्कर्ता कौन है और उसका समय क्या है ? यह बात यहाँ खास तौरसे जान लेनेकी है। हरिभद्रसूरिने नन्दिवृत्तिमें तथा अभयदेवसूरिने सन्मतिकी टीकामें यद्यपि जिन-भद्रक्षमाश्रमणको क्रमवादके पुरस्कर्तारूपमें उल्लेखित किया है परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि वे तो सन्मतिकारके उत्तरवर्ती हैं, जबकि होना चाहिये कोई पूर्ववर्ती। यह दूसरी बात है कि उन्होंने क्रमवादका जोरोंके साथ समर्थन और व्यवस्थित रूपसे स्थापन किया है, संभवतः इसीसे उनको उस वादका पुरस्कर्ता समझ लिया गया जान पड़ता है। अन्यथा, क्षमाश्रमणजी स्वयं अपने निम्न वाक्यों द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि उनसे पहले युगपद्वाद, क्रमवाद तथा अभेदवादके पुरस्कर्ता हो चुके हैं:—

"केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा ।
अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं ॥ १८४ ॥
अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स ।
जं चि य केवलणाणं तं चि य से दरिसणं विंति ॥ १८५ ॥ —विशेषणवती

पं० सुखलालजी आदिने भी कथन-विरोधको महसूस करते हुए प्रस्तावनामें यह स्वीकार किया है कि जिनभद्र और सिद्धसेनसे पहले क्रमवादके पुरस्कर्तारूपमें कोई विद्वान् होने ही चाहिये जिनके पक्षका सन्मतिमें खण्डन किया गया है; परन्तु उनका कोई नाम उपस्थित नहीं किया। जहाँ तक मुझे मालूम है वे विद्वान निर्युक्तिकार भद्रबाहु होने चाहियें, जिन्होंने आवश्यकनिर्युक्तिके निम्न वाक्य-द्वारा क्रमवादकी प्रतिष्ठा की है—

णाणंमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयंमि उवजुत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्सा(स्स वि) जुगवं दो णत्थि उवओगा ॥ ९७८ ॥

ये निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली न होकर द्वितीय भद्रबाहु हैं जो अष्टाङ्गनिमित्त तथा मन्त्र-विद्याके पारगामी होनेके कारण 'नैमित्तिक'[1] कहे जाते हैं, जिनकी कृतियोंमें

---

१ पावयणी१ धम्मकही२ वाई३ णेमित्तिओ४ तवस्सी५ य ।
विज्जा६ सिद्धो७ य कई८ अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ १ ॥
अजरक्ख१ नदिसेणो२ सिरिगुत्तविणेय३ भद्दबाहू४ य ।
खवग५ऽज्जखवुड६ समिया७ दिवायरो८ वा इहाऽऽहरणा ॥२॥
—'छेदसूत्रकार अने निर्युक्तिकार' लेखमें उद्धृत।

भद्रबाहुसंहिता और उपसग्गहरस्तोत्रके भी नाम लिये जाते हैं और जो ज्योतिर्विद् वराहमिहरके सगे भाई माने जाते हैं। इन्होंने दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्तिमें स्वयं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुको 'प्राचीन' विशेषणके साथ नमस्कार किया है[1], उत्तराध्ययननिर्युक्तिमें मरणविभक्तिके सभी द्वारोंका क्रमशः वर्णन करनेके अनन्तर लिखा है कि 'पदार्थोंको सम्पूर्ण तथा विशद-रीतिसे जिन (केवलज्ञानी) और चतुर्दशपूर्वी[2] (श्रुतकेवली ही) कहते हैं—कह सकते हैं', और आवश्यक आदि ग्रन्थोंपर लिखी गई अनेक निर्युक्तियोंमें आर्यवज्र, आर्यरक्षित, पादलिप्ताचार्य, कालिकाचार्य और शिवभूति आदि कितने ही ऐसे आचार्योंके नामों, प्रसङ्गों, मन्तव्यों अथवा तत्सम्बन्धी अन्य घटनाओंका उल्लेख किया गया है जो भद्रबाहु श्रुतकेवलीके बहुत कुछ बाद हुए हैं—किसी-किसी घटनाका समय तक भी साथमें दिया है; जैसे निह्नवोंकी क्रमशः उत्पत्तिका समय वीरनिर्वाणसे ६०९ वर्ष बाद तकका बतलाया है। ये सब बातें और इसी प्रकारकी दूसरी बातें भी निर्युक्तिकार भद्रबाहुको श्रुतकेवली बतलानेके विरुद्ध पड़ती हैं—भद्रबाहुश्रुतकेवलीद्वारा उनका उस प्रकारसे उल्लेख तथा निरूपण किसी तरह भी नहीं बनता। इस विषयका सप्रमाण विशद एवं विस्तृत विवेचन मुनि पुण्यविजयजीने आजसे कोई सात वर्ष पहले अपने 'छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार' नामके उस गुजराती लेखमें किया है जो 'महावीर जैनविद्यालय-रजत-महोत्सव-ग्रन्थ'में मुद्रित है[3]। साथ ही यह भी बतलाया है कि 'तित्थोगालिप्रकीर्णक, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक-हारिभद्रीया टीका परिशिष्ट-पर्व आदि प्राचीन मान्य ग्रन्थोंमें जहाँ चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु (श्रुतकेवली)का चरित्र वर्णन किया गया है वहाँ द्वादशवर्षीय दुष्काल .... छेदसूत्रोंकी रचना आदिका वर्णन तो है परन्तु वराहमिहरका भाई होना, निर्युक्तिग्रन्थों, उपसर्गहरस्तोत्र, भद्रबाहुसंहितादि ग्रन्थोंकी रचनासे तथा नैमित्तिक होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई उल्लेख नहीं है। इससे छेदसूत्रकार भद्रबाहु और निर्युक्ति आदिके प्रणेता भद्रबाहु एक दूसरेसे भिन्न व्यक्तियाँ हैं।

इन निर्युक्तिकार भद्रबाहुका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्रायः मध्यकाल है; क्योंकि इनके समकालीन सहोदर भ्राता वराहमिहरका यही समय सुनिश्चित है—उन्होंने अपनी 'पञ्चसिद्धान्तिका'के अन्तमें, जो कि उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अन्तकी कृति मानी जाती है, अपना समय स्वयं निर्दिष्ट किया है और वह है शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६२। यथा—

"सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ। अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥८॥"

जब निर्युक्तिकार भद्रबाहुका उक्त समय सुनिश्चित हो जाता है तब यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं रहती कि सन्मतिकार सिद्धसेनके समयकी पूर्व सीमा विक्रमकी छठी शताब्दीका तृतीय चरण है और उन्होंने क्रमवादके पुरस्कर्ता उक्त भद्रबाहु अथवा उनके अनुसर्ता किसी शिष्यादिके क्रमवाद-विषयक कथनको लेकर ही सन्मतिमें उसका खण्डन किया है।

---

१ वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयणाणिं। सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

२ सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिआ कमसो। सगलणिउणे पयत्थे जिणचउदसपुव्वि भासते ॥२३३॥

३ इससे भी कई वर्ष पहले आपके गुरु मुनि श्रीचतुरविजयजीने श्रीविजयानन्दसूरीश्वरजन्मशताब्दि-स्मारकग्रन्थमें मुद्रित अपने 'श्रीभद्रबाहुस्वामी' नामक लेखमें इस विषयको प्रदर्शित किया था और यह सिद्ध किया था कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहुसे भिन्न द्वितीय भद्रबाहु हैं और वराहमिहरके सहोदर होनेसे उनके समकालीन हैं। उनके इस लेखका अनुवाद अनेकान्त वर्ष ३ किरण १२में प्रकाशित हो चुका है।

इस तरह सिद्धसेनके समयकी पूर्व सीमा विक्रमकी छठी शताब्दीका तृतीय चरण और उत्तरसीमा विक्रमकी सातवीं शताब्दीका तृतीय चरण (वि० सं० ५६२से ६६६) निश्चित होती है। इन प्रायः सौ वर्षके भीतर ही किसी समय सिद्धसेनका ग्रन्थकाररूपमें अवतार हुआ और यह ग्रन्थ बना जान पड़ता है।

(३) सिद्धसेनके समय-सम्बन्धमें पं० सुखलालजी संघवीकी जो स्थिति रही है उसको ऊपर बतलाया जा चुका है। उन्होंने अपने पिछले लेखमें, जो 'सिद्धसेनदिवाकरना समयनो प्रश्न' नामसे 'भारतीयविद्या'के तृतीय भाग (श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ)में प्रकाशित हुआ है, अपनी उस गुजराती प्रस्तावना-कालीन मान्यताको जो सन्मतिके अंग्रेजी संस्करणके अवसरपर फोरवर्ड (foreword)[1] लिखे जानेके पूर्व कुछ नये बौद्ध ग्रन्थोंके सामने आनेके कारण बदल गई थी और जिसकी फोरवर्डमें सूचना की गई है फिरसे निश्चित-रूप दिया है अर्थात् विक्रमको पाँचवीं शताब्दीको ही सिद्धसेनका समय निर्धारित किया है और उसीको अधिक सङ्गत बतलाया है। अपनी इस मान्यताकके समर्थनमें उन्होंने जिन दो प्रमाणोंका उल्लेख किया है उनका सार इस प्रकार है, जिसे प्रायः उन्हींके शब्दोंके अनुवादरूपमें सङ्कलित किया गया है:—

(प्रथम) जिनभद्रक्षमाश्रमणने अपने महान् ग्रन्थ विशेषावश्यक भाष्यमें, जो विक्रम संवत् ६६६में बनकर समाप्त हुआ है, और लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेनदिवाकरके उपयोगाऽभेदवादकी तथैव दिवाकरकी कृति सन्मतितकके टीकाकार मल्लवादीके उपयोग-यौग-पद्यवादकी विस्तृत समालोचना की है। इससे तथा मल्लवादीके द्वादशारनयचक्रके उपलब्ध प्रतीकोंमें दिवाकरका सूचन मिलने और जिनभद्रगणिका सूचन न मिलनेसे मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती और सिद्धसेन मल्लवादीसे भी पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। मल्लवादीको यदि विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्धमें मान लिया जाय तो सिद्धसेन दिवाकरका समय जो पाँचवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है वह अधिक सङ्गत लगता है।

(द्वितीय) पूज्यपाद देवनन्दीने अपने जैनेन्द्रव्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' इस सूत्रमें सिद्धसेनके मतविशेषका उल्लेख किया है और वह यह है कि सिद्धसेनके मतानुसार 'विद्' धातुके 'र्' का आगम होता है, चाहे वह धातु सकर्मक ही क्यों न हो। देवनन्दीका यह उल्लेख बिल्कुल सच्चा है, क्योंकि दिवाकरकी जो कुछ थोड़ीसी संस्कृत कृतियाँ बची है उनमेंसे उनकी नवमी द्वात्रिंशिकाके २२वें पद्यमें 'विद्रतेः' ऐसा 'र्' आगम वाला प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण जब 'सम्' उपसर्ग पूर्वक और अकर्मक 'विद्' धातुके 'र्' आगम स्वीकार करते हैं तब सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक 'विद्' धातुका 'र्' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय, देवनन्दी पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि नामकी तत्त्वार्थ-टीकाके सप्तम अध्यायगत १३वें सूत्रकी टीकामें सिद्धसेनदिवाकरके एक पद्यका अंश 'उक्तं च' शब्दके साथ उद्धृत पाया जाता है और वह है 'वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।" यह पद्यांश उनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६वें पद्यका प्रथम चरण है। पूज्यपाद देवनन्दीका समय वर्तमान मान्यतानुसार विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध है अर्थात् पाँचवीं शताब्दीके अमुक भागसे छठी शताब्दीके अमुक भाग तक लम्बा है। इससे सिद्धसेनदिवाकरकी पाँचवीं शताब्दीमें होनेकी बात जो अधिक सङ्गत कही गई है उसका खुलासा हो जाता है। दिवाकरको देवनन्दीसे

१ फोरवर्डके लेखकरूपमें यद्यपि नाम 'दलसुख मालवणिया'का दिया हुआ है परन्तु उसमें दी हुई उक्त सूचनाको पण्डित सुखलालजीने उक्त लेखमें अपनी ही सूचना और अपना ही विचार-परिवर्तन स्वीकार किया है।

पूर्ववर्ती या देवनन्दीके वृद्ध समकालीनरूपमें मानिये तो भी उनका जीवनसमय पाँचवीं शताब्दीसे अर्वाचीन नहीं ठहरता।

इनमेंसे प्रथम प्रमाण तो वास्तवमें कोई प्रमाण ही नहीं है; क्योंकि वह 'मल्लवादीको यदि विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्धमें मान लिया जाय तो' इस भ्रान्त कल्पनापर अपना आधार रखता है। परन्तु क्यों मा- लिया जाय अथवा क्यों मान लेना चाहिये, इसका कोई स्पष्टीकरण साथमें नहीं है। मल्लवादीका जिनभद्रसे पूर्ववर्ती होना प्रथम तो सिद्ध नहीं है, सिद्ध होता भी तो उन्हें जिनभद्रके समकालीन वृद्ध मानकर अथवा २५ या ५० वर्ष पहले मानकर भी उस पूर्ववर्तित्वको चरितार्थ किया जा सकता है, उसके लिये १०० वर्षसे भी अधिक समय पूर्वकी बात मान लेनेकी कोई जरूरत नहीं रहती। परन्तु वह सिद्ध ही नहीं है; क्योंकि उनके जिस उपयोग-यौगपद्यवादकी विस्तृत समालोचना जिनभद्रके दो ग्रन्थोंमें बतलाई जाती है उनमें कहीं भी मल्लवादी अथवा उनके किसी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं है, होता तो पण्डितजी उस उल्लेखवाले अंशको उद्धृत करके ही सन्तोष धारण करते, उन्हें यह तर्क करनेकी जरूरत ही न रहती और न रहनी चाहिये थी कि 'मल्लवादीके द्वादशारनयचक्रके उपलब्ध प्रतीकोंमें दिवाकरका सूचन मिलने और जिनभद्रका सूचन न मिलनेसे मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती हैं'। यह तर्क भी उनका अभीष्ट-सिद्धिमें कोई सहायक नहीं होता; क्योंकि एक तो किसी विद्वानके लिये यह लाजिमी नहीं कि वह अपने ग्रन्थमें पूर्ववर्ती अमुक अमुक विद्वानोंका उल्लेख करे ही करे। दूसरे, मूल द्वादशारनयचक्रके जब कुछ प्रतीक ही उपलब्ध है वह पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तब उसके अनुपलब्ध अंशोंमें भी जिनभद्रका अथवा उनके किसी ग्रन्थादिकका उल्लेख नहीं इसकी क्या गारण्टी? गारण्टीके न होने और उल्लेखोपलब्धिकी सम्भावना बनी रहनेसे मल्लवादीको जिनभद्रके पूर्ववर्ती बतलाना तर्कदृष्टिसे कुछ भी अर्थ नहीं रखता। तीसरे, ज्ञान-बिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावनामें पण्डित सुखलालजी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि "अभी हमने उस सारे सटीक नयचक्रका अवलोकन करके देखा तो उसमें कहीं भी केवलज्ञान और केवलदर्शन (उपयोगद्वय)के सम्बन्धमें प्रचलित उपर्युक्त वादों (क्रम, युगपत्, और अभेद) पर थोड़ी भी चर्चा नहीं मिली। यद्यपि सन्मतितर्ककी मल्लवादि-कृत-टीका उपलब्ध नहीं है पर जब मल्लवादि अभेदसमर्थक दिवाकरके ग्रन्थपर टीका लिखें तब यह कैसे माना जा सकता है कि उन्होंने दिवाकरके ग्रन्थकी व्याख्या करते समय उसीमें उनके विरुद्ध अपना युगपत् पक्ष किसी तरह स्थापित किया हो। इस तरह जब हम सोचते हैं तब यह नहीं कह सकते हैं कि अभयदेवके युगपद्वादके पुरस्कर्तारूपसे मल्लवादीके उल्लेखका आधार नयचक्र या उनकी सन्मतिटीकामेंसे रहा होगा।" साथ ही, अभयदेवने सन्मतिटीकामें विशेषणवतीकी "केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा" इत्यादि गाथाओंको उद्धृत करके उनका अर्थ देते हुए 'केई' पदके वाच्यरूपमें मल्लवादीका जो नामोल्लेख किया है और उन्हें युगपद्वाद-का पुरस्कर्ता बतलाया है उनके उस उल्लेखकी अभ्रान्ततापर सन्देह व्यक्त करते हुए, पण्डित सुखलालजी लिखते हैं—"अगर अभयदेवका उक्त उल्लेखांश अभ्रान्त एवं साधार है तो अधिकसे अधिक हम यही कल्पना कर सकते हैं कि मल्लवादीका कोई अन्य युगपत् पक्ष-समर्थक छोटा बड़ा ग्रन्थ अभयदेवके सामने रहा होगा अथवा ऐसे मन्तव्यवाला कोई उल्लेख उन्हें मिला होगा।" और यह बात ऊपर बतलाई ही जा चुकी है कि अभयदेवसे कई शताब्दी पूर्वके प्राचीन आचार्य हरिभद्रसूरिने उक्त 'केई' पदके वाच्यरूपमें सिद्धसेनाचार्यका नाम उल्लेखित किया है, पं० सुखलालजीने उनके उस उल्लेखको महत्व दिया है तथा सन्मति-कारसे भिन्न दूसरे सिद्धसेनकी सम्भावना व्यक्त की है, और वे दूसरे सिद्धसेन उन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हो सकते हैं जिनमें युगपद्वादका समर्थन पाया जाता है, इसे भी ऊपर

दर्शाया जा चुका है। इस तरह जब मल्लवादीका जिनभद्रसे पूर्ववर्ती होना सुनिश्चित ही नहीं है तब उक्त प्रमाण और भी निःसार एवं बेकार हो जाता है। साथ ही, अभयदेवका मल्लवादी-को युगपद्वादका पुरस्कर्ता बतलाना भी भ्रान्त ठहरता है।

यहाँपर एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि हालमें मुनि श्रीजम्बू-विजयजीने मल्लवादीके सटीक नयचक्रका पारायण करके उसका विशेष परिचय 'श्री आत्मा-नन्दप्रकाश' (वर्ष ४५ अङ्क ७)में प्रकट किया है, उसपरसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि मल्लवादीने अपने नयचक्रमें पद-पदपर 'वाक्यपदीय' ग्रन्थका उपयोग ही नहीं किया बल्कि उसके कर्ता भर्तृहरिका नामोल्लेख और भर्तृहरिके मतका खण्डन भी किया है। इन भर्तृहरिका समय इतिहासमें चीनी यात्री इत्सिङ्गके यात्राविवरणादिके अनुसार ई० सन ६००से ६५० (वि० सं० ६५७से ७०७) तक माना जाता है; क्योंकि इत्सिङ्गने जब सन ६९१में अपना यात्रा-वृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरिका देहावसान हुए ४० वर्ष बीत चुके थे। और वह उस समयका प्रसिद्ध वैयाकरण था। ऐसी हालतमें भी मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती नहीं कहे जा सकते। उक्त समयादिककी दृष्टिसे वे विक्रमकी प्रायः आठवीं-नवमी शताब्दीके विद्वान् हो सकते हैं और तब उनका व्यक्तित्व न्यायबिन्दुकी धर्मोत्तर[1]-टीकापर टिप्पण लिखनेवाले मल्लवादीके साथ एक भी हो सकता है। इस टिप्पणमें मल्लवादीने अनेक स्थानोंपर न्यायबिन्दुकी विनीतदेव-कृत-टीकाका उल्लेख किया है और इस विनीतदेवका समय राहुलसांकृत्यायनने, वादन्यायकी प्रस्तावनामें, धर्मकीर्तिके उत्तराधिकारियोंकी एक तिब्बती सूचीपरसे ई० सन् ७७५से ८०० (वि० सं० ८५७) तक निश्चित किया है।

इस सारी वस्तुस्थितिको ध्यानमें रखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि विक्रमकी १४वीं शताब्दीके विद्वान प्रभाचन्द्रने अपने प्रभावकचरितके विजयसिंहसूरि-प्रबन्धमें बौद्धों और उनके व्यन्तरोंको वादमें जीतनेका जो समय मल्लवादीका वीरवत्सरसे ८८४ वर्ष बादका अर्थात् विक्रम सवत् ४१४ दिया है[2] और जिसके कारण ही उन्हें श्वेताम्बर समाजमें इतना प्राचीन माना जाता है तथा मुनि जिनविजयने भी जिसका एकवार पक्ष लिया है[3] उसके उल्लेखमें जरूर कुछ भूल हुई है। पं० सुखलालजीने भी उस भूलको महसूस किया है, तभी उसमें प्रायः १०० वर्षकी वृद्धि करके उसे विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध (वि० सं० ५५०) तक मान लेनेकी बात अपने इस प्रथम प्रमाणमें कही है। डा० पी० एल० वैद्य एम० ए०ने न्यायावतारकी प्रस्तावनामें, इस भूल अथवा गलतीका कारण 'श्रीवीरविक्रमात्'के स्थानपर 'श्रीवीरवत्सरात्' पाठान्तरका हो जाना सुझाया है। इस प्रकारके पाठान्तरका हो जाना कोई अस्वाभाविक अथवा असंभाव्य नहीं है किन्तु सहजसाध्य जान पड़ता है। इस सुझावके अनुसार यदि शुद्ध पाठ 'वीरविक्रमात्' हो तो मल्लवादीका समय वि० सं० ८८४ तक पहुँच जाता है और यह समय मल्लवादीके जीवनका प्रायः अन्तिम समय हो सकता है और तब मल्लवादीको हरिभद्रके प्रायः समकालीन कहना होगा; क्योंकि हरिभद्रने 'उक्तं च वादिमुख्येन मल्लवादिना' जैसे शब्दोंके द्वारा अनेकान्तजयपताकाकी टीकामें मल्लवादीका स्पष्ट उल्लेख किया है। हरिभद्रका समय भी विक्रमकी ९वीं शताब्दीके तृतीय-

---

१ बौद्धाचार्य धर्मोत्तरका समय पं० राहुलसांकृत्यायनने वादन्यायकी प्रस्तावनामें ई० स० ७२५से ७५०, (वि० सं० ७८२से ८०७) तक व्यक्त किया है।

२ श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीति-संयुक्ते। जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चाऽपि ॥८३॥

३ देखो, जैनसाहित्यसंशोधक भाग २।

चतुर्थ चरण तक पहुँचता है;' क्योंकि वि० सं० ८५७के लगभग बनी हुई भट्टजयन्तकी न्यायमञ्जरीका 'गम्भीरगर्जितारम्भ' नामका एक पद्य हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयमें उद्धृत मिलता है, ऐसा न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें उद्घोषित किया है। इसके सिवाय, हरिभद्रने स्वयं शास्त्रवार्तासमुच्चयके चतुर्थस्तवनमें 'एतेनैव प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना' इत्यादि वाक्यके द्वारा बौद्धाचार्य शान्तरक्षितके मतका उल्लेख किया है और स्वोपज्ञटीकामें 'सूक्ष्मबुद्धिना'का 'शान्तरक्षितेन' अर्थ देकर उसे स्पष्ट किया है। शान्तरक्षित धर्मोत्तर तथा विनीतदेवके भी प्रायः उत्तरवर्ती हैं और उनका समय राहुलसांकृत्यायनने वादन्यायके परिशिष्टोंमें ई० सन् ८४० (वि० सं० ८९७) तक बतलाया है। हरिभद्रको उनके समकालीन समझना चाहिये। इससे हरिभद्रका कथन उक्त समयमें बाधक नहीं रहता और सब कथनोंकी सङ्गति ठीक बैठ जाती है।

नयचक्रके उक्त विशेष परिचयसे यह भी मालूम होता है कि उस ग्रन्थमें सिद्धसेन नामके साथ जो भी उल्लेख मिलते हैं उनमें सिद्धसेनको 'आचार्य' और 'सूरि' जैसे पदोंके साथ तो उल्लेखित किया है परन्तु 'दिवाकर' पदके साथ कहीं भी उल्लेखित नहीं किया है, तभी मुनि श्रीजम्बूविजयजीको यह लिखनेमें प्रवृत्ति हुई है कि "आ सिद्धसेनसूरि सिद्धसेन-दिवाकरज सभवतः होवा जोइये" अर्थात् यह सिद्धसेनसूरि सम्भवतः सिद्धसेनदिवाकर ही होने चाहिये—भले ही दिवाकर नामके साथ वे उल्लेखित नहीं मिलते। उनका यह लिखना उनकी धारणा और भावनाका ही प्रतीक कहा जा सकता है, क्योंकि 'होना चाहिये'का कोई कारण साथमें व्यक्त नहीं किया गया। पं० सुखलालजीने अपने उक्त प्रमाणमें इन सिद्धसेनको 'दिवाकर' नामसे ही उल्लेखित किया है, जो कि वस्तुस्थितिका बड़ा ही गलत निरूपण है और अनेक भूल-भ्रान्तियोंको जन्म देने वाला है—किसी विषयको विचारके लिये प्रस्तुत करनेवाले निष्पक्ष विद्वानोंके द्वारा अपनी प्रयोजनादि-सिद्धिके लिये वस्तुस्थितिका ऐसा गलत चित्रण नहीं होना चाहिये। हाँ, उक्त परिचयसे यह भी मालूम होता है कि सिद्धसेन नामके साथ जो उल्लेख मिल रहे हैं उनमेंसे कोई भी उल्लेख सिद्धसेनदिवाकरके नामपर चढ़े हुए उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे किसीमें भी नहीं मिलता है। नमूनेके तौरपर जो दो उल्लेख[२] परिचयमें उद्धृत किये गये हैं उनका विषय प्रायः शब्दशास्त्र (व्याकरण) तथा शब्दनयादिसे सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ता है। इससे भी सिद्धसेनके उन उल्लेखोंको दिवाकरके उल्लेख बतलाना व्यर्थ ठहरता है।

रही द्वितीय प्रमाणकी बात, उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि तीसरी और नवमी द्वात्रिंशिकाके कर्ता जो सिद्धसेन हैं वे पूज्यपाद देवनन्दीसे पहले हुए हैं—उनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दी भी हो सकता है। इससे अधिक यह सिद्ध नहीं होता कि सन्मति-सूत्रके कर्ता सिद्धसेन भी पूज्यपाद देवनन्दीसे पहले अथवा विक्रमकी ५वी शताब्दीमें हुए हैं।

---

१. ९वीं शताब्दीके द्वितीय चरण तकका समय तो मुनि जिनविजयजीने भी अपने हरिभद्रके समय-निर्णयवाले लेखमें बतलाया है। क्योंकि विक्रमसंवत् ८३५ (शक सं० ७००)में बनी हुई कुवलय-मालामें उद्योतनसूरिने हरिभद्रको न्यायविद्यामें अपना गुरु लिखा है। हरिभद्रके समय, सयतजीवन और उनके साहित्यिक कार्योंकी विशालताको देखते हुए उनकी आयुका अनुमान सौ वर्षके लगभग लगाया जा सकता है और वे मल्लवादीके समकालीन होनेके साथ-साथ कुवलयमालाकी रचनाके कितने ही वर्ष बाद तक जीवित रह सकते हैं।

२ "तथा च आचार्यसिद्धसेन आह—
"यत्र ह्यर्थो वाचं व्यभिचरति न (ना) भिधानं तत् ॥" [वि० २७७]
"अस्ति-भवति-विद्यति-वर्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्था इत्यविशेषणोक्तत्वात् सिद्धसेनसूरिणा।"[वि. १६६

इसको सिद्ध करनेके लिये पहले यह सिद्ध करना होगा कि सन्मतिसूत्र और तीसरी तथा नवमी द्वात्रिंशिकाएँ तीनों एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हैं। और यह सिद्ध नहीं है। पूज्यपादसे पहले उपयोगद्वयके क्रमवाद तथा अभेदवादके कोई पुरस्कर्ता नहीं हुए हैं, होते तो पूज्यपाद अपनी सर्वार्थसिद्धिमें सनातनसे चले आये युगपद्वादका प्रतिपादनमात्र करके ही न रह जाते बल्कि उसके विरोधी वाद अथवा वादोंका खण्डन जरूर करते परन्तु ऐसा नहीं है[1], और इससे यह मालूम होता है कि पूज्यपादके समयमें केवलीके उपयोग-विषयक क्रमवाद तथा अभेदवाद प्रचलित नहीं हुए थे—वे उनके बाद ही सविशेषरूपसे घोषित तथा प्रचारको प्राप्त हुए है, और इसीसे पूज्यपादके बाद अकलङ्कादिकके साहित्यमें उनका उल्लेख तथा खण्डन पाया जाता है। क्रमवादका प्रस्थापन निर्युक्तिकार भद्रबाहुके द्वारा और अभेदवादका प्रस्थापन सन्मतिकार सिद्धसेनके द्वारा हुआ है। उन वादोंके इस विकासक्रमका समर्थन जिनभद्रकी विशेषणवती-गत उन दो गाथाओं ('केई भणंति जुगवं' इत्यादि नम्बर १८४, १८५)से भी होता है जिनमें युगपत्, क्रम और अभेद इन तीनों वादोंके पुरस्कर्ताओंका इसी क्रमसे उल्लेख किया गया है और जिन्हें ऊपर (नं० ७में) उद्धृत किया जा चुका है।

पं० सुखलालजीने निर्युक्तिकार भद्रबाहुको प्रथम भद्रबाहु और उनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी मान लिया है[2], इसीसे इन वादोंके क्रम-विकासको समझनेमें उन्हें भ्रान्ति हुई है। और वे यह प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त हुए है कि पहले क्रमवाद था, युगपत्‌वाद बादको सबसे पहले वाचक उमास्वाति[3]-द्वारा जैन वाङ्मयमें प्रविष्ट हुआ और फिर उसके बाद अभेदवादका प्रवेश मुख्यतः सिद्धसेनाचार्यके द्वारा हुआ है। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो युगपत्‌वादका प्रतिवाद भद्रबाहुकी आवश्यकनियुक्तिके "सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो णत्थि उवओगा" इस वाक्यमें पाया जाता है जो भद्रबाहुको दूसरी शताब्दीका विद्वान माननेके कारण उमास्वातिके पूर्वका[4] ठहरता है और इसलिये उनके विरुद्ध जाता है। दूसरे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके नियमसार-जैसे ग्रन्थों और आचार्य भूतबलिके षट्खण्डागममें भी युगपत्‌वादका स्पष्ट विधान पाया जाता है। ये दोनों आचार्य उमास्वातिके पूर्ववर्ती[5] हैं और इनके युगपद्वाद-विधायक वाक्य नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं:—

"जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयर-पयास-तावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥" (णियम० १५९)।

"सयं भयवं उप्पण्ण-णाण-दरिसी सदेवाऽसुर-माणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बधं मोक्खं इड्ढिं ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणोमाणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सच्चं समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति।"—(षट्खण्डा० ४ पयडि अ० सू० ७८)।

---

१ "स उपयोगो द्विविधः। ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति। ....साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।"

२ ज्ञानबिन्दु परिचय पृ० ५, पादटिप्पण।

३ "मतिज्ञानादिचतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपत्। सम्भिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत्सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।"
—तत्त्वार्थभाष्य १ ३१।

४ उमास्वातिवाचकको पं० सुखलालजीने विक्रमकी तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीके मध्यका विद्वान् बतलाया है। (ज्ञा० वि० परि० पृ० ५४)।

५ इस पूर्ववर्तित्वका उल्लेख श्रवणबेल्गोलादिके शिलालेखों तथा अनेक ग्रन्थप्रशस्तियोंमें पाया जाता है।

ऐसी हालतमें युगपत्वादकी सर्वप्रथम उत्पत्ति उमास्वातिसे बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता, जैनवाङ्मयमें इसकी अविकल धारा अतिप्राचीन कालसे चली आई है। यह दूसरी बात है कि क्रम तथा अभेदकी धाराएँ भी उसमें कुछ बादको शामिल होगई हैं; परन्तु विकास-क्रम युगपत्वादसे ही प्रारम्भ होता है जिसकी सूचना विशेषणवतीकी उक्त गाथाओं ('केई भणंति जुगवं' इत्यादि)से भी मिलती है। दिगम्बराचार्य श्रीकुन्दकुन्द, समन्तभद्र और पूज्यपादके ग्रन्थोंमें क्रमवाद तथा अभेदवादका कोई ऊहापोह अथवा खण्डन न होना पं० सुखलालजीको कुछ अखरा है; परन्तु इसमें अखरनेकी कोई बात नहीं है। जब इन आचार्योंके सामने ये दोनों वाद आए ही नहीं तब वे इन वादोंका ऊहापोह अथवा खण्डनादिक कैसे कर सकते थे? अकलङ्कके सामने जब ये वाद आए तब उन्होंने उनका खण्डन किया ही है, चुनाँचे पं० सुखलालजी स्वयं ज्ञानबिन्दुके परिचयमें यह स्वीकार करते हैं कि "ऐसा खण्डन हम सबसे पहले अकलङ्ककी कृतियोंमें पाते हैं।" और इसलिये उनसे पूर्वकी—कुन्दकुन्द, समन्तभद्र तथा पूज्यपादकी—कृतियोंमें उन वादोंकी कोई चर्चाका न होना इस बातको और भी साफ तौरपर सूचित करता है कि इन दोनों वादोंकी प्रादुर्भूति उनके समयके बाद हुई है। सिद्धसेनके सामने ये दोनों वाद थे—दोनोंकी चर्चा सन्मतिमें की गई है—अतः ये सिद्धसेन पूज्यपादके पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। पूज्यपादने जिन सिद्धसेनका अपने व्याकरणमें नामोल्लेख किया है वे कोई दूसरे ही सिद्धसेन होने चाहियें।

यहाँपर एक खास बात नोट किये जानेके योग्य है और वह यह कि पं० सुखलालजी सिद्धसेनको पूज्यपादसे पूर्ववर्ती सिद्ध करनेके लिये पूज्यपादीय जैनेन्द्र व्याकरणका उक्त सूत्र तो उपस्थित करते हैं परन्तु उसी व्याकरणके दूसरे समकक्ष सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" को देखते हुए भी अनदेखा कर जाते हैं—उसके प्रति गजनिमीलन-जैसा व्यवहार करते हैं—और ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावना (पृ० ५५)में बिना किसी हेतुके ही यहाँ तक लिखनेका साहस करते हैं कि "पूज्यपादके उत्तरवर्ती दिगम्बराचार्य समन्तभद्र"ने अमुक उल्लेख किया! साथ ही, इस बातको भी भुला जाते हैं कि सन्मतिकी प्रस्तावनामें वे स्वयं पूज्यपादको समन्तभद्रका उत्तरवर्ती बतला आए हैं और यह लिख आए हैं कि 'स्तुतिकाररूपसे प्रसिद्ध इन दोनों जैनाचार्योंका उल्लेख पूज्यपादने अपने व्याकरणके उक्त सूत्रोंमें किया है, उनका कोई भी प्रकारका प्रभाव पूज्यपादकी कृतियोंपर होना चाहिये।' मालूम नहीं फिर उनके इस साहसिक कृत्यका क्या रहस्य है! और किस अभिनिवेशके वशवर्ती होकर उन्होंने अब यों ही चलती कलमसे समन्तभद्रको पूज्यपादके उत्तरवर्ती कह डाला है!! इसे अथवा इसके औचित्यको वे ही स्वयं समझ सकते हैं। दूसरे विद्वान् तो इसमें कोई औचित्य एवं न्याय नहीं देखते कि एक ही व्याकरण ग्रन्थमें उल्लेखित दो विद्वानोंमेंसे एकको उस ग्रन्थकारके पूर्ववर्ती और दूसरेको उत्तरवर्ती बतलाया जाय और वह भी बिना किसी युक्तिके। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित सुखलालजीकी बहुत पहलेसे यह धारणा बनी हुई है कि सिद्धसेन समन्तभद्रके पूर्ववर्ती हैं और वे जैसे तैसे उसे प्रकट करनेके लिये कोई भी अवसर चूकते नहीं हैं। हो सकता है कि उसीकी धुनमें उनसे यह कार्य बन गया हो, जो उस प्रकटीकरणका ही एक प्रकार है, अन्यथा वैसा कहनेके लिये कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं है।

पूज्यपाद समन्तभद्रके पूर्ववर्ती नहीं किन्तु उत्तरवर्ती हैं, यह बात जैनेन्द्रव्याकरणके उक्त "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्रसे ही नहीं किन्तु श्रवणबेल्गोलके शिलालेखों आदिसे भी भले प्रकार जानी जाती है[1]। पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि'पर समन्तभद्रका स्पष्ट प्रभाव है, इसे

१ देखो, श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं० ४० (६४), १०८ (२५८); 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृ० १४१-१४३; तथा 'जैनजगत' वर्ष ६ अङ्क १५-१६में प्रकाशित 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी०

'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक लेखमें स्पष्ट करके बतलाया जा चुका है[१]। समन्तभद्रके 'रत्नकरण्ड'का 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यम्' नामका शास्त्रलक्षणवाला पूरा पद्य न्यायावतारमें उद्धृत है, जिसको रत्नकरण्डमें स्वाभाविकी और न्यायावतारमें उद्धरण-जैसी स्थितिको खूब खोलकर अनेक युक्तियोंके साथ अन्यत्र दर्शाया जा चुका है[२]—उसके प्रक्षिप्त होनेकी कल्पना-जैसी बात भी अब नहीं रही; क्योंकि एक तो न्यायावतारका समय अधिक दूरका न रहकर टीकाकार सिद्धर्षिके निकट पहुँच गया है दूसरे उसमें अन्य कुछ वाक्य भी समर्थनादिके रूपमें उद्धृत पाये जाते हैं। जैसे "साध्याविनाभुवो हेतोः" जैसे वाक्यमें हेतुका लक्षण आजानेपर भी "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्" इस वाक्यमें उन पात्रस्वामीके हेतुलक्षणको उद्धृत किया गया है जो समन्तभद्रके देवागमसे प्रभावित होकर जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे। इसी तरह "दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्" इत्यादि आठवें पद्यमें शाब्द (आगम) प्रमाणका लक्षण आजानेपर भी अगले पद्यमें समन्तभद्रका "आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्" इत्यादि शास्त्रका लक्षण समर्थनादिके रूपमें उद्धृत हुआ समझना चाहिये। इसके सिवाय, न्यायावतारपर समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा)का भी स्पष्ट प्रभाव है; जैसा कि दोनों ग्रन्थोंमें प्रमाणके अनन्तर पाये जानेवाले निम्न वाक्योंकी तुलनापरसे जाना जाता है:—

> *"उपेक्षा फलमाऽऽद्यस्य शेषस्याऽऽदान-हान-धीः।*
> *पूर्वा(र्वं) वाऽज्ञान नाशो वा सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे ॥१०२॥" (देवागम)*
> *"प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञान विनिवर्तनम्।*
> *केवलस्य सुखोपेक्षे[३] शेषस्याऽऽदान-हान धीः ॥२८॥" (न्यायावतार)*

ऐसी स्थितिमें व्याकरणादिके कर्ता पूज्यपाद और न्यायावतारके कर्ता **सिद्धसेन** दोनों ही स्वामी समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं, इसमें संदेहके लिये कोई स्थान नहीं है। सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन चूंकि निर्युक्तिकार एवं नैमित्तिक भद्रबाहुके बाद हुए हैं—उन्होंने भद्रबाहुके द्वारा पुरस्कृत उपयोग-क्रमवादका खण्डन किया है—और इन भद्रबाहुका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण पाया जाता है, यही समय सन्मतिकार सिद्धसेनके समयकी पूर्वसीमा है, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। पूज्यपाद इस समयसे पहले गङ्गवंशी राजा अविनीत (ई० सन ४३०-४८२) तथा उसके उत्तराधिकारी दुर्विनीतके समयमें हुए हैं और उनके एक शिष्य वज्रनन्दीने विक्रम संवत ५२६में द्राविडसंघकी स्थापना की है जिसका उल्लेख देवसेनसूरिके दर्शनसार (वि० सं० ९९०) ग्रन्थमें मिलता है[४]। अतः सन्मतिकार सिद्धसेन पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं, पूज्यपादके उत्तरवर्ती होनेसे समन्तभद्रके भी उत्तरवर्ती हैं ऐसा सिद्ध होता है। और इसलिये समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्र तथा आप्तमीमांसा (देवागम) नामक दो

पाठक' शीर्षक लेख पृ० १८-२३, अथवा 'दि एनल्स ऑफ दि भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिटयूट पूना वाल्यूम १५ पार्ट १-२में प्रकाशित Samantabhadra's date and Dr K. B. Pathak पृ० ८१-८८।

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११ पृ० ३४६-३५२।

२ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृ० १२६-१३१ तथा अनेकान्त वर्ष ६ कि० १से ४में प्रकाशित 'रत्नकरण्डके कर्तृत्वविषयमें मेरा विचार और निर्णय' नामक लेख पृ० १०२-१०४।

३ यहां 'उपेक्षा'के साथ सुखकी वृद्धि की गई है, जिसका अज्ञाननिवृत्ति तथा उपेक्षा(रागादिककी निवृत्तिरूप अनासक्ति)के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

४ "सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो। णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२५॥"

ग्रन्थोंकी सिद्धसेनीय सन्मतिसूत्रके साथ तुलना करके पं० सुखलालजीने दोनों आचार्योंके इन ग्रन्थोंमें जिस 'वस्तुगत पुष्कल साम्य'की सूचना सन्मतिकी प्रस्तावना (पृ० ६६)में की है उसके लिये सन्मतिसूत्रको अधिकांशमें सामन्तभद्रीय ग्रन्थोंके प्रभावादिका आभारी समझना चाहिये। अनेकान्त-शासनके जिस स्वरूप-प्रदर्शन एवं गौरव-ख्यापनकी ओर समन्तभद्रका प्रधान लक्ष्य रहा है उसीको सिद्धसेनने भी अपने ढङ्गसे अपनाया है। साथ ही सामान्य-विशेष-मातृक नयोंके सर्वथा-असर्वथा, सापेक्ष-निरपेक्ष और सम्यक्-मिथ्यादि-स्वरूपविषयक समन्तभद्रके मौलिक निर्देशोंको भी आत्मसात् किया है। सन्मतिका कोई कोई कथन समन्तभद्रके कथनसे कुछ मतभेद अथवा उसमें कुछ वृद्धि या विशेष आयोजनको भी साथमें लिये हुए जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है:—

दव्वं खित्तं कालं भावं पज्जाय-देस-संजोगे ।
भेदं च पडुच्च समा भावाणं पण्णवणपज्जा ॥३–६०॥

इस गाथामें बतलाया है कि 'पदार्थोंकी प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश संयोग और भेदको आश्रित करके ठीक होती है;' जब कि समन्तभद्रने "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्" जैसे वाक्योंके द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस चतुष्टय-को ही पदार्थप्ररूपणका मुख्य साधन बतलाया है। इससे यह साफ जाना जाता है कि समन्त-भद्रके उक्त चतुष्टयमें सिद्धसेनने बादको एक दूसरे चतुष्टयकी और वृद्धि की है, जिसका पहलेसे पूर्वके चतुष्टयमें ही अन्तर्भाव था।

रही द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनकी बात, पहली द्वात्रिंशिकामें एक उल्लेख-वाक्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है, जो इस विषयमें अपना खास महत्व रखता है:—

य एष षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः ।
अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥१३॥

इसमें बतलाया है कि हे वीरजिन! यह जो षट् प्रकारके जीवोंके निकायों (समूहों) का विस्तार है और जिसका मार्ग दूसरोंके अनुभवमें नहीं आया वह आपके द्वारा उदित हुआ —बतलाया गया अथवा प्रकाशमें लाया गया है। इसीसे जो सर्वज्ञकी परीक्षा करनेमें समर्थ हैं वे (आपको सर्वज्ञ जानकर) प्रसन्नताके उदयरूप उत्सवके साथ आपमें स्थित हुए हैं—बड़े प्रसन्नचित्तसे आपके आश्रयमें प्राप्त हुए और आपके भक्त बने हैं।' वे समर्थ-सर्वज्ञ-परीक्षक कौन हैं जिनका यहाँ उल्लेख है और जो आप्तप्रभु वीरजिनेन्द्रकी सर्वज्ञरूपमें परीक्षा करनेके अनन्तर उनके सुदृढ़ भक्त बने हैं? वे हैं स्वामी समन्तभद्र, जिन्होंने आप्तमीमांसा-द्वारा सबसे पहले सर्वज्ञकी परीक्षा[1] की है, जो परीक्षाके अनन्तर वीरकी स्तुतिरूपमें 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रके रचनेमें प्रवृत्त हुए हैं[2] और जो स्वयम्भू स्तोत्रके निम्न पद्योंमें सर्वज्ञका उल्लेख करते हुए उसमें अपनी स्थिति एवं भक्तिको 'त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्" इस वाक्यके द्वारा स्वयं व्यक्त

---

१ अकलङ्कदेवने भी 'अष्टशती' भाष्यमें आप्तमीमांसाको "सर्वज्ञविशेषपरीक्षा" लिखा है और वादि-राजसूरिने पार्श्वनाथचरितमें यह प्रतिपादित किया है कि 'उसी देवागम(आप्तमीमांसा)के द्वारा स्वामी (समन्तभद्र)ने आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है':—

"स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य न विस्मयावहम् । देवागमेन सर्वज्ञो येनाऽद्यापि प्रदर्श्यते ॥"

२ युक्त्यनुशासनकी प्रथमकारिकामें प्रयुक्त हुए 'अद्य' पदका अर्थ श्रीविद्यानन्दने टीकामें "अस्मिन् काले परीक्षाऽवसानसमये" दिया है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाके बाद युक्त्यनुशासनकी रचनाको सूचित किया है।

करते हैं, जो कि "त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः" इस वाक्यका स्पष्ट मूलाधार जान पड़ता है :—

बहिरन्तरप्युभयथा च, करणमविधाति नाऽर्थकृत् ।
नाथ ! युगपदखिलं च सदा, त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ ॥१२९॥

अत एव ते बुध नुतस्य, चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
न्याय-विहितमवधार्य जिने, त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१३०॥

इन्हीं स्वामी समन्तभद्रको मुख्यतः लक्ष्य करके उक्त द्वात्रिंशिकाके अगले दो पद्य[1] कहे गये जान पड़ते हैं, जिनमेंसे एकमें उनके द्वारा अर्हन्तमें प्रतिपादित उन दो दो बातोंका उल्लेख है जो सर्वज्ञ-विनिश्चयकी सूचक है और दूसरेमें उनके प्रथित यशकी मात्राका बड़े गौरवके साथ कीर्तन किया गया है। अतः इस द्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेन भी समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं। समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रका शैलीगत, शब्दगत और अर्थगत कितना ही साम्य भी इसमें पाया जाता है, जिसे अनुसरण कह सकते हैं और जिसके कारण इस द्वात्रिंशिकाको पढ़ते हुए कितनी ही बार इसके पदविन्यासादिपरसे ऐसा भान होता है मानो हम स्वयम्भूस्तोत्र पढ़ रहे हैं। उदाहरणके तौरपर स्वयम्भूस्तोत्रका प्रारम्भ जैसे उपजाति-छन्दमें 'स्वयम्भुवा भूत' शब्दोंसे होता है वैसे ही इस द्वात्रिंशिकाका प्रारम्भ भी उपजाति-छन्दमें 'स्वयम्भुवं भूत' शब्दोंसे होता है। स्वयम्भूस्तोत्रमें जिस प्रकार समन्त संहृत, गत, उदित, समीक्ष्य, प्रवादिन्, अनन्त, अनेकान्त-जैसे कुछ विशेष शब्दोंका, मुने, नाथ, जिन, वीर-जैसे सम्बोधन-पदोंका और १ जितक्षुल्लकवादिशासनः, २ स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः, ३ नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः, ४ शेरते प्रजाः, ५ अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि ६ नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयः, ७ अचिन्त्यमीहितम्, आर्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुत, ८ सहस्राक्षः, ९ त्वद्द्विषः, १० शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं वपुः, ११ स्थिता वयं-जैसे विशिष्ट पद-वाक्योंका प्रयोग पाया जाता है उसी प्रकार पहली द्वात्रिंशिकामें भी उक्त शब्दों तथा सम्बोधन पदोंके साथ १ प्रपञ्चित-क्षुल्लकतर्कशासनैः, २ स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सराः, ३ परैरनालीढपथस्त्वयोदितः, ४ जगत् शेरते, ५ त्वदीयमाहात्म्यविशेषसंभली भारती, ६ समीक्ष्यकारिणः, ७ अचिन्त्यमाहात्म्यं, ८ भूतसहस्रनेत्रं, ९ त्वत्प्रतिघातनोन्मुखैः, १० वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं, ११ स्थिता वयं-जैसे विशिष्ट पद-वाक्योंका प्रयोग देखा जाता है, जो यथाक्रम स्वयम्भूस्तोत्रगत उक्त पदोंके प्रायः समकक्ष है। स्वयम्भूस्तोत्रमें जिस तरह जिनस्तवनके साथ जिनशासन—जिनप्रवचन तथा अनेकान्तका प्रशंसन एवं महत्त्व-ख्यापन किया गया है और वीरजिनेन्द्रके शासन-माहात्म्यको 'तव जिनशासनविभवः जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः' जैसे शब्दोंद्वारा कलिकालमें भी जयवन्त बतलाया गया है उसी तरह इस द्वात्रिंशिकामें भी जिनस्तुतिके साथ जिनशासनादिका संक्षेपमें कीर्तन किया गया है और वीरभगवानको 'सच्छासनवर्द्धमान' लिखा है।

इस प्रथम द्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेन ही यदि अगली चार द्वात्रिंशिकाओंके भी कर्ता हैं जैसा कि पं० सुखलालजीका अनुमान है, तो ये पाँचों ही द्वात्रिंशिकाएँ, जो वीरस्तुति-से सम्बन्ध रखती हैं और जिन्हें मुख्यतया लक्ष्य करके ही आचार्य हेमचन्द्रने 'क सिद्धसेन-

---

१ "वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं पराऽनुकम्पा सफलं च भाषितम् ।
न यस्य सर्वज्ञ विनिश्चयस्त्वयि द्वयं करोत्येतदसौ न मानुषः ॥१४॥
अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः ।
न तावदप्येकसमूहसंहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥१५॥

स्तुतयो महार्थाः' जैसे वाक्यका उच्चारण किया जान पड़ता है, स्वामी समन्तभद्रके उत्तरकालीन रचनाएँ हैं। इन सभीपर समन्तभद्रके ग्रन्थोंकी छाया पड़ी हुई जान पड़ती है।

इस तरह स्वामी समन्तभद्र न्यायावतारके कर्ता, सन्मतिके कर्ता और उक्त द्वात्रिंशिका अथवा द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता तीनो ही सिद्धसेनोंसे पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। उनका समय विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दी है, जैसा कि दिगम्बर पट्टावली'में शकसंवत् ६० (वि० सं० १९५)के उल्लेखानुसार दिगम्बर समाजमें आमतौरपर माना जाता है। श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें उन्हें 'सामन्तभद्र' नामसे उल्लेखित किया है और उनके समयका पट्टाचार्यरूपमें प्रारम्भ वीरनिर्वाणसंवत् ६४३ अर्थात् वि० सं० १७३से बतलाया है। साथ ही यह भी उल्लेखित किया है कि उनके पट्टशिष्यने वीर नि० सं० ६९५ (वि० सं० २२५)[२] में एक प्रतिष्ठा कराई है, जिससे उनके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी तीसरी शताब्दीके प्रथम चरण तक पहुँच जाती है[३]। इससे समय-सम्बन्धी दोनों सम्प्रदायोंका कथन मिल जाता है और प्रायः एक ही ठहरता है।

ऐसी वस्तुस्थितिमें पं० सुखलालजीका अपने एक दूसरे लेख 'प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन दिवाकर'में, जो कि 'भारतीयविद्या'के उसी अङ्क (तृतीय भाग)में प्रकाशित हुआ है, इन तीनों ग्रन्थोंके कर्ता तीन सिद्धसेनोंको एक ही सिद्धसेन बतलाते हुए यह कहना कि 'यही सिद्धसेन दिवाकर "आदि जैनतार्किक"—'जैन परम्परामें तर्कविद्याका और तर्कप्रधान संस्कृत वाङ्मयका आदि प्रणेता", "आदि जैनकवि", "आदि जैनस्तुतिकार", "आद्य जैनवादी" और 'आद्य जैनदार्शनिक" है' क्या अर्थ रखता है और कैसे सङ्गत हो सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सिद्धसेनके व्यक्तित्व और इन सब विषयोंमें उनकी विद्या-योग्यता एवं प्रतिभाके प्रति बहुमान रखते हुए भी स्वामी समन्तभद्रकी पूर्वस्थिति और उनके अद्वितीय-अपूर्व साहित्यकी पहलेसे मौजूदगीमें मुझे इन सब उद्गारोंका कुछ भी मूल्य मालूम नहीं होता और न पं० सुखलालजीके इन कथनोंमें कोई सार ही जान पड़ता है कि—(क) 'सिद्धसेनका सन्मति प्रकरण जैनदृष्टि और जैन मन्तव्योंको तर्कशैलीसे स्पष्ट करने तथा स्थापित करनेवाला जैनवाङ्मयमें सर्वप्रथम ग्रन्थ है' तथा (ख) स्वामी समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन नामक ये दो दार्शनिक स्तुतियाँ सिद्धसेनकी कृतियोंका अनुकरण है'। तर्कादि-विषयोंमें समन्तभद्रकी योग्यता और प्रतिभा किसीसे भी कम नहीं किन्तु सर्वोपरि रही है, इसीसे अकलङ्कदेव और विद्यानन्दादि-जैसे महान् तार्किकों-दार्शनिकों एवं वादविशारदों आदिने उनके यशका खुला गान किया है, भगवज्जिनसेनने आदिपुराणमें उनके यशको कवियों, गमकों, वादियों तथा वाग्मियोंके मस्तकपर चूडामणिकी तरह सुशोभित बतलाया है (इसी यशका पहली द्वात्रिंशिकाके 'तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः' जैसे शब्दोंमें उल्लेख है) और साथ ही उन्हें कविब्रह्मा—कवियोंको उत्पन्न करनेवाला विधाता—लिखा है तथा उनके वचन-रूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गये, ऐसा उल्लेख भी किया है[४]। और इसीलिये

---

१ देखो, हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक डा० भाण्डारकरकी सन् १८८३-८४की रिपोर्ट पृ० ३२०; मिस्टर लेविस राइसकी 'इन्स्क्रिपशन्स ऐट् श्रवणबेल्गोल'की प्रस्तावना और कर्णाटक-शब्दानुशासनकी भूमिका।

२ कुछ पट्टावलियोंमें यह समय वी० नि० सं० ५९५ अथवा विक्रमसंवत् १२५ दिया है जो किसी गलतीका परिणाम है और मुनि कल्याणविजयने अपने द्वारा सम्पादित 'तपागच्छपट्टावली'में उसके सुधारकी सूचना की है।

३ देखो, मुनिश्री कल्याणविजयजी द्वारा सम्पादित 'तपागच्छपट्टावली' पृ० ७९-८१।

४ विशेषके लिये देखो, 'सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ' पृ० २५से ५१।

उपलब्ध जैनवाङ्मयमें समयादिककी दृष्टिसे आद्य तार्किकादि होनेका यदि किसीको मान अथवा श्रेय प्राप्त है तो वह स्वामी समन्तभद्रको ही प्राप्त है। उनके देवागम (आप्तमीमांसा), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुतिविद्या (जिनशतक) जैसे ग्रन्थ आज भी जैनसमाजमें अपनी जोड़का कोई ग्रन्थ नहीं रखते। इन्हीं ग्रन्थोंको मुनि कल्याणविजयजीने भी उन निर्ग्रन्थ-चूडामणि श्रीसमन्तभद्रकी कृतियाँ बतलाया है जिनका समय भी श्वेताम्बर मान्यतानुसार विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दी है[1]। तब सिद्धसेनको विक्रमकी ५वीं शताब्दीका मान लेनेपर भी समन्तभद्रकी किसी कृतिको सिद्धसेनकी कृतिका अनुकरण कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

इस सब विवेचनपरसे स्पष्ट है कि पं० सुखलालजीने सन्मतिकार सिद्धसेनको विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीका विद्वान् सिद्ध करनेके लिये जो प्रमाण उपस्थित किये हैं वे उस विषयको सिद्ध करनेके लिये बिल्कुल असमर्थ हैं। उनके दूसरे प्रमाणसे जिन सिद्धसेनका पूज्यपादसे पूर्ववर्तित्व एवं विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीमें होना पाया जाता है वे कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्त्ता हैं न कि सन्मतिसूत्रके, जिसका रचनाकाल निर्युक्तिकार भद्रबाहुके समयसे पूर्वका सिद्ध नहीं होता और इन भद्रबाहुका समय प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् मुनि श्रीचतुरविजयजी और मुनिश्री पुण्यविजयजीने भी अनेक प्रमाणोंके आधारपर विक्रमकी छठी शताब्दीके प्रायः तृतीय चरण तकका निश्चित किया है। पं० सुखलालजीका उसे विक्रमकी दूसरी शताब्दी बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अतः सन्मतिकार सिद्धसेनका जो समय विक्रमकी छठी शताब्दीके तृतीय चरण और सातवीं शताब्दीके तृतीय चरणका मध्यवर्ती काल निर्धारित किया गया है वही समुचित प्रतीत होता है, जब तक कि कोई प्रबल प्रमाण उसके विरोधमें सामने न लाया जावे। जिन दूसरे विद्वानोंने इस समयसे पूर्वकी अथवा उत्तरसमयकी कल्पना की है वह सब उक्त तीन सिद्धसेनोंको एक मानकर उनमेंसे किसी एकके ग्रन्थको मुख्य करके की गई है अर्थात् पूर्वकी समय कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके उल्लेखोंको लक्ष्य करके और उत्तरका समय न्यायावतारको लक्ष्य करके कल्पित किया गया है। इस तरह तीन सिद्धसेनोंकी एकत्वमान्यता ही सन्मतिसूत्रकारके ठीक समय-निर्णयमें प्रबल बाधक रही है, इसीके कारण एक सिद्धसेनके विषय अथवा तत्सम्बन्धी घटनाओंको दूसरे सिद्धसेनोंके साथ जोड़ दिया गया है, और यही वजह है कि प्रत्येक सिद्धसेनका परिचय थोड़ा-बहुत खिचड़ी बना हुआ है।

(ग) सिद्धसेनका सम्प्रदाय और गुणकीर्तन—

अब विचारणीय यह है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन किस सम्प्रदायके आचार्य थे अर्थात् दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते हैं या श्वेताम्बर सम्प्रदायसे और किस रूपमें उनका गुण-कीर्तन किया गया है। आचार्य उमास्वाति(मी) और स्वामी समन्तभद्रकी तरह सिद्धसेनाचार्यकी भी मान्यता दोनों सम्प्रदायोंमें पाई जाती है। यह मान्यता केवल विद्वत्ताके नाते आदर-सत्कारके रूपमें नहीं और न उनके किसी मन्तव्य अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित किसी वस्तुतत्व या सिद्धान्त-विशेषका ग्रहण करनेके कारण ही है बल्कि उन्हें अपने अपने सम्प्रदायके गुरुरूपमें माना गया है, गुर्वावलियों तथा पट्टावलियोंमें उनका उल्लेख किया गया है और उसी गुरुदृष्टिसे उनके स्मरण, अपनी गुणज्ञताको साथमें व्यक्त करते हुए, लिखे गये हैं अथवा उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गई हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें सिद्धसेनको सेनगण (संघ)का आचार्य माना जाता है और सेनगणकी पट्टावली[2]में उनका उल्लेख है। हरिवंश-

१ तपागच्छपट्टावली भाग पहला पृ० ८०। २ जैनसिद्धान्तभास्कर किरण १ पृ० ३८।

पुराणको शकसम्वत् ७०५में बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यने पुराणके अन्तमें दी हुई अपनी गुर्वावलीमें सिद्धसेनके नामका भी उल्लेख किया है[1] और हरिवंशके प्रारम्भमें समन्तभद्रके स्मरणानन्तर सिद्धसेनका जो गौरवपूर्ण स्मरण किया है वह इस प्रकार है:—

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः। बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥३०॥

इसमें बतलाया है कि 'सिद्धसेनाचार्यकी निर्मल सूक्तियाँ (सुन्दर उक्तियाँ) जगत्-प्रसिद्ध-बोध (केवलज्ञान)के धारक (भगवान्) वृषभदेवकी निर्दोष सूक्तियोंकी तरह सत्पुरुषोंकी बुद्धिको बोधित करती हैं—विकसित करती हैं।'

यहाँ सूक्तियोंमें सन्मतिके साथ कुछ द्वात्रिंशिकाओंकी उक्तियाँ भी शामिल समझी जा सकती है।

उक्त जिनसेन-द्वारा प्रशंसित भगवज्जिनसेनने आदिपुराणमें सिद्धसेनको अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनका जो महत्वका कीर्तन एवं जयघोष किया है वह यहाँ खासतौरसे ध्यान देने योग्य है:—

"कवयः सिद्धसेनाद्या वयं तु कवयो मताः। मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः ।
प्रवादि-करियूथानां केशरी नयकेशरः । सिद्धसेन कविर्जीयाद्विकल्प-नखरांकुरः ॥"

इन पद्योंमेंसे प्रथम पद्यमें भगवज्जिनसेन जो स्वयं एक बहुत बड़े कवि हुए हैं, लिखते हैं कि 'कवि तो (वास्तवमें) सिद्धसेनादिक हैं, हम तो कवि मान लिये गये है। (जैसे) मणि तो वास्तवमें पद्मरागादिक है किन्तु काच भी (कभी कभी किन्हींके द्वारा) मेचकमणि समझ लिया जाता है।' और दूसरे पद्यमे यह घोषणा करते है कि 'जो प्रवादिरूप हाथियोंके समूहके लिये विकल्परूप-नुकीले नखोंसे युक्त और नयरूप केशरोंको धारण किये हुए केशरी-सिंह हैं वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों—अपने प्रवचन-द्वारा मिथ्यावादियोंके मतोंका निरसन करते हुए सदा ही लोकहृदयोंमें अपना सिक्का जमाए रक्खें—अपने वचन-प्रभावको अङ्कित किये रहें।'

यहाँ सिद्धसेनका कविरूपसे स्मरण किया गया है और उसीसे उनके वादित्वगुणको भी समाविष्ट किया गया है। प्राचीन समयमें कवि साधारण कविता-शायरी करनेवालोंको नहीं कहते थे बल्कि उस प्रतिभाशाली विद्वानको कहते थे जो नये-नये सन्दर्भ, नई-नई मौलिक रचनाएँ तय्यार करनेमें समर्थ हो अथवा प्रतिभा ही जिसका उज्जीवन हो, जो नाना वर्णनाओं-में निपुण हो, कृती हो, नाना अभ्यासोंमें कुशाग्रबुद्धि हो और व्युत्पत्तिमान (लौकिक व्यव-हारोंमें कुशल) हो[2]। दूसरे पद्यमे सिद्धसेनको केशरी-सिंहकी उपमा देते हुए उसके साथ जो 'नय-केशरः' और विकल्प-नखराङ्कुरः' जैसे विशेषण लगाये गये हैं उनके द्वारा खास तौरपर सन्मतिसूत्र लक्षित किया गया है, जिसमें नयोंका ही मुख्यतः विवेचन है और अनेक विकल्पोंद्वारा प्रवादियोंके मन्तव्यों—मान्यसिद्धान्तोंका विदारण (निरसन) किया गया है। इसी सन्मतिसूत्रका जिनसेनने 'जयधवला'में और उनके गुरु वीरसेनने धवलामें उल्लेख किया है और उसके साथ घटित किये जानेवाले विरोधका परिहार करते हुए उसे अपना एक मान्य ग्रन्थ प्रकट किया है, जैसा कि इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके उन वाक्योंसे प्रकट है जो इस लेखके प्रारम्भिक फुटनोटमें उद्धृत किये जा चुके हैं।

---

१ सिद्धसेनोऽभय-भीमसेनको गुरू परौ तौ जिन-शान्ति-सेनकौ ॥६६-२९॥

२ "कविर्नूतनसन्दर्भः"।
"प्रतिभोज्जीवनो नाना-वर्णना निपुणः कविः। नानाऽभ्यास-कुशाग्रीयमतिर्व्युत्पत्तिमान् कविः ॥"
—अलङ्कारचिन्तामणि ।

नियमसारकी टीकामें पद्मप्रभ मलधारिदेवने 'सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं ......वन्दे' वाक्यके द्वारा सिद्धसेनकी वन्दना करते हुए उन्हें 'सिद्धान्तकी जानकारी एवं प्रतिपादनकौशल-रूप उच्चश्रीके स्वामी' सूचित किया है। प्रतापकीर्तिने आचार्यपूजाके प्रारम्भमें दी हुई गुर्वावलीमें "सिद्धान्तपाथोनिधिलब्धपारः श्रीसिद्धसेनोऽपि गणस्य सारः" इस वाक्यके द्वारा सिद्धसेनको 'सिद्धान्तसागरके पारगामी' और 'गणके सारभूत' बतलाया है। मुनिकनकामरने 'करकंडु-चरिउ'में, सिद्धसेनको समन्तभद्र तथा अकलङ्कदेवके समकक्ष 'श्रुतजलके समुद्र'[1] रूपमें उल्लेखित किया है। ये सब श्रद्धांजलि-मय दिगम्बर उल्लेख भी सन्मतिकार-सिद्धसेनसे सम्बन्ध रखते हैं, जो खास तौरपर सैद्धान्तिक थे और जिनके इस सैद्धान्तिकत्वका अच्छा आभास ग्रन्थके अन्तिम काण्डकी उन गाथाओं (६१ आदि)से भी मिलता है जो श्रुतधर-शब्दसन्तुष्टों, भक्तसिद्धान्तज्ञो और शिष्यगणपरिवृत-बहुश्रुतमन्योंकी आलोचनाको लिए हुए हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आचार्य सिद्धसेन प्रायः 'दिवाकर' विशेषण अथवा उपपद (उपनाम)के साथ प्रसिद्धिको प्राप्त हैं। उनके लिये इस विशेषण-पदके प्रयोगका उल्लेख श्वेताम्बर साहित्यमें सबसे पहले हरिभद्रसूरिके 'पञ्चवस्तु' ग्रन्थमें देखनेको मिलता है, जिसमें उन्हें दुःषमाकालरूप रात्रिके लिये दिवाकर (सूर्य)के समान होनेसे 'दिवाकर'की आख्याको प्राप्त हुए लिखा है[2]। इसके बादसे ही यह विशेषण उधर प्रचारमें आया जान पड़ता है; क्योंकि श्वेताम्बर चूर्णियों तथा मल्लवादीके नयचक्र-जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें जहाँ सिद्धसेनका नामोल्लेख है वहाँ उनके साथमें 'दिवाकर' विशेषणका प्रयोग नहीं पाया जाता है[3]। हरिभद्रके बाद विक्रमकी ११वीं शताब्दीके विद्वान अभयदेवसूरिने सन्मतिटीकाके प्रारम्भमें इसे उसी दुःषमाकालरात्रिके अन्धकारको दूर करनेवालेके अर्थमें अपनाया है[4]।

श्वेताम्बर सम्प्रदायकी पट्टावलियोंमें विक्रमकी छठी शताब्दी आदिकी जो प्राचीन पट्टावलियाँ हैं—जैसे कल्पसूत्रस्थविरावली(थेरावली) नन्दीसूत्रपट्टावली, दुःषमाकाल-श्रमणसंघ-स्तव—उनमें तो सिद्धसेनका कहीं कोई नामोल्लेख ही नहीं है। दुःषमाकालश्रमणसंघकी अवचूरिम, जो विक्रमकी ९वीं शताब्दीसे बादकी रचना है, सिद्धसेनका नाम जरूर है किन्तु उन्हें 'दिवाकर' न लिखकर 'प्रभावक' लिखा है और साथ ही धर्माचार्यका शिष्य सूचित किया है—वृद्धवादीका नहीं:—

"अत्रान्तरे धर्माचार्य-शिष्य-श्रीसिद्धसेन प्रभावकः ॥"

दूसरी विक्रमकी १५वीं शताब्दी आदिकी बनी हुई पट्टावलियोंमें भी कितनी ही पट्टावलियाँ ऐसी हैं जिनमें सिद्धसेनका नाम नहीं है—जैसे कि गुरुपर्वक्रमवर्णन, तपागच्छ-पट्टावलीसूत्र, महावीरपट्टपरम्परा, युगप्रधानसम्बन्ध (लोकप्रकाश) और सूरिपरम्परा। हाँ, तपागच्छपट्टावलीसूत्रकी वृत्तिमें, जो विक्रमकी १७वीं शताब्दी (सं० १६४८)की रचना है, सिद्ध-सेनका 'दिवाकर' विशेषणके साथ उल्लेख जरूर पाया जाता है। यह उल्लेख मूल पट्टावलीकी

---

१ तो सिद्धसेण सुसमतभद्द अकलंकदेव *सुअजलसमुद्द* । क० २

२ आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठिअजसेण । दूसमाणिसा-दिवागर कप्पन्तणओ तदक्खेणं ॥१०४८

३ देखो, सन्मतिसूत्रकी गुजराती प्रस्तावना पृ० ३६, ३७ पर निशीथचूर्णि (उद्देश ४) और दशाचूर्णिके उल्लेख तथा पिछले समय-सम्बन्धी प्रकरणमें उद्धृत नयचक्रके उल्लेख।

४ "इति मन्वान आचार्यो दुःषमाऽरसमाश्यामासमयोद्भूतसमस्तजनाहार्दसन्तमसविध्वंसकत्वेनावाप्तयथार्था-भिधानः *सिद्धसेनदिवाकरः* तदुपायभूतसम्मत्याख्यप्रकरणकरणे प्रवर्तमानः ...... स्तवाभि-धायिकां गाथामाह ।"

५वीं गाथाकी व्याख्या करते हुए पट्टाचार्य इन्द्रदिन्नसूरिके अनन्तर और दिन्नसूरिके पूर्वकी व्याख्यामें स्थित है[1]। इन्द्रदिन्नसूरिको सुस्थित और सुप्रतिबुद्धके पट्टपर दसवाँ पट्टाचार्य बतलानेके बाद "अत्रान्तरे" शब्दोंके साथ कालकसूरि आर्यखपुट्टाचार्य और आर्यमंगुका नामोल्लेख समयनिर्देशके साथ किया गया है और फिर लिखा है:—

"वृद्धवादी पादलिप्तश्चात्र। तथा सिद्धसेनदिवाकरो येनोज्जयिन्यां महाकाल-प्रासाद-रुद्र-लिङ्गस्फोटनं विधाय कल्याणमन्दिरस्तवेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं, श्रीविक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्रीवीरसप्ततिवर्षशतचतुष्टये ४७० संजातं।"

इसमें वृद्धवादी और पादलिप्तके बाद सिद्धसेनदिवाकरका नामोल्लेख करते हुए उन्हें उज्जयिनीमें महाकालमन्दिरके रुद्रलिङ्गका कल्याणमन्दिरस्तोत्रके द्वारा स्फोटन करके श्रीपार्श्वनाथकेबिम्बको प्रकट करनेवाला और विक्रमादित्यराजाको प्रतिबोधित करनेवाला लिखा है। साथ ही विक्रमादित्यका राज्य वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ निर्दिष्ट किया है, और इस तरह सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी प्रथम शताब्दीका विद्वान् बतलाया है, जो कि उल्लेखित विक्रमादित्यको गलतरूपमे समझनेका परिणाम है। विक्रमादित्य नामके अनेक राजा हुए हैं। यह विक्रमादित्य वह विक्रमादित्य नहीं है जो प्रचलित संवतका प्रवर्तक है, इस बात-को पं० सुखलालजी आदिने भी स्वीकार किया है। अस्तु, तपागच्छ-पट्टावलीकी यह वृत्ति जिन आधारोंपर निर्मित हुई है उनमे प्रधान पद तपागच्छकी मुनि सुन्दरसूरिकृत गुर्वावलीको दिया गया है, जिसका रचनाकाल विक्रम संवत् १४६६ है। परन्तु इस पट्टावलीमें भी सिद्धसेनका नामोल्लेख नहीं है। उक्त वृत्तिसे कोई १०० वर्ष बादके (वि० सं० १७३९ के बादके) बने हुए 'पट्टावलीसारोद्धार' ग्रन्थमे सिद्धसेनदिवाकरका उल्लेख प्रायः उन्हीं शब्दोंमे दिया है जो उक्त वृत्तिमें 'तथा' से 'संजातं' तक पाये जाते हैं[2]। और यह उल्लेख इन्द्रदिन्नसूरिके बाद "अत्रान्तरे" शब्दोंके साथ मात्र कालकसूरिके उल्लेखानन्तर किया गया है—आर्यखपुट, आर्यमंगु, वृद्धवादी और पादलिप्त नामके आचार्योंका कालकसूरिके अनन्तर और सिद्धसेनके पूर्वमें कोई उल्लेख ही नहीं किया है। वि० सं० १७८६ से भी बादकी बनी हुई 'श्रीगुरु-पट्टावली' मे भी सिद्धसेनदिवाकरका नाम उज्जयिनीकी लिङ्गस्फोटन-सम्बन्धी घटनाके साथ उल्लेखित है[3]।

इस तरह श्वे० पट्टावलियों—गुर्वावलियोंमें सिद्धसेनका दिवाकररूपमे उल्लेख विक्रमकी १५वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे पाया जाता है, कतिपय प्रबन्धोंमें उनके इस विशेषणका प्रयोग सौ-दो सौ वर्ष और पहलेसे हुआ जान पड़ता। रही स्मरणोंकी बात, उनकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है—कुछ स्मरण दिवाकर-विशेषणके साथमें लिये हुए है और कुछ नहीं है। श्वेताम्बर साहित्यसे सिद्धसेनके श्रद्धाञ्जलिरूप जो भी स्मरण अभी तक प्रकाशमें आये हैं वे प्रायः इस प्रकार है:—

---

१ देखो, मुनि दर्शनविजय-द्वारा सम्पादित 'पट्टावलीसमुच्चय' प्रथम भाग।

२ "तथा श्रीसिद्धसेनदिवाकरोपि जातो येनोज्जयिन्यां महाकालप्रासादे रुद्रलिंगस्फोटनं कृत्वा कल्याणमन्दिर स्तवनेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृत्य श्रीविक्रमादित्यराजापि प्रतिबोधितः श्रीवीरनिर्वाणात् सप्ततिवर्षाधिक शतचतुष्टये ४७०ऽतिक्रमे श्रीविक्रमादित्यराज्य सजातं ॥१०॥ -पट्टावलीसमुच्चय पृ० १५०

३ "तथा श्रीसिद्धसेनदिवाकरेणोज्जयिनीनगर्यां महाकाल प्रासादे लिंगस्फोटनं विधाय स्तुत्या ११ काव्ये श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं, कल्याणमन्दिरस्तोत्रं कृतं।"—पट्टा० स० पृ० १६६।

(क) *उदितोऽर्हन्मत-व्योम्नि सिद्धसेनदिवाकरः ।*
चित्रं गोभिः क्षितौ जह्रे कविराज-बुध-प्रभा ॥

यह विक्रमकी १३वीं शताब्दी (वि० सं० १२५२) के ग्रन्थ अममचरित्रका पद्य है। इसमें रत्नसूरि अलङ्कार-भाषाको अपनाते हुए कहते हैं कि 'अर्हन्मतरूपी आकाशमें सिद्धसेन-दिवाकरका उदय हुआ है, आश्चर्य है कि उसकी वचनरूप-किरणोंसे पृथ्वीपर कविराजकी—बृहस्पतिरूप 'शेष' कविकी—और बुधकी—बुधग्रहरूप विद्वद्वर्गकी—प्रभा लज्जित होगई—फीकी पड़ गई है।'

(ख) *तमः स्तोमं स हन्तु श्रीसिद्धसेनदिवाकरः ।*
यस्योदये स्थितं मूकैरुलूकैरिव वादिभिः ॥

यह विक्रमकी १४वीं शताब्दी (सं० १३२४) के ग्रन्थ समरादित्यका वाक्य है, जिसमें प्रद्युम्नसूरिने लिखा है कि 'वे श्रीसिद्धसेन दिवाकर (अज्ञान) अन्धकारके समूहको नाश करें जिनके उदय होनेपर वादीजन उल्लुओंकी तरह मूक होरहे थे—उन्हें कुछ बोल नहीं आता था।'

(ग) *श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धास्ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः ।*
येषां विमृश्य सततं विविधान्निबन्धान् शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि माहक् ॥

यह 'स्याद्वादरत्नाकर' का पद्य है। इसमें १२वीं-१३वीं शताब्दीके विद्वान वादिदेव-सूरि लिखते हैं कि 'श्रीसिद्धसेन और हरिभद्र जैसे प्रसिद्ध आचार्य मेरे ऊपर प्रसन्न होवें, जिनके विविध निबन्धोंपर बार-बार विचार करके मेरे जैसा अल्प-प्रतिभाका धारक भी प्रस्तुत शास्त्रके रचनेमें प्रवृत्त होता है।'

(घ) *क सिद्धसेन-स्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क चैषा ।*
तथाऽपि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥

यह विक्रमकी १२वीं-१३वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रकी एक द्वात्रिंशिका स्तुतिका पद्य है। इसमें हेमचन्द्रसूरि सिद्धसेनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए लिखते हैं कि 'कहाँ तो सिद्धसेनकी महान् अर्थवाली गम्भीर स्तुतियाँ और कहाँ अशिक्षित मनुष्योंके आलाप-जैसी मेरी यह रचना? फिर भी यूथके अधिपति गजराजके पथपर चलता हुआ उसका बच्चा (जिस प्रकार) स्खलितगति होता हुआ भी शोचनीय नहीं होता—उसी प्रकार मैं भी अपने यूथाधिपति आचार्यके पथका अनुसरण करता हुआ स्खलितगति होनेपर शोचनीय नहीं हूँ।'

यहाँ 'स्तुतयः' 'यूथाधिपतेः' और 'तस्य शिशुः' ये पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। 'स्तुतयः' पदके द्वारा सिद्धसेनीय ग्रन्थोंकेरूपमें उन द्वात्रिंशिकाओंकी सूचना कीगई है जो स्तुत्यात्मक हैं और शेष पदोंके द्वारा सिद्धसेनको अपने सम्प्रदायका प्रमुख आचार्य और अपनेको उनका परम्परा शिष्य घोषित किया गया है। इस तरह श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्यरूपमें यहाँ वे सिद्धसेन विवक्षित हैं जो कतिपय स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हैं, न कि वे सिद्धसेन जो कि स्तुत्येतर द्वात्रिंशिकाओंके अथवा खासकर सन्मतिसूत्रके रचयिता हैं। श्वेताम्बरीय प्रबन्धोंमें भी, जिनका कितना ही परिचय ऊपर आचुका है, उन्हीं सिद्धसेनका उल्लेख मिलता है जो प्रायः द्वात्रिंशिकाओं अथवा द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका-स्तुतियोंके कर्तारूपमें विवक्षित हैं। सन्मतिसूत्रका उन प्रबन्धोंमें कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है। ऐसी स्थितिमें सन्मतिकार सिद्धसेनके लिये जिस 'दिवाकर' विशेषणका हरिभद्रसूरिने स्पष्टरूपसे उल्लेख किया है वह बादको नाम-साम्यादिके कारण द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन एवं न्यायावतारके

कर्ता सिद्धसेनके साथ भी जुड़ गया मालूम होता है और संभवतः इस विशेषणके जुड़ जानेके कारण ही तीनों सिद्धसेन एक ही समझ लिये गये जान पड़ते हैं। अन्यथा, पं० सुखलालजी आदिके शब्दों (प्र० पृ० १०३) में 'जिन द्वात्रिंशिकाओंका स्थान सिद्धसेनके ग्रन्थोंमें चढ़ता हुआ है' उन्हींके द्वारा सिद्धसेनको प्रतिष्ठितयश बतलाना चाहिये था, परन्तु हरिभद्रसूरिने वैसा न करके सन्मतिके द्वारा सिद्धसेनका प्रतिष्ठितयश होना प्रतिपादित किया है और इससे यह साफ ध्वनि निकलती है कि सन्मतिके द्वारा प्रतिष्ठितयश होने वाले सिद्धसेन उन सिद्धसेनसे प्रायः भिन्न हैं जो द्वात्रिंशिकाओंको रचकर यशस्वी हुए हैं।

हरिभद्रसूरिके कथनानुसार जब सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन 'दिवाकर'की आख्याको प्राप्त थे तब वे प्राचीनसाहित्यमें सिद्धसेन नामके बिना 'दिवाकर' नामसे भी उल्लेखित होने चाहियें, उसी प्रकार जिस प्रकार कि समन्तभद्र 'स्वामी' नामसे उल्लेखित मिलते हैं[१]। खोज करनेपर श्वेताम्बरसाहित्यमें इसका एक उदाहरण 'अजरक्खनंदिसेणो' नामकी उस गाथामें मिलता है जिसे मुनि पुण्यविजयजीने अपने 'छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार' नामक लेखमें 'पावयणी धम्मकही' नामकी गाथाके साथ उद्धृत किया है और जिसमें आठ प्रभावक आचार्योंकी नामावली देते हुए 'दिवायरो' पदके द्वारा सिद्धसेनदिवाकरका नाम भी सूचित किया गया है। ये दोनों गाथाएँ पिछले समयादिसम्बन्धी प्रकरणके एक फुटनोटमें उक्त लेखकी चर्चा करते हुए उद्धृत की जा चुकी हैं। दिगम्बर साहित्यमें 'दिवाकर'का यतिरूपसे एक उल्लेख रविषेणाचार्यके पद्मचरितकी प्रशस्तिके निम्न वाक्यमें पाया जाता है, जिसमें उन्हें इन्द्र-गुरुका शिष्य, अर्हन्मुनिका गुरु और रविषेणके गुरु लक्ष्मणसेनका दादागुरु प्रकट किया है:—

आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकर-यतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः ।
तस्माल्लक्ष्मणसेन-सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम् ॥१२३–१६७॥

इस पद्यमें उल्लेखित दिवाकरयतिका सिद्धसेनदिवाकर होना दो कारणोंसे अधिक सम्भव जान पड़ता है—एक तो समयकी दृष्टिसे और दूसरे गुरु-नामकी दृष्टिसे। पद्मचरित वीरनिर्वाणसे १२०३ वर्ष ६ महीने बीतनेपर अर्थात् विक्रमसंवत् ७३४में बनकर समाप्त हुआ है[२], इससे रविषेणके पड़दादा (गुरुके दादा) गुरुका समय लगभग एक शताब्दी पूर्वका अर्थात् विक्रमकी ७वीं शताब्दीके द्वितीय चरण (६२६–६५०)के भीतर आता है जो सन्मतिकार सिद्धसेनके लिये ऊपर निश्चित किया गया है। दिवाकरके गुरुका नाम यहाँ इन्द्र दिया है, जो इन्द्रसेन या इन्द्रदत्त आदि किसी नामका संक्षिप्तरूप अथवा एक देश मालूम होता है। श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें जहाँ सिद्धसेनदिवाकरका नामोल्लेख किया है वहाँ इन्द्रदिन्न नामक पट्टाचार्यके बाद 'अत्रान्तरे' जैसे शब्दोंके साथ उस नामकी वृद्धि की गई है। हो सकता है कि सिद्धसेनदिवाकरके गुरुका नाम इन्द्र-जैसा होने और सिद्धसेनका सम्बन्ध आद्य विक्रमादित्य अथवा संवत्प्रवर्तक विक्रमादित्यके साथ समझ लेनेकी भूलके कारण ही सिद्धसेनदिवाकरका इन्द्रदिन्न आचार्यकी पट्टबाह्य-शिष्यपरम्परामें स्थान दिया गया हो। यदि यह कल्पना ठीक है और उक्त पद्यमें 'दिवाकरयतिः' पद सिद्धसेनाचार्यका वाचक है तो कहना होगा कि सिद्धसेन-दिवाकर रविषेणाचार्यके पड़दादागुरु होनेसे दिगम्बर सम्प्रदायके आचार्य थे। अन्यथा यह कहना अनुचित न होगा कि सिद्धसेन अपने जीवनमें 'दिवाकर'की आख्याको प्राप्त नहीं थे, उन्हें यह नाम अथवा विशेषण बादको हरिभद्रसूरि अथवा उनके निकटवर्ती किसी पूर्वाचार्यने

---

१ देखो, माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना पृ० ८।

२ द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते ।
जिनभास्कर-वर्द्धमान-सिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम् ॥१२३-१८१ ॥

अलङ्कारकी भाषामें दिया है और इसीसे सिद्धसेनके लिये उसका स्वतन्त्र उल्लेख प्राचीन-साहित्यमें प्रायः देखनेको नहीं मिलता। श्वेताम्बरसाहित्यका जो एक उदाहरण ऊपर दिया गया है वह रत्नशेखरसूरिकृत गुरुगुणषट्‌त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकी स्वोपज्ञवृत्तिका एकवाक्य होनेके कारण ५०० वर्षसे अधिक पुराना मालूम नहीं होता और इसलिये वह सिद्धसेनकी दिवाकर-रूपमें बहुत बादकी प्रसिद्धिसे सम्बन्ध रखता है। आजकल तो सिद्धसेनके लिये 'दिवाकर' नामके प्रयोगकी बाढ़-सी आरही है परन्तु अतिप्राचीन कालमें वैसा कुछ भी मालूम नहीं होता।

यहाँपर एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि उक्त श्वेताम्बर प्रबन्धों तथा पट्टावलियोंमें सिद्धसेनके साथ उज्जयिनीके महाकालमन्दिरमें लिङ्गस्फोटनादि-सम्बन्धिनी जिस घटनाका उल्लेख मिलता है उसका वह उल्लेख दिगम्बर सम्प्रदायमें भी पाया जाता है, जैसा कि सेनगणकी पट्टावलीके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकाल-संस्थापन-महाकाललिङ्गमहीधर-वाग्वज्रदण्डविष्ट्या-विष्कृत-श्रीपार्श्वतीर्थेश्वर-प्रतिद्वन्द-श्रीसिद्धसेनभट्टारकाणाम् ॥१४॥"

ऐसी स्थितिमें द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनके विषयमें भी सहज अथवा निश्चित-रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि वे एकान्ततः श्वेताम्बर सम्प्रदायके थे सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनकी तो बात ही जुदी है। परन्तु सन्मतिकी प्रस्तावनामें पं० सुखलालजी और पण्डित बेचरदासजीने उन्हें एकान्ततः श्वेताम्बर सम्प्रदायका आचार्य प्रतिपादित किया है—लिखा है कि 'वे श्वेताम्बर थे, दिगम्बर नहीं' (पृ० १०४)। परन्तु इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई समर्थ कारण नहीं बतलाया. कारणरूपमें केवल इतना ही निर्देश किया है कि 'महावीरके गृहस्थाश्रम तथा चमरेन्द्रके शरणागमनकी बात सिद्धसेनने वर्णन की है जो दिगम्बरपरम्परामें मान्य नहीं किन्तु श्वेताम्बर आगमोंके द्वारा निर्विवादरूपसे मान्य है' और इसके लिये फुट-नोटमें ५वीं द्वात्रिंशिकाके छठे और दूसरी द्वात्रिंशिकाके तीसरे पद्यको देखनेकी प्रेरणा की है, जो निम्न प्रकार है:—

"अनेकजन्मान्तरभग्नमानः स्मरो यशोदाप्रिय यत्पुरस्ते ।
चचार निर्ह्रीकशरस्तमर्थं त्वमेव विद्यासु नयज्ञ कोऽन्यः ॥५-६॥"
"कृत्वा नवं सुरवधूभयरोमहर्षं दैत्याधिपः शतमुख-भ्रकुटीवितानः ।
त्वत्पादशान्तिगृहसंश्रयलब्धचेता लज्जातनुद्युति हरेः कुलिशं चकार ॥२-३॥"

इनमेंसे प्रथम पद्यमें लिखा है कि 'हे यशोदाप्रिय ! दूसरे अनेक जन्मोंमें अपमान हुआ कामदेव निर्लज्जतारूपी बाणको लिये हुए जो आपके सामने कुछ चला है उसके अर्थको आप ही नयके ज्ञाता जानते हैं, दूसरा और कौन जान सकता है ? अर्थात् यशोदाके साथ आपके वैवाहिक सम्बन्ध अथवा रहस्यको समझनेके लिये हम असमर्थ हैं।' दूसरे पद्यमें देवाऽसुर-संग्रामके रूपमें एक घटनाका उल्लेख है, 'जिसमें दैत्याधिप असुरेन्द्रने सुरवधुओंको भयभीतकर उनके रोंगटे खड़े कर दिये। इससे इन्द्रकी भ्रकुटी तन गई और उसने उसपर वज्र छोड़ा, असुरेन्द्रने भागकर वीरभगवानके चरणोंका आश्रय लिया जो कि शान्तिके धाम हैं और उनके प्रभावसे वह इन्द्रके वज्रको लज्जासे क्षीणद्युति करनेमें समर्थ हुआ।'

अलंकृत भाषामें लिखी गई इन दोनों पौराणिक घटनाओंका श्वेताम्बर सिद्धान्तोंके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है और इसलिये इनके इस रूपमें उल्लेख मात्रपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि इन पद्योंके लेखक सिद्धसेन वास्तवमें यशोदाके साथ भ० महावीरका विवाह होना और असुरेन्द्र (चमरेन्द्र) का सेना सजाकर तथा अपना भयंकर रूप बनाकर युद्धके लिये स्वर्गमें जाना आदि मानते थे, और इसलिये श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्य थे;

क्योंकि प्रथम तो श्वेताम्बरोंके आवश्यकनिर्युक्ति आदि कुछ प्राचीन आगमोंमें भी दिगम्बर आगमोंकी तरह भगवान् महावीरको कुमारश्रमणके रूपमें अविवाहित प्रतिपादित किया है[1] और असुरकुमार-जातिविशिष्ट-भवनवासी देवोंके अधिपति चमरेन्द्रका युद्धकी भावनाको लिये हुए सैन्य सजाकर स्वर्गमें जाना सैद्धान्तिक मान्यताओंके विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे, यह कथन परवक्तव्यके रूपमें भी हो सकता है और आगमसूत्रोंमें कितना ही कथन परवक्तव्यके रूपमें पाया जाता है इसकी स्पष्ट सूचना सिद्धसेनाचार्यने सन्मतिसूत्रमें की है और लिखा है कि ज्ञाता पुरुषको (युक्ति-प्रमाण-द्वारा) अर्थकी सङ्गतिके अनुसार ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए[2]।

यदि किसी तरहपर यह मान लिया जाय कि उक्त दोनों पद्योंमें जिन घटनाओंका उल्लेख है वे परवक्तव्य या अलङ्कारादिके रूपमें न होकर शुद्ध श्वेताम्बरीय मान्यताएँ हैं तो इससे केवल इतना ही फलित हो सकता है कि इन दोनों द्वात्रिंशिकाओं (२, ५)के कर्ता जो सिद्धसेन हैं वे श्वेताम्बर थे। इससे अधिक यह फलित नहीं हो सकता कि दूसरी द्वात्रिंशिकाओं तथा सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन भी श्वेताम्बर थे, जबतक कि प्रबल युक्तियोंके बलपर इन सब ग्रन्थोंका कर्त्ता एक ही सिद्धसेनको सिद्ध न कर दिया जाय, परन्तु वह सिद्ध नहीं है जैसा कि पिछले एक प्रकरणमें व्यक्त किया जा चुका है। और फिर इस फलित होनेमें भी एक बाधा और आती है और वह यह कि इन द्वात्रिंशिकाओंमें कोई कोई बात ऐसी भी पाई जाती है जो इनके शुद्ध श्वेताम्बर कृतियाँ होनेपर नहीं बनती, जिसका एक उदाहरण तो इन दोनोंमें उपयोगद्वयके युगपत्वादका प्रतिपादन है, जिसे पहले प्रदर्शित किया जा चुका है और जो दिगम्बर परम्पराका सर्वोपरि मान्य सिद्धान्त है तथा श्वेताम्बर आगमोंकी क्रमवाद-मान्यताके विरुद्ध जाता है। दूसरा उदाहरण पाँचवीं द्वात्रिंशिकाका निम्न वाक्य है:—

> *"नाथ त्वया देशितसत्पथस्थाः स्त्रीचेतसोऽप्याशु जयन्ति मोहम्।*
> *नैवाऽन्यथा शीघ्रगतिर्यथा गां प्राची यियासुर्विपरीतयायी ॥२५॥"*

इसके पूर्वार्धमें बतलाया है कि 'हे नाथ!—वीरजिन! आपके बतलाये हुए सन्मार्गपर स्थित वे पुरुष भी शीघ्र मोहको जीत लेते हैं—मोहनीयकर्मके सम्बन्धको अपने आत्मासे पूर्णतः विच्छेद कर देते हैं—जो 'स्त्रीचेतसः' होते हैं—स्त्रियों-जैसा चित्त (भाव) रखते हैं अर्थात् भावस्त्री होते हैं।' और इससे यह साफ ध्वनित है कि स्त्रियाँ मोहको पूर्णतः जीतनेमें समर्थ नहीं होतीं, तभी स्त्रीचित्तके लिये मोहको जीतनेकी बात गौरवको प्राप्त होती है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जब स्त्रियाँ भी पुरुषोंकी तरह मोहपर पूर्ण विजय प्राप्त करके उसी भवसे मुक्तिको प्राप्त कर सकती हैं तब एक श्वेताम्बर विद्वान्के इस कथनमें कोई महत्त्व मालूम नहीं होता कि 'स्त्रियों-जैसा चित्त रखनेवाले पुरुष भी शीघ्र मोहको जीत लेते हैं,' वह निरर्थक जान पड़ता है। इस कथनका महत्त्व दिगम्बर विद्वानोंके मुखसे उच्चरित होनेमें ही है जो स्त्रीको मुक्तिकी अधिकारिणी नहीं मानते फिर भी स्त्रीचित्तवाले भावस्त्री पुरुषोंके लिये मुक्तिका विधान करते हैं। अतः इस वाक्यके प्रणेता सिद्धसेन दिगम्बर होने चाहिये, न कि श्वेताम्बर, और यह समझना चाहिये कि उन्होंने इसी द्वात्रिंशिकाके छठे पद्यमें 'यशोदाप्रिय' पदके साथ जिस घटनाका उल्लेख किया है वह अलङ्कारकी प्रधानताको लिये हुए परवक्तव्यके रूपमें उसी प्रकारका कथन है

---

१ देखो, आवश्यकनिर्युक्तिगाथा २२१, २२२, २२६ तथा अनेकान्त वर्ष ४ कि० ११-१२ पृ० ५७९ पर प्रकाशित 'श्वेताम्बरोंमें भी भगवान् महावीरके अविवाहित होनेकी मान्यता' नामक लेख।

२ परवत्तव्वयपक्खा अविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु। अत्थगईअ उ तेसिं वियजणं जाणओ कुणइ ॥२-१८॥

जिस प्रकार कि ईश्वरको कर्ता-हर्ता न माननेवाला एक जैनकवि ईश्वरको उलहना अथवा उसकी रचनामें दोष देता हुआ लिखता है—

> *"हे विधि ! भूल भई तुमतैं, समुझे न कहाँ कस्तूरि बनाई !*
> *दीन कुरङ्गनके तनमें, तृन दन्त धरैं करुना नहि आई !!*
> *क्यों न रची तिन जीभनि जे रस-काव्य करैं परको दुखदाई !*
> *साधु-अनुग्रह दुर्जन-दण्ड, दुहूँ सधते विसरी चतुराई !!"*

इस तरह सन्मतिके कर्ता सिद्धसेनको श्वेताम्बर सिद्ध करनेके लिये जो द्वात्रिंशिकाओंके उक्त दो पद्य उपस्थित किये गये हैं उनसे सन्मतिकार सिद्धसेनका श्वेताम्बर सिद्ध होना तो दूर रहा, उन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनका भी श्वेताम्बर होना प्रमाणित नहीं होता जिनके उक्त दोनों पद्य अङ्गरूप हैं। श्वेताम्बरत्वकी सिद्धिके लिये दूसरा और कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया और इससे यह भी साफ मालूम होता है कि स्वयं सन्मति-सूत्रमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे उसे दिगम्बरकृति न कहकर श्वेताम्बरकृति कहा जा सके, अन्यथा उसे जरूर उपस्थित किया जाता। सन्मतिमें ज्ञान-दर्शनोपयोगके अभेदवादकी जो खास बात है वह दिगम्बर मान्यताके अधिक निकट है, दिगम्बरोंके युगपद्वादपरसे ही फलित होती है—न कि श्वेताम्बरोंके क्रमवादपरसे, जिसके खण्डनमें युगपद्वादकी दलीलोंको सन्मतिमें अपनाया गया है। और श्रद्धात्मक दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके अभेदवादकी जो बात सन्मति द्वितीयकाण्डकी गाथा ३२-३३में कही गई है उसके बीज श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके समय-सार ग्रन्थमें पाये जाते हैं। इन बीजोंकी बातको पं० सुखलालजी आदिने भी सन्मतिकी प्रस्तावना (पृ० ६२)में स्वीकार किया है—लिखा है कि "सन्मतिना (कां० २ गाथा ३२) श्रद्धा-दर्शन अने ज्ञानना एकत्ववादनु बीज कुंदकुंदना समयसार गा० १-१३ मां[1] स्पष्ट छे।" इसके सिवाय, समयसारकी 'जो पस्सदि अप्पाणं' नामकी १४वीं गाथामें शुद्धनयका स्वरूप बतलाते हुए जब यह कहा गया है कि वह नय आत्माको अविशेषरूपसे देखता है तब उसमें ज्ञान-दर्शनोपयोगकी भेद-कल्पना भी नहीं बनती और इस दृष्टिसे उपयोग-द्वयकी अभेद-वादताके बीज भी समयसारमें सन्निहित हैं ऐसा कहना चाहिये।

हाँ, एक बात यहाँ और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि पं० सुखलालजीने 'सिद्धसेनदिवाकरना समयनो प्रश्न' नामक लेखमें[2] देवनन्दी पूज्यपादको "दिगम्बर परम्पराका *पक्षपाती सुविद्वान्*" बतलाते हुए सन्मतिके कर्ता सिद्धसेनदिवाकरको "*श्वेताम्बरपरम्पराका समर्थक आचार्य*" लिखा है, परन्तु यह नहीं बतलाया कि वे किस रूपमें श्वेताम्बरपरम्पराके समर्थक हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बरमें भेदकी रेखा खींचनेवाली मुख्यतः तीन बातें प्रसिद्ध हैं—१ स्त्रीमुक्ति, २ केवलिभुक्ति (कवलाहार) और ३ सवस्त्रमुक्ति, जिन्हें श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य करता और दिगम्बर सम्प्रदाय अमान्य ठहराता है। इन तीनोंमेंसे एकका भी प्रतिपादन सिद्धसेनने अपने किसी ग्रन्थमें नहीं किया है और न इनके अलावा अलंकृत अथवा शृङ्गारित जिनप्रतिमाओंके पूजनादिका ही कोई विधान किया है, जिसके मण्डनादिककी भी सन्मतिके टीकाकार अभयदेवसूरिको जरूरत पड़ी है और उन्होंने मूलमें वैसा कोई खास प्रसङ्ग न होते

१ यहाँ जिस गाथाकी सूचना की गई है वह 'दंसणणाणचरित्ताणि' नामकी १६वीं गाथा है। इसके अतिरिक्त 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं' (७), 'सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं' (१४४), और 'णाणं सम्मादिट्ठं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं' (४०४) नामकी गाथाओंमें भी अभेदवादके बीज संनिहित हैं।

२ भारतीयविद्या, तृतीय भाग पृ० १५४।

हुए भी उसे यों ही टीकामें लाकर घुसेड़ा है[१]। ऐसी स्थितिमें सिद्धसेनदिवाकरको दिगम्बर-परम्परासे भिन्न एकमात्र श्वेताम्बरपरम्पराका समर्थक आचार्य कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता। सिद्धसेनने तो श्वेताम्बरपरम्पराकी किसी विशिष्ट बातका कोई समर्थन न करके उल्टा उसके उपयोग-द्वय-विषयक क्रमवादकी मान्यताका सन्मतिमें जोरोंके साथ खण्डन किया है और इसके लिये उन्हें अनेक साम्प्रदायिक कट्टरताके शिकार श्वेताम्बर आचार्योंका कोपभाजन एवं तिरस्कारका पात्र तक बनना पड़ा है। मुनि जिनविजयजीने 'सिद्ध-सेनदिवाकर और स्वामी समन्तभद्र' नामक लेखमें[२] उनके इस विचारभेदका उल्लेख

"सिद्धसेनजीके इस विचारभेदके कारण उस समयके सिद्धान्त-ग्रन्थ-पाठी और आगमप्रवण आचार्यगण उनको 'तर्कम्मन्य' जैसे तिरस्कार-व्यञ्जक विशेषणोंसे अलंकृत कर उनके प्रति अपना सामान्य अनादर-भाव प्रकट किया करते थे।"

"इस (विशेषावश्यक) भाष्यमें क्षमाश्रमण (जिनभद्र)जीने दिवाकरजीके उक्त विचार-भेदका खूब ही खण्डन किया है और उनको 'आगम-विरुद्ध-भाषी' बतलाकर उनके सिद्धान्तको अमान्य बतलाया है॥'

"सिद्धसेनगणीने 'एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः' (१-३१) इस सूत्रकी व्याख्यामें दिवाकरजीके विचारभेदके ऊपर अपने ठीक वाग्बाण चलाये हैं। गणीजीके कुछ वाक्य देखिये— 'यद्यपि केचित्पण्डितंमन्याः सूत्रान्यथाकारमर्थमाचक्षते तर्कबलानुविद्ध-बुद्धयो वारंवारेणोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणयामः, यत आम्नाये भूयांसि सूत्राणि वारंवारे-णोपयोगं प्रतिपादयन्ति।"

दिगम्बर साहित्यमें ऐसा एक भी उल्लेख नहीं जिसमें सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनके प्रति अनादर अथवा तिरस्कारका भाव व्यक्त किया गया हो—सर्वत्र उन्हें बड़े ही गौरवके साथ स्मरण किया गया है, जैसा कि ऊपर उद्धृत हरिवंशपुराणादिके कुछ वाक्योंसे प्रकट है। अकलङ्कदेवने उनके अभेदवादके प्रति अपना मतभेद व्यक्त करते हुए किसी भी कटु शब्दका प्रयोग नहीं किया, बल्कि बड़े ही आदरके साथ लिखा है कि "यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते"—अर्थात् केवली (सर्वज्ञ) जिस प्रकार असद्-भूत और अनुपदिष्टको जानता है उसी प्रकार उनको देखता भी है इसके माननेमें आपकी क्या हानि होती है?—वास्तविक बात तो प्रायः ज्योंकी त्यों एक ही रहती है। अकलङ्कदेवके प्रधान टीकाकार आचार्य श्रीअनन्तवीर्यजीने सिद्धिविनिश्चयकी टीकामें 'असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः। द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने।' इस कारिकाकी व्याख्या करते हुए सिद्धसेनको महान् आदर-सूचक *'भगवान्'* शब्दके साथ उल्लेखित किया है और जब उनके किसी स्वयूथ्यने—स्वसम्प्रदायके विद्वानने—यह आपत्ति की कि 'सिद्धसेनने एकान्तके साधनमें प्रयुक्त हेतुको कहीं भी असिद्ध नहीं बतलाया है अतः एकान्तके साधनमें प्रयुक्त हेतु सिद्धसेन-की दृष्टिमें असिद्ध है' यह वचन सूक्त न होकर अयुक्त है, तब उन्होंने यह कहते हुए कि 'क्या उसने कभी यह वाक्य नहीं सुना है' सन्मतिसूत्रकी 'जे संतवायदोसे' इत्यादि कारिका (३-५०) को उद्धृत किया है और उसके द्वारा एकान्तसाधनमें प्रयुक्त हेतुको सिद्धसेनकी दृष्टिमें 'असिद्ध' प्रतिपादन करना सन्निहित बतलाकर उसका समाधान किया है। यथाः—

---

१ देखो, सन्मति-तृतीयकाण्डगत गाथा ६५की टीका (पृ० ७५४), जिसमें "भगवत्प्रतिमाया भूषणाद्या-रोपणं कर्मक्षयकारणं" इत्यादि रूपसे मण्डन किया गया है।

२ जैनसाहित्यसंशोधक, भाग १ अङ्क १ पृ० १०, ११।

करते हुए लिखा है—

२ परवत्तव्वयपक्खा अविसिद्धा तसु तसु सुत्त हु।

"असिद्ध इत्यादि, स्वलक्षणैकान्तस्य साधने सिद्धावङ्गीक्रियमानायां सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य भगवतोऽसिद्धः। कथमिति चेदुच्यते "" । ततः सूक्ष्मैकान्तसाधने हेतुरसिद्धः सिद्धसेनस्येति । कश्चित्स्वयूथ्योऽप्याह—सिद्धसेनेन क्वचित्तस्याऽसिद्धस्याऽवचनादयुक्तमेतदिति । नेन कदाचिदेतत् श्रु तं—'जे संतवायदोसे सक्कोल्लूया भणंति संखाणं । संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा' ॥"

इन्हीं सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् स्वर्गीय श्रीमोहनलाल दलीचन्द देशाई बीए. ए., एल-एल. बी. एडवोकेट हाईकोर्ट बम्बईने, अपने 'जैन-साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामक गुजराती ग्रन्थ (पृ. ११६)मे लिखा है कि "सिद्धसेनसूरि प्रत्येनो आदर दिगम्बरो विद्वानोमां रहेलो देखाय छे" अर्थात् (सन्मतिकार) सिद्धसेनाचार्यके प्रति आदर दिगम्बर विद्वानोमे रहा दिखाई पड़ता है—श्वेताम्बरोंमे नहीं। साथ ही हरिवंशपुराण, राजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चय-टीका, रत्नमाला, पार्श्वनाथचरित और एकान्तखण्डन-जैसे दिगम्बर ग्रन्थों तथा उनके रचयिता जिनसेन, अकलङ्क, अनन्तवीर्य, शिवकोटि, वादिराज और लक्ष्मीभद्र(धर) जैसे दिगम्बर विद्वानोंका नामोल्लेख करते हुए यह भी बतलाया है कि 'इन दिगम्बर विद्वानोंने सिद्धसेनसूरि-सम्बन्धी और उनके सन्मतितर्क-सम्बन्धी उल्लेख भक्तिभावसे किये हैं, और उन उल्लेखोंसे यह जाना जाता है कि दिगम्बर ग्रन्थकारोंमे घना समय तक सिद्धसेनके (उक्त) ग्रन्थका प्रचार था और वह प्रचार इतना अधिक था कि उसपर उन्होंने टीका भी रची है।

इस सारी परिस्थितिपरसे यह साफ समझा जाता और अनुभवमें आता है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन एक महान दिगम्बराचार्य थे, और इसलिये उन्हें श्वेताम्बर-परम्पराका अथवा श्वेताम्बरत्वका समर्थक आचार्य बतलाना कोरी कल्पनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है'। वे अपने प्रवचन-प्रभाव आदिके कारण श्वेताम्बरसम्प्रदायमें भी उसी प्रकारसे अपनाये गये है जिस प्रकार कि स्वामी समन्तभद्र जिन्हें श्वेताम्बर पट्टावलियोंमे पट्टाचार्य तकका पद प्रदान किया गया है और जिन्हें पं० सुखलाल, पं० बेचरदास और मुनि जिनविजय आदि बड़े-बड़े श्वेताम्बर विद्वान भी अब श्वेताम्बर न मानकर दिगम्बर मानने लगे हैं।

कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन इन सन्मतिकार सिद्धसेनसे भिन्न तथा पूर्ववर्ती दूसरे ही सिद्धसेन हैं, जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, और सम्भवतः वे ही उज्जयिनीके महाकालमन्दिरवाली घटनाके नायक जान पड़ते है। हो सकता है कि वे शुरूसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ही दीक्षित हुए हों, परन्तु श्वेताम्बर आगमोंको संस्कृतमें कर देनेका विचारमात्र प्रकट करनेपर जब उन्हें बारह वर्षके लिये संघबाह्य करने-जैसा कठोर दण्ड दिया गया हो तब वे सविशेषरूपसे दिगम्बर साधुओंके सम्पर्कमें आए हों उनके प्रभावसे प्रभावित तथा उनके संस्कारों एवं विचारोंको ग्रहण करनेमे प्रवृत्त हुए हों—खासकर समन्तभद्रस्वामीके जीवनवृत्तान्तों और उनके साहित्यका उनपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा हो और इसी लिये वे उन्हीं-जैसे स्तुत्यादिक कार्योंके करनेमे दत्तचित्त हुए हों। उन्हींके सम्पर्क एवं संस्कारोंमें रहते हुए ही सिद्धसेनसे उज्जयिनीकी वह महाकालमन्दिरवाली घटना बन पड़ी हो, जिससे उनका प्रभाव चारो ओर फैल गया हो और उन्हें भारी राजाश्रय प्राप्त हुआ हो। यह सब देखकर ही श्वेताम्बरसंघको अपनी भूल मालूम पड़ी हो, उसने प्रायश्चित्तकी शेष अवधिको रद्द कर दिया हो और सिद्धसेनको अपना ही साधु तथा प्रभावक आचार्य घोषित किया हो। अन्यथा, द्वात्रिंशिकाओंपरसे सिद्धसेन गम्भीर विचारक एवं कठोर समालोचक होनेके साथ साथ जिस उदार स्वतन्त्र और निर्भय-प्रकृतिके समर्थ विद्वान् जान पड़ते हैं उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि उन्होंने ऐसे अनुचित एवं अविवेकपूर्ण दण्डको यों ही चुपके-से गर्दन झुका कर मान लिया हो, उसका कोई प्रतिरोध न किया हो अथवा अपने लिये

कोई दूसरा मार्ग न चुना हो। सम्भवतः अपने साथ किये गये ऐसे किसी दुर्व्यवहारके कारण ही उन्होंने पुराणपन्थियों अथवा पुरातनप्रेमी एकान्तियोंकी (द्वा० ६में) कड़ी आलोचनाएँ की हैं।

यह भी हो सकता है कि एक सम्प्रदायने दूसरे सम्प्रदायकी इस उज्जयिनीवाली घटनाको अपने सिद्धसेनके लिये अपनाया हो अथवा यह घटना मूलतः काँची या काशीमें घटित होनेवाली समन्तभद्रकी घटनाकी ही एक प्रकारसे कापी हो और इसके द्वारा सिद्धसेनको भी उसप्रकारका प्रभावक ख्यापित करना अभीष्ट रहा हो। कुछ भी हो, उक्त द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन अपने उदार विचार एवं प्रभावादिके कारण दोनो सम्प्रदायोंमें समानरूपसे माने जाते हैं—चाहे वे किसी भी सम्प्रदायमे पहले अथवा पीछे दीक्षित क्यों न हुए हों।

परन्तु न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनकी दिगम्बर सम्प्रदायमें वैसी कोई खास मान्यता मालूम नहीं होती और न उस ग्रन्थपर दिगम्बरोंकी किसी खास टीका-टिप्पणका ही पता चलता है, इसीसे वे प्रायः श्वेताम्बर जान पड़ते हैं। श्वेताम्बरोंके अनेक टीका-टिप्पण भी न्यायावतारपर उपलब्ध होते हैं—उसके 'प्रमाणं स्वपराभासि' इत्यादि प्रथम श्लोकको लेकर तो विक्रमकी ११वी शताब्दीके विद्वान् जिनेश्वरसूरिने उसपर 'प्रमालक्ष्म' नामका एक सटीक वार्तिक ही रच डाला है, जिसके अन्तमें उसके रचनेमे प्रवृत्त होनेका कारण उन दुर्जनवाक्योंको बतलाया है जिनमें यह कहा गया है कि इन श्वेताम्बरोंके शब्दलक्षण और प्रमाणलक्षण-विषयक कोई ग्रन्थ अपने नहीं हैं, ये परलक्षणोपजीवी हैं—बौद्ध तथा दिगम्बरादि ग्रन्थोंसे अपना निर्वाह करनेवाले हैं—अतः ये आदिसे नहीं—किसी निमित्तसे नये ही पैदा हुए अर्वाचीन हैं।' साथ ही यह भी बतलाया है कि 'हरिभद्र, मल्लवादी और अभयदेवसूरि-जैसे महान् आचार्योंके द्वारा इन विषयोंकी उपेक्षा किये जानेपर भी हमने उक्त कारणसे यह 'प्रमालक्ष्म' नामका ग्रन्थ वार्तिकरूपमें अपने पूर्वाचार्यका गौरव प्रदर्शित करनेके लिये (टीका—"पूर्वाचार्यगौरव-दर्शनार्थं") रचा है और (हमारे भाई) बुद्धिसागराचार्यने संस्कृत-प्राकृत शब्दोंकी सिद्धिके लिये पद्योंमें व्याकरण ग्रन्थकी रचना की है[१]।'

इस तरह सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर और न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन श्वेताम्बर जाने जाते है। द्वात्रिंशिकाओंमेंसे कुछके कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर और कुछके कर्ता श्वेताम्बर जान पड़ते हैं और वे उक्त दोनों सिद्धसेनोंसे भिन्न पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अथवा उनसे अभिन्न भी हो सकते है। ऐसा मालूम होता है कि उज्जयिनीकी उस घटनाके साथ जिन सिद्धसेनका सम्बन्ध बतलाया जाता है उन्होंने सबसे पहले कुछ द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है, उनके बाद दूसरे सिद्धसेनोंने भी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ रची है और वे सब रचयिताओंके नाम-साम्यके कारण परस्परमें मिलजुल गई हैं, अतः उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंमे यह निश्चय करना कि कौन-सी द्वात्रिंशिका किस सिद्धसेनकी कृति है विशेष अनुसन्धानसे सम्बन्ध रखता है। साधारणतौरपर उपयोग-द्वयके युगपद्वादादिकी दृष्टिसे, जिसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, प्रथमादि पाँच द्वात्रिंशिकाओंको दिगम्बर सिद्धसेनकी, १९वीं तथा २१वीं द्वात्रिंशिकाओंको श्वेताम्बर सिद्धसेनकी और शेष द्वात्रिंशिकाओंको दोनोंमेंसे किसी भी सम्प्रदायके सिद्धसेनकी अथवा दोनो ही सम्प्रदायोंके सिद्धसेनोंकी अलग अलग कृति कहा जा सकता है। यही इन विभिन्न सिद्धसेनोंके सम्प्रदाय-विषयक विवेचनका सार है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ३१-१२-१९४८

---

१ देखो, वार्तिक नं० ४०१से ४०५ और उनकी टीका अथवा जैनहितैषी भाग १३ अङ्क ९-१०में प्रकाशित मुनि जिनविजयजीका 'प्रमालक्षण' नामक लेख।

ॐ अर्हम्

मूल्य वार्षिक ५)

१२वीं किरणका मूल्य ... शामिल

वर्ष ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जिला सहारनपुर	दिसम्बर
किरण १२	मार्गशीर्षशुक्ल, वीरनिर्वाण-संवत २४७५, विक्रम-संवत २००५	१९४८

धर्म और वर्तमान परिस्थितियाँ

(ले०—नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

मानवता धर्म है और मानवजीवनको विकासकी ओर ले जानेवाले नियम धर्मके अङ्ग हैं। विचारके लिये मानवजीवनको प्रधान तीन क्षेत्रोंमें विभक्त किया जा सकता है—शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक। नित्य, चैतन्य और अखण्ड आत्माके विकास एवं उसके मूल स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेके लिये उपर्युक्त तीनों शक्तियाँ साधन हैं। इनके विकास द्वारा ही चरम लक्ष्य आत्माकी अनुभूति होती है अथवा जो आत्माका अस्तित्व नहीं भी मानते हैं, उनके लिये भी उक्त तीनों क्षेत्रोंके विकास की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि मानवकी मानवता इन तीनोंके विकासका ही नाम है। अतएव धर्मका लक्ष्य भी इन तीनों शक्तियोंके विकसित करनेका है। जब तक इन तीनोंमेंसे कोई भी शक्ति अविकसित रहती है, मानव अपूर्ण ही रहता है। स्पष्ट करनेके लिये यो कहा जा सकता है कि शरीरके विकासके अभाव[1]में मानसिक शक्तियोंका विकास नहीं और मानसिक शक्तियोंके कमजोर होनेपर आध्यात्मिक शक्तिका विकास सम्भव नहीं, अतः आजके वैज्ञानिकोंके यहाँ भी क्रिया, विचार और भावना इन तीनोंकी अविकसित अवस्थामें व्यक्तिगत जीवन निष्क्रिय जीवन होगा। व्यक्तिकी निष्क्रियता अपने तक ही सीमित नहीं रहेगी प्रत्युत उसका व्यापी प्रभाव समाज-पर पड़ेगा; *जिसका फल मानव-समाजके विनाश या उसकी असभ्यतामें प्रकट होगा।*

१ शरीर की उस शक्तिका नाम शारीरिक विकास है, जहाँ भोजनके अभावमें उसकी स्थिति रह सके। मानसिक शक्तिका अर्थ ज्ञानका चरम विकास है तथा आध्यात्मिक शक्तिका अर्थ आत्मस्वरूपके प्रतिष्ठापन है।

शारीरिक शक्तिकी परिभाषा और उसके विकासके धार्मिक नियम

शारीरिक शक्तिमें मानवका स्थूल शरीर, उसकी इन्द्रियाँ—हाथ, पैर, नाक, कान प्रभृति शामिल हैं। इस शक्तिको विकसित करनेका काम भी धर्मका है, अर्थात् समाजके वे नियम जिनके द्वारा इस शक्तिका पूर्ण विकास हो सके, इसके विकासमें किसी प्रकारकी बाधा उत्पन्न न हो। मनुष्यको प्रारम्भसे ही शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये भोजन, वस्त्र की आवश्यकता होती है, उसे रहनेके लिये स्थान और आने-जानेके लिये सवारी भी चाहिये। इन आवश्यकताओंकी वस्तुओंके मिलनेसे उसका शरीर पुष्ट होता है, इन्द्रियोंमें पुष्टि आती है तथा समस्त शरीरके अङ्गोपाङ्गरूप शारीरिक शक्तिका विकास होता है। समाजमें आवश्यकता की वस्तुएँ थोड़ी हैं और उनके लेने वाले अत्यधिक हैं। इसलिये समाजके सभी सदस्योंको वस्तुओंके वितरणके लिये राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक नियमोंका निर्माण किया जाता है, जो कि शारीरिक शक्तिके विकसित करनेके लिये धार्मिक नियम हैं। किन्तु इतना स्मरण रखना होगा कि जब इस शक्तिका चरम विकास हो जाता है, उस समय ये क्षुद्र नियम लागू नहीं होते हैं। इसीलिये इन नियमोंको स्थिर नहीं माना जा सकता, किन्तु एक समयमें निर्मित नियम दूसरे समयके लिये अनुपयोगी भी साबित हो सकते हैं। अतएव आजकी परिस्थितियों के प्रकाशमें शक्तित्रयके विकासको देखना आवश्यक है।

शारीरिक शक्तिके साधन अर्थकी व्यापकता और सिक्केका प्रचलन

शरीरके विकासके लिये अर्थकी कितनी आवश्यकता है, यह किसीसे छुपा नहीं। भोजन, वस्त्र, सवारी प्रभृति समस्त पदार्थ अर्थके अन्तर्गत हैं। केवल रुपयेका नाम अर्थ नहीं है। आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व एक ऐसा भी युग था, जिसमें सिक्का नहीं था, केवल वस्तुओं के परस्पर विनिमयसे कार्य चलते थे। लेकिन जब इस विनिमयकी क्रियासे मानवकी शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिमें बाधा आने लगी तो अर्थके प्रतीक सिक्केका जन्म हुआ। स्पष्ट करनेके लिये यों कहा जा सकता है कि कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जिनमेंसे एकके पास गेहूँ, चना आदि अन्न है, दूसरा एक ऐसा आदमी है जिसके पास मवेशी हैं, तीसरा एक ऐसा व्यक्ति है जिसके पास वस्त्र है। पहले व्यक्तिको फलों की आवश्यकता है, दूसरेको अनाज की आवश्यकता और तीसरेको तरकारियों की। ये तीनों ही व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुकी प्राप्तिके लिये छटपटा रहे हैं। पहला अनाज वाला व्यक्ति फलोंकी दुकानपर गया और फल वालेसे अनाजके बदलेमें फल देनेको कहा, किन्तु फल वालेको अनाज की आवश्यकता नहीं। अतः अनाजसे फलोंका विनिमय नहीं करना चाहता अथवा अधिक अनाजके बदलेमें कम फल देना चाहता है, इससे पहले व्यक्तिके सामने विकट समस्या है।

दूसरे व्यक्तिको अनाज चाहिये, अतः वह मवेशी लेकर गया और बदलेमें अनाज माँगने लगा, किन्तु पहले व्यक्तिको मवेशी की जरूरत नहीं, उसे तो फल चाहियें। इसलिये उसने मवेशीके बदलेमें अनाज देनेसे इन्कार कर दिया अथवा एक मवेशी लेकर थोड़ासा अनाज देना चाहता है, जिससे दूसरा व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूर्त्ति किये बिना ही लौट आता है। यही अवस्था तीसरे की है, उसे भी अपनी आवश्यकता की पूर्त्तिमें बाधा है। यदि ये व्यक्ति और भी कई प्रकारके पदार्थ—नमक, मिर्च, मसाला प्रभृति खरीदना चाहें तो इन्हें ये पदार्थ भी बड़ी कठिनाईसे मिलेंगे। समाजकी इस कठिन समस्याको सुलझानेके लिये धार्मिक नियम सिक्केके प्रचलनके रूपमें आविर्भूत हुआ। समाजकी छीना-झपटीकी समस्या को अर्थके प्रतिनिधि सिक्केने दूरकर मानवको उन्नत बनानेमें बड़ा योग दिया है।

सिक्केका प्रचलन एक धार्मिक नियम है

सिक्केका प्रचलन एक धार्मिक नियम है इस बातकी पुष्टि सिक्केके इतिहाससे स्वयं होजाती है। सिक्का किसी व्यापारी द्वारा नहीं चलाया गया है, बल्कि इसे किसी राजा ने चलाया है। इसका रहस्य यह है कि सिक्के की धाक और साख तभी जम सकती थी, जब समाजको इस बातका विश्वास हो जाता है कि इसकी धातु निर्दोष और तोल सही है यदि व्यापारी वर्ग इसका प्रचलन करता तो वह अपनी चालाकीसे उक्त दोनो बातोंका निर्वाह यथार्थरूपमे नहीं कर सकता, जिसका परिणाम सिक्के राज्यमें भी अराजकता होती और थोड़े दिनोंमें सिक्का भी निकम्मी चीज बन जाता। अतः धोखेबाजीको दूर करनेके लिये तथा समाजमे अमन-चैन स्थापित करनेके लिये सिक्केके बीचमे राजाको पड़ना पड़ा। इस प्रकार इस धार्मिक नियमने व्यक्ति और समाजकी अनेक समस्याओंकी जटिलताको दूर कर दिया।

शारीरिक शक्ति विकासक अर्थसम्बन्धी धार्मिक नियमोंका क्रमिक विकास

यद्यपि मुद्राके जन्म होजानेसे मानवकी शारीरिक शक्तिके विकासमे सुविधा प्राप्त हुई है। पर कुछ चालाक और धूर्त व्यक्ति अपने बौद्धिक कौशलसे अन्य व्यक्तियोंके श्रमका अनुचित लाभ उठाकर उनका शोषण करते हैं, जिसमे मानव-समाजमे दो वर्ग स्थापित हो जाते है—एक शोषित और दूसरा शोषक। प्रागैतिहासिक कालसे ही मानव अपनी शारीरिक शक्तिके विकासके लिये धार्मिक नियमोंका प्रचलन करता चला आरहा है। परिस्थितियोंके अनुसार सदा इन नियमोंमें संशोधन होता रहा है। उदयकाल और आदिकालमें जब लोग वैयक्तिक सम्पत्ति रखने लगे थे, अर्थार्जनके असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्यके नियम प्रचलित किये गये थे, जिन नियमोंमे आबद्ध होकर मानव शारीरिक शक्तिको विकसित करनेके लिये अर्थ प्राप्त करता था।

जब-जब आर्थिक व्यवस्थामे विषमता या अन्य किन्हीं भी कारणोंसे बाधा उत्पन्न हुई धर्मने उसे दूर किया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और परिग्रह-परिमाण ऐसे नियम हैं, जो आर्थिक समस्याका संतुलन समाजमे रखते है। अर्थ-सम्बन्धी इन धार्मिक नियमोंका पालन राजनीति और समाज इन दोनोंके द्वारा ही हो सकता है। राजनीति सदा आर्थिक नियमोंके आधारपर चलती है तथा समाजकी भित्ति इसीपर अवलम्बित है। वर्तमान कालीन आर्थिक नियमोंके विचारविनिमयसे तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

पूंजीवादी विचारधाराका धार्मिक दृष्टिकोण

सम्भवतः कुछ लोग पूंजीवादी विचारधाराका नाम सुनकर चौंक उठेंगे और प्रश्न करेंगे कि धर्मके साथ इसका सम्बन्ध कैसा ? यह तो एक सामाजिक या राजनैतिक प्रश्न है, धर्मको इसके बीचमे डालना उचित नहीं। किन्तु विचार करनेपर यह स्पष्ट मालूम हो जायगा कि धर्मका सम्बन्ध आजकी या प्राचीनकालकी सभी आर्थिक विचारधाराओंमे है। यदि यह कहा जाय कि किसी विशेष परिस्थितिमे कोई आर्थिक विचारधारा धार्मिक नियम है, तो अनुचित न होगा, क्योंकि वह अपने समयमे समाजमे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करती है।

पूंजीवादकी परिभाषा

समाजके चन्द व्यक्ति अपने बुद्धिकौशल द्वारा उत्पत्तिके साधनोंपर एकाधिकार कर उत्पादन सामग्रीको क्रियात्मकरूप देनेके लिये मजदूरोंको नौकर रख लेते हैं। मजदूर अपने श्रमसे अर्थार्जन करते हैं, जिसके बदलेमे पूँजीपति उन्हें वेतन देते हैं, परन्तु यह वेतनश्रमकी

अपेक्षा कम होता है। जितना मजदूरोंको देनेके बाद बच जाता है, वह पूँजपतियोंके कोषमें सञ्चित होता है। इस प्रकार समाजमें व्यवसायिक क्रान्तिके फलस्वरूप पूँजी कुछ ही स्थानोंमें सञ्चित हो जाती है, यही पूँजीवाद कहलाता है। पूँजी उत्पादनके प्रधान चार साधन है—भूमि, मजदूरी, पूँजी और संगठन। इन चारोंकी आय लगान या किराया, पारिश्रमिक—वेतन, व्याज और लाभ कहलाती है॥

पूंजीवाद और धर्म

एक युग ऐसा था, जब समाजकी सुव्यवस्थाके लिये पूँजीवादकी आवश्यकता थी। स्वभावतः देखा जाता है कि जब पृथ्वीपर जनसंख्याकी वृद्धि हो जाती है, तब व्यक्तित्व विकासकी भावनाएँ प्रबल होती है तथा समाजका प्रत्येक सदस्य अहङ्कार और व्यक्तिगत स्वार्थोंके लिये भौतिक उन्नतिमें स्पर्धा करता है, यही एक-दूसरेकी बढ़ा-चढ़ीकी भावना पूँजीवाद को जन्म देती है। प्राचीनयुगमें जब जनसंख्या सीमित थी, उस समय समाजकी शक्तिको बढ़ानेके लिये पूँजीवादको धार्मिकरूप दिया गया था। वस्तुतः समाजकी शक्तिके लिये कुछ ही स्थानोंमे पूँजीका सञ्चित करना आवश्यक था। लेकिन उस युगमे संचित करनेवाला व्यक्ति अकेला ही उस सम्पत्तिके उपभोग करनेका अधिकारी नहीं था, वह रक्षकके रूपमें रहता था, तथा आवश्यकता पड़नेपर उसे अपनी सम्पत्ति समाजको देनी पड़ती थी। उस समय समाज संचालनके लिये एक ऐसी व्यवस्थाकी आवश्यकता थी, जिसके द्वारा आवश्यकता पड़नेपर पर्याप्त धन लिया जा सके।

पूंजीवादकी आलोचना

संसारकी सभी वस्तुएँ गुण-दोषात्मक हुआ करती हैं। ऐसी कोई व्यवस्था नहीं मिलेगी, जिसमें केवल गुण या दोष ही हो। पूँजीवाद जहाँ धार्मिक दृष्टिसे एक युगमे समाज-व्यवस्थामे सहायक था, वहाँ आज समाजके लिये हानिकारक है। क्योंकि जब राग-द्वेष युक्त अपरिमित भौतिक उन्नतिसे जगतमें विषमता अत्यधिक बढ़ जाती है, उस समय विषमता जन्य दुखोंसे छुटकारा पानेके लिये प्रत्येक मानव तिलमिलाने लगता है, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अन्य सामाजिक व्यवस्था जन्म ग्रहण करती है। क्योंकि वही आर्थिक विचारधारा प्रत्येक व्यक्तिके लिये धार्मिक हो सकती है जिससे शारीरिक शक्तिको विकसित करनेवाले साधन आसानीसे प्राप्त हो सकें।

आज समाजमें चलनेवाला शोषण (exploitation) जो कि पूँजीवादका कारण है, अधार्मिक है। शोषण समाजके प्रत्येक सदस्यको उचित और उपयुक्त मात्रामे शरीर धारणकी आवश्यक सामग्री देनेमे बाधक है। अतः पूंजीवाद आजके लिये अधार्मिक है।

धर्म और मार्क्स-विचारधारा

यद्यपि लोग मार्क्सको धर्मका विरोधी मानते है, पर वास्तविक कुछ और है। मार्क्स-ने जिस आदर्श समाजकी कल्पना की है, वह धर्मके बिना एक कदम भी नहीं चल सकता। पर इतना सुनिश्चित है कि मार्क्सकी धर्म परिभाषा केवल शारीरिक शक्तिके विकास तक ही सीमित है, मानसिक आध्यात्मिक शक्तिके विकास पर्यन्त उसकी पहुंच नहीं। जीवनके लिये सिर्फ भोजन और वस्त्र ही आवश्यक नहीं, किन्तु एक ऐसी वस्तुकी भी आवश्यकता है जो मानसिक और आध्यात्मिक तृप्तिमें कारण है; वह है संयम और आत्मनियन्त्रण। अतएव भौतिक दृष्टिसे समाजको सुव्यवस्थित करनेवाले आर्थिक परिस्थितिका निश्चयात्मक स्वभाव (Economicdeterminism), श्रेणीयुद्ध, मूल्यका नियम, अतिरिक्तार्थ, अतिरिक्तार्थको

बढ़ानेवाली पिपासाका विरोध और साधनोंके केन्द्रीयकरणका विरोध ये मार्क्सके सिद्धान्त भी संयम और आत्मनियन्त्रणके बिना सफल नहीं हो सकते।

धर्म और गांधी-विचारधारा

गाँधी विचारधाराने, जोकि जैनआर्थिक विचारधाराका अंश है, समाजके विकासमें बड़ा योग दिया है। महात्माजीने मानवकी भौतिक उन्नतिकी अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नतिपर अधिक जोर दिया है। उन्होंने जीवनका ध्येय केवल इह लौकिक विकास ही नहीं माना, किन्तु सत्य, अहिंसा और ईश्वरके विश्वास-द्वारा आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना ही जीवनका चरम लक्ष्य माना है।

मानवकी आर्थिक समस्याको सुलझानेके लिये, जो कि आजकी एक आवश्यक चीज है, उन्होंने असत्य और अहिंसाके सहारे मशीनयुगको समाप्त कर आत्मनिर्भर होनेका प्रतिपादन किया है। 'सादाजीवन और उच्चविचार' यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके प्रयोग-द्वारा सारी समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। सादगीसे रहनेपर व्यक्तिके सामने आवश्यकताएँ कम रहेंगी, जिससे समाजकी छीना-झपटी दूर हो जायगी।

आर्थिक समस्या और अपना दृष्टिकोण

आजके युगमें शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिमें एकमात्र सहायक अर्थ है। इसकी प्राप्तिके लिये धार्मिक नियमोंकी आवश्यकता है। अतः वर्तमानमें प्रचलित सभी आर्थिक विचारधाराओंका समन्वय कर कतिपय नियम नीचे दिये जाते है, जो कि जैनधर्म-सम्मत हैं और जिनके प्रयोगसे मानव समाज अपना कल्याण कर सकता है—

१—समाजका नया ढाँचा ऐसा तैयार किया जाय जिसमें किसीको भूखों मरनेकी नौबत न आवे और न कोई धनका एकत्रीकरण कर सके। शोषण, जो कि मानवसमाजके लिये अभिशाप है, तत्काल बन्द किया जाय।

२—अन्यायद्वारा धानार्जनका निषेध किया जाय—जुआ खेलकर धन कमाना, सट्टा-लॉटरी द्वारा धनार्जन करना, चोरी, ठगी, घूस, धूर्तता और चोरबाजारी-द्वारा धनार्जन करना, बिना श्रम किये केवल धनके बलसे धन कमाना एवं दलाली करना आदि धन कमानेके साधनोंका निषेध किया जाय।

३—व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास इतना किया जाय, जिससे विश्वप्रेमकी जागृति हो और सभी समाजके सदस्य शक्ति-अनुसार कार्य कर आवश्यकतानुसार धन प्राप्त करें।

४—समाजमें आर्थिक समत्व स्थापित करने लिये संयम और आत्मनियन्त्रणपर अधिक जोर दिया जाय, क्योंकि इसके बिना धनराशिका समान वितरण हो जानेपर भी चालाक और व्यवहार-कुशल व्यक्ति अपनी धूर्तता और चतुराईसे पूंजीका एकत्रीकरण करते ही रहेंगे। कारण, संसारमें पदार्थ थोड़े हैं, तृष्णा प्रत्येक व्यक्तिमें अनन्त हैं, फिर छीना-झपटी कैसे दूर हो सकेगी ? संयम ही एक ऐसा है, जिससे समाजमें सुख और शान्ति देनेवाले आर्थिकप्रलोभनोंकी त्यागवृत्तिका उदय होगा। सच्ची शान्ति त्यागमें है, भोगमें नहीं। भले ही भोगोंको जीवोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति कहकर उनकी अनिवार्यता बतलाई जाती रहे; परन्तु इस भोगवृत्तिसे अन्तमें जी ऊब जाता है। विचारशील व्यक्ति इसके खोखलेपनको समझ जाता है। यदि यह बात न होती तो आज यूरोपसे भौतिक ऐश्वर्यके कारण घबड़ाकर जो धर्मकी शरणमें आनेकी आवाज आ रही है, सुनाई नहीं पड़ती।

मानवके विकासमें सहयोग देनेवाली राजनीति

प्रागैतिहासिक—भोगभूमि—कालमें न कोई राजा था और न कोई प्रजा। सभी आनन्द और प्रेमसे अपना जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु उदयकाल—कर्मभूमिके प्रारम्भमें जब स्वार्थोंका संघर्ष होने लगा तो राज्यव्यवस्थाकी नीव पड़ी और उत्तरोत्तर इसमें विकास समय और आवश्यकताके अनुसार होता रहा। राज्य-संचालनकी तीन विधियाँ प्रमुख है—राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र और प्रजातन्त्र।

तीनों तन्त्रोंकी व्याख्या और आलोचना

राजतन्त्रमें शासनकी बागडोर ऐसे व्यक्तिके हाथमें होती है जो वंशपरम्परासे राज्यका सर्वोच्च अधिकारी चला आ रहा हो। अधिनायकतन्त्रमें शासनसूत्र ऐसे व्यक्तिके हाथमें होता है जो जीवनभरके लिये या किसी निश्चित काल तकके लिये प्रधान शासकके रूपमें चुन लिया जाता है और प्रजातन्त्र-प्रणालीमें शासनसूत्र जनताके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंके हाथमें होता है।

इन तीनों तन्त्रोंमें गुण-दोष दोनों हैं, फिर भी प्रजातन्त्रप्रणाली नैतिक, आर्थिक और सामाजिक विकासमें अधिक सहायक है। पर इस प्रणालीमे इस बातपर ध्यान रखना होगा कि निर्वाचन बिना किसी पक्षपात और लेन-देनके हो। रुपयोके बलपर मत (वोट) खरीदकर किसी पदके लिये निर्वाचित होना परम अधार्मिकता है।

भारतके नवनिर्माणमें प्रजातन्त्र प्रणाली ही उपयोगी हो सकती है। समय और परिस्थितियोंके अनुसार यह प्रणाली व्यक्ति और समाजकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका विकास कर सकती है। प्रेम, संयम और सहनशीलताका दायित्व मानवमात्रका होता है, इससे कोई भी अपराध नहीं करता। क्योंकि जनता अपने द्वारा निर्धारित नियमोकी अवहेलना नही कर सकती है। जब प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक नियमोंका पालन करेगा तो राजकीय शक्तिका सदुपयोग अन्य विकासके साधनोंमे किया जायगा। अतः यह प्रेमका शासन समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नतिके लिये धार्मिक है।

समाज और धर्म

मानव सामाजिक प्राणी है, यह अकेले रहना पसन्द नहीं करता है, अतः उसे अपने विकासके लिये संगठनकी आवश्यकता होती है। किसी समानताके आधारपर जो संगठन किया जाता है, वही समाज कहलाता है। इस प्रकार जाति, धर्म, जीविका, संस्कृति, प्रान्त, देश प्रभृति विभिन्न बातोंके नामपर सङ्गठित व्यक्तियोंका समूह विभिन्न समाजोंमे बटा माना जायगा।

अपने समाज—वर्गविशेषको श्रेष्ठ समझकर अन्य वर्गोंसे द्वेष करना, अधार्मिकता है। आज जातिद्वेष, धर्मद्वेष, प्रान्तविद्वेष, भाषाविद्वेष, व्यवसायविद्वेष विभिन्न-प्रकारके द्वेष वर्तमान हैं, जिनके कारण समाजमे अत्यन्त अशान्ति है। राग और द्वेष ये दोनो ही अधर्म हैं, विशुद्ध प्रेमका व्यापकरूप ही धर्मके अन्तर्गत आता है। अतः अपनेको बड़ा और अन्यको छोटा समझकर घृणा करना अमानवता है। सामाजिक विकासके लिये निम्न धार्मिक नियमोंका पालन करना आवश्यक है—

१ सहानुभूति, २ अहङ्कार और द्वेषका त्याग, ३ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना, जो व्यवहार अपनेको नही रुचता उसे अन्यके साथ नहीं करना, ४ धार्मिक सहिष्णुता.

५ नैतिकस्तरको उन्नत करनेके लिये सदाचार, भ्रातृत्व-भावना, नम्रता, वात्सल्य, सेवा-शुश्रूषा-की प्रवृत्ति आदि गुणोंका विकास एवं ६ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहकी भावनाओंका प्रचार करना।

मानसिकशक्ति और उसके विकासके साधन

मानसिकशक्तिमें बुद्धि, मन, हृदय और मस्तिष्कका विकास शामिल है। इन चारोंके विकसित हुए बिना धर्मका पालन यथार्थतः नहीं हो सकता। जिस प्रकार शरीरके विकासके लिये उत्तम भोजनकी आवश्यकता है उसी प्रकार मानवकी मानसिक शक्तिके विकासके लिये साहित्य और कलाकी आवश्यकता है। गहराईमे पैठनेपर पता लगता है कि कलाका अर्थ संकुचित नहीं, किन्तु सम्यक् प्रकार जीना भी कलामें परिगणित है। केवल पेट भरना और अन्तमे 'रामनाम सत्य हो जाना' जीना नहीं है, अतएव वे धार्मिक नियम कला हैं जिनके सेवनसे शरीर ऐसा सबल हो, जिससे किसी भी प्रकारका रोग उत्पन्न न हो सके, आलस्य और थकावट न मालूम हो। मन इतना पवित्र हो जिससे बुरे विचार कभी उत्पन्न न हों, ऊँचे आदर्शोंकी कल्पनाएँ उद्बुद्ध हों, हृदय इतना निर्मल हो, कि दया और अहिंसाकी भावनाएँ उत्पन्न हों एवं बुद्धि ऐसी हो जिससे सत्-असत्का यथार्थ निर्णय कर सके। धर्मका कार्य इसी कलाको सिखलाना है, वासना उद्बुद्ध करनेवाली कलाको नहीं।

आत्मिकशक्ति और उसके विकासके साधन

आत्मिक गुण ज्ञान, दर्शन और चारित्रका विकास करना धर्मका चरम लक्ष्य है। इनके पूर्ण विकसित होनेपर ही शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है।

साधकके लिये सबसे आवश्यक यह है कि वह सर्व प्रथम आत्मतत्त्वका विश्वास कर अनात्मिक भावोंको छोड़नेका प्रयत्न करे। जबतक मानवकी बुद्धि भौतिक सुखोंकी ओर रहती है, आध्यात्मिक शक्तिका विकास नहीं होता, लेकिन जैसे-जैसे भौतिकतासे ऊपर उठता जाता है; आत्मिक गुण प्रकट होने लगते है। जो संयम—इन्द्रियनिग्रह-भोजन-वस्त्रकी चिन्ता रखनेवाले व्यक्तिको बुरा मालूम होता है, वही संयम विकसित मस्तिष्क और हृदय-वालेको कल्याणकारी होता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह प्रत्यक्षके प्रयोगसे इन्कार करता है, बल्कि यह है कि इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक और विनाशीक होनेके कारण पूर्णतृप्तिमे असमर्थ हैं। पूर्णतृप्तिके साधन त्याग, विनय, संयम, आत्मचिन्तन, क्षमा, मार्दव, शौच और ब्रह्मचर्य आदि है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि धर्मका सम्बन्ध जहाँ आत्मकल्याणके साथ है, वहाँ आजकी रोटी और वस्त्रकी समस्याओंको भी सुलझाना है। केवल आध्यात्मवाद आजके युगमें धर्मका विश्लेषण नहीं कर सकता। धर्मसे लोगोंके मनमें जो ग्लानि और उपेक्षा उत्पन्न होगई है, उसका मूल कारण आजकी समस्याओंको सुलझानेका प्रयत्न न करना ही है। यदि लोग धर्मको परलोककी वस्तु न मानकर आजकी दुनियाकी वस्तु समझें और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियोंको सुलझानेमें उसका उपयोग करें तो लोगोंके लिये धर्म हौआ न रहे। यह तो ऐसा पवित्र पदार्थ है जिसके सामने ऊँच-नीच, छुआ-छूत, छोटा-बड़ा, घृणा-द्वेष, कलह-राग, आदि बातें क्षणभर भी नहीं ठहर सकती हैं। आज लोगोंने धर्मके गलेको घोटकर उसे साम्प्रदायिकताका जामा पहना दिया है, जिससे वह सिर्फ परलोककी वस्तु बन गया है।

ब्रह्मश्रुतसागरका समय और साहित्य

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

ब्रह्मश्रुतसागर मूलसंघ सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके विद्वान् थे। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दी था, जो भट्टारक पद्मनन्दीके प्रशिष्य और देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। और देवेन्द्रकीर्तिके बाद भट्टारक पदपर आसीन हुए थे। विद्यानन्दीके बाद उक्त पदपर क्रमशः मल्लिभूषण और लक्ष्मीचन्द्र प्रतिष्ठित हुए थे। इनमें मल्लिभूषणगुरु श्रुतसागरको परम आदरणीय गुरुभाई मानते थे और इनकी प्रेरणासे श्रुतसागरने कितने ही ग्रन्थोंका निर्माण किया है।[१] ये सब सूरतकी गद्दीके भट्टारक हैं[२]। इस गद्दीकी परम्परा भ० पद्मनन्दीके बाद देवेन्द्रकीर्तिसे प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। ब्रह्मश्रुतसागर भट्टारक पदपर प्रतिष्ठित नहीं हुए थे; किन्तु वे जीवनपर्यन्त देशव्रती ही रहे जान पड़ते हैं, उन्होंने अपनेको ग्रन्थोंमें 'देशव्रती' शब्दसे उल्लेखित भी किया है। वे संस्कृत और प्राकृत भाषाके अच्छे विद्वान् थे। उन्हें 'कलिकाल सर्वज्ञ, उभय भाषाकविचक्रवर्ती, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण और नवनवतिमहावादि विजेता' आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थीं जिनसे उनकी प्रतिष्ठा और विद्वत्ताका अनुमान लगाया जा सकता है।

अब जानना यह है कि वे कब हुए हैं? यद्यपि श्रुतसागरजीने अपनी कृतियोंमें उनका रचनाकाल नहीं दिया जिससे यह बतलाया जा सके कि उन्होंने अमुक समयसे लेकर अमुक समय तक किन किन ग्रन्थोंकी किस क्रमसे रचना की है; किन्तु अन्य दूसरे साधनोंके आधारसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि ब्रह्मश्रुतसागरका समय विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका प्रथम, द्वितीय व तृतीय चरण है। अर्थात् वे वि० सं० १५००से १५७५के मध्यवर्ती विद्वान् हैं। इसके दो आधार हैं एक तो यह कि भट्टारक विद्यानन्दीके वि० सं० १४९९से वि० सं० १५२३ तकके ऐसे मूर्तिलेख पाये जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठा भ० विद्यानन्दीने स्वयं की है अथवा जिनमें भ० विद्यानन्दीके उपदेशसे प्रतिष्ठित होनेका समुल्लेख पाया जाता है[२]। और मल्लिभूषण-गुरु[३] वि० सं० १५४४ तक या उसके कुछ समय बाद तक पट्टपर आसीन रहे हैं ऐसा सूरत आदिके मूर्तिलेखोंसे स्पष्ट जाना जाता है। इससे स्पष्ट है कि भ० विद्यानन्दीके प्रियशिष्य ब्रह्म-श्रुतसागरका भी यही समय है। क्योंकि यह विद्यानन्दीके प्रधान शिष्य थे। दूसरा आधार यह है कि उनकी रचनाओंमें एक 'व्रतकथाकोश'का भी नाम दिया हुआ है, जिसे मैंने देहलीके पञ्चायती मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें देखा था और उसकी आदि अन्तकी प्रशस्तियाँ भी नोट की थीं, उनमें २४वीं 'पल्यविधानकथा'की प्रशस्तिमें ईडरके राठौर राजाभानु अथवा रावभाणजीका उल्लेख किया गया है और लिखा है कि 'भानुभूपतिकी भुजारूपी तलवारके जल प्रवाहमें शत्रुकुलका विस्तृत प्रभाव निमग्न होजाता था और उनका मन्त्री हुबड कुलभूषण भोजराज था, उसकी पत्नीका नाम विनयदेवी था जो अतीव पतिव्रता साध्वी और जिनदेवके चरणकमलोंकी उपासिका थी। उससे चार पुत्र उत्पन्न

---

१ देखो, दानवीर माणिकचन्द पृ० ३७।

२ देखो, गुजरातीमन्दिर सूरतके मूर्तिलेख, दानवीर माणिकचन्द पृ० ५३, ५४।

३ मल्लिभूषणके द्वारा प्रतिष्ठित पद्मावतीकी स० १५४४की प्रतिष्ठित एक मूर्ति, जो सूरतके बड़े मन्दिरजी-में विराजमान है।

हुए थे. उनमें प्रथम पुत्र कर्मसिंह. जिसका शरीर भूरिरत्नगुणोंसे विभूषित था और दूसरा पुत्र कुलभूषण काल था, जो शत्रुकुलके लिये कालस्वरूप था, तीसरा पुत्र पुण्यशाली श्रीघोपर, जो सघन पापरूपी गिरीन्द्रके लिये वज्रके समान था और चौथा गङ्गाजलके समान निर्मल मनवाला गङ्ग। इन चार पुत्रोंके बाद इनकी एक बहिन भी उत्पन्न हुई थी जो ऐसी जान पड़ती थी कि जिनवरके मुखसे निकली हुई सरस्वती हो अथवा दृढ़सम्यक्त्ववाली रेवती हो, शीलवती सीता हो और गुणरत्नराशि राजुल हो'। श्रुतसागरजीने स्वयं संघसहित उसके साथ गजपन्थ और तुङ्गीगिर आदिकी यात्रा की थी और वहाँ उसने नित्य जिन पूजनकी, तप किया और संघको दान दिया था'। जैसा कि उक्त प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे स्पष्ट है:—

"*श्रीभानुभूपति-भुजासिजलप्रवाह निर्मग्नशत्रुकुलजातततप्रभावः ।*
सद्वृद्ध्यहुम्बडकुल बृहतीलदुर्गे श्रीभोजराजइति मन्त्रिवरो बभूव ॥४४॥"
भार्यास्य सा विनयदेव्यभिधासुधोपमोद्गारवाककमलकांतमुखी सखीव ।
लक्ष्म्याः प्रभोर्जिनवरस्य पदाब्जभृङ्गी साध्वीपतिव्रतगुणाभरणेवन्महार्घ्या ॥४५॥
सा सूत भूरिगुणरत्नविभूषिताङ्गं श्रीकर्मसिंहमितिपुत्रमनूकरत्न ।
काल च शत्रुकुलकालमनूनपुण्यं श्रीघोपरं घनतराघगिरीन्द्रवज्रं ॥४६॥
गङ्गाजलप्रविलोच्यमनोनिकेतं तुर्यं च वर्यतरमङ्गजमत्र गंगं ।
जाता पुरस्तदनुपुत्तलिका स्वसैषा वक्त्रेषु सज्जिनवरस्य सरस्वतीव ॥४७॥
सम्यक्त्वदार्ढ्यकलिता किलरेवतीव सीतेव शीलसलिलोक्षितभूरिभूमिः ।
राजीमतीव सुभगागुणरत्नराशि वेलासरस्वती इवाचति पुत्तलीह ॥४८॥
यात्रां चकार गजपंथगिरौ ससंघा हो तत्तपो विदधती सुदृढव्रता सा ।
तच्छ्रान्तिक गणसमर्चनमर्हदीश नित्यार्चनं सकलसंघ सदत्तदानं ॥४९॥
तुङ्गीगिरौ च बलभद्रमुनेः पदाब्जभृङ्गी तथैव सुकृतं यतिनिश्चकार ।
श्रीमल्लिभूषणगुरुप्रवरोपदेशाच्छास्त्र व्यधाय यदिदं कृतिना हृदिष्टं ॥५०॥

—पल्यविधान कथा प्रशस्ति।

उक्त प्रशस्ति पद्योंमें उल्लिखित भानुभूपति ईडरके राठोरवंशी राजा थे। यह राव-पूंजोजी प्रथमके पुत्र और राव नारायणदासजीके भाई थे और उनके बाद राज्यपदपर आसीन हुए थे। इनके समय वि० सं० १५०२में गुजरातके बादशाह मुहम्मदशाह द्वितीयने ईडरपर चढ़ाई की थी तब उन्होंने पहाड़ोंमें भागकर अपनी रक्षा की, बादमें उन्होंने सुलह करली थी। फारसी तवारीखोंमें इनका वीरराय नामसे उल्लेख किया गया है। इनके दो पुत्र थे सूरजमल्ल और भीमसिंह। रावभाणजीने सं० १५०२से १५५२ तक राज्य किया है' इनके बाद राव-सूरजमल्लजी सं० १५५२में राज्यासीन हुए थे। रावभाणजीके राज्यकालमें ही उक्त पल्यविधान कथाकी रचना हुई है। इससे श्रुतसागरका समय विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीका प्रथम-द्वितीय चरण निश्चित होता है।

श्रुतसागरकी मृत्यु कब और कहाँ हुई उसका कोई निश्चित आधार अबतक नहीं मिला इसीसे उनके उत्तर समयकी निश्चित सीमा निर्धारित करना कठिन है, फिर भी सं० १५८२से पूर्व तक उसकी सीमा जरूर है और जिसका आधार निम्न प्रकार है:—

श्रुतसागरने पं० आशाधरजीके महाअभिषेकपाठपर एक टीका लिखी है जो अभिषेकपाठसंग्रहमें प्रकाशित हो चुकी है। उसकी लेखक प्रशस्ति सं० १५८२की है' जिसे

१ देखो, भारतके प्राचीन राजवंश भाग ३ पृ० ४२७।

२ सं० १५८५की लिखी हुई श्रुतसागरकी षट्पाहुड टीकाकी एक प्रति आमेरके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है और उसकी लेखक प्रशस्ति मेरी नोटबुकमें उद्धृत है।

भ० लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्रह्मज्ञानसागरके पठनार्थ आर्या विमलश्रीकी चेली और भ० लक्ष्मी-चन्द्र द्वारा दीक्षित विनयश्रीने स्वयं लिखकर प्रदान की थी। इसके सिवाय, ब्रह्मनेमिदत्तने अपने आराधनाकथाकोश, श्रीपालचरित, सुदर्शनचरित, रात्रिभोजनत्यागकथा और नेमिनाथ पुराण आदि ग्रन्थोंमें श्रुतसागरका आदर पूर्वक स्मरण किया है। इन ग्रन्थोंमे आराधना-कथाकोश सं० १५७५के लगभगकी रचना है और श्रीपालचरित सं० १५८५में रचा गया है। शेष रचनाएँ इसी समयके मध्यकी या आसपासके समयकी जान पड़ती हैं।

ब्रह्मश्रुतसागरकी अब तक ३६ रचनाओंका[1] पता चला है जिनमेंसे ८ टीकाग्रन्थ हैं और शेष सब स्वतन्त्र कृतियाँ हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:—

१ यशस्तिलकचन्द्रिका, २ तत्त्वार्थवृत्ति, ३ तत्त्वत्रयप्रकाशिका, ४ जिनसहस्रनाम-टीका, ५ महाअभिषेकटीका, ६ षट्पाहुडटीका, ७ सिद्धभक्तिटीका, ८ सिद्धचक्राष्टकटीका, ९ ज्येष्टजिनवरकथा, १० रविव्रतकथा, ११ सप्तपरमस्थानकथा, १२ मुकुटसप्तमकोथा, १३ अक्षय-निधिकथा, १४ षोडशकारणकथा, १५ मेघमालाव्रतकथा, १६ चन्दनषष्ठीकथा, १७ लब्धिविधान-कथा, १८ पुरन्दरविधानकथा, १९ दशलाक्षिणीव्रतकथा, २० पुष्पाञ्जलिव्रतकथा, २१ आकाश-पञ्चमीकथा, २२ मुक्तावलिव्रतकथा, २३ निदुखसप्तमीकथा, २४ सुगन्धदशमीकथा, २५ श्रवण-द्वादशीकथा, २६ रत्नत्रयव्रतकथा, २७ अनन्तव्रतकथा, २८ अशोकरोहिणीकथा, २९ तपोलक्षण-पंक्तिकथा, ३० मेरुपंक्तिकथा, ३१ विमानपंक्तिकथा, ३२ पल्यविधानकथा। (इन कथाओंमें नं० ९से लेकर ३२ तकके ग्रन्थ 'व्रतकथाकोश' नामसे एक ग्रन्थमें संग्रह कर दिये गये हैं; परन्तु वे एक ग्रन्थके अङ्ग नहीं हैं उनमें भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके अनुरोध एवं उपदेशादि द्वारा रचे जानेका स्पष्ट उल्लेख निहित है इसीसे यहाँ उन्हें एक ग्रन्थका नाम न देकर स्वतन्त्र २४ ग्रन्थके रूपमें उल्लेखित किया है)। ३३ श्रीपालचरित, ३४ यशोधरचरित, ३५ औदार्य-चिन्तामणी (प्राकृत स्वोपज्ञवृत्तियुक्तव्याकरण) ३६ श्रुतस्कन्धपूजा।　　　　ता० २५-१-४६

सुधार-सूचना

अनेकान्तकी गत १०वीं किरणके प्रथम पृष्ठपर प्रकाशित 'मदीया द्रव्यपूजा' नामकी कविताके छपनेमें कुछ अशुद्धियाँ होगई है और कुछ उसके लेखक युगवीरजी-ने उसमें थोड़ा-सा नया संस्कार भी किया है अतः पाठक अपनी-अपनी प्रतिमें उसको निम्न प्रकारसे सुधार कर पढ़नेकी कृपा करें:—

प्रथम पद्यमें 'मयं'की जगह 'मिदं' और 'समर्पयामि इति'की जगह 'समर्पयेऽहमिति' बना लेवे। द्वितीय पद्यमें 'एतद्वाऽऽहृदि'के स्थानपर 'एतन्मे हृदि', 'रसयुतै-रन्नादिपानैःसह'के स्थानपर 'रसयुतैरन्नादिभोगेचनैः', 'त्वर्पण-व्यर्थता'के स्थान पर त्वर्पण-मोघता' और सद्भेषजाऽऽनर्थ्यवन्'के स्थानपर 'सद्भेषजाऽऽनर्थ्यवन्' ऐसा पाठ कर लेवे। तृतीय पद्यमे 'तत्तम्'की जगह 'तत्तत्' किया जाना चाहिये। चतुर्थ पद्यमे 'शिरोग्र'के स्थानपर 'शिरोऽग्र' और 'एतन्मे तव द्रव्य-पूजनमहो'के स्थानपर एतद्द्रव्यसुपूजनं मम विभो!' बना लेना चाहिये। साथ ही इसके द्वितीय चरणमें द्वितीय पद्यके द्वितीय चरण-जैसा जो व्यर्थका डैश (—) पड़ा हुआ है उसे निकाल कर पूर्वापर अक्षरोंको मिला देना चाहिये और अन्तमें लेखकका नाम 'युगवीर' दे देना चाहिये।　　　　—प्रकाशक

---

[1] नं० १, ५, ६की टीकाएँ प्रकाशित होचुकी हैं नं० २की टीका भारतीयज्ञानपीठकाशीसे प्रकाशित हो रही है। नं० ३, ४की टीकाएँ और शेष सब ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं।

मानवजातिके पतनका मूल कारण-संस्कृतिका मिथ्यादर्शन

(प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, भारतीयज्ञानपीठ काशी)

संस्कृतिके स्वरूपका मिथ्यादर्शन ही मानवजातिके पतनका मुख्य कारण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह अपने आस-पासके मनुष्योंको प्रभावित करता है। बच्चा जब उत्पन्न होता है तो बहुत कम संस्कारोंको लेकर आता है। उत्पत्तिकी बात जाने दीजिये। यह आत्मा जब एक देहको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये किसी स्त्रीके गर्भमें पहुंचता है तो बहुत कम संस्कारोंको लेकर जाता है। पूर्व पर्यायकी यावत् शक्तियाँ उसी पर्यायके साथ समाप्त हो जाती हैं कुछ सूक्ष्म संस्कार ही जन्मान्तर तक जाते हैं। उस समय उसका आत्मा सूक्ष्मकार्मण शरीरके साथ रहता है। वह जिस स्त्रीके गर्भमें पहुंचता है वहाँ प्राप्त वीर्यकण और रज:कणमें बने हुए कललपिण्डमें विकसित होने लगता है। जैसे संस्कार उस रजकण और वीर्यकणमें होंगे उनके अनुसार तथा माताके आहार-विहार विचारोंके अनुकूल वह बढ़ने लगता है। वह तो कोमल मोमके समान है जैसा साँचा मिल जायगा वैसा ढल जावेगा। अत: उसका ९९ प्रतिशत विकास उन माता-पिताके संस्कारोंके अनुसार होता है। यदि उनमें कोई शारीरिक या मानसिक बीमारी है तो वह बच्चेमें अवश्य आजायेगी। जन्म लेनेके बाद वह माँ बापके शब्दोंको सुनता है उनकी क्रियाओंको देखता है। आसपासके लोगोंके व्यवहारके संस्कार उसपर क्रमश: पड़ते जाते हैं। और वह संस्कारोंका पिण्ड बन जाता है। एक ब्राह्मणमें उत्पन्न बालकको जन्मते ही यदि मुसलमानके यहाँ पालनेको रख दिया जाय तो उसमें वैसे ही खान-पान, बोलचाल, आचार-विचारके संस्कार पड़ जायेंगे। वही उल्टे हाथ धोना, अब्बाजान बोलना, सलामदुआ करना, मांस खाना उसी मग्गेमें पानी पीना, उर्सोमें टट्टी जाना आदि। यदि वह किसी भेड़ियेकी माँदमें चला जाता है तो वह चौपायोंकी तरह चलने लगता है। कपड़ा पहिनना भी उसे नहीं सुहाता, नाखूनसे दूसरोंको नोचता है। शरीरके आकारके सिवाय सारी बातें भेड़ियों जैसी हो जाती हैं। यदि किसी चाण्डालका बालक ब्राह्मणके यहाँ पले तो उसमें बहुत कुछ संस्कार ब्राह्मणोंके आजायगे। हां, नौ माह तक चाण्डालीके शरीरसे जो उसमें संस्कार पड़े हैं वे कभी कभी उद्बुद्ध होकर उसके चाण्डालत्वका परिचय करा देते हैं। तात्पर्य यह कि मानवजातिकी नूतन पीढ़ीके लिये बहुत कुछ माँ बाप उत्तरदायी हैं। उनकी बुरी आदतें, खोटे विचार उस नवीन पीढ़ीमें अपना घर बना लेते हैं। आज जगतमें सब चिल्ला रहे हैं संस्कृतिकी रक्षा करो संस्कृति डूबी संस्कृति डूबी उसे बचाओ। इस संस्कृतिके नामपर उसके अजायबघरमें अनेक प्रकारकी बेहूदगी भरी हुई है। कल्पित ऊँचनीच भाव, अमुक प्रकारके आचार-विचार, रहन-सहन, बोलनाचालना, उठनाबैठना आदि सभी शामिल हैं।

इस तरह जब चारों ओरसे संस्कृति रक्षाकी आवाज आरही है और यह उचित भी है तो सबसे पहिले संस्कृतिकी परीक्षा होना जरूरी है। कहीं संस्कृतिके नामपर मानव-जातिके विनाशके साधनका पोषण तो नहीं किया जा रहा। ब्रिटेनमें अंग्रेज जाति यह प्रचार करती रही कि—गोरी जातिको ईश्वरने काली जातिपर शासन करनेके लिये ही भूतलपर भेजा है और इसी कुसंस्कृतिका प्रचार कर वे भारतीयोंपर शासन करते रहे। यह तो हम लोगोंने उनके ईश्वरको बाध्य किया कि वह उनसे कह दे कि अब शासन करना छोड़ दो और उसने

बाध्य होकर छोड़ दिया। जर्मनीने अपने नवयुवकोंसे इस संस्कृतिका प्रचार किया कि जर्मन एक आर्य रक्त है। वह सर्वोत्तम है। वह यहूदियोंके विनाशके लिये है और जगतमें शासन करनेकी योग्यता उसीमें है। यह भाव प्रत्येक जर्मन युवकमें उत्पन्न किया गया। उसका परिणाम द्वितीय महायुद्धके रूपमें मानवजातिको भोगना पड़ा और ऐसी ही कुसंस्कृतियोंके प्रचारसे तीसरे महायुद्धकी सामग्री इकट्ठी की जा रही है। भारतवर्षमें सहस्रों वर्षसे जातिगत उच्चता-नीचता छुआछूत दासीदास प्रथा स्त्रीको पद दलित करनेको संस्कृतिका प्रचार धर्मके ठेकेदारोंने किया और भारतीय प्रजाके बहुभागको अस्पृश्य घोषित किया, स्त्रियोंको मात्र भोग विलासकी सामग्री बनाकर उन्हें पशुसे भी बदतर अवस्थामें पहुंचा दिया। रामायण जैसे धर्मग्रन्थमें "ढोलगँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़नके अधिकारी।" जैसी व्यवस्थाएँ दी गई और मानवजातिमें अनेक कल्पित भेदोंकी सृष्टि करके एकवर्गके शोषणको शासनको विलासको प्रोत्साहन दिया, उसे पुण्यका फल बताया और उसके उच्छिष्ट कणोंसे अपनी जीविका चलाई। नारी और शूद्र पशुके समान करार दिये गए और उन्हें ढोलकी तरह ताड़नाका पात्र बताया। इस धर्म व्यवस्थाको आज संस्कृतिके नामसे पुकारा जाता है जिस पुरोहितवर्गकी धर्मसे आजीविका चलती है उनकी पूरी सेना इस संस्कृतिकी प्रचारिका है। पशुओंको ब्रह्माने यज्ञके लिये उत्पन्न किया है अतः ब्रह्माजीके नियमके अनुसार उन्हें यज्ञमें झोंको। जिस गोकी रक्षाके बहाने मुसलमानोंको गालियाँ दी जाती है उन याज्ञिकोंकी यज्ञशालामें गोमेधयज्ञ धर्मके नामपर बराबर होते थे। अतिथि सत्कारके लिये इन्हें गायकी बछियाकी भेंट बनानेमें कोई सङ्कोच नहीं था। कारण स्पष्ट था ब्राह्मण ब्रह्माका मुख है, धर्मशास्त्रकी रचना उसके हाथमें थी। इस वर्गके हितके लिये वे जो चाहें लिख सकते हैं। उनने तो यहाँ तक लिखनेका साहस किया है कि—"ब्रह्माजीने सृष्टिको उत्पन्न करके ब्राह्मणोंको सौंप दी थी अर्थात् ब्राह्मण इस सारी सृष्टिके ब्रह्माजीसे नियुक्त स्वामी है। ब्राह्मणोंकी असावधानीसे ही दूसरे लोग जगत्के पदार्थोंके स्वामी बने हुए है। यदि ब्राह्मण किसीको मारकर भी उसकी सम्पत्ति छीन लेता है तो वह अपनी ही वस्तु वापिस लेता है, उसकी वह लूट सत्कार्य है वह उस व्यक्तिका उद्धार करता है"। इन ब्रह्ममुखोंने ऐसी ही स्वार्थ पोषण करनेवाली व्यवस्थाएं प्रचारित कीं। जिससे दूसरे लोग ब्राह्मणके प्रभुत्वको न भूलें। गर्भसे लेकर मरण तक सैकड़ों संस्कार इनकी आजीविकाके लिये क़ायम हुए। मरणके बाद श्राद्ध वार्षिक त्रैवार्षिक आदि श्राद्ध इनकी जीविकाके आधार बने। प्राणियोंके नैसर्गिक अधिकारोंको अपने आधीन बनानेके आधारपर संस्कृतिके नामसे प्रचार होता रहा है। ऐसी दशामें इस संस्कृतिका सम्यग्दर्शन हुए बिना जगत्में शान्ति और व्यक्तिकी मुक्ति कैसे हो सकती है। वर्ग विशेषकी प्रभुताके लिये किया जानेवाला यह विषैला प्रचार ही मानवजातिके पतन और भारतकी पराधीनताका कारण हुआ। आज भारतमें स्वातन्त्र्योदय होनेपर भी वही जहरीली धारा 'संस्कृतिरक्षा'के नामपर युवकोंके कोमल मस्तिष्कोंपर प्रवाहित करनेका पूरा प्रयत्न वही वर्ग कर रहा है। हिन्दीके रक्षाके पीछे वही भाव हैं। पुराने समयमें इस वर्गने संस्कृतको महत्ता दी थी और संस्कृतके उच्चारणको पुण्य और दूसरी जनभाषा-अपभ्रंशके उच्चारणको पाप बताया था। नाटकोंमें स्त्री और शूद्रोंसे अपभ्रंश या प्राकृत भाषाका बुलवाया जाना उसी भाषाधारित उच्चनीच भावका प्रतीक है। आज संस्कृत निष्ठ हिन्दीका समर्थन करनेवालोंका बड़ा भाग जनभाषाकी अवहेलनाके भावसे ओत-प्रोत है। अतः जबतक जगत्के प्रत्येक द्रव्यकी अधिकार सीमाका वास्तविक यथार्थ दर्शन न हो तब तक यह धाँधली चलती रहेगी। धर्मरक्षा, संस्कृति रक्षा, गौरक्षा, हिन्दीरक्षा, राष्ट्रीयस्वयंसेवकसंघ, धर्मसंघ आदि बड़े-बड़े आवरण हैं।

जैनसंस्कृतिने आत्माके अधिकार और स्वरूपकी ओर ही सर्वप्रथम ध्यान दिलाया

और कहा कि इसका सम्यग्दर्शन हुए बिना बन्धन-मोक्ष नहीं हो सकता। उसकी स्पष्ट घोषणा है—

१. प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, उसका मात्र अपने विचार और अपनी क्रियाओंपर अधिकार है, वह अपने ही गुण-पर्यायका स्वामी है। अपने सुधार-बिगाड़का स्वयं जिम्मेदार है।

२. कोई ऐसा ईश्वर नहीं जो जगतके अनन्त पदार्थोंपर अपना नैसर्गिक अधिकार रखता हो, उसका नियन्त्रण करता हो, पुण्य-पापका हिसाब रखता हो और स्वर्ग-नरकमें जीवोंको भेजता हो, सृष्टिका नियन्ता हो।

३. एक आत्माका दूसरी आत्मापर तथा जड द्रव्योंपर कोई स्वाभाविक अधिकार नहीं है। दूसरी आत्माको अपने आधीन बनानेकी चेष्टा ही अनधिकार चेष्टा है अतएव हिंसा और मिथ्या दृष्टि है।

४. दूसरी आत्माएँ अपने स्वयंके विचारोंसे यदि किसी एकको अपना नियन्ता लोकव्यवहारके लिये नियुक्त करती या चुनती है तो यह उन आत्माओंका अपना अधिकार हुआ न कि उस चुनेजानेवाले व्यक्तिका जन्मसिद्ध अधिकार। अतः सारी लोक-व्यवहार-व्यवस्था सहयोगपर निर्भर है न कि जन्मजात अधिकारपर।

५. ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण-व्यवस्था अपने गुण-कर्मके अनुसार है जन्मसे नहीं।

६. गोत्र एक पर्यायमें भी बदलता है, वह गुण-कर्मके अनुसार है।

७. परद्रव्योंका संग्रह और परिग्रह ममकार और अहङ्कारका हेतु होनेसे बन्धकारक है।

८. दूसरे द्रव्योंको अपने आधीन बनानेकी चेष्टा ही समस्त अशान्ति, दुःख, संघर्ष और हिंसाका मूल है। जहाँ तक अचेतन पदार्थोंके परिग्रहका प्रश्न है यह छीन-झपटीका कारण होनेसे संक्लेशकारक है अतः हेय है।

९. स्त्री हो या पुरुष धर्ममें उसे कोई रुकावट नहीं। यह जुदी बात है कि वह अपनी शारीरिक मर्यादाके अनुसार ही विकास कर सकती है।

१०. किसी वर्गविशेषका जन्मजात कोई धर्मका ठेका नहीं है। प्रत्येक आत्मा धर्मका अधिकारी है। ऐसी कोई क्रिया धर्म नहीं हो सकती जिसमें प्राणिमात्रका अधिकार न हो।

११. भाषा भावोंको दूसरे तक पहुंचानेका माध्यम है अतः जनताकी भाषा ही ग्राह्य है।

१२. वर्ण, जाति, रङ्ग देश, आदिके कारण आत्माधिकारमें भेद नहीं है ये सब शरीराश्रित है।

१३. हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि पन्थ-भेद भी आत्माधिकारके भेदक नहीं हैं। आदि।

१४. वस्तु अनेक धर्मात्मक है उसका विचार आदि उदार दृष्टिसे होना चाहिये।

सीधी बात तो यह है कि—हमें एक ईश्वरवादी शासक संस्कृतिका प्रचार इष्ट नहीं है। हमें तो प्राणिमात्रको समुन्नत बनानेका अधिकार स्वीकार करने वाली सर्वसमभावी संस्कृतिका प्रचार करना है।

जबतक हम इस सर्वसमा संस्कृतिका प्रचार नहीं करेंगे तबतक जातिगत उच्चत्व नीचत्व, स्त्रीतुच्छत्व आदिके दूषित विचार पीढ़ी दर पीढ़ी मानव समाजको पतनकी ओर ले जायेंगे। अतः मानव समाजकी उन्नतिके लिये आवश्यक है कि संस्कृति और धर्म विषयक दर्शन स्पष्ट और सम्यक् हों। उसका आधार सर्वभूतमैत्री हो न कि वर्गविशेषका प्रभुत्व या जातिविशेषका उच्चत्व। इस तरह जब हम इस आध्यात्मिक संस्कृतिके विषयमें स्वयं सम्यग्दर्शन प्राप्त करेंगे तभी हम मानव जातिका विकास कर सकेंगे। अन्यथा यदि हमारी दृष्टि मिथ्या हुई तो हम तो पतित हैं ही अपनी सन्तान और मानव सन्तानका बड़ा भारी अहित उस विषाक्त सर्वकषा संस्कृतिका प्रचार करके करेंगे। अतः मानव समाजके पतनका मुख्य कारण मिथ्यादर्शन और उत्थानका मुख्य साधन सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। जब हम स्वयं इन सर्वसमभावी उदार भावोंसे सुसंस्कृत होंगे तो वही संस्कार रक्तद्वारा हमारी सन्तानमें तथा विचार-प्रचारद्वारा पास-पड़ोसके मानव सन्तानोंमें जायेंगे और इस तरह हम ऐसी नूतन पीढ़ीका निर्माण करनेमें समर्थ होंगे जो अहिंसक समाज-रचनाका आधार बनेगी। यही भारतभूमिकी विशेषता है जो इसने महावीर और बुद्ध जैसे श्रमण सन्तों द्वारा इस उदार आध्यात्मिकताका सन्देश जगतको दिया। आज विश्व भौतिक विषमतासे त्राहि त्राहि कर रहा है। जिनके हाथमें बाह्य साधनोंकी सत्ता है अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे जो अत्यधिक अनधिकार चेष्टा कर परद्रव्योंको हस्तगत करनेके कारण मिथ्या दृष्टि और बन्धवान् हैं वे उस सत्ताका उपयोग दूसरी आत्माओंको कुचलनेमें करना चाहते हैं। और चाहते हैं कि संसारके अधिकसे अधिक पदार्थोंपर उनका अधिकार हो और इस लिप्साके कारण वे संघर्ष, हिंसा, अशान्ति, ईर्षा, युद्ध जैसी तामस भावनाओंका सर्जन कर विश्वको कलुषित कर रहे हैं। धन्य है इस भारतको जो इस बीसवीं सदीमें भी हिंसा बर्बरताके इस दानवयुगमें भी उसी आध्यात्मिक मानवताका सन्देश देनेके लिये गाँधी जैसे सन्तको उत्पन्न किया। पर हाय अभागे भारत, तेरे ही एक कपूतने, कपूतने नहीं, उस सर्वकषा संस्कृतिने जिसमें जातिगत उच्चत्व, नीचत्व आदि कुभाव पुष्ट होते रहे हैं और जिसके नामपर करोड़ों धर्मजीवी लोगोंकी आजीविका चलती है, उस सन्तके शरीरको गोलीका निशाना बनाया। गाँधीकी हत्या व्यक्तिकी हत्या नहीं है, यह तो उस अहिंसक सर्वसमा संस्कृतिके हृदयपर उस दानवी साम्प्रदायिक, हिन्दूकी ओटमें हिंसक विद्वेषिणी संस्कृतिका प्रहार है। अस्तु, मानवजातिके विकास और समुत्थानके लिये हमें संस्कृति विषयक सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही होगा और आत्माधिकारका सम्यग्ज्ञान लाभ करके उसे जीवनमें उतारना होगा तभी हम बन्धनमुक्त हो सकेंगे। स्वयं स्वतन्त्र रह सकेंगे और दूसरोंको स्वतन्त्र रहनेकी उच्चभूमिका तैयार कर सकेंगे।

चम्पानगर

(लेखक—श्यामलकिशोर झा)

> *ऑल इण्डिया रेडियो, पटना का चौपाल कार्यक्रम अच्छा गिना जाता है जिसका यश श्रीयुत् राधाकृष्णप्रसादको मिलना चाहिये, इन्होंने "बिहारके ऐतिहासिक स्थान" शीर्षक व्याख्यानमालाका आयोजन किया था जिसमें प्रस्तुत भाषण भी पढ़ा गया था। हम रेडियोके सौजन्यसे इसे यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।*
>
> *—मुनि कान्तिसागर*

बिहारका अतीत बड़ा ही गौरवशाली रहा है। महान अशोकका बिहार दुनिया के दो बड़े धर्मो—बौद्धधर्म और जैनधर्मका जन्मस्थान रहा है। प्रतापी चन्द्रगुप्तका पाटलिपुत्र, स्वतन्त्र लिच्छिवियोंकी वैशाली, रामायणके प्रसिद्ध राजा रोमपादका अङ्ग, नालन्दा और विक्रम-शिलाके प्रसिद्ध विद्यापीठ, ये सब ऐतिहासिक बिहारके ऐतिहासिक स्थान रहे हैं। परन्तु, यहाँ हम प्राचीनकालमें चम्पा तथा आधुनिक समयके चम्पानगरकी बात करते हैं। चम्पा प्राचीन भारतकी एक प्रसिद्ध राजधानी रही है। हिन्दुओंके प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ रामायण और महाभारतमें चम्पाका उल्लेख आया है। वैदिक एवं पौराणिक ग्रन्थोंमे चम्पाका वर्णन किया गया है जिससे पता चलता है कि उस जमानेमें चम्पाका एक विशिष्ट स्थान था।

प्राचीन साहित्यमें चम्पा नामक नगरीकी अनेकता है। इसके नाम भी बहुतसे रहे हैं। जैसे, चम्पा, चम्पावती, चम्पापुरी तथा चम्पानगरी आदि। प्रसिद्ध यात्री ह्युएनसॉगके कथनानुसार चम्पा स्याम देशका ही नामान्तर है। इसके विपरीत कर्नल मार्कोपोलोने कम्बोडियाके अन्तर्गत टानक्वीन नामक प्रदेशको चम्पा बतलाया है। तीसरा मत स्वर्गीय डा० सर ओरलास्टीन महोदयका है जिन्होंने पंजाबके चम्बा स्टेट (रियासत)को ही पुरातन चम्पा बतलाया है। केम्ब्रिज विश्वविद्यालयद्वारा सम्पादित और मुद्रित "चेपाय जातक" मे लिखा है कि अङ्ग देश और मगध देशके मध्यमे जो चम्पा नदी वाला प्रदेश है वही चम्पा है। इसी तरह चम्पाके स्थान निर्णयपर और भी बहुतसे विद्वानोंने बहुत-सी राये पेश की है।

यहाँ हम जिस चम्पानगरीकी बात कर रहे है, वह भागलपुर शहरसे ४ मील पश्चिम है। रामायण, पुराण आदि धर्मग्रन्थोंमे वर्णित चम्पानगरी कभी एक प्रादेशिक राजधानी थी, परन्तु आज वह भागलपुर शहरकी सिर्फ एक मुहल्लाके रूपमें जानी जाती है। इसका आरम्भिक नाम चम्पा तथा चम्पामालिनी रहा है। रामायणमे कहा गया है कि चम्पा 'रोमपाद' नामक अङ्ग देशके राजाकी राजधानी थी। रोमपादने राजा दशरथकी पुत्री शान्ताको गोद ले लिया था और रोमपादके पोते चम्पाके नामपर ही इस नगरीका नाम चम्पानगर पड़ा था।

जैन ग्रन्थोंके अनुसार इस नगरीका प्रतिष्ठापक श्रेणिकका पुत्र कोणिक या इतिहास प्रसिद्ध अजातशत्रु था। हरिवंशपुराणमें भी चम्पाके १७ शासकोंके नाम गिनाये गये है, परन्तु उसमे अङ्गके प्रसिद्ध शासक 'पौरव' का नाम नहीं आया है। पौरव' के बारेमे कहा जाता है कि उसने एक लाख घोड़े, एक हजार हाथी, एक हजार गाय और एक लाख सोनेके मुहर दान किये थे। पौराणिक कालके बाद बौद्ध धर्मग्रन्थोंमे भी अङ्गकी महत्ताका वर्णन किया गया है। उसके बादके ग्रन्थ 'दशकुमार चरित्र' और कादम्बरीमे भी चम्पाका नाम आया है।

आधुनिक चम्पानगर जैनियोंका बड़ा तीर्थ-स्थान है। वहाँके दो भव्य जैनमन्दिरों-को देखनेसे पता चलता है कि चम्पानगर बहुत प्राचीन समयसे ही जैनधर्मका केन्द्र रहा है। विद्वानोंके कथनानुसार जैनोके बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्यने यहीं जन्म लिया था। उनके अलावा, कहा जाता है कि जैनियोंके बारहवें[1] तीर्थङ्कर महावीर भी कुछ वर्षों तक यहाँ रहे थे। बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्यका मन्दिर नाथनगर मुहल्लेमें है, जो आज भी शहरसे अलग बसा हुआ है और जिसे देखकर मन्दिरकी प्राचीनताका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। चम्पानगरमें जैनियोंका एक दूसरा मन्दिर भी है जिसके बारेमें कहा जाता है कि उसे महावीर तीर्थङ्करके प्रमुख शिष्य सुधर्मने बनवाया था[2]। कहा जाता है कि जिस समय सुधर्म चम्पानगरीमें पधारे थे, वहाँ कोणिकका शासन था। राजा कोणिकने खुले पाँव नगरके बाहर आकर सुधर्मका स्वागत किया था[3]।

चम्पा बहुत वैभव सम्पन्न नगर था। वह व्यापारका एक बड़ा केन्द्र था। वहाँ चान्दो सौदागर नामक प्रसिद्ध व्यापारीके रहनेका वर्णन भी मिलता है।

चम्पानगरका एक दूसरा मुख्य स्थान कर्णगढ़ है। स्थान इतनी ऊँचाईपर है कि उसे देखकर ही यह कहा जा सकता है कि प्राचीन समयमें वहाँ अवश्य ही किसी प्रतापी राजाका विशाल किला होगा। कुछ लोगोंका कहना है कि यह स्थान महाभारतके प्रसिद्ध सेनापति दानवीर कर्णका वासस्थान था। परन्तु, इतिहासके कुछ अन्य पंडितोंका कहना है कि चम्पानगरका यह कर्णगढ़ तथा मुँगेर जिलेका कर्ण चम्पा नामक स्थान, कर्ण सुवर्णके राजा "कर्णसेन" के प्रतिष्ठापित है। इस बातका अभी तक निर्णय नहीं हो सका है। परन्तु, इतना अवश्य है कि यदि कर्णगढ़की खुदाई की जाय तो शायद प्राचीन बिहारके गौरवगाथाका एक नया अध्याय भी धरतीके गर्भसे प्रकाशमें लाया जा सकता है। आज कर्णगढ़में सरकारी पुलिस के रङ्गरूटोंको शिक्षा दी जाती है। कौन जाने, कभी वहाँ कर्णके रथके पहियों और घोड़ोंके टापोंकी आवाज़ बड़े-बड़े वीरोंके दिल न हिला देती हो।

आज हमारे देशकी अवस्था बदल चुकी है। इसीलिये जरूरत इस बातकी है कि धरतीके अन्दर दबे हुए प्राचीन बिहारके इतिहासका उद्धार किया जाय[4]। और यदि ऐसी कोई योजना बने तो उस समय चम्पानगरको भी भूलना न चाहिए।

---

१ भगवान् महावीर जैनोके चौबीसवें तीर्थङ्कर थे, तीन चातुर्मास रहे थे। स०।

२ इसका पुष्ट प्रमाण अपेक्षित है। सं०।

३ भगवान् महावीर जब चम्पा पधारे तब कोणिक राज्यऋद्धि सहित वन्दना करने आया था, औपपातिक सूत्रमें इस घटनाको यथावत् रूपसे अङ्कित किया गया है। स०।

४ बिहार सरकारके वर्तमान शिक्षामन्त्री इसके लिए चेष्टा तो करते हैं परन्तु इन दिनों वे और और समस्याओंमें बुरी तरह उलझे हुए हैं। आपने पोस्टवार स्कीममें खोज की भी एक स्कीम रखी है। सरकारी काम ठहरा, देखें कब तक इस योजनाको क्रियात्मक रूप मिलता है। स०।

सम्पादकीय

१—राष्ट्र-भाषापर जैन दृष्टिकोण

स्वाधीन भारतके सम्मुख आज जितनी भी समस्याएँ समुपस्थित हैं, उनमें राष्ट्र-भाषाकी भी एक ऐसी जटिल समस्या है जिसपर देशकी आम जनता एवं बुद्धिजीवियोंका दृष्टिबिन्दु केन्द्रित है। सभी वर्ग एक स्वरसे स्वीकार करते हैं कि अब हमारी भावी शिक्षा अंग्रेजीके माध्यम द्वारा न होकर हमारी ही राष्ट्र-भाषा द्वारा सम्पन्न हो। राष्ट्र-भाषा कैसी हो, क्या हो, और उसका स्वरूप किस प्रकारका होना चाहिए। यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनको लेकर देशमें तहलका-सा मचा हुआ है। जहाँतक राष्ट्र-भाषाका प्रश्न है वहाँपर जैसा वायु-मण्डल अभी है वह न होना चाहिए था। भिन्न-भिन्न विद्वानो द्वारा राष्ट्र-भाषाके भिन्न-भिन्न स्वरूप जनताके सामने समुपस्थित हैं। यूँ तो कई मत राष्ट्र-भाषाके सम्बन्धमें प्रतिदिन अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु प्रधानतः इन्हीं दो पक्षोंमें वे सभी अन्तरभुक्त हो जाते हैं। एक पक्षका कहना है कि राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसमें आर्यभाषा संस्कृतके शब्दोंकी बाहुल्यता हो। और वह देवनागरी लिपिमें ही लिखी जाय। उपर्युक्त पक्षके समर्थकोंका अभिमत है कि हिन्दी की उत्पत्ति ही संस्कृत भाषासे हुई है। दूसरा पक्ष कहता है कि राष्ट्र-भाषाका स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि जनता सरलतासे उसे बोल और समझ सके। इसमें अरबी, फारसी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओंके शब्द भी अमुक संख्यामें रहें, और वह उर्दू तथा देवनागरी लिपिओंमें लिखी जाय।

भाषा और संस्कृतिका अभिन्न सम्बन्ध रहा है। किसी भी देशकी संस्कृति एवं सभ्यताके उन्नतिशील अमरतत्त्वोंका संरक्षण उसकी प्रधान भाषा तथा परिपुष्ट साहित्यपर अवलम्बित है। उभय धाराओंका चिर विकास राष्ट्र-भाषा द्वारा ही सम्भव है। भाषा भावोंको व्यक्त करनेका साधनमात्र है। ऐसी स्थितिमें हमारा प्रधान कर्तव्य यह होना चाहिए कि हम अपनी राष्ट्र-भाषाका स्वरूप समुचित रूपसे निर्धारित कर लें। यूँ तो सभी जानते हैं कि भाषा-का निर्माण राष्ट्रके कुछ नेता नहीं करते हैं। वह स्वयं बनती है। कलाकारों द्वारा उसे बल मिलता है। अन्ततः वह स्वयं परिष्कृत होकर अपना स्थान बना लेती है। परन्तु हमारे देशका दुर्भाग्य है कि राजनैतिक पुरुष कई भाषाओंके शब्दोंके सहारे एक नवीनभाषा बलात् जनतापर लाद रहे हैं, जो सर्वथा अप्राकृतिक अवैज्ञानिक एवं अमाननीय है। वे लोग एक प्रकारसे प्रत्येक विषयपर राय देनेके अभ्यस्त-से हो गए हैं। इसीलिये सांस्कृतिक शुभेच्छुक राष्ट्र-भाषाके सुनिश्चित स्वरूपपर गम्भीरतासे अपना ध्यान आकृष्ट किए हुए हैं, जिनका अधिकार भी है। जिस व्यक्तिका जिस विषयपर गम्भीर अध्ययन न हो उसे उस विषयपर बोलनेका कुछ अधिकार नहीं रहता। जयपुर कॉंग्रेसमें हमारे माननीय नेताओं द्वारा राष्ट्र-भाषा पर जो कुछ भी कहा गया है, उससे सुख नहीं मिलता। देशको सांस्कृतिक दृष्टिसे जीवित रखनेवाले कलाकारोंके हृदयोंपर गहरी चोट लगी है। राष्ट्र-भाषा निर्धारित करनेका कार्य नेतागण अपनी कार्य सूचीसे अलगकर दें तो बहुत अच्छा होगा। क्योंकि उन्हें अपनी प्रतिभाको विकसित करनेके लिए पर्याप्त क्षेत्र मिला है। उदाहरणके लिए मान लीजिए (यदि यह है तो सर्वथा असम्भव) कि कहींकी ईंट कहींका रोड़ा वाली कहावतके अनुसार एक

अमानवीय भाषा नेताओं द्वारा निर्मित होकर फाइलोंमें लिखकर रख भी दी पर इससे होगा क्या। जब कलाकार, लेखक और आम जनता उसका व्यवहार न करेगी, और वह करे भी क्यों? क्योंकि उनके पास तो पैतृक सम्पत्तिके रूपमें एक भाषा और साहित्य मिले हैं। जिनके बलपर वे अपनी भावनाओंको समुचितरूपसे व्यक्त कर लेंगे। जनता भी उसे आत्म-सात कर लेगी। यदि राष्ट्र-भाषा नियतरूपसे करनी ही तो उसका उत्तरदायित्व उन उच्चकोटिके साहित्य मर्मज्ञोंपर डालना चाहिए जिनका जीवन भाषा-विज्ञान और साहित्यके विभिन्न तत्त्वोंसे ओत-प्रोत हो।

प्रथम पक्षका मन्तव्य है कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी राष्ट्र-भाषा इसीलिए होनी चाहिए कि वह संस्कृतकी पुत्री है। आजके प्रगतिशील युगमें इस प्रकारकी बातोंका क्या अर्थ हो सकता है। वैयक्तिकरूपसे हम स्वयं संस्कृतनिष्ठ हिन्दीके पक्षपाती हैं। परन्तु हमें इस समर्थन-के पृष्ठ भागमे वैदिक मनोभावनाका आभास मिलता है। वह व्यापक हिन्दीको और भी संकुचित बना देगी। साम्प्रदायिकताका कटु परिणाम कैसा होता है, यह लिखनेकी बात नहीं। सारा विश्व इसे भुगत चुका है। अरबी-फारसीके बेमेल शब्दोंको हिन्दीमें ठूसना हम पसन्द नहीं करते हैं। न अपनी रचनाओंमें ही ऐसे शब्दोंका व्यवहार करते हैं। हिन्दीको संस्कृतकी पुत्री कहना न केवल उसे अपने बलसे अर्जित पदसे ही गिराना है। अपितु अपनी बुद्धिसे शत्रुता करना है। हिन्दी साहित्यका गम्भीर अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट होजाता है कि इसका उद्गम संस्कृतसे नहीं अपितु प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्रान्तीय भाषाओं द्वारा हुआ है। संस्कृत चाहे उतनी पुष्ट-भाषा क्यों न रही हो, फिर भी वह एक सम्प्रदायकी भाषा है। जबकि हिन्दी एक सम्प्रदायकी भाषा कभी नहीं रही। वह मानव भाषा रही है हिन्दू-मुसलमान आदि सन्तोंने इसी भाषाके द्वारा मानव सिद्धान्तोंका प्रचार सारे भारतमें किया। सच कहा जाय तो सन्त संस्कृतिके उच्चतम विकासमें हिन्दीने जो योगदान दिया है, वह अभूतपूर्व है। सारे भारतको १८०० वर्षों तक सांस्कृतिक सूत्रमें यदि किसी भी भाषाने बाँध रक्खा है तो वह केवल हिन्दी ने ही। स्पष्ट कहा जाय तो भारतीय मस्तिष्ककी समस्त चिन्ताओंका विकास उस हिन्दीके द्वारा हुआ। जिसके स्वरूप निर्धारणमें आज जितनी माथापच्ची नहीं करनी पड़ी थी। अतः संस्कृतके अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओंके शब्द अपेक्षाकृत अधिक पाए जाते हैं। जो शब्द खप गए हैं, उनको चुन-चुनकर बाहर करना राष्ट्र-भाषाके भण्डारको क्षति पहुंचाना है। यह हो सकता है कि एक ही भाषा प्रत्येक समयमें दो रूपोंमें रहती है। विद्व-द्भोग्य और लोकभोग्य।

दूसरे पक्षकी बातको कोई भी समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता। हमारा निश्चित विश्वास है कि थोड़े-थोड़े कई भाषाओंके शब्द एकत्र करनेके बाद जो भाषा बनती है वह इतनी पंगु होती है कि बृहत्तर वैयक्तिक परिवारमें भी विवर्धित नहीं हो सकती। ऐसी स्थितिमें भारतीय संस्कृति एवं लोक जीवनका समुचित व्यक्तिकरण हो ही कैसे सकता है।

हिन्दुस्तानीकी हवा जिन राजनैतिक एवं सामाजिक समस्याओंको लेकर खड़ी की गई थी अब वैसी परिस्थिति नहीं रही। जिनको लक्ष करके इसकी सृष्टि की गई उन्होंने अपना क्षेत्र स्वयं बना लिया है।

राष्ट्र-भाषाकी समस्या उलझी हुई तो है ही परन्तु आन्दोलनके चक्करमें डालकर न जाने और भी क्यों जटिल बनाया जाता है। भारतीय-विद्वान—जिनके हृदयमें भाषा विषयक प्रश्नके पश्चात् भागमें किसी भी तरहका साम्प्रदायिक तत्त्व काम न करते हों—यदि राष्ट्र-भाषाके सम्बन्धमें जैन दृष्टिकोणको समझ लें तो समस्या बहुत कुछ अंशोंमें बिना किसी भी बातको सरलता पूर्वक समझाई जा सकती है। भारतीय भाषा और साहित्यके संरक्षणमें

जैनाचार्योंने बहुत बड़ा योगदान दिया है। उनके सामने आदर्श था भगवान महावीरका। जिसमें अपनी विचार धाराका निर्मल प्रवाह तत्कालीन प्रान्तीय भाषा द्वारा बहाया था। भगवान बुद्धके उपदेश भी इस बातके प्रमाण हैं। जैन विद्वान संस्कृत आदि विद्वद्भोग्य भाषाओंमें ग्रन्थ निर्माण करके ही चुप नहीं रहे हैं। उन्होने विभिन्न प्रान्तोंमें रहकर प्रत्येक शताब्दियोंमें लोक भोग्य साहित्यकी सरिता बहाकर तत्कालीन लोक संस्कृतिको आलोकित किया। लौकिक भाषामें संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डितोंने रचना करना अपना अपमान समझा इससे वे एकाङ्गी साहित्य निर्माता ही रह गये। जिन जीवोंकी गहराई तक वे न पहुंच सके। जब कि जैनाचार्योंके सम्मुख सबसे बड़ी समस्या थी जनता की। वे जनताको दर्शन, एवं साहित्यके उच्चकोटिके तत्त्वोंका परिज्ञान सरल और बोधगम्य भाषामें कराना चाहते थे। इस कार्यमें वे काफी सफल रहे। इसका अर्थ यह नहीं कि वे विद्वद्भोग्य साहित्य निर्माणमें पश्चात् याद रहे। आज हम किसी भी प्रान्तके लोक साहित्यको उठा कर देखेंगे तो पता चलेगा कि प्रत्येक प्रान्तकी जनभाषाओंके विकासमें भी जैनोंने साहित्य निर्माणमें कितना असांप्रदायिकता-से काम लिया है जब जिस भाषाका प्रभुत्व रहा उसीकी साधनामे वे तल्लीन रहे हैं। कारण कि जब संस्कृतिके नैतिक उत्थानकी भावनाओंसे उनका हृदय ओत-प्रोत था। ऊपर हम लिख आए है कि हिन्दी भाव और भाषाकी दृष्टिसे अपभ्रंशकी पुत्री है अपभ्रंशका साहित्य जो कुछ भी आज भारतमे प्राप्त होता है, वह जैनोंकी बहुत बड़ी देन है। भाव स्वातन्त्र इसकी बहुत बड़ी विशेषता है। राहुलजीके शब्दोंमें—

"अपभ्रंशके कवियोंका विस्मरण करना हमारे लिए हानिकी वस्तु है। यही कमी हिन्दी काव्यधाराके प्रथम स्रष्टा थे। वे अश्वघोष, भास, कालिदास और बाणकी सिर्फ जूठी पत्तलें नही चाटते रहे। बल्कि उन्होंने एक योग्य पुत्रकी तरह हमारे काव्य-क्षेत्रमें नया सृजन किया है। नये चमत्कार नए भाव पैदा किए हैं।

हमारे विद्यापति, कबीर, सूर, जायसी, और तुलसीके यही उज्जीवक और प्रथम प्रेरक रहे है। उन्हें छोड़ देनेसे बीचके कालममे हमारी बहुत हानि हुई और आज भी उसकी सम्भावना है।

जैनोंने अपभ्रंश साहित्यकी रचना और उसकी सुरक्षामें सबसे अधिक काम किया है।"

१३ तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंशमें प्रौढत्व रहा। बादमे वही अपभ्रंश क्रमशः विकसित होते होते प्रान्तीय भाषाओंके रूपमें परिणित हो गई। एक समय वह जनताकी भाषा थी ज्यों-ज्यों उच्चकोटिके कलाकारो द्वारा समादृत होती गई त्यों-त्यों वह विद्वद्भोग्य साहित्यकी प्रधान भाषा बन गई। अपभ्रंश भाषाका शब्द भण्डार विस्तृत है और बहुत कुछ अंशोंमें वह संस्कृतकी अपेक्षा प्राकृतका अनुधारण करता है। अतः विना किसी हिचकसे कहा जा सकता है कि हिन्दीका उत्पत्ति स्थान अपभ्रंश है। जो परिवर्तनशील भाषा रही थी। दुःख इस बातका है कि हिन्दी साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान जैनोंके इस विशाल अपभ्रंश साहित्यसे एकदम परिचित नहीं है। यही कारण है कि आज राष्ट्र-भाषाकी समस्या उलझी हुई है।

हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल, कन्नड़ और राजस्थानी आदि सभी प्रान्तीय भाषाओंमे जैनोने न केवल भगवान 'महावीर' द्वारा प्रचारित मानव संस्कृति और सभ्यताके उच्चतम अमर तत्वोंका सुबोध भाषामें गुम्फन किया अपितु तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, रीतिरिवाज एवं आध्यात्मिक तत्त्वोंकी ओर भी सङ्केतकर जनताके नैतिक स्तरको ऊंचा उठाने का प्रयास किया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रान्तमे जब कभी जिस भाषाका प्रभुत्व रहा उसीके माध्यम द्वारा जैनोंने अपने विचार जनताके समक्ष रक्खे हैं। 'प्रान्तीय' जानतिक

भाषाओंमें साहित्यिक रचना करनेमें जो अपनेको अपमानित समझते थे वे पूँजीपति या एक वर्गविशेषके ही कलाकार रह गए हैं। जबकि जैनी जनताके पथ-प्रदर्शकके रूपमें रहे हैं। भाषा-विषयक जैनोंके औदार्यपूर्ण आदर्शको आजके साहित्यिक यदि मान लें और राष्ट्र-भाषाकी समस्या जनतापर छोड़ दें तो मार्ग बहुत सुगम हो जायेगा। यदि हमारे देशी शब्दोंसे ही समुचितरूपसे भावोंका व्यक्तीकरण हो जाता है तब यह कोई आवश्यक नहीं है कि विदेशी शब्दोंको चुन-चुनकर राष्ट्र-भाषामें ठूसें। जैन दृष्टिकोण राष्ट्र-भाषापर इतना अवश्य कहेगा कि हिन्दी उस राष्ट्रकी भाषा होने जारही है, जिसकी संस्कृतिमें विभिन्न संस्कृतियों और भाषाओंका समन्वयात्मक प्रयास वर्षोंसे चला आ रहा है। कई जातियोंका यह महादेश है। उसपर यह सिद्धान्त कैसे लादा जा सकता है कि राष्ट्र-भाषामें अमुक भाषाके शब्द अधिक रहें। वैयक्तिकरूपसे हम भले ही संस्कृतनिष्ठ हिन्दीका व्यवहार करें। परन्तु भाषाका प्रश्न व्यष्टिसे न होकर समष्टिसे है। भाषाका प्रवाह शताब्दियोंसे जिस रूपसे चला आरहा था उसीको कुछ परिवर्तितरूपमें क्यों नहीं बहने दिया जाता? साहित्यिक भले ही कठिनतर शब्दोंका प्रयोग करें, परन्तु अशिक्षित या अल्पशिक्षाप्राप्त मानवोंसे वे ऐसी आशा क्यों कर रहे हैं? राष्ट्र-भाषा न बनारसी हिन्दी हो सकती है न लाहोरी उर्दू ही। किसी भी प्रान्तकी शब्दा-वलियोंसे प्रचलित शब्दोंको यदि हम अपनी वर्तमान हिन्दीमें पचा लेते हैं तो बुरा ही क्या है? क्योंकि हिन्दी जीवित भाषा है मृत नहीं। जबतक जीवन है तबतक परिवर्तन होते ही रहेंगे। परिवर्तनशीलताके सिद्धान्तसे जितनी भी बचानेकी चेष्टा की जाएगी उतनी ही हमें हानि उठानी पड़ेगी। अतः संक्षिप्तमें जैन दृष्टिकोणका यही सारांश है कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी सरल-सुबोध होनी चाहिए। साथ ही साथ इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि इसमें जहाँतक हो सके उन्हीं भाषाओंके शब्दोंकी बाहुल्यता रहे जिनमें आर्य-संस्कृतिका समुचित व्यक्तीकरण सरलता पूर्वक हो सके। यह कोरा आदर्श ही नहीं है, अपितु शताब्दियों तक अनुभवकी वस्तु रहा है।

डालमियाँनगर, ता० २१-१-४६ ई० मुनिकांतिसागर

२—अनेकान्तकी वर्ष-समाप्ति और अगला वर्ष

इस संयुक्त किरण (११, १२)के साथ अनेकान्तका नवमा वर्ष समाप्त हो रहा है। इस वर्षमें अनेकान्तने अपने पाठकोंकी कितनी और क्या कुछ सेवा की उसे यहाँ बतलानेकी जरूरत नहीं—वह उसके गुणग्राही पाठकोंपर प्रकट है। हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि इस वर्ष यदि कोई विशेष सेवाकार्य हो सका है तो उसका श्रेय सहयोगी सम्पादकों और खासकर भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीय मन्त्री 'भारतीयज्ञानपीठकाशी'को प्राप्त है—उन्हींकी सुव्यवस्थाका वह फल है, और जो कुछ त्रुटि रही है वह सब मेरी है—मेरी अयोग्यताको ही उसका एकमात्र जिम्मेदार समझना चाहिये। मैं यहाँपर जो कुछ बतलाना चाहता हूँ वह प्रायः इतना ही है कि अनेकान्तके आठवें वर्षकी समाप्तिपर, जिसका कार्यकाल १२की जगह २४ महीनेका होगया था, मेरे सामने पत्रको बन्द करनेकी समस्या उपस्थित हो रही थी; क्योंकि प्रेसोंके आश्वासन-भङ्ग और ग़ैरजिम्मेदाराना रवैये आदिके कारण मैं बहुत तङ्ग आगया था, मेरा दिल टूट गया था और मैं प्रेसकी समुचित व्यवस्था न होने तक पत्रको बन्द करना ही चाहता था कि पं० अजितकुमारजी शास्त्रीने, जो अपना 'अकलङ्क प्रेस' मुलतानसे सहारनपुर ले आए थे, मुझे वैसा करनेसे रोका और पूरी दृढ़ताके साथ अनेकान्त-को अपने प्रेसमें बराबर समयपर छापकर देनेका वचन तथा आश्वासन दिया। तदनुसार ही अनेकान्तको अगले वर्ष निकालनेका संकल्प किया गया और उसकी सूचना 'सम्पादकीय

वक्तव्यमें प्रकट कर दी गई। इसके बाद श्रीगोयलीयजी मुझसे मिले और उन्होंने भारतीय-ज्ञानपीठके साथ अनेकान्तका सम्बन्ध जोड़कर और उसके प्रकाशन, सञ्चालन एवं आर्थिक आयोजनकी सारी जिम्मेदारीको अपने ऊपर लेकर मुझे और भी निराकुल करनेका आश्वासन दिया। चुनाँचे ९वें वर्षकी प्रथम किरणके शुरूमें ही मैंने अनेकान्तकी इस नई व्यवस्थादिको प्रकट करते हुए उसपर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की और उसीके आधारपर अनेकान्तके पाठकोंको यह आश्वासन दिया कि 'अब पत्र बराबर समयपर (हर महीनेके अन्तमें) प्रकाशित हुआ करेगा।'

मुश्किलसे दो किरण निकाल कर ही पं० अजितकुमारजी शास्त्री अपने प्रेसको देहली उठाकर ले गये और उन्होंने अपने दिये हुए सारे वचन तथा आश्वासनपर पानी फेर दिया! मजबूर होकर अनेकान्तको फिरसे चार्ज बढ़ाकर रॉयल प्रेसकी शरणमें ले जाना पड़ा, जो सहारनपुरमें सबसे अधिक जिम्मेदार प्रेस समझा जाता है। परन्तु प्रेसमें उपयुक्त टाइपोंकी कमीके कारण प्रायः हर चार पेजके प्रूफके पीछे एक विद्वानको प्रूफरीडिङ्गके लिये सहारनपुर जाना आना पड़ा है, जिससे पत्रको समयपर निकाला जा सके जिसकी गोयलीयजी की ओरसे सख्त ताकीद थी और इस तरह एक एक फार्मके पीछे कितना ही फालतू खर्च करना पड़ा है और दोबारा भी प्रेसका चार्ज बढ़ाना पड़ा है; फिर भी पत्र समयपर प्रकाशित न हो सका और यह किरण ३-४ महीनेके विलम्बसे प्रकाशित हो रही है।

गोयलीयजीको इस सारी स्थितिसे बराबर अवगत रक्खा गया है और अनेक बार यह प्रार्थना तथा प्रेरणा की गई है कि वे अनेकान्तकी छपाईकी सुव्यवस्था इलाहाबादके लाजर्नल प्रेस अथवा बनारसके किसी अच्छे प्रेसमें करें, परन्तु हरबार उन्होंने इस ओर प्रकाश डालनेके कारण का—कभीकभी लाजर्नल प्रेसके अधिक चार्ज और वहाँ ठीक व्यवस्था न बन सकनेकी बात भी कही, और इसलिये यह समझा गया कि आप अनेकान्तको समयपर सुन्दररूपमें प्रकाशित होना तो देखना चाहते हैं किन्तु किन्हीं कारणोंके वश व्यवस्थाका भार अपने ऊपर लेकर भी, उसके लिये योग्य प्रेसादिका व्यवस्था करनेमें योग देना नहीं चाहते। इसीसे अन्तको विलम्बकी शिकायत होनेपर इधरसे उस विषयमें अपनी मजबूरी ही जाहिर करना पड़ा।

आठवें वर्षकी किरणें जब एक वर्षकी जगह दो वर्षमें प्रकाशित हो पाई थीं और पाठकोंको प्रतीक्षाजन्य बहुत कष्ट उठाना पड़ा था तब उनका विश्वास अनेकान्तके समयपर प्रकाशित होनेके विषयमें प्रायः उठ गया था और इसलिये उनका आगेके लिये ग्राहक न रहना बहुत कुछ स्वाभाविक था; चुनाँचे तीसरी किरण जब वी० पी० की गई तब लगभग आधे ग्राहकोंकी वी० पी० वापिस हो गई। इधर पत्रमें फिरसे विलम्ब शुरू हो गया और उसमें सञ्चालन विभागकी ओरसे चित्रों आदिका कोई आयोजन नहीं हो सका, जो आजकलके पत्रोंकी एक खास विशेषता है। इससे नये ग्राहकोंको यथेष्ट प्रोत्साहन नहीं मिला और उधर छपाई तथा कागज आदिके चार्ज बढ़ गये। पत्रको सहायता भी कम प्राप्त हुई। इन्हीं सब कारणोंसे अनेकान्तको इस वर्ष काफी घाटा उठाना पड़ा है, जिसका मुझे खेद है।

कुछ दिन हुए न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने अपने एक पत्रमें यह सूचना की कि अनेकान्तको समयपर प्रकाशित करनेके लिये बनारसमें प्रेसकी अच्छी योजना हो सकती है। तदनुसार गोयलीयजीको उसकी सूचना देते हुए फिरसे बनारसमें ही छपाईकी योजना करनेकी प्रेरणा की गई; परन्तु उन्होंने उत्तरमें डालमियानगरसे भेजे हुए अपने तीन मार्चके पत्रमें यह लिखा कि "बनारसमें भी छपाईकी अच्छी व्यवस्था नहीं है। ज्ञानपीठका प्रकाशन जिस

धीमी रफ्तारसे होरहा है, उससे मुझे 'अनेकान्त' बनारससे प्रकाशित करनेकी तनिक भी हिम्मत नहीं होती।" इसे पढ़कर हृदयमें उदित हुई आशापर फिरसे तुषारपात हो गया और मैं यही सोचने लगा कि यदि गोयलीयजीने प्रेसकी कोई समुचित व्यवस्था न की तो मुझे अब वीरसेवामन्दिरकी ओरसे एक स्वतन्त्र प्रेस खड़ा करना ही होगा, जिसकी उसके तय्यार ग्रन्थोंके प्रकाशनार्थ भी एक बहुत बड़ी जरूरत दरपेश है और इसलिये इस किरणमें प्रेसकी व्यवस्था तक कुछ महीनोंके लिये अनेकान्तको बन्द रखनेकी सूचना कर देनी होगी। परन्तु पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि डालमियानगरसे बनारस जानेपर गोयलीयजीका विचार बदल गया और उनमें मुनिकान्तिसागरजी आदिकी प्रेरणाको पाकर उस हिम्मतका संचार हो गया जिसे वे अपनेमें खोए हुए थे और इसलिये अब वे बनारससे 'अनेकान्त'को प्रकाशित करनेके लिये तत्पर होगये हैं; जैसा कि इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित उनके 'प्रकाशकीय वक्तव्य'से प्रकट है। वक्तव्यके अनुसार अब 'अनेकान्त' बिलकुल ठीक समयपर निकला करेगा, सुन्दर तथा कलापूर्ण बनेगा, बहुश्रुत विद्वानोंसे लेखोंके माँगनेके लिये मुँह खोलनेमें किसीको कोई संकोच नहीं होगा, जैनेतर विद्वानोंके लेखोंसे भी पत्र अलंकृत रहेगा और उनके लेखोंको प्राप्त करनेमें आत्मग्लानि तथा हिचकचाटका कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा—ज्ञानपीठ उसके पीछे जो भी व्यय होगा उसे उठानेके लिये प्रस्तुत है। और इसलिये 'अनेकान्त' आगेको घाटेमें न चलकर दूसरे पत्रोंकी तरह लाभमें ही चलेगा, उसके हितैषियोंकी संख्या भी आवश्यकतासे अधिक बढ़ जायगी और फिर गोयलीयजीको अपने विद्वानोंका "प्रेसमें जूतियाँ चटकाते फिरना" भी नहीं खटकेगा अथवा उसका अवसर ही न आएगा। संक्षेपमें अबतक जो कुछ कमी अथवा त्रुटि रही है वह सब पूरी की जायगी। इससे अधिक ग्राहकों तथा पाठकों आदिको और क्या आश्वासन चाहिये ? मुझे गोयलीयजीके इन दृढ़ सङ्कल्पोंको मालूम करके बड़ी प्रसन्नता हुई। हार्दिक भावना है कि उन्हें अपने इन सङ्कल्पोंको पूरा करनेमें पूर्ण सफलताकी प्राप्ति होवे और मुझे अपने प्रिय 'अनेकान्त'को अधिक उन्नत अवस्थामें देखनेका शुभ अवसर मिले।

अन्तमें मैं इस वर्षके अपने सभी विद्वान लेखकों और सहायक सज्जनोंका आभार व्यक्त करता हुआ उन्हें हृदयसे धन्यवाद देता हूँ और इस वर्षके सम्पादन-कार्यमें मुझसे जो कोई भूलें हुई हों अथवा सम्पादकीय कर्तव्यके अनुरोधवश किये गये मेरे किसी कार्य-व्यवहार से या स्वतन्त्र लेखसे किसी भाईको कुछ कष्ट पहुँचा हो तो उसके लिये मैं हृदयसे क्षमा-प्रार्थी हूँ, क्योंकि मेरा लक्ष्य जानबूझकर किसीको भी व्यर्थ कष्ट पहुँचानेका नहीं रहा है और न सम्पादकीय कर्तव्यमें उपेक्षा धारण करना ही मुझे कभी इष्ट रहा है। साथ ही, यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि अगले वर्ष मैं पाठकोंकी सेवामें कम ही उपस्थित हो सकूँगा; क्योंकि अधिक परिश्रम तथा वृद्धावस्थाके कारण मेरा स्वास्थ्य कुछ दिनोंसे बराबर गड़बड़में चल रहा है और मुझे काफ़ी विश्रामके लिये परामर्श दिया जा रहा है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २५-३-१९४९ जुगलकिशोर मुख्तार

सर सेठ साहबका विवाहोत्सवपर अनुकरणीय दान—

अनेक पदविभूषित सर सेठ हुकुमचन्दजी इन्दौरके शुभ नामसे समाजका बच्चा २ परिचित है। राष्ट्र, समाज और धर्मके क्षेत्रमें आपके द्वारा प्रारम्भसे ही अनेक उल्लेखनीय सेवाएँ हुई हैं और आज भी होरही है। समाजके आह्वानपर आप सदा उसकी सेवाके लिये आगे खड़े मिलते हैं। उनकी दानवीरता, विनम्रता और सहानुभूति तो अतुलनीय हैं। और इन्हीं गुणोंके कारण वे आजकी स्थितिमें भी, जब पूँजी और अपूँजीका संघर्ष चालू है,

प्रकाशकीय वक्तव्य

वर्षके प्रारम्भमें 'अनेकान्त'के रूपमें परिवर्तन करने और उसमें प्रगति लानेके लिये श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया, पं० परमानन्दजी शास्त्री और मेरी वीरसेवामन्दिरमें एक बैठक की गई थी। इस बैठकमें काफी ऊहापोहके बाद सम्पादक मण्डलका निर्माण किया गया था और उसमें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त श्रद्धास्पद मुनि कान्तिसागरजीको भी सम्मिलित किया गया था तथा मेरी और पं० दरबारीलालजी कोठियाकी सेवायें भी स्वीकृत की गई थीं। हर्ष है कि मुनि कान्तिसागरजीने भ्रमणमें रहते हुए भी अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। आन्तरिक अभिलाषा थी कि 'अनेकान्त'को जिस तरह हम देहलीसे प्रारम्भमें तीन वर्षोंसे प्रकाशित करते रहे हैं उसी तरहसे वह नियमितरूपमें निकलता रहे। लेकिन सहारनपुरके अच्छेसे अच्छे और जिम्मेदारसे जिम्मेदार प्रेससे मनमाने दामोंपर कॉन्ट्रेक्ट करनेपर भी न 'अनेकान्त' समयपर निकाल सके और न उसे सुन्दर ही बना सके। और इसी आत्मग्लानिके कारण हम जैनेतर विद्वानोंसे लेख माँगनेमें भी हिचकिचाते रहे।

श्रद्धेय मुनिजीका विचार है कि 'अनेकान्त'का प्रकाशन बनारससे हो, जिससे प्रेसादि सम्बन्धी बहुत कुछ असुविधाओंसे बचा जा सकेगा तथा जैनेतर विद्वानोंके लेखोंसे भी उसे अलंकृत किया जा सकेगा। इसके लिये जो व्यय होगा ज्ञानपीठ उसको उठानेके लिये प्रस्तुत है।

इस वर्षमें ज्ञानपीठने 'अनेकान्त'को काफी घाटेमें प्रकाशित किया है, जबकि आज हिन्दीके पत्र-पत्रिकाएँ लाभमें चल रही हैं तब जैनसमाज-जैसे सम्पन्न समुदायका पत्र यूँ रिंरि करके प्रकाशित हो, हमारे सब उत्साहपर पानी फेर देता है। समझमें नहीं आता कि हम किस मुँहसे बहुश्रुत विद्वानोंसे लेख माँगें और प्रेसमें जूतियाँ चटकाते फिरें। खैर इसमें दोष हम अपना ही समझते है। जैसी पाठ्यसामग्री चाहिए वैसी उन्हें नहीं दे पाये और कलापूर्ण प्रकाशन भी नहीं कर पाये। हमारा विश्वास है कि हम काश! ऐसा करते तो अनेकान्तके हितैषियोंकी संख्या आवश्यकतासे अधिक बढ़ती और अनेकान्त और भी ज्यादा लोकप्रिय होता।

हम अब आगामी वर्ष इस कमीको भी पूरा करनेका प्रयत्न करेंगे। और अनेकान्तके निम्न स्थायी स्तम्भ जारी रखेंगे—

१—कथाकहानी, २—स्मृतिकी रेखाएँ, ३—कार्यकर्ताओंके पत्र, ४—गौरवगाथा, ५—हमारे पराक्रमी पूर्वज, ६—पुरानी बातोंकी खोज, ७—सुभाषित, ८—शङ्कासमाधान और ९—सम्पादकीय।

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

मन्त्री 'भारतीयज्ञानपीठ' काशी।

लोक-प्रिय बने हुए हैं और लोक-हृदयोंमें विशिष्ट आदरको प्राप्त हैं। निःसन्देह यह सद्भाग्य उनकी सेवाओंका प्रतिरूप है, जो कम लोगोंको प्राप्त होता है।

गत फरवरीमें आपके पौत्रका देहलीमें विवाह था, जो कहते हैं देहलीके ज्ञात इतिहासमें अभूतपूर्व था, उसके उपलक्षमें आपने छयालीस हजार (४६०००)का अनुकरणीय दान किया है। पच्चीस हजार देहलीकी विभिन्न संस्थाओंके लिये और इक्कीस हजार समाज-की विविध संस्थाओंके लिये दिये गये हैं। जहाँतक हमें ज्ञात है, विवाहोत्सवपर इतना बड़ा दान समाजमें पहला दान है। हमारे यहाँ विवाहके दूसरे मदोंमें तो बड़ा खर्च किया जाता है पर दानमें बहुत कम निकाला जाता है। यदि समाज फिजूलखर्चीको घटाकर इस दिशामें गति करे तो विवाह एक बोझा मालूम न पड़ेगा और सामाजिक संस्थाएँ भी समृद्धि तथा समुन्नत होंगी।

सरसेठ साहबने उक्त दानमेंसे दोसौ एक २०१) रुपये वीरसेवामन्दिरको सहायतार्थ भी भिजवाये हैं जिसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। —दरबारीलाल जैन, कोठिया

श्रीसरोजिनी नायडूका वियोग !

१ मार्च १९४९को रात्रिके ३॥ बजे हमारे प्रान्तकी गवर्नर श्रीसरोजिनी नायडूका हृदयकी गति रुक जानेसे सदाके लिये दुखद वियोग हो गया ! आप स्वतन्त्रभारतमें युक्त-प्रान्तकी प्रथम गवर्नर थीं। भारतीय और विश्वकी महिलासमाजके लिये यह गौरवकी बात है। राष्ट्रके स्वतन्त्रता-संग्राममें आप सदा गाँधीजीके साथ रहीं और अनेकों बार जेल गईं। भारतके लिये आपकी सेवाएँ अद्भुत हैं। विश्वमें आप अपनी विख्यात कविताओं और मधुर एवं प्रतिभाशालिनी वक्तृताओंके कारण भारतकोकिला या बुलबुले हिन्दके नामसे मशहूर थीं। आपके वियोगमें सारे भारतने शोक प्रकट किया और ११ मार्चको सर्वत्र मातम मनाया गया। आपके स्थानकी शीघ्र पूर्ति होना कठिन जान पड़ता है। देशकी ऐसी विभूतिके प्रति वीरसेवामन्दिर परिवार अपनी शोक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है और परलोकमें सद्गति एवं सुख शान्तिकी भावना प्रकट करता है।

एक समाजसेवकका निधन !

गत माघ कृष्णा २ सं० २००५को प्रसिद्ध समाजसेवी मास्टर मोतीलालजी संघी जयपुरका शोकजनक देहावसान हो गया ! मास्टर साहब एक निःस्वार्थसेवी और कर्मठ व्यक्ति थे। सहानुभूति और दयासे उनका हृदय भरा हुआ था। उनका सारा जीवन गरीबोंकी मदद करने, असहाय विद्यार्थियोंकी सहायता करने और घरघर ज्ञान-प्रचार करनेमें बीता। उनका कोई ३० हजार पुस्तकोंका पुस्तकालय, जिसे उन्होंने १९२०में स्थापित किया और जिसके द्वारा अपने जीवनकालमें २९ वर्ष तक जनताकी सेवा की. जयपुरके पुस्तकालयोंमें अच्छा और उल्लेखनीय माना जाता है। जयपुरके शास्त्रभण्डारोंसे हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सुप्राप्ति प्रायः मास्टर साहबके प्रयत्नोंसे ही होती थी। उन्हें इस बातकी बड़ी इच्छा रहती थी कि अप्रकाशित ग्रन्थोंका प्रकाशन हो और वे जनता तक पहुँचें। वीरसेवामन्दिर और उसके साहित्यिक कार्योंके प्रति उनका विशेष प्रेम था। विद्वानोंके सहयोग सत्कारके लिये उनका हृदय सदा खुला रहता था। वे जयपुरकी ही नहीं, सारे समाजकी एक श्रेष्ठ विभूति थे। उनके निधनसे समाजका एक परखा हुआ और सच्ची लगनवाला सेवक उठ गया ! स्वर्गीय आत्माके लिये वीरसेवामन्दिर परिवार सद्गति एवं शान्तिकी कामना करता हुआ उनके कुटुम्बी जनोंके प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करता है।

क्या ही अच्छा हो, मास्टर साहबके अमर स्मारक पुस्तकालयको समाज सुस्थिर और अमर बना दे।

लाला रूढामलजी सहारनपुरका देहावसान !

सहारनपुरके लाला नारायणदास रूढामलजी जैन शामियानेवालोंका गत १९ फरवरी १९४९को देहावसान हो गया। आप बड़े ही सज्जन और धार्मिक थे। सबसे बड़े प्रेमसे मिलते थे। वीरसेवामन्दिर और उसके कार्योंसे विशेष प्रेम रखते थे। हम स्वर्गीय आत्माके लिये शान्तिकी कामना और कुटुम्बी जनोंके प्रति समवेदना प्रकट करते हैं।

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

सत्य-शान्ति और लोकहितके सन्देशका पत्र

नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और
समाजशास्त्रके प्रौढ विचारोंसे परिपूर्ण मासिक

नवम वर्ष

पौषसे मार्गशीर्ष, वीर निर्वाण संवत् २४७४–७५

सम्पादक-मण्डल

जुगलकिशोर मुख्तार (प्रधान सम्पादक)
मुनि कान्तिसागर
दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य
अयोध्याप्रसाद गोयलीय, डालमियानगर

संस्थापक-प्रवर्तक	*संचालक-व्यवस्थापक*
वीरसेवामन्दिर, सरसावा	भारतीयज्ञानपीठ, काशी

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री
वीरसेवामन्दिर, सरसावा जि० सहारनपुर

वार्षिक मूल्य पाँच रुपये	मार्च सन् १९४९	एक किरणका आठ आने

अनेकान्तके नववें वर्षकी

विषय-सूची

भारतीय ज्ञानपीठके नये प्रकाशन

१. **न्यायविनिश्चयविवरण—(प्रथमभाग)**
अकलङ्कदेवकृत न्यायविनिश्चयकी वादिराजसूरि-रचित व्याख्या। टिप्पणी आदि सहित। विस्तृत हिन्दी प्रस्तावनामें स्याद्वाद सप्तभङ्गी आदिके स्वरूपका विवेचन है। स्याद्वादपर किये जाने वाले आक्षेपोंका निराकरण है। इस भागमें आए हुए विषयोंका संक्षिप्त परिचय है। सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पृ० सं० ६००। मूल्य १५)

२. **तत्त्वार्थवृत्ति—**
तत्त्वार्थसूत्रकी श्रुतसागरसूरिविरचित। हिन्दी सारसहित। विस्तृत हिन्दी प्रस्तावनामें तत्त्व, सम्यग्दर्शन, प्रमाण, नय स्याद्वाद, सप्तभङ्गी आदिका नूतन दृष्टिसे विवेचन है। सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पृ० ६४०। मूल्य १६)

३. **कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न—**
कुन्दकुन्दस्वामीके पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार इन तीन आध्यात्मिक निधियोंका हिन्दीमें विषय-परिचय। सरल सुबोध भाषामें जैन तत्त्वज्ञान और अध्यात्मका रसास्वादन कीजिए। अनुवादकर्ता—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल। मूल्य २)

४. **करलक्खण—**
सामुद्रिकशास्त्र। हिन्दी अनुवाद-सहित। सम्पादक—प्रो० प्रफुल्लकुमार मोदी। मूल्य १)

५. **मदनपराजय—**
हिन्दी अनुवाद-सहित। जिनदेवके द्वारा कामपराजयका सरस सुन्दर रूपक। विस्तृत प्रस्तावना-सहित। सम्पादक—प्रो० राजकुमारजी साहित्याचार्य। मूल्य ८)

६. **कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची—**
मूडबिद्री, अलियूर, कारकलके भण्डारोंके अलभ्य ताडपत्रीय ग्रन्थोंका सविवरण परिचय। विस्तृत हिन्दी प्रस्तावना-सहित। संपादक—पं० भुजबली शास्त्री। मूल्य १३)

७. **शेर-ओ-शायरी**—उर्दूके सर्वोत्तम १५०० शेर और १६० नज्मोंका अपूर्व संग्रह। लेखक—अयोध्याप्रसादजी गोयलीय। मूल्य ८)

८. **महाबन्ध (महाधवल सिद्धान्तशास्त्र)**—प्रथमभाग। भाषानुवाद-सहित। मूल्य १२)

९. **जैनशासन**—जैनधर्मका परिचय करानेवाली सुन्दर पुस्तक। मूल्य ४।-)

१०. **आधुनिक जैनकवि**—वर्तमान कवियोंका कलात्मक परिचय। मूल्य ३॥)

११. **हिन्दी जैनसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास**— मूल्य २॥-)

१२. **दो हज़ार वर्ष पुरानी कहानियां—**
व्याख्यान तथा प्रवचनोंमें उदाहरण देने योग्य ६४ जैन कहानियोंका सुन्दर संकलन। मूल्य ३)

१३. **पाश्चात्य तर्कशास्त्र**— मूल्य ६)

१४. **मुक्तिदूत—**
अञ्जना-पवनञ्जयकी पुण्य गाथा। जैन पौराणिक रोमांस। हिन्दी साहित्यक्षेत्रमें भी मुक्तकण्ठसे प्रशंसित सुन्दर कलाकृति। मूल्य ४॥)

१५. **पथचिह्न**—

Registered No. A-731

प्रकाशक—प० परमानन्द जैन शास्त्री भारतीयज्ञानपीठकाशीके लिये आसाराम खत्री द्वारा रॉयल प्रिंटिंग प्रेस नया बाजार सहारनपुरमें मुद्रित।